लिए एक विराट ग्रन्थागार बना व एक सुसज्जित प्रयोगशाला। वनौषधि उद्यान भी लगाया गया तथा जड़ी बूटी, यज्ञविज्ञान तथा मंत्र शक्ति पर प्रयोग हेतु साधकों पर परीक्षण प्रचुर परिमाण में किये गये। निष्कर्षों ने प्रमाणित किया कि ध्यान साधना मंत्र चिकित्सा व यज्ञोपैथी एक विज्ञान सम्मत विधा है। गायत्री नगर क्रमशः एक तीर्थ, संजीवनी विद्या के प्रशिक्षण का एकेडमी का रूप लेता चला गया एवं जहाँ ९-९ दिन के साधना प्रधान, एक-एक माह के कार्यकर्त्ता निर्माण हेतु युग शिल्पी सत्र सम्पन्न होने लगे।

कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठें विनिर्मित हुईं, जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे- सुसंस्कारिता, आस्तिकता संवर्धन एवं जन जागृति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरंभ हुए थे, प्रज्ञा संस्थान - शक्तिपीठ-प्रज्ञामण्डल-स्वाध्याय मंडल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ फैल गयीं, ४६०० से अधिक भारत में निज के भवन वाले संस्थान विनिर्मित हो गये, वातावरण गायत्रीमय होता चला गया।

परमपूज्य गुरुदेव ने सूक्ष्मीकरण में प्रवेश कर १९८५ में ही पाँच वर्ष के अंदर अपने सारे क्रिया कलापों को समेटने की घोषणा कर दी। इस बीच कठोर तप साधना कर मिलना-जुलना कम कर दिया तथा क्रमशः क्रिया कलाप परमवंदनीया माताजी को सौंप दिये। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंप कर राष्ट्र देवता की कुण्डलिनी जगाने हेतु उनने अपने स्थूल शरीर छोड़ने व सूक्ष्म में समाने की, विराट से विराटतम होने की घोषणा कर गायत्री जयन्ती २ जून १९९० को महाप्रयाण किया। सारी शक्ति वे परमवंदनीया माताजी को दे गये व अपने व माताजी के बाद संघशक्ति की प्रतीक लाल मशाल को ही इष्ट आराध्य मानने का आदेश देकर ब्रह्मबीज से विकसित ब्रह्मकमल की सुवास को देव संस्कृति दिग्विजय अभियान के रूप में आरंभ करने का माताजी को निर्देश दे गये।

एक विराट श्रद्धांजलि समारोह व शपथ समारोह जो हरिद्वार में सम्पन्न हुए, में लाखों व्यक्तियों ने अपना समय समाज के नव निर्माण, मनुष्य में देवत्व के उदय व धरती पर स्वर्ग लाने का गुरु सत्ता का नारा साकार करने के निमित्त देने की घोषणा की। परमवंदनीया माताजी द्वारा भारतीय-संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने, गायत्री रूपी संजीवनी घर-घर पहुँचाने के लिए पूज्यवर द्वारा आरम्भ किये गये युगसंधि महापुरश्चरण की प्रथम व द्वितीय पूर्णाहुति तक विराट अश्वमेघ महायज्ञों की घोषणा की गयी। वातावरण के परिशोधन, सूक्ष्मजगत के नव निर्माण एवं सांस्कृतिक व वैचारिक क्रांति के निमित्त सौर ऊर्जा के दोहन द्वारा विशिष्ट प्रयोगों के माध्यम से विशिष्ट मंत्राहुतियों द्वारा सम्पन्न किये गये इन अश्वमेधों ने सारी विश्ववसुधा को गायत्री व यज्ञमय, वासंती उल्लास से भर दिया। स्वयं परमवंदनीया माताजी ने अपनी पूर्व घोषणानुसार चार वर्ष तक परिजनों का मार्गदर्शन कर सोलह यज्ञों का संचालन स्थूल शरीर से किया व फिर भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर १९९४ महालय श्राद्धारंभ वाली पुण्य वेला में अपने आराध्य के साथ एकाकार हो गयीं। उनके महाप्रयाण के बाद दोनों ही सत्ताओं के सूक्ष्म में एकाकार होने के बाद मिशन की गतिविधियाँ कई गुना बढ़ती चली गयीं एवं जयपुर के प्रथम अश्वमेध यज्ञ (नवम्बर ९२) से छब्बीसवें अश्वमेध यज्ञ शिकागो (यू. एस. ए. जुलाई ९५) तक प्रज्ञावतार का प्रत्यक्ष रूप सबको दीखने लगा है।

गुरुसत्ता के आदेशानुसार सतयुग के आगमन तक १०८ महायज्ञ देवसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने हेतु संपन्न होने हैं। युग संधि महापुरश्चरण की अंतिम पूर्णाहुति उसी के बाद होगी। प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९५ में कार्त्तिक पूर्णिमा के अवसर पर युगपुरुष पूज्यवर की जन्मभूमि आँवलखेड़ा में मनायी जा रही है। उनके द्वारा लिखे गये समग्र साहित्य के वाङ्मय का जो सत्तर खण्डों में फैला है, विमोचन भी यहीं सम्पन्न हो रहा है। विनम्रता एवं ब्राह्मणत्व की कसौटी पर खरे उतरने वाले वरिष्ठ प्रज्ञापुत्र ही उनके उत्तराधिकारी कहे जायेंगे, यह गुरुसत्ता का उद्घोष था एवं इस क्षेत्र में बढ़ चढ़कर आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा करने वाले अनेकानेक परिजन अब उनके स्वप्नों को साकार करने आगे आ रहे हैं। 'हम बदलेंगे-युग बदलेंगे' का उद्घोष दिग-दिगन्त तक फैल रहा है एवं इक्कीसवीं सदी-उज्ज्वल भविष्य, सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार होता चला जा रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

भूमिका

गायत्री के पंचमुखी एवं दशभुजा धारी होने का वर्णन अनेक स्थानों पर आता है । ऐसी अनेकों तस्वीरें एवं मूर्त्तियाँ भी मिलती हैं । पंचमुखी गायत्री की अनेकानेक घरों में स्थापनाएँ भी हैं । वस्तुतः यह कोई मिथक या कथा-गाथा से जुड़ा किम्वदन्ती प्रधान वर्णन नहीं है, अपितु गायत्री के पाँच मुखों के रूप में मानवी आत्मसत्ता पर छाए पाँच कोशों-पंच आवरणों का वर्णन है । अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश, आनन्दमय कोश के रूप में पाँच आत्मा के आवागमन के बंधन व छुटकारे के वैसे ही द्वार हैं, जैसे कि मनुष्य के शरीर में साँस आने-जाने के लिए नाक के छिद्र होते हैं । योगविद्या का यह गुह्यतम पक्ष है जिसे जान समझकर उन्हें जगाकर परम पद को प्राप्त किया जा सकता है । गायत्री की दश भुजाएँ जीवन के दश शूलों कष्ट-दुखों का निवारण करने वाली महाशक्तियाँ हैं, जिसके ऊपर मातृसत्ता की इन दश भुजाओं का वरदान है, उसे किसी प्रकार का दुख कभी सता नहीं सकता ।

परम पूज्यगुरुदेव ने गायत्री योग एवं गायत्री तंत्र के रूप में गायत्री महाविज्ञान का प्रारम्भिक पक्ष लिखने के बाद गायत्री महाविज्ञान के तीन खण्डों की जब विधिवत् रचना कर उसे प्रकाशित किया तो उसका तीसरा खण्ड पंचकोशी साधना व उसका वैज्ञानिक विवेचन बना । हिमालय साधना से लौटते ही उनने इस गूढ़ साधना के व्यावहारिक पक्षों का क्रमशः अभ्यास भी "अखण्ड ज्योति" के पृष्ठों तथा बाद में विशिष्ट साधना सूत्रों के माध्यम से मथुरा से ही १९६३-६४ में आरम्भ कर दिया था । "गायत्री मंजरी" रूपी ४६ श्लोकों वाली उनने एक पुस्तक लिखी थी, जिसकी व्याख्या रूप में ही यह वाङ्मय का खण्ड प्रस्तुत है ।

हमारे ऋषिगणों ने गहन तपश्चर्या-अन्तर्मुखी योगसाधना एवं गायत्री महामन्त्र के व्रत अनुष्ठानों के द्वारा शक्ति अर्जित कर यह जान लिया था कि हमारी यह काया स्थूल, सूक्ष्म व कारण इन तीन शरीरों में बँटी हैं । इसमें ऊपर से नीचे तक ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र तीन ग्रंथियाँ हैं । शरीर पंच-तत्त्वों से बना है एवं आत्मा के पाँच कोश हैं । मिट्टी, पानी, हवा, अग्नि एवं आकाश के सम्मिश्रण से जहाँ यह पार्थिव देह बनती है वहाँ पंचमुखी गायत्री हमें बताती है कि यह शरीर पंचभूतों के जड़ परमाणुओं का सम्मिश्रण मात्र है । पाँच परकोटों के किले में बन्द यह जीव पंचकोशों से घिरा है एवं इन फाटकों के खुलते ही आत्मा बन्धन मुक्त हो जाती है ।

हमारे यहाँ जन सामान्य की भाषा में कोश खजाने को कहते हैं । पंचकोश आत्मसत्ता के पाँच खजाने के भाण्डागार के समान है जिनमें बहुमूल्य सम्पदा भरी पड़ी हैं । जहाँ इन पंचकोशों का सदुपयोग नहीं किया जाता है वहाँ इनका विकृत रूप हमें नाना प्रकार के पाप-ताप, शोक-क्लेश, दुर्भाग्य, चिन्ता-शोक, अभाव व दारिद्र्य प्रदान करता है । किन्तु जो इन्हें साधकर इस रत्नों की पिटारी का सदुपयोग कर लेता है, वह देव मानव बनता चला जाता है । इसके सम्बन्ध में तैत्तिरीयोपनिषद् की भृगु वल्ली, शतपथ ब्राह्मण (१५/१७/३१) तथा वृहदारण्यक-उपनिषद् (४/३/३२) में विस्तार से वर्णन आया है ।

प्रथम आवरण-कोश है अन्नमय, कोश । पृथ्वी के इस अन्त से ही रज-वीर्य प्रधान मानवी काया का निर्माण होता है । इस कोश की स्थिति-विकासक्रम के अनुरूप ही शरीर का ढाँचा व रंग रूप बनता है । जैसा आहार होता है, वैसा ही अन्नमय कोश का विकास होता है । आहार में छिपे सूक्ष्म संस्कार ही विकृति से सामान्यावस्था एवं फिर उस कोश के विकास में सहायक होते हैं । कितनी ही शारीरिक व्याधियों की जड़ें इसी अन्नमय कोश में होती हैं । उपवास, आसन सिद्धि, तत्त्वशुद्धि एवं तपतितिक्षा द्वारा ही उस कोश को परिमार्जित-परिपुष्ट कर शरीर को नीरोग बनाया जा सकता है । योग साधना द्वारा अन्नमय कोश की बन्धन ग्रंथियों को खोल कर अनेकानेक जटिलताओं से मुक्ति एवं जीवन्मुक्ति का प्रथ प्रशस्त किया जा सकता है । गायत्री साधक यदि उपरोक्त चार उपक्रम अपनाते हुए अन्नमयकोश को साधता है तो उसका

तेजोवलय बढ़ता, स्वास्थ्य सौन्दर्य परिलक्षित होता दिखाई देता है एवं अन्य प्रगति के द्वार खुलते चले जाते हैं ।

प्राणमय कोश प्राणशक्ति का स्थूल काया में निहित वह समुच्चय है जो ''इथरीक डबल'' के रूप में थियॉसॉफिस्ट्स की परिभाषानुसार हर व्यक्ति के चारों ओर छाया रहता है । प्राण ओजस्-तेजस् के रूप में विद्यमान होता है । प्राणमय कोश जिसका सुदृढ़ है उसका आत्मबल बड़ा, विकसित स्थिति में रहता है । प्राणशक्ति का अभाव ही मनो-शारीरिक, शारीरिक रोगों का कारण बनता है । निखिल विश्व में संव्याप्त प्राणशक्ति के चैतन्य समुद्र से गायत्री साधना द्वारा प्राणायाम की शक्ति से प्राण को खींचकर धारण कर स्वयं को सतेज-ऋद्धि-सिद्धि सम्पन्न बनाया जा सकता है । दीर्घायुष्य चैतन्यता, स्फूर्ति, सक्रियता, मोहक आभामण्डल प्राणशक्ति रूपी कोश के संचय की बहिरंग फलश्रुतियाँ हैं । प्राणायाम सूर्य चक्र पर ध्यान केन्द्रित कर इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना नाड़ियों को सक्रिय कर कई प्रकार से किया जा सकता है । प्राणाकर्षण हेतु विभिन्न उपाय वाङ्मय के उस खण्ड में बताये गये हैं । महाप्राण रूपी ओजस् एवं लघुप्राण रूपी रेतस् का संचय शरीर को आत्मसत्ता को बलशाली व दैवी विभूतियों का अधिकारी बनाता है । मनोमय कोश चंचल मन को एकाग्र चित्त कर उसे संयमचतुष्टय तथा ध्यान की विभिन्न विधियों के माध्यम से मस्तिष्क की प्रसुप्त क्षमताओं का जागरण करना बताता है । जप व ध्यान, त्राटक साधना, पंचतन्मात्रा की साधना छाया पुरुष की सिद्धि इसी कोश को साधने से होती है । गन्ध साधना व स्वरयोग की प्रक्रिया द्वारा इसी कोश के द्वारा अतीन्द्रिय क्षमताओं को जगाया जाता है । चित्तवृत्ति के निरोध हेतु ध्यान-जप-त्राटक तन्मात्र सिद्धि रूपी चार उपाय मनोमय योग के रूप में पूज्यवर ने बताए हैं । इन चार को जिनने जान लिया उनने इस तीसरी तिजोरी के रत्नागार को हस्तगत कर लिया ।

चौथा कोश विज्ञानमय नाम से जाना जाता है । विज्ञान अर्थात् विशेष ज्ञान । ऐसा ज्ञान जो यह बोध करा दे कि मनुष्य वस्तुतः आत्मा है पार्थिव काया नहीं । शरीर, गुण, स्वभाव सब से ऊपर ईश्वर का राजकुमार है वह , यह बोध सोऽहं साधना से उसे होता है । अजपा जप, आत्मानुभूति योग, आत्मदेवता की साधना, ग्रंथित्रय का भेदन इसी कोश के जागरण की प्रक्रिया के विभिन्न अंग हैं । परिणाम अतीन्द्रिय चेतना के जागरण एवं स्वर संयम के माध्यम से अपनी कुण्डलिनी व्यक्ति के संचालन की प्रक्रिया में क्रियाकौशल के अर्जन के रूप में निकलता है ।

वेदमाता गायत्री का अंतिम पाँचवाँ मुख आनन्दमय कोश के रूप में वर्णित किया गया है । जिस आवरण में पहुँच कर आत्मा को परमानन्द की प्राप्ति हो, व्यक्ति स्थितप्रज्ञ-समाधि की स्थिति में पहुँच जाए उसे आनन्दमय कोश कहते हैं । यह सहज समाधि की, चरम आनन्द की स्थिति है जिस का वर्णन पूज्यवर ने रेटीकुलर एक्टीवेटिंग सिस्टम की जागृति सहस्रार के जागरण के समतुल्य बताया है । नादयोग की साधना, शब्द-ब्रह्म की साधना, सुरतियोग, बिंदुयोग, पंचतत्त्वों की तात्विक साधना तथा तुरीयावस्था का परमानन्द आदि विषयों की व्याख्या इसमें की गयी है ।

निश्चित ही पाठकगण इस खण्ड के माध्यम से न केवल गायत्री साधना के गूढ़तम रहस्यों को जान सकेंगे, सही गुरु का वरण कर कैसे आत्मिक प्रगति की दिशा में आगे बढ़े, यह जानकारी भी पा सकेंगे ।

—ब्रह्मवर्चस

विषय-सूची

गायत्री साधना के दो स्तर

गायत्री की दैनिक साधना को नित्यकर्म को स्कूलों की प्राथमिक और अनुष्ठानों तथा पुरश्चरणों को माध्यमिक शिक्षा कहा जा सकता है। जूनियर, हाईस्कूल, मैट्रिक-हायर सेकेण्ड्री का प्रशिक्षण माध्यमिक स्तर का समझा जाता है। इसके उपरान्त कॉलेज की विश्वविद्यालय की पढ़ाई का क्रम आरम्भ होता है। इसे उच्चस्तरीय साधना कह सकते हैं । योग और तप इस स्तर के साधनों में ही क्रियान्वित होते हैं । योग में जीव चेतना को ब्रह्म चेतना से जोड़ने के लिए स्वाध्याय, मनन से लेकर ध्यान धारणा तक के अवलम्बन अपनी मन:स्थिति के अनुरूप अपनाने पड़ते हैं। विचारणा, भावना एवं आस्था की प्रगाढ़ प्रतिष्ठापना इसी आधार पर सम्भव होती है।

आत्मिक प्रगति के लिए प्रचलित अनेकानेक उपायों और विधानों में गायत्री विद्या अनुपम है। भरतीय तत्व वेत्ताओं ने, आत्म विज्ञानियों ने प्रधानतया इसी का अवलम्बन लिया है और सर्वसाधारण को इसी आधार को अपनाने का निर्देश दिया है। भारतीय धर्म के दो प्रतीक हैं। शिखा और यज्ञोपवीत। दोनों को गायत्री की ऐसी प्रतिमा कहा जा सकता है, जिसकी प्रतीक धारणा को अनिवार्य धर्म चिन्ह बताया गया है। मस्तिष्क दुर्ग के सर्वोच्च शिखर पर गायत्री रूपी विवेकशीलता की ज्ञान-ध्वजा ही शिखा के रूप में प्रतिष्ठापित की जाती रही है। यज्ञोपवीत में गायत्री का कर्म पक्ष-यज्ञ का संकेत है। उसकी तीन लड़ें गायत्री के तीन चरण और नौ धागे इस महामन्त्र के नौ शब्द कहे गये हैं। उपासना में सन्ध्या वन्दन नित्य कर्म है। वह गायत्री के बिना सम्पन्न नहीं होता। चारों वेद भारतीय धर्म और संस्कृति के मूल आधार हैं और उन चारों की जन्मदात्री वेदमाता गायत्री है। वेदों की व्याख्या अन्यान्य शास्त्र पुराणों में हुई है। इस प्रकार आर्षवांगमय के सारे कलेवर को ही गायत्रीमय कहा जा सकता है। गायत्री और भारतीय धर्म संस्कृति को बीज और वृक्ष की उपमा दी जा सकती है।

यह सर्वसाधारण के लिए भारतीय संस्कृति के-विश्व मानवता के प्रत्येक अनुयायी के लिए सर्वजनीन प्रयोग उपयोग हुआ। गायत्री के २४ अक्षरों में बीज रूप में भारतीय तत्व ज्ञान के समस्त सूत्र सन्निहित हैं। इस महामन्त्र के विविध साधना उपचारों में तपश्चर्या को श्रेष्ठतम आधार कहा जा सकता है। उनमें बाल, वृद्ध, रोगी, नर-नारी , शिक्षित-अशिक्षित सभी के लिए छोटे-बड़े प्रयोग मौजूद हैं। सरल से सरल और कठिन से कठिन ऐसे विधानों का उल्लेख है; जिन्हें हर स्थिति का व्यक्ति अपनी-अपनी स्थिति एवं पात्रता के अनुरूप अपना सकता है।

उच्चस्तरीय गायत्री उपासना के दो पक्ष हैं। एक गायत्री, दूसरी सावित्री अथवा कुण्डलिनी। गायत्री की प्रतिमाओं में पांच मुख चित्रित किए गये हैं। यह मानवी चेतना के पांच आवरण हैं। जिनके उतरते चलने पर आत्मा का असली रूप प्रकट होता है। इन्हें पांच कोश-पांच खजाने भी कह सकते हैं। अन्त: चेतना में एक से एक बढ़ी-चढ़ी विभूतियां प्रसुप्त अविज्ञात स्थिति में छिपी पड़ी हैं। इन्हें जगाने पर अन्तर्जगत के पांच देवता जग पड़ते हैं और उनकी विशेषताओं के कारण मानवीसत्ता देवोपम स्तर पर पहुंची हुई, जगमगाती हुई, दृष्टि गोचर होने लगती है। चेतना में विभिन्न प्रकार की उमंगें उत्पन्न करने का कार्य प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान यह पांच प्राण करते हैं। इन्हें पांच कोश कहा जाता है। शरीर पांच तत्व देवताओं के समन्वय से बना है। अग्नि, वरुण, वायु, अनल और पृथ्वी यह पांच तत्व, पांच देवता ही काय-कलेवर का और सृष्टि में बिखरे पड़े दृश्यमान पदार्थों और अदृश्य प्रवाहों का संचालन करते हैं। समर्थ चेतना इन्हें प्रभावित करती है। इस विज्ञान को 'तत्व साधना' अथवा 'तन्त्र विज्ञान' कहा गया है। पंच कोश उपासना से चेतना पंचक और पदार्थ पंचक के दोनों ही क्षेत्रों को समर्थ परिष्कृत बनाने का अवसर मिलता है। सावित्री साधना यही है। इसका देवता सविता है। सावित्री और सविता का युग्म

है। इस उपासना में सूर्य को प्रतीक और तेजस्वी परब्रह्म को- सविता का इष्ट मान कर उस स्रोत से ओजस्विता, तेजस्विता और मनस्विता आकर्षित की जाती है। इस क्षेत्र की तपश्चर्या से उस ब्रह्म तेजस् की प्राप्ति होती है जो इस जड़ चेतन की सर्वोपरि शक्ति है।

उच्चस्तरीय गायत्री उपासना की दूसरी प्रक्रिया है कुण्डलिनी साधना। इसे जड़ और चेतन को परस्पर बांधे रहने वाली सूत्र शृंखला कह सकते हैं। प्रकारान्तर से यह प्राण प्रवाह है जो व्यष्टि और समष्टि की समस्त हलचलों का संचालन करता है। नर और नारी अपनी जगह पर अपनी स्थिति में समर्थ होते हुए भी अपूर्ण हैं। इन दोनों को समीप लाने और घनिष्ठ बनाने में एक अविज्ञात चुम्बकीय शक्ति काम करती रहती है। इसी के दबाव से युग्मों का बनना और प्रजनन क्रम चलना सम्भव होता है। उदाहरण के लिए इस नर और नारी के बीच घनिष्ठता उत्पन्न करने वाले चुम्बकीय धारा प्रवाह की कुण्डलिनी की एक चिनगारी कह सकते हैं। प्रकृति और पुरुष को घनिष्ठ बनाकर उनसे सृष्टि संचार की विभिन्न हलचलों का सरंजाम खड़ा करा लेना इसी ब्रह्माण्ड-व्यापी कुण्डलिनी का काम है। व्यक्ति सत्ता में भी काया और चेतना की घनिष्ठता बनाए रहना और शरीर में लिप्सा - मन में ललक और अन्तःकरण सम्वेदनाऐं उभारना इसी कुण्डलिनी महाशक्ति का काम है। जीव की समस्त हलचलें, आकांक्षा, विचारणा और सक्रियता के रूप में सामने आती हैं। इनका सृजन उत्पादन कुण्डलिनी ही करती है। अन्यथा जड़ पंच तत्वों में पुलकन कहां- निर्लिप्त आत्मा में उद्विग्न आतुरता कैसी? दृश्य जगत की समस्त हलचलों के बीच जो बाजीगरी काम कर रही है, उसे अध्यात्म की भाषा में 'माया' कहा गया है। साधना क्षेत्र में इसी को कुण्डलिनी कहते हैं। इसे विश्व हलचलों का- मानवी गतिविधियों का - उद्गम मर्मस्थल कह सकते हैं। यह प्रमुख कुंजी मास्टर की - हाथ आजाने पर प्रगति का द्वार बन्द किए रहने वाले सभी ताले खुलते चले जाते हैं। इस स्वेच्छाचारिणी महाशक्ति को वशवर्त्ती बनाने वाले, साधक आत्मसत्ता पर नियन्त्रण करने और जागतिक हलचलों को प्रभावित करने में समर्थ हो सकते हैं। गायत्री की उच्चस्तरीय साधना में ऋतम्भरा प्रज्ञा उभारने के लिए पंच कोशी उपासना प्रक्रिया काम में आती है और प्रत्यक्ष सत्ता को प्रखर बनाने के लिए कुण्डलिनी साधना की कार्य-पद्धति काम में लाई जाती है।

यहां यह जान लेना आवश्यक है कि गायत्री की उच्चस्तरीय साधना में तत्व -दृष्टि, भावना और श्रद्धा का समावेश करना पड़ता है। इन तत्वों का जिस-जिसकी साधना में समावेश होगा उसे उतना ही आत्मविकास का उत्कृष्ट लाभ प्राप्त होगा। गायत्री क्या है, उसकी उपासना में क्या दृष्टि रहे और किन गुणों का समावेश अपनी मनोभूमि में होना चाहिए, जिसे सब बातों का ध्यान रहेगा उसकी थोड़ी भी साधना बहुत फलदायक होगी।

सामान्य साधना जिसे छोटे स्तर की बालसाधना कहते हैं, क्रियाकाण्ड भर की होती है। ऐसे कितने ही व्यक्ति हैं जो केवल जप मात्र को ही सब कुछ समझते हैं। जप, हवन, अनुष्ठान पूजन आदि बाह्य प्रतीक उपचार ही उनकी समझ में सब कुछ होता है। जप की संख्या पूरी करनी, फिर चाहे मन में काम, क्रोध, लोभ, मोह के कुविचार उस समय कितनी ही उच्छृंखल गति से उठते क्यों न रहें जगज्जननी की छवि को देखने का ध्यान करना उनके लिए सब कुछ होता है। श्रद्धा, प्रेम, आत्मीयता एवं तन्मयता का भाव भी साथ में है या नहीं इस बात पर वे लोग ध्यान नहीं देते। जप का शारीरिक श्रम भी कुछ तो उपयोगी है ही पर भावना के अभाव में वह एक प्रकार से निर्जीव ही बना रहता है।

सच्ची उपासना वह है जो आत्म-कल्याण के लिए जीवनस्तर को उत्कृष्ट बनाने के लिए दुर्बुद्धि हटा कर मनोभूमि में सद्बुद्धि की स्थापना के लिए श्रद्धा और भावना पूर्वक की जाती है। किसी लौकिक प्रयोजन को लक्ष्य रख कर कई व्यक्ति जप-तप करते हैं और यह हिसाब लगाते रहते हैं कि इतना जप हो जाने पर यह प्रयोजन पूरा हो जाना चाहिए, यह सिद्धि मिल जानी चाहिए। यदि वह प्रयोजन पूर्ण हो गया तो भी उसे छोड़ देते हैं और नहीं हुआ तो भी उसको त्याग ही देते हैं। वैद्य के पास रोगी तभी तक जाता है जब तक कि उसे कष्ट रहता है। कष्ट दूर हुआ कि रोगी ने वैद्य से रिश्ता तोड़ा। इसी प्रकार यदि रोग अच्छा न हो तो भी रोगी उस वैद्य से मुंह मोड़ लेता है, और उसकी बुराई करने लगता है। सकाम उपासना वालों का स्तर भी यही रहता है। किसी जप, तप से अभीष्ट लाभ हो गया

तो फिर उसे करने की जरूरत नहीं रहती और चाही हुई अवधि में मनोकामना पूर्ण न हुई तो भी उसे व्यर्थ समझकर छोड़ दिया जाता है। ऐसी पूजा को साधना कहना ही नहीं चाहिए, वह तो किसी लौकिक प्रयोजन को पूरा करने के लिए एक लौकिक माध्यम मात्र थी, साधना आत्म-कल्याण के लिए लौकिक कामनाओं से रहित होकर की जाती है।

परमात्मा ने जो कुछ दिया है वह कम नहीं। जो कमी है वह हमारे प्रयत्न और पुरुषार्थ की त्रुटियों के कारण है। अपने गुण, कर्म, स्वभाव के दोषों को सुधार कर व्यक्तित्व को सुव्यवस्थित करें तो प्रत्येक उचित कामना सहज ही पूर्ण हो सकती है। अपनी त्रुटियों को ज्यों का त्यों रखा जाय, दोष और दुर्गुणों को ज्यों-का-त्यों रहने दिया जाय। तृष्णा और कामना की परिस्थितियों के साथ तालमेल रखकर लम्बी-चौड़ी कामना करते हुए उनकी पूर्ति का साधन थोड़े से पूजा-पाठ को मान लिया जाय तो यह भारी भूल है। कर्म और पुरुषार्थ का उचित मूल्य चुकाने पर पात्रता के अनुरूप जो सफलताऐं मिलती हैं उन्हें थोड़े से पूजा-पाठ के द्वारा चुटकी बजाते, प्राप्त करने का लालच किया जाय तो यह अनुचित और अनुपयुक्त बात होगी।

लौकिक प्रयोजनों की पूर्ति हमें अपने गुण, कर्म, स्वभाव का परिष्कार करते हुए श्रम और अध्यवसाय द्वारा करनी चाहिए। ईश्वर ने हमें उन सभी क्षमताओं से पूरी तरह सम्पन्न करके भेजा है जिनसे अपनी आवश्यकताऐं अपने बाहुबल एवं बुद्धि कौशल से सरलतापूर्वक प्राप्त कर सकें। शुभ अशुभ कर्मों के फलस्वरूप सुख-दुख की परिस्थितियां ही आती जाती रहती हैं। इन्हें धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिए। कर्म फल का सिद्धान्त अमिट है। हमारी करनी हमें ही भरनी पड़ेगी। इसके लिये ईश्वर को या किसी दूसरे को दोष देने से क्या लाभ? धैर्य और साहसपूर्वक बुरी परिस्थितियों का भी मुकाबला किया जा सकता है। अपनी न्याय व्यवस्था को बिगाड़ कर ईश्वर से अपने लिए पक्षपात का व्यवहार करने की प्रार्थना करना किसी सच्चे साधक को शोभा नहीं देता। यदि हमने पाप किया है तो उसका दण्ड हंसते हुए भोगने का भी साहस हम में होना चाहिए, यही मानवोचित दृष्टिकोण हो सकता है।

परमात्मा से प्रार्थना करनी हो तो धैर्य, साहस, पुरुषार्थ और सद्गुणों की अभिवृद्धि की ही करनी चाहिए। वस्तुतः प्रभु किसी पर प्रसन्न होते हैं तो उसे वस्तुऐं नहीं, प्रेरणाऐं देते हैं। चिन्ता और परेशानियों से, अभाव और कष्टों से पार, निकलने के लिए यदि आवश्यक मार्ग-दर्शन प्राप्त हो जाय और उस पर चलने का साहस बन पड़े तो फिर कठिन से कठिन उलझनों को मनुष्य पार कर सकता है। इसके विपरीत यदि आकस्मिक दैवी सहायता मिल जाय तो वह तत्कालिक उलझन तो दूर हो सकती है पर क्षमता और प्रतिभा के अभाव में, फिर अगले दिन वैसी ही अन्य समस्याऐं आगे आ खड़ी होंगी। उलझे दृष्टिकोण के व्यक्ति आए दिन कठिनाइयों के जंजाल में फंसे ही रहते हैं। परमात्मा का सच्चा अनुग्रह यही हो सकता है कि व्यक्ति का दृष्टिकोण सुलझा हुआ हो, समस्याओं का हल करने की हिम्मत और सूझ-बूझ बनी रहे, गुण, कर्म, स्वभाव में ऐसी संजीदगी हो कि अपनी ही नहीं दूसरों की गुत्थियों को भी उस माध्यम से सरल बनाया जा सके। गायत्री उपासक को माता का ऐसा ही अनुग्रह मिलता है, और वह भौतिक जीवन में सुख तथा आन्तरिक क्षेत्र में शान्ति अनुभव करता हुआ अपने आप को हर घड़ी आनन्द एवं उल्लास की स्थिति में पाता रहता है।

आपत्तियों का निवारण समस्याओं का हल और अभावों की पूर्ति के लिए आमतौर से लोग पूजा-पाठ करते हैं। श्री समृद्धि और सम्पदा की कामना में जप, तप, का विधि विधान अपनाया जाता है। मनुष्य दुर्बल प्राणी है। सुख और लाभ की इच्छाओं से प्रेरित होकर वह विविध कर्म करता है, उन्हीं में से एक पूजा-पाठ भी माना गया है। देवी, देवताओं की शरण में लोग इसीलिए जाते हैं। पूजा पाठ भी ऐसे ही किसी प्रयोजन से करते हैं। संत-महात्माओं का आशीर्वाद भी इसीलिए चाहते हैं। यों बाल-बुद्धि की स्थिति में यह भी कुछ बुरा नहीं है। इसी निमित्त से सही, कुछ भगवान का नाम स्मरण हो जाय तो वह भी अच्छा ही है। पर इस दृष्टि के साथ की गई उपासना को आध्यात्मिक नहीं कह सकते। वह भौतिक उद्देश्य के लिए भौतिक प्रयत्न मात्र सिद्ध होती है और उसका प्रतिफल भी छोटा - सा ही बनकर रह जाता है। इसलिए इस प्रक्रिया को तत्वदर्शियों ने निम्नस्तरीय उपासना कहा है।

जिनकी अध्यात्म - मार्ग में कोई रुचि नहीं है, जो आत्मकल्याण का महत्त्व नहीं समझते और भौतिक लाभ ही जिन्हें सब कुछ दिखाई पड़ता है उनके लिए प्राथमिक आकर्षण की दृष्टि से यह सकाम या निम्न-स्तरीय साधना भी उपयोगी है। जितना समय और श्रम उनका लगता है उसकी तुलना में कहीं अधिक लाभ उन्हें निश्चित रूप से प्राप्त हो जाता है। जो कुछ चाहा जाय वह सब पूर्ण होना ही चाहिए इसकी तो गारण्टी नहीं, पर इतना दावे से कहा जा सकता है कि जितने समय आराधना की गई है उतने समय का लाभ उसकी अपेक्षा कहीं अधिक होगा जो उस प्रयोजन के लिए भौतिक प्रयत्न करने में किया जाता। गायत्री उपासना में लगाया हुआ समय कभी किसी का व्यर्थ नहीं जाता।

रामायण में तीन प्रकार की पतिव्रता मानी गई हैं, १- पति को सर्वतो भावेन आत्म-समर्पण करने वाली २- पति और अन्य लोगों में उचित अन्तर करके उनके साथ तदनुसार व्यवहार करने वाली। ३- दुराचार का अवसर न मिलने और दण्ड, भय की आशंका से सदाचारिणी बनी रहने वाली। इन तीनों को ही यद्यपि पतिव्रता माना गया है पर उनकी मानसिक स्थिति के कारण वे उत्तम, मध्यम, नीच इन तीन श्रेणियों में विभक्त की गई हैं। क्रमश: पहली से दूसरी का और दूसरी से तीसरी का स्तर नीचा है। उनकी इस साधना का प्रतिफल भी उसी स्तर के अनुसार मिलता है। इसी प्रकार गीता में चार प्रकार के भक्त बताए गये हैं। १- आपत्ति आने पर उसका निवारण करने के लिए भगवान को पुकारने वाले। २- जानकारी का कौतूहल पूरा करने के लिए परमात्मा की खोज बीन करने वाले। ३- सिद्धियां और विभूतियां पाने के लालच से जप, तप, करने वाले। ४- प्रभु को प्रगति के लिए सच्ची भावना से आत्म-समर्पण करने वाले विवेकशील ज्ञानी। इन चारों का स्तर क्रमश: एक दूसरे से श्रेष्ठ है। मनोभूमि के अनुसार उपासना की श्रेष्ठता निकृष्टता नापी जाती है, यद्यपि बाहर से सभी भक्तों की पूजा उपासना एक समान दिखाई पड़ती है। तीन पतिव्रताओं और चार भक्तों की ब्राह्य स्थिति में कोई अन्तर नहीं होता, आचरण इन सबका समान होता है पर अन्त: स्थिति के कारण उनकी श्रेष्ठता एवं निकृष्टता का स्वरूप अलग-अलग ही रहता है और उन्हें लाभ भी उसी आधार पर न्यूनाधिक प्राप्त होता है। वेश्या और पत्नी का शारीरिक आचरण एक - सा होने पर भी उनकी भावना के कारण प्रतिफल में भारी अन्तर रहना स्वाभाविक ही है।

गायत्री उपासना में भी इसी प्रकार के स्तर हैं। निम्न स्तर के साधक विपत्ति के समय माता को पुकारते हैं या कोई भौतिक लाभ प्राप्त करने के लिए दरवाजा खटखटाते हैं। उनको इच्छित समय में, इच्छित मात्रा का लाभ मिला तो अपने श्रम की सार्थकता मानकर अपनी सफलता और चतुरता पर गर्व कर लेते हैं पर यदि अभीष्टित लाभ न मिला तो इष्टदेव, मार्गदर्शक तथा उपासना-विज्ञान तीनों को ही भरपूर कोसते हैं और जो थोड़ा समय साधना में लग गया उस पर पश्चाताप प्रकट करते हैं। ऐसे निम्नस्तरीय साधक अपनी घटिया मनोभूमि के कारण कोई बड़ा लाभ प्राप्त नहीं कर सकते । क्योंकि घट-घट वासिनी महाशक्ति आखिर भावना स्तर को भी तो देखना जानती है। बाहरी कर्मकाण्ड ही तो उसके लिए सब कुछ नहीं है। प्रभु की प्रसन्नता उच्चस्तरीय भावनाओं द्वारा ही सम्भव है। वे उसी से पसीजते हैं। केवट, शबरी, सुदामा, विदुर और गोपियों का साधनात्मक कर्मकाण्ड साधारण रहने पर भी उनकी भावना ने उन्हें लक्ष्य की प्राप्ति कराई जब कि निकृष्ट उद्देश्य से साधन करने वाले मेघनाद, कुम्भकर्ण, रावण, भस्मासुर, हिरण्यकश्यप को प्राप्त अतुल वरदान भी उनके पतन में ही सहायक हुए। ईश्वर के राज्य में व अध्यात्म क्षेत्र में भावना का ही सबसे बड़ा महत्त्व है। गायत्री उपासना की एक-सी ही साधना पद्धति अपनाने वाले व्यक्तियों में से सब को एक सा परिणाम नहीं मिलता। कोई स्वल्प काल में ही आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त करते हैं और कुछ को बहुत समय बीत जाने पर कोई प्रकाश दृष्टिगोचर नहीं होता।

यों उपासना का अपना लाभ तो होता ही है। उसका परिणाम तो होना ही ठहरा। पर किस व्यक्ति को कितना लाभ मिलेगा उसका अनुमान लगाना हो तो यही जानना पड़ेगा कि उसने किस भावना से, किस श्रद्धा और तन्मयता से साधना की। यदि यह सब घटिया रहा होगा तो उसके अनुसार घटिया परिणामों की ही आशा की जा सकती है। गायत्री उपासना के महात्म्यों का शास्त्रकारों ने विशद वर्णन किया है। उसे देखते हुए

प्रतीत होता है कि यह साधना पारस, कल्पवृक्ष, कामधेनु और अमृत के समान उपयोगी है। कितने साधकों को वैसे ही लाभ मिले भी हैं। उनके चरित्र और उदाहरण सामने आते हैं तो विश्वास और भी बढ़ता है। प्राचीनकाल में समस्त ऋषि मुनि, राम कृष्ण और अवतार, महापुरुष ज्ञानी मनस्वी और विचारशील व्यक्ति गायत्री उपासना ही करते रहे हैं। यही हमारी एक मात्र जातीय आराधना रही है। इसी मन्त्र की शक्ति से इस देश का अध्यात्म बल बढ़ा है और हमारा इतिहास गौरवपूर्ण बना है। अभी भी ऐसे अनेक गायत्री उपासक मौजूद हैं जिनका आत्मबल इस गये बीते युग में भी आश्चर्यजनक कहा जा सकता है। इन तथ्यों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि उस महामन्त्र के बारे में ऋषियों और शास्त्रों ने जो कुछ कहा है वह असत्य नहीं है। पर जब अपनी निज की बात पर सोचते हैं, हमने इतने दिन इतने घण्टे इतने हजार जप कर लिया और हमारे मनोरथ तब भी पूरे नहीं हुए तो निराशा होने लगती है। मस्तिष्क यही सोचता है कि यह महात्म्य सही होता तो हमें भी इतना लाभ क्यों न मिलता ?

इस द्विविधा का समाधान इस प्रकार करना चाहिए कि निम्न स्तरीय-क्षुद्रता की मनोभूमि में की हुई उपासना बहुत थोड़ा फल देती है। उच्चस्तरीय साधना से ही वह परिणाम होता है जिसके आधार पर शास्त्रों में वर्णित गायत्री महात्म्य को सत्य माना जा सके।

उच्चस्तरीय साधना और उसकी सिद्धि

ज्वलन्त अंगार जब ठण्डा होने लगता है तो उसका ऊपरी पर्त भस्म बनकर आवरण जैसा चढ़ जाता है। जब इस आवरण को स्पर्श करते हैं तो अंगार न तो गरम मालूम पड़ता है और न प्रकाशवान्। ऐसी स्थिति में यह पहचानना भी कठिन होता है कि इसके भीतर अभी अग्नि का अंश है भी या नहीं। पर जब उस भस्म आवरण को हटा दिया जाता है तो भीतर छिपी हुई अग्नि पुनः प्रकट हो जाती है और उसकी गर्मी तथा रोशनी पुनः पूर्ववत् दिखाई पड़ने लगती है। यही बात हमारी आत्मिक स्थिति पर लागू होती है। परमात्मा का अंश होने के कारण आत्मा में वे सब शक्तियां और विशेषताऐं बीज रूप से मौजूद रहती हैं जो परमात्मा से भरी होती हैं। किन्तु मल - विक्षेपों के आवरण जब उस पर चढ़ जाते हैं तो उसकी स्थिति भी भस्म से ढंके हुए अंगार जैसी बन जाती है। माया बद्ध जीव की स्थिति बड़ी दीन-हीन और दयनीय दिखाई पड़ती है। दुःख-दारिद्र के रोग शोक के, अभाव अज्ञान के, व्यथा वेदना के, कष्ट-क्लेशों में ऐसा ग्रसित रहता है कि विश्वास करना कठिन हो जाता है कि ऐसी दयनीय स्थिति में पड़ा हुआ मानव प्राणी भला सत्- चित् आनन्द स्वरूप परमात्मा का अंश भी हो सकता है ? ठण्डी भस्म का आवरण छूकर और उसकी कालिमा देखकर यह मानना कठिन होता है कि इसके भीतर ज्वलन्त अग्नि-पुंज भी छिपा होगा।

आत्मा अपनी स्वाभाविक स्थिति में हो, उसके आवरण हट जायें तो उसकी स्थिति इतनी उत्कृष्ट होती है कि हर क्षण अनन्त-आनन्द का रसास्वादन करने का सौभाग्य उसे उपलब्ध रहता है। इसी स्थिति को प्राप्त करना आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य है। इस मार्ग को अवरुद्ध करने वाले वे मल-विक्षेप और आवरण ही हैं जिनके कारण महान सम्भावनाऐं साथ लेकर आया हुआ आत्मा इन तुच्छ परिस्थितियों में पड़े रहने के लिए विवश होता है। मानव शरीर ही इन आवरणों की सफाई कर लेने का एकमात्र अवसर है। यदि यह ऐसे ही बर्बाद होता चला गया या कुविचारों और कुकर्मों में मस्त रहकर उन आवरणों को और भी बढ़ा लिया गया तो फिर चौरासी लाख योनियों की लम्बी अवधि तक उसी भार से दबा पड़ा रहना पड़ता है।

इन आवरणों की सफाई में दुहरा लाभ है जहां मलीनता हटने से आत्मा पर चढ़ा हुआ भार हल्का होते चलने से अन्तःकरण में शान्ति और प्रफुल्लता बढ़ती है वहां इन आवरण द्वारों के खुलने पर विभूतियों का एक विशिष्ठ भाण्डागार उपलब्ध होता चलता है। पांच आवरणों को ही पांच कोश कहते हैं इन द्वारों के खोलने की वैज्ञानिक विधि का नाम पंचकोशी गायत्री साधना अथवा पंचमुखी गायत्री उपासना है। उच्च कक्षा में प्रवेश करने वाले साधकों के लिए इसी आराधना का प्रयोग करना पड़ता है। प्रथम स्तरीय साधना का अधिकांश कार्यक्रम स्थूल वस्तुओं, स्थूल विधि-विधानों पर निर्भर है। माला, आसन, पंचपात्र, धूप, दीप, नैवेद्य, पुष्प अक्षत, चित्र, मूर्ति, हवन सामग्री,

मन्त्रोच्चारण, व्रत-उपवास, पाठ कीर्तन, अनुष्ठान, ब्रह्मभोज, तर्पण; मार्जन आदि यह सभी कुछ स्थूल आधार हैं। इसे साकार उपासना कह सकते हैं। प्रथम कक्षा के लिए यह सब कुछ आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। इस आधार के बिना ऊपर की कक्षा में प्रवेश कर सकना उसी प्रकार सम्भव नहीं जिस प्रकार सीढ़ी या जीने की सहायता के बिना छलांग मार कर छत पर चढ़ जाना कठिन होता है। स्कूल की पढ़ाई की उपेक्षा करके सीधे कॉलेज में प्रवेश नहीं मिलता, उसी प्रकार प्रथम स्तरीय स्थूल विधि व्यवस्था के आधार पर बनी हुई साकार उपासना के बिना उच्चस्तरीय निराकार साधना में सफलता प्राप्त कर सकना किसी के लिए भी सम्भव नहीं हो सकता।

उच्च स्तरीय गायत्री उपासना में वस्तुओं, उपकरणों और विधानों का तारतम्य घटने लगता है और ध्यान भावना एवं निष्ठा में तीव्र गति से अभिवृद्धि होने लगती है। यह उपासना बिना किसी वस्तु के भी हो सकती है। एकान्त निर्जन बनों में रहकर घोर तपस्या करने वाले साधकों के लिए अन्न और वस्त्र उपलब्ध नहीं होता तो धूप दीप की, हवन ब्रह्मभोज की व्यवस्था कहां से बनेगी ? सच बात यह है कि तब उन्हें इनमें से किसी भी उपकरण की आवश्यकता नहीं रह जाती, वे आत्मा की अग्नि में प्राण को हवि बनाकर निरन्तर अखण्ड यज्ञ करते रहते हैं। गायत्री चालीसा में "हंसारूढ़ सितम्बर धारी" पद में जिस हंसवाहिनी और श्वेत वस्त्र धारिणी गायत्री माता का उल्लेख हुआ है उसका स्वरूप उच्चस्तरीय साधना में कुछ और ही हो जाता है।

श्वास, प्रश्वास क्रिया के साथ 'सोऽहम्' की ध्वनि होती है उसे ही हंसयोग कहते हैं। यह हंस अर्थात् सोऽहम् तत्व ही गायत्री का वाहन बन जाता है। माला का स्थान यह श्वांस प्रक्रिया ले लेती है। इड़ा, पिंगला, चन्द्र, सूर्य नाड़ियों का आरोहण, अवरोहण माला फेरने का काम करता है ५४ ग्रन्थियां आरोहण की और ५४ अवरोहण की मिलकर १०८ दाने की यह सूक्ष्म चक्र सारिणी घूमने लगती है। सुषुम्ना को सुमेरू कहते हैं। माला में एक मध्य बिन्दु बड़ा दाना रहता है, जिसे सुमेरु के नाम से सम्बोधित करते हैं। आध्यात्मिक माला में सुषुम्ना नाड़ी का वही स्वरूप और स्थान बन जाता है। यह सोऽहम् संस्थान उच्चस्तरीय साधना में गायत्री माता का हंस वाहन बन जाता है। इस माला पर वे विहार और विचरण करने लगती हैं। इसी वीणा में उनकी झंकार उठने लगती है और इसी स्थल से नीर-क्षीर विवेक का हंस-गुण साधक की अन्तरात्मा में उत्पन्न होने लगता है।

श्वेत वस्त्र धारिणी गायत्री माता का हम पूजन करते हैं। 'सूर्य मण्डल मध्यस्था' की छवि बनाकर उसे सूर्य प्रकाश के बीच बैठी हुई प्रतिमा मानकर उसकी प्रतिष्ठा करते हैं। पर उच्चस्तरीय साधनों में माता का पूरा आवरण इस शुभ्र ज्योति के स्वरूप में ही परिलक्षित होता है। प्रकाश पुंज के रूप में ही गायत्री माता का दर्शन ध्यान और साक्षात्कार हो जाता है। जिस प्रकार प्रथम स्तर के साधकों को हंसारूढ़ गायत्री माता का नारी देह में दर्शन साक्षात्कार, जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में होता रहता है उसी प्रकार उच्च भूमिका के साधक को प्रकाश की छोटी-छोटी चिनगारियों के रूप में, किरणों के रूप में और तेजस्वी ज्योति पिण्ड के रूप में दर्शन एवं साक्षात्कार होता है। स्तर बदलने के साथ साधनों एवं उपकरणों की श्रृंखला भी बदल जाती है। स्कूल की प्रारम्भिक कक्षाओं में लकड़ी की तख्ती पर खड़िया और मोटी कलम से बड़े-बड़े अक्षर लिखने का अभ्यास करना पड़ता है पर आगे चलकर कापी और फाउन्टेन पेन के माध्यम से लिखने की क्रिया सम्पन्न होती है।

साधन क्षेत्र में भी ऐसे परिवर्तन का होना कोई आश्चर्य, विरोध या मतभेद की बात नहीं, वरन् एक स्वाभाविक विकास क्रम है। भारतीय धर्म में साकार और निराकार की जो द्विधा परम्पराऐं चली आ रही हैं इनमें न तो कोई विरोध है और न विभ्रम। दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। अपने-अपने स्थान पर दोनों ही उपयुक्त हैं और आवश्यक भी। पंचकोशी गायत्री उपासना का विधान क्रम निराकार उपासना जैसा ही है। इसीलिए पंचमुखी गायत्री को अलंकारिक रूप से चित्रित तो करते हैं, पर पूजा के लिए एक मुखी गायत्री की तस्वीरें तथा मूर्तियां ही प्रयुक्त होती हैं। इस उद्देश्य के लिए पंचमुखी गायत्री का प्रयोग नहीं होता।

पंचमुखी और दश भुजी गायत्री की विवेचना करते हुए आगे विस्तारपूर्वक यह बताया गया है कि अन्नमय कोश, मनोमय कोश, प्राणमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश यही पांच गायत्री के पांच

मुख हैं। इन कोशों में छिपी हुई अन्यान्य महत्त्वपूर्ण शक्तियों को विकसित करना और उन आवरणों का परिमार्जन करके आत्म-शान्ति का रसास्वादन करना पंचकोशी आराधना का प्रधान उद्देश्य है। प्रथम स्तरीय उपासना में लौकिक लाभों का मार्ग प्रशस्त होता है। १- सद्ज्ञान, २- स्वास्थ्य सुधार, ३- उत्साह एवं स्फूर्ति, ४-सहयोग एवं मित्रता की अभिवृद्धि, ५-अभावों की पूर्ति, यह पांच लाभ प्रथम श्रेणी के निष्ठावान् को मिलते हैं। ऊंची श्रेणी में यह लाभ और भी उच्चकोटि के हो जाते हैं। (१) साहस एवं तृप्ति यह पांच सिद्धियां पंचकोशी साधना की हैं। जैसे नर-नारी का जोड़ा होता है वैसे ही दो-दो सद्गुणों का यह जोड़ा दस की संख्या में हो जाता है। इन्हें पंचमुखी गायत्री की दस भुजाऐं अथवा दस सिद्धियां कह सकते हैं। इस विज्ञान का विशद शिक्षण युग शक्ति गायत्री के अगले अंकों में क्रमश: किया जाता रहेगा।

गुणों की अभिवृद्धि पर सम्पदाओं और विभूतियों की उत्पत्ति एवं अभिवृद्धि निर्भर रहती है। जिस प्रकार बिना जड़ का पौधा देर तक खड़ा नहीं रह सकता, उसी प्रकार योग्यता और प्रतिभा न होने पर अनायास कोई सम्पदा मिल भी जाय तो देर तक ठहर नहीं पाती। जड़ मजबूत होने पर ऊपर की टहनी कट जाने पर भी उसकी शखाऐं फूट आती हैं उसी प्रकार यदि सद्गुणों की जड़ मनोभूमि में मजबूती से जमी हुई हो तो किन्हीं आकस्मिक कारणों से दरिद्रता एवं विपत्ति सामने आजाने पर भी वे ठहर नहीं पातीं और कोई नई सुविधा उत्पन्न होकर उस अभाव की पूर्ति कर देती है। गायत्री उपासना से प्रत्यक्षत: तो किसी को छप्पर फाड़कर सम्पदा नहीं मिलती, पर साधक के अन्दर वे तत्व विकसित हो जाते हैं जिनके साथ अनेक प्रकार की सुख सम्पदाऐं जुड़ी रहती हैं। वर्षा होते ही हरियाली उग आती है और कीट-पतंगों की अजस्र उत्पत्ति होने लगती है। मानवोचित सद्गुणों का विकास होने के साथ-साथ वे मंगलमयी सुख सुविधाऐं, समृद्धियां और विभूतियां सामने आ जातीं हैं जिनके लिए आमतौर से लोग तरसते रहते हैं और जिनकी उपलब्धि को कोई दैवी वरदान चमत्कार माना जाता है।

मौटे तौर से चमत्कार उन बातों को माना जाता है जो मानव शरीर की सीमा और सामर्थ्य से बाहर की हैं। हवा में उड़ना, पानी पर चलना, अदृश्य हो जाना, रूप बदल देना आदि क्रियाओं को किसी समय सिद्धियां कहा जाता था। पर अब विज्ञान की उन्नति के कारण वह बातें अमुक मशीनों की सहायता से सस्ती और सुलभ हो गई हैं। इसलिए इन क्षमताओं के प्राप्त कर लेने पर भी कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। बाजीगरी के अनेकों अचम्भे में डालने वाले खेल जादूगर लोग दिखाया करते हैं। मैस्मरेजम और हिप्नोटिज्म से भी बहुत मनोरंजक तमाशे होते देखे हैं। कौतूहल उत्पन्न करके अचम्भे में डालने वाली बातें, इस विज्ञान की उन्नति के युग में जबकि सौर मण्डल की यात्रा करने के लिए मानव संचालित यान उड़ रहे हैं, कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती।

एक ही हाइड्रोजन बम से करोड़ों मनुष्यों को पलक मारते नष्ट कर डालना सम्भव हो गया है तो मारण मोहन उच्चाटन आदि के अभिचार क्या महत्त्व रखते हैं। यह प्रयोजन तो नषीली चीजों से या मामूली हथियारों से भी पूरे हो सकते हैं। गायत्री उपासना के द्वारा इस प्रकार के चमत्कारों की आशा से श्रम करना बाल बुद्धि वाले ओछे स्तर के लोगों के लिए ही सम्भव है। बेशक अनेकों अचम्भे में डालने वाले काम कर सकना तपस्वी साधकों के लिए सम्भव है, पर उनकी तुच्छता को समझते हुए उनकी उपेक्षा ही की जाती है।

गायत्री उपासना की उच्च भूमिका में प्रवेश करने का सबसे बड़ा लाभ आत्मबल की वृद्धि है। आत्मबल की महत्ता संसार के समस्त भौतिक बल सम्पन्न लोगों से कहीं अधिक होती है। आत्मबल सम्पन्न व्यक्तियों को ही महापुरुष कहते हैं, नर रत्नों में इन्हीं की गणना होती है। जमाने को बदल देने की, आत्म-कल्याण की दूसरों का सच्चा हित साधन कर सकने की अपार क्षमता उनमें होती है। इसी को सच्ची सिद्धि कहते हैं। उच्चस्तरीय गायत्री उपासना का उपासक दिन-दिन महानता की ओर तीव्र गति से अग्रसर होने लगता है। वह सिद्धियां और सामर्थ्यें उपलब्ध होती हैं जो न केवल आत्म-कल्याण वरन् भौतिक प्रगति में अत्यधिक सहायक होती हैं।

उच्च स्तरीय साधन का तत्वज्ञान

हमें शरीर को प्राप्त होने वाले सुख साधनों का निरन्तर ध्यान रहता है, उन्हीं प्रयत्नों में सारा समय लगता है, पर जिस आत्मा का यह शरीर एक तुच्छ सा

वाहन मात्र है, उसके कल्याण एवं सुख का तनिक भी ध्यान नहीं रखा जाता, यह कैसे दुःख और आश्चर्य की बात है। पौष्टिक भोजन में कंजूसी के कारण शरीर दुबला और पीला पड़कर मरणासन्न स्थिति को पहुंचता जाय और कपड़े जेबरों पर प्रचुर धन खर्च किया जाय तो इसे कोई बुद्धिमानी का कार्य न माना जायेगा। हमारी गति-विधि आज ऐसी ही अबुद्धिमत्तापूर्ण बनी हुई है।

आज हमारी चतुरता इस बात में लगी हुई है कि कितना धन, मान और विलास उपलब्ध कर लिया जाय। पर चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करके लाखों करोड़ों वर्ष बाद मनुष्य शरीर प्राप्त करने का जो अलभ्य अवसर प्राप्त हुआ है उसका सदुपयोग कैसे किया जाय- इस प्रश्न को सुलझाने में सारी चतुरता धूमिल पड़ जाती है।

हम बुद्धिमान हैं या मूर्ख इसका पता उस दिन लगता है जब जीव इस शरीर को छोड़ कर आकाश में उड़ रहा होता है। उसे आगे फिर चौरासी लाख योनियों के दुःख दायक शरीर सामने उपस्थित दीखते हैं जिनमें उसे करोड़ों वर्ष पड़ा रहना पड़ेगा, तब कहीं फिर मनुष्य जन्म का वह अवसर आवेगा, जो अभी तुच्छ बातों में गंवा दिया गया। जीव को अपनी इस मूर्खता पर भारी पश्चात्तापं होता है कि यह सुर दुर्लभ मानव-जीवन व्यर्थ ही नहीं गंवा दिया गया, वरन् शरीर के मोह में पड़कर अनेक दुष्कर्म भी कर लिये जिनके लिये नारकीय यन्त्रणाऐं चिरकाल तक सहनी पड़ेंगी। पाप कर्मों के सुख क्षणिक थे पर उनका दण्ड तो दीर्घकाल तक सहना पड़ेगा।

पश्चात्ताप की अग्नि में इस प्रकार जलने से पूर्व ही यदि थोड़ी समझदारी उत्पन्न हो जाय तो उसे एक सौभाग्य ही समझना चाहिए। आध्यात्मिक प्रवृत्तियों में मन का लगना वस्तुतः एक महान सौभाग्य ही है जिसके लिए आज भले ही उपहास सहना पड़े पर अन्ततः उसका परिणाम श्रेयस्कर ही होता है।

लोग शौक, मौज चाहते हैं पर चाहने पर भी कितनों को वह मिल पाती है। अधिकांश को तो उस मृगतृष्णा के पीछे भटकने पर भी निराश और असफल ही रहना पड़ता है। फिर यदि इस छोटी- सी जिन्दगी में कुछ दिन वासना और तृष्णा की अग्नि को विलास और संग्रह के ईंधन से शान्त करने में कुछ देर सफलता मिले भी तो उससे बनता भी क्या ? बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता की कसौटी तो एक ही है कि हम अपने स्थिर स्वार्थ को समझें, शाश्वत शान्ति के लिए प्रयत्न करें और आत्मकल्याण की साधना में श्रद्धापूर्वक लग जायें। इस मार्ग पर चलते हुए लोक और परलोक दोनों बनते हैं। पारलौकिक शान्ति तो मिलती ही है लौकिक सुखों का अभाव भी नहीं रहता।

आत्म सुधार, आत्म-निर्माण और आत्म-विकास का मार्ग दर्शन, ये पत्रिकाऐं अपने जीवन के गत ३० वर्षों से सतत करती रही हैं। सद् विचारों को अपनाने से भावनाओं को विकसित करने और उपासनात्मक साधना का अवलम्बन करने का अपना एक सुनिश्चित मिशन इस लम्बे समय से चल रहा है। प्रसन्नता की बात है कि परिवार के अगणित सदस्यों ने इससे समुचित लाभ भी उठाया है।

उपासना क्षेत्र में गायत्री का महत्त्व सर्वोपरि है। प्राचीन काल के समस्त ऋषियों ने गायत्री के आधार पर अपनी योग साधनाऐं की थीं। भगवान के २४ अवतार हुए हैं उनने भी अपनी उपासना में गायत्री की प्रमुखता रखी हैं। वाल्मीकि रामायण साक्षी है कि भगवान राम गायत्री की उपासना करते थे। श्रीमद् भगवत से स्पष्ट है कि श्री कृष्णचन्द्र की उपासना का आधार गायत्री था। यज्ञोपवीत धारण के समय प्रत्येक द्विज को गुरु मन्त्र के रूप में केवल गायत्री की ही दीक्षा देने का धर्मग्रन्थों में विधान है। भारतीय संस्कृति की इस आधार भित्ति गायत्री महामन्त्र की जानकारी सर्व साधारण तक पहुंचानी आवश्यक थी। महाभारत के बाद आए हुए अज्ञानान्धकार युग में जो नाना मतमतान्तर और सम्प्रदाय बरसाती मेढ़कों की तरह उपज पड़े थे उनने उपासना के मूल आधार को हटाकर अपना-अपना ही सिक्का जमा लिया था और गायत्री को शाप लगी हुई, केवल ब्राह्मणों की, गुपचुप कान में कहने की, सतयुग में जपने की आदि आशंका एवं उपेक्षा पैदा करने वाली बातें कह कर एक प्रकार से बहिष्कृत ही कर दिया था। प्रसन्नता की बात है कि भ्रम का वह अन्धकार अब हट गया है।

प्रारम्भिक उपासना के रूप में गायत्री जप का सामान्य विधान अब तक सुविस्तृत किया जाता रहा है।

पर उतने से ही पूर्णता के लक्ष्य तक नहीं पहुंचा जा सकता। जप से मनोभूमि की शुद्धि होती है। जमीन को जोतने का जो कार्य हल बैल द्वारा सम्पन्न होता है वही कार्य मनोभूमि की शुद्धि के लिए माला द्वारा गायत्री के जप से होता है। भूमि की जुताई हो जाने पर उसमें (१) बीज बोना, (२) सींचना, (३) खाद देना, (४) निराई गुड़ाई करना, (५) रखवाली आदि की आवश्यकता पड़ती है, इसी प्रकार जप द्वारा परिमार्जित की हुई मनोभूमि में पांच संस्कारों की आवश्यकता होती है। इसे ही पंचकोशी या पंचमुखी साधना कहते हैं। कितने ही चित्रों में गायत्री को पांच मुख वाली दिखाया गया है। अगले पृष्ठों पर इन पांच मुखों की विस्तृत विवेचना की जायेगी । आत्मा पर चढ़े हुए पांच आवरण ही गायत्री के पांच मुख हैं।

जैसे शरीर पर बनियान, कुर्ता, जाकिट, कोट और ओवरकोट एक के ऊपर एक पहन लेते है वैसे ही आत्मा भी पांच आवरण धारण किए हुए है, जिन्हें (१)आन्नदमय कोश, (२) मनोमय कोश, (३) प्राणमय कोश, (४) विज्ञान मय कोश, (५) आनन्दमय कोश कहते हैं। इन आवरणों को हटाते हुए आत्मा का-परमात्मा का-साक्षात्कार करना ही योग साधना का लक्ष्य है। जप के बाद अगली भूमिका में प्रत्येक साधक को प्रवेश करना पड़ता है तब उसके लिए यह पंचकोशी साधना-पंचमुखी गायत्री की उपासना-आवश्यक होती है। यह एक उच्च योग साधना है जो सर्व साधारण के लिए - बाल, वृद्ध, नर-नारी, गृही विरागी, सभी के लिए अति सरल और सर्वथा हानि रहित है। एक दो घण्टा समय लगा सकने वाला कोई भी व्यक्ति इसे बड़ी सरलता पूर्वक अपना सकता है। इस मार्ग पर अग्रसर होते हुए सामान्य स्थिति का व्यक्ति भी अन्ततः उस स्थिति को पहुंच जायेगा जहां से आत्मसाक्षात्कार की स्थिति बिलकुल निकट आ जाती है।

इस पंचकोशी साधना क्रम को दस भागों में विभाजित किया गया है। इन्हें दस कक्षा मानना चाहिए। एक वर्ष में एक कक्षा पूर्ण करने की आशा की गई है पर धीमे चलने वाले साधकों को इससे अधिक समय भी लग सकता है। जिस प्रकार एक कक्षा उत्तीर्ण करके दूसरी में प्रवेश करने पर पाठ्य-पुस्तकें बदल जाती हैं और नये पाठ्यक्रम का अभ्यास करना होता है उसी प्रकार सफल साधकों को प्रतिवर्ष अगला साधना क्रम अपनाना पड़ता है। दस वर्ष तक यदि कोई व्यक्ति इसे अपनाए रह सके तो यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति बाहर से साधारण ग्रहस्थ जीवन में रहने वाला, सामान्य व्यवसाय करने वाला, औसत दर्जे का भले ही दिखाई दे, पर आन्तरिक दृष्टि से वह निश्चित रूप से महामानव होगा। अपनी आत्मा में स्वर्गीय शान्ति का अनुभव करेगा और अपने समीपवर्ती लोगों को अपनी विशेषताओं से पुलकित, प्रफुल्लित किए रहेगा। जीवन लक्ष प्राप्त करने में भी उसे कुछ विशेष बाधा न रह जायेगी।

गायत्री के पांच मुख

गायत्री शक्ति और गायत्री विद्या को भारतीय धर्म में सर्वोपरि स्थान दिया गया है। उसे वेदमाता- भारतीय धर्म और संस्कृति की जननी - उद्गम गंगोत्री कहा गया है। इस चौबीस अक्षर के छोटे-से मन्त्र के तीन चरण हैं। चौथा ॐ एवं तीन व्याहृतियों वाला चौथा चरण है। इन चारों चरणों का व्याख्यान चार वेदों में हुआ है। वेद भारतीय तत्व ज्ञान और धर्म अध्यात्म के मूल हैं। गायत्री उपासना की भी इतनी ही व्यापक एवं विस्तृत परिधि है।

गायत्री माता की अलंकारिक चित्रों, प्रतिमाओं में एक मुख, दो भुजाओं का चित्रण है। कमण्डलु और पुस्तक हाथ में है। इसका तात्पर्य इस महाशक्ति को मानवता की-उत्कृष्ट आध्यात्मिकता की प्रतिमा बनाकर उसे मानवी आराध्य के रूप में प्रस्तुत करना है। इस उपासना के दो आधार हैं- ज्ञान और कर्म। पुस्तक से ज्ञान का और कमण्डलु जल से कर्म का उद्बोधन कराया गया है। यही वेदमाता है। उसी को विश्व माता की संज्ञा दी गई है। सर्वजनीन और सर्वप्रथम इसी उपास्य को मान्यता दी गई है।

उच्चस्तरीय साधना में इस प्रतीक प्रतिमा का रूप यत्किंचित बदल जाता है। यह पंचमुखी है। योगाराधन में यही उपास्य है। पांच मुख और दस भुजा वाली प्रतिमा में कई संकेत हैं। दस भुजाएं, दस इन्द्रियों की सूक्ष्म शक्ति का संकेत करती हैं और बताती हैं कि उनकी संग्रहीत एवं दिव्य सामर्थ्य गायत्री माता की समर्थ भुजाओं के समतुल्य है। दसों दिशाओं में उसकी

व्यापकता भी हुई है। दस दिगपाल-दस दिग्गज पृथ्वी का संरक्षण करते माने गये हैं। गायत्री की दस भुजाऐं ही दस दिगपाल हैं। उनमें थमाये हुए विविध आयुधों से यह पता चलता है कि वह सामर्थ्य कितने प्रकार की धाराऐं प्रवाहित करती एवं कितने क्षेत्रों को प्रभावित करती हैं।

गायत्री को पंचमुखी कहा गया है। पंचमुखी शंकर की भांति गायत्री भी पंचमुखी है। पुराणों में ऐसा वर्णन कई जगह आया है, जिसमें वेदमाता गायत्री को पांच मुखों वाली कहा गया है। अधिक मुख, अधिक हाथ-पांव वाले देवताओं का होना कुछ अटपटा-सा लगता है। इसी लिए बहुधा इस सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किया जाता है। चार मुख वाले ब्रह्माजी, पांच मुख वाले शिवजी, छः मुख वाले कार्तिकेय जी बताए गये हैं। चतुर्भुजी विष्णु, अष्टभुजी दुर्गा, दशभुजी गणेश प्रसिद्ध हैं। ऐसे उदाहरण कुछ और भी हैं। रावण के दश सिर और बीस भुजाऐं भी प्रसिद्ध हैं। सहस्रबाहु की हजार भुजा और इन्द्र के हजार नेत्रों का वर्णन है।

यह प्रकट है कि अन्योक्तियां एवं पहेलियां बड़ी आकर्षक एवं मनोरंजक होती हैं, इनके पूछने और उत्तर देने में रहस्योद्घाटन की एक विशेष महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का विकास होता है। छोटे बच्चों से पहेलियां पूछते हैं तो वे उस विलक्षण प्रश्न का उत्तर खोजने में अपने मस्तिष्क को दूर-दूर तक दौड़ाते हैं और उत्तर खोजने में बुद्धि पर काफी जोर देते हैं। स्वयं नहीं सूझ पड़ता तो दूसरों से आग्रहपूर्वक पूछते हैं। जब तक उस विलक्षण पहेली का उत्तर नहीं मिल जाता, तब तक उनके मन में बड़ी उत्सुकता, बेचैनी रहती है। इस प्रकार सीधे - सादे नीरस प्रश्नों की अपेक्षा टेढ़े-मेढ़े उलझन भरे विलक्षण प्रश्न, पहेलियों के द्वारा हल करने से बालकों को बौद्धिक विकास और मनोरंजन दोनों ही प्राप्त होते हैं।

देवताओं के अधिक अंगों का रहस्य

देव-दानवों के अधिक मुख और अधिक अंग ऐसी ही रहस्यमय पहेलियां हैं, जिनमें तत्सम्बन्धी प्रमुख तथ्यों का रहस्य सन्निहित होता है। वह सोचता है ऐसी विचित्रता क्यों हुई। इस प्रश्न पहेली का समाधान करने के निमित्त जब वह अन्वेषण करता है, तब पता चल जाता है कि इस बहाने कैसे महत्त्वपूर्ण तथ्य उसे प्राप्त होते हैं ? अनुभव कहता है कि यदि इस प्रकार उलझी पहेली न होती तो शायद उनका ध्यान भी इन रहस्यमय बातों की ओर न जाता और वह उस अमूल्य जानकारी से वंचित रह जाता है। पहेलियों के उत्तर बालकों को ऐसी दृढ़तापूर्वक याद हो जाते हैं कि वे भूलते नहीं। आध्यात्मिक कक्षा का विद्यार्थी भी अधिक मुख वाले देवताओं को समझने के लिए जब उत्सुक होता है तो उसे वे अद्भुत बातें सहज ही विदित हो जाती हैं, जो उस दिव्य महाशक्ति से सम्बद्ध हैं। उदाहरण के लिए हनुमान जी की पूंछ, गणेश जी की सूंड़, हयग्रीव का अश्वमुख, ब्रह्माजी के चार मुख, दुर्गाजी की आठ भुजाऐं, शिवजी के तीन नेत्र, कार्तिकेयजी के छः मुख तथा इन देवताओं के मूषक, मोर, बैल, सिंह आदि वाहनों में क्या रहस्य है ? इसका विस्तृत विवेचन तो यहां सम्भव नहीं है। यहां तो केवल गायत्री के पांच मुखों के सम्बन्ध में ही विस्तार पूर्वक चर्चा की जा रही है।

गायत्री सुव्यस्थित जीवन का, धार्मिक जीवन का अविच्छिन्न अंग है, तो उसे भली प्रकार समझना, उसके मर्म, रहस्य, तथ्य और उपकरणों को जानना भी आवश्यक है। डाक्टर, इन्जीनियर, यन्त्रविद्, बढ़ई, लुहार, रंगरेज, हलवाई, सुनार, दर्जी, कुम्हार, जुलाहा, नट, कथावाचक, अध्यापक, गायक, किसान आदि सभी वर्ग के कार्यकर्ता अपने काम की बारीकियों को जानते हैं और प्रयोग - विधि, हानि-लाभ के कारणों को समझते हैं। गायत्री-विद्या के जिज्ञासुओं और प्रयोक्ताओं को भी अपने विषय में भली प्रकार परिचित होना चाहिए अन्यथा सफलता का क्षेत्र अवरुद्ध हो जायेगा। ऋषियों ने गायत्री के पांच मुख बताकर हमें यह बताया है कि इस महाशक्ति के अन्तर्गत पांच तथ्य ऐसे हैं जिनको जानकर और उनका ठीक प्रकार अवगाहन करके संसार सागर के सभी दुस्तर दुरितों से पार हुआ जा सकता है।

गायत्री के पांच मुख वास्तव में उसके पांच भाग हैं:- १-ॐ, २-भूः भुवः स्वः, ३- तत्सवितुर्वरेण्यम्, ४- भर्गोदेवस्य धीमहि, ५-धियो योनः प्रचोदयात्। यज्ञोपवीत के पांच भाग हैं, तीन लड़ें, चौथी मध्य ग्रन्थियां पांचवीं ब्रह्म ग्रन्थि। पांच देवता प्रसिद्ध हैं- ओऽम् अर्थात् गणेश, व्याहृति अर्थात् भवानी गायत्री का प्रथम चरण-ब्रह्मा,

द्वितीय चरण- विष्णु, तृतीय चरण - महेश। इस प्रकार यह देवता गायत्री के प्रमुख शक्ति पुंज कहे जा सकते हैं।

गायत्री के इन पांच भागों में वे सन्देश छिपे हुए हैं, जो मानव जीवन की बाह्य एवं आन्तरिक समस्याओं को हल कर सकते हैं। हम क्या हैं ? किस कारण जीवन धारण किए हुए हैं? हमारा लक्ष्य क्या है ? अभावग्रस्त और दुःखी रहने का कारण क्या है? सांसारिक सम्पदाओं की और आत्मिक शान्ति की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है ? कौन बन्धन हमें जन्म-मरण के चक्र में बांधे हुए हैं ? किस उपाय से छुटकारा मिल सकता है ? अत्यन्त आनन्द का उद्गम कहां है ? विश्व क्या है ? संसार का और हमारा क्या सम्बन्ध है ? जन्म-मृत्यु के त्रासदायक चक्र को कैसे तोड़ा जा सकता है ? आदि जटिल प्रश्नों के सरल उत्तर उपर्युक्त पंचकों में मौजूद हैं।

गायत्री के पांच मुख असंख्य सूक्ष्म रहस्य और तत्व अपने भीतर छिपाये हुए हैं। उन्हें जानने के बाद मनुष्य को इतनी तृप्ति हो जाती है कि कुछ जानने लायक बात उसको सूझ नहीं पड़ती। महर्षि उद्दालक ने उस विद्या की प्रतिष्ठा की थी जिसे जानकर और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता, वह विद्या गायत्री विद्या ही है। चार वेद और पांचवां यज्ञ, यह पांच ही गायत्री के पांच मुख हैं, जिनमें समस्त ज्ञान-विज्ञान और धर्म-कर्म बीज रूप में केन्द्रीभूत हो रहा है।

शरीर पांच तत्वों से बना पड़ा है और आत्मा के पांच कोश हैं। मिट्टी, पानी, हवा, अग्नि और आकाश के सम्मिश्रण से देह बनती है। गायत्री के पांच मुख बताते हैं कि यह शरीर और कुछ नहीं केवल पंचभूतों का, जड़ परमाणुओं का सम्मिश्रण मात्र है। यह हमारे लिए अत्यन्त उपयोगी औजार, सेवक एवं वाहन है। अपने आप को शरीर समझ बैठना भारी भूल है। इस भूल को ही माया या अविद्या कहते हैं। शरीर का एवं संसार का वास्तविक रूप समझ लेने पर जीव मोह-निद्रा से जाग उठता है और संचय, स्वामित्व एवं भोगों की बाल-क्रीड़ा से मुंह मोड़कर आत्म-कल्याण की ओर लगता है। पांचों मुखों का एक सन्देश यह है - पंच तत्वों से बने पदार्थों को केवल उपयोग की वस्तु समझें, उनमें लिप्त, तन्मय, आसक्त एवं मोहग्रस्त न हों।

उच्चस्तरीय साधना में पंचमुखी गायत्री प्रतिमा में पंचकोशी गायत्री उपासना की आवश्यकता का संकेत है। यह पांचकोश अन्तर्जगत के पांच देव, पांच प्राण, पांच महान् सद्गुण पंचाग्नि, पंचतत्व, आत्मसत्ता के पांच कलेवर आदि कहे जाते हैं। पंच देवों की साधना से उन्हें जागृत सिद्ध कर लेने से जीवन में अनेकानेक सम्पत्तियों और विभूतियों के अवतरण का रहस्योद्घाटन किया गया है। पांच प्राणों को चेतना की पांच धाराऐं, चिन्तन की प्रखरताएं कहा गया है। चेतना की उत्कृष्टता इन्हीं के आधार पर बढ़ती और प्रचण्ड होती है। प्राण विद्या भी गायत्री विद्या का ही एक अंग है। गायत्री शब्द का अर्थ भी गय=प्राण+त्री=त्राता। अर्थात् प्राण शक्ति का परित्राण करने वाली दिव्य क्षमता के रूप में किया गया है। कठोपनिषद् में पंचाग्नि विद्या के रूप में इस प्राण तत्व को इन्हीं पांच धाराओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

गायत्री के पांच मुखों, पंचकोशों के रूप में उन पांच तत्वों की प्रखरता का वर्णन है जिनसे यह समस्त विश्व और मानव शरीर बना है। स्थूल रूप में यह पांच तत्व पैरों तले रोंदी जाने वाली मिट्टी, कपड़े धोने के लिए काम आने वाले पानी, चूल्हें में जलने वाली आग, पोला आकाश और उसमें मारी-मारी फिरने वाली हवा के रूप में देखे जाते हैं। पर यदि उनकी सूक्ष्म क्षमता पर गहराई से दृष्टि डाली जाय तो पता चलेगा कि इन तत्वों के नगण्य से परमाणु तक कितनी अद्भुत शक्ति अपने में धारण किये बैठे हैं। उनकी रासायनिक एवं ऊर्जागत क्षमता कितनी महान् है। पंच तत्वों से बना यह स्थूल जगत और उनकी तन्मात्राओं से बना सूक्ष्म जगत कितना अद्भुत, कितना रहस्यमय है, यह समझने का प्रयत्न किया जाता है तो बुद्धि थक कर उसे विराट् ब्रह्म की साकार प्रतिमा मानकर ही सन्तोष करती है। इन पांच तत्वों के अद्भुत रहस्यों का संकेत गायत्री के पांच मुखों में बताया गया है और समझाया गया है कि यदि इनका ठीक प्रकार उपयोग, परिष्कार किया जा सके तो उनका प्रतिफल प्रत्यक्ष पांच देवों की उपासना जैसा हो सकता है। पृथ्वी, अग्नि, वरुण, मरुत, अनन्त इन पांच देवताओं को पौराणिक कथा, प्रसंगों में उच्चस्तरीय क्षमता सम्पन्न बताया गया है। कुन्ती ने इन्हीं पांच देवताओं की आराधना करके पांच देवोपम पुत्र रत्न पाए थे। पंचमुखी, पंचकोशी उच्चस्तरीय

गायत्री उपासना में तत्व – दर्शन की – तत्व साधना की गरिमा का संकेत है।

मानव सत्ता के तीन शरीर हैं – कारण, सूक्ष्म और स्थूल। कारण शरीर में पांच सम्वेदनाऐं, सूक्ष्म शरीर में पांच प्राण चेतनाऐं और स्थूल शरीर में पांच शक्ति धाराऐं विद्यमान हैं और उच्चस्तरीय साधना विज्ञान का सहारा लेकर उन्हें उभारे जाने का संकेत एवं निर्देश है।

पांच देवों में (१) भवानी, (२) गणेश, (३) ब्रह्मा, (४) विष्णु, (५) महेश की गणना होती है। इन्हें क्रमशः बलिष्ठता, बुद्धिमत्ता, उपार्जन शक्ति, अभिवर्धन पराक्रम एवं परिवर्तन की प्रखरता कह सकते हैं। यह पांच देवता ब्रह्माण्ड-व्यापी ईश्वरीय दिव्य शक्तियों के रूप में संव्याप्त हैं। सृष्टि सन्तुलन एवं संचालन में योगदान करते हैं। यही पांच शक्तियां आत्मसत्ता में भी विद्यमान हैं और इस छोटे ब्रह्माण्ड को सुखी समुन्नत बनाने का उत्तरदायित्व सम्भालते हैं। इन्हें पांच कोशों में सन्निहित अन्तर्जगत के पांच देव कहा जा सकता है। पंचकोश साधना की सफलता को उपर्युक्त पांच देवताओं के द्वारा प्राप्त हो सकने वाले अनुदान वरदान के रूप में अनुभव किया जाता है।

कोश खजानों को भी कहते हैं। समुद्र को रत्नाकर कहा जाता है और उसके गर्भ में असीम रत्न राशि भरी होने की बात सर्वविदित है। जमीन में भी जल, तेल, धातुऐं रत्न तथा अन्यान्य बहुमूल्य पदार्थ मिलते हैं। यह खजाने खुदाई करने पर ही मिलते हैं। पूर्वजों के द्वारा छोड़ा हुआ धन प्रायः जमीन में गढ़ा होता था। उत्तराधिकारी उसे खोदते, निकालते और लाभान्वित होते थे। ईश्वर प्रदत्त बहुमूल्य विभूतियां आत्मसत्ता के मर्मस्थलों में छिपी रहती हैं। पंचकोश जागरण की साधना से उस वैभव को – सिद्धि सम्पदा को साधक उपलब्ध करते हैं।

आत्मसत्ता के पांच कलेवरों की रूप में पंचकोशों को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। शास्त्रकारों ने मानवीसत्ता को पांच वर्गों में विभक्त किया है। उनके नाम हैं-(१)अन्नमय कोश, (२) प्राणमय कोश, (३) मनोमय कोश, (४) विज्ञानमय कोश, (५) आनन्दमय कोश।

अन्नमय कोश का अर्थ है-इन्द्रिय चेतना, प्राणमय कोश अर्थात् जीवनी शक्ति, मनोमय कोश अर्थात् विचार बुद्धि, विज्ञानमय कोश अर्थात् भाव प्रवाह, आनन्दमय कोश अर्थात् आत्मबोध, आत्मस्वरूप में स्थिति यह पांच चेतना स्तर हैं।

निम्न स्तर के प्राणी इनमें निम्न भूमिका में पड़े रहते हैं। कृमि-कीटकों की चेतना इन्द्रियों की प्रेरणा के इर्द-गिर्द अपना चिन्तन सीमित रखती है। वे शरीर की जीवनी-शक्ति मात्र से जीवित रहते हैं। संकल्प-बल उनके जीवन-मरण में सहायक नहीं होता। मनुष्य की जिजीविषा इस शरीर के अशक्त-असमर्थ होने पर भी जीवित रख सकती है, पर निम्न वर्ग के प्राणी मात्र सर्दी-गर्मी बढ़ने जैसे ऋतु प्रभावों से प्रभावित होकर अपना प्राण त्याग देते हैं उन्हें जीवन संघर्ष के अवरोध में पड़ने की इच्छा नहीं होती।

प्राणमय कोश की क्षमता जीवनी-शक्ति के रूप में प्रकट होती है। जीवित रहने की सुदृढ़ और सुस्थिर इच्छा शक्ति के रूप में उसे देखा जा सकता है। स्वस्थ, सुदृढ़ और दीर्घ जीवन का लाभ शरीर को इसी आधार पर मिलता है। मनस्वी, ओजस्वी और तेजस्वी व्यक्तित्व ही विभिन्न क्षेत्रों में सफलताऐं प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत दीन-हीन, भयभीत, शंकाशील, निराश, खिन्न, हतप्रभ व्यक्ति अपने इसी दोष के कारण उपेक्षित, तिरस्कृत एवं उपहासास्पद बने रहते हैं। उत्साह के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी रहने वाली कर्मनिष्ठा का जहां अभाव होगा वहां अवनति और अवगति के अतिरिक्त और कुछ रहेगा ही नहीं। साहस बाजी मारता है। बहादुरों के गले में ही अनादि काल से विजय बैजन्ती पहनाई जाती रही है और अनन्त काल तक यही क्रम चलता रहेगा।

मनोमय कोश का अर्थ है- विचार शीलता, विवेक बुद्धि। यह तत्व जिसमें जितना सजग होगा उसे उसी स्तर का मनस्वी या मनोबल सम्पन्न कहा जायेगा। यों मन हर जीवित प्राणी का होता है। कीट-पतंग भी उससे रहित नहीं हैं। पर मनोमय कोश के व्याख्याकारों ने उसे दूरदर्शिता, तर्क प्रखरता एवं विवेकशीलता के रूप में विस्तारपूर्वक समझाया है। मन की स्थिति हवा की तरह है, वह दिशा विशेष तक सीमित न रहकर स्वेच्छाचारी वन्य पशु की तरह किधर भी उछलता-कूदता है। पक्षियों की तरह किसी भी दिशा में चल पड़ता है। इसे दिशा देना, चिन्तन को अनुपयोगी प्रवाह में बहने

से बचा कर उपयुक्त मार्ग पर सुनियोजित करना मनस्वी होने का प्रधान चिन्ह है। मनोनिग्रह-मनोजय इसी का नाम है।

एकाग्रता का-चित्त-वृत्ति-निरोध का बहुत महात्म्य योगशास्त्रों में बताया गया है। इसका अर्थ चिन्तन प्रक्रिया को ठप्प कर देना, एक ही ध्यान में निमग्न रहना नहीं, वरन् यह है कि विचारों का प्रवाह नियत निर्धारित प्रयोजन में ही रुचिपूर्वक लगा रहे। यह कुशलता जिनको करतल गत हो जाती है, वे जो भी लक्ष्य निश्चित करते हैं उसमें प्रायः अभीष्ट सफलता ही प्राप्त करके रहते हैं। बिखराव की दशा में चिन्तन की गहराई में उतरने का अवसर नहीं मिलता। अस्तु किसी विषय में प्रवीणता और पारंगतता भी हाथ नहीं लगती। संसार में विशेषज्ञों का स्वागत होता है, यहां हर क्षेत्र में "ए-वन" की मांग है और यह उपलब्धि कुशाग्र बुद्धि पर नहीं सघन मनोयोग के साथ सम्बद्ध है। यह मनोयोग का वरदान प्राप्त करने के लिए जो प्रयास व्यायाम करने पड़ते हैं उन्हें ही मनोमय कोश की साधना कहते हैं।

विज्ञानमय कोश को सामान्य भाषा में भावना प्रवाह कह सकते हैं। यह चेतना की गहराई में अवस्थित अन्तःकरण से सम्बन्धित है। विचार-शक्ति से भाव-शक्ति कहीं गहरी है, साथ ही उसकी क्षमता एवं प्रेरणा भी अत्यधिक सशक्त है। मनुष्य विचारशील ही नहीं सम्वेदनशील भी है। यह सम्वेदनाऐं ही उत्कट स्तर की आकांक्षाऐं उत्पन्न करती हैं और उन्हीं से प्रेरित होकर मनुष्य बेचैन-विचलित हो उठता है जबकि विचार प्रवाह, मात्र मस्तिष्कीय हलचल भर पैदा कर पाता है। देव और दैत्य का वर्गीकरण इस भाव चेतना के स्तर को देखकर ही किया जाता है।

विज्ञानमय कोश की सन्तुलित साधना मनुष्य को दयालु, उदार, सज्जन, सहृदय, संयमी एवं शालीन बनाती है। उसे दूसरों को दुःखी देखकर उसकी स्थिति में अपने को रखकर व्यथित होने की 'सहानुभूति' का अभ्यास होता है। तद्नुसार औरों का दुःख बंटाने की, सेवा परायणता की आकांक्षा सदा उठती रहती है। विभिन्न प्रकार के परमार्थ इसी स्थिति में बन पड़ते हैं। ऐसे व्यक्तियों की आत्म-भावना सुविस्तृत होते-होते अतीव व्यापक बन जाती है। तब दूसरों के सुख में भी अपने निज के जैसा आभास मिलता है।

आनन्दमय कोश का विकास यह देखकर परखा जा सकता है कि मनुष्य क्षुब्ध, उद्विग्न, चिन्तित, खिन्न, रुष्ट, असन्तुष्ट रहता है अथवा हंसती, मुस्कराती, हलकी-फुलकी, सुखी सन्तुष्ट जिन्दगी जीता है। मोटी मान्यता यह है कि वस्तुओं, व्यक्तियों अथवा परिस्थितियों के कारण मनुष्य सुखी-दुःखी रहते हैं, पर गहराई से विचार करने पर यह मान्यता सर्वथा निरर्थक सिद्ध होती है। एक ही बात पर सोचने के अनेकों दृष्टिकोण होते हैं। सोचने का तरीका किस स्तर का अपनाया गया-यही है मनुष्य के खिन्न अथवा प्रसन्न रहने का कारण।

अपने स्वरूप का, संसार की वास्तविकता का बोध होने पर सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। दुःख तो अपने आपे को भूल जाने का, संसार को कुछ से कुछ समझ बैठने के अज्ञान का है। यह अज्ञान ही भव-बन्धन है, इसे ही माया कहते हैं। प्राणी त्रिविध ताप इसी नरक की आग में जलने से सहता है। सच्चिदानन्द परमात्मा के इस सुरम्य नन्दन वन जैसे उद्यान में दुःख का एक कण भी नहीं, दुःखी तो हम केवल अपने दृष्टि दोष के कारण होते हैं। वस्तु, व्यक्ति और परिस्थिति का विकृत रूप देखकर ही डरते और भयभीत होते हैं। यदि यह दृष्टि दोष सुधर जाय तो मिथ्या आभास के कारण उत्पन्न हुई भ्रान्ति का निवारण होने में देर न लगे और आत्मा की निरन्तर आनन्द उल्लास से परिपूर्ण परितृप्त रहने की स्थिति बनी रहे।

पांच कोशों की भावनात्मक पृष्ठभूमि यही है। इन्हीं कसौटियों पर कसकर किसी व्यक्ति की आन्तरिक स्थिति के बारे में जाना जा सकता है कि वह आत्मिक दृष्टि से कितना गिरा पिछड़ा है अथवा उठने, विकसित होने में सफल हुआ है।

गायत्री माताः की दस भुजाऐं और उनका रहस्य

गायत्री महाशक्ति के चित्रों में चित्रित पांच मुखों का तत्व दर्शन उपर्युक्त पंक्तियों में समझा जा सकता है। अब दस भुजाओं के रहस्य पर प्रकाश डाला जाता है।

मानव जीवन के दो पहलू हैं- (१) आत्मिक, (२) भौतिक। यह दोनों पक्ष ही गायत्री के दो पार्श्व हैं

दोनों में पांच-पांच भुजाएं हैं। अर्थात् पांच-पांच शक्तियां. सामर्थ्य और विभूतियां। आध्यात्मिक दक्षिण पार्श्व की पांच भुजाऐं हैं- (१) आत्म ज्ञान, (२) आत्म दर्शन, (३) आत्म अनुभव, (४) आत्म लाभ और (५) आत्म कल्याण। भौतिक वाम पार्श्व की पांच भुजाऐं (१)स्वास्थ्य (२) सम्पत्ति (३) विद्या (४) कौशल (५) मैत्री। गायत्री के सच्चे उपासक को यह दस सिद्धियां, दस विभूतियां निश्चित रूप से मिलती हैं इन दसों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

(१) आत्म-ज्ञान

आत्म-ज्ञान का अर्थ अपने को जान लेना, शरीर और आत्मा की भिन्नता को भली प्रकार समझ लेना और शारीरिक लाभों को आत्म-लाभ की तुलना में उतना ही महत्त्व देना जितना दिया जाना उचित है। आत्म-ज्ञान होने से मनुष्य का 'असंयम' दूर हो जाता है। इन्द्रिय भोगों की लोलुपता के कारण लोगों की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का अनुचित अनावश्यक व्यय होता है जिसमें शरीर असंयमी, दुर्बल, रोगी, कुरूप एवं जीर्ण हो जाता है। आत्म-ज्ञानी इन्द्रिय भोगों की उपयोगिता, अनुपयोगिता का निर्णय आत्म-लाभ की दृष्टि से करता है इसलिए वह स्वभावतः संयमी रहता है और शरीर से सम्बन्ध रखने वाले दुःखों से बचा रहता है, दुर्बलता, रोग एवं कुरूपता का कष्ट उसे नहीं भोगना पड़ता। जो कष्ट उसे पूर्व प्रारब्ध कर्मों के अनुसार भोगने होते हैं, वह भी आसानी से भुगत जाते हैं।

(२) आत्म-दर्शन

'आत्म-दर्शन' का तात्पर्य है अपने स्वरूप का साक्षात्कार करना। साधना द्वारा आत्मा के प्रकाश का जब साक्षात्कार होता है, तब प्रीति प्रतीत, श्रद्धा-निष्ठा और विश्वास भावना बढ़ती है। कभी भौतिकवादी, कभी आध्यात्मवादी होने की डांवाडोल मनोदशा स्थिर हो जाती है और ऐसे गुण, कर्म, स्वभाव प्रकट होने लगते हैं जो एक आत्म दृष्टि वाले व्यक्ति के लिए उचित हैं। इस आत्म दर्शन की द्वितीय भूमिका में पहुंचने पर दूसरों को जानने, समझने उन्हें प्रभावित करने की सिद्धि मिल जाती है।

जिसे आत्म-दर्शन हुआ है उसकी आत्मिक सूक्ष्मता अधिक व्यापक हो जाती है, वह संसार के सब शरीरों में अपने को समाया हुआ देखता है। जैसे अपने मनोभाव, आचरण गुण, स्वभाव, विचार और उद्देश्य अपने को मालूम होते हैं, वैसे ही दूसरों के भीतर की सब बातें भी अपने को मालूम हो जाती हैं। साधारण मनुष्य जिस प्रकार अपने शरीर और मन से काम लेने में समर्थ होते हैं, वैसे ही आत्म-दर्शन करने वाला मनुष्य, दूसरों के मन और शरीरों पर अधिकार करके उन्हें प्रभावित कर सकता है।

(३) आत्म-अनुभव

'आत्म-अनुभव' कहते हैं- अपने वास्तविक स्वरूप का क्रियाशील होना; अपने अध्यात्म ज्ञान के आधार पर ही भावना का होना। आमतौर से लोग मन में विचार तो बहुत ऊंचे रखते हैं पर बाह्य जीवन में अनेक कारणों से उन्हें चरितार्थ नहीं कर पाते। उनका व्यावहारिक जीवन गिरी हुई श्रेणी का होता है किन्तु जिन्हें आत्मानुभव होता है वे भीतर बाहर से एक होते हैं। उनके विचार और कार्यों में तनिक भी अन्तर नहीं होता। जो कारण, उच्च जीवन बिताने में सामान्य लोगों को पर्वत के समान दुर्गम मालूम पड़ते हैं, उन्हें वे एक ठोकर में तोड़ देते हैं। उनका जीवन ऋषि जीवन बन जाता है।

आत्म-अनुभव से सूक्ष्म प्रकृति की गतिविधि मालूम करने की सिद्धि मिलती है। किसका क्या भविष्य बन रहा है ? भूतकाल में कौन क्या कर रहा था ? किस कार्य में दैवी प्रेरणा क्या है ? क्या उपद्रव उत्पन्न होने वाले हैं ? लोक-लोकान्तरों में क्या हो रहा है ? कब कहां क्या वस्तु उत्पन्न और नष्ट होने वाली है ? आदि ऐसी अदृश्य एवं अज्ञात बातें जिन्हें साधारण लोग नहीं जानते उन्हें आत्मानुभव की भूमिका में पहुंचा हुआ व्यक्ति भली प्रकार जानता है। आरम्भ में उसे ये अनुभव कुछ धुंधले होते हैं, पर जैसे-जैसे उसकी दिव्य दृष्टि निर्मल होती जाती है सब कुछ चित्रवत् दिखाई देने लगता है।

(४) आत्म-लाभ

'आत्म-लाभ' का अभिप्राय है - अपने में पूर्ण आत्म तत्व की प्रतिष्ठा। जैसे भट्ठी में पड़ा हुआ लोहा तप कर अग्नि वर्ण का लाल हो जाता है वैसे ही इस भूमिका में पहुंचा हुआ सिद्ध पुरुष दैवी तेजपुंज से परिपूर्ण हो जाता है, वह सत् की प्रत्यक्ष मूर्ति होती है। जैसे अंगीठी के निकट बैठने से गर्मी अनुभव होती है वैसे ही ऐसे महापुरुषों के आस-पास ऐसा सतोगुणी वातावरण छाया रहता है जिसमें प्रवेश करने वाले साधारण मनुष्य भी शान्ति अनुभव करते हैं। जैसे वृक्ष की सघन शीतल छाया में, ग्रीष्म की धूप से तपे हुए लोगों को विश्राम मिलता है उसी प्रकार आत्म-लाभ से लाभान्वित महापुरुष अनेकों को शान्ति प्रदान करते रहते हैं।

आत्म-लाभ के साथ-साथ आत्मा की, परमात्मा की अनेकं दिव्य-शक्तियों से सम्बन्ध हो जाता है। परमात्मा की एक-एक शक्ति का प्रतीक एक-एक देवता है। यह देवता अनेक ऋद्धि सिद्धियों का अधिपति है। यह देवता जैसे विश्व ब्रह्माण्ड में व्यापक है वैसे ही एक छोटा सा रूप यह पिण्ड देह है। इस पिण्ड देह में जो दैवी शक्तियों के गुह्य संस्थान हैं वे आत्म-लाभ करने वाले साधक के लिए प्रकट एवम् प्रत्यक्ष हो जाते हैं और वह उन दैवी शक्तियों से इच्छानुकूल कार्य ले सकता है।

(५) आत्म-कल्याण

'आत्म-कल्याण' का अर्थ है- जीवन मुक्ति, सहज समाधि, कैवल्य अक्षय आनन्द, ब्रह्म-निर्माण, स्थिति प्रज्ञावस्था, परमहंस गति ईश्वर प्राप्ति। इस पंचम भूमिका में पहुंचा हुआ साधक ब्राह्मी भूत होता है। पंचम भूमि में पहुंची हुई आत्माऐं ईश्वर की मानव प्रतिमूर्ति होती हैं। उन्हें देवदूत, अवतार, पैगम्बर, युग निर्माता, प्रकाश स्तम्भ आदि नामों से पुकारते हैं उन्हें क्या सिद्धि मिलती है उसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि कोई चीज ऐसी नहीं जिसके आनन्द के वे स्वामी नहीं होते। ब्रह्मानन्द, परमानन्द एवं आत्मानन्द से बड़ा और कोई सुख इस त्रिगुणात्मक प्रकृति में सम्भव नहीं, यही सर्वोच्च लाभ आत्म-कल्याण की भूमिका में पहुंचे हुए को प्राप्त हो जाता है।

भौतिक पक्ष की पांच सिद्धियां गायत्री माता की पांच भुजाऐं भौतिक जीवन की दृष्टि से कम महत्त्व की हैं।

(६) निरोगता

गायत्री उपासक का आहार-बिहार संयमित रहता है इसलिए उसे बीमारी का कष्ट नहीं भोगना पड़ता। नियमितता, निरालस्यता एवं श्रमशीलता का अभ्यस्त रहने के कारण उसके सारे अवयव क्रियाशील रहते हैं। किसी अंग या इन्द्रिय का दुरुपयोग करने के स्वभाव होने का कारण उन सबकी शक्ति चिरकाल तक स्थिर रहती है। रोग, पीड़ा, अकाल मृत्यु का कारण असंयम ही तो है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपनाने वाला जब संयम की रीति-नीति अपनावेगा तो फिर उसके शरीर को कष्टों से ग्रसित होने का अवसर ही न आएगा। प्रारब्धवश आए तो भी वह अधिक समय ठहरेगा नहीं।

गायत्री उपासना का अपना विशेष सत्परिणाम भी है। रोगग्रस्त शरीर पीड़ा से व्यथित, असाध्य और कष्टसाध्य व्यथाओं से ग्रसित व्यक्ति गायत्री उपासना का अवलम्बन ग्रहण करने पर अपने कष्टों से छुटकारा पाते प्रत्यक्ष देखे जाते हैं।

(७) समृद्धि

गायत्री उपासना में जिन सद्गुणों का विकास होता है उनमें परिश्रमशीलता, तत्परता, सतर्कता, मधुरता, सादगी एवं मितव्ययता प्रमुख हैं। यह सद्गुण जहां भी होंगे वहां सदा समृद्धि बनी रहेगी। दरिद्रता का निवास वहां हो ही नहीं सकता। जो परिश्रम और सावधानी के साथ उद्योग रत रहेगा, दूसरों से मनुष्यता एवं मधुरता भरा व्यवहार करेगा उसको अर्थ उपार्जन के अनेक अवसर स्वतः ही प्राप्त होते रहेंगे। कमाए हुए पैसे को ठीक तरह खर्च करने की बुद्धि आमतौर से लोगों को नहीं होती। अस्तु अपव्यय के कारण उन्हें दरिद्रता घेरे रहती है। सादगी और शालीनता की नीति अपनाकर खर्च करने वाला व्यक्ति न दरिद्र रहेगा, न

अभाव ग्रस्त, न ऋणी। जो दुर्गुण मनुष्य के व्यक्तित्व को अस्त-व्यस्त करते हैं वे ही वस्तुतः दरिद्रता के कारण होते हैं। गायत्री की शिक्षा एवं प्रेरणा साधक को व्यवस्थित बनाने की है। सच्चा साधक उसे हृदयंगम भी करता है, फलस्वरूप उसे दरिद्रता का मुख नहीं देखना पड़ता।

कई बार अर्थ संकट की चिन्ता भरी घड़ियों में गायत्री उपासना आश्चर्यजनक प्रकाश उत्पन्न करती है। आय के स्रोत अवरुद्ध हो गये थे वे खुल जाते हैं। मार्ग के अवरोध हटते हैं और ऐसे अवसर उत्पन्न होते हैं जिनके कारण समृद्धि की सम्भावनाऐं अनायास ही बढ़ जाती हैं। इस प्रकार के अवसर कितनों को ही आए दिन मिलते रहते हैं और वे अनुभव करते हैं कि गायत्री माता का अनुग्रह मनुष्य की दरिद्रता एवं विपन्नता को भी दूर करता है।

(८) विद्या

गायत्री बुद्धि की देवी है। उसके साधक की अभिरुचि स्वभावतः ज्ञान अभिवर्धन में होती है। स्वाध्याय और सत्संग द्वारा प्राप्त वह आत्मिक ज्ञान बढ़ता है वहां सांसारिक स्थिति को समझने के लिए अपनी शिक्षा भी जारी रखता है। अध्ययन तो उसका प्रधान व्यसन होता है। जिसे पढ़ने में रुचि है वह अपने ज्ञान कोश को धीरे-धीरे संचित करता रहे तो क्रमशः विद्यावान बनता चला जाता है। विद्या ही संसार का सबसे बड़ा धन है, यह बात उसके मन में बैठ जाती है तो जिस प्रकार सामान्य लोगों को धन कमाने की धुन रहती है, उसी तरह उसे विद्यावान बनने की आकांक्षा निरन्तर बनी रहती हैं। फलस्वरूप अध्ययन के मार्ग में जो व्यवधान थे वे दूर होते रहते हैं। ये परिस्थिति तो उत्पन्न होती रहती है जिसके आधार पर वह ज्ञानवान और विद्वान बन सके। गायत्री उपासक अशिक्षित, मूढ़ एवं शिक्षा की उपेक्षा करने वाला हो ही नहीं सकता।

कई बार इस उपासना के फलस्वरूप दुर्बल मस्तिष्क वालों की प्रतिभा भी अप्रत्याशित रूप में प्रखर होती देखी गई। मन्दबुद्धि, भुलक्कड़, मूर्ख, अदूरदर्शी, सनकी, जिद्दी, अर्ध विक्षिप्त मस्तिष्क वालों को बुद्धिमान, दूरदर्शी, तीव्र बुद्धि, विवेकवान बनते देखा गया है। गायत्री उपासना करने वाले छात्रों को परीक्षा में अच्छी सफलता प्राप्त करते देखा गया है।

(९) कौशल

बात पर ठीक तरह से सोचना, स्थिति को सही रूप से समझना और कार्य को ठीक तरह करना, यह कौशल कहलाता है। कौन गुत्थी किस स्थिति में किस प्रकार सुलझ सकती है, इसका सही तरीके से निर्णय कर सकने की क्षमता का नाम ही चातुर्य है। चतुर और क्रिया-कुशल व्यक्तियों के सामने सफलताऐं हाथ बांधे खड़ी रहती हैं। विभिन्न दिशा में विस्तृत जानकारी सुलझे हुए विचार और सही अवसर पर सही कदम उठाने की सूझ बूझ कुशलता के चिन्ह हैं। ऐसे कुशल व्यक्ति हर क्षेत्र में आगे रहते हैं और सफलताओं पर सफलता प्राप्त करते हुए आगे बढ़ते चलते हैं।

उलटी तरह सोचने वाले दीर्घसूत्री और भोंदू बुद्धि कहलाने वाले व्यक्ति गायत्री उपासना का अवलम्बन लेकर - कलाकार, नेता, शिल्पी, विजयी, सरस्वती वरद पुत्र प्रतिभाशाली एवं यशस्वी होते देखे गये हैं। मस्तिष्क पर दुर्भावों का अनावश्यक दबाव न रहने से व्यक्तित्व में ऐसी प्रखरता आना स्वाभाविक है।

(१०) मैत्री

सद्बुद्धि की देवी गायत्री - अपने सच्चे उपासक को प्रधानतया सद्गुणों का वरदान प्रदान करती है। उससे नम्रता, सौहार्द्र, सौजन्य, सेवाभावना, प्रसन्नता, उदारता, दयालुता, निरहंकारता, सज्जनता जैसी विशेषताऐं उत्पन्न होती ही हैं, ऐसे व्यक्तित्व की खिले हुए सुगन्धित कमल पुष्प से तुलना की जा सकती है, जिसके चारों ओर भौंरे, मधुमक्खियां व तितलियां मड़राती रहती हैं। जिसकी दृष्टि उस पर पड़ती है वही प्रसन्न होता है। जिसको भी उसकी सुगन्ध मिलती है वह आकर्षित होता है सज्जनता सम्पन्न व्यक्ति को सच्चे मित्रों की कभी कमी नहीं रहती। उसके प्रशंसक, सहायक, सहयोगी एवं मित्र दिन-दिन बढ़ते ही रहते हैं।

जिसकी प्रतिष्ठा जितनी होगी, जिसके जितने सहयोगी एवं मित्र होंगे उसकी प्रगति की सम्भावनाऐं भी

उतनी ही बढ़ी-चढ़ी होंगी। ऐसे व्यक्ति जिधर भी चलते हैं,उधर ही उनके लिए पलक पांवड़े बिछाए जाते हैं और आरती उतारी जाती है।

गायत्री उपासना से तात्कालिक लाभ भी अगणित होते हैं। शत्रुओं के घातक आक्रमण की सम्भावना समाप्त होती है। द्वेष शान्त होता है और विध्वंसकारी विरोधियों के हौंसले पस्त हो जाते हैं। जो प्रतिकूल थे वे अनुकूल बनते हैं और जिनका असहयोग था उनका सहयोग मिलने लगता है। जहां उपेक्षा, असहयोग एवं विरोध की सम्भावना थी वहां अनुकूल वातावरण देख कर कितने ही व्यक्तियों ने गायत्री की अनुपम शक्ति का चमत्कार देखा है।

प्रतीक का निष्कर्ष

यह गायत्री की दस भुजाऐं हुईं। अलंकार रूप से पांच मुख और दस भुजाओं का चित्रण कलाकार तत्व ज्ञानियों ने इसी दृष्टि से किया है कि इस महाविद्या में सन्निहित तथ्यों, शक्तियों एवं सम्भावनाओं को लोग समझें उन्हें प्राप्त करने एवम् उनसे लाभान्वित होने के लिए प्रयत्न करें।

वस्तुतः गायत्री परमब्रह्म परमात्मा की विश्वव्यापिनी निराकार शक्ति है जो उच्चस्तर की साधना भूमिका में प्रकाश एवं आनन्द की अनुभूतियों में परिलक्षित होती है। साधारण उपासना क्रम में दो भुजी गायत्री का ध्यान ही उपयुक्त है क्योंकि वही मानव प्राणी के लिए सरल एवं स्वाभाविक है। ज्ञान की प्रतिबिम्ब, सद्भावनाओं की प्रेरणा, मानवता की आत्मा, आदर्शवादिता की आस्था, उत्कृष्टता की निष्ठा, सहृदयता एवम् सज्जनता की सत्प्रवृत्ति के रूप में प्रकाश मण्डल के मध्य में विराजमान गायत्री का ध्यान ही उपयुक्त है। उसके एक हाथ में पुस्तक यह बताती है कि ज्ञान ही कल्याण का प्रधान अवलम्बन है। दूसरे हाथ में जल भरे कमण्डल का होना यह सन्देश देता है कि यह देवी प्रेम, शान्ति, त्याग एवं सद्भावना के प्रतीक कमण्डल को धारण करती है। जहां गायत्री होगी वहां उसकी वह अभिव्यंजना भी साथ रहेगी।

गायत्री का वाहन है हंस। हंस अर्थात् नीर क्षीर का, उचित अनुचित का वर्गीकरण करने वाला विवेक। हंस के बारे में यह किम्बदन्ती है कि वह पानी मिले दूध में से जल का अंश छोड़ देता है और केवल दूध पीता है। यह प्रवृत्ति गायत्री ज्ञान धारण करने वाले की होनी चाहिए। वह इस बुराई भलाई मिले संसार में से केवल भलाई को ग्रहण करे और बुराई को छोड़ दे जिसमें ऐसी सूझ बूझ तथा क्षमता है वह गायत्री का वाहन हंस माना जायगा, भले ही वह मनुष्य-शरीर धारण किए क्यों न हो ?

गायत्री का आसन खिले हुए कमल पुष्प का है। उपासक को खिले पुष्प की तरह प्रसन्न रहने का अभ्यस्त होना चाहिए। परोपकार के लिए जीवन धारण करना चाहिए और अन्त में अपने को देव पूजा एवं सन्तों की अभ्यर्थना में अपना अस्तित्व समर्पित करते हुए धन्य होना चाहिए। गायत्री कमल पुष्प पर बैठती हैं जिस साधक का जीवन कमल पुष्प जैसी विशेषताओं से सम्पन्न होगा गायत्री माता उसी हृदय-कमल में विराजमान रहेगी।

इन मान्यताओं के साथ हमें गायत्री उपासना के लिए एक मुख, दो हाथ वाली प्रतिमा का ध्यान करना चाहिए और पंचमुखी, दसभुजी प्रतिमा से उसका तत्व ज्ञान एवं उपासना क्रम अपनाना चाहिए।

गायत्री का भावनात्मक एवं वैज्ञानिक महत्त्व

गायत्री उपासना का भावनात्मक और वैज्ञानिक दोनों ही दृष्टियों से बड़ा महत्त्व है। भावना की दृष्टि से विचार किया जाय तो मानव जीवन के चरित्र उत्कर्ष का बीज-मन्त्र उसे कहा जा सकता है। सामान्यतया मनुष्य सबसे अधिक उपेक्षा 'सद्बुद्धि' की ही करता है। जिस औजार से उसे निर्माण कार्य करना है उसे ही टूटा-फटा भौंथरा और अनगढ़ रखता है। इस भूल के फलस्वरूप ही उसे जीवन लक्ष्य से वंचित रहना पड़ता है।

सृष्टि के समस्त प्राणियों की तुलना में सबसे श्रेष्ठ साधना सम्पन्न शरीर मनुष्य को मिला है। बोलने, सोचने, लिखने, करने, मिल-जुल कर रहने और खोजने की जो विशेषताऐं मनुष्य को प्राप्त हैं, उन्हीं के बलबूते पर उसने उन्नति के उच्च शिखर पर पहुंचने में सफलता पाई है। जितनी सुविधाऐं मनुष्य को

प्राप्त हैं उसका हजारवां भाग भी सृष्टि के अन्य प्राणियों को प्राप्त होता तो वे अपने को धन्य मानते। आश्चर्य इस बात का है कि इतनी सुविधाऐं रहते हुए भी लोग दु:खी क्यों हैं ? निरन्तर चिन्तित, खिन्न, उदास, क्षुब्ध और अशान्त क्यों रहते हैं ? इसका एक ही कारण है कि उनकी विचारणा का, प्रज्ञा का- सद्‌बुद्धि का परिष्कार नहीं हुआ। यदि वे सोचने का तरीका सही बना लेते तो आज जो अगणित समस्याऐं और कठिनाइयां सामने उपस्थित हैं, उनमें से एक भी दृष्टिगोचर नहीं होती। सोचने का सही तरीका यदि सीख लिया जाय तो फिर इसी जीवन में स्वर्ग की अनुभूतियां बिखरी हुई दिखाई पड़ने लगें। निस्सन्देह विचारणा की अशुद्ध प्रणाली ने ही स्वर्गीय सुविधाओं से मानव प्राणी को नारकीय परिस्थितियों में दु:ख दारिद्रय में पड़े रहने के लिए विवश किया है। यदि सुख-शान्ति स्थिति सचमुच अभीष्ट हो तो उसके लिए एक उपाय अनिवार्यत: करना पड़ेगा और वह उपाय है- अपनी विचार पद्धति का संशोधन।

गायत्री महामन्त्र में इसी धर्म-रहस्य का उद्‌घाटन किया है। मानव जाति को सन्देश दिया है कि कोल्हू के बैल बने फिरने मृगतृष्णा में भटकते रहने की अपेक्षा मूल तथ्य को समझो । सुख प्राप्ति के लिए प्रयत्न तो करो, पर प्रयत्न से पूर्व स्थिति को समझ भी लो कि वह कहां से और कैसे मिलेगा ?

गायत्री मन्त्र बताता है कि विचार संशोधन, भावनात्मक परिष्कार वह आवश्यक तत्व है, जिसे प्राप्त किए बिना न किसी को आज तक सुख-शान्ति मिली है और न आगे मिलेगी। वस्तुऐं क्षणिक सुख दे सकती हैं। वासना और तृष्णा की मदिरा में कुछ ही क्षण उन्मत्त रहा जा सकता है। उनकी परिणति तो दूनी अशान्ति, दूनी हानि और दूनी असफलता में ही होती है। इसलिए हमें अपने मानसिक संस्थान को शुद्ध करने का सबसे अधिक प्रयत्न करना चाहिए। अपनी एक-एक प्रवृत्ति का सूक्ष्म निरीक्षण करना चाहिए और उन पर चढ़े हुए कुसंस्कारों का साहस पूर्वक परिष्कार करना चाहिए। वस्तुत: इसी का नाम साधना है। साधना का केन्द्र-बिन्दु इसी प्रयास एवम् पुरुषार्थ को कहा गया है।

गायत्री में ईश्वर से यही मांगा है कि- प्रभु हमें आपने मानव शरीर देकर असीम अनुकम्पा की है। अब मानव बुद्धि देकर हमें उपकृत और कर दीजिए ताकि हम सच्चे अर्थों में मनुष्य कहला सकें और मानव जीवन के आनन्द का लाभ उठा सकें। गायत्री के चौबीस अक्षरों में परमात्मा के 'सवितु' 'वरेण्य:' 'भर्ग:' और देव' गुणों का चिन्तन करते हुए उन्हें अपने जीवन में धारण करने की आस्था बनाते हुए यह संकल्प किया गया है कि परमात्मा के अनुग्रह एवं वरदान की एकमात्र 'सद्‌बुद्धि' को भी हम प्राप्त करते रहेंगे। अपने जीवन को उस ढांचे में ढालेंगे, जिसमें कि सद्‌बुद्धि सम्पन्न महामानव अपने को ढालते चले आए हैं। उसी संकल्प को बार-बार पूरी निष्ठा और भावनापूर्वक दुहराने का नाम गायत्री जप का सच्चा स्वरूप समझते हुए जो उस उपासना को करते हैं, वे उसका अनिर्वचनीय लाभ प्राप्त भी कर लेते हैं। वे इस अमृत को पाकर अमर बन जाते हैं और इस मृत्यु लोक में रहते हुए भी दिव्य-लोक में निवास करने का स्वर्गीय आनन्द पग-पग पर अनुभव करने लगते हैं।

वैज्ञानिकता की दृष्टि से गायत्री उपासना के अगणित भौतिक लाभ भी हैं। कष्टों और आपत्तियों में पड़े हुए, विपत्तियों में फंसे हुए, अभाव और दारिद्रय से पीड़ित असफलता की ठोकरों से विक्षुब्ध व्यक्ति यदि इस महामन्त्र का आश्रय लेते हैं तो उन्हें आशा की किरणें दृष्टिगोचर होती हैं। जिन्हें अपना भविष्य अन्धकारमय दीख रहा था और आपत्तियों के कुचक्र में पिस जाने का भय सता रहा था, उन्हें उस उपासना से नया प्रकाश मिलता है। अभावग्रस्त व्यक्ति दारिद्रय से और रुग्ण मनुष्य पीड़ाओं से छुटकारा प्राप्त करते देखे गये, कामनाओं की जलती हुई आग तृप्ति और शान्ति में परिणित होते देखी गई है। इस अवलम्बन का सहारा लेकर गिरे हुए लोग ऊपर उठते हैं। इस प्रकार के प्रतिफल किसी जादू से नहीं, वरन् एक वैज्ञानिक पद्धति से उपलब्ध होते हैं। गायत्री उपासना मनुष्य के विचारों और कार्यों में एक नया मोड़, एक नया परिवर्तन प्रस्तुत करती है। जिसका अन्तर्जगत बदले तो उसके बाह्य जीवन में परिवर्तन प्रस्तुत होना ही चाहिए। होता भी है। इसे ही लोग गायत्री माता का अनुग्रह एवं वरदान भी मानते हैं।

अनेक व्यक्तियों को गायत्री उपासना के फलस्वरूप अनेक प्रकार के कष्टों से छुटकारा पाते और अनेक

सुविधाऐं उपलब्ध करते हुए देखकर हमें यही अनुमान लगाना चाहिए कि इस साधना पद्धति में ऐसे वैज्ञानिक तथ्यों का समावेश है जिनके कारण साधक की अन्तः भूमि में आवश्यक हेर-फेर उपस्थित होते हैं और वह असफलताओं एवं शोक सन्तापों पर विजय प्राप्त करते हुए तेजी से समुन्नत, समर्थ एवम् सफल जीवन की ओर अग्रसर होता है।

गायत्री का महात्म्य भावनात्मक दृष्टि से भी है और वैज्ञानिक दृष्टि से भी। इसी से इस महान अध्यात्म सम्बल को श्रद्धापूर्वक अपनाए रहने और उसे नित्य नियम में स्थान दिये रहने के लिए शास्त्रकार ने ये निर्देश किया है। ऋषियों ने प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति के लिए गायत्री की निष्ठापूर्वक उपासना करने के लिए जोर दिया है और जो उस उपयोगी व्यवस्था का लाभ नहीं उठाना चाहते, उनकी भूल को उन्होंने कटु भर्त्सना के साथ निन्दनीय भी ठहराया है। गायत्री उपासना न करने वाले को उन्होंने चाण्डाल तक कहा है। एक मुखी गायत्री की उपासना भी मनुष्य को शक्ति और प्राण से भर देती है, इससे उसका जीवन व्यवस्थित ही होता है।

वस्तुतः आत्मा अनन्त शक्तियों और सिद्धियों का भण्डार है। वह ईश्वर का पुत्र और सत् चित् आनन्द स्वरूप है। अपने पिता के इस पुष्प उद्यान संसार में क्रीड़ा-कल्लोल का आनन्द लेने आता है, पर माया के बन्धनों में फंसकर वह अपने स्वरूप को, अपने लक्ष्य को, अपने कार्य-क्रम को भूल जाता है और विपन्न स्थिति में पड़ जाता है। इसी भूल का नाम माया बन्धन है। यह माया बन्धन जैसे-जैसे ढीले पड़ते जाते हैं वैसे ही वैसे वह अपने परम मंगलमय मूल रूप में अवस्थित होता चलता है। आत्मा स्वच्छ दर्पण के समान है पर माया मोह का मैल जम जाने के कारण उस पर धुंधलापन छा जाता है। आत्मा जलते हुए अंगारे के समान है। उस पर जब राख का पर्त चढ़ जाता है तो बुझी हुई सी दिखाई पड़ती है। यदि अंगार पर से राख के पर्त को हटा दिया जाय तो वह फिर प्रकाशवान एवं उष्णता युक्त दीखने लगता है। दर्पण पर लगे हुए मैल को यदि मांज-धोकर साफ कर दिया जाय तो पुनः उज्ज्वल हो जाता है। अज्ञानान्धकार में यदि ज्ञान का प्रकाश जल उठे तो अन्धेरे में जो छिपा पड़ा था, वह सब कुछ दीखने लगता है। यह सब काम गायत्री करती है। वह आत्मा पर चढ़े हुए सम्पूर्ण मलों, विक्षेपों, कषायों, कल्मषों एवं जन्म-जन्मान्तरों के चढ़े हुए कुसंस्कारों को धोकर उसे स्वच्छ एवं प्रकाशवान बनाती है। माया के बन्धनों को काटने में वह तेज छुरी सिद्ध होती है। इन बाधाओं से छूटकर आत्मा जब अपनी मूल-भूत निर्मल स्थिति को पहुंच जाती है तो उसके सब त्रास दूर हो जाते हैं। आत्मा का परम निर्मल हो जाना ही परमात्मा की प्राप्ति है। इसे ही जीवन मुक्ति, ब्रह्मनिर्वाण, परमपद, आत्म-साक्षात्कार एवं प्रभु प्राप्ति कहते हैं। यह प्राप्त होना कठिन माना जाता है, पर गायत्री माता इस महान् कार्य को भी सरल बना देती है।

गायत्री साधक की दिन-दिन आत्मिक उन्नति होती है। वह जैसे-जैसे ऊंचा उठता है वैसे ही वैसे उसे अपने पिण्ड (देह) में छिपी हुई ब्रह्माण्ड गत ईश्वरीय महान् शक्तियों का भान होने लगता है। हमारा जो यह स्थूल शरीर दिखाई पड़ता है-'इसे अन्नमय कोष कहते हैं।' इसी प्रकार के सूक्ष्म अदृश्य देह इसी के भीतर चार और हैं। मरने पर यह अन्न कोष मर जाता है पर चार शरीर प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष, आनन्दमय कोष जीवित रहते हैं। इनमें वासनाऐं, इच्छाऐं, भावनाऐं, आदतें भरी रहती हैं और जन्म-जन्मान्तरों से चले हुए संस्कार जमा रहते हैं। जैसे यह स्थूल देह जब तक जीवित है तब तक मृत्यु हो गई ऐसा नहीं कहा जा सकता, इसी प्रकार जब तक यह भीतर वाले चार देह-चार कोष जीवित हैं, तब तक मुक्ति भी नहीं कही जा सकती। इसलिए पांचों कोषों के आवरण एवं आच्छादन से छुटकारा पाने के लिए गायत्री की पंचमुखी साधना की जाती है। इसीलिए चित्रों में कहीं-कहीं गायत्री को पांच मुख वाली भी दिखाया जाता है। वह दशों दिशाओं में व्याप्त है, दशों इन्द्रियों की स्वामिनी है, दश महाशक्तियों की अधीश्वरी है, इसलिए इसे दशभुजी भी चित्रित किया जाता है। गायत्री की पंचमुखी और दशभुजी रूप इस बात का संकेत है कि इस महाशक्ति की सहायता से हम अपने पांचों शरीरों को समाप्त कर सकते हैं,पांचों बन्धनों से छूट सकते हैं, दशों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं, दशों दिशाओं में अपना विस्तार कर सकते हैं और दश महाशक्तियों के स्वामी बन सकते हैं। गायत्री माता की कृपा से हम क्या नहीं

कर सकते हैं ? जो कुछ इस लोक में तथा परलोक में है वह सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं।

पंचमुखी साधना के द्वारा पंचकोशों के विकास की साधना एक विज्ञान है जो भौतिक विज्ञान की अपेक्षा अधिक समर्थ और यथार्थ है। उससे मनुष्य शरीर और वंश से सामान्य दिखाई देने पर भी राजाओं, महाराजाओं जैसा जीवनयापन करता है समस्त सिद्धियां उस विज्ञान में सन्निहित हैं। विश्व में जो कुछ भी है उसका दर्शन गायत्री की पंचकोशी साधनाओं से प्राप्त किया जा सकता है। गायत्री के उच्चस्तरीय पंचकोशीय साधना विधान के अनुसार साधना करने से एक-एक कोष खुलता जाता है। कोष का अर्थ देह भी है और खजाना भी। जहां पांचों देहों एवं बन्धनों का परिमार्जन होता है; वहां इन कोषों में जो अलौकिक दिव्य शक्तियों के खजाने भरे पड़े हैं वे भी सामने आते हैं। यह कोष ही ऋद्धि-सिद्धियों के भण्डार हैं। जिनके हाथ में यह खजाने होते हैं उन्हें इस संसार में और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता।

गायत्री के पाँच मुख पाँच दिव्य कोश

गायत्री के पंचमुखी चित्रों एवं पंचमुखी प्रतिमाओं का प्रचलन इसी प्रयोजन के लिए है कि इस महामन्त्र की साधना का अवलम्बन करने वालों को यह विदित रहे, कि हमें आगे चलकर क्या करना है ? जप, ध्यान, स्रोत, पाठ-पूजन, हवन, यह आरम्भिक क्रिया-कृत्य हैं। इनसे शरीर की शुद्धि और मन की एकाग्रता का प्रारम्भिक प्रयोजन पूरा होता है। इससे अगली मंजिलें कड़ी हैं। उनकी पूर्ति के लिए साधक को जानकारी प्राप्त करनी चाहिए और उस मार्ग पर चलने के लिए आवश्यक तत्परता, दृढ़ता एवं क्षमता का सम्पादन करना चाहिए। इतना स्मरण, यदि साधक रख सका तो समझना चाहिए कि उसने गायत्री पंचमुखी चित्रण का प्रयोजन ठीक तरह से समझ लिया ।

वस्तुतः गायत्री परम ब्रह्म परमात्मा की विश्व-व्यापी महाशक्ति है। उसका कोई स्वरूप नहीं है। यदि स्वरूप का आभास पाना हो तो वह प्रकाश रूप में हो सकता है। ज्ञान की उपमा प्रकाश से दी जाती है। गायत्री का देवता सविता है। सविता का अर्थ है सूर्य- प्रकाश पुंज। जब गायत्री महाशक्ति का अवतरण साधक में होता है तो साधक को ध्यान के प्रकाश बिन्दु एवं वृत्त का आभास मिलता है। उसे अपने हृदय, शिर, नाभि अथवा आंखों में छोटा या बड़ा प्रकाश पिण्ड दिखाई पड़ता है। यह कभी घटता कभी बढ़ता है। इसमें कई तरह की, कई आकृतियाँ भी, कई रंगों की प्रकाश किरणें दृष्टिगोचर होती हैं। यह आरम्भ में हिलती-डुलती रहती हैं, कभी प्रकट कभी लुप्त होती है पर धीरे-धीरे वह स्थिति आ जाती है कि विभिन्न आकृतियाँ, हलचलें एवं रंगों का निराकरण हो जाता है और केवल प्रकाश बिन्दु ही शेष रह जाता है। प्राथमिक स्थिति में यह प्रकाश छोटे आकार का एवं स्वल्प तेज का होता है किन्तु जैसे-जैसे आत्मिक प्रगति ऊर्ध्वगामी होती है, वैसे-वैसे प्रकाश वृत्त बड़े आकार का, अधिक प्रकाश का अधिक उल्लास भरा दीखता है, जैसे प्रातःकाल के उगते हुए सूर्य की गरमी पाकर कमल की कलियाँ खिल पड़ती हैं वैसे ही अन्तरात्मा इस प्रकाश अनुभूति को देख कर ब्रह्मानन्द का, परमानन्द का सच्चिदानन्द का अनुभव करता है। जिस प्रकार चकोर रात भर चन्द्रमा को देखता रहता है वैसी ही साधक की इच्छा होती है कि इस प्रकाश को ही देखकर आनन्द विभोर होता रहे। कई बार ऐसी भावना भी उठती है कि जिस प्रकार दीपक पर पतंगा अपना प्राण होम देता है, अपनी तुच्छ सत्ता को प्रकाश की महत्ता में विलीन होने का उपक्रम करता है वैसे ही मैं भी अपने अहम को इस प्रकाश रूप ब्रह्म में लीन कर दूँ।

यह निराकार ब्रह्म के ध्यान की थोड़ी झांकी हुई। अनुभूति की दृष्टि से साधक को ऐसा भान होता है, मानो उसे ब्रह्म-ज्ञान की, तत्व दर्शन की अनुभूति हो रही हो, ज्ञान के सारांश का जो निष्कर्ष है उत्कर्ष आदर्शवादी क्रिया-कलाप से जीवन को ओत-प्रोत कर लेना वही आकांक्षा एवं प्रेरणा मेरे भीतर जाग रही है। जाग ही नहीं वरन् संकल्प का, निश्चय का, अवस्था का, तथ्य का रूप धारण कर रही है। प्रकाश की अनुभूति का यही चिन्ह है। माया मोह और स्वार्थ-संकीर्णता का अज्ञान तिरोहित होने से मनुष्य विशाल दृष्टिकोण से सोचता है और महान आत्माओं जैसी साहसपूर्ण गतिविधियाँ अपनाता है। उसे लोभी और स्वार्थी, मोहग्रस्त, मायाबद्ध लोगों की तरह परमार्थ पथ में साहसपूर्ण कदम बढ़ाते हुए न तो झिझक लगती है और न संकोच होता है। जो उचित है उसे करने के लिए, अपनाने के लिए निर्भीकता पूर्वक साहस भरे कदम उठाता हुआ श्रेय पथ पर अग्रसर होने के लिए द्रुतगति से बढ़ चलता है।

यह तो गायत्री रूपी परमब्रह्म सत्ता के उच्चस्तरीय ज्ञान एवं, ध्यान का स्वरूप हुआ। प्रारम्भिक स्थिति में ऐसी उच्चस्तरीय अनुभूतियाँ सम्भव नहीं उस दशा में प्रारम्भिक क्रम ही चलाना पड़ता है। जप, पूजन, ध्यान, स्तवन, हवन जैसे शरीर साध्य क्रिया-कलाप ही प्रयोग में आते हैं। तब चित्त या प्रतिभा का अवलम्बन ग्रहण किए

बिना काम नहीं चल का सकता। प्रारम्भिक उपासना, साकार माध्यम से ही सम्भव है। निराकार का स्तर काफी ऊँचे उठ जाने पर आता है। उस स्थिति में भी प्रतिभा विरोध या परित्याग करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, वरन् उसे नित्य कर्म में सम्मिलित रखकर संचित संस्कार को बनाए रहना पड़ता है। इमारत की नींव में कंकड़-पत्थर भरे जाते हैं। नींव जम जाने पर तरह-तरह के डिजायन की इमारतें उस पर खड़ी होती हैं। नींव में पड़े हुए कंकड़-पत्थर दृष्टि से ओझल हो जाते हैं--फिर भी उनका उपहास उड़ाने, परित्याग करने या निकाल फेंकने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वरन् यह मानना पड़ता है क्रि उस विशाल एवं बहुमूल्य इमारत का आधार वे नींव में भरे हुए कंकड़-पत्थर ही हैं। साकार उपासना की अध्यात्मिक प्रगति भी नींव भरना कहा जा सकता है। आरम्भिक स्थिति में उसकी अनिवार्य आवश्यकता ही मानी गई है। अस्तु अध्यात्म का आरम्भ चिर अतीत से प्रतिमा पूजन के सहारे हुआ है और क्रमशः आगे बढ़ता चला गया है। गायत्री महाशक्ति की आकृति का निर्धारण भी इसी सन्दर्भ से हुआ है। अन्य देव प्रतिमाओं की तरह उसका विग्रह भी आदिकाल से ही ध्यान एवम् पूजन में प्रयुक्त होता रहा है।

सामान्यतया एक मुख और दो भुजा वाली मानव आकृति प्रतिमा ही अधिक उपयुक्त है। पूजन और ध्यान उसी का ठीक बनता है। सगी माता मानने के लिए गायत्री को भी वैसे ही हाथ-पैर वाली होना चाहिए। जैसा कि साधक होता है। इसलिए ध्यान एवं पूजन में सदा से दो भुजाओं वाली और एक मुख वाली पुस्तक एवं कमण्डल धारण करने वाली हंसवाहिनी गायत्री माता का प्रयोग होता रहा है। किन्तु कतिपय स्थानों में पंचमुखी प्रतिमा एवं चित्र भी देखे जाते हैं। इनका ध्यान-पूजन भले ही उपयुक्त न हो पर उनमें एक महत्त्वपूर्ण शिक्षण सन्देश एवं निर्देश अवश्य ही भरा हुआ है। हमें उसी को देखना समझना चाहिए।

गायत्री के पाँच मुख जीव के ऊपर लिपटे हुए पंच कोश-पाँच आवरण हैं। और दस भुजाएं, दस सिद्धियाँ एवं अनुभूतियाँ हैं। पाँच भुजाएं बाई ओर पाँच दाहिनी ओर हैं उसका संकेत गायत्री महाशक्ति के साथ जुड़ी हुई पाँच भौतिक और पाँच शक्तियों एवं सिद्धियों की ओर है। इस महाशक्ति का अवतरण जहाँ भी होगा वहाँ वे दस अनुभूतियाँ-विशेषताऐं सम्पदाऐं निश्चित रूप से परिलक्षित होंगी। साधना का अर्थ एक नियत पूजा स्थान पर बैठकर अमुक क्रिया-कलाप पूरा कर लेना मात्र ही नहीं है, वरन् समस्त जीवन को साधनमय बनाकर अपने गुण कर्म स्वभाव को इतने उत्कृष्ट स्तर का बनाना है कि उसमें वे विभूतियाँ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगें, जिनका संकेत पंचमुखी माता की प्रतिमा में दस भुजाऐं दिखाकर किया जाता है। भुजाऐं, शक्तियाँ एवं सामर्थ्य की प्रतीक हैं। साधना का उद्देश्य शक्ति प्राप्त करना है। दस शक्तियाँ, दस सिद्धियाँ जीवन साधना के द्वारा जब प्राप्त की जाने लगें तो समझना चाहिए कि कोई गायत्री उपासक उच्चस्तरीय साधन, पथ पर सफलता पूर्वक अग्रसर हो रहा है।

गायत्री के पांच मुख हमें बताते हैं कि जीव सत्ता के साथ पाँच सशक्त देवता, उसके लक्ष्य प्रयोजनों को पूर्ण करने के लिए मिले हुए हैं। वे निद्रा ग्रस्त हो जाने के कारण मृततुल्य पड़े रहते हैं और किसी काम नहीं आते। फलतः जीव दीन दुर्बल बना रहता है। यदि इन सशक्त सहायकों को जगाया जा सके उनकी सामर्थ्य का उपयोग किया जा सके तो मनुष्य सामान्य न रहकर असामान्य बनेगा। दुर्दशा ग्रस्त स्थिति से उबरने और अपने महान गौरव के अनुरूप जीवन-यापन का अवसर मिलेगा। शरीरगत पाँच तत्वों का उल्लेख पाँच देवताओं के रूप में इस प्रकार किया गया है-

"आकाशस्याधिपो विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी ।
दायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः ।।"

-कपिलतन्त्र

आकाश के अधिपति हैं विष्णु।अग्नि की अधिपति महेश्वरी शक्ति हैं। वायु- अधिपति सूर्य हैं। पृथ्वी के स्वामी शिव हैं और जल के अधिपति गणपति गणेश जी हैं। इस पकार पंच देव शरीर के पंचतत्वों की ही अधिपति-सत्ताऐं हैं।

पाँच तत्वों से बने इस शरीर में उसके सत्व गुण चेतना के पाँच उभारों के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं (१) मन, माइण्ड (२) बुद्धि, इण्टिलैक्ट (३) इच्छा, विल (४) चित्त, माइन्ड स्टफ (५) अहंकार, ईगो।

पाँच तत्वों (फाइव ऐलीमेण्ट्स) के राजस तत्व से पाँच प्राण (वाइटलं फोर्सेज) उत्पन्न होते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ उन्हीं के आधार पर अपने विषयों का उत्तरदायित्व निवाहती हैं।

तत्वों के तमस भाग से काय कलेवर का निर्माण हुआ है। (१) रस (२) रक्त (३) माँस (४) अस्थि (५) मज्जा के रूप में उन्हें क्रिया निरत काया में देखा जा सकता है। मस्तिष्क, हृदय,अमाशय, फुफ्फुस और गुर्दे यह पाँचों विशिष्ट अवयव, तथा पाँच कर्मेन्द्रियों को उसी क्षेत्र का उत्पादन कह सकते हैं।

जीव सत्ता के सहयोग के लिए मिले पाँच देवताओं को पांच कोश कहा जाता है। यों दीखने में शरीर एक ही दिखाई पड़ता है, फिर भी उनकी सामर्थ्य क्रमशः एक से एक बढ़ी-चढ़ी है। ऐसे ही पाँच शरीरों को यह जीव धारण किए हुए है। अंग में एक ही शरीर दीखता है, शेष चार प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होते, फिर भी उनकी सामर्थ्य क्रमशः एक से एक की बढ़ी-चढ़ी है। न दीखते हुए भी वे इतने शक्ति सम्पन्न हैं कि उनकी क्षमताओं को जगाया जा सकना सम्भव हो सके तो मनुष्य तुच्छ से महान और आत्मा से परमात्मा बन सकता है।

जीव पर चढ़े हुए पाँच आवरणों, पाँच कोशों के नाम हैं (१) अन्नमय-कोश (२) प्राणमय कोश (३) मनोमय कोश (४) विज्ञानमय कोश (५) आनन्दमय कोश ।

जिस प्रकार प्याज की गाँठ में एक के बाद एक पर्त निकलते हैं, जिस प्रकार केले के तने को खोलने पर उसमें एक के भीतर एक कलेवर निकलते हैं उसी तरह जीव के ऊपर भी एक के बाद एक क्रमशः पाँच आवरण लिपटे हुए हैं। जिस प्रकार शरीर के ऊपर बनियान, कमीज, जाकिट, कोट, कम्बल आदि धारण करते हैं उसी तरह जीव ने भी पाँच आवरण धारण किए हुए हैं। इनमें से हर एक की कीमत एक के बाद एक की अधिक होती चली गई है।

तेत्तरीय उपनिषद में अन्नमय के भीतर प्राणमय का, प्राणमय के भीतर मनोमय का, मनोमय के भीतर विज्ञानमय का और विज्ञानमय के भीतर आनन्दमय कोषु का वर्णन है। इनमें बहुत कुछ साम्य और बहुत कुछ अन्तर है। इसकी चर्चा इस प्रकार हुई है।

'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । तस्एदमेव शिरः । अयं दक्षिणः पक्षः । अयमुत्तरः पक्षः । अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा ।'

-तै० उ० २। १। १

मनुष्य अन्न रसमय है। यही उसका शिर है। यही उसका दक्षिण पक्ष है। यही उसका उत्तर पक्ष है। यह आत्मा है। यह पुच्छ तन्त्र मेरुदण्ड पर प्रतिष्ठित है।

'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेन ष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान् उत्तर पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा।'

-तै० उ० २। २। १

उपर्युक्त अन्न रस धातुओं से विनिर्मित अन्नमय कोश से पृथक किन्तु भीतर रहने वाला आत्मा प्राणमय है। वह इतने में ही पूर्ण है। वह भी वैसी ही आकृति का है। वैसी ही उसकी गतिविधि है। उस प्राणमय कोश का प्राण ही शिर है। उसका व्यान दक्षिण पक्ष और अपान उत्तर पक्ष है। आकाश उसकी आत्मा है। पृथ्वी में उसकी पुच्छ प्रतिष्ठा है।

तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैव पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा।'

-तै० उ० २। ३। १

इस प्राणमय कोश से भिन्न मनोमय कोश है। प्राणमय कोश, मनोमय कोश से भरपूर है। वह उसी के समान है। जैसा प्राणमय कोश है। वैसा ही मनोमय कोश है। यजु उसका शिर है। ऋग् दक्षिण पक्ष और साम उत्तर पक्ष है। आदेश उसका आत्मा है।

वेदों को यहाँ मनोमय कोश के साथ क्यों जोड़ा गया इसका समाधान शंकर भाष्य में संकल्प मन्थन और भाव को यजु-ऋक् साम के रूप में किया है।

'तस्माद्वा एतस्मान्मनोयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधनामन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतुं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तर पक्षः। योग आत्मा महः पुच्छं प्रतिष्ठा।'

-तै० उ० २। ४। १

मनोमय कोश से अलग विज्ञानमय कोश है। मनोमय कोश विज्ञानमय कोश से आच्छादित है। यह विज्ञानमय है पुरुष के समान ही है। वैसा ही है जैसा मनोमय कोश । श्रद्धा ही इसका शिर है। ऋतुं दक्षिण पक्ष और सत्य उत्तर पक्ष है। योग उसकी आत्मा है। महतत्व में उसकी पुच्छ प्रतिष्ठा है।

'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः तेनेष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव ।

तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविध:। तस्य प्रियमेव शिर: । मोदो दक्षिण: पक्ष । प्रमोद उत्तर: पक्ष: । आनन्द आत्मा । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा ।'

-तै० उ० २ । ५ । १

विज्ञानमय कोश से पृथक् किन्तु उसी के अभ्यन्तर आनन्द कोश है। विज्ञानमय कोश आनन्दमय कोश से परिपूर्ण है। यह भी पुरुष के ही समान है। वैसा ही है जैसा विज्ञानमय कोश। प्रिय ही उसका शिर है। मोद (भीतरी आनन्द) उसका दक्षिण पक्ष और प्रमोद (बाहरी आनन्द) उत्तर पक्ष है। आनन्द उसकी आत्मा। ब्रह्म में उसकी पुच्छ प्रतिष्ठा है।

पंचदशी के तृतीय प्रकरण में ३,५,६,७ और ९वें श्लोकों में पाँच कोषों का विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है।

पितृभुक्तान्नजाद्वीर्याज्जातोऽन्नेनैव वर्धते ।
देह: सोऽन्नमयो नात्मा प्राक् चोर्ध्व तद्भावत: ।।

पिता के खाए अन्न से बनने वाले वीर्य द्वारा उत्पन्न काया अन्नमय कोश में। जन्म मरण होते रहने के कारण यह काया आत्मा नहीं है। चेतन आत्म उसमें भिन्न है।

पूर्णो देहे बलं यच्छन्नक्षाणां य: प्रवर्तक: ।
वायु: प्राणमयो नासावात्मा चैतन्य वर्जनात् ।।

काया से भरा पूरा उसे बल देने वाला इन्द्रियों का प्रेरक प्राणमय कोश है। पर यह भी देह की तरह ही अचेतन होने के कारण आत्मा नहीं है- उससे भिन्न है।

पंचकोश क्या है ? इनका परिचय देते हुए उपनिषदकार कहते हैं-

अन्नकार्याणाँ कोशानां समूहोऽन्नमयकोश इत्युच्यते। प्राणादिचतुर्दशवायुभेदा अन्नमयकोशे यदा वतन्ते तदा प्राणमयकोश इत्युच्यते। एतत्कोशद्वयसंसक्तं मनआदिचतुर्दशकरणैरात्मा शब्दादिविषय संकल्पादिधर्मान् यदा करोति तदा मनोमय कोश इत्युच्यते। एतत्कोशत्रयसंयुक्त तत्वगतिविशेषज्ञो यदो भासते तदा विज्ञानमय कोश इत्युच्यटे। एतत्कोशचतुष्टयसंसक्त स्वाकारणाज्ञाने वटकणिकायामिव वृक्षो यदा वर्तते तदा आनन्दमयकोश इत्युच्यते ।

-सर्व सारोपनिषद्

अन्न के द्वारा उत्पन्न होने वाले कोशों के समूह इस प्रत्यक्ष शरीर को अन्नमय कोश कहते हैं। प्राण सहित चौदह तत्वों का समूह प्राणमय कोश कहलाता है। इन दोनों कोशों के भीतर इन्द्रियों तथा मन का समूह मनोमय कोश कहलाता है। बुद्धि और विवेक वाली भूमिका विज्ञानमय की है। इन सब कलेवरों के भीतर आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप और स्थान आनन्दमय कोश कहलाते हैं।

इस प्रकार मानवी चेतना को पांच भागों में विभक्त किया गया है। इस विभाजन को पाँच कोश कहा जाता है। अन्नमय कोश का अर्थ है-इन्द्रिय चेतना। प्राणमय कोश अर्थात् जीवनी शक्ति। मनोमय कोश विचार बुद्धि। विज्ञानमय कोश अचेतना सत्ता एवं भाव प्रवाह। आनन्द मय कोश-आत्म बोध जागृति।

प्राणियों का स्तर इन चेतनात्मक परतो के अनुरूप ही विकसित होता है।

गायत्री की उच्चस्तरीय साधना इन पांच कोशों का अनावरण करने उन्हें जागृत करने के लिए ही की जाती है। इस उच्च स्तरीय साधना की ओर इंगित करने के लिए गायत्री का अलंकारिक स्वरूप पांच मुख वाला बनाया गया है। इस चित्रण में सूक्ष्म शरीर के पांच कोशों की प्रमुख क्षमता को जाग्रत करने और महाविज्ञान का समुचित लाभ उठाने का संकेत है।

इन कोशों के माध्यम से व्यक्तित्व की समृद्धियों और विभूतियों से सुसज्जित कर सकने वाली दिव्य सम्पदाएं उपलब्ध की जा सकती हैं। चेतना क्षेत्र में कुबेर जैसा सुसम्पन्न बना जा सकता है। कोश का एक अर्थ आवरण एवं पर्दा भी होता है। कोश -खोल अथवा म्यान को भी कहते हैं। परतें उतारते-आवरण हटाते चलने पर वस्तु का असली स्वरूप सामने आ जाता है। पंचकोशों के जागरण से अनावरण से कषाय कल्मषों के वे अवरोध हटते हैं जिनके कारण जीवात्मा को अपने ईश्वर प्रदत्त उत्तराधिकार से वंचित रह कर दुर्दशाग्रस्त परिस्थितियों में गुजारा करना पड़ता है।

पाँच कोशों के विभाजन को तीन के वर्गीकरण में भी प्रस्तुत किया गया है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण यह तीन शरीर बताए गए हैं। उन्हें त्रिपदा गायत्री कहा जाता है। स्थूल शरीर में अन्नमय और प्राणमय कोश आते हैं। पंच तत्वों और पाँच प्राणों का समावेश है। सूक्ष्म शरीर में मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश सन्निहित हैं। इन दोनों को चेतन मस्तिष्क और अचेतन मानस कह सकते हैं। कारण शरीर में आनन्दमय कोश आता है। विज्ञजनों ने इस विवेचन में यत्किंचित मतभेद भी व्यक्ति किया है, पर वस्तुस्थिति जहाँ की तहाँ रहती है।

वस्तुतः पंचकोषों का उपहार प्रभु ने हमारी अनन्त सुख-सुविधाओं के लिए दिया है। यह पाँच सवारियाँ हैं, जो अनिष्ट रूपी शत्रुओं का विनाश और आत्म संरक्षण करने के लिए अतीव उपयोगी हैं, यह पाँच शक्तिशाली सेवक हैं। जो हर घड़ी आज्ञा पालन के लिए प्रस्तुत रहते हैं। इन पाँच खजानों में अटूट सम्पदा भरी पड़ी है। इस पंचामृत का ऐसा स्वाद है कि जिसकी बूँद चखने के लिए मुक्त हुई आत्माऐं लौट-लौट कर नर-तन में अवतार लेती रहती हैं।

बिगड़ा हुआ अमृत विष हो जाता है, स्वाभिभक्त कुत्ता पागल हो जाने पर अपने पालने वालों को ही संकट में डाल देता है। सड़ा हुआ अन्न विष्ठा कहलाता है। जीवन का आधार रक्त जब सड़ने लगता हैं तो दुर्गन्धित पीव बनकर वेदनाकर फोड़े के रूप में प्रकट होता है। पंचकोशों का विकृत रूप भी हमारे लिए ऐसा ही दुःखदायी होता है। नाना प्रकार के पाप-तापों, क्लेशों, कलहों दुःखों, दुर्भाग्यों, चिन्ता-शोकों, अभाव दारिद्र्य, पीड़ा और वेदनाओं में तड़फते हुए मानव इस विकृति के ही शिकार हो रहे हैं। सुन्दरता और दृष्टि-ज्योति के केन्द्र नेत्रों में जब विकृति आ जाती हैं। दुःखने लगते हैं, तो सुन्दरता एक ओर रही, उलटी उन पर चिथड़ों की पट्टी बँध जाती है, सुन्दर दृश्य देख कर मनोरंजन करना तो दूर दर्द के मारे मछली की तरह तड़फना पड़ता है। आनन्द के उद्गम पाँच कोशों की विकृति ही जीवन को दुःखी बनाती है, अन्यथा ईश्वर का राजकुमार जिस दिव्य रथ में बैठकर जिस नन्दन वन में आया है, उसमें आनन्द ही आनन्द मिलना चाहिए। दुःख दुर्भाग्य का कारण इस विकृति के अतिरिक्त और कोई हो ही नहीं सकता।

पाँच तत्त्व, पाँच कोश, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, पाँच उपप्राण, पाँच तन्मात्राऐं, पाँच यज्ञ, पाँच देव, पाँच योग, पाँच अग्नि, पाँच अंग, पाँच वर्ण, पाँच स्थिति, पाँच अवस्था, पाँच शूल, पाँच क्लेश आदि अनेक पंचक गायत्री के पाँच मुखों से सम्बन्धित हैं। इनको सिद्ध करने वाले पुरुषार्थी व्यक्ति ऋषि, राजर्षि, ब्रह्मषि, महर्षि, देवर्षि कहलाते हैं। आत्मोन्नति की पाँच कक्षाऐं हैं। पाँच भूमिकाएं हैं। उनमें से जो जिस कक्षा में भूमिका को उत्तीर्ण कर लेता है वह उसी श्रेणी का ऋषि बन जाता है। किसी समय भारत भूमि ऋषियों की भूमि थी। यहाँ ऋषि से कम तो कोई था ही नहीं, पर आज तो लोगों ने उस पंचायत का तिरस्कार कर रखा है और बुरी तरह प्रपंच में फँसकर पंच क्लेषों से पीड़ित हो रहे हैं।

अनन्त आनन्द की साधना

तैत्तिरीयोपनिषद् की तृतीय बल्ली (भृगु बल्ली) में एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण आख्यायिका आती है। उसमें पंचकोशों की साधना पर मार्मिक प्रकाश डाला गया है।

वरुण के पुत्र भृगु ने अपने पिता के निकट जाकर प्रार्थना की कि 'अधीहि भगवो ब्रह्मोति अर्थात् हे भगवान्! मुझे ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दीजिए।

वरुण ने उत्तर दिया-' यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, एन जातानि, जीवन्ति तत्प्रन्तय भिसं विशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति।' अर्थात्- हे भृगु जिससे समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और अन्त में जिसमें विलीन हो जाते हैं, तू उस ब्रह्म को जानने की इच्छा कर।

पिता के आदेशानुसार पुत्र ने, उस ब्रह्म को जानने के लिए तप आरम्भ कर दिया। दीर्घकालीन तप के उपरान्त भृगु ने अन्नमय जगत् (स्थूल संसार) में फैली ब्रह्म विभूति को जान लिया और वह पिता के पास पहुँचा। वरुण ने भृगु से फिर कहा-'तपसो ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति' अर्थात् हे पुत्र! तू तप करके ब्रह्म को जानने का प्रयत्न कर, क्योंकि ब्रह्म को तप द्वारा ही जाना जाता है।

भृगु ने फिर तपस्या की और "प्राणमय जगत्" की ब्रह्म विभूति को जान लिया और फिर वह पिता के पास पहुँचा। वरुण ने फिर उसे तप द्वारा ब्रह्म को जानने का उपदेश दिया।

पुत्र ने पुनः कठोर तप किया और 'मनोमय जगत्' की ब्रह्म विभूति का अभिज्ञान प्राप्त कर लिया। पिता ने उसे फिर तप में लगा दिया। अब उसने विज्ञानमय जगत् की ईश्वरीय विभूति को प्राप्त कर लिया, अन्त में पाँचवी बार भी पिता ने उसे तप में ही प्रवृत्त किया और भृगु ने उस आनन्दमयी विभूति को भी उपलब्ध कर लिया।

'आनन्दमय' जगत् की अन्तिम सीढ़ी पर पहुँचने से किस प्रकार पूर्ण ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है इसका वर्णन करते हुए 'तैत्तिरीयोपनिषद्' की तृतीय बल्ली के पाँचवें मन्त्र में बताया गया है कि-

"आनन्दो ब्रह्मेति विजानात्-आनन्दाद्ध्एव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातनि, जीवन्ति आनन्द श्रयन्त्यभि सविशन्तीति। सैषां भार्गेवी वारुणी विद्या परमेव्योमन प्रतिष्ठता।"

अर्थात् उस (भृगु) ने जाना कि आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर आनन्द में ही जीवित रहते हैं और अन्त में आनन्द में ही विलीन हो जाते हैं।

उपनिषद्कार ने उपर्युक्त आख्यायिका में ब्रह्मानन्द, परमानन्द, आत्मानन्द में ही ब्रह्मज्ञान का अन्तिम लक्ष्य बताया है। आनन्दमय जगत् के कोश में पहुँचने के लिए तप करने का संकेत किया है। कोशों की सीढ़ियाँ जैसे-जैसे पार होती जाती हैं वैसे ही वैसे ब्रह्म की उपलब्धि निकट आती जाती है। आगे बताया है कि-

'सय एतं दित् अस्मांलोकात्प्रेत्य
ऐतमन्नमयमात्मानमुप संक्रामति, एतं प्राणभयमात्मानमुपसंक्रामति एतं
मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति, एत विज्ञान मयमात्मानमुपसंक्रामति, एतमानन्द
मयमात्मानमुपसंक्रामति।

अर्थात्- इस प्रकार जो मनुष्य ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर लेता है वह इस अन्नमय कोश को पार करता है, इस प्राणमय कोश को पार करता है, इस मनोमय कोश को पार करता है। इस विज्ञानमय कोश को पार करता है, इस आनन्दमय कोश को पार कर सकता है।

जीवन इसलिए है कि ब्रह्म रूपी आनन्द को प्राप्त किया जाय, न कि इसलिए कि पग-पग पर अभाग्य, दुःख-दारिद्रय और दुर्भाग्य का अनुभव किया जाय। जीवन को लोग सांसारिक सुविधाओं के संचय में लगाते हैं पर उनके भोगने से पूर्व ही ऐसी समस्याऐं उठ खड़ी होती हैं कि वह अभिलाषित सुख जब प्राप्त होता है, तो उसमें कुछ सुख नहीं रह जाता और सारा प्रयत्न मृगतृष्णावत व्यर्थ गया मालूम देता है।

संसार के पदार्थों में जितना सुख है उससे अधिक गुना सुख आत्मिक उन्नति में है। स्वस्थ पंच कोशों से सम्पन्न आत्मा जब अपने वास्तविक स्वरूप में पहुँचता है तो उसे अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है। यह अनुभव होता है कि ब्राह्मी स्थिति का क्या मूल्य और क्या महत्त्व है ? संसार में क्षुद्र सुखों की अपेक्षा असंख्य गुने सुख के आत्मानन्द के लिए अधिकतम त्याग एवं तप करने में किसी प्रकार का संकोच क्यों हो ? विज्ञ पुरुष ऐसा भी करते हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद की भृगु बल्ली में आनन्द की मीमांसा करते हुए कहा गया है कि कोई मनुष्य यदि पूर्ण स्वस्थ सुशिक्षित,गुणवान, सामर्थ्यवान, सौभाग्यवान, एवं समस्त संसार की धन-सम्पत्ति का स्वामी हो तो उसे जो आनन्द हो सकता है उसे एक मानुषी आनन्द कहते हैं। उससे करोड़ों-अरबों गुने आनन्द को ब्रह्मानन्द कहते हैं। ब्रह्मानन्द का ऐसा ही वर्णन शतपथ ब्राह्मण १५।१७।३१ में तथा बृहदारण्यक उपनिषद् ४।३।३२ में भी आया है।

पंचमुखी गायत्री की साधना, पंच कोशों की साधना है। एक-एक कोश की एक-एक ब्रह्म-विभूति है। ए ब्रह्म विभूतियाँ वे सीढ़ी हैं जो साधक को अपना सुखास्वादन कराती हुई अगली सीढ़ी पर चढ़ने के लिए अग्रसर करती हैं।

जीवन जैसी बहुमूल्य सम्पदा कीट-पतंगों की तरह व्यतीत करने के लिए नहीं है। चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमण करते हुए नर-तन बड़ी कठिनाई से मिलता है। इसको तुच्छ स्वार्थ में नहीं परम स्वार्थ में, परमार्थ में लगाना चाहिए। गायत्री साधना ऐसा परमार्थ है जो हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को सुख-शान्ति और समृद्धि से भर देता है।

यदि विचार किया जाय तो यह आश्चर्य और खेद का विषय है कि ऐसा साधन सुलभ होने पर भी मनुष्य केवल पेट भरने और निकृष्ट भोग करने की स्थिति में ही पड़ा रहे, अथवा इससे भी नीचे उतर कर छल, कपट, चोरी, हत्या आदि जैसे जघन्य कृत्य करके नरक वास करने के दण्ड का भागी बन जाय। ईश्वर ने हमको इस कार्यभूमि में मुख्यता: इसलिए भेजा है कि हम सत्कर्म और सात्विकी साधना तथा उपासना करके दैवी-मार्ग पर अग्रसर हों और जीवन को उच्चतर बनाते हुए अपने महान लक्ष्य को प्राप्त करें। दैवी मार्ग को अपनाने और जीवन को शुद्ध पवित्र परोपकारमय बनाने में ऐसी कोई बात नहीं है जो हमारी प्रगति में बाधा स्वरूप सिद्ध हो। गरीब से गरीब और सांसारिक साधनों से रहित व्यक्ति भी इसको अपना सकता है और गायत्री

उपासना तथा सेवामय जीवन के द्वारा निरन्तर ऊपर की सीढ़ियों पर चढ़ता हुआ उच्चतम शिखर तक पहुँच सकता है। इसके लिए मुख्य आवश्यकता श्रद्धा, लगन व दृढ़ आत्म-विश्वास की ही है जिसको मनुष्य अभ्यास द्वारा प्राप्त कर सकता है। पैंगल्योपनिषद् में लिखा है-

अथान्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया: पंचकोशा:। अन्नरसेन व भूत्वाऽन्नरसेना भिवृद्धि प्राप्यान्नरसमयपृथ्व्यां यद्विलीयतेसोऽन्नमयकोश:। तदेव स्थूलशरीरम् कर्मेन्द्रिएं: सह प्राणादिपंचकं प्राणमयकोश:। ज्ञानेन्द्रिय: सह मनो मनोमयकोश:। ज्ञानेन्द्रिए: सह बुद्धिर्विज्ञानमयकोश:। एतत्कोशत्रयं लिगशरीरम्। स्वरूपाज्ञानमानन्दमयकोश:। तत् कारणशरीरम् ।।३।।

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय यह पाँच कोश हैं। अन्न में बनने वाला, अन्न से बढ़ने वाला, अन्नमय से धरती में सभा जाने वाला यह अन्नमय कोश है। इसी को स्थूल शरीर कहते हैं। पाँच प्राण और पाँच कमेन्द्रियों से प्राणमय कोश मिलकर बना है। ज्ञानेन्द्रियां और मन के मिलने से मनोमय कोश बनता है। ज्ञानेन्द्रियाँ और बुद्धि मिलने से विज्ञानमय कोश बना है। इन तीनों के मिलने से सूक्ष्म शरीर बना है जिसके कारण ज्ञान होता है वह आनन्दमय कोश हैं इसी को शरीर कहते हैं-

अस्थिस्नाय्मबादिरूपोऽयं शरीरं भाति देहिनाम् ।
योऽयमन्नमयो ह्यात्मा भाति सर्वशरीरिण: ।।२१।।
तत: प्राणमयो ह्यात्मा विभिन्नश्चान्तरस्थित: ।
ततो मनोमयो ह्यात्मा विभिन्नश्चान्तरस्थित: ।।२२।।
ततो विज्ञान आत्मा तु ततोऽन्तश्चान्तरस्थित: ।
आनन्दमयआत्मा तु ततोऽन्यश्चान्तरस्थित: ।।२३।।
योऽयमन्नमय: सोऽयं पूर्ण: प्राणमएन तु ।
मनोमएन प्राणोऽपि तथा पूर्ण: स्वभावत: ।।२४।।
ततो मनोमयो ह्यात्मा पूर्ण ज्ञानमएन तु ।
आनन्देन सदा पूर्ण ज्ञानमएन: सुर्खी ।।२५।।
तथानन्दमयश्चापि ब्रह्मणान्एन साक्षिणा ।
सर्वान्तरेण पूर्णश्च ब्रह्म नान्एन केनचित ।।२६।।

कठ रुद्रोपनिषद् २१ से २६

प्राणियों में यह स्थूल अन्नमय शरीर दिखाई दे रहे हैं। इससे पृथक् एक प्राणमय शरीर है। इससे आगे मनोमय शरीर है। फिर विज्ञानमय और उसके भीतर आनन्दमय शरीर हैं। प्राणमय से अन्नमय पूर्ण होता है। मनोमय से प्राणमय पूर्ण होता है। विज्ञानमय से मनोमय पूर्ण होता है और आनन्दमय शरीर मनोमय शरीर को पूर्ण करता है। इन पाँच शरीरों से ऊपर एक सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी, परब्रह्म है। वह अपने आप पूर्ण है उसे अन्य कोई पूर्ण नहीं करता।

गायत्री के पांचमुख इन पाँच कोषों के अलंकारिक चित्रण हैं। और इस बात की ओर संकेत करते हैं कि जो इन पाँच कोषों का अनावरण कर लेता है, वही अनन्त आनन्द की प्राप्ति करता है। अवतार श्रेणी के महापुरुषों को इसी महान उपलब्धि ने अवतार बनाया। शिव सिद्ध के प्रतीक माने जाते हैं उस पद की प्राप्ति के पीछे यह पंचकोषों की अनावरण साधना की ही भूमिका प्रमुख है। गायत्री मंजरी में इस सन्दर्भ में इन शब्दों पर प्रकाश डाला गया है।

गायत्री मंजरी में शिव पार्वती का महत्त्वपूर्ण उपाख्यान आता है। पार्वती जी शिव जी से पूछती हैं आप किस योग की उपासना करते हैं, आपको किस तरह सिद्धि प्राप्त हुई है। शिवजी ने ४६ श्लोकों में इस पंचकोशी साधना का सारा मर्म स्पर्श कर दिया है। पाँच कोशों की स्थिति तत्वज्ञान और साधना विज्ञान के साथ उनकी सिद्धियों का बहुत ही क्रमबद्ध ज्ञान दिया है। गायत्री महाविज्ञान तृतीय खण्ड उसी के आधार पर लिखा गया है। इस पुस्तक के सभी बीज वस्तुत: गायत्री मंजरी में हैं। उससे इनकी असाधारण महत्ता का पता चलता है।

यों तो गायत्री के पाँच मुखों में अनेक पंचकों के अद्भुत रहस्य छिपे हुए हैं, पर इन सबकी चर्चा यहाँ नहीं हो सकती। यहाँ तो हमें इन पाँचों कोशों पर ही कुछ प्रकाश डालना है। कोष खजाने को भी कहते हैं। आत्मा के पास यह पाँच खजाने हैं, इनमें से हर एक में बहुमूल्य सम्पदाएं भरी पड़ी हैं। जैसे धन-कुबेरों के यहाँ नोट रखने की, चाँदी रखने की, सोना रखने की, जवाहरत रखने की, हुण्डी-चैक आदि रखने की जगह अलग-अलग होती है, वैसे ही आत्मा के पास भी पाँच खजाने हैं। सिद्ध किए हुए पाँच कोषों के द्वारा ऐसी अगणित सम्पदाएं, सुख-सुविधाएं मिलती हैं, जिनको पाकर इसी जीवन में स्वर्गीय आनन्द की उपलब्धि होती है। योगी लोग उसी आनन्द के लिए तप करते हैं और देवता लोग उसी

आनन्द के लिए नर-तन धारण करने को तरसते रहते हैं। कोशों का सदुपयोगी अनन्त आनन्द का उत्पादक है। और उनका दुरुपयोग पाँच परकोटों वाले कैदखाने के रूप में बन्धनकारक बन जाता है।

पाँच कोशों की स्थिति और प्रतिक्रिया

सूक्ष्म शरीर में अवस्थित पाँच कोशों की विवेचना शास्त्रकारों ने स्थान-स्थान पर की है और उनकी गरिमा उपयोगिता से सर्व साधारण को परिचित कराने का प्रयत्न किया है। ऋग्वेद में इन पाँच कोशों को पाँच ऋषियों की संज्ञा दी है और कहा है कि वे जीवन्त स्थिति में ही सारे जीवन उद्यान को पवित्र सुरम्य बना सकते हैं।

अग्निर्ऋषि: पवमान: पांचजन्य: पुरोहित: ।
तमीमहे महागयम् ।

ऋग्वेद ९।६६।२०

यह अग्निऋषि है। पवित्र करने वाली है। पांच कोशों की मार्ग दर्शक है। इस महाप्राण की हम शरण जाते हैं।

देवताओं की दिव्य शक्तियों की उपासना आराधना करके अभीष्ट वरदान प्राप्त करने की आकांक्षा तभी पूरी हो पाती है जब अन्तरंग में अवस्थित दिव्य शक्तियों, वृत्तियों और प्रवृत्तियों को परिष्कृत करने की साधना की जाय। वस्तुत: इन्हीं अन्त: क्षमताओं को अलंकार रूप से दिव्य लोक में निवास करने वाली सत्ता कहा गया है। यह दिव्य लोक अपना ही अन्त: प्रदेश समझा जाना चाहिए और देवी-देवताओं के रूप में अन्त: क्षमताओं को मान्यता देनी चाहिय।

हृदए व्योममध्ए तु अनन्ताद्यास्तु वासुकि: ।
उदए व्योम मध्ए तु परे नागा वसन्ति हि ।।
गन्धर्वा: किन्नरा रक्षा विद्याधराप्सरादय: ।।
अनेकतीर्थ वर्णाश्च गुह्यकाश्च वसन्ति हि ।।
प्रकृति: पुरुषो देहे ब्रह्मा विष्णु: शिवस्तथा ।
अनन्तसिद्धियो बुध्या प्रकाशो वर्त्तते हृदि ।।
ब्रह्माण्डे ए गुणा: सन्ति ते तिष्ठन्ति कलेवरे।।
ब्रह्माण्डे यानि वै सन्ति तानि सन्ति कलेवरे ।।
ते सर्वे प्राण संलग्ना: प्राणातीतो निरञ्जन: ।

-महायोग विज्ञान

इसी शरीर में पांच प्राण, अनन्त शक्तियाँ, महा सर्प गन्धर्व किन्नर, राक्षस, विद्याधर, अप्सराऐं, अनेक तीर्थ, वर्ण, गुह्यक, निवास करते हैं। प्रकृति, पुरुष, ब्रह्मा, विष्णु, महेश अनन्त सिद्धियाँ अनन्त ज्ञान, अनन्त प्रकाश इसी में विराजमान हैं और प्रकाश प्रकाशित होते हैं। बाह्य ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी हो सो सब कुछ सूक्ष्म रूप से इसी शरीर पिण्ड में विद्यमान है।

शरीर पंच तत्वों से बना है। इन्हें पांच देवता कहा गया है। व्यक्ति सत्ता को इन्हीं पंच देवताओं द्वारा विनिर्मित की कई सृष्टि माना गया है। इन पांच देवताओं को विकृत दुर्दशा से निकाल कर परिष्कृत स्थिति तक पहुँचाने की प्रक्रिया को पंचीकरण विद्या एवं पंच कोशों की साधना कहते हैं। उपासना तत्व (परिच्छेद तीन) के अनुसार आदित्य, गणेश, देवी, रुद्र और विष्णु ए पंचदेव ही समस्त कर्मों में पूजनीय हैं। जो इन पांचों का बुद्धिपूर्वक भजन- स्मरण करते हैं, वे कभी भी मलिन नहीं होते-

"आदित्यं गणानाथं च देवीं रुद्रं च केशवम् ।
पंच दैवतमित्युक्तं सर्वकर्मसु पूजएत् ।।
एवं यो भजते विष्णुं रुदं दुर्गाम् गणाधिपम् ।
भास्करं च धिया नित्यं स कदाचिन्न सीदति ।।"

पाँच देवताओं के नाम तथा स्वरूप अन्यत्र दूसरी तरह ही बताए गए हैं। पर इससे उनके मूल स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता है। दिव्य शक्तियों की गरिमा पांच कोशों के साथ अविच्छन्न रूप से जुड़ी हुई ही मानी जाएगी।

प्रश्नोपनिषद् में जिज्ञासु नचिकेता को यमाचार्य ने पंचाग्नि विद्या का रहस्यमय उपदेश दिया है। यह पाँच अग्नियाँ अग्निहोत्र के लिए काम आती हैं। अन्त: क्षेत्र में इन्हीं को पांच कोशों के जागरण का विज्ञान कह सकते हैं।

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति ।
गार्हपत्या ह वा एषोऽपानो
व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात् प्रणीयते
प्रणयमादाहवनीय: प्राण: ।।३।।
यदुच्छ्वासनि:श्वासा वेतावादाहुतो
समं नयतीति स समान: ।
मनो ह वाव यजमान: इष्टफलमेवोदान: ।
स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ।।४।।

-प्रश्नोपनिषद् ४।३-४

इस काया नगरी में पांच अग्नियों का निवास है। यह पाँच प्राणों के रूप में प्रज्ज्वलित रहती हैं। अपान गार्हपत्य अग्नि है। व्यान आहवनीय। इन गार्हपत्य और आहवनीय अग्नियों का समन्वय ही प्राण है। श्वांसों का आवागमन ही आहुतियों का अविच्छिन्नं क्रम है। वायु ऋत्वक् है। मन यजमान और इच्छा फल उदान । यही मन और हृदय में ब्रह्म को स्थिर करते हैं।

पांच कोशों को स्वर्गलोक के पांच द्वारपाल बताया गया है। इनको अनुकूल बना लेने पर ही उस दिव्य क्षेत्र में प्रवेश कर सकना बन पड़ता है।

तेषाएते पञ्च ब्रह्म पुरुषा, स्वर्गस्य लोकस्य
द्वारपालस्य एतानेकं पंच ब्रह्म पुरुषात् ।

–छान्दोग्य

यह पांच ब्रह्म पुरुष स्वर्गलोक के द्वारपाल हैं। इनको प्रसन्न करके ब्रह्म पुरुष तक पहुँचना सम्भव होता है।

तैत्तरीयोपनिषद् में इन पांच कोशों का कई पंचकों के रूप में वर्णन किया गया है। स्थूल, सूक्ष्म कारण-आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधि भौतिक क्षेत्रों में भी इन्हीं पांच शक्तियों का समावेश बताया गया है।

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशाः। अग्निर्वायु रादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा । इत्यधिभूतम्। अथाध्यात्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः। चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक् चर्म मा स स्नावास्थिमज्जा। एतदधिविधाय ऋषिरवोचत् पांक्तं वा इद सर्वम्। पांक्त नैव पांक्त स्पृणोतीति।।१।। (सर्वमेकं च) ।।

(तैत्तरीयोपनिषद्-सप्तम अनुवाक-१)

पृथिवी, अन्तरिक्ष, सूर्य, लोक, दिशाऐं तथा अवान्तर दिशाऐं यह ५ श्लोकों का समूह है। अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र ये ज्योतिपंचक हैं। जल, औषधियाँ, वनस्पतियाँ, आकाश, आत्मा यह पञ्चभूतों का समूह है। ये ऊपर के ३ पांक्त समूह भूतों के सम्बन्ध में हैं। अब अध्यात्म वर्णन करते हैं। प्राण, व्यान, अपान, उदान, समान, यह प्राण पंचक हैं। आँख, कान, कम, वाणी तथा यह इन्द्रिय पाँच (पंचक) हैं। चर्म, मांस, नाड़ी, हड्डी, मज्जा यह धातु पंचक हैं। इस प्रकार ५-५ चीजों का समूह कह कर ऋषि कहने लगे कि यह जो कुछ चराचर जगत् है सब पांक्त है, पाँच-पाँच में विभक्त है, पांक्त से ही पांक्त की पुष्टि होती है। अर्थात् इन ५-५ पांक्तों को जानकर ही मनुष्य आत्म ज्ञानी होता है।

अन्य आप्त वचनों में पंच कोशों की जो व्याख्याऐं की गई हैं जो स्वरूप और कार्य बताए गए हैं। वे भी तैत्तरीयोपनिषद् के प्रतिपादन से मिलते जुलते ही हैं।

पंच कोशेषु शक्तिर्मे तथा तिष्ठति नित्यशः ।
न पश्यंति तु तां शक्ति मज्ञानेपहता नराः ।।

–शिवार्णय

पांच कोशों में शिवशक्ति की प्रचण्डता सन्निहित है। अज्ञानी लोग उसे देख समझ नहीं पाते।

सूक्ष्मेण दिव्य लोकेन स्थूल लोकस्य देहिनः।
सम्बन्ध कारको ज्ञेयः कोषः प्राणमयश्चर ।।

स्थूल देह धारियों का सम्बन्ध सूक्ष दिव्य लोक के साथ जोड़ने का कार्य प्राणमय कोश करता है।

अहन्तां ममतां देहे गेहादौ च करोतियः ।
कामाद्यवस्थया भ्रान्तो नासावात्मा मनोमयः ।।६।।

जो देह में "मैं" रूप अहन्ता बनकर विद्यमान है। जो वस्तुओं और प्राणियों में ममता रखता है। जो अनेक कामनाऐं करता है और उनकी पूर्ति के लिए भटकता है वह मन है-मनोमय कोश है।

लीना सुप्तौ वयुर्वोधे व्याप्नुयादान खाग्रगा ।
चिच्छायापेतधीर्नात्मि विज्ञानमय शब्द भाक् ।

जो सुषुप्ति में विलीन हो जाता है। जो समस्त शरीर में संव्याप्त है। उस चिदाभास युक्त विवेक बुद्धि को विज्ञाममय कोश कहा गया है।

मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदए
तथा व्रीहिर्वा यत्रो वा स एष सर्वस्एशानः
सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच ।।

वृहदारण्यकोपनिषद् (५, ६, १)

यह मनोमय पुरुष प्रकाशमान सत्य स्वरूप है, वह अर्न्तहृदय में धान अथवा जौ के सदृश चमकता है। वह सबका ईश्वर, सबका अधिपति इस जगत में जो कुछ है। सब पर शासन करता है।

या कर्मविषया बुद्धिर्वेदशास्त्रार्थनिश्चिता ।।
सा तु ज्ञानेदिन्द्रए: सार्धं विज्ञानमयकोशतः ।।

जो कर्म विषयणी बुद्धि और वेदशास्त्र से निश्चित की गई है। वह ज्ञान इन्द्रियों के सहित विज्ञानमय कोश में स्थित रहती है।

काचिन्दतर्मुखी वृत्तिकानन्द प्रतिविम्ब भाक् ।
पुण्य भोगे भोग शान्तौ निद्रा रूपेण लीयते ।।९।।

काया के भीतर एक अर्न्तमुखी वृत्ति है। जो ब्रह्म के प्रतिविम्ब को अपने भीतर भास मान देखती है। वही पुण्य भोगती है। शान्ति प्राप्त करती है। और योग निद्रा में लय हो जाती है। उसी का नाम आनन्दमय कोश है।

उपनिषद का तत्वदर्शी ऋषि पंच कोश संबंधी जिज्ञासा का समाधन इस प्रकार करता है–

पञ्चकोशाः के ?
अन्नमयः, प्राणमयः, मनोमयः
विज्ञानमयः आनन्दमयश्चेति ।।

पांच कोश कौन–कौन हैं ?

उत्तरः– अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश, और आनन्दमय कोश,।

अन्नमय कः ?
अन्न रसे नैव भूत्वा, अन्न रसे नैव वृद्धि प्राप्यान्न रूप पृथिव्यां यद्विलीयते तदन्नमयः कोशः स्थूल शरीरम् ।

–अन्न मय कोश किसे कहते हैं ?

–जो अन्न के रस से उत्पन्न होता है। जो अन्न रस से ही बढ़ता है, और जो अन्न रूप से पृथ्वी में ही लीन हो जाता है उसे अन्नमय कोश एवं स्थूल शरीर कहते हैं।

प्राणमयाः कोश कः ?
प्राणदि पञ्च वायवो वागादीन्द्रिय पञ्चकं
प्राणमयःकोशः ।

–प्राणमय कोश किसे कहते हैं ?

–प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान इन पांच प्राण वायुओं के समूह और कर्मेन्द्रिय पंचक के समूह को प्राण मय कोश कहते हैं। संक्षेप में यही क्रिया शक्ति है।

मनो मयः कोशः कः ?
मनश्च ज्ञानेन्द्रिय पञ्चकं मिलित्वा भवति स मनोमयः कोशः।

–मनोमय कोश क्या है ?

–मन और पांच ज्ञानेन्द्रियों के समूह के मिलने से मनोमय कोश बनता है। इसे इच्छाशक्ति कह सकते हैं।,

विज्ञान मयः कोशः कः ?
बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रिय पंचकं मिलित्वा यो भवति स विज्ञान मयः कोशः।

–विज्ञानमय कोश क्या है ?

–बुद्धि और पांच ज्ञानेन्द्रियों का समन्वय विज्ञान मय कोश है। यह ज्ञान शक्ति है।

आनन्दमयः कः ?
एवमेव कारण शरीर भूताविद्यास्थ मलिन सत्वं प्रियादि वृत्ति सहितं सदानन्दमयः कोशः।

–आनन्दमय कोश क्या है ?

–इसी प्रकार कारण रूप अविद्या में रहने वाला, रज और तम के संयोग से मलिन, सत्व के कारण मुदित वृत्ति वाला आनन्देच्छुक कोश आनन्दमय कोश है।

ब्रह्म विद्या समर्थित पंच कोशों के जागरण से उत्पन्न ब्राह्मी शक्ति की पराशक्ति के रूप में अभ्यर्थना की गई है। देवी भागवत में कहा गया है–

पंचप्राणाधिदेवी या पंचप्राणस्वरूपिणी ।
प्राणाधिकप्रियतमा सर्वाभ्यः सुन्दरी गरा ।।३६ ।।

–देवी भागवत

पाँच प्राण उसी पंच कोश सम्पदा के पांच स्वरूप हैं। प्राणों की अधिष्ठात्री देवी वे ही हैं। सर्वांग सुन्दरी है। परा शक्ति है। भगवान की प्राणों की प्यारी है।

इनमें से अन्नमय कोश स्थूल है तथा चेतना का प्रथम आवरण है। शरीर भोजन जल एवं वायु पर जीवित रहता है। इसलिए इस कोश को भोजन कोश भी कहते हैं। आहार विहार से लेकर तप–तितीक्षा की साधनाओं द्वारा इसे परिष्कृत–परिशोधित किया जाता है। सविता–ध्यान के माध्यम के महाप्राण का अवतरण का इस केन्द्र को जगाया जा सकता है।

प्राणमय कोश को जीवन सत्ता का केन्द्र बिन्दु समझा जा सकता है। प्राण की सामान्य माया द्वारा दैनिक व्यापार चलता है। यह कोश सुषुप्तावस्था में पड़ा रहता है। कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रिया में इसे जागृत करने का प्रयत्न किया जाता है। अन्नमय शरीर में परिव्याप्त प्राण शरीर ही भौतिक शरीर के अस्तित्व को कायम रखता है। प्राणमय कोश में प्राण प्रकाश तथा ऊर्जा के रूप में यह जलती हुई उस अग्नि लौ के समान है। जो कम–अधिक होती हुई अन्ततः बुझ जाती है। प्राणमय कोश में सविता के प्राण अनुसन्धान साधना द्वारा जगाने पर विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। प्राणमय कोश प्रकाश पुंज के रूप में जगमगाता हुआ दीखता है।

मनोमय कोश प्राणमय से भी अधिक सूक्ष्म है। शरीर की समस्त गतिविधियाँ मन द्वारा ही संचालित हैं। जन्म जन्मान्तरों के संचित संस्कार–संचित होते तथा भली–बुरी आदतों के रूप में प्रकट होते हैं। इच्छा, विचारणा संकल्प यही से उठते हैं। सविता ध्यान के द्वारा उन्हें परिशोधित एवं जागृत किया जा सकता है।

विज्ञानमय कोश मनोमय से भी अधिक सूक्ष्म है। यह अपने गर्भ में सृष्टि के समस्त रहस्यों को छिपाए हुए हैं। कुण्डलिनी की प्राणानुसन्धान प्रक्रिया द्वारा जागृत होने पर साधक को अनेकों प्रकार की दिव्य अनुभूतियाँ होती हैं। सृष्टि के रहस्यों का उद्‌घाटन होता है, अविज्ञात रहस्य भी ऐसे दृष्टिगोचर होने लगते हैं, जैसे सामने घटित हो रहे हैं।

अन्तिम कोश वह स्थान है जहाँ आत्मा निवास करती है। आत्म साक्षात्कार ब्रह्म साक्षात्कार का केन्द्र बिन्दु यही है। जीव को अपने सत्-चित्-आनन्द स्वरूप का दिग्दर्शन यहीं होता है। यह आत्मा और परमात्मा का मिलन स्थल है।

इस प्रकार शुद्ध आत्मतत्व पर; चित्त का पहला आवरण आनन्दमय है। आनन्द का विकार रूपी यह कोश आत्मा को आच्छादित करके प्रिय, मोद प्रमोद रहित आत्मा, प्रिय मोद ओर प्रमोदवान तथा अपरिच्छिन्न सुख रहित आत्मा को परिच्छिन्न सुख विशिष्ट रूप में प्रकट करता है। आनन्दमय कोश का यह आवरण ही जीवात्मा का कारण शरीर कहलाता है। इस कारण शरीर सहित आत्मा को प्रज्ञा कहते हैं।

आनन्दमय कोश को आच्छादित करने वाला आत्मा का दूसरा आवरण विज्ञानमय है। इसे अहंकार और बुद्धि का समन्वित रूप भी कहा जा सकता है। अर्थात् यह कोश इन दोनों से विनिर्मित हुआ है। यह कोश आत्म स्वरूप को आच्छादित करके अकर्ता आत्मा को कर्ता, अविज्ञाता आत्मा को विज्ञाता, निश्चय रहित आत्मा को निश्चय युक्त और जाति अभिमान रहित आत्मा को जाति अभिमान युक्त जैसा प्रकट करता है, इस विज्ञानमय कोश में अभिमान वर्तमान है। कर्तृत्व, भोकतृत्व सुखित्व अभिमान आदि ही इस विज्ञानमय कोश का गुण है। इस विज्ञानमय कोश को मनोमय कोश आच्छन्न किए हुए है जिसमें मन और ज्ञानेन्द्रियाँ आती हैं मन और ज्ञानेन्द्रियों का विकाररूपी यह कोश आत्मस्वरूप की आच्छादित करके संशय रहित आत्मा को संशययुक्त, शोक मोह युक्त और दर्शन रहित आत्मा को शोक मोह युक्त और दर्शन रहित आत्मा को दर्शनादि का कर्ता रूप में प्रकट करता है। इच्छा शक्ति इसी मनोमय कोश में विद्यमान रहती है। मनोमय कोश के बाद पांच कर्मेन्द्रियों और पाँच प्राणों का आवरण चढ़ा हुआ है जिसे प्राणमय कोश कहते हैं। प्राण और इन्द्रियों का विकार रूपी यह प्राणमय कोश आत्मा को आच्छादित करके वक्तृत्व रहित आत्मा को वक्ता, दातृत्व रहित आत्मा को दाता गति रहित आत्मा को गतिशील तथा क्षुधा पिपासा रहित आत्मा को क्षुधा और पिपासा आदि विकारों से युक्त प्रकट करता है। क्रिया शक्ति प्रधान होने के कारण प्राणमय कोश कार्य रूप में परिलक्षित होता है।

विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय कोषों का समुच्चय ही सूक्ष्म शरीर कहलाता है। इस सूक्ष्म शरीर सहित आत्मा को तेजस कहते हैं। सबसे ऊपरी और दिखाई देने वाला कोश अन्नमय है। यह अन्न से बना हुआ और रंज वीर्य से उत्पन्न होता है। इस अन्नमय कोश के कारण अविच्छिन्न और अपरिचित आत्मा परिच्छिन्न तथा विमल दिखाई देती है और शीत ताप से रहित होते हुए भी शीतल-तप्त अजर-अमर होते हुए भी जरा-मृत्यु तथा जन्म लेने वाली प्रतीत होती है। इस अन्नमय कोश को स्थूल शरीर कहते हैं।

आत्मा के सबसे समीपवर्ती कोश को यद्यपि आत्मा कहते हैं। परन्तु मनुष्य का सबसे पहला परिचय अन्नमय कोश से ही होता है। इस कोश को अनावृत करने के बाद ही प्राणमय तक पहुँचा जाता है, प्राणमय के बाद मनोमय, मनोमय के बाद विज्ञानमय, विज्ञानमय के बाद आनन्दमय और आनन्दमय को भी अनावृत करके आत्मतत्व तक पहुँचा जा सकता है। इस स्थिति को ही ब्रह्मानन्द की प्राप्ति वाली स्थिति कहा जाता है।

इस पंच कोश विज्ञान का कई स्थानों पर कई प्रकार से अलंकारिक वर्णन है।

पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां
पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यायदिमूलाम्।
पञ्चवर्ता पञ्चादुःखौघवेगां
पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः॥

-श्वेताश्वतर

हम पचास भेदों वाली एक ऐसी नदी को देख रहे थे जो पाँच भँवरों वाली, पाँच घोर प्रवाह वाली, पाँच स्रोतों से प्राप्त जल वाली, पाँच स्थानों से उत्पन्न, पाँच प्राण-उर्मियों वाली, टेढ़े तिरछे प्रवाह वाली तथा पञ्चज्ञान रूप में मन के मूल वाली है।

पंचारे चक्रे परिवर्तमाने
तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः
सनादेव न शीर्यते सनाभिः॥

प्र० उ० १, ११, तथा अथर्व० ११

पाँच अरे के उस चक्र में, घूमते रहने पर भी,सब भुवन प्रतिष्ठित. हैं। उसकी अक्ष (धूरी) कभी तप्त नहीं होती और बड़े भारी बोझ से लदा अनादि काल से घूमते रहने पर भी वह नाभि सहित कभी टूटता ही नहीं।

तद्वा अथर्वण: शिरो देवकोश: समुब्जित: ।
तत्प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमयो मन: ।।

अथर्व १०। २। २७

"वह भली प्रकार संस्कारित शिर देवों का खजाना है। प्राण, मन और अन्न उसकी रक्षा करते हैं।"

योग वशिष्ठ में ईश्वर को प्राप्त करने के लिए अन्त:गुहा में प्रवेश करने का निर्देश है। इस 'गुहा' तक पहुँचने के लिए पंचकोशों का अनावरण करना पड़ता है। इन द्वारों के खुलने पर उस दिव्य गुहा में पहुँच सकना सम्भव है जहाँ आत्म साक्षात्कार एवं ब्रह्म साक्षात्कार होता है।

गुहाहितं ब्रह्म यत्तत्पंचकोशविवेकत: ।
बोद्धं शक्यं तत: कोशपंचकं प्रविविच्यते ।।

ब्रह्म पंचकोशों के भीतर 'गुहा' में विराजमान है। उस तक पहुँचने के लिए पंच कोशों का विधान विज्ञान जानना चाहिए।

देहादभ्यन्तर: प्राण: प्राणादभ्यन्तरं मन: ।
तत: कर्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परम्परा ।।

-योग वशिष्ठ

देह के अन्तर्गत प्राण- के अन्तर्गत मन- मन के भीतर कर्ता-कर्ता के भीतर भोक्ता है। 'गुहा' तक पहुँचने की यही परम्परा है।

पांच प्राणों से प्रेरित होकर चित्त में पांच वृत्तियाँ उभरती हैं। इन पांचों के विशृंखलित होने पर जीवन में अस्तव्यस्तता बनी रहती है। यदि इन्हें सन्तुलित किया जा सके तो पांच देवताओं की भूमिका निभाती है और व्यक्तित्व को हर दृष्टि से सुसम्पन्न कर देती है।

चित्त की वृत्तियाँ अनन्त हैं। किन्तु उन्हें पाँच श्रेणियों में रखा जा सकता है पातंजल योगदर्शन में कहा गया है-

'वृत्तय: पंचतय्य: क्लिष्टाऽक्लिष्टा: ।'

-यो० द० १। ५

ए पांच वृत्तियाँ हैं-(१) प्रमाण (२) विपर्यय (३) विकल्प (४) निद्रा (५) स्मृति ।

इन पांचों का सन्तुलन सम्बर्धन पांच कोश साधना से सम्भव होता है। इसी प्रकार पांच क्लेशों के समाधान में भी इस साधना का भारी महत्त्व है।

क्लेश पांच हैं-अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश। इन पांचों में प्रधान है-अविद्या। क्योंकि जब तक अविद्या है, तभी तक शेष चारों भी प्रभावी हैं। आत्मज्ञान द्वारा जब अविद्या नष्ट हो जाती है, तब समस्त क्लेश क्षीण हो जाते हैं।

क्लिष्ट वृत्तियाँ वे हैं, जो क्लेश से युक्त हों। क्लेश का अर्थ हुआ मोहपूर्ण प्रवृत्ति से उत्पन्न कष्ट। आत्म-बोध के अभाव में, जब चंचल मनोभावों के अनुरूप व्यक्ति सत्ता क्रियाशील बनी रहती है, तो उस सक्रियता में वास्तविक आनन्द की अनुभूति नहीं हो पाती। अपितु क्षणिक हर्ष-विषाद की उत्तेजनाऐं ही उसे नचाती रहती हैं। यही क्लेश की स्थिति है।

बिन्दु योग की ध्यान साधना में पांच आकाशों और पांच ज्योतियों का वर्णन है। अन्त:क्षेत्र के विशाल ब्रह्माण्ड में पांचों आकाशों का अस्तित्व बताया गया है और उनमें सन्निहित दिव्य शक्तियों का दर्शन कराने वाली पाँच ज्योतियों का उल्लेख है। ध्यान योग में इन पांचों आकाशों के मध्य पांच ज्योतियों की धारणा की जाती है। यह भी पंच कोश जागरण की एक प्रक्रिया है। यह ज्योतियाँ आविर्भूत होने से दिव्य दृष्टि जागृतहोने और उसके सहारे अनेक सिद्धियों के उपलब्ध होने की बात की गई है।

आत्म स्थिति की पांच अवस्थाओं को (१) आकाश (२)पराकाश(३)महाकाश (४) सूर्याकाश (५) परमाकाश कहा जाता है। यही पंच-व्योम या पांच आकाश है।

आकाश-स्थिति वह है जब ध्यान के समय बाहर भीतर नीलिमा-सी या अन्धकार सा दिखता है । पराकाश स्थिति में भीतर लपटें जैसी याकि लाल रंग का प्रकाश कभी-कभी क्रोध सा आ जाता है। महाकाश स्थिति वह है जब यह प्रकाश बाहर-भीतर अधिकाधिक तेजपूर्ण दिखने लगे। सूर्याकाश स्थिति में बाहर सूर्य या सविता देवता का प्रकाश अपने अति समीप, चारों ओर परिव्याप्त दिखाई देता है और भीतर भी सविता देवता का वही प्रकाश संव्याप्त दृष्टिगत होता है। अन्तर्वाह्य प्रकाशपूर्ण, ज्योतिर्मय हो गया दिखता है।

परमाकाश स्थिति में सर्वत्र सर्वव्यापी अनिर्वचनीय आनन्दमय ज्योति का निरतिशय विस्तार प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। ब्रह्मसत्ता की एकमेव ज्योति सर्वत्र प्रसृत-परिव्याप्त दीखती है। सृष्टि के कण-कण में उसी एक परमज्योति कि दर्शन होते हैं।

यह पांच ज्योतियाँ जो पांचा आकाशों में चमकती है। पंच प्राणों की पांच कोशों के जागरण की भावात्मक अनुभूतियाँ ही हैं। जागरण और प्रकाश पर्यायवाचक है। अस्तु कोश जागरण का प्रकाश अनुभूति के रूप में उल्लखित किया गया है।

इन पांचों कोशों की एक से बढ़कर एक सिद्धियाँ हैं। कहते हैं कि राजा विक्रमादित्य के पास पांच 'वीर' थे। वे इतने समर्थ थे कि आज्ञा पाते ही असम्भव को सम्भव कर दिखाते थे। यह 'वीर' मनुष्य नहीं सूक्ष्म देह धारी देव स्तर के थे। अलादीन के चिराग से भी ऐसे ही जिन्न प्रकट होने और उसकी आज्ञानुसार काम करने की भी किम्बदन्ती है। छाया पुरुष सिद्ध होने पर वह अपना ही प्रेत चमत्कारी काम करता बताया जाता है। भूत-प्रेतों-यक्ष राक्षसों को सिद्ध कर लेने पर वे भी ऐसे काम कर दिखाते हैं जो आज्ञा देने वाले के लिय स्वयं करना कठिन होता है। कहते हैं कि सुकरात के पास ऐसी ही एक देवात्मा थी जो पग-पग पर उसका मार्ग दर्शन करती और सहायता करती थी ।

उपर्युक्त कथनों में अतिशयोक्ति हो सकती है, पर पंच कोशों के जागृत होने पर साधक भी विविध सहायताऐं करना निश्चित है। उनकी सहायता से मनुष्य भौतिक और आत्मिक प्रगति का पथ प्रशस्त कर सकता है। इन आन्तरिक मित्रों से बढ़ कर समस्त संसार में और कोई भी सुयोग्य सहयोगी हो नहीं सकता है। जीवन को सार्थकता के मार्ग पर चलाने वाले के लिए जागृत पांच कोश पांच तथाकथित 'वीरों' और 'जिन्नों' से अधिक सामर्थ्यशाली सिद्ध होते हैं।

गायत्री की उच्चस्तरीय-पंचकोशों साधना द्वारा ही पाँचों कोशों का अनावरण सम्भव है। कोशों को पार करने के उपरान्त ही उस दिव्य प्रभा के दर्शन होते हैं उस दिव्यस्वरूप की प्राप्ति होती है जिससे जीवन धन्य हो जाता है । तैत्तिरीयोपनिषद् की अष्टम बल्ली में आनन्द की मीमांसा करते हुए कहा गया है कि यदि कोई मनुष्य पूर्णत: स्वस्थ, सुशिक्षित, गुणवान, सामर्थ्यवान एवं समस्त संसार की धन सम्पत्ति का स्वामी ही तो उसे जो आनन्द हो सकता उसे एक मानुषी का आनन्द कहते हैं उससे करोड़ों गुना अधिक आनन्द ब्रह्मानन्द का है। अन्य उपनिषदों में भी इसी प्रकार का उल्लेख आया है।

सलिल एको द्रष्टाद्वैतो भवत्एष ब्रह्मलोक: सम्राडीति हैनमनुशासयज्ञिवल्क्य एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽध्य परम आनन्द एतन्र्एपानंदस्यान्यानि भूतानि मात्रा मुपजीवन्ति ।

(वृहदा० ४ । ३ । ३३)

अर्थात्- समुद्र के समान अक्षह एक अद्वितीय धारा ही ब्रह्मलोक है। प्राणी की वही परमगति, सर्वोत्कृष्ट सम्पत्ति, परलोक और सर्वश्रेष्ठ आनन्द है। इसी परमानन्द के एक अंश को प्राप्त करके अन्य समस्त भूतंप्राणी जीवित रहते हैं।

जागृत अन्त:शक्ति जिसमें गायत्री की उच्चस्तरीय पंचकोशीय साधना और कुण्डलिनी का समन्वय है- कामधेनु कही गई है। कामधेनु से सर्वतोमुखी परितृप्ति दे सके। इस कामधेनु के उपयोग का आदेश जागृत प्राण सविता देव से मिलता है। पुण्यात्मा उसे दुह सकते हैं। जो इस पयपान को कर सकें वे परम तेजस्वी बनते हैं। इस तथ्य का अथर्ववेद में इस प्रकार उल्लेख है-

उपह्वए सुदुधां धेनुमेतां
सुहस्तो गोधु गुत दोहदेनाम् ।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभिद्धो
धर्मस्तदुषु प्रवोचम् ।।

अथर्ववेद

इस सुन्दर दूध देने वाली गाय का मैं आह्वान करता हूँ। पवित्र अच्छे हाथों से युक्त दुहने वाला इसे दुहे। इसके लिए सविता अपनी श्रेष्ठ अनुज्ञा प्रदान करें। मेरा ताप बढ़ रहा है इसलिए बहुत प्रार्थना करता हूँ।

पंचकोशों की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि

पांच कोश मानवी चेतना के ही पाँच स्तर हैं। मनुष्य के सूक्ष्म शरीर के पाँच कलेवर हैं-(१) अन्नमय कोश (२) प्राणमय कोश (३) मनोमय कोश (४) विज्ञानमय कोश (५) आनन्दमय कोश । आत्मा-परमात्मा के मध्य अगणित आदान-प्रदान इन्हीं पांच कोशों के द्वारा होते हैं। जो व्यक्ति जितने अधिक कोशों पर अधिकार कर लेता है-वह शक्तिहीनता तथा तुच्छता से उतना ही ऊपर उठता जाता है। पाँचों कोशों पर अधिकार कर लेने वाला व्यक्ति देव-पुरुषों की श्रेणी में विराजता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह जो चाहे, वह करने लगता है। यह सत्य है कि देवसत्ताओं की तरह वह भी उन कामों को सरलता से सम्पन्न कर सकता है, जिन्हें सामान्य व्यक्ति असम्भव ही माने रहता है। पर वह स्वेच्छा चारी नहीं हो जाता।

देवसत्ताऐं भी सार्वभौम नियम व्यवस्था के ही अनुसार कार्य करती है। उस श्रेणी तक पहुँचे हुए महापुरुष की भी कोई 'वैयक्तिक इच्छा' नहीं रह जाती। वह शाश्वत सत्ता की नियम व्यवस्था से एकाकार हो जाता है। इसीलिए वह सामान्यत: असम्भव लगने वाले कार्य कर सकता तथा अदृश्य प्रतीत होने वाले दृश्य देख सकता है। यह चेतना धरातल को उठाकर समष्टि चेतना से तादात्मय स्थापित कर लेने की स्थिति है। इस सम्पूर्ण सृष्टि में तथा उससे परे भी, सर्वशू चेतना-प्रवाह विद्यमान है। इस चेतना की अनन्त परतें हैं। प्रत्एक चेतना स्तर अपने ढंग का अनूठा है। सामान्य मनुष्य जिस चेतना-धरातल का स्पन्दन ग्रहण कर पाने में अक्षम हो, वहाँ चेतना है ही नहीं, यह बात तार्किक दृष्टि से तो मान्य नहीं ही है, आधुनिक पदार्थ विज्ञानी भी अब इसी निष्कर्ष पर पहुंच चुके हैं कि चेतना के अनन्त समुद्र में हमारी पैंठ अत्यन्त नगण्य है।

चेतना का विशाल सागर इस ब्रह्माण्ड में विस्तृत है। उसी ने पदार्थ को उत्पन्न किया है। पदार्थ भौतिक विज्ञानी ने पदार्थों में ही सत्य को सन्निहित मान सत्यान्वेषण प्रारम्भ किया और अब वह प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म स्तरों में प्रवेश करता हुआ विस्मित हो उठा है। पदार्थ की ही सत्ता सन्दिग्ध हो उठी है और अपना सम्पूर्ण बोध ही एक भ्रम या आभास मात्र प्रतीत होने लगा है अभी हम जो मानते हैं, वह सब हमारे बोध की परिधि में सिमटे सृष्टि रूपों की झलक मात्र है अर्थात् उसे आभास ही कहा जा सकता है, सत्य नहीं। यह आभास हमारे लिए ज्ञात-चेतना धरातलों की परिधि में बद्ध है। यदि किसी प्रकार हमारी चेतना एक सर्वथा नए आयाम को छू ले, तो अभी हमारा जो भी बोध है, वह तब पूरी तरह बदल ही जाएगा। जिसे आज सर्वथा सत्य मान रहे हैं, कल वहीं एक भ्रम लगने लगेगा।

आइन्स्टाइन ने चेतना के इसी आयाम को, "बोध" के नए धरातल को 'चतुर्थ आयाम' की संज्ञा दी थी। आप वैज्ञानिकों को 'चतुर्थ आयाम सम्बन्धी अनेक साक्ष्य प्राप्त हो रहे हैं।

चतुर्थ आयाम की अवधारणा से अवगत होने के लिए उसे यों समझा जा सकता है- हमारा सम्पूर्ण बोध तीन आयामों तक सीमित है । जो कुछ भी हम देखते-जानते, समझते-सोचते हैं, वह त्रिआयामीय वस्तु-जगत से सम्बन्धित होता है। ए तीन आयाम हैं- पहला लम्बाई, दूसरा चौड़ाई तथा तीसरा मोटाई, गहराई अथवा ऊँचाई । यह तो हो सकता है कि किसी वस्तु का कोई आयाम अधिक हो कोई कम । जैसे किसी सन्दूक की लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊँचाई तीनों ही अधिक होती हैं, किन्तु कागज की मात्र लम्बाई-चौड़ाई ही अधिक होती है, केश या बाल की लम्बाई ही अधिक होती है , जबकि किसी धूलिकण के तीनों आयाम बहुत छोटे होते हैं । ए तीनों आयाम देश या ' स्पेश' में होते हैं । आइन्स्टाइन के अनुसार चौथा आयाम है 'टाइम या काल ।

सामान्यत: तीन आयामों तक ही हमारा बोध-क्षेत्र है । चतुर्थ आयाम का बोध होते ही हमारे सामने ज्ञान का एक अनन्त क्षेत्र खुल सकता है। तब यह संसार एक सर्वथा भिन्न रूप से नजर आने लगेगा। ऐसा बहुत कुछ जिसे हम यथार्थ, वास्तविक और सत्य मानते जानते हैं। वह यथार्थ और एक भ्रान्ति मात्र है, यह स्पष्ट हो जाएगा।

इसे क्रमश: इस तरह समझा जा सकता है-एक बिन्दु को लें। यद्यपि प्रत्एक बिन्दु कुछ न कुछ स्थान घेरता ही है, गणित में बिन्दु वस्तुत: उसे ही कहते हैं, जिसका कोई स्थान तो हो, पर आचार न हो या कह सकते हैं कि रूप तो हो पर आकार न हो । अब कोई १० सेन्टीमिटर लम्बी रेखा को लें। इस रेखा में असंख्य बिन्दु समाहित हो सकते हैं, क्योंकि बिन्दुओं का तो कोई 'साइज' या आकार होता नहीं। यह १० सेन्टीमीटर लम्बी रेखा, 'स्पेस' एक ही दिशा 'लम्बाई' का प्रतिनिधित्व करती है। यह एक आयाम हुआ। एक वर्ग जिसमें लम्बाई व चौड़ाई दोनों हैं, पर गहराई मोटाई या ऊँचाई नहीं, उसमें लम्बाई और चौड़ाई के दो आयाम हुए। जैसे किसी कागज के पन्ने की ऊपरी सतह। जबकि किसी कमरे में जिसमें लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई तीनों होती हैं, तीनों आयाम उपस्थित रहते हैं। किसी सतह पर नाली में रहने वाले दो ऐसे कीड़ों की कल्पना कीजिए जो सिर्फ एक ही आयाम लम्बाई जानते हों। चौड़ाई भी कोई वस्तु होती है, यह जानते ही न हों। इसका अर्थ है कि यदि वे संयोग वश आमने सामने आ पड़ते हैं, तो वे एक दूसरे से बचकर नहीं निकल सकते क्योंकि अगल-बगल जैसी कोई चीज वे जानते ही न होंगे। वे तो बस उसी रेखा में, उसी सीध में या तो आगे जा सकते हैं या पीछे आ सकते हैं। वही उनका संसार है।

किसी पुस्तक का पृष्ठ यदि चेत हो उठे, पर उसका बोध क्षेत्र लम्बाई और चौड़ाई इन दो ही आयामों

तक सीमित हो तो वह उसी पुस्तक के दूसरे पृष्ठों के अस्तित्व को कभी भी नहीं जान सकता।

अपने त्रिआयामीय बोध-सामर्थ्य के कारण जब हम किसी छाया चित्र को देखते हैं, तो उसमें गहराई की स्वयं ही कल्पना कर उस चित्र को समझ लेते हैं। जबकि सामान्यतः यदि किसी कुत्ते को उसका या उसके स्वामी का छाया चित्र दिखाया जाय तो यह उसके लिए अर्थहीन होगा। उस पर इसकी कोई प्रतिक्रिया न होगी। लेकिन उस चित्र में गति आ जाने पर वही कुत्ता प्रतिक्रिया करेगा। क्योंकि तब जैसे उसकी चेतन में कोई स्मृति कौंध जाती है। गति का नया घटक स्थित को बदल देता है। चलचित्र आदि को देखकर इसलिए कुत्ता भौंकने लगता है।

दो आयामों वाले चित्रों को देखने की अभ्यस्त हमारी जागृत मनश्चेतना त्रिविमितीय स्तर के छाया चित्रों को देखकर किस तरह विभ्रान्त हो उठती है, यह 'होलोग्राफी' के जानकार लोगों को विदित है। लेसर किरणों की कृपा से 'होलोग्राफी' के आधार पर त्रिविमितीय सिनेमाओं का निर्माण कई विकसित देशों में प्रारम्भ भी हो चुका है, जहाँ पर्दे पर मनुष्य, मोटर, घोड़े, रेलगाड़ी, भालू, शेर आदि यथार्थवत् चलते, दौड़ते दिखाई पड़ते हैं। और अनभ्यस्त सिनेमा दर्शक प्रारम्भ में भ्रमित हो जाते हैं।

इस प्रकार तीसरे आयाम का ही नए सन्दर्भ में नवीन बोध जब हमें विस्मित-विमुग्ध कर सकता है, तब चतुर्थ आयाम की जानकारी तो पूरे बोध क्षेत्र को ही उलट पुलट देगी और हमारी वर्तमान निर्विवाद धारणाऐं भी जड़ मूल से उखड़ जाएगी।

आइन्स्टाइन ने जब सर्व प्रथम सापेक्षता सिद्धान्त की व्याख्या की तो सम्पूर्ण विश्व में केवल बारह वैज्ञानिक उसे समझ पाए, ऐसा कहा जाता है। फिर जब प्रोफेसर स्मिथ ने सर्व सामान्य को समझाने के लिए सापेक्षता सिद्धान्त पर एक पुस्तक लिखी, तो एक विनोद ही चल निकला कि आइन्स्टाइन ने सर्वप्रथम व्याख्या की, तो उसे बारह वैज्ञानिक समझ पाए, किन्तु प्रोफेसर स्मिथ की व्याख्या तो एक भी व्यक्ति नहीं समझ पाया। अँग्रेजी में इस सन्दर्भ में एक हास्य- कविता भी है, जिसका मनोरंजक भावानुवाद यों होगा–

"एक थी लड़की-नाम जोन ब्राइट,
चलती अति तीव्र गति से जैसे हो 'लाइट'
एक दिन उमंग में, प्रकाश से भी प्रखरतर
वेग से चली वह आइन्स्टाइनी ढंग से,
लौटकर आई तो थी पिछली "नाइट"।"

किन्तु आज यह बात विनोद नहीं रह गई। काल की गति पीछे की दिशा में भी लौट सकने की बात अब वैज्ञानिक जगत में सर्व स्वीकृत होती जा रही है। असीम वेग से चलने वाले कणों की जानकारी बढ़ती जा रही है। १९६७ में गेराल्ड फोनवर्ग ने काल्पनिक मात्रा के इन कणों को 'टेकियान' नाम दिया। टेकियान का 'प्रॉपर मास' काल्पनिक होता है एवं उनका वेग प्रकाश वेग से भी ज्यादा होता, प्रकाश वेग से कम तो नहीं हो सकता। यद्यपि अभी ऐसे उपकारणों का अभाव है, जिनके द्वारा टेकियान को प्रदर्शित किया जा सके, किन्तु वैज्ञानिकों द्वारा यह तथ्य मान्य हो चुका है कि 'टेकियान' विद्यमान है।

१९६८ में टेक्सास विश्व विद्यालय, संयुक्त राज्य अमरीका में, अनुसन्धान कार्य कर रहे डा० सुदर्शन ने फोनवर्ग की परिकल्पना को सही सिद्ध कर दिया। ए तो हुए प्रकाश वेग से अधिक तीव्रगामी टेकियान, जिन पर अनुसन्धान जारी है। प्रकाश वेग से गतिमानकणों को 'लक्सान' कहते हैं, जिनका 'प्रॉपर मास' शून्य रहता है। फोटोन, न्यूट्रिनों, ग्रेवीटीन आदि ऐसे ही कण हैं।

प्रकाश की गति वाले अनेक कण तो अस्थाई-अस्थिर होते हैं, किन्तु फोटोन, न्यूट्रिनों व एन्टीन्यूट्रिनो स्थायी होते हैं। इन कणों की खोज ने काल सम्बन्धी एक नई अवधारणा को वैज्ञानिकों के बीच प्रतिष्ठित कर दिया और वे मानने लगे हैं कि समय मात्र आगे ही नहीं जाता, पीछे की तरफ भी लौट सकता है। फोटोन कणों का वेग-प्रकाश-वेग के बराबर होता है, अतः उनके लिए तो काल गति शून्य है। भूत, वर्तमान, और भविष्य में कोई अन्तर नहीं है। प्रकाश वेग से अधिक गति वाले कणों के लिए समय की गति हमारी परिचित भावना के सर्वथा विपरीत हो जाती है। हम अतीत से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य की काल यात्रा करते हैं, किन्तु उन कणों की यात्रा भविष्य से वर्तमान और वर्तमान से अतीत में होती है। यही है काल के चतुर्थ आयाम की आइन्स्टाइन की धारणा।

जब अतीत में लौटना भी सम्भव हो जाएगा, तो हमारा वर्तमान बोध किस प्रकार अस्त-व्यस्त हो जाएगा, यह हम भली-भांति समझ सकते हैं, उदाहरणार्थ हमारी वर्तमान धारणा है कि राम एवं कृष्ण, महात्मा गांधी, आदि

मर गए। लेकिन तब हम स्पष्ट उन्हें उसी रूप में देख सकेंगे, जैसे कि वे उस समय थे। इससे जन्म-मृत्यु की भौतिक वादी धारणा पूरी तरह ध्वस्त हो जायेगी और भारतीयों की जो मान्यता अभी जन सामान्य के लिए मात्र एक विश्वास के रूप में ही है, वह बिल्कुल प्रत्यक्षत:सत्य दिखाई देगी। तब यह स्पष्ट हो जाएगा कि जन्म या मृत्य चरम अर्थों में एक भ्रान्ति मात्रे है। यह हुआ काल के चतुर्थ आयाम की जानकारी का एक प्रभाव परिणाम। हमारे सम्पूर्ण बोध क्षेत्र में ऐसी ही उथल-पुथल मच जाएगी। जिसे नष्ट होना मान बैठते हैं वह रूप, परिवर्तन मात्र प्रतीत होगा, जिसे आज अपना बेटा, अपनी पत्नी मानते हैं यह अतीत का अपना भाई, मित्र या शत्रु भी है। यह स्पष्ट दिखजाने पर रिश्तों के प्रति वर्तमान दुराग्रही मोह टूट जायेगा,क्योंकि वह एक मूर्खता पूर्ण भ्रान्ति मात्र है, यह स्पष्ट हो जाएगा।

यह सब अत्यन्त निकट है। रूसी वैज्ञानिक एलेक्जेन्डर बोलेगोव का कहना है कि यह सुनिश्चित सम्भावना है। उनके अनुसार 'आर्कियोविडियोफोन, नामक एक संयंत्र निर्मित किया जा सकता है, जो टेलीविजन सेट जैसा यह संयन्त्र जिस व्यक्ति के पास होगा वह व्यक्ति अपने परिवार सम्बन्धी मित्रों या सम्बन्धियों के छाया चित्रों आदि के आधार पर अपने दादाओं, परदादाओं की आकृतियाँ इस संयन्त्र के पर्दे पर देख सकेगा। और उनसे वार्तालाप भी कर सकेगा। यह हुई काल के चतुर्थ आयाम के बोध की एक करामात।

पाँचवें आयाम में मस्तिष्क और चेतना के अकल्पित क्रिया, व्यापार सम्भव होंगे। उस आयाम की खोज से आत्माओं की अवधारणा भी विज्ञान के सामने स्पष्ट हो सकती है तथा अनन्त लोकों की नवीन जानकारियों का द्वार खुल सकता है। अभी हमें विश्व की जानकारी जितनी है, उसमें यान्त्रिक माध्यमों में उच्चतर आयाम के अन्वेषण की विधि ज्ञात नहीं है। किन्तु मानव जाति ऐसी मन:नियन्त्रण की शक्ति अर्जित, विकसित कर सकती है जिससे कि उक्त नवीन आयाम का बोध प्राप्त हो सके भले ही यान्त्रिक उपकरण वैसे सुलभ या सम्भव न हो सकें।

भारतीय मनीषियों ने मन की ऐसी ही साधना कर चेतना के विविध आयामों का बोध प्राप्त किया था। पंचकोष इन्हीं पांच चेतना आयामों के ही नाम हैं। शरीरस्थ इन पाँच आणविक विद्युत् भण्डारों को अन्तरिक्ष में असंख्य शक्तिधाराओं के साथ सम्बन्ध जोड़ने वाल शक्तिशाली इलेक्ट्रॉनिक संयन्त्र के रूप में प्रयुक्त कर ज्ञान और शक्ति का अनन्त विस्तार किया जा सकता है। मनुष्य में समस्त देवशक्तियों का अंश विद्यमान है, अत: वह अपने भीतर निहित इनमें से किसी भी शक्ति का अथवा सभी ताकि अनेक शक्तियों के समन्वित स्वरूप का विकास कर सकता है। पदार्थवाद अभी तक इस मार्ग में बाधा बनने का प्रयास कर रहा था। अब वही इस मार्ग का नया व्याख्याकार बनने जा रहा है।

आइन्स्टाइन चतुर्थ आयाम से भी आगे एक पंचम आयाम की सम्भावना देखते हैं। चतुर्थ आयाम के अस्तित्व को अतीन्द्रिय ज्ञान की अंसख्य घटनाऐं प्रमाणित करती रहती हैं। प्रेत शरीर के बारे में स्वप्नों को सही संकेतों के रूप में- दूर-दर्शन, दूर श्रवण, विचार संचार आदि के रूप में हम अदृश्य जगत की सत्ता को प्रत्यक्ष वत् देखते हैं। यह चौथे आयाम की पुष्टि है। पाँचवा आयाम वह है जिसमें ब्रह्माण्डीय चेतना और आत्म-चेतना को परस्पर सम्बन्ध करके मानवी सत्ता को ईश्वर तुल्य बनाया जा सकना और उतना ही शक्ति सम्पन्न सिद्ध कर सकना सम्भव हो जाएगा। प्रति विश्व, प्रति कण आदि के रूप में ही संसार से बिल्कुल सटे एक ऐसे विश्व का अस्तित्व अगले दिनों सिद्ध होने जा रहा है जिसे पौराणिक काल के दैत्य लोक के समतुल्य कहा जा सके। यह क्षेत्र भी पंचम आयाम की परिधि में आ जाएगा।

संक्षेप में आयामों को स्थूल और सूक्ष्म प्रकृति का क्षेत्र कह सकते हैं। स्थूल की अनुभूतियाँ स्थूल शरीर सूक्ष्म उपकरणों से होती है, सूक्ष्म के लिए मस्तिष्क प्राण जैसे उच्चस्तरीय चेतना युक्त औजार प्रयुक्त करने पड़ते हैं।

पांचवा आयाम विशुद्ध चेतनात्मक है उसे ब्रह्माण्डीय चेतना के साथ जीव चेतना के साथ जोड़ने की और उस स्थिति का असाधारण लाभ उठाने की प्रक्रिया कहा जा सकता है। आत्मा और परमात्मा का मिलना कितना आनन्ददायक कितना शक्तिशाली कितना प्रभावोत्पादक हो सकता है, इसकी आज की समुचित चर्चा कर सकना भी अपनी भौतिक मन:स्थिति में सम्भव नहीं है। पर तत्वज्ञानी सूक्ष्म दर्शी उसका रसास्वादन कर रहे हैं। इसी आधार पर वे देवात्मा बने हैं और दूसरों को अपनी नाव पर बिठाकर पार लगाया है।

पाँच कोश इन्हीं पाँच आयामों का प्रतिनिधित्व करते हैं। पंचकोशी साधना का महत्त्व इसी दृष्टि से है

कि हम जड़ के भीतर हर क्षेत्र में काम कर रहे चेतन के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ सकें। पदार्थ का स्थूल उपयोग कर सकना ही पर्याप्त नहीं, उसकी मूल सत्ता को हस्तगत किया जा सके तो ही वास्तविक लाभ है। पांच कोशों में प्रथम विशुद्ध पदार्थ परक है। दूसरे को पदार्थ का ऊर्जा क्षेत्र कह सकते हैं। प्रथम अन्नमय और दूसरा प्राणमय कोश है।

आगे चेतना क्षेत्र आरम्भ होता है व्यक्ति का ज्ञान क्षेत्र दो भागों में विभक्त है एक ज्ञात, दूसरा अविज्ञात। ज्ञात को मनोमय कोश कहते हैं। उसका प्रशिक्षण सम्वर्धन, उपयोग, विचार-विमर्श एवं बौद्धिक आदान प्रदान से सम्भव हो जाना है। उस क्षमता के विकसित होने पर मनुष्य बुद्धिमान कहा जाता है और बुद्धि शक्ति के सहारे जो लाभ मिल सकते हैं, उन्हें उठाता है इसे मनोमय कोश समझा जाना चाहिए।

विज्ञानमय कोश मन: चेतना की गहरी परत है। 'चित्त' और 'अहंकार' के रूप में इसी की व्याख्या की जाती है। अतीन्द्रिय क्षमता का क्षेत्र यही है। सूक्ष्म जगत में प्रवेश करके अपने संसार की कारण भूत स्थिति के साथ सम्बन्ध जोड़ सकना इसी आधार पर सम्भव होता है। सिद्ध पुरुष इसी प्रक्रिया में प्रवीण होते हैं। ऋषि-सिद्धियाँ यही से उपलब्ध होती हैं।

व्यक्ति सत्ता का एक वर्गीकरण स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर के रूप में भी होता रहा है। पंच तत्वों से बना और प्रत्यक्ष होने के कारण यही अपना काम काजी शरीर स्थूल कहलाता है। प्राण शक्ति की इसी को सामर्थ्य है। इसलिए अन्नमय और प्राणमय कोशों का सम्मिलित स्वरूप स्थूल शरीर कहा जाता है। मनोमय कोश और सूक्ष्म शरीर पूर्णतया एक ही हैं कारण शरीर को विज्ञानमय कोश समझा जाना चाहिए। भाव सम्वेदना का, मस्तिष्क की अतीन्द्रिय चेतना का समावेश यही है। आनन्दमय कोश का उतना अंश इसी क्षेत्र में आता है जिसमें जीव-सत्ता और परम-सत्ता के मिलन की आत्म साक्षात्कार, ब्रह्म साक्षात्कार जैसी दिव्य अनुभूतियाँ होती हैं। स्थिति प्रज्ञ, अबधूत, ब्रह्मज्ञानी, तत्वदर्शी, जीवनमुक्त इसी स्थिति में परिपक्व होते हैं।

गायत्री के पाँच मुख- पांच कोशों के प्रतीक हैं। इस साधना को पूरी करते हुए हम पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचते हैं। इन्हें परीक्षा के पाँच वर्ग एवं स्तर कह सकते हैं। विज्ञान के क्षेत्र में इन्हीं की पाँच आयामों के रूप में व्याख्या की जाती है। आत्मिक प्रगति के पथ पर हम जितने-जितने आगे बढ़ते हैं, उतने ही उतने दिव्य विभूतियों से सुसम्पन्न बनते चले जाते हैं। उसे देव शक्तियों का अनुग्रह कहें या देवमाता की साधना प्रतिफल बात एक ही है।

इन पांच कोशों एवं देवताओं की पांच सिद्धियाँ हैं- अन्नमय कोश की सिद्धि से निरोगता, दीर्घ जीवन एवं चिर यौवन का लाभ है। प्राणमय कोश से साहस, शौर्य, पराक्रम, प्रभाव, प्रतिभा जैसी विशेषताऐं उभरती हैं। प्राण विद्युत् की विशेषता से आकर्षक चुम्बक व्यक्तित्व में बढ़ता जाता है। और प्रभाव क्षेत्र दर्शिता, बुद्धिमत्ता बढ़ती है और उतार चढ़ावों में धैर्य संतुलन बना रहता है विज्ञानमय कोश से सज्जनता का उदार सहृदयता का विकास होता है। और विज्ञानमय कोश से सज्जनता का उदार सहृदयता का विकाश होता है और देवत्व की विशेषताएं उभरती हैं। अतीन्द्रिय ज्ञान अपरोक्षानुभूति दिव्यदृष्टि जैसी उपलब्धियाँ विज्ञानमय कोश की हैं। आनन्दमय कोश के विकास से चिन्तन तथा कर्तृत्व दोनों ही इस स्तर के बन जाते हैं। कि हर घड़ी आनन्द छाया रहे संकटों का सामना ही न करना पड़े। ईश्वर दर्शन, आत्म साक्षात्कार स्वर्ग मुक्ति जैसे महान उपलब्धियाँ आनन्दमय कोश की ही देन हैं।

जागरण एवं अनावरण शब्द पंच कोशों के परिष्कार की साधन में प्रयुक्त होते हैं। इन प्रसुप्त संस्थानों को जाग्रत सक्रिय सक्षम बनाकर चमत्कार दिखा सकने की स्थिति तक पहुँचा देना जागरण है। अनावरण का तात्पर्य है आवरणों का हटा दिया जाना। किसी जलते बल्ब के ऊपर कई कपड़े ढंक दिए जायें तो उसमें प्रकाश तनिक भी दृष्टिगोचर न होगा। इन आवरणों की एक -एक परत उठाने लगें तो प्रकाश का आभास क्रमश: बढ़ता जाएगा। जब सब पर्दे हट जायेंगे। तो बल्व अपने पूरे प्रकाश के साथ दिखाई पड़ने लगेगा। आत्मा के ऊपर इन पांच शरीरों के- पाँच आवरण पड़े हुए हैं उन्हीं को भव बन्धन कहते हैं इनके हट जाने या उठ जाने पर ईश्वर दर्शन, आत्म साक्षात्कार, एवं बन्धन मुक्ति का लाभ मिलता है।

चेतना के पाँच आयाम-पंच कोश उपासना

मानवी सत्ता को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-काया और चेतना। शरीर पंचतत्वों से बना है-वायु, जल, आकाश, अग्नि और पृथ्वी। इन पाँचों के समन्वय-सन्तुलन पर शरीर का अस्तित्व बना रहता है। सभी की, शरीर में अपनी उपयोगिता एवं महत्ता है। शरीर संस्थान् को स्वस्थ एवं आरोग्य बनाए रखने में इन पंचतत्वों की असाधारण भूमिका होती है। पंचतत्वों के अनुदान पर ही शरीर पुष्ट बना रहता है।

अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ दूसरा पक्ष चेतना का है। जो शरीर की अपेक्षा अधिक सामर्थ्यवान एवं सूक्ष्म है। आत्मसत्ता भी पंच आवरणों से लिपटी पड़ी है। चेतना के ए पाँच दिव्य कोश हैं। जिनमें एक से एक बढ़ कर सम्भावनाऐं निहित हैं। इन पाँच कोशों में पाँच देवसत्ताऐं निवास करती हैं।

कोश कहते हैं खजाने या आवरण को। मानवी सत्ता में पाँच अत्यन्त बहुमूल्य रत्न भण्डार छिपे पड़े हैं। इन्हें खोज निकालने से जो लाभ मिलते हैं उन्हें प्रसिद्ध पंच देवताओं का अनुग्रह बरसने के समतुल्य माना गया है। भवानी, गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, महेश यह पाँच देवता माने गए हैं। यह देव शक्तियाँ ब्रह्माण्ड व्यापी भी हैं और कायसत्ता में भी उनके केन्द्र संस्थान विद्यमान हैं। भीतर और बाहर दोनों ही जगह उसका अस्तित्व छोटे और बड़े आकार में विद्यमान हैं। कोश विज्ञान के अनुसार जीवन सत्ता का विभाजन पाँच वर्गो में हुआ है-(१) अन्नमय कोश (२) प्राणमय कोश (३) मनोमय कोश (४) विज्ञानमय कोश और (५) आनन्दमय कोश। यह सामान्यतया मूर्छित, प्रसुप्त स्थिति में पड़े रहते हैं। बीज के भीतर भी वृक्ष बनने की क्षमता तो आरम्भ से ही विद्यमान रहती है पर वह प्रकट तभी होती है जब उसे विधिवत् बोया उगाया जाता है। पाँचकोश भी तिजोरी के भीतर पाँच तालों के भीतर सम्पत्ति की तरह समझे जा सकते हैं। ऊपरी परतों की अपेक्षा नीचे की परतें अधिक बहुमूल्य हैं एवं स्तर के अनुरूप वे एक के बाद एक ऊँचे होते चले गए हैं। तद्नुरूप उनकी शक्तियाँ एवं सिद्धियाँ भी अधिक उच्चस्तरीय अधिक महत्त्वपूर्ण होती चली गई हैं।

मानवी सत्ता जड़ शरीर और चेतन आत्मा के समन्वय से बनी है। इन दोनों खण्डों के पाँच-पाँच भाग हैं। शरीर के जड़ पदार्थ को तत्व कहते हैं। तत्व पाँच हैं-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश। जीवन चेतना को प्राण कहते हैं। प्राण के पाँच भाग हैं। प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान। पाँच तत्व और पाँच प्राणों के समन्वय से पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ बनी हैं। पदार्थों की इन्द्रियों द्वारा जो अनुभूति होती है। उन्हें तन्मात्राऐं कहते हैं। तन्मात्राऐं पाँच हैं-शब्द, रूप, रस, गन्ध स्पर्श। इन्हीं का विस्तार काय कलेवर में दृष्टिगोचर होता है। इसी को प्रपंच कहते हैं। प्रपंच में फँसा हुआ प्राणी बद्ध और उससे छुटा हुआ मुक्त कहलाता है।

इस तरह पंच-कोशों को पंच तत्वों और पंच प्राणों के समन्वय से बनी हुई ऐसी अदृश्य सत्ता कह सकते हैं, जो शरीर के आकार प्रकार की तो होती है, पर उसमें स्थूल का अंश बहुत स्वल्प और सूक्ष्मता की मात्रा अत्यधिक रहती है। इन शरीरों का मोटा अनुमान प्रेत शरीर या छाया पुरुष से लगाया जा सकता है। 'छाया पुरुष' जीवित स्थिति में ही शरीर के साथ-साथ रहता है। तान्त्रिक विधि से उसे सिद्ध कर लेने पर वह अदृश्य साथी सेवक का काम देता है। शरीर में ठोस पदार्थ अधिक होने से वह भारी रहता है और दौड़ धूप नहीं कर सकता। छाया पुरुष हलका और अदृश्य होने के साथ-साथ ऐसी विशेषताओं से युक्त भी होता है कि जो बहुत प्रयत्न करने पर किसी प्रकार पाई जगाई जाती है। छाया पुरुष परिपक्व सूक्ष्म शरीर भी कहा जा सकता है।

अंग्रेजी में इसे "ईथरीक डबल" कहते हैं। पंचकोश विज्ञान की दृष्टि से इसे अन्नमय कोश कहा जाएगा। एक दूसरा उदाहरण प्रेत का है। मरने के बाद काया तो नष्ट हो जाती है पर उसकी प्राणवान छाया पीछे भी बनी रहती है। स्वर्ग नरक जैसे सुख-दुःख भुगतने की अनुभूति उसे होती है। मरने से पूर्व के मित्र-शत्रुओं के प्रति राग-द्वेष उसे बना रहता है। स्वभाव संस्कार भी वैसे ही बने रहते हैं। उत्तेजित, अशान्त प्रेत उपद्रव करते हैं किन्तु सौम्य स्वभाव वाले शान्तिपूर्वक विश्राम करते हैं। यह स्थिति भी अन्नमय कोश की ही है। छाया पुरुष और प्रेतात्मा के अस्तित्व का परिचय प्रायः मिलता रहता है।

आगे के चार शरीर अन्नमय कोश की तुलना में उसी अनुपात में सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम हो चले गए हैं जिन्हें स्थूल शरीर की तुलना में अदृश्य प्रेत शरीर कह सकते हैं। इन अधिक सूक्ष्म शरीरों को क्रमशः अगले कोश कहा जाएगा। अन्नमय कोश को अँग्रेजी में "फिजीकल बॉडी," कहते हैं। 'बॉडी' का अर्थ मोटे अर्थ में प्रत्यक्ष शरीर ही समझा जाता है पर आध्यात्म की परिभाषाऐं सूक्ष्म शरीर से आरंम्भ होती हैं। इसलिए इसे वस्तुतः वह

पाँच कोशों के विभाजन को तीन वर्गीकरण में भी प्रस्तुत किया गया है। स्थूल, सूक्ष्म, और कारण यह तीन शरीर बताए गए हैं। उन्हें त्रिपदा गायत्री कहा जाता है। स्थूल शरीर में अन्नमय और प्राणमय कोश आते हैं। पंच तत्वों और पाँच प्राणों का इमसें समावेश है। सूक्ष्म शरीर में मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश सन्निहित हैं। इन दोनों को चेतन मस्तिष्क और अचेतन मानस कह सकते हैं। कारण शरीर में आनन्दमय कोश आता है। विज्ञजनों ने इस विवेचन में यात्किंचित मतभेद भी व्यक्त किया है, पर वस्तु स्थिति लगभग जहाँ की तहाँ रहती है। चेतनात्मक परिष्कार के लिए इन पाँच संस्कारों की आवश्यकता होती है। जिन्हें पंचकोशी गायत्री साधना के नाम से जाना जाता है। इसे 'ब्रह्मविद्या' पक्ष कहना चाहिए। ऋतम्भरा प्रज्ञा तत्व दृष्टि विकसित करने के लिए इस आधार का अवलम्बन करना होता है।

वस्तुतः मनुष्य में समस्त देव शक्तियों का अंश विद्यमान है। अतः वह अपने भीतर निहित इनमें से किसी भी शक्ति का अथवा सभी या अनेक शक्तियों के समन्वित स्वरूप का विकास कर सकता है। पदार्थवाद अभी तक इस मार्ग में बाधा बनने का प्रयास कर रहा था। अब वही इस मार्ग का नया व्याख्याकार बनने जा रहा है।

विज्ञान की भाषा में अन्नमय कोश को "मैटर", प्राणमय कोश को "सेल", मनोमय कोश को "माइण्ड" विज्ञानमय कोश को "पर्सनालिटी" तथा आनन्दमय कोश को "इण्ट्यूशन" कहा जा सकता है। "मैटर" के बारे में विज्ञान उल्लेखनीय जानकारियाँ जुटाने में सफल हुआ है। आवश्यकता है "पर्सनालिटी" और "इनट्यूसन" के क्षेत्र में अधिकाधिक अन्वेषण प्रगति की। सामान्य मानसिक क्रियाशीलता की सभी गतिविधियाँ ऐन्द्रिक अनुभव द्वारा नहीं जानी जा सकतीं। फिर चेतना के उच्चतम आयामों के लिए तो ऐन्द्रिक अनुभव-परक उपकरणों की सीमाऐं स्पष्ट हैं।

विज्ञानवेत्ता अभी तक चार आयामों तक ही पहुँच पाए हैं। इस चतुर्थ आयाम के अस्तित्व की अतीन्द्रिय ज्ञान की असंख्य घटनाऐं प्रमाणित भी करती रहती हैं। प्रेत शरीर के रूप में या स्वप्नों के सही संकेतों के रूप में अथवा दूर-दर्शन, दूर श्रवण, विचार संचार आदि के रूप में हम अदृश्य जगत की सत्ता को प्रत्यक्षवत् देखते हैं। यह चौथे आयाम की पुष्टि है।

पाँचवा आयाम वह है जिसमें ब्रह्माण्डीय चेतना और आत्म चेतन को परस्पर सम्बद्ध करके मानवी सत्ता को ईश्वर तुल्य बनाया जा सकना और उतना ही शक्ति सूक्ष्म शरीर ही समझा जाना चाहिए। जो स्वप्न प्राण विनियोग आदि में काम आता है, जो मन मस्तिष्क के रूप में अपना अस्तित्व बनाए हुए हैऔर जीवनयापन की हर प्रक्रिया में प्रायः साथ-साथ ही रहता है। उससे आगे के प्राणमय कोश को 'ईथरीक बॉडी' मनोमय कोश को 'एस्ट्रल वॉडी' विज्ञानमय कोश को 'कास्मिक वॉडी' और आनन्द मय कोश को कांजलवॉडी कहते हैं। इन पाँचों को मिला कर एक पूर्ण मानवी सत्त बनती है। इनमें एक के बाद दूसरे की महत्ता तथा समर्थता अपेक्षाकृत अधिक होती चली गई है। साधना करने और इनमें से प्रत्एक में एक से एक अधिक ऊँचे स्तर की शक्तियाँ-सिद्धियाँ मिलती चली जाती हैं। इसी आधार पर उन परतो को शरीरस्थ पाँच देवताओं की संज्ञा दी गई है और कहा गया है कि इन्हें जीवित कर लेने वाला पाँच देवताओं के साथ रहने वाला अथवा उन्हें साथ रखने वालों की स्थिति में पहुँच जाता है।

पूजा में पंचामृत का, पंचोपचार का,-पंचगव्य का प्रसंग आता है। तपस्वी पंचाग्नि तपते हैं। पंचकेश रखाते हैं, रत्नों में पाँच प्रमुख हैं उन्हें पंचरत्न कहते हैं। वस्त्र दान में पाँचों कपड़े देने की व्यवस्था बनाई जाती है। पंचायत शब्द इसीलिए बना है कि उसमें पाँच पंचों का प्रचलन था। राम पंचायत के चित्र सभी ने देखे हैं। कई देवताओं के भी गायत्री की तरह ही पाँच मुख हैं। पाँच मुख के शंकर जी तथा पाँच मुख वाले हनुमान जी की अनेक मूर्तियाँ अनेकों मन्दिरों में प्रतिष्ठित हैं। आयुर्वेद में कई जड़ी बूटियों के पंचांग काम में आते हैं। ग्रहगणित बताने वाले सभी पण्डितों के पास पंचांग रहता है। वेदान्त साधना में पंचीकरण विद्या का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है। इस सब की समता गायत्री की पंचमुखी आकृति और पंच कोशी साधना से की जा सकती है। महर्षि पंचशिख ने आध्यात्म तत्व ज्ञान के जिन रहस्यों का प्रकटीकरण किया है, वे पंच कोशों के अनावरण से उपलब्ध होने वाले ज्ञान विज्ञान का ही संकेत करते हैं। यह पाँच अग्नि शिखाऐं-पाँच ज्वालाऐं-पाँच कोशों में सन्निहित दिव्य क्षमताऐं ही समझी जा सकती है।

पाँच कोशों के पाँच देवताओं का पृथक् से भी वर्णन मिलता है। अन्नमय कोश का- सूर्य, प्राणमय का-यम, मनोमय का- इन्द्र, विज्ञानमय का-पवन और आनन्दमय कोश का देवता-वरुण माना गया है। कुन्ती ने इन्हीं पाँचों देवताओं की साधना करके पाँच पाण्डवों को जन्म दिया था। वे देवपुत्र कहलाए।

सम्पन्न सिद्ध कर सकना सम्भव हो जाएगा। प्रति विश्व, प्रति कण आदि के रूप में ही संसार से बिलकुल सटे एक ऐसे विश्व का अस्तित्व अगले दिनों सिद्ध होने जा रहा है जिसे पौराणिक काल के दैत्य लोक के समतुल्य कहा जा सके। यह क्षेत्र भी पंचम आयाम की परिधि में ही आ जाएगा।

संक्षेप में आयामों को स्थूल और सूक्ष्म प्रकृति का क्षेत्र कह सकते हैं। स्थूल की अनुभूतियाँ स्थूल शरीर और सूक्ष्म उपकरणों से होती हैं, सूक्ष्म के लिए मस्तिष्क प्राण जैसे उच्चस्तरीय चेतना युक्त औजार प्रयुक्त करने पड़ते हैं।

अतीन्द्रिय क्षमताऐं मनुष्य के मस्तिष्क केन्द्र में उत्पन्न होती हैं। वे आती इसी अपने संसार के अदृश्य क्षेत्र से हैं। इसलिए यह सब प्रकृति का अदृश्य अविज्ञात क्षेत्र कहा जा सकता है। सामान्य प्रचलन में न रहने वाली हर बात अद्भुत लगती है। चतुर्थ आयाम के आश्चर्यजनक लगने का भी यही कारण है।

पाँचवा आयाम विशुद्ध चेतनात्मक है। उसे ब्रह्माण्डीय चेतना के साथ, जीव-चेतना के साथ जोड़ने की और उस स्थिति का असाधारण लाभ उठाने की प्रक्रिया कहा जा सकता है। आत्मा और परमात्मा का मिलना कितना आनन्ददायक, कितना शक्तिशाली, कितना प्रभावोत्पादक हो सकता है, इसकी आज की समुचित चर्चा कर सकना भी अपनी भौतिक मन: स्थिति में सम्भव नहीं है। पर तत्वज्ञानी सूक्ष्मदर्शी उसका रसास्वादन कर रहे हैं। इसी आधार पर वे देवात्मा वने हैं और दूसरों को अपनी नाव पर बिठा कर पार लगाया है।

पंचम आयाम में जीव और शक्ति का, विष्णु और लक्ष्मी का संयोग है। ब्रह्म और प्रकृति का वहाँ समन्वय है। अति सूक्ष्म प्रकृति को शक्ति, लक्ष्मी, दुर्गा, सरस्वती आदि कह सकते हैं। अति सूक्ष्म ब्रह्म को शिव, विष्णु ब्रह्मा आदि कहा जाता है। इन देवी-देवताओं की उपासना से जीव किस स्थिति तक जा पहुँचता है। इसकी चर्चा पौरांणिक कथा-गाथाओं में अलंकारिक रूप से विस्तारपूर्वक होती रही है। वह वस्तु स्थिति है। बुद्धिवाद और प्रयोगवाद भले ही अपने स्वल्प साधनों से उस स्थिति का अनुभव न कर सकें फिर भी संवेदनाओं और अनुभूतियों के क्षेत्र की विशिष्टता अस्वीकार नहीं की जा सकती। नर-पशुओं और नर-नारायणों के बीच देखा जाने वाला अन्तर भी अकारण नहीं होता। उसमें पंचम आयाम की विशेषताऐं ही काम कर रही होती हैं।

पाँच कोश इन्हीं पाँच आयामों के प्रतिनिधि हैं। गायत्री के पाँच मुख इन्हीं पाँच कोशों के प्रतीक हैं। इन्हें प्रज्ञा के पाँच वर्ग एवं स्तर कह सकते हैं।

यह पाँच कोश आत्मा पर चढ़े हुए आवरण हैं। प्याज की केले की तले की परतें जिस प्रकार एक के ऊपर एक होती हैं। उसी प्रकार आत्मा के प्रकाशवान स्वरूप को अज्ञान आवरण से ढंके रहने वाले यह पाँच कोश हैं। उन्हें उतारते चलने पर कषाय-कल्मष नष्ट होते हैं और आत्म साक्षात्कार का ईश्वर प्राप्ति का परम लक्ष्य प्राप्त होता है। शिव गीता कहती है:-

एवं शान्त्यादियुक्त: सन्नुपास्ते य: सदा द्विज:।।
उद्घाट्योद्धाट्यमेकैकं यथैव कदलीतरो:।।
वल्कलानि तत: पश्चाल्लभते सारमुत्तमम्।।
तथैव पंचभूतेषु मन: संक्रामते क्रमात्।।
तेषां मध्ए तत: सारमात्मानमपि विन्दति।।

इस प्रकार जो साधक चित्त को समाहित करके पंच कोशों की उपासना करता है- उसके अन्त:करण पर से केले के तने जैसी-कषाय-कल्मषों की परतें उतरती चली जाती हैं। उसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है और सार तत्व आत्मा की उपलब्धि सम्भव होती है।

सूक्ष्म शरीर के पाँच कोश एवं उनका वैज्ञानिक विवेचन

ब्रह्माण्डीय चेतना के एक क्षुद्र घटक मानवी काया में जो अभूतपूर्व विलक्षण सामर्थ्य छिपी पड़ी है, उसका परिचय पंचकोशों की रहस्यमयी फलश्रुतियों के रूप में देखने को मिलता है। यह उस विराट् की एक झलक झाँकी भर है। यदि इन्हीं घटकों को विकसित समुन्नत बनाया जा सके तो महाप्राण के इस विशाल महासागर से अपना सम्पन्न सुत्र जोड़कर ऋद्धि सिद्धियों को करतलगत किया जा सकता है। श्रुति के अनुसार पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड में अणु एवं विभु में, काया एवं प्रकृति में चेतन सत्ता के जो भिन्न-भिन्न स्तर एवं स्थितियाँ दिखाई पड़ती हैं, वे सुनियोजित एवं क्रमबद्ध हैं। पाँच विशिष्ट स्तरों के रूप में पंचकोशों की मानवी चेतना का प्रतीक प्रतिनिधि माना जा सकता है। चेतना की कोई स्थूल एनाटामिकल या फिजीकल बनावट नहीं होती। फिर भी ऐसे शक्ति स्रोत मानवी काया में विद्यमान हैं जिनसे श्रुति में वर्णित पंचकोशों के प्रभाव, परिणाम एवं असीम सम्भावनाओं की संगति भली प्रकार बिठाई जा सकती है। इन्हें कोई दुराग्रह युक्त हो उसी रूप में प्रत्यक्ष

अपनी आंखों से देखना चाहे, जिस प्रकार का कि अलंकारिक वर्णन शास्त्र ग्रन्थों में मिलता है तो उसे निराश ही होना पड़ेगा। विवेक दृष्टि का अवलम्बन लेकर समष्टि एवं व्यष्टि के मध्य तारतम्य बिठाने वाले इन पाँच केन्द्रों की महत्ता को समझा जा सकता है, ताकि योग साधनाओं के माध्यम से इन्हें विकसित कर आत्मिक प्रगति की दिशा में आगे बढ़ा जा सके।

जिन शरीरगत स्थूल संरचनाओं से इन पाँच कोशों को सम्बद्ध माना जाता है, वे सभी स्वयं में एक परिपूर्ण शक्ति संस्थान हैं। इन्हें उत्तेजित करने पर जो फलश्रुतियाँ सम्भावित हैं, उन्हीं को ध्यान में रखते हुए योग विद्या के वेत्ताओं ने उनका सम्बन्ध पंचकोशों से जोड़ा है एवं उन्हीं को स्थूल काया में चेतन शक्तियों का प्रतिनिधि करने वाला माना है।

एक तथ्य यही स्पष्ट समझ लिया जाना चाहिए कि चेतना का विशाल महासागर की अन्वेषण बुद्धि की बोध की परिधि में आने वाला आभास भर है। बोध रूपी यह चतुर्थ आयाम मानव मेधा को उस परोक्ष जगत की एक झलक भर देता है। समग्र सम्पूर्ण जानकारी नहीं। चौथे आयाम सम्बन्धी विभिन्न वैज्ञानिक खोजें ऐसा आश्वासन अवश्य दिलाती हैं कि प्रगति क्रम में क्रमश: वह विद्या खोज निकाल ली जाएगी जिससे और भी गहरे प्रवेश कर चेतना की सूक्ष्म परतों का रहस्योद्‌घाटन सम्भव हो सके। अभी लेसर एवं होलो-ग्राफी के आविष्कार ही अपनी चमत्कृतियों के रूप में वैज्ञानिकों को हतप्रभ कर रहे हैं तो चतुर्थ आयाम तो उन्हें मनुष्य की सूक्ष्म आध्यात्मिक संरचना के सम्बन्ध में बहुमुखी जानकारी दे सकेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

पंचकोश सूक्ष्म है। सूक्ष्म अर्थात अप्रत्यक्ष-अदृश्य। किन्तु इस प्रकार की व्याख्या प्रत्यक्षवादी भौतिक विज्ञान को मान्य नहीं। वे ऐसे प्रतिपादनों को काल्पनिक और अप्रामाणिक मानते हैं। अस्तु ! प्रत्यक्षवादी अध्यात्म विज्ञान ने शरीर संरचना विज्ञान के अनुरूप ही पंचकोशों के प्रभाव क्षेत्र और परिणामों को देखते हुए प्रत्यक्ष शरीर में पंचकोशों की उपस्थिति बतायी है और उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव में आ सकने योग्य कहा है।

अन्नमय कोश की चमत्कारी हॉर्मोन ग्रन्थियों से, प्राणमय कोश की जैव विद्युत् संस्थान से, मनोमय कोश की जैव चुम्बकत्व से, विज्ञानमय कोश की न्यूरोह्यूमरल रस स्रावों (स्नायु रासायन) से तथा आनन्दमय कोश की मस्तिष्क मध्य अवस्थित रेटीकुलर ऐक्टीवेटिंग सिस्टम रूपी विद्युत् स्फुलिगों के फब्बारे से संगति बिठाई जाती है। वस्तुत: ये सभी घटक स्थूल जान पड़ते हुए भी जादुई क्षमताओं से भरे पूरे हैं। इनकी कार्य पद्धति और परिणति वैसी सीधी सादी नहीं है। जैसी कि पाचन तन्त्र, श्वसन तन्त्र आदि की होती है। इन केन्द्रों को यदि उपेक्षित पड़ा रहने दिया जाए, उनके उत्कर्ष का उपाय विदित न हो तो बात दूसरी है। अन्यथा व्यक्ति इन्हीं के सहारे उन ऋद्धि सिद्धियों का अधिष्ठाता बन सकता है। जो प्रत्यक्ष हैं। जो सामान्य को असामान्य बनाती हैं।

व्यक्ति की सूक्ष्म सत्ता का वर्गीकरण तीन शरीरों के रूप में स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरों में किया जाता रहा है। आत्मिकी की व्याख्यानुसार अन्नमय एवं प्राण मय कोशों का समुच्चय ही स्थूल शरीर है। हॉर्मोन ग्रन्थियों से स्रवित जादुई सूक्ष्म द्रव्यों एवं बायो इलेक्ट्रिसिटी की चमत्कारी क्षमताओं से भरी यह काया कितनी विलक्षण सामर्थ्यवान है, इसका आभास इन्हें विकसित करने पर उपलब्ध होने वाली सिद्धियों से मिलता है। मनोमय कोश जैव चुम्बकत्व का भण्डारगार है। यह प्रभामण्डल के रूप में मनुष्य के चारों ओर तेजोवलय का घेरा बनाता है। सायकिक हीलिंग, सम्मोहन की प्रभाव सामर्थ्य एवं शक्ति हस्तान्तरण के रूप में इसकी परिणतियाँ देखी जा सकती हैं। इसे सूक्ष्म शरीर का पर्यायवाची माना जा सकता है। यही थियोसॉफिस्टों द्वारा बतायी गई मेण्टल बॉडी है जो अपनी प्राण शक्ति की सामर्थ्य से दूसरों को प्रभावित करने की सामर्थ्य रखती है।

कारण शरीर विज्ञानमय कोश एवं आनन्दमय कोश को सम्मिलित रूप से माना जा सकता है। स्नायु समुच्चय के सन्धि स्थलों (सिनेप्सों) से सुषुम्ना, मस्तिष्क एवं ऑटोनॉमिक नर्वस सिस्टम के भिन्न-भिन्न महत्त्वपूर्ण केन्द्रों पर स्रावित होने वाले स्नायु रसायनों (न्यूरो ह्यूमरल सिक्रीशन्स) एवं थेलेमस मध्य स्थित रेटीकुलर एक्टीवेटिंग सिस्टम को क्रमश: विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोशों का प्रतीक रूप माना जा सकता है। यह सारी संरचना इतनी जटिल किन्तु विलक्षण सामर्थ्यों से भरी पूरी है कि उनकी स्थूल प्रतिक्रिया मात्र वैज्ञानिकों को हतप्रभ कर देती है। जब योग साधना का अवलम्बन लेकर सूक्ष्म प्रयोगों द्वारा उनमें हलचल उत्पन्न की जाती है तो इसके परिणाम तो और भी अद्‌भुत एवं रहस्यमय होंगे। अभी तक जितना भी कुछ वैज्ञानिक इस सम्बन्ध में जान पाए हैं, वह जानकारी अध्यात्म को विज्ञान सम्मत बनाने के पक्षधर विद्वज्जनों को उत्साहित करने में सफल रही है।

काया के इस सूक्ष्म ढाँचे का विवेचन अन्नमय कोश से ही प्रारम्भ हो रहा है। स्थूल शरीर की सूक्ष्म विशेषताओं एवं दृश्यमान विलक्षणताओं के लिए उत्तरदायी वस्तुतः इसी संस्थान में छिपे घटक हैं। नगण्य सी रसायन की बूँदें कैसे परिवर्तनकारी हलचलें उत्पन्न कर समग्र काया को क्या से क्या बना सकती हैं। इसे इस संस्थान में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। शरीर की आकृति ही नहीं, प्रकृति का निर्धारण भी माइक्रोलिटर की सूक्ष्मतम मात्रा में स्रावित इन रस बूँदों द्वारा किया जाता है।

जो कुछ भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है, उसका कारण तो शरीर संरचना व क्रिया पद्धति से तालमेल बिठाते हुए कहीं न कहीं जोड़ लेते हैं। ऐसे कई अद्‌भुत रहस्यमय-परिवर्तन होते हैं जिनकी संगति रासायनिक हलचलों से बैठती नहीं प्रतीत होती है। वस्तुतः इन रहस्यों की कुंजी सूक्ष्म शरीर से अवस्थित होने के कारण ही प्रत्यक्षवादी विज्ञान कुछ कह पाने में स्वयं को असमर्थ पाता है। हॉर्मोन्स ग्रन्थियों को ही लें लिंग निर्धारण के साथ ही स्वाभाविक पुरुषोचित दृढ़ता, पुसंकत्व स्त्रियोचित कोमलता एवं कामोल्लास की व्यक्ति-व्यक्ति में पाई जाने वाली न्यूनाधिकता इत्यादि का मूलभूत कारण क्या है, यह शीघ्र समझ में नहीं आता। व्यक्तित्व का व अमूल चूल कलेवर इन सूक्ष्म रस स्रावों पर निर्भर है। शरीर विज्ञानी तो इनकी असामान्यता को पैथोलॉजी के स्तर पर ही समझ पाए हैं पर फिजियोलॉजी की परिधि में बने रहकर स्वेच्छा से किन्हीं योग साधनाओं के अवलम्बन से वांछित परिवर्तन सम्भव कैसे हो जाता है, इसका समाधान चिकित्सा वैज्ञानिकों के पास नहीं हैं। वस्तुतः दशाब्दियों पूर्व डा० क्रुकशैन्क ने इन हॉर्मोन ग्रन्थियों को "जादुई ग्रन्थियाँ" कहा था, वह मिथ्या नहीं था।

पीनियल, पीट्यूटरी थायराइट, पैराथाईड थाइमस एड्रीनल्स एवं गोनेड्स के नाम से जाने वाले ए सात ग्रन्थि-समूह जन्म से लेकर मृत्यु तक अपनी भिन्न भिन्न परस्परावलम्बित भूमिका निभाते रहते हैं। व्यक्तित्व के उतार-चढ़ाव, स्वभाव, चिन्तन, दृष्टिकोण इत्यादि का निर्धारण इन्हीं के द्वारा होता है। मनःशास्त्रियों एवं जीव वैज्ञानिकों ने समय समय पर अपनी शोध निष्कर्षों के हवाले से कहा है कि शरीर संरचना सम्बन्धी बहुत कुछ जानकारी होते हुए भी यह कहना कठिन है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में वैचारिक एवं भावनात्मक विकास अलग प्रकार से क्यों होता है? "आकल्ट केमीस्ट्री" एवं "एस्ट्रालॉजीकल कोरिलेशन ऑफ डक्टलेस ग्लैण्ड्स", जैसे ग्रन्थों में विद्वान लेखकों का कहना है कि ब्रह्माण्डीय चेतना सूक्ष्म रूप में अन्तःस्रावी ग्रन्थियों को प्रभावित करती है एवं व्यक्तित्व की विविध क्षमताओं को उभारने में सहायक भूमिका निभाती है। आवश्यक हॉर्मोन्स को बढ़ाना एवं अनावश्यक को कम करना अन्नमय कोश की साधना द्वारा सम्भव है ऐसा योग वेत्ताओं का मत है।

बायो इलेक्ट्रीसीटी एवं प्राणमय कोश या "इथरीक डबल" की परस्पर संगति समझने के पूर्व जैव विद्युत् के सम्बन्ध में कुछ प्राथमिक तथ्य समझ लेना जरूरी है। इसे जैव चुम्बकत्व से कुछ हटकर समझना चाहिए जो प्रभा-मण्डल बनाता एवं मनोमय कोश से सम्बन्धित माना जाता है। यों शरीर में विज्ञान सम्मस्त ताप, प्रकाश, चुम्बक, विद्युत्, ध्वनि एवं यान्त्रिक छहों ऊर्जाओं के प्रमाण भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न रूपों में पाए जाते हैं। किन्तु प्राणमय कोश को समझने के लिए उसे जैव विद्युत् से भली-भाँति जोड़ते हुए विवेचन किया जाना अनिवार्य है।

शरीर के लगभग सभी ऊतक, जीवकोश प्रबल स्थायी विद्युत् ऊर्जा सम्पन्न पाए जाते हैं। यहाँ तक कि यही सब मिलकर मस्तिष्क रूपी प्रधान कम्प्यूटर का नियन्त्रण सुसंचालन भी करते हैं। लगभग बीस मिली- वोल्ट का स्थाई विद्युत् क्षेत्र तो मस्तिष्क की बाह्य परत के आर-पार स्थाई रूप से पाया जाता है। शरीर में स्थाई रूप से चल रहे अनेकों चक्रों, जो रासायनिक चयापचय (केमीकल मेटाबॉलिज्म) की प्रक्रिया निर्धारित करते है, की तरह एक विधुत चक्र भी चलता है जो रसायनों से बनी काया के सजीव या निर्जीव होने का कारण बनता है। ऑक्सीजन हम श्वास से भीतर सोखते व कार्बन डाइऑक्साइड प्रश्वास द्वारा प्रदूषित वायु के रूप में बाहर निकालते हैं। यह ऑक्सीजन जितनी देर शरीर में परिभ्रमण करती है, ऋण आयनों द्वारा जीवकोशों को ऊर्जा, प्रदान करती है। लगभग इसी प्रकार वायुमण्डल में संव्याप्त विद्युत्आवेश को हर व्यक्ति फेंफड़ों एवं त्वचा के मार्ग से अवशोषित करता है। वातावरण में विद्युत् विभव सौर ऊर्जा कास्मिक किरणों और भूमण्डल की स्वाभाविक रेडियो धर्मिता से विनिर्मित होता है। ए सूक्ष्माणु ऋण विभव धारण किए होते हैं एवं वायुमण्डल में ५ वोल्ट प्रति मीटर के औसत से आयनोस्फियर की निचली परत में विद्यमान होते हैं। मानव शरीरमें प्रवाहित विद्युत्धारा लगभग दस पिको ऐम्पियर की ताकत की होती है। इस अल्प मात्रा में प्रवाहित विद्युत् की सामर्थ्य कितनी प्रचण्ड होती है, यह सहज ही जाना नहीं जा सकता।

फ्राँस की स्ट्रासबर्ग यूनिवर्सिटी के चिकित्सा विज्ञानी श्री फ्रेड बेलेस ने अपनी पुस्तक "द बायोलॉजीकल कण्डीन्शस क्रिएटेड बॉय द इलेक्ट्रीकल प्रापर्टीज ऑफ एटमॉस्फीयर" में विभिन्न प्रयोगों के माध्यम से काया में प्रविष्ट व उससे उत्सर्जित होने वाले प्रवाह को मापा व इस विद्युत् चक्र के कारण मनुष्य को एक चलता-फिरता बिजली घर माना है। शरीर में लगभग पिचत्तर हजार अरब कोश हैं एवं सभी में विद्युत् ऊर्जा विद्यमान है। प्रत्एक कोशिका के आस-पास ६० से ९० मिली वोल्ट का विद्युत् विभव पाया जाता है। हर सेल एक बैटरी है व सम्पूर्ण शरीर इनका समुच्चय । हर सेल एक विद्युत् सन्धारक (कैपेसीटर) है एवं सम्पूर्ण शरीर एक समग्र कम्प्यूटराइज्ड उपकरण । लगभग एक सेमी कण्डक्टर या इन्टीग्रेटेड सर्किट (आय० सी०) के समकक्ष हर कोश झिल्ली मानवी काया को विद्युत्भण्डार का स्वरूप दे देती है। भौतिकी का यह विवेचन क्लिष्ट होते हुए भी शरीर की सूक्ष्म संरचना को समझने के लिए अनिवार्य भी है।

त्वचा, जननेन्द्रिय, आँखों व चेहरे से यह विद्युत्ऊर्जा निरन्तर उत्सर्जित होती रहती है। त्वचा पर प्रतिरोध मापन (जी० एस० आर०) के माध्यम से इस उत्सर्जन को मापा जा सकता है। हृदय की विद्युत् को इ० सी० जी०, मस्तिष्कीय विद्युत् को ई० ई० जी० व डीप डी० सी० ब्रेन पोटेन्शियल्स के द्वारा तथा आँखों की विद्युत् को इलेक्ट्रोनिस्टेग्मो व रेटीनाग्राम से मापा जाता है। मांसपेशियों की विद्युत् इलेक्ट्रोमायोग्राम द्वारा मापी जा सकती है। एवं नाक व ओठों की विद्युत् को इलेक्ट्रोनेसो लेबियोग्राम द्वारा मापा जा सकना सम्भव है। प्राण शक्ति का यह समुच्चय ही प्राणमय कोश की संरचना करता है। इसमें आने वाली कमीवेशी ही व्याधि का कारण बनती है। समय-समय पर आग के शोले फूटने की तरह शरीर से ज्वाला-चनगारियाँ निकलने, स्वत: जलन (ऑटोकम्बश्चन) के रूप में इनके प्रमाण भी देखे जाते हैं जिनका वर्णन अखण्ड ज्योति में पहले भी किया जाता रहा है। अध्यात्म प्रयोजनों में यह ऊर्जा जीवनी शक्ति का संचय करने एवं अधोगामी प्रवाह को रोककर ऊर्ध्वगामी बनाने की भूमिका निभाती है। क्षरित विद्युत् जब सत्प्रयोजनों में नियोजित होती है तो प्रसुप्त सामर्थ्य, संकल्प बल, इच्छा शक्ति को जगाकर असम्भव कार्य कर दिखाती है। इसका छोटा सा रूप सिद्धियों के रूप में देखा जाता है जबकि यह जल के ऊपर दिखाई देने वाला हिमखण्ड का एक टुकड़ा मात्र है जो मूलभूत सम्पदा है, वह विराट् है, अक्षय है। प्रश्न केवल सुनियोजन का है।

अब तीसरे मनोमय कोश की चर्चा करें जो मानवी चुम्बकत्व की शरीर में सूक्ष्म रूप में प्रतिकृति रूप में विद्यमान है। भूमण्डल व वातावरण में गामा, बीटा, लेसर अल्ट्रावाएलेट, इन्फ्रारेड आदि शक्ति किरणें भिन्न-भिन्न रूपों में क्रियाशील रहती हैं। मानवी काया में इन सबका समुच्चय जैव चुम्बकत्व (बायोमैग्नेटिज्म) के रूप में विद्यमान होता है जो प्रभा मण्डल, सम्मोहन सायकीक हीलिंग (आध्या० मनश्चिकित्सा), शक्ति संचार इत्यादि आध्यात्मिक विभूतियों के रूप में अपने अस्तित्व का परिचय देता रहता है। क्वाण्टा के ब्रह्माण्डव्यापी महासागर में चुम्बकीय बल का ही आधिपत्य है जिसके बलबूते ए ग्रह नक्षत्र परस्पर सन्तुलित क्रियाशील दिखाई देते हैं। चुम्बकीय ऊर्जा मानवी काया में उसी तरह ध्रुवीकरण रूप में विद्यमान है जैसे कि पृथ्वी के दो ध्रुवों में। एक चुम्बक डायपोल (द्विध्रुवीय मैग्नेट) होता है जिसमें उत्तरी व दूसरा दक्षिणी दो सिरे होते हैं। एक उत्तरी सिरा ग्रहण करता है व दूसरा दक्षिणी सिरा चुम्बकीय बल निस्सृत करता है यह एक प्रकार का "इलेक्ट्रोमैग्नेटिक डायपोल" है। मानवी काया में शुक्राणु की सत्ता का आधिपत्य जमते ही डिम्ब में ध्रुवीकरण प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। एवं यही सारे शरीर के ७५ हजार अरब कोशों में इस चुम्बकत्व को फैलाती है। मूलत: यह चुम्बकत्व की शक्ति शरीर के दो ध्रुवों-स्थायी इलेग्ट्रोमैग्नेटिक डायपोल की तरह सुषुम्ना के मूलाधार रूपी दक्षिणी एवं सहस्रार रूपी उत्तरी ध्रुव के रूप में विद्यमान होती है।

पृथ्वी के धुरों पर उसका चुम्बकीय क्षेत्र (मैग्नेटोस्फीयर) सौर हवाओं से टकराकर "ध्रुव प्रभा" (अरोराबोरिएलिस) बनाता है। ठीक इसी प्रकार मानवी चुम्बकत्व अपने उत्तरी ध्रुव पर आभा मण्डल के रूप में विराजमान होता है। आज सम्पन्न मनीषी इसी के सहारे अन्यान्य मनुष्यों की अन्तश्चेतना को परखते व प्राण सम्बल प्रदान करते रहते हैं। डा० किलनर ने इसे "आरा" के रूप में मापा किर्लियन फोटोग्राफी के सहारे ऊँगलियों की पोरों से उत्सर्जित होता पाया। शक्तिपात प्राण संचार, अध्यात्म चिकित्सा, आशीर्वाद इन्हीं प्रक्रिया के सहारे चुम्बकत्व की मात्रा अधिक रखने वाले अन्यान्यों को लाभान्वित करते देखे जाते हैं। मनोमय कोश को साधने में ध्यान योग एकाग्रता की प्रधान भूमिका है।

इच्छा शक्ति के चमत्कार इसी अर्जित जैव चुम्बकत्व की सामान्य से अधिक की मात्रा के बलबूते बन पड़ते हैं।

विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोश अन्तश्चेतना के गहन अन्तराल में निहित वे दिव्य संरचनाऐं हैं जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध ब्राह्मी चेतना से होता है। स्थूल पदार्थ विज्ञान की दृष्टि से तत्ववेत्ताओं ने विज्ञानमय कोश की स्नायु रसायनों (न्यूरोह्यूमरल सिक्रीशन्स) से तथा आनन्दमय कोश की थैलेमस मध्य स्थित मस्तिष्कीय फब्बारे "एसेण्डिन्ग रेटीकुलर एक्टीवेटिं सिस्टम" से संगति बिठाने का प्रयास किया है। दोनों ही संरचनाऐं स्वयं में जटिल व बड़ी रहस्यमय हैं।

विज्ञान का अर्थ है कामकाजी नहीं विशिष्ट ज्ञान। असामान्य प्रज्ञा, प्रतिभा को उभारने वाली परत निस्सन्देह विलक्षण होती है। यह कार्य उन "न्यूरो ट्रासमीटर्स" के जिम्मे आता है जो सामान्य अवस्था में तो सिनेप्सों पर स्नायु संचार भर की भूमिका निभाते हैं किन्तु उत्तेजित किए जाने पर प्रसुप्त केन्द्रों, विलक्षण प्रतिभा केन्द्रों को भी जगाने की सामर्थ्य रखते हैं। ऐसीटाइल कोलीन, मॉर्फीन सलेक्टिव ओपिएट्स (एण्डार्फिन्स),एन्केफेलीन, एडीनोसिन समूह, गाबा, समूह, सिरोटोनिन (५-HT), अल्फा एड्रीनर्जिक बीटा एड्रीनर्जिक एवं मस्केरीनर्जिक कोलीनर्जिक समूह के नाम से ए सारे मस्तिष्क एवं स्नायु तन्त्र से संव्याप्त हैं। मस्तिष्कीय सत्व के दस लाख में से एक भाग का प्रतिनिधित्व करने वाले ए सूक्ष्म रसायन मन की अचेतन चेतन व सुपर चेतन परतों के उत्तेजन द्वारा विलक्षण प्रतिभाओं, आविष्कार बुद्धि, स्वप्नों के माध्यम से सन्देश आदि के रूप में अपनी सक्रियता का परिचय देते रहते हैं। विशिष्ट योग साधनाओं द्वारा इस सारे समुदाय को सक्रिय बनाकर अतीन्द्रीय क्षमताओं का धनी एवं विलक्षण आनन्द की अनुभूति कर सकने में समर्थ योगी बना जा सकता है।

आनन्दमय कोश एवं सहस्रार चक्र परस्पर अन्योन्याश्रित सूक्ष्म संरचना संस्थान के दो नाम हैं जो रेटीकुलर एक्टीवेटिंग सिस्टम के रूप में मस्तिष्क मध्य में अवस्थित होता है। लक्षाधिक न्यूरॉन्स यहाँ शरीर से प्रवेश करते व यहाँ से मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न केन्द्रों को जाते हैं। चेतना की उच्चतर स्थितियाँ इसी विद्युत्स्फुलिंग छोड़ते रहने वाले फब्बारे की सक्रियता पर निर्भर हैं। जो महत्त्व स्नायु रसायनों का है, उससे अधिक इस संस्थान का है जो मनश्चेतना की भिन्न-भिन्न स्थितियों के लिए उत्तरदायी है। वाणी से सम्बन्धित भिन्न-भिन्न केन्द्रों (विजुअल, आडीटरी, स्पोकन, वर्बल, पिश्टन एवं ग्राफिक स्पीच) श्रवण, दृश्य वीक्षण, दिक्काल में सामंजस्य, भूतकाल की स्मृतियाँ आदि सभी मस्तिष्क में कैद हैं। दाहिना मस्तिष्क व उसका पैराइटल कॉर्टेक्स दोनों को जोड़ने वाला कार्पस कैलोसम तथा लिम्बिक सिस्टम विभिन्न विलक्षणताऐं अपने अन्दर समाए हुए है। अभी तो मात्र ७ से १३ प्रतिशत इस पूरे समुच्चय का भाग वैज्ञानिकों को ज्ञात है। जब शेष प्रसुप्त की जागृति-आनन्दमय कोश के जागरण की फलश्रुतियों से वे परिचित होंगे तो मानवी असीम सामर्थ्य एवं ऋद्धि-सिद्धियों के प्रत्यक्ष रूप को देख हतप्रभ हो रहे जाएंगे। बहुत कुछ विलक्षण इस उत्तरी ध्रुव केन्द्र में छिपा पड़ा है। गायत्री की उच्चस्तरीय प्राण साधना कुण्डलिनी जागरण की विधि, व्यवस्था, शिव शक्ति का संगम यहीं बन पड़ता है। मानव के भाव पक्ष को उभारने एवं उसे महामानव-अतिमानव बनाने का पुरुषार्थ यहीं सम्पन्न होता है। भक्ति और शक्ति के समन्वय का प्रतीक आनन्दमय कोश बहुत कुछ रहस्यों को अपने अन्दर समाए हुए हैं। पंचकोशी साधना के अन्तर्गत आने वाले ए पाँचों ही कोश पूर्णतः विज्ञान सम्मत हैं एवं इन्हें प्रयोगों की कसौटी पर कसा भी जा सकता है।

मानवी काया की चेतन सत्ता का वैज्ञानिक विवेचन

वैज्ञानिक अध्यात्मवाद

पिण्ड रूप में समष्टि चेतन सत्ता के एक घटक मानवी काया के स्थूल दृश्यमान रूप को सभी जानते हैं। बहुरंगी बहुमुखी क्रियाकलाप नजर आने के कारण उसकी महत्ता भी सब को समझ में आती है। यही कारण है कि किसी अंग अवयव के व्याधिग्रस्त होने पर लोग बाग दौड़-धूप करते व भाँति-भाँति के उपचारों में लगे देखे जाते हैं।आत्मिकी का सारा ढाँचा इस स्थूल दृश्यमान कायकलेवर पर नहीं, अपितु सूक्ष्म रूप से क्रियाशील चेतना की विभिन्न परतों पर अवलम्बित है। उन्हीं से विनिर्मित है। वे प्रत्यक्ष नजर तो नहीं आतीं पर स्फुट रूप से अपनी गतिविधियों की एक झलक झाँकी स्थूल काया के माध्यम से ही दर्शाती रहती हैं।

अस्तु अध्यात्म क्षेत्र में प्रवेश करने वाले अथवा ब्राह्मी चेतना से सम्पर्क स्थापित कर उस विराट् की खोज

हेतु उत्सुक जिज्ञासुओं के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि उस सूक्ष्म चेतन सत्ता की संरचना, विलक्षणता एवं क्रियाकलापों को भली भाँति समझें। इस सम्बन्ध में वीरभद्र प्रकरण में पंचकोशों की चर्चा गत दो अंकों से की जाती रही है। इस सन्दर्भ में यह भली प्रकार समझ लिया जाना चाहिए कि स्थूल से सूक्ष्म की संगति बिठाने का जो प्रयास किया जाता है, वह प्रत्यक्षवादी तथ्यान्वेषी बुद्धि के लिए समाधान परक संकेत मात्र है। आत्म सत्ता की प्रयोगशाला में कार्यरत् योग साधकों को इन संकेतों के माध्यम से समझने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे स्वयं पर प्रयोग कर इसे प्रत्यक्ष कर दिखाते हैं। प्रदर्शन से अधिक महत्त्वपूर्ण है-अनुभूति। जो इन सूक्ष्म चेतन परतों को एक-एक कर अनावृत्त करते हैं, वे क्रमशः उसी अनुपात में लाभान्वित होते, विराट् सत्ता से तादात्म्य स्थापित करते देखे जा सकते हैं।

जिन पाँच सूक्ष्म चेतन परतों की चर्चा की जा चुकी है। वे इस प्रकार हैं-हारमोन्स एवं एन्जाइम्स के रूप में क्रियाशील अन्नमय कोश, जैव विद्युत् के रूप में क्रियाशील द्वितीय प्राणमय कोश, जैव चुम्बकत्व के रूप में क्रियाशील तृतीय मनोमय कोश, स्नायुरस स्रावों (न्यूरोह्यूमरल सिक्रीशन्स) के रूप में सक्रिय चतुर्थ विज्ञानमय कोश एवं रेटीकुलर एक्टीवेटिंग सिस्टम तथा कार्टिकल न्यूक्लाई के रूप में विद्यमान आनन्दमय कोश। पंचकोश के सन्दर्भ में स्थूल दृष्टि से कार्य कर रहे, अपनी उपस्थिति का बोध कराते जिन एनाटामिकल संरचनाओं की चर्चा की गई, वे उसी स्थान पर गतिशील हों, यह बात नहीं। इन्हें इलेक्ट्रॉन माइक्रोस्कोप इत्यादि के माध्यम से पिनपाइण्ट भी नहीं किया जा सकता। मात्र इनकी परिणतियों-स्थूल प्रतिक्रियाओं से जागरण की फलश्रुति को जाना-समझा जा सकता है।

यों पिचहत्तर हजार अरब जीवकोशों के समुच्चय से बनी मानव कथा में अनेकों स्वतन्त्र शक्तियाँ क्रियाशील रहती हैं। न्यूक्लीय अम्लों, जीन्स एवं क्रोमोसोम के रूप में कार्यरत प्रजनन एवं आनुवांशिकी रूपी सृजनात्मक शक्ति उन्हीं में से एक है। जैव विद्युत् एवं जैव चुम्बकत्व से ही जुड़ी हुई एक और शक्ति पुंज है जीवनी शक्ति के रूप में। प्रतिरोधी संस्थान के रूप में विद्यमान यह संरचना शरीर की प्रतिकूलताओं से जूझने की सामर्थ्य प्राणशक्ति का एक सम्बल है। ए सभी ऐसे हैं, जिन्हें स्थूल रूप से रक्त में, स्नायुरस स्रावों में, टीश्यू हिस्टोलॉजी के माध्यम से एवं इलेक्ट्रोमीटर इलेक्ट्रोएनसेफेलोग्राफ, मैग्नेटोग्राफ रेडियो इक्यूनोएसे इत्यादि माध्यम से जाँचा-मापा जा सकता है। यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि ए मात्र सूक्ष्म की स्थूल में दृश्यमान प्रतिक्रियाएँ हैं। अमुक व्यक्ति में उपर्युक्त शक्तिपुंजों का होना यह प्रामाणित नहीं करता कि वह उच्चस्तरीय साधक है। परन्तु उनके परिमाण, प्रखरता समुच्चय में अभिवृद्धि यह संकेत देती है कि सूक्ष्म आध्यात्मिक काय संरचना में क्रमशः जागृति आ रही है व इसके परिणामस्वरूप चमत्कार फलश्रुतियाँ प्रकट होने की सम्भावनाएँ हैं।

कुण्डलिनी जागरण, षटचक्र भेदन, योगत्रयी पंचकोश जागरण, सूक्ष्मीकरण इत्यादि सभी साधनाओं में अनेकों दृष्टि से साम्य है। इन सभी में स्थूल चेतना को सूक्ष्म बनाया एवं ध्यान योग के माध्यम से उसका सुनियोजन किया जाता है। माध्यम कुछ भी हो, लक्ष्य एक ही है। अन्तः की प्रसुप्त सामर्थ्य का उभार-जागरण उन्नयन। यह कैसे सम्भव हो पाता है। इसे सूक्ष्म संरचना के परिपेक्ष्य में समझा जाना चाहिए। यह विवरण गुह्य है, रहस्यमय है एवं रोचक भी। विशेषकर इस क्षेत्र में प्रवेश कर उत्कर्ष के मार्ग पर बढ़ने की इच्छा रखने वालों के लिए जानने समझने योग्य है।

स्थूल सत्ता पर सूक्ष्म के नियन्त्रण का प्रमाण अन्तःस्रावी ग्रन्थियों-हॉरमोन्स के अदृश्य क्रियाकलापों को माना जा सकता है। शरीर विज्ञानी तो उनके रोग परक असामान्य (पैथोलॉजीकल) पक्ष को ही अधिक जानते व ऊहापोह करते दिखाई देते हैं। परन्तु शरीर का यह रसायन शास्त्र और भी विलक्षण है एवं चेतना के स्तर को सामान्य से असामान्य की ओर ऊँचा उठा कर ले जाने वाली विद्या है। जब से भ्रूण का गर्भाश्य में विकसित होना आरम्भ होता है, तब से ही ए हॉरमोन्स गतिशील हो जाते हैं। यहाँ तक की गर्भाश्य में शुक्राणु के निषेचन एवं स्थापन के लिए आवश्यक विद्युत्रासायनिक एवं संरचनात्मक कार्यवाही भी माता के हारमोन्स द्वारा संचालित होती है। आनुवांशिकता के माध्यम से संस्कारों के स्थानान्तरण आदि के प्रक्रिया इसी समय सम्पन्न होती है। शरीर, मन, व्यक्तित्व, स्वभाव आदि का निर्धारण यहीं होता है।

जब सभी अंग अवयवों रूपी अवयवों से अभिपूरित जीव सत्ता अपना भ्रूण काल पूरा कर कणों-प्रतिकणों एवं आयन मण्डल से लिपटी बहिरंग दुनिया में प्रवेश करती है, तो नवीन परिवर्तनों प्रतिकूलताओं से निपटने में यही

सूक्ष्म रसस्राव अपनी भूमिका निभाते हैं। शरीर की आकृति, अंगों का विकास इत्यादि तो इन पर निर्भर है ही, प्रकृति रूझाव, चिन्तन, क्रियाकलापों की डोर भी इन सूक्ष्म रसस्रावों के मजबूत हाथों में है। पीनियल पिट्यूटरी, थायरॉइड, पैराथाइरॉइड, थाइमस, एडरीनल्स एवं गोनेड्स नाम से ये सात ग्रन्थि समूह काया के शिखर स्थल से पेडू तक उत्तरी ध्रुव से लेकर दक्षिणी ध्रुव तक विद्यमान होते हैं एवं शरीर के सभी जैव रासायनिक क्रियाकलापों पर अपना कठारे नियन्त्रण रखते हैं। यौन विकास, दृष्टिकोण का परिष्कार, पुंसकत्व एवं कामेच्छा पर नियन्त्रण इन ग्रन्थि समूहों के आधार पर ही बन पड़ता है। स्थूल स्तर की आहार-विहार की एवं बंध, मुद्रा, आसन जैसी सूक्ष्म काय संस्थान को प्रभावित करने वाली साधनाऐं, हॉर्मोन्स को सीधे प्रभावित कर उच्चस्तरीय साधना हेतु अभीष्ट सक्षमता प्रदान करती है। बहिरंग की दृष्टि से कितना ही सुन्दर, आकर्षक कोई क्यों न हो, जब तक उसके अन्तरंग में सक्रिय रक्त में घुले हॉर्मोन्स का स्तर नहीं बदला जाता, वह भावनात्मक एवं आत्मिक दृष्टि से अपरिपक्व ही रहेगा। शारीरिक अंगों की असामान्यता जो होगी, वह अलग से विद्यमान रहेगी।

एस्ट्रोकेमीस्ट्री एवं कॉस्मोबायोलॉजी के विद्वानों ने ब्राह्मी चेतना का व्यष्टि चेतना से सम्बन्ध इन ग्रन्थि समूहों के माध्यम से होता बताया है। वे सूर्य की पीनियल से चन्द्र की पिट्यूटरी से, मंगल की पैराथाइरॉइड से, बुध की थाइरॉइड से, वृहस्पति की एड्रीनल्स से तथा शुक्र की गोनेड्स से संगति बैठाते हैं। यह कहाँ तक सही है, कहना कठिन है। किन्तु यह स्पष्ट है कि व्यष्टि सत्ता समष्टिगत चेतना से निश्चित हो प्रभावित होती है एवं अपनी सामर्थ्य का बहुत सा अंश साधना उपादानों के माध्यम से इस अविज्ञात शक्ति समुच्चय से खींचती है।

जैवविद्यत् एवं प्राण संस्थान जिसे थियोसॉफी में "इथरीक डबल" नाम दिया गया है, परस्पर गुंथे हुए हैं। हर जीवकोश, ऊतक एवं अंग अवयव विद्युत्शक्ति से अभिपूरित हैं। बाह्यजगत में फोटॉन कणों की प्रकाश की गति से चलने वाले कणों के रूप में परिकल्पना को अब प्रामाणित किया जा चुका है। ऐसे ही प्रकाशाणुओं के आयन्स जीवकोशों में होते हैं। शरीर संस्थान की छोटी से छोटी इकाई न्यूकलीय अम्लों से बने जीन्स हैं। ए भी विद्युत्आवेश से भरे होते हैं। सोडियम पम्प के माध्यम से जीव कोशों का धन-ऋण आवेश बदलता व क्रमशः विद्युत्संचार होता चला जाता है। ए० डी० पी० ए० टी० पी० सिस्टम एवं साइक्लिक ए० एम० पी० आदि ऐसे ही सूक्ष्म स्तर पर क्रियाशील विद्युत्रासायनिक प्रक्रियाऐं हैं जो शरीर के अंग प्रत्यंग में हो रही विभिन्न गतिविधियों के लिए उत्तरदायी हैं।

जैव विद्युत् का उपपाचय (इलेक्ट्रीकल मेटाबोलिज्म) किस प्रकार होता है, इसकी एक झलक आज से बीस वर्ष पूर्व डा० फ्रेड व्लेस द्वारा किए गये अध्ययन में दिखाई देती है। इस विश्लेषण के अनुसार हर जीवधारी वायुमण्डल से ऋण विद्युत् आयन्स श्वास द्वारा अन्दर खींचता है। ये आयन्स सारे शरीर को विद्यत्मय बना देते हैं। त्वचा के माध्यम से ए फिर सारे वातावरण में फैल जाते हैं। यह एक प्रकार का विद्यत्चक्र है। ऋण विद्युत् फेंफड़ों द्वारा अवशोषित की जाती है एवं त्वचा द्वारा निष्कासित कर दी जाती है। आधुनिकतम उपकरणों ने अब इस जानकारी को और विशद बना दिया है। पीजो, पायरो एवं मेटाबॉलिक विद्यत् के माध्यम से मनुष्य जैव विद्युत् का एक पुंज, जीता जागते बिजलीघर के रूप में देखा जा सकता है। शरीर के अनेकों ऊतक ऐसे विशिष्ट क्रिस्टल्स के रूप में कार्य करते देखे जा सकते हैं जो "सॉलिड स्टेट फिजिक्स" में टांसड्यूसर्स की भूमिका मानी जाती है। यह भी पाया गया है कि शरीर के हर कार्बनिक अणु में विद्युत्संधारण की क्षमता होती है। प्राण संस्थान की इस विशेषता को अपवाद रूप में किसी व्यक्ति में अनायास ही जागृत होते देखा जा सकता है। किन्त साधना प्रक्रिया द्वारा शरीर स्थित प्राण प्रवाह को जागृत एवं प्रचण्ड बना सकना संभव है। यह विद्युत्ऊर्जा सामान्यतः चमक, ताजगी, उत्साह, स्फूर्ति के रूप में क्रियाशील देखी जा सकती है। प्रतिरोधी सामर्थ्य का मूल आधार यही जीवनी शक्ति है एवं सोऽहम् की हंस योग साधना इत्यादि द्वारा इस सामर्थ्य में अभिवृद्धि की जा सकता है। साधक के रोम-रोम से इसे फूटते देखा जा सकती है। वाणी के माध्यम से यही जैव विद्युत् सक्रिय होती एवं व्यक्तियों तथा वातावरण को प्रभावित करती है।

जैव चुम्बकत्व एवं विद्युत् में अन्तर इतना ही है कि दोनों भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में क्रियाशील शरीर की शक्तियाँ हैं, जिनमें शरीर संचालन के अतिरिक्त बहिरंग को, वातावरण को प्रभावति करने की सामर्थ्य होती है। प्रभा मण्डल, आरा, सायकिक, हीलिंग, प्राण प्रहार पासिंग गेजिंग हिप्नोटिज्म शक्तिपात जैव चुम्बकत्व से सम्बन्धि प्रक्रियाऐं हैं जिन्हें योगीजनों द्वारा सम्पन्न करते देखा जाता है। हृदय के आस-पास जो चुम्बकीय क्षेत्र बनता है

उसे मैग्नेकटोर्डियोग्राम द्वारा वैज्ञानिकों ने नापा व इसे ५x१०" टेस्ला इकाई के समकक्ष पाया है। एक स्क्वीड नामक यन्त्र के माध्यम से हर पल प्राण प्रवाह द्वारा बदलनी चुम्बकीय धारा एवं क्षेत्र की अति सूक्ष्म मात्रा तक नापा जा सकता है। अब इसी यन्त्र से मानवी काया के डायपोल मैग्नेट सुषुम्ना के दोनों ध्रुवों सहस्रार ब्रह्मरन्ध्र एवं मूलाधार के आस-पास चुम्बकीय क्षेत्र को भी मापा जा सकना सम्भव हो सका है। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि उत्तरी ध्रुव पृथ्वी के दो ध्रुवों की तरह अवशोषण की एवं दक्षिणी ध्रुव निष्कासन की भूमिका निभाता है। अब एम० ई० जी० (मैग्नेटोएनसेफेलोग्राम) के द्वारा यह भी देखा जा सकता है कि डी० सी० पोटेन्शियल्स के कारण कितना चुम्बकत्व शिखा स्थान के आस पास विद्यमान है। जैव चुम्बकत्व ध्यान योग के विभिन्न उपादानों के द्वारा बढ़ाया जा सकता है। एवं यही मनोमय कोश की जागृति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। ऐसी स्थिति तक पहुँचे साधक भावयोग की उच्च कक्षा में प्रवेश करते हैं। साथ ही अपनी सम्मोहक सामर्थ्य से अन्यान्यों को प्रभावित करते, अपने शक्ति का अंश सुपात्रों को देते हैं। एकाग्रता सम्पादन द्वारा वे उन कार्यों को अल्पायु में ही कुशलतापूर्वक कर लेते हैं, जो प्रतिभा, स्मरण शक्ति, संकल्पशक्ति से सम्बन्धित हैं।

स्नायु रसायन मस्तिष्क एवं सुषुम्ना के नाड़ी संस्थान में क्रियाशील वे रसस्राव हैं जो सक्रिय होने पर इन्द्रिय में सीमाबद्ध मानसिक चेतना को अतीन्द्रिय स्तर तक पहुँचा देते हैं। "न्यूरोह्यूमरल सिक्रीशन्स" नाम से जाने जाने वाले ए रसस्राव वैज्ञानिकों द्वारा अभी-अभी जाने पहचाने गए हैं किन्तु इनकी प्रतिक्रियाओं का अतीन्द्रिय क्षमता के रूप में उभार शास्त्र वचनों एवं प्रतिपादनों में देखने का मिलता है। साधना का स्तर जैसे जैसे सूक्ष्म प्रखर होता जाता है, सीढ़ियाँ उतनी ही ऊँची साधक चढ़ता चला जाता है। विज्ञानमय कोश जागरण की साधना ऐसी ही है। जो इन रसस्रावों से सम्बन्धित है। डोपामीन, ऐसीटिल कोलीन, गाबा, सिरोटोनिन, एण्डॉर्फिन्सएनकेफेलीन्स के रूप में विद्यमान ये स्नायु रसायन एकाग्रता, प्रसन्नता, भावप्रवणता, आनन्दानुभूति, जागृति, स्फूर्ति, स्मरण शक्ति मेधा इत्यादि विशेषताओं से सम्बन्धित है। ध्यान योग की उच्चस्तरीय साधनाऐं सीधे इनके रसस्राव को प्रभावित करती व साधक में उपरोक्त विशेषताओं को उभारती हैं। विभिन्न मुद्रा, बन्ध, आहार-विहार के नियमों व नियम ध्यानयोग की साधना में सहायक भूमिका निभाते हैं। अतीन्द्रिय सामर्थ्यों में विचार सम्प्रेषण, दूर श्रवण, दूर दर्शन पदार्थ हस्तान्तरण आदि अनेकों आती हैं पर इनका सुनियोजित उपयोग अध्यात्म क्षेत्र के जो साधक करते हैं वे चमत्कारी प्रदर्शनों में स्वयं को उलझाते नहीं। वे इनको लौकिक प्रयोजनों में नष्ट भी नहीं करते। स्नायु कोशों की जागृति के फलस्वरूप जो भी प्रतिक्रियाऐं होती हैं वे उससे भली-भाँति अवगत होते हैं एवं इस उपलब्धि का प्रयोग लोकोपयोगी प्रयोजन हेतु ही होने देते हैं। चेतना के चतुर्थ आयाम की यह वह स्थिति है जिसमें विभूतियाँ अनायास ही हस्तगत हो जाती हैं। वैज्ञानिकों मनीषियों के आविष्कारों रचनाओं को इस सन्दर्भ में देखा जा सकता है।

चेतना का पाँचवां व अन्तिम महत्त्वपूर्ण आयाम है-रेटीकुलर एक्टीवेटिंग सिस्टम एवं थेलिमिल-कॉर्टिकल न्यूक्लाई के रूप में विद्यमान मस्तिष्क के ऊर्ध्व केन्द्र पर अवस्थित आनन्दमय कोश। इसके विषय में पहले भी बहुत कुछ कहा जा चुका है। परन्तु जैसे-जैसे मेडीकल इलेक्ट्रॉनिक्स ने प्रगति की है मस्तिष्क के इस संस्थान के सम्बन्ध में जो चेतनता बनाए रखने के लिए उत्तरदायी माना जाता है, जानकारी और बढ़ी है। प्रायोगिक रूप से इलेक्ट्रोडों के माध्यम से उत्तेजित कर एवं न्यूरो हिस्टोपैथोलॉजी के माध्यम से सुषुम्ना के ऊर्ध्व भाग में स्थित इस विद्युत्स्फुलिंग के फव्वारे के विषय में जितना भी कुछ पता चला है वह विलक्षण है। मस्तिष्क के विभिन्न कॉर्टीकल न्यूक्लाई प्रसुप्त अचेतन को सचेतन एवं सुपरचेतन में परिवर्धित करने की क्षमता रखते हैं, बशर्ते उन्हें थेलेमीक प्रोजेक्शन के माध्यम से तन्तुजाल से विनिर्मित "रेटीकुलर एक्टीवेटिंग सिस्टम" से उत्तेजन मिलता रहे। यह कार्य उच्चस्तरीय ध्यान साधना से सम्भव हो पाता है। निदिध्यासन, ध्यान धारणा, प्रत्याहार, समाधि की अवस्था में ए केन्द्र जागृत होते एवं सूक्ष्म "माइजेन" कणों एवं न्यूट्रीनो कणों के माध्यम से व्यष्टि चेतना का समष्टि चेतना से सम्पर्क स्थापित कर देते हैं। चेतना की सर्वोच्च स्थिति आनन्दमय कोश के जागरण की स्थिति में आती है। मस्तिष्क नहीं, मन में संव्याप्त चेतना के ऊर्ध्वीकरण का यह सोपान जब पूरा हो जाता है, पंचकोशी साधना समग्र हुई मानी जाती है।

यह सब कुछ जितने विज्ञान सम्मत ढंग से प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है तथ्यतः प्रक्रिया उससे भी अधिक जटिल है। ब्रह्मरन्ध्र सहस्रार की स्थिति तक पहुँचने पर "अयमात्मा ब्रह्म", सच्चिदानन्दोऽहम्‌ की

जिस परिणति तक साधक पहुँच पाता है, उसका वर्णन शब्दों में व्यक्त कर पाना सम्भव नहीं।

पंच कोश और उनका अनावरण

आत्मा के ऊपर पाँच आवरण चढ़े हुए हैं। फूलों में जिस प्रकार रंग, आकृति, गन्ध, रस, नाम आदि समग्र रूप से समाहित होते हैं, उसी प्रकार काय सत्ता में पाँचकोशों का समग्र समावेश कहा जा सकता है। केले के तने की अथवा प्याज की परतों की तरह इन्हीं आवरणों से आच्छादित रहने के कारण आत्मा का प्रकाश प्रत्यक्षतया प्रस्फुटित नहीं होने पाता। इन्हें उघाड़ दिया जाय तो आत्मा के परमात्मा के प्रत्यक्ष दर्शन अपने ही अन्तराल में होने लगते हैं और आत्मा के बीच समर्पण के आधार पर एकात्मता स्थापित हो जाने के कारण भक्त और भगवान एक ही स्तर के हो जाते हैं। नाला गंगा में मिलने के बाद गंगाजल ही बन जाता है और वैसा ही प्रभाव दिखाने लगता है।

थियोसोफिकल मान्यता के अनुसार पाँचकोश मनुष्य के पाँच आवरण, पाँच शरीर या पाँच लोक हैं। इन्हें क्रमशः (१)फिजिकल बॉडी (२)ईथरीक डबल या बॉडी (३)एस्ट्रल बॉडी (४)मेण्टल बॉडी (५) कॉजल बॉडी कहा गया है और इनमें पाँच प्रकार की विभूतियों का समावेश बताया गया है। अध्यात्म शास्त्रों में इन्हें क्रमशः (१)अन्नमय कोश (२)प्राणमय कोश (३)मनोमय कोश (४)विज्ञानमय कोश (५) आनन्दमय कोश के नाम से सम्बोधित किया गया है। उपनिषद् के तत्वदर्शी ऋषि पंचकोश सम्बन्धी जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहते हैं:-

अन्नमयः प्राणमयः मनोमयः विज्ञानमयः
विज्ञानमयः आनन्दमयः पंचकोशाः ।

अर्थात् अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय, यह पाँचकोश हैं। इनमें जो अन्न के रस से उत्पन्न होता है, जो अन्नरस से ही बढ़ता है और जो अन्न रूप पृथ्वी में ही लीन हो जाता है, उसे अन्नमय कोश एवं स्थूल शरीर कहते हैं। प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान-इन पाँचों वायुओं के समूह और कर्मेन्द्रिय पंचक के समूह को प्राणमय कोश कहते हैं। संक्षेप में यही क्रियाशक्ति है। मनोमय कोश मनन और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के समूह के मिलने से बनता है। इसे इच्छाशक्ति कह सकते हैं। बुद्धि और पाँच ज्ञानेन्द्रियों का समन्वय विज्ञानमय कोश है। यह ज्ञान शक्ति है। इसी प्रकार कारण रूप अविद्या में रहने वाला रज और तम से मलिन सत्व के कारण मुदित वृत्ति वाला आनन्देच्छु कोश आनन्दमय कोश है।

इस प्रकार शरीर को पाँच तत्वों की-चेतना को पाँच प्राणों की मिश्रित संरचना माना जाता है, पर यह दृश्यमान शरीर की विवेचना हुई। शरीर और मस्तिष्क के क्रिया-कलापों से संलग्न एक विशेष विद्युतीय चेतना है। अध्यात्म की भाषा में उसी को अन्नमय कोश कहा गया है। इसे ही वैज्ञानिक भाषा में जैवीय विद्युत्-बायो इलेक्ट्रिसिटी कहा जाता है। इसका कार्य शरीरगत क्रिया पद्धति को सुनियोजित और सुनियन्त्रित बनाए रहना है।

शरीर की हर इकाई हर कोशिका सेल काया की सबसे छोटी इकाई मानी जाती है। हर सेल में एक 'नाभिक' होता है। इसकी बहुमुखी कार्य प्रणालियाँ हैं। कोशों के टूटते रहने पर उनके स्थानापन्न कोशों की निर्माण पद्धति न्यूक्लियोलस एवं क्रोमैटिन नेटवर्क सम्भालते हैं। भोजन निर्माण "गॉल्गी बॉडीज" के अधीन रहता है। इसी प्रकार की अन्यान्य शरीरगत सूक्ष्म संचालक पद्धतियाँ अन्नमय कोश के अन्तर्गत आती हैं।

इस कोश का स्थान यों मुख है, क्योंकि मुख से होकर ही वह पेट में जाता है और रक्त-मांस बनता है, तो भी इसके परिष्कार की साधना मुख तक सीमित नहीं है। व्रत, उपवास विशेष आहार या अमुक मात्रा में निर्भरता के कारण समूचे शरीर का ढाँचा बनता है और जैसा अन्न होता है, वैसी ही प्रकृति एवं प्रवृत्ति का सारा शरीर बनता है। काया का कण-कण अन्न से विनिर्मित है। ऐसी दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि मुख ही अन्न का आधार क्षेत्र है।

दूसरा कोश है- प्राणमय कोश। यह एक प्रकार की 'चार्जर' पद्धति है जिसके द्वारा अन्नमय कोश की अन्तरंग क्षमताओं में शक्ति व्यय होते रहने पर उन्हें खोखला नहीं होने देती। वरन् बैटरी को डिस्चार्ज होने के पूर्व ही चार्ज कर देती है। इस प्रकार यह एक डायनुमो सिस्टम बन जाता है।

प्राणतत्व को चेतन ऊर्जा- लाइफ एनर्जी कहा गया है। ताप, प्रकाश, चुम्बकत्व, विद्युत् शब्द आदि ऊर्जा के विविध रूप हैं। आवश्यकतानुसार एक प्रकार की एनर्जी दूसरे प्रकार में बदलती भी रहती है। इन सबका समन्वय ही जीवन है। इस विश्व-ब्रह्माण्ड में मैटर-पदार्थ की तरह ही सचेतन प्राण विद्युत् भी भरी पड़ी है। प्राणायाम प्रक्रिया द्वारा सविता शक्ति का प्राणाकर्षण करके

मनुष्य अपने अन्तराल में उसकी अधिक मात्रा को प्रविष्ट कर सकता है। यह प्राण यों तो साधारणतया नासिका द्वारा खींची गई वायु द्वारा शरीर में प्रवेश करता है, पर उसके साथ संकल्प और चुम्बकत्व भी जुड़ा होता है तभी प्राण की मात्रा बहुलता के साथ शरीर में पहुँचती है और टिकती है। यह प्राण ही विभिन्न अवयवों द्वारा फूटता है। नेत्रों से, वाणी से, भुजाओं से, निर्धारणों से, व्यवहार से प्राण की न्यूनता एवं बहुलता परिलक्षित होती है। इस प्रकार वह नासिका द्वारा प्रवेश करने पर भी क्षेत्र में सीमित नहीं किया जा सकता। वह समस्त शरीर व्यापी है।

तीसरा -मनोमय कोश यों मस्तिष्क में केन्द्रित माना जाता है। कल्पनाऐं,विचारणाऐं,इच्छाऐं,गतिविधियाँ उसी क्षेत्र में विनिर्मित होती हैं, तो भी वह उस क्षेत्र तक सीमित नहीं। पंच ज्ञानेन्द्रियों की अपनी-अपनी भूख है। शरीरगत और मनोगत आवश्यकताऐं चिन्तन की अमुक सीमा निर्धारित करती हैं। इसलिए वह भी आत्मसत्ता के हर क्षेत्र में संव्याप्त माना जाता है।

चौथा विज्ञानमय कोश है। इसका स्थान हृदय माना जाता है, क्योंकि भावनाओं का उद्‌गम वही माना गया है। सहृदय, हृदयहीन शब्द बताते हैं कि भावनाओं का केन्द्र हृदय होना चाहिए, किन्तु बात इतने छोटे क्षेत्र तक सीमित नहीं है। अपनी आवश्यकताऐं दूसरे का व्यवहार और परिस्थितियों का तकाजा मिलकर भावनाओं का निर्माण करते हैं। देश भक्ति, समाज सेवा, दुखियों के प्रति सहानुभूति, प्रतिशोध, ईर्ष्या आदि का उद्‌भव समूचे जीवन क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली क्रियाओं की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप होता है। वह भी मात्र रक्त संचार की थैली तक सीमाबद्ध नहीं है।

पाँचवाँ कोश आनन्दमय कोश है। इसका उद्‌गम यों मस्तिष्कीय मध्यभाग सहस्रार चक्र को माना गया है, जिसे कैलाश मानसरोवर की, शेष शैय्या और क्षीर सागर की, कमल पुष्प पर तप करते ब्रह्मा की उपमा दी गई है। यह आनन्द वस्तुतः दृष्टिकोण के परिष्कृत होने से सम्बन्धित है। कई व्यक्ति जटिल परिस्थितियों में भी हँसते-हँसाते रहते हैं और कई पर्याप्त सुविधा साधन होते हुए भी खीझते-खिझाते रहते हैं। यह सुसंस्कारिता और कुसंस्कारिता की प्रतिक्रिया है।

यह पंचकोश किसी स्थान विशेष से यत्किंचित प्रभावित भले ही होते हों, पर उनका सम्बन्ध समूची जीवन चेतना से है। उनका स्थान षट्‌चक्रों की तरह मेरुदण्ड और मूलाधार-सहस्रार की परिधि तक सीमित नहीं है। वस्तुतः यह पाँचों कोश दिव्य शक्तियों के भाण्डागार हैं। जिस प्रकार पंच रत्न, पंच देव, पंच गव्य, पंचाग, वातावरण के पंच आयाम एवं ब्रह्माण्डीय सूक्ष्म पंचकणों आदि की गणना होती है, उसी प्रकार पंचकोशों की महत्ता समझी जाती है।

इन्हें जागृत करने के लिए साधक को उच्चस्तरीय तपश्चर्याऐं करनी होती हैं। तपाने से मनुष्य कुछ से कुछ हो जाता है। पर सामान्य अर्थों में सीमित सन्तुलित और सात्विक भोजन करना, अन्नमय कोश की साधना कही जाती है। साहस, संकल्प, पराक्रम अनुसन्धान को कड़ाई से अपनाने पर प्राणमय कोश सधता रहता है। श्रेष्ठ ही देखने खोजने और सोचने विचारने से मनोमय कोश सध जाता है। इसी तरह संकीर्णता छोड़कर विशालता के साथ जुड़ जाने पर विज्ञानमय कोश सधता है और सादा जीवन उच्च विचार की, बालकों जैसी निश्छलता की आदत डालने पर, हार-जीत में हँसते रहने वाले प्रज्ञावानों की तरह हर किसी अवसर में आनन्दित रहने पर आनन्दमय कोश सध जाता है। यह सर्वसाधारण की अतिशय सुगम पंचकोशी साधना हुई, पर उच्चस्तरीय पंचकोश साधना के लिए एकान्त मौन, स्वल्पाहार, संयम, लक्ष्य के प्रति तन्मयता जैसे अनुबन्ध अपनाने पड़ते हैं। तप-तितीक्षा का स्तर ऊँचा करना पड़ता है और 'स्व' को 'पर' में पूरी तरह समर्पित करना पड़ता है। इस सन्दर्भ में ऐसी कष्ट साध्य तपश्चर्याऐं करनी पड़ती हैं। जिसके सम्बन्ध में अनुभवी मार्गदर्शकों की सहायता से ही योजनाबद्ध कार्यपद्धति निर्धारित की जाती है। इसमें पग-पग पर परामर्श और मार्गदर्शन की आवश्यकता पड़ती है जिसकी पूर्ति अनुभवी सिद्ध पुरुष ही कर सकते हैं।

मानव जीवन की क्षमताऐं पाँचकोशों की पाँच धाराओं में विभाजित हैं। यदि यह सम्पदाऐं समग्र रूप में या न्यूनाधिक मात्रा में सिद्ध हो सकें तो समझना चाहिए कि उसी अनुपात से सर्वतोन्मुखी प्रगति उपलब्ध हो गई और पाँचों प्रकार के सुख पाँचों स्तरों की विभूतियाँ एवं वर्चस्व हस्तगत हो गए। इस सन्दर्भ में इन तथ्यों को भी जान लेना आवश्यक है कि अन्नमय कोश का अर्थ है इन्द्रिय चेतना। प्राणमय कोश अर्थात् जीवनी शक्ति। मनोमय कोश विचार बुद्धि। विज्ञानमय कोश अचेतन सत्ता एवं भाव प्रवाह। आनन्दमय कोश-आत्मबोध-आत्मजागृति।

२.३० गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ

प्राणियों का स्तर इन चेतनात्मक परतों के अनुरूप ही विकसित होता है। कृमि कीटकों की चेतना इन्द्रियों की प्रेरणा के इर्द गिर्द घूमती रहती है। शरीर ही उनका सर्वस्व होता है। उनका 'स्व' काया की परिधि में ही सीमित रहता है। इससे आगे की न उनकी इच्छा होती है, न विचारणा, न क्रिया। इस वर्ग के प्राणियों को अन्नमय कह सकते हैं। आहार ही उनका जीवन है। पेट तथा अन्य इन्द्रियों का समाधान हो जाने पर वे सन्तुष्ट रहते हैं।

प्राणमय कोश की क्षमता जीवनी शक्ति के रूप में प्रकट होती है। संकल्प, बल, साहस आदि स्थिरता और दृढ़ता बोधक गुणों में इसे जाना जा सकता है। जिजीविषा के आधार पर ऐसे प्राण मनोबल का सहारा लेकर भी अभावों और कठिनाइयों से जूझते हुए जीवित रहते हैं जबकि कृमि कीटक ऋतु प्रभाव जैसी प्रतिकूलताओं से प्रभावित न होकर बिना संघर्ष किए प्राण त्याग देते हैं। सामान्य पशु पक्षी इसी स्तर के होते हैं। इसलिए साहसिकता के अनुरूप उन्हें प्राणी कहा जाता है। निजी उत्साह पराक्रम करने के अभ्यास को प्राण शक्ति कहते हैं। यह विशेषता होने के कारण कृमि कीटकों की तुलना में बड़े आकार के पुरुषार्थी जीव प्राणधारियों की संज्ञा में गिने जाते हैं। यों जीवन तो कृमि कीटकों में भी होता है पर वे प्रकृति प्रेरणा की कठपुतली भर होते हैं। निजी संकल्प विकसित होने की स्थिति बनने पर प्राणतत्व का आभास मिलता है। यह कृमि कीटकों से ऊँची स्थिति है।

मनोमय स्थिति विचारशील प्राणियों की होती है। यह और भी ऊँची स्थिति है। मननात् मनुष्यः। मनुष्य नाम इसलिए पड़ा कि वह मनन कर सकता है। मनन अर्थात् चिन्तन। यह पशु-पक्षियों से ऊँचा स्तर है। इस पर पहुँचे हुए जीव को मनुष्य संज्ञा में गिना जाता है। कल्पना, तर्क, विवेचना, दूरदर्शिता जैसी चिन्तनात्मक विशेषताओं के सहारे औचित्य-अनौचित्य का अन्तर करना सम्भव होता है। स्थिति के साथ तालमेल बिठाने के लिए इच्छाओं पर अंकुश रख सकना इसी आधार पर सम्भव होता है।

विज्ञानमय कोश इससे भी ऊँची स्थिति है। इसे भाव संवेदना का स्तर कह सकते हैं। दूसरों के सुख दुख में भागीदार बनने की सहानुभूति के आधार पर इसका परिचय प्राप्त किया जा सकता है। आत्मभाव का आत्मीयता का विस्तार इसी स्थिति में होता है। अन्तःकरण विज्ञानमय कोश का ही नाम है। दयालू, उदार, सज्जन, सहृदय, संयमी, शालीन और परोपकार परायण व्यक्तियों का अन्तराल ही विकसित होता है। उत्कृष्ट दृष्टिकोण और आदर्श क्रियाकलाप अपनाने की महानता इसी क्षेत्र में विकसित होती है। महामानवों का यही स्तर समुन्नत रहता है।

चेतना का यह परिष्कृत स्तर, सुपर ईगो, उच्च अचेतन आदि नामों से जाना जाता है। इसकी गति सूक्ष्म जगत में होती है। वह ब्रह्माण्डीय सूक्ष्म चेतना के साथ अपना सम्पर्क साध सकती है। अदृश्य आत्माओं, अविज्ञात हलचलों और अपरिचित सम्भावनाओं का आभास इसी स्थिति में मिलता है। अचेतन ही वस्तुतः व्यक्तित्व का मूलभूत आधार होता है। इस अचेतना का अभीष्ट उपयोग कर सकना परिष्कृत विज्ञानमय कोश के लिए ही सम्भव होता है।

आनन्दमय कोश आत्मा की उस मूलभूत स्थिति की अनुभूति है, जिसे आत्मा का वास्तविक स्वरूप कह सकते हैं। सामान्य जीवधारी यहाँ तक कि अधिकांश मनुष्य भी अपने आपको शरीर मात्र मानते हैं और उसी के सुखदुख में सफलता असफलता अनुभव करते रहते हैं। आकांक्षाऐं, विचारणाऐं एवं क्रियाऐं इसी छोटे क्षेत्र तक सीमाबद्ध रहती हैं। यही भवबन्धन है। इसी कुचक्र में जीव को विविध विधि त्रास सहने पड़ते हैं। आनन्दमय कोश जागृत होने पर जीव अपने को अविनाशी ईश्वर अंश, सत्य, शिव, सुन्दर मानता है। शरीर, मन और साधन एवं सम्पर्क परिकर को मात्र जीवनोदेश्य के उपकरण मानता है। यह स्थिति ही आत्म ज्ञान कहलाती है। यह उपलब्ध होने पर मनुष्य हर घड़ी सन्तुष्ट एवं उल्लसित पाया जाता है। जीवन मंच पर वह अपना अभिनय करता रहता है। उसकी संवेदनाऐं भक्तियोग, विचारणाएं, ज्ञान और क्रियाऐं कर्म योग जैसी उच्च स्तरीय बन जाती हैं।

ईश्वर मानवी सम्पर्क में आनन्द की अनुभूति बन कर आता है। रसों वै सः श्रुति में उस परब्रह्म की उच्चस्तरीय सरसता के रूप में व्याख्या की हैं। सत्, चित, आनन्द की संवेदनाऐं ही ईश्वर प्राप्ति कहलाती हैं, अपना और संसार का वास्तविक सम्बन्ध और प्रयोजन समझ में बिठा देने वाला तत्व दर्शन हृदयंगम होने पर ब्रह्मज्ञानी की स्थिति बनती है। इसी को जीवन मुक्ति देवत्व की प्राप्ति, आत्म साक्षात्कार, ईश्वर दर्शन आदि के नामों से पुकारते हैं। आत्म परिष्कार के इस उच्च स्तर पर पहुँच जाने के उपरान्त अभावों, उद्वेगों से छुटकारा

मिल जाता है। परम सन्तोष का परम आनन्द का लाभ मिलने लगने की स्थिति आनन्दमय कोश की जागृति कहलाती है। ऐसी ब्रह्मवेत्ता अस्थि मांस के शरीर में रहते हुए भी ऋषि, तत्वदर्शी, देवात्मा एवं परमात्मा स्तर तक उठा हुआ सर्व साधारण को प्रतीत होता है। उसकी चेतना का, व्यक्तित्व का, स्वरूप, सामान्य नर वानरों की तुलना में अत्यधिक परिष्कृत होता है। तद्नुसार वे अपने में आनन्दित रहते हैं और दूसरों को प्रकाश बाँटते हैं।

पंचकोशों का जागरण जीवन चेतना के क्रमिक विकास की प्रक्रिया है। यह सृष्टि क्रम के साथ मंथ गति से चल रही है। यह भौतिक विकासवाद है। मनुष्य प्रयत्नपूर्वक इस विकास क्रम को अपने पुरुषार्थ से साधनात्मक पराक्रम करके अधिक तीव्र कर सकता है। और उत्कर्ष के अन्तिम लक्ष्य तक इसी जीवन में पहुँच सकता है। यही पंचकोशी साधना है। कोशों के जागृत होने पर व्यक्तित्व का स्तर कैसा होता है, इसकी जानकारी शिव गीता में इस प्रकार दी है।

कामक्रोधस्तथा लोभो मोहो मात्सर्यमेव च ।।
मदश्चेत्यरिषड्वर्गो ममतेच्छादयोऽपि च ।।
मनोमयस्य कोशस्य धर्मा एतस्य तत्र तु ।। १४ ।।
एवं मनः समाधाय संयतो मनसि द्विजः ।।
अथ प्रवर्तएच्चितं निराकारे परात्मनि ।। ३० ।।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य यह छः शत्रु और ममता, तृष्णा आदि दुष्प्रवृत्तियाँ मनोमय कोश में छिपी रहती हैं। कोश साधना से उन सब का निराकरण होता है। मानसिक स्थिरता आने पर चित्त परब्रह्म परमात्मा में लग जाता है।

पांच कोश आत्मा पर चढ़े हुए आवरण हैं। प्याज की, केले के तले की परते जिस प्रकार एक के ऊपर एक होती हैं उसी प्रकार आत्मा के प्रकाशवान स्वरूप को अज्ञान आवरण से ढंके रहने वाले यह पांच कोश हैं। उन्हें उतारते चलने पर कषाय कल्मष नष्ट होते हैं और आत्म साक्षात्कार का ईश्वर प्राप्ति का परम लक्ष्य प्राप्त होता है। शिव गीता कहती है:-

एवं शान्त्यादियुक्तः सन्नुपास्ते यः सदा द्विजः ।।
उद्घाट्योद्घाट्यमेकैकं यथैव कदलीतरोः ।।
वल्कलानि ततः पश्चाल्लभते सारमुत्तमम् ।।
तथैव पञ्चभूतेषु मनः संक्रमते क्रमात् ।।
तेषां मध्य ततः सारमात्मानमपि विन्दति ।।

इस प्रकार जो साधक चित्त को समाहित करके पंच कोशों की उपासना करता है- उसके अन्तःकरण पर से केले के तने जैसी- कषाय कल्मषों की परतें उतरती चली जाती हैं। उसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है और सार तत्व आत्मा की उपलब्धि सम्भव होती है।

वस्तुतः पाँच कोशों का जागरण पाँच अदृश्य शक्ति संस्थानों के उद्गम केन्द्रों की निष्क्रियता को सक्रियता में बदल देना है। जमीन के नीचे कितनी ही जल धाराऐं ऐसी बहती हैं जो भूतल पर बहने वाली नदियों की तुलना में अधिक बड़ी, अधिक तेजी से जल बहाने वाली होती हैं। चूँकि वे नीचे दबी हुई हैं इसलिए उनका लाभ धरती के निवासियों को मिल नहीं पाता जो ऊपर बहती हैं वे काम में आती हैं। राजस्थान में यह प्रयत्न चल रहे हैं कि उस प्रदेश में नीचे बहने वाली नदियों का पानी ऊपर लाया जाए और उससे वहाँ के मरुस्थलों को हरा भरा बनाया जाए। यह प्रयत्न सफल हो गए तो वहाँ के सूखे और पिछड़े क्षेत्र को हरा भरा और सुसम्पन्न बनने का अवसर मिल जाएगा। मानवी काया में अन्तर्हित सूक्ष्म शक्ति स्रोत इसी प्रकार के हैं। यदि उनकी प्रसुप्ति हटाई जा सके और जागृति का अवसर दिया जा सके तो आज की स्थिति में कल भारी अन्तर दृष्टिगोचर होगा। पिछड़ेपन को प्रगतिशील बनने में तनिक भी देर न लगेगी।

साधारणतः कर्मेन्द्रियों के श्रम और ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव का लाभ उठाकर ही मनुष्य की समस्त गतिविधियाँ चलती हैं। इन्हीं के सहारे उसे ऊँचा उठने और आगे बढ़ने का अवसर मिलता है। उपार्जन और उपयोग इन्हीं उपकरणों के सहारे होता है। यह सीमित साधन हैं। इससे आगे के असीम साधन और हैं जिन्हें अदृश्य शक्ति स्रोत कहा गया है। पंच कोश यही हैं। इनसे बने शरीर यदि ठीक तरह काम करने लगें तो समझना चाहिए कि एक व्यक्तित्व पाँच गुना सामर्थ्यवान बन गया है। एक को चार और साथी मिल जाने से पाँच भाइयों के साथ मिल कर काम करने जैसी स्थिति बन गई। पाँचों पंच मिलकर जो निर्णय करेंगे वह फैसला मान्य होगा। पाँच पाण्डवों ने एक सूत्र में बंध कर स्वल्प साधनों से महाभारत में विजय पाई थी। किसी को सफलता मिलती चली जाय तो कहते हैं कि "पाँचों उंगलियाँ घी में हैं।" महर्षि पंच शिख ने आध्यात्म तत्व ज्ञान के जिन रहस्यों का प्रकटीकरण किया है वे पंच कोशों के अनावरण से उपलब्ध होने वाले ज्ञान विज्ञान का ही संकेत करते हैं।

यह पाँच अग्नि शिखाऐं-पाँच ज्वालाऐं-पाँचकोशों में सन्निहित दिव्य क्षमताऐं ही समझी जा सकती हैं।

पाँच कोशों के पाँच देवताओं का पृथक् से भी वर्णन मिलता है। अन्न मय कोश का सूर्य- प्राण मय कायम-मनोमय का इन्द्र-विज्ञानमय का पवन और आनन्दमय का देवता वरुण माना गया है। कुन्ती ने इन्हीं पाँचों देवताओं की साधना करके पाँच पाण्डवों को जन्म दिया था। वे देवपुत्र कहलाते थे।

इन पाँच कोशों एवं देवताओं की पाँच प्रत्यक्ष सिद्धियाँ हैं-अन्नमय कोश की सिद्धि से निरोगता, दीर्घ जीवन एवं चिर यौवन का लाभ है। प्राणमय कोश से साहस, शौर्य, पराक्रम, प्रभाव, प्रतिभा जैसी विशेषताऐं उभरती हैं। प्राण विद्युत् की विशेषता से आकर्षक चुम्बक व्यक्तित्व में बढ़ता जाता है। और प्रभाव क्षेत्र पर अधिकार बढ़ता जाता है। मनोमय कोश की जागृति से विवेक शीलता, दूरदर्शिता, बुद्धिमत्ता बढ़ती है और उतार-चढ़ावों में धैर्य सन्तुलन बना रहता है। विज्ञान मय कोश में सज्जनता का; उदार सहृदयता का विकास होता है और देवत्व की उपयुक्त विशेषताऐं उभरती हैं। अतीन्द्रिय ज्ञान अपरोक्षानुभूति दिव्य दृष्टि जैसी उपलब्धियाँ विज्ञानमय कोश की हैं। आनन्दमय कोश के विकास से चिन्तन तथा कर्तृत्व दोनों ही इस स्तर के बन जाते हैं कि हर घड़ी आनन्द छाया रहे संकटों का सामना ही न करना पड़े। ईश्वर दर्शन, आत्म साक्षात्कार, स्वर्ग मुक्ति जैसी महान उपलब्धियाँ आनन्द मय कोश की ही देन हैं।

जागरण एवं अनावरण शब्द पंच कोशों के परिष्कार की साधना में प्रयुक्त होते हैं। इन प्रसुप्त संस्थानों को जागृति सक्रिय सक्षम बना कर चमत्कार दिखा सकने की स्थिति तक पहुँचा देना जागरण है। अनावरण का तात्पर्य है आवरणो का हटा दिया जाना। किसी जलते बल्ब के ऊपर कई कपड़े ढंक दिए जायें तो उसमें प्रकाश तनिक भी दृष्टिगोचर न होगा। इन आवरणों का एक-एक परत उठाने लगें तो प्रकाश का आभास क्रमशः बढ़ता जाएगा। जब सब पर्दे हट जायेंगे तो बल्ब अपने पूरे प्रकाश के साथ दिखाई पड़ने लगेगा। आत्मा के ऊपर इन पाँच शरीरों के- पाँच आवरण पड़े हुए हैं उन्हीं को भव बन्धन कहते हैं। इनके हट जाने या उठ जाने पर ईश्वर दर्शन, आत्म साक्षात्कार एवं बन्धन मुक्ति का लाभ मिलता है।

अन्नमय कोश

जीवात्मा के तीन शरीर और उनकी साधना

मोटे तौर पर स्थूल काया अन्नमयकोश कहलाती है। पर सूक्ष्म विभाजन में मनुष्य के अस्तित्व को तीन हिस्सों में बाँटा है-सूक्ष्म-स्थूल-कारण। यह तीन शरीर माने गए हैं। जिस प्रकार चमड़ी के नीचे मांस और मांस के भीतर रक्तवाही पतले तन्तु रहते हैं उसी प्रकार दृश्य सत्ता के रूप में हाड़ मांस का बना सबको दिखाई पड़ने वाला चलता-फिरता खाता-पीता, स्थूल शरीर। क्रियाशीलता इसका प्रधान गुण है। इसके नीचे वह सत्ता है जिसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं। इसका कार्य समझ और केन्द्र मस्तिष्क है। शरीर विज्ञान में अनाटौमी- फिजयोलौजी- दो विभाजन हैं। मन: शास्त्र को साइकोलौजी और पैरासाइकोलौजी इन दो भागों में बाँटा गया है। मन के भी दो भाग हैं- एक सचेतन जो सोचने विचारने के काम आता है और दूसरा अचेतन जो स्वभाव एवं आदतों का केन्द्र है। रक्त संचार, श्वास-प्रश्वास, आकुंचन-प्राकुंचन, निमेष-उन्मेष जैसी स्वसंचालित रहने वाली क्रियाऐं इन अचेतन मन की प्रेरणा से ही सम्भव होती हैं। तीसरा कारण शरीर भावनाओं का- मान्यताओं एवं आकांक्षाओं का केन्द्र है, इसे अन्त:करण कहते हैं। इन्हीं में 'स्व' बनता है। जीवात्मा की मूल सत्ता का सीधा संबन्ध इसी 'स्व' से है। यह 'स्व' जिस स्तर का होता है उसी के अनुसार विचार तन्त्र और क्रिया तन्त्र काम करने लगते हैं। जीवन की सूत्र संचालक सत्ता यही है। कारण शरीर का स्थान हृदय माना गया है। रक्त फेंकने वाली और धड़कते रहने वाली थैली से यह केन्द्र भिन्न है। इसका स्थान दोनों ओर की पसलियों के मिलने वाले आमाशय के ऊपर वाले स्थान को माना गया है। साधना विज्ञान में हृदय गुफा में अंगुष्ठ प्रमाण प्रकाश ज्योति का ध्यान करने का विधान है। यहाँ जीवात्मा की ज्योति और उसका निवास 'अहम्' मान्यता के भाव केन्द्र में माना गया हैं। शरीर में इसका केन्द्र जिस "हृदय" में है उसे अन्त:करण नाम दिया गया है। 'कारण शरीर' के रूप में इसी की व्याख्या की जाती है।

यह तीनों शरीर एक से एक बढ़कर क्षमताऐं अपने भीतर दबाए बैठे हैं। इनमें अस्त-व्यस्तता एवं विकृति भर जाने से वे अपनी विलक्षण शक्ति गँवा बैठते हैं और उनके द्वारा जो लाभ मिलना चाहिए था, मिल नहीं पाता। इतना ही नहीं वे रुग्ण होकर उलटे त्रास देने लगते हैं। तब इन विभूतियों भरे भक्ति परिवार द्वारा जो हर्षोल्लास युक्त चमत्कारी उपलब्धियाँ मिल सकती थीं और सुर दुर्लभ कहलाने वाला मनुष्य जीवन सार्थक हो सकता था उसकी सम्भावना नष्ट हो जाती है। उलटे उस दुर्गति में पड़ना होता है, जिसमें आज कल अधिकांश मनुष्य फंसे हुए हैं।

स्थूल शरीर यदि स्वस्थ है तो उसके द्वारा जो लाभ मिलते हैं उनकी थोड़ी बहुत जानकारी हम सभी को है। निरोग शरीर देखने में सुडौल सुन्दर लगता है- उसका आकर्षण खिले फूल की तरह सभी को मोहता और आकर्षित करता है। अधिक श्रम करना कठिन कामों को सहज निपटा कर स्वयं लाभान्वित होना और दूसरों पर छाप छोड़ना निरोगता की स्थिति में सम्भव होता है। इन्द्रियों के दुहरे काम हैं उनके माध्यम से क्रिया शक्ति कार्यान्वित होती है और बदले में धन, ज्ञान, अनुभव, कौशल आदि उपलब्ध करती है। ज्ञानेन्द्रियों के अपने उपयोग आनन्द भी हैं। जीभ से स्वाद-कामेन्द्रिय से विषय सुख-नेत्रों से सौन्दर्यानुभूति कान से मधुर श्रवण-त्वचा से कोमल स्पर्श के आनन्द मिलते हैं। आहार की तृप्ति गहरी, निद्रा, स्फूर्ति, एवं सक्रियता कितनी उपयोगी और सुखद है, इसे हर कोई जानता है। शरीर की विशेष साधना कर लेने पर लोग चमत्कारी प्रदर्शन करके गौरवान्वित होते हैं। शिल्पी, कलाकार, पहलवान, खिलाड़ी, सरकस के जादूगर-दुस्साहस भरे कीर्तिमान स्थापित करने वाले वस्तुत: शरीर साधना के निष्णात ही कहे जा सकते हैं। यों मनोयोग का समन्वय भी उनकी सफलताओं में जुड़ा रहता है। अकेला पंचतत्वों का शरीर तो बिना चेतन मन की सहायता के हिल-डुल तक नहीं सकता, फिर बड़ी उपलब्धियाँ तो उसके लिए सम्भव कैसे हो सकती हैं। यह मनोयोग जो शरीर का संचालन के

३.२ गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ

काम आता है स्थूल शरीर का ही एक भाग माना गया है। इसी से मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय कहते हैं।

स्थूल शरीर की सक्षमता के फलस्वरूप ही संसार की अनेकानेक भौतिक, उपलब्धियाँ मिलती हैं। साँसारिक सुखद वस्तुओं को प्राप्त करने और व्यक्तियों को सहयोग देकर बदले में सहयोग पाने का आनन्द देने में शरीरगत सक्रियता ही प्रधान कारण होती है। कर्म की महिमा सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है कर्मफल से ही सुख-दुख मिलते हैं। कर्म का स्थूल परिमाण शरीरगत सक्रियता के साथ ही जुड़ता है। दण्ड, पुरस्कार इसी कर्मशीलता के आधार पर मिलते हैं। शरीर को सही स्थिति में रखना और उसे अमुक स्तर की सफलताऐं प्राप्त करने के लिए आवश्यक प्रशिक्षण देकर उपयुक्त बनाना- इसी को शरीर साधना कहते हैं।

साधना विज्ञान का प्रथम चरण शरीर के आरोग्य का रक्षण और उसकी सक्रियता को व्यवस्थित एवं परिष्कृत करने के लिए है इससे साधक निरोग सक्षम और दीर्घ जीवी बनता है। योग की यह प्रथम उपलब्धि है। स्वास्थ्य रक्षा के मोटे नियम सर्वविदित हैं। आहार विज्ञान के अन्तर्गत यह पढ़ाया जाता है कि भोजन में क्या वस्तुऐं किस अनुपात से होनी चाहिए और उन्हें किस तरह पकाया खाया जाना चाहिए। श्रम व्यायाम, दिनचर्या सफाई जैसी अनेक बातें स्वास्थ्य रक्षा के लिए आवश्यक बताई जाती हैं। बीमारी की हालत में दवादारू की व्यवस्था करने वाला एक पूरा शास्त्र बना हुआ है। यह स्थूल आरोग्य रक्षा विधान हुआ। सूक्ष्म आरोग्य विज्ञान इससे कहीं अधिक भीतर है। उसकी जड़ें बहुत गहरी हैं फलतः उसकी प्रतिक्रिया भी अधिक प्रखरता युक्त होती है।

आसन, प्राणायाम, नेति धेति, बस्ति, न्योली, बज्रोली, कपाल भांति उड्डयान बंध, जालंधर बंध, मूल बंध, मुद्राऐं, उपवास, तप तितीक्षा, चान्द्रायण, मौन, परिक्रमा आदि कितनी ही शारीरिक साधनाऐं स्वास्थ्य सम्वर्धन के उस गहन अन्तराल तक प्रवेश करती हैं जहाँ तक आहार बिहार के सामान्य नियम पालने की प्रतिक्रिया नहीं पहुंचती। देखा गया है कि स्वास्थ्य रक्षा के सामान्य नियम ठीक तरह पालन करने वालों में से भी कई व्यक्ति दुर्बलता और रूग्णता से घिरे रहते हैं। इसका कारण नाड़ी देख कर नहीं जाना जा सकता। कोशिकाओं में तन्तुओं में, पाचक स्रावों में, विशिष्ट ग्रन्थियों में कुछ विलक्षण प्रकार की उलझनें ऐसी खड़ी हो जाती हैं जो शरीर शक्तियों द्वारा किए गये गम्भीर परीक्षणों की पकड़ में भी नहीं आतीं और अशक्तता एवं रुग्णता की उलझी हुई गुत्थी सुलझने में नहीं आती। इन प्रसंगों में योग विज्ञान के वे प्रयोग आश्चर्यजनक सत्परिणाम उपस्थित करते देखे गये हैं जिनकी बिस्तृत व्याख्या विवेचना- प्रयोगशाला के स्तर पर तो नहीं की जा सकती, पर परिणामों की कसौटी पर यह जाना जा सकता है कि यह उपचार कितने अधिक सफल होते हैं।

पहलवानों में देखी जाने वाली बलिष्ठता, कलाकारों में पाई जाने वाली फुर्ती और सैनिकों जैसी चुश्ती ही मात्र आरोग्य की निशानी नहीं है। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है जीवनी शक्ति की प्रचुरता जिसे जीवट भी कह सकते हैं। रक्त अशुद्ध होने या कोई भीतरी अवयव क्षीण हो जाने पर भी इस जीवट के आधार पर कोई रुग्ण दीखने वाला मनुष्य स्वस्थ लोगों की तुलना में अधिक सक्रिय रह सकता है और अधिक महत्त्वपूर्ण काम निपटा सकता है। इसे 'जिजीविषा' का नाम ही दिया जा सकता है। इसके सहारे मौत से जूझा जा सकता है और अस्वस्थता के भार से दबे होने पर भी प्रबल पुरुषार्थियों जैसे प्रखर कर्तृव्य सम्पन्न करते रहा जा सकता है। भीष्म के शर शैय्या पर पड़े रहने पर भी उत्तरायण सूर्य आने तक की प्रतीक्षा में जीवित रहना और आद्य शंकराचार्य के भयंकर फोड़े से संत्रस्त रहने पर भी आश्चर्यजनक सक्रियता का प्रमाण देना जैसे असंख्यों प्रमाण ऐसे मिलते हैं जिसमें गान्धी जैसे दुर्बल और राजेन्द्र बाबू जैसे रुग्ण मनुष्यों ने पूर्ण स्वस्थ मनुष्यों से भी आगे बढ़कर ऐसे काम करके दिखाए जिन पर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है।

योग साधना का प्रतिफल आरोग्य के मूल संस्थानों तक पहुँचता और उस जीवट- जिजीविषा को जगाता है जिसे पाकर हर स्तर का शरीर ऐसे काम कर सकता है जो सामान्य लोगों को चमत्कार जैसे प्रतीत हों।

सूक्ष्म शरीर अर्थात् चिन्तन चेतना की दिव्यज्योति। इसका मोटा लाभ मस्तिष्क की तीक्ष्णता, स्मरण शक्ति, दूर-दृष्टि, गहराई में जा पहुँचने वाला पर्यविक्षण- सूझ-बूझ एवं आदि के रूप में देखा जाता है। मन्दबुद्धि और तीक्ष्ण बुद्धि होने का फैसला इस आधार पर किया जाता है कि उसकी सूझ-बूझ समझदारी किस स्तर की है। शारीरिक बलिष्ठता और सक्रियता के आधार पर मिलने वाले सुखों और लाभों की तरह मानसिक सक्षमता के

सुखद प्रतिफल भी कम नहीं हैं। स्कूली पढ़ाई ऊँची श्रेणी में उत्तीर्ण करने वाले लोगों को अफसरी के ऊँचे पद मिलते हैं। वकील, डाक्टर, साहित्यकार, वैज्ञानिक, आदि बुद्धिजीवी वर्ग के लोग अकल की कमाई ही खाते हैं। व्यापारी, शिल्पी, कलाकार मात्र शारीरिक मेहनत के आधार पर उन्नतिशील नहीं बनते उनकी चिन्तन प्रक्रिया भी उन कार्यों में तन्मयता पूर्वक संलग्न रहती है। शरीर की सक्रियता और मन की तन्मयता का संयोग जहाँ जितनी अधिक मात्रा में हो रहा होगा वहाँ उसी अनुपात में एक से एक बढ़ी-चढ़ी सफलताऐं भी सामने प्रस्तुत होती चली जा रहीं होंगी।

बुद्धि वैभव का मूल्य समझा जाता है और ज्ञान प्राप्ति के लिए स्कूल, कालेजों के माध्यम से बहुत श्रम समय एवं धन खर्च करके उसके लिए अथक प्रयत्न किया जाता है। स्वाध्याय सम्पर्क, परिभ्रमण, विचार विनियम, अभ्यास आदि के अन्य उपाय भी ऐसे हैं जिनके सहारे ज्ञानवृद्धि का पथ प्रशस्त होता है। शरीर कौशल की तरह बुद्धि वैभव की भी अपनी उपलब्धियाँ हैं। अभिनव शोध कार्यों में – अन्वेषण पर्यवेक्षणों में- आवरणों के परत भेदकर वस्तुस्थिति समझने में सूक्ष्म बुद्धि ही काम करती है। यह उस अक्लमंदी से ऊपर की चीज है जो दैनिक कार्य-व्यवसायों में कई तरह की सफलताऐं प्रस्तुत करती है। यह किस प्रकार पाई या बढ़ाई जा सकती है इसका कोई बहिरंग आधार अभी बन नहीं पाया हैं। साधारण अक्लमंदी की दृष्टि से एक से एक चतुर और उस्ताद लोग हर जगह भरे पड़े हैं। पर गहराई में गोता मार कर मोती बीन लाने का सौभाग्य किन्हीं बिरलों को ही मिला होता है। यह कौशल जिनके भी हाथ लग जाता है वे सामान्य परिस्थितियों में जन्मने और सामान्य लोगों के बीच पलने पर भी विचित्र तरीकों से आगे बढ़ते हैं और आड़ी-टेढ़ी पगडंडियाँ पार करते हुए कहीं से कहीं जा पहुँचते हैं। उनके दूसरे साथी आश्चर्य करते रह जाते हैं कि बहुत समय तक एक सी स्थिति में रहने पर भी एक इतना आगे निकल गया और दूसरा जहाँ का तहाँ रह गया। इस अन्तर का एक ही कारण है- प्रस्तुत परिस्थितियों से श्रेष्ठतम लाभ उठालेने की सन्तुलित सूझ-बूझ का बाहुल्य। एक को सब कुछ सामान्य ही दीखता है, पर दूसरा उसी स्थिति या सामग्री में से बहुत कुछ असामान्य खोज निकालता है। खोजता ही नहीं अवसर का उपयोग भी करता है। प्रगति के चरण सदा इसी आधार पर बढ़ते हैं। सामान्य मनुष्य इसी आधार पर असामान्य बनते हैं और सफलता प्राप्त सम्मानित ऐतिहासिक व्यक्तियों की पंक्ति में जा बैठते हैं। कालिदास, वोपदेव, वरदराज जैसे आरम्भ में अति मूर्ख समझे जाने वाले लोगों के कालान्तर में ब्युत्पन्न मति महा मनीषियों की श्रेणी में गिने जाने लगने के कारण उदाहरण यही बताते हैं कि हर किसी में प्रसुप्त पड़ी चिन्तन चेतना की दिव्य ज्योति को यदि जाज्वल्यमान किया जा सके तो कोई भी व्यक्ति वर्तमान की तुलना में अपने भविष्य को निश्चित रूप से उज्जवल बना सकता है।

तीन शरीर और उनका कार्य क्षेत्र

जिस प्रकार स्थूल शरीर के साथ सूक्ष्म शरीर गुंथा हुआ है उसी प्रकार उससे आगे की गहराई में उतर कर देखने से प्रतीत होता है, कि स्थूल शरीर में सर्व समर्थ या स्वावलंम्बी वही है। उसके पीछे भी एक अधिक समर्थ सत्ता नियन्ता की जुड़ी हुई है। उसका नाम है -कारण शरीर। सामान्य बुद्धि तो काया को ही अपना समग्र स्वरूप मानती है और उतने तक ही प्रसन्नता, विपन्नता को सीमाबद्ध रखती है। शारीरिक स्वार्थ ही मनुष्य के लक्ष्य बनकर रहते हैं। उसी को अपना समग्र स्वरूप मानते हुए सोचने और करने की परिधि सीमाबद्ध कर लेते हैं। शोभा सज्जा, समर्थता, सम्पन्नता, सरलता ही शरीर को रुचते हैं इसलिए उन्हीं के निमित्त समूचा प्रयास नियोजित रहता है।

सूक्ष्म शरीर को मोटे रूप से समझने के लिए चेतना के उस पक्ष को आधार मानना पड़ेगा, जिसे कल्पना या विचारणा कहते हैं। कुशलता चतुरता भी। स्वभाव और रुझान इस स्तर के साथ जुड़ा हुआ है। शिक्षा, अनुभव, अभ्यास के आधार पर विचार तन्त्र का उत्कर्ष किया जाता है। इस दिशा में प्रगतिशील व्यक्तियों को पैनी सूझ-बूझ वाला, चतुर, विद्वान आदि के नाम से जाना जाता है। यह शरीर के साथ समृद्धि बंधनों से बँधा रहता है इसलिए उसकी दौड़-धूप कल्पना, इच्छा प्रायः बहिरंग जीवन के निमित्त ही क्रियाशील रहती है। मस्तिष्कीय गतिविधियों को कायिक निर्वाह के लिए सोचने और साधन जुटाने में संलग्न पाया जाता है।

कारण शरीर का तत्व ज्ञान बढ़ा-चढ़ा है पर उसे सामान्य परिचय में भाव संवेदना कह सकते हैं। भावना, आस्था, प्रेरणा, साहस, विश्वास, आदर्श जैसे तत्व इसी

क्षेत्र में उभरते हैं। किसी को महामानव स्तर तक विकसित करने की अलौकिकता इसी क्षेत्र में उभरती है। उसकी विकसित स्थिति इतनी समर्थ है कि एकाकी निर्धारण कर सके। अकेला चल सके। आदर्शों के लिए कठिनाइयों को सहन कर सके। बिना डगमगाए उच्च लक्ष्य तक पहुँच सके। योगी, तपस्वी, मनीषी, सुधारक, सृजेता इसी स्तर के होते हैं। जो मात्र उत्कृष्टता की दिशा में ही कदम बढ़ाते हैं। विचार तन्त्र और क्रिया तन्त्र के साथ घसीटते चलने की क्षमता परिष्कृत कारण शरीर से ही होती है। साथ ही यह बात भी है कि इस क्षेत्र पर यदि अनैतिक अवांच्छनीयता अधिकार जमा ले तो व्यक्ति को घिनौने स्तर का अपराधी और असुर बना देती है। इसलिए व्यक्तित्व का स्वरूप निर्धारित करने एवं उसे भला-बुरा समुन्नत अधःपतित बनाने वाली उमंगें भी कहीं से उठती हैं। मानवी गरिमा के अनुरूप जीवन जी सकना और महामानवों का स्तर अपना सकना जिस आधार पर सम्भव होता है उसे कारण शरीर ही कहना चाहिए।

कर्म स्थूल शरीर से बन पड़ते हैं। विचार सूक्ष्म शरीर में उठते हैं और भाव संवेदनाओं का उद्गम कारण शरीर को समझा जा सकता है। उदारचेता, संवेदनशील, आदर्शवादी परमार्थी स्तर उन्हीं का होता है, जिनके कारण शरीर परिष्कृत हो।

सूक्ष्म शरीर के विकृत विपन्न होने पर कुकल्पनाऐं उठती हैं। चंचलता छाई रहती है। असंबद्ध भटकाव का दौर चढ़ा रहता है। आदतें बिगड़ती हैं और स्वभाव घटिया हो जाता है। फलस्वरूप मानसिक उद्वेग बने रहते हैं। क्रोध, आतुरता, निराशा, चिन्ता, ईर्ष्या, प्रतिशोध एवं महत्त्वाकांक्षाओं का ऐसा उफान उठता है, जिसे समुद्र में उठने वाले ज्वार भाटे या उष्ण वायु में बनने वाले चक्रवात के समतुल्य समझा जा सके। मानसिक तनाव रहने पर शरीर भी स्वस्थ नहीं रह सकता, क्योंकि मात्र आहार बिहार पर ही स्वस्थता निर्भर नहीं है। वरन् उस तन्त्र के संचालन के उपयुक्त ऊर्जा मनः क्षेत्र में ही मिलती है। उद्वेग उभरने पर भूख, प्यास, नींद तक गायब हो जाती है और असन्तुलित मनः स्थिति में व्यक्ति सनकी, विक्षिप्त, उन्मादी जैसा आचरण करने लगता है। दूरदर्शिता कुंठित हो जाने पर सामान्य गतिविधियाँ एवं निर्धारणाऐं भी ठीक तरह नहीं बन पड़तीं। इतना ही नहीं भीतरी अंग अवयवों पर इतना दबाव पड़ता है कि जहाँ-तहाँ से जिस-तिस प्रकार की रुग्णता उभरने लगती है। बाह्य प्रभावों की प्रतिकूलता से जितना अनिष्ट होता है उससे कहीं अधिक अनर्थ मानसिक असन्तुलन से होता है। स्वास्थ्य बिगड़ता है और निर्णय, निर्धारण, क्रिया-कलाप उल्टे होने लगते हैं।

यदि शारीरिक स्वास्थ्य की तरह मानसिक सुसन्तुलन का ध्यान रखा जाय तो उस स्थिति में बाह्य परिस्थितियों की प्रतिकूलता भी हँसते-हँसाते सहन करली जाती है। सही चिन्तन चलता रहे तो स्वभाव में ऐसी आदतें सम्मिलित नहीं हो पातीं जो स्वास्थ्य बिगाड़ें, मस्तिष्क को तनावग्रस्त रखें। बेतुके आचरण अपनाने और व्यवहार कुशलता के अभाव में जिसे असहनीय विग्रह का सामना करना पड़ता है उस प्रकार का त्रास सहना पड़े।

मनः स्थिति की विपन्नता ही अकर्म करने के लिए प्रेरित करती है और उसी कारण परिस्थितियाँ ऐसी बनती हैं जिन्हें दुःखद या दुर्भाग्यपूर्ण कहा जा सके। एक जैसी परिस्थितियों में जन्में और पले व्यक्तियों में से कुछ लोक प्रिय होते हैं, सम्मान और सहयोग अर्जित करते हैं साथ ही तेजी से प्रगति पथ पर दौड़ लगाते हैं। चुम्बक अपने प्रभाव से लौह खण्डों को घसीट कर उपने साथ चिपका लेती है उसी प्रकार विचारशील व्यक्ति अपने सही चिन्तन को सद्गुणों में बदलते हैं और सद्गुणों के लिए चिरस्थायी सम्मान एवं सहयोग सुरक्षित रहता है। सही निर्णय सही स्वभाव, सही आचरण यही शृंखला अनेकानेक सफलताओं का आधारभूत कारण बनती है। जो इस तथ्य को नहीं समझते वे विचार तन्त्र को उच्छृंखलता के खाई खन्दकों में भटकने देते हैं। फलस्वरूप उनका व्यक्तित्व अवांच्छनीय हेय स्तर का बन जाता है। पग-पग पर ठोकरें लगती हैं। हर दिशा से तिरस्कर, उपहास, विरोध बरसता है। ऐसा व्यक्ति स्वयं तो दुखी रहता ही है। साथ ही सम्बद्ध लोगों को, मित्र परिजनों को भी विषम विपन्नता में धकेलता है। कुसंस्कारिता अपने आप में एक विपत्ति है। वह जहाँ भी रहती है, वहीं अपने स्तर के अनेक सहयोगियों को न्यौत बुलाती है। ऐसी विसंगतियों से घिरा हुआ कोई व्यक्ति न तो स्वयं चैन से रहता है और न जिसके साथ जुड़ता है उसे चैन से बैठने देता है। ऐसों की दुर्गति ही होती है। वे कभी कहने योग्य सफलता और सज्जनों के द्वारा की गई प्रशंसा के पात्र बन नहीं पाते।

स्वास्थ्य सुधारने और सुन्दर सम्पन्न दीखने के लिए जितना प्रयत्न किया जाय उतना ही यदि मन को सुसंस्कारी बनाने के लिए भी किया जाय तो अपेक्षाकृत

कहीं अधिक लाभ में रहा जा सकता है। उपलब्धियाँ, साधन सम्पदाऐं कितनी ही अधिक क्यों न हो उनका सदुपयोग करने की दूरदर्शिता, विवेकशीलता का अभाव रहे तो दुरुपयोग से अमृत भी विष बन सकता है। कुबेर को भी अभाव रह सकता है, और इन्द्र जैसा सर्व सम्पन्न भी पतित, निंदित एवं अभिशप्त स्थिति में पहुँच सकता है। जिन्हें इस वस्तु- स्थिति का ज्ञान है वे सूक्ष्म शरीर को विचार तन्त्र की परिष्कृत, परिमार्जित बनाने पर पूरा-पूरा ध्यान देते हैं और हर परिस्थिति में हँसता-हँसाता हुआ खिलता-खिलाता हुआ जीवन जीते हैं। यही है सूक्ष्म शरीर का सामान्य जीवन में सदुपयोग।

कारण शरीर में भाव संवेदनाओं का भण्डार है। असीम शक्ति का स्रोत यहीं से उभरता है। स्थूल शरीर को विकसित करने के लिए कर्मयोग का, सूक्ष्म शरीर को प्रगति के लिए ज्ञानयोग का और कारण शरीर को समृद्ध बनाने के लिए भक्तियोग का आश्रय लेना पड़ता है।

कायसत्ता के तीन कलेवर एवं उनका अनावरण

मनीषियों के अनुसार आत्मा के ऊपर तीन परिधान लिपटे हुए हैं। जिस प्रकार बनियान, कुर्ता, कोट एक के बाद एक पहन कर सुसज्जा बनाई जाती है उसी प्रकार काया के ऊपर भी तीन शरीर रूपी आवारण चढ़े हैं। एक स्थूल शरीर है जो प्रत्यक्ष देखा व छुआ जाता है और इच्छानुसार कार्यों में लगाया जाता है। दूसरी गहरी परत सूक्ष्म शरीर की है। यह प्राणमय है। मरने के बाद कुहासे के रूप में बिखर जाता है। हृदय स्थान से ज्योतिवत् ध्यान करते हुए यह दिखाई देता है। शरीर के इर्द गिर्द तेजोवलय के रूप में भी यही छाया रहता है। तीसरा शरीर कारण शरीर है। इसका स्थान अन्तःकरण चतुष्टय है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का समुच्चय इसी के साथ जुड़ा हुआ है। यों आकांक्षा, मान्यता, प्रेरणा, उमंग इसी में उठती हैं। पर एक शब्द में इसकी प्रमुखता को देखते हुए इसे भावना प्रधान कहा जा सकता है। इसकी स्थिति प्रधानतया भाव संवेदनाओं से ही जानी जाती है।

जीव जन्तु, पशु-पक्षी स्थूल शरीर प्रधान होते हैं। वे काया की आवश्यकताऐं एवं इच्छा पूरी करने में लगे रहते हैं। पेट भरने के लिए उनकी शारीरिक क्रियाऐं होती है और प्रजनन का ताना बाना बुनने में उनका मन काम करता रहता है। इसके अतिरिक्त सुरक्षा की व्यवस्था बनाने में भी अपनी बुद्धिमत्ता का उपयोग वे करते हैं। शत्रुओं से आत्मा रक्षा के लिए जितना बन पड़ता है, कौशल अपनाते हैं। झाड़ियों में रहने से लेकर गुफाओं में छिपने और झुण्ड बनाकर रहने की प्रवृत्ति आत्मरक्षा से ही सम्बन्धित है। प्रजनन के लिए घोंसले, खोह, कोतर आदि का प्रबन्ध उन्हें करना पड़ता है।

मनुष्य भी प्रायः अपनी काया को अधिकांश श्रम शक्ति को इन्हीं प्रयोजनों में जुटाए रहते हैं। गुजारे के लिए उत्पादन का श्रम करना पड़ता है, कामुकता बेचैन करती है तो जोड़ा बनाते हैं। विवाह करते हैं और उस समागम का प्रतिफल सन्तानोत्पादन के रूप में सामने आता है। बच्चों की असमर्थता को देखते हुए अभिभावक उनकी देखभाल तब तक करते हैं जब तक कि वह शारीरिक मानसिक दृष्टि से स्वावलम्बी नहीं हो जाते। यह उपर्युक्त दोनों ही व्यस्त रखने वाले कार्य "पेट और प्रजनन" की परधि में आते हैं। स्थूल शरीर को उत्पादन जन्य लोभ अपनाना होता है। भावुकता का फलितार्थ विवाह और सन्तान के रूप में सम्मुख आता है। यह सभी नवागन्तुक अपने प्रभाव एवं प्रयत्न से उत्पन्न किए गए होते हैं। इसलिए उनके प्रति ममता जुड़ती है। ममता अपने प्रियजन की अनेकानेक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आतुरता प्रकट करती है। यही मोह है। मनुष्य का स्तर जब तक शरीर प्रधान, पशु स्तर का रहता तब तक उसमें लोभ और मोह की ललक लगन सतत छाई रहती है।

इसके अतिरिक्त मनुष्य बुद्धिमान होने के कारण अपने निजी व्यक्तित्व के बारे में भी विचार करने लगता है। जबकि पशु-पक्षियों में उस स्तर का चिन्तन स्वल्प मात्रा में ही उभरता है। मनुष्य की शरीरगत प्रवृत्तियों में एक अहंकार भी है। इसे मानसिक चेतना का उद्भव भी कह सकते हैं। इन्द्रिय भोगों की वासना और उपभोग सामग्री की तृष्णा इन दोनों का बाहुल्य तो रहता ही है। पर साथ ही मानसिक विकास के रूप में निज के व्यक्तित्व की कल्पना भी प्रखर होती है। स्वाभिमान जगता है। अहंता प्रकट होती है। इसकी दो कामनाऐं हैं। एक यह कि अपना स्तर दूसरों से बढ़ा चढ़ा सिद्ध करना। दूसरा सम्मान उपलब्ध करना। यह किस प्रकार सम्भव है, इसके लिए शरीर की परिधि में अपनी सत्ता सीमित रखने वालों के लिए स्वकृत्य के रूप में ठाट-बाट, बढ़ाने का उपाय उपचार समझ में आता है।

वस्त्र, आभूषण, शृंगार, साधन, ठाट-बाट अमीरी जताने वाले साधनों का एक भी कारण यह इस स्तर के कौतुक हैं, जिनमें समय, श्रम और साधन खर्च करते हुए भी इसलिए प्रवृत्त होना पड़ता है कि अपने से पिछड़ी स्थिति के लोग तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने के उपरान्त यह विचार करें कि अमुक व्यक्ति हमारी तुलना में अधिक वैभववान होने के कारण बड़प्पन का अधिकारी है। यह उथले दर्जे का बड़प्पन है । इसे पाने के लिए लोग विवाह शादियों में अंधाधुंध अपव्यय करने, कर्मकाण्डों का प्रदर्शन करने, सभा सोसायटियों के अधिकारी बनने आदि के प्रपंच रचते रहते हैं। इस कौतुक के सहारे वे अपना सांसारिक मूल्य दूसरों के मूल्य की तुलना में अधिक सिद्ध करने में किसी कदर सफल भी हो जाते हैं।

शारीरिक क्षेत्र की तुलना में मानसिक ललकों की मात्रा अधिक है। शरीर तो अन्न, वस्त्र और निवास की आवश्यकताऐं पूरी हो जाने पर तृप्त हो जाता है। पर मन को कामुकता की अन्यान्य इन्द्रियों की ललक बुझानी पड़ती है और उसके लिए विवाह, सन्तान, परिवार को अपने साथ जोड़कर उनकी आवश्यकताओं को भी अपनी अनिवार्य आवश्यकता मानना पड़ता है। बात ममता की पूर्ति तक ही सीमित नहीं रहती । मोहे के अधिक अभीष्ट सुविधा सम्पादन का क्रम बैठ जाने पर भी मन शान्त नहीं होता। विकसित मस्तिष्क पर अहंकार का उन्माद ही छाया होता है और साधारण होते हुए भी असाधारण आडम्बर बनाकर अपनी वरिष्ठता का वह ढिंढोरा पीटना चाहता है। लोगों की दृष्टि में अधिक वैभववान सिद्ध होना चाहता है। इसके लिए खर्चीला ठाट-बाट तो बनाना ही पड़ता है। इसके लिए ढेरों समय एवं धन का अपव्यय करना आवश्यक हो जाता है। इतना ही नहीं कई बार उद्धत आचरण अपनाकर अपनी आतंकवादी प्रभुता प्रकट करने के लिए अनाचार तक अपनाना पड़ता है। अपहरण, आक्रमण, शोषण, उत्पीड़न जैसे नृशंस काम करने पड़ते हैं। चतुरता का उच्चस्तरीय परिचय देना तो कठिन है पर ठगी, प्रवंचना, शेखीखोरी जैसे प्रपंच खड़े करके व्यक्ति औरों की तुलना में अपने को अधिक चतुर सिद्ध करता है। भले ही वे चतुरताऐं कुटिलता स्तर की हेय या अनैतिक ही क्यों न हों? शरीर "लोभ" की पूर्ति में और मन "मोह" का ताना-बाना बुनने में लगा रहता है। इसके विपरीत विकसित मन को अहंकार का प्रदर्शन करने की ऐसी विडम्बना नहीं रचनी पड़ती ।

इससे एक कदम आगे बढ़ने पर कारण शरीर में एक जाग्रति भरी हलचल उत्पन्न होती है। वह है सम्मान की, स्नेह सद्भाव की आकांक्षा। जिस प्रकार स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से कारण शरीर का स्तर ऊँचा है, उसी प्रकार इन तीनों शरीरों की आकांक्षाऐं भी क्रमशः अधिक समय साध्य, श्रम साध्य एवं बुद्धि साध्य हैं। स्थूल शरीर की आवश्यकताऐं सामान्य प्रयास से ही पूरी हो जाती हैं। पेट और प्रजनन की व्यवस्था पशु-पक्षी, कीड़े मकोड़े तक आसानी से बना लेते हैं। थोड़ा सा ही चिन्तन और परिश्रम करने से उनके साधन बन जाते हैं। अहंता के नाम पर अन्य प्राणी तो अपनी बलिष्ठता दिखाने के लिए आक्रमण भर करते हैं। आतंक भर मचाते हैं पर मनुष्य को इसके लिए आकुलता भी रहती है और आतुरता भी। जिसे स्नेह नहीं मिला, समझना चाहिए कि उसका जीवन नीरस, निर्जीव, रूखा, कर्कश रह गया। इसी प्रकार जिसे सम्मान नहीं मिला उसे ऊँचा उठने के लिए जो आधार अवसर मिलना चाहिए था, वही छिन गया। इन दोनों के न मिलने या छिन जाने के कारण शरीर की उर्वरता एवं गरिमा ही पलायन कर जाती है। पेट-प्रजनन से भी बड़ी भूख अन्तरात्मा को स्नेह सम्मान की रहती है । पर उसे प्राप्त करने के लिए स्तर के अनुरूप पुरुषार्थ करना पड़ता है। पेट भरने के लिए मेहनत करनी पड़ती है। कामुकता की बेल को समेटने के लिए सुविस्तृत ताना बाना बुनना पड़ता है। जब स्थूल और सूक्ष्म शरीर अपनी इच्छाऐं पूरी करने के लिए समुचित श्रमशीलता एवं तन्मयता, तत्परता चाहते हैं, सतत् व्यस्त बनाए रहते हैं तो कोई कारण नहीं कि काया का सर्वोच्च स्तर जो माँगता है वह बिना कुछ किए अनायास ही मिल जाय। उसके लिए और भी बढ़ा-चढ़ा वैभव अर्जित करना होता है।

कारण शरीर की बलिष्ठता भाव- संवेदना है। ठीक उसी तरह जैसे शरीर में बल और मन में बुद्धि का होना आवश्यक है। पशु भाव रहित होते हैं। उनमें मैत्री, करुणा, मुदिता, सेवा, सहानुभूति, उदारता जैसी गरिमामयी भाव संवेदनाऐं कदाचित ही नगण्य मात्रा में होती हैं। उन्हें स्वार्थ ही सूझता है। कष्ट होता है तो अपने ऊपर संकट आने पर ही पीड़ा होती है। किन्तु मनुष्य का दर्जा कहीं ऊँचा है वह "आत्मावत् सर्वभूतेषु" व "वसुधैव कुटुम्बकम्" स्तर की भाव संवेदना सँजोए रहता है। यही कारण है कि उसके अन्तराल में करुणा और उदारता का उद्गम उभरता रहता है। दूसरों का दुःख बँटा लेने

की और अपना सुख बाँटने की उमंग उठती रहती हैं। इसी परमार्थ परायणता के मूल्य पर दूसरों का सहयोग एवं श्रद्धा सम्मान खरीदा जाता है। उदारता भरी सेवा साधना ही विचारशील लोगों के अन्तराल में शालीनता प्रदर्शित करने वालों के प्रति श्रद्धा उमगाती है और साथ ही सम्मान भरे सहायोग की वर्षा करती है। उसमें स्थायित्व भी होता है आदर्शवादियों के चरित्र एवं व्यवहार का अनुकरण- अभिनन्दन किया जाता है। भाव संवेदना ही आत्मीयता, ममता, मित्रता की जड़ें मजबूत करती है। जिनका अन्त: करण ऊसर बंजर की तरह भावनात्मक उर्वरता से रहित है, उस पर न तो सहयोग सम्मान के मेघ बरस सकते हैं और न सेवा, उदारता के उपवन उगते, सुरभित फूल खिलते हैं। निष्ठुर, स्वार्थ परायण, सहानुभूति- संवेदना रहित व्यक्ति के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि उसका अन्त:करण भाव-संवेदनाओं की उस उर्वरता से सम्पन्न नहीं हो पाया, जिसके कारण व्यक्तिगत स्नेह और समूहगत सम्मान की अमृत वर्षा होती है। व्यक्तित्व को दैवी अनुकम्पा और अन्तरंग को सन्तोष एवं उल्लास से निरन्तर भरे रहती है। इसी कारण उपनिषद बार-बार कहते हैं- "हे मानव ! तू अपने सच्चे स्वरूप को पहचान और उसी के अनुसार तू अपनी देह को कार्य में लगाकर आगे बढ़।"

ऋषि- मनीषियों के अनुसार दो प्रकार के मन होते हैं। एक लघुचेतस् तथा दूसरा उदारचरित्। जिनका आत्मभाव विश्व वसुधा के स्तर तक विकसित रहा-वे उदारचरित कहलाते रहे हैं। उपनिषदों के ऋषि, राम, कृष्ण, बुद्ध, शंकर, चैतन्य, नानक, कबीर, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, गाँधी जैसे व्यक्ति इसी श्रेणी में आते हैं। मनुष्य का अहंभाव जब सीमा रहित हो विकास को प्राप्त कर लेता है तो उसका व्यक्तित्व भी विराट एवं गरिमामय हो जाता है। इसी बात को मनोविज्ञान मैक्डूगल ने अपने शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा है-"ईश्वर की मानव को धरती पर भेजने की सार्थकता उसके विकसित रूप, महामानवों के, विकसित पुरुषों के जीवन चरित्रों को देखकर भली भाँति समझी जा सकती है। यही वह अन्तिम लक्ष्य है जिसे प्राप्त कर मनुष्य पूर्णता तक पहुँचता है, देवत्व को प्राप्त होता है।"

शरीरगत आवश्यकताऐं तो पशु भी पूरी करते हैं। मानसिक तृष्णाओं को चतुर लोग पूरा कर लेते हैं। पर मानवी गरिमा इसमें है कि उसके अन्त:करण में भावनाऐं उमंगें। स्वयं में वह विनम्र निष्काम एवं संयमी, अपरिग्रही रहे। अपनी क्षमताओं को सदाशयता के सम्वर्धन में समर्पित संलग्न करे। देव मानवों का कारण शरीर इसी आधार पर विकसित होता है। इसी उपलब्ध विशेषता के कारण वे महामानव, नर-नारायण एवं पुरुष-पुरुषोत्तम बनते हैं। जीवन साधना के अध्यात्म उपचार इसी उद्येश्य से अपनाए जाते हैं।

चारों ओर बिखरा सूक्ष्म का सिराजा

इस विश्व में जो कुछ दृश्यमान होता है, वह अदृश्य की परिणति है। यहाँ जो कुछ अदृश्य-सूक्ष्म बिखरा पड़ा है, उसका लाख-करोड़वाँ हिस्सा भी दृश्यमान नहीं होता है, पर जो कुछ अनुभव में आता है, वह अनुभव से अगम्य-इन्द्रियातीत विराट् का एक नगण्य- सा अंश मात्र ही होता है।

ब्रह्माण्ड की छोटी अनुकृति पिण्ड- यह शरीर है। इसमें भी वही सब कुछ विद्यमान है, जो इस सम्पूर्ण सृष्टि में है। उदाहरण के लिए अग्नितत्व को लिया जा सकता है। विराट् ब्रह्माण्ड में जितना प्रचुर परिमाण में वह-भरा पड़ा है, हमारा सूर्य उसका राई-रत्ती जितना अंश ही है। उस सूर्य की भी दसों दिशाओं में जितनी उष्मा फैलती हैं, उसका हम लोग पृथ्वी की ओर विकीर्ण होने वाली गर्मी में से भी एक तुच्छ अंश ही अनुभव कर पाते हैं। शरीर में प्रत्यक्ष उष्णता के रूप में दीख पड़ने वाला बुखार वस्तुत: उस ब्रह्माण्ड - व्यापी ऊष्मा की ही झलक झाँकी है, जिसका पसारा सम्पूर्ण सृष्टि में फैला हुआ है- शारीरिक उपद्रवों की स्थिति में हम चमड़ी पर उभरने वाली स्वल्प गर्मी मात्र का ही अनुभव कर पाते हैं और उस बड़े हिस्से से अनभिज्ञ बने रहते हैं, जिससे इसका सम्पूर्ण क्रिया-व्यापार चलता है। वह अंश विदित ही कहाँ हो पाता है, जो शरीर के भीतर है। इतनी ही नहीं, यह विशाल काया एक सूक्ष्म शुक्राणु और उसके भीतर रहने वाले 'जीन्स', 'क्रोमोजोम्स' आदि अति सूक्ष्म तत्वों की परिणति मात्र है, फिर भी वह जितना कुछ दीखता है, उससे भी कई गुनी अधिक विशेषताऐं अनुभव में न आने पर भी विद्यमान रहती हैं। इस तथ्य को विज्ञान भी अब स्वीकारता है।

शरीरशास्त्री जितना ज्ञान अब तक देह के भीतरी और बाहरी अंगों के सम्बन्ध में प्राप्त कर चुके हैं, उससे कहीं अधिक गम्भीर ज्ञान हमें अपने 'सूक्ष्म' और

'कारण' शरीर के सम्बन्ध में प्राप्त करना शेष है। जो शोधें प्राचीनकाल में हो चुकी हैं, उससे आगे का सारा क्रम ही अवरुद्ध हो गया, जबकि आवश्यकता उसे निरन्तर जारी रखे जाने की थी। ज्ञान का अन्त नहीं। जो प्राचीनकाल में जाना जा चुका वह समग्र नहीं । मानवीय सामर्थ्य और विराट् की अनन्तता की तुलना करते हुए यही उचित है कि उपलब्ध ज्ञान को पूर्ण न मानते हुए अन्वेषण कार्य जारी रखा जाय ।

सूक्ष्म और कारण शरीरों की स्थिति, शक्ति, सम्भावना और उपयोग की प्रक्रिया समझने में भूत काल के साधना विज्ञानियों की जानकारियों से लाभ उठाया जाना चाहिए और अन्तरिक्ष के सूक्ष्म प्रवाह संचार में पिछले दिनों जो परिवर्तन हुए हैं, मानवी कलेवर के स्तर में जो भिन्नता आई है, उसे ध्यान में रखते हुए हमें शोध कार्य को आगे बढ़ाना चाहिए ।

स्थूल दृश्य शरीर की गतिविधियाँ इस भूलोक तक सीमित हैं। सूक्ष्म शरीर भुवः लोक तक और कारण शरीर स्वः लोक तक अपनी सक्रियता फैलाए हुए हैं। इन भूः भुवः स्वः लोकों को ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र आदि समझने की आमतौर से भूल की जाती है। लोक और ग्रह सर्वथा भिन्न हैं। ग्रह स्थूल हैं लोक सूक्ष्म। इस दृश्यमान अनुभवगम्य भूलोक के भीतर अदृश्य स्थिति में दो अन्यलोक समाए हुए हैं भुवः लोक और स्वः लोक । वहाँ की स्थिति भूलोक से भिन्न है। यहाँ पदार्थ का प्राधान्य है। जो कुछ भी सुख-दुख हमें मिलते हैं, वे सब अणु पदार्थों के माध्यम से मिलते हैं। यहाँ हम जो कुछ चाहते हैं या उपलब्ध करते हैं, वह पदार्थ ही होता है। स्थूल शरीर चूँकि स्वयं पदार्थों का बना है, इसलिए उसकी दौड़ या पहुँच पदार्थों तक ही सीमित हो सकती है। भुवः लोक विचार प्रधान होने से उसकी अनुभूतियाँ, शक्तियाँ, क्षमताऐं, सम्भावनाऐं सब कुछ इस बात पर निर्भर करती हैं, कि व्यक्ति का बुद्धि संस्थान, विचार स्तर क्या था।

स्वः लोक भावना लोक है। यह भावना प्रधान है। भावनाओं में रस है। प्रेम का रस प्रख्यात है। माता और बच्चे के बीच, पति और पत्नी के बीच, मित्र और मित्र के बीच कितनी प्रगाढ़ता, घनिष्टता, आत्मीयता होती है, यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं। वे संयोग में कितना सुख और वियोग में कितना दुःख अनुभव करते हैं, इसे कोई सहृदय व्यक्ति अपनी अनुभूतियों की तथा उन स्थितियों के ज्वारभाटे से प्रभावित लोगों की अन्तःस्थितियों का अनुमान लगा कर वस्तुस्थिति की गहराई जान सकता है। यह भाव- संवेदना इतनी सघन होती है कि शरीर और मन को किसी विशिष्ट दिशा में घसीटती हुई कहीं-से-कहीं ले पहुँचती है। श्रद्धा और विश्वास के उपकरणों से देवताओं को विनिर्मित करना और उन पर अपना भावारोपण करके अभीष्ट वरदान प्राप्त कर लेना- यह सब भाव संस्थान का चमत्कार है। देवता होते हैं या नहीं उनमें वरदान देने की सामर्थ्य है या नहीं- इस तथ्य को समझने के लिए हमें मनुष्य की भाव सामर्थ्य की प्रचण्डता को समझना पड़ेगा। उसकी श्रद्धा का बल असीम है। जिसकी जितनी श्रद्धा होगी, जिसका जितना गहरा विश्वास होगा, जिसने जितना प्रगाढ़ संकल्प कर रखा होगा, और जिसने जितनी गहरी भक्तिभावना को संवेदनात्मक बना रखा होगा, देवता उसकी मान्यता के अनुरूप वैसा ही बन कर खड़ा हो जाएगा। वह उतना ही शक्ति सम्पन्न होगा और उतने ही सच्चे वरदान देगा।

कहना न होगा कि हर चीज सूक्ष्म होने पर अधिक शक्तिशाली बनती चली जाती है। मिट्टी में वह बल नहीं जो उसके अति सूक्ष्म अंश अणु में है। हवा में वह सामर्थ्य नहीं, जो विद्युत् चुम्बकीय विकिरण में है। पानी में वह क्षमता नहीं, जो भाप में है। स्थूल शरीर के गुणधर्म से हम परिचित हैं। वह सीमित कार्य ही अन्य जीव-जन्तुओं की तरह पूरे कर सकता है। जो अतिरिक्त सामर्थ्य, अतिरिक्त प्रतिभा, अतिरिक्त प्रखरता मनुष्य के अन्दर देखी जाती है, वह उसके सूक्ष्म और कारण शरीरों की ही है बाहर से सब लोग एक-से दीखने पर भिन्न स्थिति के कारण उनमें जमीन-आसमान जितना अन्तर पाया जाता है। यह रक्त-माँस का फर्क नहीं, वरन् सूक्ष्म शरीर की अन्तःचेतना में सन्निहित समर्थता और असमर्थता के कारण ही होता है। पंचभौतिक स्थूल काया को जिस प्रकार आहार, व्यायाम, चिकित्सा आदि उपायों से सामर्थ्यवान बनाया जाता है, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर तथा कारण शरीर को भी साधना और और संयम के द्वारा परिपुष्ट बनाया जाता है। मनोबल और आत्मबल के कारण जो अद्भुत विशेषताऐं लोगों में देखी जाती हैं, उन्हें इन सूक्ष्म शरीरों की बलिष्ठता ही समझना चाहिए। साधना का उद्देश्य उसी बलिष्ठता को सम्पन्न करना है।

स्थूल शरीर की शोभा, तृप्ति, और उन्नति के लिए हमारे प्रयत्न निरन्तर चलते रहते हैं। यदि सूक्ष्म और

कारण शरीरों को उपेक्षित और बुभुक्षित पड़े रहने देने की हानि को समझें, और उन्हें भी स्थूल शरीर की ही तरह समुन्नत करने का प्रयत्न करें, तो ऐसे असाधारण लाभ प्राप्त कर सकते हैं, जिनके द्वारा जीवन कृत -कृत्य हो सके। भूलोक में पदार्थ-सम्पदाओं से प्राप्त थोड़े- से सुख का हमें ज्ञान है, अस्तु उसी उधेड़बुन में लगे रहते हैं। भुव:और स्व: लोकों की विभूतियों को भी जान सकें, तो सच्चे अर्थों में सम्पन्न बन सकते हैं और यह कह सकते हैं कि ब्रह्माण्ड और पिण्ड की एकरूपता को हमने यथार्थ में पहचान लिया। उच्चस्तरीय योग- साधनाओं का उद्येश्य मनुष्य को इसी एकरूपता, समग्रता और सम्पन्नता से अवगत कराना है।

अन्तराल में समाई दिव्य शक्तियाँ-सिद्धियाँ

अपनी इसी काया में समस्त देवताओं, समस्त शक्तियों, अतीन्द्रिय क्षमताओं का निवास है। हृदय गुहा में विराजमान आत्मसत्ता ही ब्राह्मी चेतना का आगार है। विभूतियाँ उन्हीं के दिव्य निर्झर हैं। जो प्रसुप्त स्थिति में अन्तराल में दबी पड़ी रहती हैं। यदि उन्हें योगाभ्यास एवं तप साधना द्वारा जाग्रत कर लिया जाय तो अपने भीतर ही वह सब कुछ मिल सकता है जिसे ऋद्धि-सिद्धियों के नाम से जाना जाता है और जिसकी तलाश हम बाहर करते और भटकते हैं।

वस्तुत: मनुष्य के तीन शरीर हैं- स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर। इनमें एक से बढ़कर एक उच्चस्तरीय दिव्य क्षमताऐं- विभूतियाँ विद्यमान हैं। इनमें स्थूल शरीर वह है जो चलता, फिरता खाता, सोता आँखों से दीख पड़ता है। सूक्ष्म शरीर वह है जिसमें अदृश्य शरीर रहता और प्रेत-पितरों जैसा वायुभूत होता है। कारण शरीर वह है जिसकी पहुँच प्रकृति के अन्तराल ब्राह्मी चेतना के गहन स्तर तक है। पर इन तीनों शरीरों में से प्राय: लोगों का स्थूल शरीर ही सक्रिय रहता है और सूक्ष्म तथा कारण,प्रसुप्त स्थिति में पड़े रहते हैं। सूक्ष्म शरीर पर स्थूल शरीर के प्रभाव संस्कार जमते रहते हैं और वे अगले जन्म में स्वर्ग- नरक में अपने पूर्व कृत्यों के अनुरूप चेतनात्मक प्रसन्नता या सन्ताप सहते रहते हैं। कारण शरीर पर मात्र संकल्प और वातावरण का प्रभाव पड़ता है।

इन तीनों ही शरीरों को परिष्कृत बनाना मनुष्य के अपने हाथ की बात है। प्रयत्न करके वह इनमें से जिसे चाहे विकसित कर सकता है और विकास का आनन्द ले सकता है। इन आनन्द और गौरव भरी सफलताओं को ही सिद्धियाँ कहते हैं। इनमें स्थूल शरीर की सिद्धियाँ हैं- स्वस्थता, बलिष्ठता, सौंदर्य, सम्मान, वैभव सहयोग प्रशंसा आदि। शरीर को ठीक तरह साधने वाले, जीवन साधना की उद्येश्यपूर्ण रीति-नीति अपनाने वाले, इन सभी को या अधिकांश को उपलब्ध कर सकते हैं।

सूक्ष्म शरीर से वे कार्य हो सकते हैं जो शरीर रहित आत्माऐं, यज्ञ, गन्धर्व, पितर आदि जान या कर सकते हैं। विज्ञानवेत्ता इन्हें अतीन्द्रिय क्षमताऐं कहते हैं। दूर श्रवण, दूरदर्शन, भविष्य कथन, रहस्यों का उद्‌घाटन, परकाया प्रवेश, विचारों और शरीरों पर आधिपत्य, अपनी क्षमता के अनुरूप दूसरों को लाभ या हानि पहुँचाना यह सूक्ष्म शरीरों का काम है। वे उत्तम प्रकृति के हों तो अदृश्य सहायकों के रूप में कितनी ही महत्त्वपूर्ण सहायताऐं करते रह सकते है। निकृष्ट प्रकृति के हों तो उनके द्वारा दूसरों को अनेक प्रकार की हानियाँ पहुँचाना संभव है। उन्हें एक प्रकार से शरीर रहित और अदृश्य जगत में चलती रहने वाली गतिविधियों से भी किसी सीमा तक परिचित कह सकते हैं।

कारणशरीर- जिसे अन्तरात्मा भी कहते हैं, यदि सशक्त हो चले तो उचित-अनुचित कार्यों का बोध ही नही कराता, कुकर्मों से रोकता और सन्मार्ग पर चलाता है। उमंगों का स्तर ऊँचा हो तो देव स्तर के दैवी सामर्थ्यों से भरे पूरे होते हैं। उनमें व्यक्तियों को ऊँचा उठाने और दिशा देने की सामर्थ्य होती है। वे भवितव्यताओं को जानने तक ही सीमित नहीं होते, वरन् उन्हें सुधारने और बदलने में भी समर्थ होते हैं। वे अपने उच्च दृष्टिकोण के कारण हर स्थिति में स्वर्गीय प्रसन्नता अनुभव करते हैं और कुसंस्कारों के भवबन्धन काट सकने के कारण जीवन मुक्त भी होते हैं। इसके लिए शरीर त्याग की आवश्यकता नहीं होती ।

इस तरह स्थूल शरीर में समाहित दोनों सूक्ष्म और कारण अपने-अपने काम करते रहते हैं और अधिक ऊँची स्थिति प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहते हैं। अध्यात्मवेत्ताओं के अनुसार स्थूल शरीर की सिद्धियाँ प्राप्त लोगों को महापुरुष, सूक्ष्म शरीर वालों को सिद्ध पुरुष और कारण शरीर की दृष्टि से विकसित लोगों को

देवात्मा या देव पुरुष कहते हैं। इन ऊँची स्थिति में पहुँची हुई आत्माओं को केवल भगवान के महान कार्यों में योगदान देने के लिए जन्मना पड़ता है। इन्हें कर्मभोग के लिए जन्म-मरण के फेर में पड़ने और परिणाम सहने के लिए बाधित नहीं होना पड़ता है।

समाधि उस स्थिति का नाम है जिसमें मनुष्य सदा उच्च लक्ष्य की ही बात सोचे और वैसी ही क्रियाएँ करे। सांसारिक व्यवधान जिसे मार्ग से डगमगा न सकें। इसके दो स्वरूप हैं-सविकल्प और निर्विकल्प। जड़ समाधि वह होती है जिसमें मनुष्य शरीर की श्वास-प्रश्वास, रक्त संचार, क्षुधा-पिपासा आदि पर नियन्त्रण स्थापित करके जड़वत् स्थिति बनाकर उसमें मूर्च्छित जैसी स्थिति में बना रहता है। ऐसी समाधि में मनोबल की प्रखरता तो सिद्ध होती है, पर उससे अध्यात्म स्थिति की उत्कृष्टता से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह एकाग्रता की ही कुछ अधिक ऊँची स्थिति है। एकाग्रता एक मानसिक सफलता मात्र है। इससे कबीर के शब्दों में वह सहज समाधि स्थिति कहीं भली जिसमें चेतना उच्च भावनाओं में निरन्तर डूबी रहती है।

वस्तुतः उच्चस्तरीय सिद्धियाँ आत्मचेतना के ब्राह्मी चेतना से गुँथ जाने पर ही प्रस्फुटित होती हैं। इसके लिए योगाभ्यास और तप साधना का आश्रय लिया जाता है। चिन्तन, चरित्र, व्यवहार एवं गुण, कर्म, स्वभाव में तदनुरूप श्रेष्ठता का शलीनता का समावेश किया जाता है। इस प्रकार से जिन सिद्धियों तथा दिव्यशक्तियों की उपलब्धि होती है, उनका सुविस्तृत वर्णन पातंजलि योग सूत्र विभूतिपाद में सूत्र १६ से ४४ तक में किया गया है। भूत और भविष्य का ज्ञान, सभी प्राणियों की भाषा समझने, पूर्व जन्म के बारे में जानने, दूसरों के मन की बात समझने की क्षमता, अन्तर्ध्यान, आत्मबल, दूरर्शन, दूर श्रवण, सर्वज्ञान भूख-प्यास की निवृत्ति सूक्ष्मशरीरधारी दिव्य शक्तियों से सम्पर्क आदि अनेकों प्रकार की शक्तियाँ योग साधना से प्राप्त होने का उल्लेख है। इसके ३६ वें सूत्र में ६ सिद्धियों का वर्णन करते हुए कहा गया है-"ततः प्रातिभ श्रावण वेदनदर्शस्वाद वार्ता जायते" अर्थात् उससे प्रातिभ, श्रवण, वेदन, आदर्श, अस्वाद और वार्ता-छः सिद्धियाँ प्रकट होती हैं। योगसूत्र भेजवृत्ति भाष्य में इन सिद्धियों का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है।

(१) प्रातिभ-अर्थात् अतीन्द्रिय व्याबहित--छिपी हुई वस्तुओं, सुदूर स्थिति अतीत और अनागत वस्तुओं, घटनाओं, को जानने की क्षमता (२) श्रवण- श्रोतेन्द्रिय से दिव्य ध्वनि और दूरवर्ती शब्दों का श्रवण (३) वेदना-दिव्य स्पर्श का अनुभव (४) आदर्श-दिव्य दर्शन की क्षमता (५) आस्वाद-दिव्य रस का आस्वादन करने की सामर्थ्य (६) वार्ता-नासिका द्वारा दिव्य गन्धों का अनुभव करने की क्षमता।

इन क्षमताओं की प्राप्ति कैसे होती है? इस सम्बन्ध में महर्षि पातंजलि ने कहा है कि चेतना के विकास हेतु किए जाने वाले प्रयासों, ध्यान-धारणा के अभ्यासों से ये क्षमताऐं प्राप्त होती हैं। आत्मस्वरूप में की गई ध्यान-धारणा से प्रज्ञा की उत्पत्ति एवं छः सिद्धियों के अतिरिक्त आठ अन्य सिद्धियाँ भी हस्तगत होती हैं। इन सिद्धियों को अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति प्राकाम्य, वशित्व, ईशत्व, नाम से जाना जाता है।

सूक्ष्म और कारण शरीरों को साध लेने पर काय सम्मत और अनभिज्ञात नामक सिद्धियों के प्राप्त होने का भी उल्लेख शास्त्रकार ने किया है। काय सम्मत से तात्पर्य शरीर की सुन्दर आकृति, दीप्तिमान अंग, अंगों का बलवान और वज्र की भाँति दृढ़ और परिपूर्ण हो जाना है। अनभिक्षत- से तात्पर्य साधक के कार्य में पंचतत्व अपने गुण और लक्षणों के कारण बाधा न पहुँचाने से है। वह पृथ्वी के भीतर भी उसी प्रकार प्रवेश कर सकता है।जैसे कोई व्यक्ति जल में प्रवेश कर लेता है। सर्दी, वर्षा, ग्रीष्म, अग्नि आदि कोई भी भूतों के धर्म उसके शरीर में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचा सकते। इन सिद्धियों की उपलब्धि का मार्ग बताते हुए पातंजलि ने कहा है कि ए सिद्धियाँ पाँचों महाभूतों पर विजय प्राप्त करने से होती हैं। अपनी चेतना को पूर्णतया जाग्रत और विकसित कर लिया जाय तो कोई कारण नहीं कि अन्तराल में समाहित दिव्यशक्तियों का उन्नयन और उनका सदुपयोग करना सम्भव न हो सके।

मनुष्य देह में भरा विलक्षण-विराट

बाई डाँगों अफ्रीका के गाँव मवाई तथा फ्राँस के 'केण्ड्री' स्थान में एक प्रकार का बृक्ष पाया जाता है जो वनस्पति विज्ञान के सभी नियमों का उल्लंघन कर एक ऐसा अपवाद बन गया है जिसका हल कोई भी वनस्पति शास्त्री आज तक खोज नहीं पाया। इस वृक्ष की जड़ें एक कील या चूल की तरह होती हैं जिसमें रखकर किसी यन्त्र को चारों ओर घुमाया जा सके। कभी-कभी तूफान

आते हैं तो प्रदेश के छोटे-बड़े हजारों पेड़-पौधे धराशायी हो जाते हैं किन्तु तूफान जब इस पेड़ के समीप से गुजरता है तो वृक्ष चूल नुमा जड़ के सहारे चक्कर काटने लगता है जैसे कोई लट्टू नाचता है। जितनी देर तूफान-वृक्ष नाचता रहेगा, तूफान खतम- और नाच बन्द-पौधा अपनी विकास यात्रा प्रारम्भ कर देता है। जड़ें अपना काम शुरू कर देती हैं। वृक्ष लोगों के लिए आश्चर्य का विषय बना हुआ है।

मनुष्य देह में भी बहुत कुछ ऐसा है जिसके बारे में हम नहीं जानते पर वह इतना आश्चर्यजनक अद्वितीय क्षमताओं से परिपूर्ण है कि दुनिया भर के वैज्ञानिक उस जैसी मशीन आज तक बना नहीं पाए। अपनी विचार शक्ति को केन्द्रित कर भारतीय योगियों ने जब इस शरीर-गह्वर में प्रवेश कर उसका आद्योपान्त भ्रमण किया तो पाया कि जिसे हम शरीर कहते हैं वह तो विराट् ब्रह्माण्ड है सात लोक और उन्हें धारण करने वाला विराट् आकाश इसी में छिपा बैठा है। बड़ी-बड़ी नीहारिकाओं से लेकर आकाश गंगा और सौर मण्डल तक अपने-अपने ग्रह उपग्रह लिए इसमें चक्कर काट रहे हैं। मनुष्य शरीर दिखाई न दिया होता यदि इसमें पार्थिव कण विद्यमान न होते । स्थूल कणों की उपस्थिति स्वरूप अन्नमय कोश या प्रोटोप्लाज्मा की ईंटों से चुनाव की हुई इस बिल्डिंग में स्थूल भाग दृश्य है इसलिए यह नहीं मान लेना चाहिए कि शरीर केवल मात्र एक स्थूल पिण्ड है बरन् इसमें सूक्ष्म इतना है कि सारा आकाश ही अपने सम्पूर्ण घटकों के साथ छिपा बैठा है। इन सूक्ष्म शरीर को न जानने के कारण ही मनुष्य शारीरिक इन्द्रिय लिप्सा और भौतिक सुखों के आकर्षण में पड़ा जिन्दगी के दिन गँवाया करता है। एक दिन मृत्यु आती है और इस ईश्वर प्रदत्त महान् सौभाग्य को नष्ट करके चली जाती है।

मृत्यु के भय और अमरत्व की इच्छा ने भारतीय आचार्यों को विचार की एक नई दिशा दी- उन्होंने खोज की-

स्थूल शरीरं किम् ? पञ्चीकृत पञ्च महाभूतैः कृतं सत्कर्मजन्य सुख-दुःखादि भोगायतनं शरीरम् । अस्ति जायते, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते विनश्यतीति षड्विकारवदेत-त्स्थूल शरीरम् ।।

(श्री शङ्कराचार्य कृत तत्वबोध)

अर्थात्- स्थूल शरीर किसे कहते हैं? विश्लेषण से पाया गया कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँचों महाभूतों से किया गया, कर्मों के द्वारा उत्पन्न सुख-दुःख आदि के भोगने का प्रधान आश्रय, नाश होने वाला, उत्पत्ति, वृद्धि, घटना, बढ़ना, ढीला पड़ना और नाश हो जाने वाला इन छः विकारों से युक्त यह शरीर है। इसमें अति सूक्ष्म आकाश है अर्थात् आकाश-तत्व से शरीर की रचना प्रारम्भ होती है। आकाश तत्व दो भागों में बँटकर रहता है आधा तो वह अपने ज्यों के त्यों स्वरूप में रहता है शेष आधे को वायु भाग में मिला देता है इस सम्मिश्रित भाग का आधा भाग अग्नि तत्व से मिलकर तेज या प्राण के रूप में व्यक्त होता है। इस तेज का आधा भाग जल से मिलकर तरल भाग रक्त आदि का निर्माण करता है इसी जल वाले आधे भाग से पृथ्वी तत्व अर्थात् स्थूल शरीर का निर्माण होता है। इस दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि भारी भरकम और स्थूल दिखाई देने वाले शरीर में सर्वाधिक अंश आकाश है जिसके बारे में आज का विज्ञान कुछ भी नहीं जानता। और भारतीय योगियों ने उस सम्बन्ध में इतना अधिक जाना कि इसी शरीर में मूल चेतना-ब्रह्म को प्राप्त कर लिया- अमरत्व प्राप्त कर लिया । वेद में कहा गया है-

यस्मिन भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्न ध्याहिता ।
यत्रग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठ न्त्यार्पिताः ।।
यस्य त्रय स्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः ।।

-अर्थववेद १० ।७ ।१२ ।१३

अर्थात्- भूमि अन्तरिक्ष और द्युलोक इसी शरीर में ही हैं जिसमें अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और वायु रहते हैं तैंतीस देवता भी इसी शरीर में रहते हैं।

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
अस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ।
तस्मिन हिरण्यए कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन यद्यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ।

-अथर्व १० ।२ ।३१-३२

अर्थात्- यह देह देवताओं की पुरी अयोध्या है इसमें आठ चक्र हैं, नौ द्वार हैं सुनहरे कोशों से आच्छादित हृदय कमल है जो तेज से घिरे स्वर्ग के समान है। इस कोश में ही आत्मा विराजमान हैं उसे ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं।

भारतीय दर्शन और जीवन पद्धति में स्थूलता को कम महत्त्व दिया गया और देव भाग को अधिक यह यहाँ की सर्वोपरि विज्ञानवादिता थी। अब शरीर- विद्या

विशारद भी इन मान्यताओं पर उतरने लगे हैं कि वस्तुत: शरीर का सारा संचालन अधिकांश इन देव शक्तियों- ग्रहों-उपग्रहों या सूक्ष्म आकाश भाग से ही होता है। "ओकाल्ट एनाटॉमी एण्ड दि बाइबिल" पुस्तक में डा० कोराहन हेलिन ने- कोलम्बिया विश्व-विद्यालय के डा० लुइस बर्मन के निबन्ध- व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाली ग्रन्थियाँ (ग्लैण्ड्स रेगुलेटिंग परसनैलिटी) के हवाले से बताया है कि मनुष्य के शरीर में कुछ ऐसी ग्रन्थियाँ हैं। जो देखने में छोटी होती हैं। पर उनका महत्त्व असाधारण है। पाचन क्रिया से लेकर मनोवेगों तक सारा नियन्त्रण इन ग्रन्थियों से ही होता है। इन्हें वाहिनीहीन (डक्टलेस) ग्रन्थियाँ (ग्लैण्ड्स) कहा जाता है। अन्त:स्रावी हॉर्मोन्स इन ग्रन्थियों से ही स्रवित होकर शारीरिक उतार चढ़ाव, घटना, बढ़ना, बुढ़ापा, मृत्यु आदि का कारण बनते हैं।

एनाटॉमी मेडिकल कॉलेज कर्नेल विश्व-विद्यालय के प्रोफेसर डा० चार्ल्स आर स्टार्क यार्ड ने इन ग्रन्थियों के आधार पर मनुष्य जीवन की एक नई धारणा प्रस्तुत की है जो भारतीय आध्यात्मिक शोधों से शत-प्रतिशत मेल खाती हैं। षट्चक्रों की भारतीय खोज और जीव-शास्त्रियों द्वारा वर्णित सात ग्रन्थियों के क्रिया विज्ञान में कितना साम्य है इसे कभी फिर लिखेगें तो पाठक आश्चर्य करेंगे जिन बातों को विज्ञान ने अत्यन्त कुशल मशीनों द्वारा जाना भारतीयों ने योग-साधनाओं द्वारा उससे भी अधिक किस तरह प्राप्त कर लिया। डा० स्टाकर्ड लिखते हैं कि आन्तरिक स्राव वाली ग्रन्थियाँ एक महान् शासक के रूप में गर्भ धारण से लेकर मृत्यु तक स्त्रियों पुरुषों तथा समस्त रीढ़ की हड्डी वाले जीवों तक का नियन्त्रण करती है। "फिजीयोलॉजी" तथा सोशलॉजी की मान्यताएं भी अब "अन्तराकाश" के अस्तित्व और उसके प्रचन्ड प्रभाव को स्वीकार करने लगे है। "ग्लैण्ड्स ऑफ डेस्टिनी" के लेखक डा० ईबो गैकी काब ने तो यहाँ तक मान लिया है कि अन्त: स्रावी (इन्डोक्राइन ग्लैण्ड्स) ग्रन्थियों पर नियन्त्रण रखने वाले लोगों ने ही इतिहास पर अधिकार रखा है और जमाने को कहाँ से-कहाँ तक बदल दिया है। नैपोलियन बोनापार्ट का उदाहरण देते हुए उन्होंने लिखा है कि यदि वाटरलू के युद्ध के समय नैपोलियन बोनापार्ट की "पिचुट्री ग्लैण्ड" (पीयूष ग्रन्थि) में खराबी नहीं आ जाती तो वह हारता नहीं। जो नैपोलियन अत्यन्त दूरदर्शी निर्णय भी तुरन्त ले लेने की क्षमता रखता था। उसकी विवेक बुद्धि बुरी तरह लड़खड़ा गई। जिस समय वह एल्बा में निर्वासित था, उस समय उसकी लेगर्ड ग्रन्थि लड़खड़ा गई। यह सारी बातें तब प्रकाश में आईं जब सेंट हेलेना में उसके शब की अन्त्य परीक्षा (पोस्टमार्टम) की गई। जब तक उसने इन ग्रन्थियों पर नियन्त्रण रखा, जब तक उसकी अन्त:स्रावी ग्रन्थियाँ सशक्त रहीं और नैपोलियन सारी दुनिया को जीतता रहा पर जैसे ही वह इन शक्तियों से वंचित हुआ वह नष्ट ही हो गया।

योग साधनाएं इन देव-शक्तियों के विकास का ही वैज्ञानिक उपक्रम हैं। आने वालो दिनों में जबकि अन्त:स्रावी ग्रन्थियों के पदार्थ (मैटर) की खोज होगी और उसकी तुलना ग्रहों के पदार्थ से की जाएगी तो लोग आश्चर्य करेंगे कि मनुष्य शरीर में आकाश तत्व किस विलक्षणता के साथ के उपस्थित है और कितने आश्चर्यजनक ढंग से मनुष्य को अपनी इच्छा से बाँधे हुए है।

"ओकाल्ट एनाटामी एण्ड दि बाइबिल" पुस्तक के वैज्ञानिक लेखक ने उस तरह का तुलनात्मक अध्ययन, जिस तरह "कुण्डलिनी तन्त्र" में भारतीय योगियों ने किया है वैसा तो नहीं किया पर उसने माना है कि इन ग्रन्थियों का सम्बन्ध निश्चित रूप से नक्षत्र (स्टार्स) से है। उन्होंने इन्हें "आन्तक्षत्र" (इन्टीरियर स्टार्स) लिखा है और बताया है कि सूर्य और हरिग्रह पीनियल ग्लैण्ड से सम्बन्ध रखते हैं इसे तृतीय नेत्र ग्रन्थि भी कहा जाता है उससे भ्रू मध्य में "आज्ञा-चक्र" का ही स्पष्ट प्रमाण मिलता है। आज्ञा-चक्र जागृत करने वाला "ॐ" ध्वनि सुन सकता है। सब तरफ की दूरवर्ती घटनाएं देख सुन सकता है। यह सूर्य शक्ति का प्रभाव है। वरुण और चन्द्र का सम्बन्ध 'पिचुट्री ग्रन्थि' से है। चन्द्रमा के उतार चढ़ाव से मन पर उतार चढ़ाव होता है यह इन दोनों तत्वों की एकता का प्रमाण है वृहस्पति उपवृक्क (एड्रिनल) पर, प्रजनन ग्रन्थि (गोनाड्स) पर, मंगल बुद्ध का गल ग्रन्थि (थायराइड्स) सूर्य का पैरथायराइड्स (उपगल ग्रन्थि) से सम्बन्ध हैं, इन ग्रहों के उतार चढ़ाव इन ग्रन्थियों को प्रभावित करते हैं। रामायण में कहा गया है कि-

"उमादारु ज्योतिष की नाई, सबहिं नाचवत राम गोसाईं"

हे गौरी ! जिस प्रकार डोरी उंगलियों में बाँधकर कलाकार कठपुतलियों को नचाता है। परमात्मा उसी

प्रकार सारी सृष्टि को। उसमें इसी तथ्य का प्रतिपादन है। मनुष्य इस आकाशीय प्रक्रिया से बँधा हुआ नाचता रहता है पर जो लोग अपने इस सूक्ष्म शरीर को विकसित करके अपनी चेतना का उत्तरोत्तर विकास कर विराट् पुरुष से जोड़ देते हैं। वे इन ग्रन्थियों पर शरीर यन्त्र पर उसी तरह नियन्त्रण कर सकते हैं जिस तरह कोई अत्यन्त सुदूरवर्ती केन्द्रस्थ विराट् तारा समस्त ब्रह्माण्ड का नियन्त्रण करता है। आने वाली खोजें बताऐंगी कि सिद्ध योगी और ब्रह्माण्ड की महाशक्ति में कोई अन्तर नहीं होता। पैरासेल्स ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है।

वस्तुत: स्थूल शरीर भी एक देवता है। उसकी साधना की जा सके तो रुग्ण और दुर्बलकाय व्यक्ति चन्दगीराम, सेण्डो जैसे विश्व विख्यात पहलवान बन सकते हैं। पौहारी बाबा की तरह आवश्यक पोषण आहार आकाश से ही आकर्षित करते रह सकते हैं। गंगोत्री के स्वामी कृष्णाश्रम जी की तरह दो सौ वर्ष की आयु पा सकते हैं।

तप तितीक्षा द्वारा सोती हुई शक्ति को जागृत किया जाता है तपाने से गर्मी बढ़ती है। गर्मी से परिशोधन होता है और दृढ़ता परिपक्वता की अभिवृद्धि होती है। धातुओं को तपाने से उनका अशुद्ध अंश विलग होता है। कुपाच्य खाद्य पदार्थों को अग्नि पर पकाकर सुपाच्य बनाया जाता है। मिट्टी के बर्तनों और कच्ची ईंटों को भट्टे में पकाने से उनकी मजबूती बढ़ती है। आयुर्वेद की रस, भस्में अग्नि संस्कार में ही विनिर्मित होती हैं। तप-तितीक्षा को स्थूल शरीर की साधना में ही सम्मिलित किया गया है। ब्रह्मचर्य तप है। अस्वाद व्रत उपवास को तप माना गया है। सर्दी, गर्मी सहन करने के लिए कम वस्त्र धारण करने, जूते न पहनने ठण्डे पानी से नहाने, जैसी तितीक्षाऐं की जाती हैं। कोमल शैय्या का त्याग, भूमि शयन अथवा तख्त पर सोना इसी प्रकार की साधना है। सुविधा का लाभ लेते रहने पर प्रतिरक्षा की शक्ति नष्ट होती है। जो लोग एयर कण्डीशन कमरों में रहते हैं, उनकी ऋतु प्रभाव सहने की क्षमता चली जाती है। जरा सी सर्दी-गर्मी लगने पर वे तुरन्त बीमार पड़ते हैं। सहन शक्ति बढ़ाने से बलिष्ठता बढ़ती है। इसलिए तितीक्षा जहाँ आरम्भ में कष्ट कर लगती है, वहाँ उसके परिणाम अन्तत: लाभदायक ही होते हैं। व्यायाम भी एक प्रकार का तप ही हैं उसे करने में शरीर पर दबाव ही पड़ता है, पर सर्वविदित है कि इस तप साधना के फलस्वरूप बलिष्ठता बढ़ती है और पहलवान बना जाता है।

सक्रियता और स्फूर्ति में जो उत्साह भरती है; उस चेतना को ओजस् कहते हैं। ओजस्वी ऐसे ही व्यक्ति कहे जाते हैं, जिन्हें पराक्रम प्रदर्शित करने में सन्तोष और गौरव का अनुभव होता है, जिन्हें आलसी रहने में लज्जा का अनुभव होता है, जिन्हें अपाहिज अकर्मण्यों की तरह सुस्ती में पड़े रहना अत्यन्त कष्टकारक लगता है। सक्रियता अपनाए रहने में, कर्मनिष्ठा के प्रति तत्परता बनाए रहने में उन्हें आनन्द आता है, उन्हें ओजस्वी कह सकते हैं। आलसी के चेहरे पर उदासी, मुर्दनी छाई रहती है और उत्साही की आँखों में तेज चमकता है और चेहरा देखते ही उसकी सक्रियताजन्य चमक सहज ही दीप्तिवान दिखती है। शरीर वही रहता है, पर अकर्मण्यता और कर्मनिष्ठा की- निर्जीवता और सजीवता की- आलस्य और उत्साह की-निराशा और आशा की-प्रखरता और पराभव की- परस्पर विरोधी मन:स्थितियों को मनुष्य का चेहरा देखते ही जाना और आँका जा सकता है। सौन्दर्य, आकर्षण और प्रभाव चुम्बक मात्र शरीर की बनावट पर ही निर्भर नहीं है। उत्साह और कर्मनिष्ठा की प्रवृत्ति उसमें चार चाँद लगा देती है। स्फूर्तिवान्, कुरूप भी सुन्दर लगने लगते हैं। इसके विपरीत अच्छे रंग रूप वाले भी निर्जीव निष्प्राण, तेजहीन, मलिन, मुर्दनी लादे हुए दीखते हैं तो उनकी ओर से मुँह फेर लेने को ही जी करता है।

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सफलता का प्रारूप यह ओजस्विता ही बनाती है। ऐसे लोग जो भी काम हाथ में लेते हैं उसमें विशेषता की छाप छोड़ते हैं। उनके कार्य अपने में ही उत्कृष्टता की साक्षी देते हैं और बताते हैं कि हमें मनोयोग उत्साह एवं उत्तदायित्व की भावना के साथ सम्पन्न किया गया है। स्वल्प साधनों से पुरुषार्थी लोग अपने कार्यों को अच्छे स्तर के साथ सम्पन्न करते हैं और कम समय में अधिक उत्कृष्टता के साथ निपटाते हैं। फूहड़पन उन्हीं कामों में दृष्टिगोचर होता हैं जिन्हें अकुशल हाथों से, उपेक्षापूर्वक, अन्यमनस्क भाव से बेगार भुगतने की तरह, भार ढोने की वृत्ति से किया गया होता है। स्थूल शरीर की साधना, मात्र श्रम एवं आहार विहार की सुव्यवस्था तक ही सीमित नहीं हैं उसके साथ वह कुशलता स्फूर्ति एवं प्रसन्नता भी जुड़ी रहनी चाहिए। जिसे ओजस्विता के नाम से पुकारा जाता है। जिन शरीरों में ओजस का समावेश करने की साधना की गई है वे बराबर की दृष्टि से सामान्य होते हुए भी असामान्य कार्य करते हैं और विशिष्ट गौरवान्वित होते हैं।

सक्रियता देखने में तो शारीरिक अवयवों का प्रयास मात्र लगती है; पर वस्तुत: वह आन्तरिक होती है। क्रिया स्थूल है पर स्फूर्ति को सूक्ष्म ही कहा जाएगा, वह शरीर का नहीं अन्त:चेतना का उभार उत्साह एवं गुण है। शरीर तो साधारण उपकरण मात्र है जिसका विनियोग किसी कुशल कारीगर द्वारा होने पर ही कलात्मक चमत्कारी परिणाम उत्पन्न होता है।

इस संसार में प्रकृति की तीन शक्तियाँ भरी पड़ी हैं। इन्हीं की प्रेरणा से विभिन्न जड़-पदार्थ अपने-अपने ढंग की विविध हलचलें करते दिखाई पड़ते हैं। इन तीन शक्ति का नाम है- (१) विद्युत (२) ताप (३) प्रकाश। अगणित क्षेत्रों में अगणित प्रकार के क्रिया-कृत्यों का संचार इन्हीं के द्वारा होता है। शरीर में भी यह तीन शक्तियाँ विद्यमान हैं और अपनी स्थिति के अनुरूप विभिन्न अवयवों में विभिन्न प्रकार के कार्य करती हैं।

स्नायु मण्डल में 'विद्युत् धारा' का संचार रहता है। मस्तिष्क उसका केन्द्र है। इन्द्रिय केन्द्रों पर उसी का आधिपत्य है। ज्ञान तन्तुओं के द्वारा केन्द्र तक सूचना पहुँचाना और वहाँ से मिले निर्देशों को अवयवों के द्वारा सम्पन्न कराना इसी शक्ति का काम है। मन: संस्थान की समस्त गतिविधियाँ इसी के द्वारा संचारित होती हैं।

विकास से सम्बन्धित समस्त हलचलें प्रकाश तरंगों द्वारा सम्पन्न होती हैं। सूर्य की प्रकाश किरणें वनस्पतियों की अभिवृद्धि एवं प्राणियों में प्राण संचार का प्रयोजन पूरा करती हैं और भी बहुत कुछ उनके द्वारा होता है। आयु के साथ होने वाली अभिवृद्धि को यह प्रकाश तत्व ही सँजोता है।

आध्यात्मिक अलंकारों में विद्युत् को ब्रह्मा, प्रकाश को विष्णु और ताप को शिव माना गया है। मन:क्षेत्र में इनकी हलचलें भावना, इच्छा और क्रिया के रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। वह ब्रह्माण्ड भी विराट् पुरुष का एक सुविस्तृत शरीर ही है। इसमें विद्युत् तत्व सत, प्रकाश रज और ताप को तम रूप में प्रतिपादित किया गया है।

आन्तरिक स्थिति में हेर-फेर करके बाहर की स्थिति बदली जा सकती है। सभी जानते हैं कि मन: स्थिति ही भली-बुरी परिस्थितियाँ उत्पन्न करती है। अन्तरंग को बदलने पर बाहरंग सहज ही बदला जा सकता है। शारीरिक स्थिति में सुधार परिवर्तन करना हो तो उस उपकरण के अन्तराल में काम कर रही सूक्ष्म क्षमताओं को देखना सम्भालना होगा। कारखाने की मशीनें ठप्प हों तो समझना चाहिए कि विद्युत् धारा या भाप-ताप के शक्ति स्रोतों में कहीं कुछ अड़चन उत्पन्न हो गई है। मशीनों की देखभाल करना भी उचित है, पर आधार तो शक्ति स्रोतों पर निर्भर है। शरीर गत दुर्बलता, रुग्णता को दूर करने के लिए आहार-बिहार की गड़बड़ियाँ सुधारना और चिकित्सा उपचार पर ध्यान देना आवश्यक है, पर काम इतने से नहीं चल सकता। देखना यह भी होगा कि अवयवों के संचार करने के लिए उत्तरदायी सूक्ष्म शक्तियों की प्रवाह धारा ठीक प्रकार चल रही है या नहीं। शरीर 'तीन फेस' पर चलने वाली मोटर है। इन सभी तारों का ठीक स्थिति में होना आवश्यक है जिससे शक्ति संचार में अवरोध उत्पन्न न होने पाए।

अवयवों को कई प्रकार की बुरी आदतें घेर लेती हैं- इन्द्रियों को उच्छृंखलता बरतने का अभ्यास पड़ जाता है- दुर्व्यसनों को इसी प्रक्रिया के अन्तर्गत लिया जा सकता है। आलस्य में अवयवों की अशक्तता का दोष कम और आन्तरिक स्फूर्ति की न्यूनता का कारण अधिक काम कर रहा होता है। इन दोष दुर्गुणों को ठीक करने के लिए मात्र शारीरिक अवयवों को दोष देना अथवा उसी की ठोक पीट करना पर्याप्त न होगा। शरीर में संव्याप्त अन्त:चेतना की भी देख भाल करनी होगी। यही स्थूल शरीर का अध्यात्म विज्ञान है। यदि इस स्तर की गहराई तक पहुँचा जा सके और वहाँ सुधारने, उभारने का कौशल प्राप्त हो सके तो शरीरगत दोष दुगुणों -दुर्बलता एवं रुग्णता को- निरस्त कर सकना सरलतापूर्वक सम्भव हो सकता है।

स्थूल शरीर का परिष्कार-कर्मयोग से

स्थूल शरीर कुकर्म करने से असुरता के नरक में गिरता है और सत्कर्म करने से उसे स्वर्गीय सुख-शान्ति का अनुभव होता है। अस्तु कुकर्मों से विरत कर सत्कर्मों के लिए प्रेरणा देना और पथ प्रशस्त करने के लिए कर्म योग की सौम्य साधना पद्धति आप्त पुरुषों ने विनिर्मित की है।

कर्म यदि ठीक तरह से किया जाय तो एक प्रकार से वह ईश्वर की पूजा का उत्कृष्ट उपकरण है। पर यदि उसमें स्वार्थपरता, उपेक्षा, अहंकृति, विकृति जैसे, निकृष्ट तत्वों का समावेश हो तब तो फिर वही कुकर्म बन जाता है। मोटी दृष्टि से भले-बुरे कर्मों वर्गीकरण किया जाता

है जैसे चोरी, झूँठ, छल, व्यभिचार, उत्पीड़न, अनाचार, उत्तरदायित्व की अवहेलना आदि पाप और दया, दान, सत्य, सदाचार, सेवा, संयम आदि पुण्य कहे जाते हैं। पर इनकी वास्तविकता जाननी हो तो कर्ता की भावना का पता लगाना पड़ेगा। वस्तुतः जो कर्म जिस भावना से किया जाता है उसके अनुरूप ही उसका तात्विक स्वरूप बनता है और उसी आधार पर परिणाम उत्पन्न होता है। साधुता का दन्भ बनाए अनेक व्यक्ति भीतर-भीतर दुष्टता करते रहते हैं। नेता, धर्मोपदेशक, सन्त महन्त आदि में से कितने ही बाहर से ऐसी कार्य पद्धति बनाए होते हैं जिससे उनके धर्मात्मा होने का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है, पर गहराई से देखने पर उनमें से कितनों के भीतर धूर्तता भरी पाई जाती हैं। ऐसी दशा में उनके कार्य बाहर से उत्तम दीखने पर भी उनके निज के लिए तथा दूसरों के लिए अन्ततः दुष्परिणाम ही उत्पन्न करेगें। इसी प्रकार कई बुरे दीखने वाले और पाप प्रतीत होने वाले कार्य भी यदि निस्वार्थ भावना से, लोकमंगल की दृष्टि से किए गये हैं तो वे तत्वतः पुण्य ही कहे जाएगें। जज का फाँसी का हुक्म सुनाना, जल्लाद का फाँसी देना, बाहर से देखने में हिंसा जैसे हेय कर्म प्रतीत होते हैं पर वस्तुतः उनके पीछे समाज व्यवस्था और न्याय रक्षा की दृष्टि होने से वे दोनों ही न केवल निर्दोष हैं वरन् कठोर कर्त्तव्य साहसपूर्वक करने की दृष्टि से पुण्यात्मा और प्रशंसनीय भी है।

दैनिक जीवन में आजीविका उपार्जन, परिवार पोषण जैसे उत्तदायित्वों को पूरा करने के लिए जो साधारण काम-काज हमें करने पड़ते हैं, उनमें कर्त्तव्यों धर्म का, लोक-मंगल का, दृष्टिकोण समन्वित रहे तो वे ही मामूली दीखने वाले काम-काज पुण्य परमार्थ बन सकते हैं और साधारण जीवन क्रम कर्मयोग की साधना का आध्यात्मिक प्रयोग सिद्ध हो सकता है। बन्धन, भार और पाप तो वे कार्य बनते हैं जिनमें स्वार्थ के दृष्टिकोण और अनीति का समन्वय रहता है। संकीर्ण स्वार्थपरता में निमग्न होने पर ही मनुष्य अनीति बर्तने लगता है और तृष्णा लालसा एवं ममता अहंता की लालसाऐं ही उसे अनुचित कार्य करने की प्रेरणा देती हैं। यदि अपना दृष्टिकोण साफ हो, जो भी करना है कर्त्तव्य धर्म पालन करने के लिए औचित्य की रक्षा के लिए- मानवीय मर्यादाओं के अनुरूप करना है यह मान्यता रख कर जो, कार्य किए जाएंगे वे प्रायः पुण्य ही होंगे। कर्मयोग का दृष्टिकोण अनुचित कुकर्मों की सम्भावना को समाप्त कर देता है। जो पाप नहीं वह पुण्य ही तो होगा। निरन्तर पुण्य कर्म करते रहने वाले की आन्तरिक प्रगति अन्ततः देवत्व की ओर ही होगी।

सामान्य काम-काज में उत्कृष्टता का दृष्टिकोण समाविष्ट रखना यही कर्मयोग है। कर्मयोग की साधना का अभ्यास करने के लिए अखण्ड ज्योति परिजनों को एक मन्त्र दिया गया है-

"हर दिन नया जन्म- हर रात नई मौत।"

प्रातः काल आँख खुलते ही बिस्तर छोड़ने से पूर्व- चारपाई पर पड़े-पड़े ही इस मन्त्र को मन ही मन दुहराना चाहिए और भावना करनी चाहिए कि आज का दिन हमें एक नए जन्म के रूप में मिला है। वस्तुतः निद्रा और जागरण- मृत्यु और जन्म का ही एक छोटा नमूना है। उसमें असत्य भी कुछ नहीं। सचमुच की मृत्यु भी एक लम्बी रात की गहरी नींद मात्र है। हर दिन को एक जन्म कहा जाय तो ऊपर से ही हँसी की बात लगती है वस्तुतः वह एक स्थिर सचाई है। अतएव इस मान्यता में अत्युक्ति अथवा निराधार कल्पना जैसी भी कोई बात नहीं है।

आज का नया जन्म अपने लिए एक अनमोल अवसर है। कहते हैं कि चौरासी लाख योनियों के बाद एक बार मनुष्य शरीर मिलता है, उसका सदुपयोग कर लेना ही शास्त्रकारों ने सबसे बड़ी बुद्धिमता मानी है। अस्तु हमें प्रातःकाल चारपाई पर पड़े-पड़े ही विचारना चाहिए कि आज का दिन अनमोल अवसर है उसे अधिक से अधिक उत्कृष्टता के साथ व्यतीत करना चाहिए। कोई भूल, उपेक्षा, अनीति, दुर्बुद्धि उसमें न रहे। आदर्शवादिता का सद्भावना और सदाशयता का उसमें अधिकाधिक समावेश रहे, ऐसा दिन भर का कार्यक्रम बना कर तैयार किया जाय।

आमतौर से आलस्य, ढील-पोल, शिथिलता में हमारा अधिक से अधिक समय बर्बाद होता है। तत्परता स्फूर्ति, परिश्रम और दिलचस्पी के साथ करने पर जो कार्य एक घण्टे में हो सकता है उसी को अधिकतर लोग दो-दो, चार-चार घण्टे में पूरा करते हैं। आलस्य, अधूरा मन, मन्दगति, रुक-रुक कर शिथिलतापूर्वक काम करने में और ऐसे-वैसे-ज्यों-त्यों-बेकार बहुत-सा समय गुजार देने की आदत बहुतों की होती है और उनका आधा जीवन प्रायः इस आलस्य प्रमाद में ही बर्बाद हो जाती है। यह बुरी

आदत सम्भव है थोड़ी बहुत मात्रा में अपने भीतर भी हो, उसे बारीकी से तलाश करना चाहिए और निश्चय करना चाहिए कि आज हर काम पूरी तत्परता और फौजी उत्साह के साथ करेगें। समय ही जीवन है। वही ईश्वर प्रदत्त हमारी एक मात्र सम्पत्ति है। समय का सदुपयोग करके ही हम अभीष्ट आकांक्षा पूर्ण करने और मंगलमयी उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकने में सफल हो सकते हैं। समय की बर्बादी एक प्रकार की मन्द आत्म-हत्या है। संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं उनमें से प्रत्एक ने अपने समय का एक-एक क्षण ठीक तरह उपयोग करके ही अभीष्ट सफलताऐं प्राप्त की हैं। इसलिए आज समय के सदुपयोग की, एक पल भी बर्बाद न होने की, आलस्य, शिथिलता एवं अन्यमनस्कता से लड़ने की पूरी तैयारी करनी चाहिए और दिन भर के समय बिभाजन की दिनचर्या ऐसी बनानी चाहिए जिसमें वक्त की बर्बादी की लिए तनिक भी गुंजायश न रहे। जो आवश्यक काम पिछले कई दिनों से टलते चले आ रहे हों, जिनकी उपयोगिता अधिक हो, उन सबको सुविधा हो तो आज ही करने के लिए नियत कर लेने चाहिए। दिनचर्या ऐसी बने जो सुविधाजनक भी हो और सुसन्तुलित भी। अति उत्साह से ऐसा कार्यक्रम न बना लिया जाय जिनको पूरा कर सकना ही कठिन पड़ जाय।

शारीरिक कार्यक्रमों के साथ-साथ मानसिक क्रिया पद्धति भी निर्धारित करनी चाहिए। किस कार्य को किस भावना के साथ करना है, इसकी रूपरेखा मस्तिष्क में पहले से निश्चित रहनी चाहिए। समय-समय पर बड़े ओछे-संकीर्ण, स्वार्थपूर्ण हेय विचार मन में उठते रहते हैं। सोचना चाहिए कि आज किस अवसर पर किस प्रकार का अनुपयुक्त विचार उठने की सम्भावना है, उस अवसर के लिए विरोधी विचारों के शस्त्र पहले से ही तैयार कर लिए जायें।

आरम्भ में बुरे विचारों को उठने से रोक सकना कठिन है। हाँ जब वे उठें तो उन्हें, ठीक विरोधी विचार धारा पैदा करके काटा जा सकता है। लोहे से लोहा कटता है, विचारों से विचार भी काटे जा सकते हैं। कामुकता के अश्लील विचार यदि किसी नारी के प्रति उठ रहे हैं तो उसे अपने बेटी, बहिन, भानजी आदि के रिश्ते में सोचने की- सफेद चमड़ी के भीतर मल-मूत्र रक्त माँस की घृणित दुर्गन्ध भरी होने की- कल्पना करके उन को शमन किया जा सकता है। आवेश, उत्तेजना, क्रोध, उतावली कोई बुरी आदतें कइयों की होती हैं, जब वैसे अवसर आऐं तब गम्भीरता, धैर्य, दूरदर्शिता, सज्जनता, शान्ति जैसे विचार अपने में उस समय तत्काल उठाने की तैयारी करनी चाहिए।

प्रात:काल चारपाई पर पड़े-पड़े दिन भर के समय विभाजन तथा विचार संघर्ष की योजना बनानी चाहिए और ऐसी दिनचर्या तैयार करनी चाहिए जिसमें शरीर से ठीक तरह कर्त्तव्य पालन और मन में ठीक तरह सद्भाव चिन्तन होता रहे। इस कार्य के लिए पन्द्रह मिनट से लेकर आधा घण्टे का समय पर्याप्त होना चाहिए। इतने में खुमारी भी दूर हो जाती है और बिस्तर छोड़ने के लिए आवश्यक स्फूर्ति भी शरीर में आ जाती है। उस निर्धारित दिनचर्या को कागज पर नोट कर लेना चाहिए और समय-समय पर जाँचते रहना चाहिए कि निर्धारण के अनुरूप कार्यक्रम चल रहा है या नहीं। जहाँ भी चूक होती हो वहीं उसे तुरन्त सुधारना चाहिए। यदि सतर्कतापूर्वक दिनचर्या के पालन का ध्यान रखा जायेगा, शारीरिक आलस्य और मानसिक प्रमाद से पग-पग पर लड़ते रहा जाय तो प्रातःकाल की निर्धारित योजना रात को सोते समय तक ठीक चलती रहेगी।

इस प्रकार हर दिन नया जन्म वाले मन्त्र का आधा भाग रात को सोते समय तक पूरा होते रहना चाहिए। हर घड़ी अपने को सतर्क, सक्रिय जागरूक रखा जाय, चूकों को बचाने लिए सतर्क रहा जाय- उत्कृष्टता का जीवन में अधिकाधिक समावेश करने के लिए प्रयत्न किया जाय- तो निस्सन्देह वह दिन पिछले अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक सन्तोषप्रद, अधिक गौरवास्पद होगा। इस प्रकार हर दिन- पिछले दिन की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक आदर्श बनता चला जायेगा और कर्मयोग के तत्व दर्शन में हमारी जीवन पद्धति ढलती चली जायेगी।

अब मन्त्र का आधा भाग प्रयुक्त करने का अवसर आता है-"हर रात नई मौत" इस भावना को रात्रि में सोते समय प्रयुक्त करना चाहिए। सब कामों से निवृत होकर जब निद्रा देवी की गोद में जाने की घड़ी आए। तब कल्पना करनी चाहिए कि-"एक सुन्दर नाटक का अब पटाक्षेप हो चला। यह संसार एक नाट्यशाला है। आज का दिन अपने को अभिनय करने के लिए मिला था, सो उसको अच्छी तरह खेलने का ईमानदारी से प्रयत्न किया। जो भूलें रह गई उन्हें याद रखेंगे और अगले दिन वैसी पुनरावृत्ति न होने देने की अधिक सावधानी बरतेंगे।"

'अनेक वस्तुऐं इस अभिनय में प्रयोग करने को मिलीं। अनेक साथियों का साथ रहा। उनका सान्निध्य एवं उपयोग जितना आवश्यक था कर लिया गया, अब उन्हें यथा समय छोड़ कर पूर्ण शान्ति के साथ अपनी आश्रय दात्री माता निद्रा- मृत्यु की -गोद में निश्चिन्त होकर शयन करते हैं।"

इस भावना में वैराग्य का अभ्यास है। अनासक्ति का प्रयोग है। उपलब्ध वस्तुओं में से एक भी अपनी नहीं, साथी व्यक्तियों में से एक भी अपना नहीं। वे सब अपने परमेश्वर के और अपने कृर्तत्व की उपज हैं। हमारा न किसी पर अधिकार है न स्वामित्व। हर पदार्थ और हर प्राणी के साथ कर्त्तव्य बुद्धि से ठीक व्यवहार कर लिया जाय, यही अपने लिए उचित है। इससे अधिक मोह ममता के बन्धन बाँधना- स्वामित्व और अधिकार की अहंता जोड़ना- निरर्थक है। अपना तो यह शरीर भी नहीं - कल परसों इसे धूलि बन कर उड़ जाना है- तब जो संम्पदा, प्रयोग सामिग्री, पद, परिस्थिति, उपलब्ध हैं उस पर अपना स्वामित्व जमाने का क्या हक ? अनेक प्राणी सृष्टि के आदि से लेकर अब तक अपने कर्म भोगों को भुगतने अनेकों के साथ आए संयोग वियोग करते रहते हैं।

अपने साथ भी आज कितने ही प्राणी एक सज्जन साथी की तरह रह रहे हैं, इनके लिए कर्तव्य धर्म की ठीक तरह पालन किया जाय इतना ही पर्याप्त है। उनसे अनावश्यक ममता जोड़ कर ऐसा कुछ न किया जाय जिससे अनुचित पाप कर्मों में संलग्न होना पड़े।

यह विवेक हमें रात को सोते समय जागृत करना चाहिए और अनुभव करना चाहिए कि अहंता और ममता के बन्धन तोड़ कर एकात्म भाव से भगवान की मंगलमय गोदी- निद्रा मृत्यु में परम शान्ति और सन्तोषपूर्वक निमग्न हुआ जा रहा है।

इस प्रकार की मनोवृत्ति का विकास होने से जीवन के अनेक श्रेत्रों में प्रगति होने की सम्भावना रहती है और अन्त में मानव-जन्म की सार्थकता उपलब्ध हो सकती है। इस प्रकार की भावना बनी रहने से मनुष्य माया-मोह के हानिकारक बन्धनों से अधिकाँश में विमुक्त रहता है और आत्मोद्धार का वास्तविक लक्ष्य उसकी दृष्टि से ओझल नहीं होने पाता। इस प्रकार जो साधक जीवन के वास्तविक रहस्य को हस्तगत कर लेता है उसको फिर व्यर्थ के जंजाल में नहीं फँसना पड़ता।

किसी दिन सचमुच ही मृत्यु आ जाय तो इन परिपक्व वैराग्य भावनाओं के आधार पर बिना भय और उद्वेग के शान्तिपूर्वक विदा होते हुए- मरणेत्तर जीवन में परम शान्ति का अधिकारी बना जा सकता है। यह भावना लोभ और मोह की जड़ काटती है। कुकर्म प्रायः इन्हीं दो आन्तरिक दुर्बलताओं के कारण बन पड़ते हैं। हर रात्रि को एक मृत्यु मानने से लोभ और मोह का निराकरण और हर दिन को नया जन्म मानने से जीवन में आदर्शवादिता एवं उत्कष्टता का समावेश करने की प्रेरणा मिलती है। यही प्रेरणा कर्मयोग की आधार शिला है।

हममें में प्रत्येक को "हर दिन नया जन्म- हर रात नई मौत" के भाव-मन्त्र की साधना करनी चाहिए। इससे स्थूल शरीर में कर्मयोग का समावेश इस क्षेत्र में होगा और देवत्व के जागरण की एक महती आवश्यकता को पूरा करने का सरल मार्ग उपलब्ध होगा।

सूक्ष्म शरीर की महती सामर्थ्य

बर्तन में पानी भरा रहता है। वह स्थूल है। उसे नापा तोला जा सकता है और यह भी जाना जा सकता है कि उसने कितनी परिधि घेरी है तथा कितना प्रयोजन पूरा कर सकता है।

किन्तु जब वह आग पर चढ़ाकर भाप बना दिया जाय तो उसका आकार विस्तार विस्तृत हो जाता है और हवा के झोके के साथ कहीं भी पहुँच सकता है, यद्यपि भाप की सघनता कम हो जाने पर वह दृष्टिगोचर भी नहीं होता। तो भी उसका अस्तित्व बना रहता है। यह सूक्ष्म स्वरूप है। रात्रि की ठण्डक में वह आकाश से नीचे उतर कर ओस बूँदों के रूप में पत्तों पर आ विराजता है। स्थूल की आकृति और सीमा बन जाती है न।

यही बात मानवी चेतना के सम्बन्ध में भी है। वह काया के पिजड़े में कैद रहती है। सचेतन मस्तिष्क की अहंन्ता उसे यही बोध होने देती है कि "मैं शरीर हूँ।" यही मेरा आकार, प्रकार- उद्देश्य एवं अस्तित्व है। यह मान्यता जितनी सघन होती जाती है उतना ही व्यक्ति संकीर्ण स्वार्थपरता के बन्धनों में बँधता जाता है। उसकी मान्यता, भावना, विचारणा, आकाँक्षा एवं क्रिया इसी सीमा बन्धन में काम करती है। स्थूलता सीमित होती है, इसलिए इस स्तर का व्यक्ति उतना ही सशक्त होता है जितना कि उसका शरीर एवं शरीर परिकर के अधिकार में रहने वाले साधन। यह स्थिति मनुष्य की अल्पता की

द्योतक है। वह अपना और दूसरों का हित अनहित इसी परिधि में कर पाता है।

सूक्ष्मता इससे ऊँची स्थिति है। चेतना शरीर में रहती तो है पर उस हलकी उथली बाड़ को लाँघकर बाहर भी जा सकती है। चिड़िया घोंसले में रहती तो है पर उससे बँधी नहीं रहती। लोमड़ी अपनी माँद में रहती है पर जब उपयुक्त अवसर होता है, तभी उसमें से बाहर जहाँ चाहती है, वहाँ आहार, जल, धूप आदि प्राप्त करने के लिए निकल जाती है। सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध में भी यही बात है। वह जब भी चाहता है, प्रयत्नपूर्वक बाहर निकल जाता है। यह स्थिति अनभ्यस्त, सर्वजनीन न होने के कारण इसका अभ्यास तो करना पड़ता है। पर असम्भव जैसा कुछ नहीं । सूक्ष्म शरीर आकाश की सुविस्तृत सीमा में भ्रमण कर सकता है और उसकी उन जानकारियों को एकत्रित कर सकता है जो स्थूल शरीर की ऊँची दीवार के कारण दृष्टिगोचर नहीं होती । स्थूल शरीर उतना ही जान समझ सकता है जितना कि उसका इन्द्रियजन्य मस्तिष्कीय अनुबन्ध समझने का अवसर देता है। किन्तु सूक्ष्म शरीर पर यह बन्धन नहीं है वह सूक्ष्म इन्द्रियों से सम्पन्न होता है। आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा, स्थूल शरीर के साथ लिपटा होने पर भी सूक्ष्म शरीर, शब्द, रूप, रंग, गन्ध, स्पर्श की तन्मात्राओं के सहारे अपनी दौड़ की परिधि में बहुत कुछ देख और समझ सकता है। अतीन्द्रिय क्षमता इसी को कहते हैं। दूर दर्शन, दूर श्रवण, विचार परिचय, सम्भाव्य भविष्य आदि के सम्बन्ध में बहुत कुछ अनुभव कर सकता है। ऐसा अनुभव जिसे मात्र स्थूल शरीर की सीमा तक सीमित चेतना के लिए असम्भव, अद्भुत माना जा सकता है।

सूक्ष्म शरीर अन्य शरीर धारियों के भीतर भी प्रवेश कर सकता है और वहाँ उलट-पुलट मचा सकता है। जब कि स्थूल शरीर दूसरों के स्थूल शरीर को ही सुविधा-असुविधा पहुँचा सकता है। सूक्ष्मता की स्थिति में किसी के विचारों को पढ़ना- स्तर को समझना ही सम्भव नहीं होता वरन् कर्तव्य की सीमा इस परिधि तक बढ़ जाती है कि अन्तस् को कुछ नया बता या सिखा सके। पुरानी आदतों को बदल या सुधार कर उसके स्थान पर ऐसा कुछ स्थापित कर सके जिसे अपूर्व या अद्भुत कहा जा सके।

मरने के बाद भूत-प्रेत की योनि में गई हुई आत्माऐं कई बार किन्हीं सम्बन्धित व्यक्तियों के साथ राग-द्वेष चरितार्थ करने के लिए लिपट पड़ता है। उनके शरीर-मस्तिष्क पर वे अधिकार कर लेती हैं और उसका मनचाहा उपयोग करती हैं। शरीर की उठक-पटक वाणी, की बहक एवं मस्तिष्क की दिशाधारा में एक प्रकार का उन्माद छा जाता है और वशीभूत व्यक्ति के आचरण में देखते-देखते भारी परिवर्तन हो जाता है। शराब भी ऐसी ही उच्छृंखल मस्ती लगती है और खुमारी की स्थिति में स्वाभाविकता की अपेक्षा भारी अन्तर प्रस्तुत कर देती है। ऐसा ही उलट फेर सूक्ष्म शरीर जीवित स्थिति में भी कर सकता है। अपना मस्तिष्क दूसरों के मस्तिष्क में ठूँस सकता है और उसे वे विचार करने के लिए विवश कर सकता है जो प्रेरक है। इसी प्रकार शरीर में, स्वभाव में, गुण कर्म में भी अन्यान्यों को उलटकर नई दिशा में चलाया जा सकता है।

मनोविज्ञान के मूर्धन्य प्रयोक्ताओं ने ब्रेन वाशिंग की अनेकों विधियाँ आविष्कृत की हैं वे शत्रु पक्ष के बन्दियों को इस प्रकार की विचारधारा देते हैं जिससे उनके पूर्व विचार सर्वथा बदल जायें। मित्र को शत्रु एवं शत्रु को मित्र समझने लगें। यह ब्रेन वाशिंग प्रयोग पशुओं पर भी प्रयुक्त किया गया है वे अपनी जन्मजात मूल प्रकृति को भूल जाते हैं और उस नई प्रवृत्ति को अपना लेते हैं, जो इलेक्ट्रोडों द्वारा उन्हें बदलने के लिए विवश किया जाता है। हिरन सिंह पर आक्रमण करता है और सिंह अपनी जान बचाने के लिए भागता फिरता है। चूहे बिल्लियों पर आक्रमण करके उन्हें भगा देते हैं और अपना स्वरूप विजेता जैसा प्रकट करते हैं। यह "ब्रेन वाशिंग" के चमत्कार हैं। पर वे अस्थायी हैं। उतनी ही देर वह विपन्नता काम करती है, जितनी देर कि उनके शरीरों, मस्तिष्कों पर प्रेरित विद्युत्धारा का प्रभाव रहता है। ऐसा सामयिक परिवर्तन तो तब भी देखा जाता है जब तपोवनों के निकट जाकर वहाँ के प्राण प्रवाह से प्रभावित सिंह गाय एक घाट पानी पीने लगते हैं। पुराना शिकार-शिकारी का भाव भूल जाते हैं।

पौराणिक गाथाओं में वाल्मीकि, विल्व मंगल, अजामिल, अंगुलिमाल, अम्बपाली आदि के जीवनक्रमों में असाधारण परिवर्तन हुआ। ध्रुव, प्रह्लाद, पार्वती आदि ने वह नीति अपनाई, जो उनके जन्मजात वातावरण में सम्भव न थी। यह नारद जैसों का प्राण प्रहार ही था। जिसके कारण उन्हें अपनी पुरातन रीति-नीति बदलनी पड़ी। यह कोई जादू नहीं, वरन् सूक्ष्म शरीर शरीर की

बलिष्ठता का प्रभाव था, जिसने दंगल जीतने जैसा पराक्रम दिखाया।

यह प्रभाव कई बार और भी ऊँचे दर्जे का होता है अर्जुन का मन लड़ने का नहीं था किन्तु कृष्ण की सिखावन से उसे इस प्रकार युद्ध में प्रवृत्त होना पड़ा मानो वह स्वेच्छा से वैसा कर रहा है। यों पूर्व स्थिति में उसने ऐसे तर्क और तथ्य प्रकट किए थे, जो प्रकट करते थे कि वह युद्ध करने की मन:स्थिति में बिलकुल भी नहीं है पर उसे कुछ ही देर के विचार विनिमय में अपनी दिशा बदलकर बताई गई दिशा अपनानी पड़ी।

योग साधना में एक शक्तिपात प्रक्रिया का वर्णन है जिसके अनुसार एक समर्थ व्यक्ति अपने बल, पौरुष, तप आदि को दूसरे प्रियजन के लिए हस्तान्तरित कर सकता है। सुग्रीव अनेकों बार वालि से लड़ाई में हार चुका था पर जब राम द्वारा उसके गले में विजयमाला पहनाई तो उसकी स्थिति पहले की अपेक्षा सर्वथा बदल गई और उसने जाते ही विजयी की भूमिका सम्पन्न की। हनुमान से लेकर रीछ वानरों के समुदाय का राम के साथ पूर्व परिचय नहीं था और न लंका विजय में उनका कोई निजी स्वार्थ साधन। फिर भी वे मन्त्र मोहित की तरह उस अभिनव प्रयोजन में इस प्रकार जुटे मानो वह उनकी निजी प्रतिष्ठा का प्रश्न है। यह आदर्श और पौरुष दूसरों का किया हुआ था। इस अनुदान की प्रक्रिया को शक्तिपात परिभाषा में सम्मिलित किया जा सकता है।

चन्द्रगुप्त, चाणक्य, शिवाजी, समर्थ, आदि के प्रसंग भी ऐसे ही हैं जिनमें इस तरह का कर्तृव्य प्रकट हुआ जैसा कि कर्त्ताओं का न पौरुष था, न मन और न अभ्यास। अनुदान भी कई बार निजी उपार्जन जैसा ही काम करते हैं। भामाशाह का दिया हुआ धन राणाप्रताप के डगमगाते हुए हौंसले बुलन्द करने में सहायक सिद्ध हुआ। अध्यात्म क्षेत्र में ऐसे अनेकों उदाहरण हैं जिनमें समर्थ गुरुओं ने अपने शिष्यों को कहीं से कहीं पहुँचा दिया।

अनगढ़ युवक नरेन्द्र को स्वामी विवेकानन्द की वह भूमिका निभानी पड़ी, जिसके वे न तो इच्छुक थे और न योग्य। किन्तु रामकृष्ण परमहंस का अनुग्रह उन्हें उस स्तर का बना सका, जिसके कारण उन्हें भारतीय संस्कृति का युगदूत कहा जाता है। उन्होंने लाखों करोड़ों के अन्तरंग में अश्रद्धा के स्थान पर श्रद्धा का बीजारोपण कर दिया।

विवेकानन्द ने अपने अनुभवों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "जब मैं बोलने खड़ा होता था तो आरम्भ में चिन्ता रहती थी कि क्या कुछ कह सकूँगा। जो ही बोलना आरम्भ करता तो प्रतीत होता कि मस्तिष्क पर किसी दिव्य लोक से ज्ञान वर्षण हो रहा है। जिह्वा जो बोलती थी, वह भी ऐसा होता था कि मानो जीभ किसी की है और वाणी किसी अन्य की।"

रामकृष्ण परमहंस के न रहने पर उनकी धर्मपत्नी शारदामणि को भी क्षमता और प्रकृति ऐसी हो गयी थी, जिससे भक्तजनों को वह अनुपस्थिति अखरी नहीं।

परामनोविज्ञान के शोधकर्त्ताओं ने संसार में ऐसी अनेकों घटनाऐं ढूँढ़ निकाली हैं, जिनमें किसी अशिक्षित के मुँह से आवेश की स्थिति में अपरिचित भाषाओं में उच्चस्तरीय प्रवचन होते सुने गए।

कई वैज्ञानिकों, कलाकारों ने अपने अनुभव बताते हुए लिखा है कि उनका मार्गदर्शन और प्रशिक्षण किन्हीं अदृश्य दिव्य आत्माओं द्वारा हुआ। थियोसॉफी के जन्मदाताओं में से मैडम ब्लैवेट्स्की और सर ओलिवर लॉज को भी ऐसे ही अदृश्य सहायकों की आश्चर्यजनक दिव्य सहायताऐं प्राप्त होती रही हैं।

यह सूक्ष्म शरीर की क्षमता का प्रभाव परिचय है जिसे गहराई में उतारने वाले अभ्यासी भी उपलब्ध कर सकते हैं।

सूक्ष्म शरीर की दिव्य ऊर्जा और उसकी विशिष्ट क्षमता

पदार्थ का गुण हैं-क्रिया। शरीर प्रकृत पदार्थों से बना है अस्तु उसमें निर्वाह के निमित्त चलने वाली पाचन रक्ताभिषरण, आकुंचन-प्रकुंचन जैसी आन्तरिक गतिविधियों का चलना स्वाभाविक है। निर्वाह के अतिरिक्त शरीर का दूसरा दायित्व है-सुविधाओं का उपार्जन अवरोधों का निराकरण। यह भी बहिरंग क्रियाशीलता है। शरीर की गतिविधियों का समापन इसी छोटे क्षेत्र में हो जाता है। समस्त प्राणी इसी गतिचक्र में भ्रमण करते हुए शरीर यात्रा पूरी करते हैं। जिनकी क्षमता एवं चेष्टा इसी परिधि में सीमाबद्ध है उन्हें स्थूल शरीर में आवद्ध कहा जाता है।

मनुष्य का दूसरा कलेवर है- सूक्ष्म शरीर। वह इच्छा, विचारणा की दृष्टि से स्थूल शरीर जैसी आदतों का

अभ्यस्त हो सकता है, पर उसे निर्वाह के लिए साधन नहीं जुटाने पड़ते। ऋतु प्रभावों से प्रताड़ित नहीं होना पड़ता। मात्र इच्छा और आदत ही भली-बुरी क्रिया-प्रतिक्रिया उत्पन्न करती रहती हैं यही उसका स्वनिर्मित परलोक है। स्वर्ग और नरक की भाव सम्वेदनाओं से सूक्ष्म शरीर धारी इसी स्थिति में आँख मिचौनी खेलता रहता है। दृश्य की दृष्टि से- स्थूल शरीर और अदृश्य में प्रखर होने की दृष्टि से -सूक्ष्म शरीर वरिष्ठ बैठता है।

आमतौर से मरने के उपरान्त ही प्रेत पितर के रूप में सूक्ष्म शरीर का अनुभव होता है। कभी-कभी दिव्य स्वप्नों में भी उसके पृथक् अस्तित्व का परिचय मिलता है। किन्तु बात बहुत आगे तक चली जाती है। मानवी सत्ता ने तीन कलेवर ओढ़े हैं। 'स्थूल' अर्थात् दृश्यमान। 'सूक्ष्म' अर्थात् अदृश्य किन्तु अधिक व्यापक अधिक सक्षम। 'कारण' अर्थात् दिव्य लोक से सम्बन्ध ब्राह्मी चेतना के साथ तालमेल बिठाने आदान-प्रदान करने में समर्थ ए तीनों ही स्तर क्रमशः अधिकाधिक उच्च स्तर की विशेषताओं- विभूतियों से सम्पन्न पाए जाते हैं।

देवात्मा, ऋद्धि-सिद्ध पुरुष, अवतार, कारण शरीर की योग साधना एवं तपश्चर्या द्वारा समुन्नत बनते हैं और स्वर्गवासियों की तरह जीवन मुक्तों की स्थिति में रहते हैं। सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व दृश्यमान काया में रहते हुए मनोबल के रूप में प्रकट होता रहता है। गुण कर्म, स्वभाव की विशेषताऐं सूक्ष्म शरीर में ही केन्द्रीभूत रहती है। साहस, संकल्प, पराक्रम एवं दृष्टिकोण की जाँच-पड़ताल करके सूक्ष्म शरीर के उत्थान पतन का अनुमान लगाया है। प्रतिभावना-ओजस्वी, तेजस्वी, मनस्वी, देखने में सामान्य होते हुए भी सूक्ष्म शरीर की दृष्टि से प्रखर पहलवान होते हैं। इन्द्रिय शक्ति से आगे बढ़कर अतीन्द्रिय क्षमताओं से सुसम्पन्न होना ऋद्धि- सिद्धियों की दृष्टि से अपने विभूति भण्डार भरे रहना सूक्ष्म शरीर के लिए ही सम्भव है।

स्थूल शरीर को स्वस्थ, सुडौल, समर्थ , दीर्घ जीवी बनाना-बनाए रखना आहार-विहार पर प्रकृति अनुसरण पर निर्भर है। व्यायाम, टॉनिक आदि के आधार पर उसकी स्वाभाविक पुष्टाई कुछ अधिक भी हो सकती है। वस्त्राभूषणों से उसे सजाया भी जा सकता है किन्तु सूक्ष्म शरीर को समर्थ बनाने के लिए दृष्टिकोण एवं स्वभाव संस्कार का परिमार्जित करना आवश्यक है। उसके लिए स्वाध्याय, सत्संग, चिन्तन, मनन की आवश्यकता पड़ती है। साथ ही स्वार्थ को घटाने-परमार्थ को बढ़ाने के लिए लोक-मंगल की सेवा की सेवा साधना को भी चिन्तन तथा व्यवहार के साथ जोड़ना पड़ता है। आदर्शों की कसौटी पर खरा उतरने के लिए शौर्य, पराक्रम एवं त्याग बलिदान की वरिष्ठता का भी परिचय देना पड़ता है। सूक्ष्म शरीर ऐसे ही आधार अपनाने से बलिष्ठ होता है। उसका सहयोग पाकर स्थूल शरीर की क्षमता अनेक गुनी बढ़ जाती है। व्यक्तित्व की प्रखरता प्रतिभा के रूप में प्रकट होती है। असामान्य क्षमताओं के धनी प्रायः इसी स्तर के होते हैं।

कुछ लोगों के सूक्ष्म शरीर पूर्व संचित संस्कार सम्पदा के कारण अनायास भी अपनी विशिष्टता का परिचय देने लगते हैं। किन्तु साधारणतया प्रयत्नपूर्वक ही उसे बलिष्ठ बनाना पड़ता है। जिस कारण भी वह समुन्नत हुआ हो अपनी विशेषताओं का ऋद्धि-सिद्धियों के रूप में परिचय देने लगता है। अतीन्द्रिय क्षमताऐं ही ऋद्धि-सिद्धियाँ है। इनकी साधारण झाँकी प्रतिभा के रूप में परिलक्षित होती है। अग्रगामी, दुस्साहसी प्रायः सूक्ष्म शरीर के क्षेत्र में ही अपनी विशिष्टता का भण्डार भरे रहते हैं।

इस अदृश्य विशिष्टता का कभी-कभी किसी-किसी में परिचय मिलता है तो लोग आश्चर्यचकित रह जाते हैं और उसे किसी देवता का अनुग्रह मानने लगते हैं। वस्तुतः वैसा कुछ है नहीं। सूक्ष्म शरीर ही निकटतम देवता है। उसे छाया पुरुष से लेकर पीर बैताल जैसे अनेकों चमत्कारी परिचय देते देखा जाता है। आत्म देव सबसे बड़ा देवता है। उसकी उपासना का हाथों हाथ प्रतिफल मिलता है। वर्तमान या भूतकाल में जो उसकी जितनी साधना कर चुके-कर रहे हैं- वे उसी अनुपात से चमत्कारी और सिद्ध पुरुष कहलाते हैं। इन विशेषताओं का परिचय जहाँ-तहाँ अनायास भी मिलता रहता है। प्रयत्नपूर्वक तो उन्हें कोई भी कभी भी उपार्जित कर सकता है।

शरीर में काम करने वाली गर्मी तथा गतिशीलता से सभी परिचित हैं। अध्यात्म विज्ञानी जानते हैं कि सूक्ष्म शरीर में दिव्य ऊर्जा के भण्डार भरे पड़े हैं। उसकी बिजली न केवल व्यक्ति की पुरुषार्थ क्षमता को अनेकों गुना बढ़ा देती है वरन् ऐसे काम भी कर दिखाती है जिन्हें सामान्यजनों के लिए असम्भव ही कहा जाता है। पर इसमें अलौकिक जैसी कोई बात है नहीं। सूक्ष्म शरीर की

दिव्य ऊर्जा के ए साधारण और स्वाभाविक चमत्कार हैं। यान्त्रिक बिजली जब इतने बड़े काम कर सकती है तो सूक्ष्म शरीर की दिव्य ऊर्जा अपनी विशिष्टता क्यों सिद्ध न करेगी ? दिव्य ऊर्जा का प्रवाह कभी-कभी सूक्ष्म शरीर से फूटकर स्थूल शरीर में प्रवेश करने लगता है तो मनुष्य एक चलता-फिरता बिजली घर जैसा दीखने लगता है।

प्राचीन भारतीय योगी चाँगदेव के बारे में उल्लेख मिलता है कि उन्होंने अपनी मौत को १४ बार वापस लौटाया था ईसा मसीह के समय से लेकर बारहवीं शताब्दी तक सन्त ज्ञानेश्वर के समय तक उनकी योग गाथाओं के उल्लेख मिलते हैं। १४०० वर्ष की आयु में शेर के ऊपर सवार होकर हाथ में वे नाग का चाबुक लेकर सन्त ज्ञानेश्वर के पास पहुँचे थे।

लोगों के द्वारा चुनौती दिए जाने पर एक बार हवा में स्थिर रहकर उन्होंने प्रवचन दिया था। एक के ऊपर एक क्रमशः चौबीस चौकियाँ रखकर मंच बनाया गया, प्रवचन देते समय उनके संकेत के अनुसार सारी चौकियाँ हटा दी गयीं। वे हवा में अवस्थित हुए ही प्रवचन करते रहे। लोगों ने उनका जय-जयकार किया तो उन्होंने इतना ही कहा कि इसमें उनका अपना कुछ भी बड़प्पन नहीं, वरन् योग क्रियाओं के अभ्यास का ही यह चमत्कार है।

तिब्बत में सूक्ष्म शरीर को मानव जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिकाएं निभा सकने सम्बन्धी काफी प्रयत्न हुए हैं। इनका वर्णन 'टिबटन बुक ऑफ दी डेड' एवं 'सीक्रेट योग आफ टिबेट' पुस्तक में विस्तारपूर्वक दिया गया है। एक रूसी ग्रन्थ "हार्ट ऑफ एशिया" में तिब्बत तथा उसके समीपवर्ती क्षेत्रों में विद्यमान सूक्ष्म शरीरधारी शक्तियों के क्रिया-कलापों का महत्त्वपूर्ण विवरण है।

कभी-कभी ऐसी घटनाऐं भी घटित होती देखी जाती हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि कोई आत्मा अपना शरीर छोड़कर किसी दूसरे के शरीर में प्रवेश कर जाती हैं और शरीर-धारी का व्यक्तित्व लुप्त होकर अधिकार करने वाली आत्मा जैसा ही आचरण उस शरीर से बन पड़ता है। इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि स्थूल शरीर से पृथक्-सूक्ष्म शरीर का पृथक् और स्वतन्त्र अस्तित्व है। शरीर में सन्निहित प्राण चेतना उसमें घुली रहने पर भी अपना पृथक् अस्तित्व बनाए रखती है।

पुराणों में सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व सिद्ध करने वाली अनेक घटनाओं का सुविस्तृत वर्णन मिलता है। श्री आद्य शंकराचार्य की वह कथा प्रसिद्ध है जिसमें उनने अपना सूक्ष्म शरीर राजा के मृत शरीर में प्रविष्ट किया था और उद्देश्य पूरा होने पर फिर वापस अपनी स्थूल काया में लौट आए थे। रामकृष्ण परमहंस ने महा-प्रयाण के उपरान्त भी विवेकानन्द को कई बार दर्शन तथा परामर्श दिए थे। पुराणों में तो पग-पग पर ऐसे कथानकों का उल्लेख है। प्रख्यात परामनोविज्ञानी "एडगर केसी" की कृति "लाइफ रीडिंग्स" में भी सूक्ष्म शरीर के बारे में विस्तृत जानकारी है। राबर्ट ए० मोनरो ने "जर्नीज आउट आफ द बॉडी" नामक पुस्तक में प्राण शरीर सम्बन्धी अपने अनुभवों को लिखा है। उनके अनुसार सूक्ष्म शरीर को भौतिक शरीर की भाँति प्रयुक्त कर मनुष्य एक ही शरीर से दुहरे काम कर सकता है।

प्राणायाम विद्या में निष्णात कर्नल टाउन सेण्ड के बारे में प्रसिद्ध है कि वे अमेरिका की प्रख्यात अणु विज्ञानी श्रीमती जे० सी० ट्रस्ट की तरह अपने प्राण शरीर को स्थूल काया से अलग करने का प्रदर्शन किया करते थे। सूक्ष्म शरीर से यात्रा करके वे दूर रखे श्याम पट तक जाते और उस पर कुछ बातें स्पष्ट करके पुनः अपने शरीर में आ जाते। मूर्धन्य शरीर शास्त्री एवं चिकित्सक उनके शरीर का परीक्षण करके उसे मृत घोषित कर देते। यह प्रयोग वहाँ उपस्थित गण्मान्य नागरिकों, पत्रकारों, बुद्धि जीवियों एवं वैज्ञानिकों के समक्ष बार-बार दुहराया गया।

प्रकृति की गोद में भी कुछ ऐसे मानवतर प्राणी पाए गए हैं जिन्हें परकाया प्रवेश की क्षमता जन्मजात मिली होती है। वे भी योगियों जैसे अपने स्थूल और सूक्ष्म शरीर को अलग-अलग करने की विद्या में पारंगत होते हैं। प्रशान्त महासागर में सेमाफ्रो द्वीप के निकट 'पोलैलो' नामक ऐसा जीव पाया जाता है जो वर्ष में दो बार- आश्विन एवं कार्तिक के महीनों में छोटे-छोटे ज्वारों के समय अपने घोंसले से बाहर निकलता है। इसी मध्य जल की सतह पर वह अपने अण्डे देता है। अपने साथ वह शरीर का केवल वही भाग लेकर बाहर आता है जितना उसके तैरने और अण्डा देने के काम आता है। शेष आधा शरीर मृत स्थिति में अपने घोंसले में ही सुरक्षित छोड़ आता है। अण्डे देकर जब पानी की सतह से वापस अपने घोंसले में पहुँचता है तो कुशल योगी की भाँति अपने

मृत शरीर से जुड़ जाता है और उसमें रक्त व प्राण का संचार चालू कर देता है। प्रकारान्तर से यह भी एक यौगिक प्रक्रिया है।

डा० वानडेन फेक ने परकाया प्रवेश से सम्बधित अनेक तथ्यों की खोजबीन की थी और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि भारतीयों द्वारा चोटी रखने का स्थान ऐसा जागृत केन्द्र है जिसका मनुष्य के प्राण शरीर से गहरा सम्बन्ध रहता है। सम्भवत: यही वह स्थान है जहाँ से सूक्ष्म शरीर का बहिर्गमन होता है। मनुष्य की मानसिक शक्तियों के विकास में भी इस स्थान का विशेष महत्त्व है!

अतीन्द्रिय क्षमता सम्पन्न कितने ही भारतीय योगियों ऋषियों का उल्लेख मिलता है जो एक स्थान पर बैठकर समस्त विश्व की गतिविधियों एवं भावी घटनाक्रमों का न केवल पता लगा लेते थे, वरन् सूक्ष्म शरीर से सुदूर क्षेत्रों की यात्रा करके अपने प्रिय पात्रों को सहायता प्रदान करते एवं आवश्यक प्रेरणा भरे परामर्श देते थे। योगी तैलंग स्वामी, स्वामी विशुद्धानन्द,स्वामी निगमानन्द, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ जालन्धरनाथ आदि के बारे में सूक्ष्म शरीर द्वारा यात्रा के ऐसे कितने ही वर्णन मिलते हैं जिनसे प्राण शरीर की प्रचण्डता और स्थूल काया से उसकी पृथक् सत्ता की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। इटली के विख्यात सन्त पादरी पियो ने इस तरह से कितने ही जरूरतमन्दों की सहायता की थी। थियोसोफिकल सोसाइटी की जन्मदात्री मैडम ब्लावटस्की के बारे में कहा जाता है कि वे अपने कमरे में बन्द होने के उपरान्त भी जनता को सूक्ष्म शरीर से दर्शन और उपदेश देती थीं। पाश्चात्य योग साधकों में से हैबर्टलमान, लिण्डार्स, एण्ड्रु जैक्सन, डा० माल्थस, कारिंगटन, डुरावेल मुलडोन, ओलिवर लॉज, पावर्स, डा० मेस्मर, ऐलेकजेण्ड्रा, डेविडनील, पॉल ब्रण्टन आदि के अनुभवों और प्रयोगों में सूक्ष्म शरीर की प्रामाणिकता सिद्ध करने वाले अनेकों प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं। जे० मुलडोन अपने स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर को पृथक् करने के कितने ही प्रदर्शन भी कर चुके थे। उनने इस सबकी चर्चा अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "दी प्रोजेक्शन आफ एस्ट्रल बॉडी" में विस्तारपूर्वक की है।

शरीर से प्राण भिन्न है। वह शरीर के साथ तो घुला ही रहता है, पर ऐसा भी कई बार देखा गया है कि प्राण निकल जाने पर भी शरीर काम करता रहता है। इसी प्रकार शरीर को सब परीक्षणों द्वारा मृत घोषित कर दिए जाने पर भी आत्मा का एक सूक्ष्म भाग शरीर के साथ जुड़ा रहता है और वह उसी प्रकार काम करता रहता है मानो वह वस्तुत: जीवित है।

इस प्रकार की एक घटना का वर्णन सुप्रसिद्ध गुह्यविज्ञानी टी० लाबसांग रम्पा ने अपनी पुस्तक "यू फार एवर" में किया है। घटना फ्राँस की क्रान्ति के समय की है जिसमें एक फ्रांसीसी सैनिक के सिर से धड़ के अलग कर दिए जाने पर भी कटे सिर के मुँह से फुसफुसाहट भरी कुछ आवाज निकल रही थी। इसका रिकार्ड अभी भी फ्रांस के सरकारी कागजातों में मौजूद है। श्री रम्पा के अनुसार यह सूक्ष्म शरीर का ही कार्य है जो भौतिक शरीर के मृत हो जाने पर भी उसे चैतन्य बनाए रख सकता है।

प्राण की शरीर से पृथक् इस सत्ता को अब वैज्ञानिक प्रयोग परीक्षणों द्वारा भी सही पाया गया है। स्थूल शरीर के न रहने पर भी इस सूक्ष्म शरीर के बने रहने के बारे में अनेकों प्रमाण जुटाए गए हैं।

एक व्यक्ति की प्राण चेतना दूसरे के शरीर में प्रवेश करके अपने अस्तित्व का परिचय देती है। शक्तिपात में यही प्रयोग चलता है। रामकृष्ण परमहंस ने अपनी प्राण चेतना विवेकानन्द को हस्तान्तरित कर दी थी। उसी शक्ति के प्रताप से वे देवसंस्कृति का व्यापक प्रसार कर सकने में समर्थ हुए।

सत्संग और कुसंग में यही प्रयोजन एक सीमित मात्रा में अनायास ही सम्पन्न होता है। बुरों की संगति में एक अच्छा मनुष्य भी बुरा बन जाता है क्योंकि एक समुदाय की शक्ति एकाकी व्यक्ति को अपनी ओर खींच लेती है। यही बात बहुत सज्जनों के बीच रहकर एक दुर्जन के बदलने के रूप में भी देखी जाती है। माता-पिता के गुणों में से ही बहुतेरे गुण सन्तान में हस्तान्तरित होते हैं। यह भी एक प्रकार का प्राण परिवर्तन ही है।

पति-पत्नी के मध्यवर्ती विद्युत् शक्ति एक दूसरे के साथ मिलकर दोनों पक्षों के लिए एक-एक ग्यारह का निमित्त कारण बनती है। इसी प्रकार दुराचारी-दुराचारिणियों का सम्पर्क उनकी कुटिलता को और भी भड़काता है। अपराधियों के गिरोह बन जाते हैं। नशेबाजों और जुआरियों की मण्डलियाँ गठित हो जाती हैं। इन प्रत्यक्ष देखे जाने वाले अनुभवों से भी यही बात सिद्ध होती है कि बलवान प्राण दुर्बल प्राणों पर हावी हो जाता है और उन्हें वशवर्ती बना लेता है।

विभिन्न शारीरिक क्रियाऐं, हलचलें प्राण की सक्रियता पर ही निर्भर हैं। रात्रि को सो जाने के उपरान्त जो स्वप्न दीखते हैं, वह अनुभूतियाँ प्राण शरीर की ही हैं। दिव्यदृष्टि, दूर-श्रवण, दूर-दर्शन, विचार-संचालन, भविष्य-ज्ञान, देव-दर्शन आदि उपलब्धियाँ भी सूक्ष्म शरीर के माध्यम से ही होती हैं। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की उच्चस्तरीय योग साधना द्वारा इसी सूक्ष्म शरीर को समर्थ बनाया जाता है। ऋद्धियों और सिद्धियों का स्रोत इस सूक्ष्म शरीर को ही माना जाना चाहिए एवं उसे विकसित कर देवोपम उपलब्धियाँ हस्तगत किए जाने का पुरुषार्थ किया जाना चाहिए।

प्रमाणित तो होता है, सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व

मनुष्य के एक नहीं तीन शरीर होते हैं- स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर। दृश्यमान स्थूल शरीर ऊपर का होता है। इसके भीतर 'सूक्ष्म शरीर है जो अदृश्य प्रवृत्तियों और शक्तियों के साथ जुड़ा रहता है। तीसरा अन्तराल का गहरा स्वर वह है जिसे 'कारण शरीर' कहते हैं। इसका सम्बन्ध परब्रह्म और उसकी सत्ता से है। इसके लिए योग साधना एवं तपश्चर्या की एक-एक करके सभी सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती हैं। स्थूल से आगे सूक्ष्म और सूक्ष्म से आगे बढ़कर कारण शरीर में प्रवेश करना पड़ता है, तब कहीं योगशास्त्रों में वर्णित ऋद्धि-सिद्धियों के दर्शन होते हैं। प्राचीनकाल का समूचा इतिहास इन्हीं आध्यात्मिक उपलब्धियों से भरा पड़ा है जिसे ऋषियों, तत्वदर्शियों, योगियों और सन्तों का इतिहास कहा जा सकता है, वे अपने संकल्प बल से या सूक्ष्म शरीर से परकाया प्रवेश से लेकर सुदूर ग्रह-नक्षत्रों तक की यात्रा पलक झपकते ही कर लेते थे।

सूक्ष्म शरीर की सत्ता और सामर्थ्य स्थूल की काया की तुलना में असंख्य गुना अधिक है। अध्यात्म क्षेत्र में इसके पग-पग पर प्रमाण उपलब्ध हैं। आध्यात्मिक जगत की प्रसिद्ध घटना है कि मुण्डन मिश्र के जगत् गुरु आद्यशंकराचार्य से शास्त्रार्थ में पराजित हो जाने के बाद उनकी धर्म पत्नी विदुषी भारतीय ने मोर्चा सम्भाला। उसने शंकराचार्य से 'कामविद्या' पर ऐसे जटिल प्रश्न पूछे जो इन जैसे ब्रह्मचारी सन्यासी की कल्पना से भी परे थे। किन्तु वे योगी थे उन्हें मुण्डन मिश्र जैसे महान पण्डित की सेवाओं की अपेक्षा थी, सो उन्होंने महिष्मती नरेश के मृतक शरीर में 'प्रवेश किया और कामशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया।' तत्पश्चात् वापस अपने शरीर में आकर उन्होंने भारती के प्रश्नों का उत्तर दिया। परकाया प्रवेश की यह घटना पिण्ड की सामर्थ्य के उस सूक्ष्म चेतन पक्ष का परिचय देती है, जिसे रहस्यमय विभूतियों से सम्पन्न माना गया है।

सूक्ष्म शरीर द्वारा परकाया प्रवेश की एक दूसरी इतिहास प्रसिद्ध घटना महर्षि उपवर्ष के शिष्य देवदत्त की है जिन्होंने पाटलिपुत्र के राजा महापद्मनन्द के मृत शरीर में प्रवेश तो पा लिया था, पर फिर बाहर निकल नहीं सके थे।

महर्षि उपवर्ष के तीन शिष्य थे प्रथम वररुचि या कात्यायन जो पीछे सम्राट चन्द्रगुप्त के महामंत्री बने थे। इन्होंने पाणिनि के व्याकरण के सूत्रों की टीका की थी। दूसरे थे-'व्याडी'-जिन्होंने एक विशाल व्याकरण ग्रंथ लिखा था और तीसरे थे-देवदत्त जो योग विद्या में निष्णात् थे और परकाया प्रवेश तक की विद्या जानते थे। गुरु दक्षिणा- की एक लाख स्वर्ण मुद्राएं प्राप्त करने के लालच में इन्होंने तुरन्त मृत्यु को प्राप्त महापद्मानन्द के शरीर को माध्यम बनाया और दोनों साथियों पर अपने शरीर की रक्षा भार सौंपकर उसमें सूक्ष्म शरीर से जा घुसे। सारे राज्य में छाई दुख की लहर एकाएक खुशी में बदल गई। चारों ओर उत्सव मनाए जाने लगे। कुशाग्र बुद्धि महामंत्री शकटार ने जब पुनर्जीवित महापद्मनन्द के गुण, कर्म, स्वभाव, व्यवहार एवं पाण्डित्य में परिवर्तन पाया तो उन्हें वस्तु स्थिति समझते देर न लगी कि यह सारा खेल योग विद्या के ज्ञाता देवदत्त का है। उन्होंने निश्चय किया कि जैसे भी हो देवदत्त के पूर्ववर्ती शरीर को ढूँढ़ कर शवदाह करा दिया जाय ताकि महापद्मनन्द को इस रूप में ही जीवित रखा जा सके। यह वह समय था जब सिकन्दर सम्राट पुरु को परास्त कर झेलम तक आ पहुँचा था। अगली लड़ाई उसकी पाटलिपुत्र से ही होने वाली थी। ऐसी स्थिति में अपने सिपाहियों का मनोबल बढ़ाए रखना आवश्यक था। अतएव शकटार ने अपने विश्वासपात्र सैनिकों को भेजकर व्याडी के विरोध के बावजूद भी देवदत्त के शरीर का अग्नि संस्कार करा दिया। देवदत्त को जब इस बात का पता चला तो माथा पीटते रह गए। बाद की कथा तो सब जानते ही हैं।

विश्व-विख्यात चित्रकार गोया की आत्मा अमेरिका की एक विधवा हैनरोट के शरीर में प्रविष्ट हो गई थी।

वह घटना अमेरिका में प्रसिद्ध है। नए शरीर में गोया ने 'ग्वालन' नामक सुन्दर कलाकृति का निर्माण किया । विधवा हैनरेट ने अपने जीवनकाल में कभी कोई चित्र नहीं बनाया था। अमेरिकी विशेषज्ञों को विधवा के व्यवहार में गोया की आत्मचेतना झाँकती दिखाई देती थी। वे इसे परकाया प्रवेश की घटना मानते थे।

गायत्री की उच्चस्तरीय योग साधना सूक्ष्मता का विज्ञान है। यह परमसत्ता से सम्बन्ध जोड़ने, आत्मानुभूति कराने का सुनिश्चित साधन है। यह राह भले ही कठिनाइयों, की आत्म नियन्त्रण, आत्म-सुधार की हो, पर एक वैज्ञानिक पद्धति जिसके परिणाम सुनिश्चित होते हैं। उस कठिन मार्ग पर चलने वाली आस्था को उक्त चमत्कारी सिद्धियाँ निःसन्देह परिपुष्ट करती हैं। मानवी काया की सूक्ष्म संरचना ही कुछ ऐसी है कि अन्तराल में प्रसुप्त उस बीज भण्डार को विकसित किया जा सके तो वह उसे अनन्त गुना सामर्थ्यवान बना देती है। स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से कारण शरीर की सत्ता इसी स्तर की है। विज्ञान जगत के अनुसन्धानकर्ताओं ने भी अब भारतीय दर्शन के इस तथ्य की पुष्टि कर दी है और कहा है कि मनुष्य की 'ईथरिक बॉडी' अर्थात् सूक्ष्म शरीर की सामर्थ्य स्थूल की तुलना में कई गुना अधिक है। वह शरीर के अन्दर और उसके बाहर भी कार्य करता रह सकता है। अत्यन्त अल्पसमय में दूरवर्ती स्थानों की यात्रा कर सकता है और जरूरतमन्दों की सहायता कर सकता है।

ऑक्सफोर्ड स्थित 'साइकोफिजिकल रिसर्च सेण्टर' के मूर्धन्य परामनोविज्ञानियों ने- 'एस्ट्रल ट्रैवल' अर्थात् 'सूक्ष्म शरीर की यात्रा' पर गहन अध्ययन एवं अनुसंधान किया है। संस्थान के प्रमुख अनुसंधान अधिकारी डा० चार्ल्स एम० क्रीरी का कहना है कि जन सामान्य में से लगभग दस प्रतिशत व्यक्तियों को अपने जीवन में सूक्ष्म शरीर से दूसरे स्थानों की यात्रा के अनुभव होते हैं। इनमें से अधिकांश घटनाएं दुर्घटना या शल्य क्रिया के समय घटित होती हैं। उनके अनुसार इस तरह के अनुभव प्रायः शान्त एवं विश्रान्तिपूर्ण मनःस्थिति में होते हैं। गहन निद्रा में भी स्थूल शरीर से बाहर निकल कर सूक्ष्म शरीर की यात्रा की घटनाएं प्रकाश में आती रहती हैं।

विश्व प्रख्यात लेखक अर्नेस्ट हैमिंग्वे ने अपनी कृति "फेअरवैल टू आर्म्स" में ऐसे अनेकों रहस्यमय संस्मरणों का वर्णन किया है जिनमें व्यक्तियों ने अपने स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर को अलग कर स्वयं की शल्य क्रिया होते या दुर्घटना में शरीर को अशक्त पड़े देखा है। इसी तरह सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक रेमण्ड मूडी ने इस तरह के कितने ही उदाहरण ढूँढ़ निकाले हैं जिनमें रोगियों ने अपनी मृत्यु को बहुत पास से देखा है कि किस तरह कष्ट कर परिस्थितियों में भौतिक शरीर से सूक्ष्म शरीर अलग होकर उन सारे दृश्यों को देखता रहा जिसमें उसे स्वस्थ करने के चिकित्सकों के प्रयत्न भी सम्मिलित थे। इस संदर्भ में तान्त्रिक विशेषज्ञों का कहना है कि सामान्य अवस्था में स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीर दोनों सम्पूर्ण ऐक्य की स्थिति में रहते हैं, किन्तु कई बार बहुत सी ऐसी परिस्थितियाँ भी आती हैं जब दोनों शरीर एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। तब सूक्ष्म शरीर के लिए कहीं भी गमन कर सकना सम्भव हो जाता है। इतने पर भी वह भौतिक शरीर से एक सूक्ष्म सूत्र द्वारा सम्बन्ध बनाए रखता है। मृत्यु हो जाने पर यह सम्पर्क सूत्र समाप्त हो जाता है और सूक्ष्म शरीर पूरी तरह स्वतन्त्र हो जाता है।

यह एक तथ्य है कि सांसारिक कष्ट कठिनाइयाँ स्थूल शरीर के साथ ही जुड़ी रहती हैं, सूक्ष्म शरीर को इस प्रकार की कोई अधिव्याधि नहीं व्यापती। "ट्वेन्टी फिफ्थमैन" नामक पुस्तक में 'ऐड मोरेल' ने एक ऐसे ही व्यक्ति की घटना प्रकाशित की है जिसे जेल के भीतर भीषण यन्त्रणाऐं सहनी पड़ती थीं। अभ्यास द्वारा उसने अपने सूक्ष्म शरीर को स्थूल काया से अलग करने की विद्या सीख ली थी और यन्त्रणा के उन क्षणों में सूक्ष्मशरीर से जेल के बाहर विचरण करने चला जाया करता था।

पोलैण्ड का एक प्रतिभाशाली इंजीनियर अपनी अतीन्द्रिय क्षमता के लिए विख्यात था। अपने एक चिकित्सक मित्र के परामर्श पर उसने सूक्ष्म शरीर से सुदूर प्रान्तों की यात्राऐं की । स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर के अलग हो जाने पर परीक्षणकर्ता वैज्ञानिकों ने पाया कि उस समय उसके भौतिक शरीर में जीवन नाम का कोई लक्षण विद्यमान नहीं होता था। हृदय की धड़कन, नाड़ी गति, श्वास-प्रश्वास आदि बंद हो जाते थे। अन्यान्य वैज्ञानिक परीक्षणों ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है। कैलीफोर्निया यूनिवर्सिटी के ख्याति प्राप्त मनोविज्ञानी डॉ० चार्ल्स टी० स्टार्ट ने वैज्ञानिक उपकरणों के माध्यम से

शारीरिक क्रियाकलापों की मोनीटरिंग करने पर पाया कि स्थूल काया से सूक्ष्म सत्ता के निकल जाने पर समस्त कायिक गतिविधियाँ ठप्प पड़ जाती हैं और जैसे ही सूक्ष्म शरीर पुन: अपनी पंच भौतिक काया में लौट आता है वे फिर सक्रिय हो उठती हैं। उनके इस अनुसंधान की प्रामाणिकता को अमेरिकन सोसाइटी फार साइकिकल रिसर्च ने भी स्वीकृति प्रदान की है।

अभ्यास द्वारा भौतिक शरीर से सूक्ष्म शरीर को अलग करने के अतिरिक्त भी कितनी ही बार ऐसी घटनाएं घटित होती हैं। जो सूक्ष्म शरीर की सत्ता में परिचय कराती हैं जिन्हें चिकित्सालयों के रिकॉर्ड में देखा जा सकता है। घटना फॉकलैण्ड की है जहाँ पिछले दिनों ब्रिटेन और अर्जेण्टीना के बीच युद्ध हुआ था। एक सैनिक अचेतावस्था में अस्पताल में भर्ती किया गया था। गहन उपचार के बाद जब मूर्च्छा जगी तो उसने डाक्टरों को बताया कि अमुक गाँव में अमुक परिवार में उसका मृत शरीर पड़ा है जिसको तुरन्त दफना दिया जाय। वस्तुत: उसने अपने पोते के शरीर में प्रवेश पा लिया था। जाँचकर्ताओं को उसने बताया कि उस परिवार का वह एक मात्र पुरुष सदस्य था जिसका जीवित रहना आवश्यक था। उसका प्राणान्त हो जाने पर इस शरीर में मुझे सूक्ष्म शरीर से प्रवेश करना पड़ा। इसी तरह की न्यूयार्क के लेनोक्स हिल हॉस्पिटल के चिकित्सा विज्ञानी डॉ० रसल मैक रॉबर्ट ने एक पादरी का वर्णन किया है जिसने अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा यात्रा करके चिकित्सकों को यह सोचने के लिए विवश कर दिया था कि भौतिक शरीर के अन्दर कोई सूक्ष्म सत्ता भी विद्यमान है जिसकी सामर्थ्य उसकी तुलना में असंख्य गुनी अधिक है।

मूर्धन्य परामनोविज्ञानी सिल्वान मुल्डून का कहना है कि वस्तुत: सूक्ष्मशरीर ब्रह्माण्डीय ऊर्जा का सधनीकृत रूप मात्र है। योग साधना एवं तपश्चर्या से ब्रह्माण्डीय चेतन ऊर्जा सूक्ष्म शरीर में जैसे-जैसे साधन होती जाती है वह सशक्त एवं परिपुष्ट बनता जाता है। उसकी क्षमता भौतिक काया से कई गुनी बढ़ी चढ़ी होती है जिसके लिए समय, स्थान, दूरी आदि जैसे कारक कोई अर्थ नहीं रखते उनके अनुसार सूक्ष्म शरीर से यात्रा करने के पश्चात जितनी ताजगी और स्फूर्ति की अनुभूति होती है, उतनी स्थूल शरीर से कभी भी सम्भव नही हो पाती। इसे उन्होंने मन की यात्रा कहा है जो प्रबल संकल्प बल के सहारे सम्पन्न होती है।

वस्तुत: मनुष्य मात्र पंचभौतिक शरीर ही नहीं वरन् उसकी एक प्रचण्ड समर्थ्ययुक्त सूक्ष्म सत्ता भी होती है जिसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं, आत्मा का वाहन भी। इसी पर सवार होकर आत्मा लोक-परलोक की यात्राऐं करता तथा मरणेत्तर जीवन के पश्चात् पुराने कलेवर को छोड़कर नए कलेवर में प्रवेश करता है। तपस्वी एवं सिद्ध योगीजन अपने इसी शरीर से स्वल्प समय में दूरवर्ती दुर्गम क्षेत्रों की यात्राएं करते एवं जरूरतमन्दों की सहायता करते देखे-सुने जाते हैं। सूक्ष्म शरीर से अन्य शरीरों में प्रवेश करने की कथा-गाथाओं का भी उल्लेख मिलता है। जिन कार्यों को मनुष्य स्थूल काया से सम्पादित नहीं कर पाता, वह दिव्य दर्शन, दूरश्रवण, दूर सम्प्रेषण, दूरगमन जैसे कठिन कार्य सूक्ष्म शरीर को विकसित कर लेने पर सहज सम्भव हो जाते हैं।

भारत का प्राचीन इतिहास आध्यात्मिक उपलब्धियों से भरापूरा है। इसे आध्यात्मिक उपलब्धियों की शृंखला कहें तो आध्यात्मिक साहित्य और दर्शन को तत्वदर्शी ऋषि-मनीषियों, योगी और सन्तों का इतिहास कहना पड़ेगा। आध्यात्मिक जगत की ऐसी कितनी ही घटनाऐं हैं जो इस तथ्य पर प्रकाश डालती हैं कि स्थूल शरीर से परे जीवात्मा का वाहन 'सूक्ष्म शरीर' - जिसे 'एस्ट्रल बॉडी, एटलर बॉडी' के नाम से भी जाना जाता है, विलक्षण क्षमता सम्पन्न एक सुनिश्चित सत्ता है। इसे अदृश्य प्रवृत्तियों और शक्तियों का केन्द्र भी कहा जाता है। इसको विकसित कर लेने पर लोक-लोकान्तरों की यात्राऐं की जा सकती हैं। अपनी सूक्ष्म सत्ता को दूसरों की काया में प्रवेश कराकर उनसे मनचाही दिशा में कार्य कराया जा सकता है। इस सन्दर्भ में आद्यशंकराचार्य की वह घटना प्रसिद्ध है जिसमें महान विद्वान मण्डन मिश्र के पराजित होने पर उनकी पत्नी विदुषी भारती ने मोर्चा सम्भाला था और उनके गूढ़ प्रश्नों के उत्तर देने के लिए शंकराचार्य को एक मृत राजा के शरीर में परकाया प्रवेश करना पड़ा था। तत्पश्चात् अपने शरीर में वापस आकर उन्होंने भारती के प्रश्नों का उत्तर दिया और उन्हें परास्त किया। परकाया प्रवेश की यह घटना पिण्ड की सामर्थ्य के उस चेतन पक्ष का परिचय देती है जिसे रहस्यमय विभूतियों से सम्पन्न माना जाता है।

नाथ सम्प्रदाय के आदिगुरु महायोगी मत्स्येन्द्रनाथ के विषय में कहा जाता है कि सूक्ष्म शरीर से वे अपनी इच्छानुसार गमनागमन विभिन्न लोकों में करते थे। उन्हें

परकाया प्रवेश की सिद्धि प्राप्त थी। एक बार अपने शिष्य गोरखनाथ को स्थूल शरीर की सुरक्षा का भार सौंपकर मृत राजा के शरीर में उन्होंने सूक्ष्म शरीर से प्रवेश किया था। गोरखनाथ स्वयं एक महान योगी थे और अध्यात्म जगत की विभूतियों से सम्पन्न थे। महाभारत के "शान्तिपर्व" में वर्णन है कि सुलभा नामक विदुषी अपने योगबल की शक्ति से राजा जनक के शरीर में प्रविष्ट कर विद्वानों से शास्त्रार्थ करने लगी थी। उन दिनों राजा जनक का व्यवहार भी स्वाभाविक न था। 'अनुशासन पर्व' में ही कथा आती है कि एक बार इन्द्र किसी कारणवश ऋषि देवशर्मा से कुपित हो गए। उन्होंने क्रोधवश ऋषि की पत्नी से बदला लेने का निश्चय किया। देवशर्मा का शिष्य-'विपुल' योगसाधनाओं में निष्णात् और सिद्ध था। उसे योग दृष्टि से यह मालूम हो गया कि मायावी इन्द्र गुरुपत्नी से बदला लेने वाले हैं। विपुल ने सूक्ष्म शरीर से गुरुपत्नी के शरीर में उपस्थित होकर इन्द्र के हाथों से उन्हें बचाया।

पातंजल योगदर्शन में सूक्ष्म शरीर से आकाश-गमन करने, एक ही समय में अनेकों शरीर धारण करने, अदृश्य होने, परकाया प्रवेश करने जैसी अनेकों योग विभूतियों का वर्णन है जो प्रकारान्तर से जीवात्मा की अकूत सामर्थ्य और काया से परे उसकी स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन करती हैं। सत, रज, तम से बने संसार और पंचभौतिक काया से जुड़े आकर्षणों से अत्यधिक लिप्त होने के कारण अपनी मूल सत्ता, जो समस्त शारीरिक एवं मानसिक हलचलों का केन्द्र है, का बोध नहीं हो पाता। बाह्याकर्षणों के आवरणों को चीरकर निकल सकना सम्भव हो सके तो प्रतीत होगा कि अपनी ही आत्म सत्ता में ऋद्धि-सिद्धियों का ऐसा विलक्षण भण्डार छिपा पड़ा है जिसे जानकर समष्टि चेतन सत्ता से सम्बन्ध जोड़ सकना तथा विभूति सम्पन्न-सामर्थ्यवान बन सकना सम्भव है। शास्त्र में इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए ऋषि कहते हैं- "योगी को अदृश्य जगत् दृश्यवत् दीखता है। उसे दूरदर्शन, दूरश्रवण की विभूतियाँ उपलब्धि होती हैं। ध्यान मात्र से योगी भूत, भविष्य, वर्तमान तथा प्राणियों के मनोगत भाव जान लेता है।"

अदृश्य जगत को जान लेना- उसमें सूक्ष्मशरीर द्वारा प्रवेश कर सकना संभव है। विज्ञानवेत्ता भी अब इस तथ्य को स्वीकार करने लगे हैं और सूक्ष्मशरीर की विशिष्ट क्षमता को उद्घाटित करने निरत हुए हैं। अनुसन्धानकर्ताओं ने स्थूल काया से सूक्ष्मशरीर के बाहर निकलने की प्रक्रिया को -ऐक्सोमेटिक स्टेट" तथा 'आउट ऑफ बॉडी एक्सपीरिएन्स' (ओ० बी० ई०) अर्थात्- शरीर से बाहर अतीन्द्रिय अनुभव आदि नामों से सम्बोधित किया है। पाश्चात्य योग साधकों में से डा० माल्थ कारिंगटन, हैवर्टलमान, लिण्डार्स, डुरावेल मुलडोन, ओलिवर लॉज, डा० मेस्मर, डेविडनील, पाल ब्रण्टन आदि के अनुभवों और प्रयोगों में सूक्ष्मशरीर की प्रामाणिकता सिद्ध करने वाले अनेक प्रमाण उपस्थित किए गए हैं। जे मुलडोन अपने स्थूल शरीर से सूक्ष्मशरीर को पृथक् करने के कितने ही प्रदर्शन कर चुके थे। उनने इन सबकी चर्चा अपनी पुस्तक-"द प्रोजेक्शन ऑफ एस्ट्रल बॉडी" में विस्तारपूर्वक की है।

फ्रांस के प्रख्यात कथाकार गुई दि मोपासां ने अपने संस्मरण में लिखा है कि जब कभी वह लिखने, बैठते तो उनके सम्मुख एक सूक्ष्म शरीरधारी पुरुष बैठा मिलता। वह उनसे आग्रहपूर्वक वही लिखाता जो उसकी इच्छा होती। लेखन समाप्त होते ही वह अदृश्य हो जाता। कहानी पढ़ने पर प्रतीत होता कि किसी उच्चस्तरीय साहित्यकार की आत्मा ने उसमें अपने प्राण उड़ेल दिए हैं। इसी तरह के एक संस्मरण का उल्लेख करते हुए, अंग्रेजी के ख्याति प्राप्त कवि बायरन ने अपने समकालीन कवि शेली के सूक्ष्मशरीर से यात्राऐं करने का वर्णन किया है। एक ही समय में उनके दो मित्र स्थानों में उपस्थित रहने की सामर्थ्य का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं कि जब एक बार वह किसी जंगल से गुजर रहे थे तो उनकी भेंट शेली से हो गई और वार्तालाप करने से पूर्व ही वे अदृश्य हो गए। खोजबीन करने पर पाया गया कि उस वक्त शेली कहीं दूसरी जगह अपने मित्रों से बातचीत करने में मशगूल थे।

पुराणों में उल्लेख है कि प्राचीन काल के योगी तपस्वी ऋषिकल्प आत्माऐं न केवल सूक्ष्मशरीर से गमनागमन करने में समर्थ थीं वरन् इच्छानुसार रूप धारण करने और जब चाहे अदृश्य होने और पुन: प्रकट हो जाने की विभूतियों से भी सम्पन्न थीं। वीसवीं सदी में भी इस तरह के कितने ही उदाहरण विद्यमान हैं जो मानव में अन्त:निहित प्रचण्ड सूक्ष्म शक्ति-सामर्थ्य को प्रकट करते हैं। ब्राजील निवासी राजास केमिलो नामक एक ईसाई साधक का उदाहरण कुछ इसी प्रकार का है। केमिलो की ईश्वर पर दृढ आस्था थी और उसने अपने

जीवन को बहुत ही पवित्र एवं प्रखर बना लिया था। फलत: अर्न्तनिहित शक्तियाँ विकसित हो गई थीं। इच्छानुसार वह अदृश्य या प्रकट हो सकता था। उसकी इस विलक्षण क्षमता की पुष्टि जाँचकर्ता वैज्ञानिकों एवं पत्रकारों ने भी की थी।

इसी तरह अलबानिया के काउण्ट एडुवर्डो नामक व्यक्ति को सूक्ष्म शरीर से यात्रा करने, अदृश्य होने आदि की सामर्थ्य प्राप्त थी। मंगोलिया के बौद्ध भिक्षु ध्यांग ने भी कठिन अभ्यास के द्वारा इस तरह की क्षमताऐं विकसित कर ली थीं। सब के सामने वह अचानक प्रकट हो जाता और फिर अदृश्य होकर सबको अचम्भे में डाल देता। इस तरह के कितने ही प्रदर्शन उसने मूर्धन्य वैज्ञानिकों, विद्वानों एवं पत्रकारों के समक्ष प्रस्तुत किए थे। आस्ट्रेलिया के सुप्रसिद्ध पत्रकार डेविड नील ने जब ध्यांग से उसकी विलक्षणता का कारण पूछा तो उत्तर मिला- "सूक्ष्म शरीर से यात्रा करना, अदृश्य होना आदि साधक की अपनी इच्छा शक्ति पर निर्भर करता है। अपनी समस्त मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों को केन्द्रित करके कोई भी व्यक्ति इस तरह की क्षमताऐं विकसित कर सकता है" योगी एवं तपस्वी स्तर के भारतीय साधकों की एक महान परम्परा रही है जो इस तथ्य को उद्‌घाटित करती है कि मानव जीवन सृष्टा का वह अनुपम उपहार है जिसका यदि सदुपयोग बन पड़े तो हर मनुष्य दिव्य विभूतियों का स्वामी बन सकता है। पवित्रता एवं प्रखरता द्वारा पात्रता अर्जित कर हर साधक योगसाधना के माध्यम से भौतिक सफलताऐं एवं अध्यात्म जगत की विभूतियाँ हस्तगत कर सकता है।

सूक्ष्म शरीर के अविज्ञात क्रिया कलाप

क्या यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति सशरीर कहीं और उपस्थित हो एवं उसके माध्यम से कहीं और किसी घटनाक्रम को घटते कई व्यक्तियों ने देखा हो व स्वयं वह भी उसकी स्वीकारोक्ति कर रहा हो ? यह एक ऐसा प्रसंग है जिस पर काफी समय से वैज्ञानिक विवाद करते रहे व गुत्थियों में उलझते रहे हैं। फिर भी इसकी यथार्थता को नकारने में वे असफल रहे हैं।

हम आर्षग्रन्थों में पौराणिक मिथकों में ऐसे कई प्रसंग देवमानवों, ऋषियों, महापुरुषों से जुड़े पढ़ते आ रहे हैं जिनमें यह वर्णन है कि एक ही व्यक्ति को एक ही समय दो या अधिक स्थानों पर एक साथ उपस्थित बताया गया है। क्या यह कपोल कल्पना मात्र है? इस पर परामनोविज्ञान, गुह्यविज्ञान के अध्येता अपना निष्कर्ष प्रकट करते हुए कहते हैं कि यह सूक्ष्मशरीर की सत्ता का चमत्कार ही है जो हम ओ० बी० ई० (आउट ऑफ बॉडी एक्सपीरिएन्स) एवं परकाया प्रवेश के घटना-क्रम देखते व सुनते हैं। इतिहास के पृष्ठों में ऐसी कई घटनाऐं पृष्ठांकित हैं।

घटना १८ जुलाई १८७६ की है। न्यूयार्क के एक न्यायालय में विलियम मैक्डोनाल्ड नामक एक व्यक्ति पर मुकदमा चलाया गया। आरोप यह था कि १५ अप्रेल के दिन मेनहट्टन शहर में सायं ५ बजे कुछ व्यक्तियों पर प्राणघातक हमला करके उन्हें घायल कर दिया। इसकी साक्षी रूप में अभियोग पक्ष ने चार गवाह भी पेश किए जिनमें शहर का ईमानदार और सत्यनिष्ठ समझा जाने वाला एक व्यक्ति था।

दूसरी ओर प्रतिपक्ष ने कई साक्षी प्रस्तुत कर न्यायालय को यह बताया कि उक्त समय अभियुक्त मेनहट्टन से पाँच मील दूर ब्रुकलीन उपनगर के एक थिएटर में प्रख्यात हिपनोटिस्ट डॉ० ह्वाइनर का "माध्यम" बना सैकड़ों व्यक्तियों के सामने संज्ञा शून्य पड़ा था। फिर यह कैसे संभव है कि वह दूसरे शहर में आकर हत्या करे?

ज्यूरी के सामने जटिल समस्या थी। दोनों ही पक्ष अपराधी को एक ही दिन एक ही समय दो भिन्न स्थलों में उपस्थित बता रहे थे, जो सर्वथा असम्भव था। निदान स्वरूप डॉ० ह्वाइनर को बुलाया गया । डॉ० ह्वाइनर तत्कालीन समय में सम्मोहन विद्या के निष्णात् माने जाते थे। न्यायालय ने उनसे प्रश्न किया कि क्या वे मैक्डोनाल्ड को जानते हैं? उन्होंने उत्तर में कहा- "हाँ, मैक्डोनाल्ड एक अच्छा माध्यम है और उक्त दिन वह उस पर सम्मोहन विद्या के कुछ प्रयोग कर रहा था।" "क्या ऐसी स्थिति में सम्मोहित व्यक्ति का सूक्ष्म शरीर कहीं अन्यत्र भी प्रकट हो सकता है?" ज्यूरी का अगला प्रश्न था। ह्वाइनर ने कहा-"ऐसा संभव है।"

किन्तु न्यायालय को इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ। उसने बचाव पक्ष से अपराध जगत के इतिहास में किसी ऐसी घटना के पक्ष में दिए गए फैसले का सबूत माँगा। प्रतिपक्ष ने रिकार्ड की पुरानी फाइल से एक ऐसा ही मामला ढूँढ़ निकाला। बात सन् १७७४ की है। २१ सितम्बर रविवार के दिन स्थानीय चर्च के फादर

अलफोन्सेस-लिगाडरी प्रात: प्रवचन देने के लिए तैयार हो रहे थे। कि अचानक कुर्सी से टकरा कर गिर पड़े और बेहोश हो गए। बड़ी मुश्किल से शाम तक होश में आए, तो अपने विश्वास पात्र शिष्यों से कहने लगे कि वे बिलकुल स्वस्थ हैं और अभी-अभी रोम से आ रहे हैं। उन्होंने आगे बताया कि रोम के पोप को उनने जहर दे दिया है। शिष्यों ने समझा कि शायद फादर सपने की बात कह रहे हों, अत: उनने उस पर विशेष ध्यान नहीं दिया, किन्तु कुछ दिनों बाद जब पोप के सम्बन्धियों ने फादर अलफान्सर पर हत्या का मुकदमा चलाया, तब शिष्यों को विश्वास हुआ कि फादर जो कुछ कह रहे थे, वह सच था, मगर उन्हें आश्चर्य इस बात का था कि शरीर से यहाँ रहते हुए भी सैंकड़ो मील दूर जाकर उन्होंने हत्या कैसे की?

इस घटना को सुन कर ज्यूरी के सदस्यों ने वादी प्रतिवादी दोनों पक्षों को सही माना पर अपराधकर्मी मैक्डोनाल्ड को यह कह कर बरी कर दिया कि अपराध सूक्ष्म शरीर ने किया है, अत: उसका दण्ड स्थूल शरीर को नहीं दिया जा सकता ।

यह सच है कि सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से पृथक्करण सम्भव है और इसके माध्यम से विश्व के किसी भी कोने का क्षण मात्र में भ्रमण किया जा सकता है, मगर दैनिक जीवन में निद्रा की स्थिति में घटने वाली इस घटना का स्मरण अधिकांश लोग नहीं रख पाते हैं। फलत: विस्मय की दृष्टि से देखते और अचम्भा करते हैं। रहस्यवाद में इस घटना को पृथक्करण, बाह्यकरण मूर्त्तकरण अथवा आउट ऑफ बॉडी एक्सपीरियन्स (शरीर से बाहर परिभ्रमण) जैसे अनेकानेक नामों से जाना जाता है।

इस क्षेत्र के विशेषज्ञों का कहना है कि चूँकि सूक्ष्म शरीर अथवा एस्ट्रल बॉडी में चेतना और अनुभूति के दोनों गुण होते हैं, अत: पृथक्करण की घटना जब घटती है, तो अस्थायी रूप से स्थूल शरीर अचेतन की स्थिति में आ जाता है और ठीक इसी समय भौतिक शरीर से सूक्ष्म शरीर में चेतना और अनुभूति का स्थानान्तरण हो जाता है। किन्तु रहस्यवादियों का कहना है कि ऐसी स्थिति में भी दोनों शरीरों के बीच सदा एक सूक्ष्म सम्बन्ध बना रहता है। दोनों को एक-दूसरे से जोड़ने वाला यह सम्पर्क सूत्र "एस्ट्रल कार्ड" कहलाता है। प्राय: ऐसी घटनाऐं प्रकाश में आती रहती हैं, जब किसी दुर्घटना अथवा आपरेशन के दौरान व्यक्ति अपने ही निष्क्रिय स्थूल शरीर को देखता रहता है अथवा देखने की अनुभूति होती है। ऐसा एस्ट्रल बॉडी के पंच भौतिक शरीर से पृथक्करण के कारण होता है। एस्ट्रल प्रोजेक्शन की यह घटना योगियों अथवा आध्यात्मिक पुरुषों के साथ घटने वाली उस घटना से सर्वथा भिन्न है, जिसमें आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न व्यक्ति एक समय में विभिन्न स्थलों पर प्रकट होकर विभिन्न प्रकार के काम करते देखे जाते हैं। "भारत के सन्त महात्मा" पुस्तक में ऐसे कई घटनाक्रम दिए गए हैं।

सामान्य परिस्थितियों में भी स्वत: बहिर्गमन की यह घटनाऐं घटती हैं, पर यह कब और कैसे घटित होती हैं यह अविज्ञात है। कुछ व्यक्तियों में यह घटना सतत् स्वत: होती रहती है। विशेषज्ञों का विश्वास है कि इसमें व्यक्ति के आनुवंशिक कारक भी जिम्मेदार हो सकते हैं। रहस्यवादियों का कहना है कि शैशवावस्था और अत्यन्त बुढ़ापे की स्थिति में एस्ट्रल बॉडी और स्थूल शरीर परस्पर पूरी तरह बंधे नहीं होते, उनके बीच कुछ विलगाव होता है। यही कारण है कि इन स्थितियों में बोली अस्पष्ट व तुतली होती है तथा विभिन्न अंगों का पारस्परिक तालमेल भी ठीक-ठीक नहीं बन पड़ता, क्योंकि एस्ट्रल शरीर पूरी तरह नियन्त्रण में नहीं होता। इसी प्रकार बीमारी, उपवास, थकान, श्रम, तपश्चर्या के दौरान जब जीवनी शक्ति घट जाती है तो एस्ट्रल शरीर अपने बन्धनों से ढीला हो जाता है और भौतिक शरीर से बाहर आ जाता है। मादक द्रव्यों के सेवन से भी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। गहन एकाग्रता, प्रबल इच्छा, दारुण दु:ख व मरणासन्न स्थिति में भी दोनों शरीरों का सम्पर्क-सूत्र कमजोर पड़ जाता है जिससे एस्ट्रल बॉडी आंशिक अथवा पूर्णरूप से स्थूल शरीर से पृथक् हो सकता है। मृत्यु से ठीक पूर्व अथवा किसी गम्भीर संकट की घड़ी में एस्ट्रल शरीर व्यक्ति के किसी घनिष्ठ सम्बन्धी के समक्ष प्रकट होकर इसकी सूचना उसे दे सकता है। इस क्षेत्र के शोध कर्ताओं का कहना है कि एस्ट्रल शरीर का बहिर्गमन कोई असामान्य अथवा अस्वाभाविक घटना नहीं है। हर व्यक्ति के जीवन में यह घटित होता रहता है। यह बात दूसरी है कि अधिकांश व्यक्ति इसे याद नहीं रख पाते सिवाय बेसिर-पैर के सपनों के ।

एस्ट्रल बहिर्गमन शुरू से अन्त तक पूर्ण चैतन्य रह कर भी सम्भव है, पर यह कुछ कठिन है। इस

दौरान की अनुभूतियों में भी काफी भिन्नता देखी गयी है।

सामान्य परिस्थितियों में इस प्रकार का बहिर्गमन नींद की स्थिति में होता है। कुछ घण्टे की नींद के बाद व्यक्ति को ऐसा अनुभव होता है, जैसे वह धीरे-धीरे जाग रहा हो, किन्तु उसे अपनी स्थिति और अवस्थिति का भान नहीं होता। कुछ समय तक वह स्वयं को निश्चल अनुभव करता है। इसके बाद उसका एस्ट्रल शरीर हवा में अनुप्रस्थ रूप से ऊपर उठने लगता है। तत्पश्चात् धीरे-धीरे उदग्र स्थिति ग्रहण कर लेता है और वहाँ से दूर जाने की तैयारी करने लगता है। इस दशा में अभौतिक शरीर, जो अब तक जड़ जैसी अवस्था में था, चैतन्य बनने लगता है। यह चेतना स्थूल शरीर की ऊर्जा प्रवाहित होती है। अधिकांश मामलों में एस्ट्रल बॉडी के बहिर्गमन और भौतिक शरीर में उसके लौटने से पूर्व की मध्यावधि में "ब्लेक आउट अथवा अचेतना" की एक अल्पकालिक स्थिति भी आती है।

इस आयाम में सब कुछ अत्यन्त सुस्पष्ट होता है। यहाँ तक कि सामान्य स्थान भी विशेष प्रभायुक्त दीखते हैं, जबकि वास्तविक संसार अपेक्षाकृत अवास्तविक अस्पष्ट व बिम्ब जैसा प्रतीत होता है। ज्ञान तन्तु अधिक सन्वेदनशील हो उठते हैं एवं बोध क्षमता बढ़ जाती है। शारीरिक दोष समाप्त हो जाते हैं।एस्ट्रल शरीर के आयाम में काल स्थान और द्रव्य का अर्थ पूरी तरह बदल जाता है। इस स्थिति में इस शरीर के लिए फिर सारे व्यवधान, सारी विघ्न-बाधाऐं समाप्त हो जाती हैं। यह बन्द दरवाजे से निकल सकता है, हजारों मील की दूरी पलक झपकते तय कर सकता है। चूँकि यह शरीर सूक्ष्म होता है, अत: भौतिक संसार में यह कुछ विशेष अवसरों पर ही लोगों को दिखाई पड़ता है।

साधना द्वारा शक्ति अर्जित कर के भी एस्ट्रल बॉडी को भौतिक शरीर से पृथक् कर उस आयाम में पहुँचा जा सकता है एवं अन्य आयामों में निवास कर रही सूक्ष्म सत्ताओं से सम्पर्क साधा जा सकता है।

बहिर्गमन के बाद कुछ समय पश्चात जब सूक्ष्म शरीर भौतिक शरीर में वापस लौटता है, तो स्थूल शरीर की चेतना इसी के साथ लौट आती है। सामान्यत: यह घटना इतने शान्त और सहज रूप में घटित होती है कि व्यक्ति को इसका आभास तक नहीं मिल पाता और कुछ क्षण तक वह अचेतन अथवा निद्रा की स्थिति में ही पड़ा रहता है। किन्तु इस समय यदि यकायक कोई तीक्ष्ण ध्वनि उत्पन्न की जाय, अथवा सोते व्यक्ति को जोर से झकझोरा जाय, तो एस्ट्रल कार्ड में तीव्र हलचल उत्पन्न हो जाती है और इसी के साथ सूक्ष्म शरीर शीघ्रता से स्थूल शरीर में प्रवेश कर जाता है, जिससे भौतिक शरीर को काफी कष्ट पहुँचता है और व्यक्ति का हृदय बुरी तरह धड़कने लगता है। यही कारण है कि सोते व्यक्ति को झकझोर कर अथवा तेज आवाज देकर कभी नहीं उठाया जाता।

यद्यपि मनोवैज्ञानिक बहिर्गमन की इन घटनाओं को मात्र मतिभ्रम कह कर निजात पा लेते हैं, पर रहस्यवाद में इस विधा को वास्तविक और असीम सम्भावनाओं से युक्त बताया गया है एवं इसके माध्यम से रहस्यवादी दैनिक जीवन में घटित होने वाली अनेक प्रकार की घटनाओं की व्याख्या करते हैं, यथा-स्वप्नदर्शन, दूरदर्शन। इसे वे एस्ट्रल आयाम की प्रथम अनुभूति बताते हैं। भूत-पिशाच एवं अन्य सूक्ष्म सत्ताओं के प्रत्यक्ष दर्शन में इसे एस्ट्रल शरीर का मूर्तकरण कहा गया है, उन्माद, पागलपन को सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर में स्थायी स्थान परिवर्तन (डिजलोकेशन) बतलाया जाता है, अचेतन अवस्था, निद्रा, बेहोशी आदि में एस्ट्रल बॉडी की अस्थायी अनुपस्थिति मानी गई है, आत्माओं के लिए माध्यम बनना पिशाचग्रस्त होना, बहुव्यक्तित्व प्रदर्शन, प्राण प्रत्यावर्तन इन्हें भौतिक शरीर पर अन्य सूक्ष्म सत्ताओं द्वारा आधिपत्य की संज्ञा दी गई है, प्राचीन ऋषि-मुनियों द्वारा रहस्यमय अनुभूति और अविज्ञात की जानकारी को श्वेच्छिक बहिर्गमन का नाम दिया गया है, मोहन-वशीकरण को सूक्ष्म शरीर पर नियन्त्रण माना गया है और एक्टोप्लाज्म, बायोफ्लक्स बायोप्लाज्मा, प्रभामण्डल आदि को ईथरिक शरीर का स्थूल शरीर से बाहर उभार कहा गया है।

कुछ भी हो, है यह सब कुछ अतिविलक्षण एवं अदभुत। सूक्ष्म जगत के क्रिया-कलापों की तो यह एक झलक मात्र है। सम्भावनाऐं असीम अपरिमित हैं। इस शक्ति समुच्चय को कुरेदा, जगाया जा सके तो ऋद्धि-सिद्धियों का वैभव भाण्डागार हस्तगत हो सकता है।

सूक्ष्मीकरण की अनेक गुनी सामर्थ्य

पत्थर का कोयला जलायें जाने पर छोटे-मोटे काम कर सकता है। हलवाई की अंगीठी में वह दिन भर जलता रहता है। उसकी सामर्थ्य इतनी भर है कि थोड़े से

पकवान भर बना सके। अंगीठी के ऊपर लोहे का तवा रख दिया जाय या जरा-सा पानी डाल दिया जाय, तो उसके बुझने में भी देर नहीं लगती ।

पानी का क्या मूल्य है, यह सभी जानते हैं। जमीन पर फैला देने पर मिट्टी उसे सोख लेती है। धूप में रखा रहने दिया जाय तो वह भाप बनकर उड़ जाता है। कोयले की आग और बाल्टी का पानी बाजार भाव की दृष्टि से अपना कोई मूल्य नहीं रखते, पर जब विधि विशेष से रेलगाड़ी के इन्जन में इन दोनों का संयोग मिलाकर भाप बनाई जाती है और उसे इधर-उधर छितराने न देकर इन्जन के पिस्टन के साथ सम्बद्ध किया जाता है तो उतने भर से शक्तिशाली इन्जन दौड़ने लगता है। न केवल स्वयं दौड़ता है वरन् अपने साथ भारी बोझ से लदे हुए ढेरों डिब्बों को भी द्रुतगति से घसीटता ले जाता है। यही है सूक्ष्मीकरण का प्रयोग जिसकी सामर्थ्य देखते हुए दाँतों तले उंगली दाबकर रह जाना पड़ता है।

आग और पानी जैसे स्वल्प मूल्य की वस्तुओं की तरह ही जौ, चावल, गुड़ जैसी वस्तुऐं भी हैं, जिनका बाजार भाव अत्यन्त स्वल्प है। इन्हें मिलाकर विधि विशेष से भाप बनाने पर शराब बन जाती है। उसकी सामर्थ्य देखते ही बनती है। थोड़ी मात्रा में पीने पर भी नशे में धुत्त कर देती है। आदमी होशो-हवास खो बैठता है और उन्मादियों जैसी चेष्टाऐं करता है। इसकी मात्रा अधिक पी ली जाय तो प्राण जाने का संकट सामने आ खढ़ा होता है। अलग-अलग अपनी स्वाभाविक स्थिति में इन वस्तुओं का क्या मूल्य है ? किन्तु इनका प्रयोग विशेष ऐसे चमत्कारी परिणाम दिखाता है कि आश्चर्य से चकित होना पड़ता है। संक्षेप में यही है सूक्ष्मीकरण का प्रयोग।

मनुष्य क्या है ? उसकी सत्ता नगण्य है। शरीर को मलमूत्र की गठरी सच ही कहा जाता है। वह जिन पदार्थों से मिलकर बना है। उनका बाजारू मोल छः रुपए से अधिक नहीं है। अब प्राण का लेखा-जोखा लिया जाय। आमतौर से उसे प्राण वायु कहा जाता है वायु अर्थात् सांस गरदन दबाकर साँस चलना रोक दिया जाय तो पाँच मिनट के भीतर प्राण निकल जाते हैं और चलती हुई मशीन देखते-देखते ठण्डी पड़ जाती है। ऐसे भी कोई ठिकाना नहीं कि न जाने कब सांस चलना बन्द हो जाय और अच्छे-खासे आदमी का दम निकल जाय। किन्तु प्राण और शरीर के सम्मिश्रण से जो जीवन बनता है उसकी सामर्थ्य का क्या ठिकाना? महामानवों के जीवन कितने महत्त्वपूर्ण होते हैं यह उनके व्यक्तित्व और कर्तृत्त्व को देखकर अनुमान लगाया जा सकता है।

प्रतिभा सूक्ष्म शक्ति का ही एक ब्राह्म रूप है। कितने ही लोगों में ऐसी आकर्षण शक्ति होती है जो दूसरों को अपनी ओर खींच लेती है। इसका सौन्दर्य से सीधा सम्बन्ध नहीं है। कुछ नर-नारियों की नख-शिख बनावट ऐसी होती है जो आँखों को सुहाती हैं पर प्रतिभा के अभाव में दूसरों को आकर्षित करने की क्षमता का अभाव रहता है। कई लोगों में डरावनी प्रतिभा होती है। डाकुओं के शरीर सामान्य होते हैं पर उनकी प्रतिभा ऐसी होती है जिससे सामने वालों को हक्क-बक्का कर देते हैं। यह उनके अन्तरंग की विशेषताऐं हैं। इनका रूप सौन्दर्य से सीधा सम्बन्ध नहीं है। कई कुरूप भी प्रभावशाली होते हैं और कई रूपवान भी जहाँ जाते हैं, उपेक्षा के भागी बनते हैं।

सूक्ष्मीकरण का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से है। दृश्य शरीर हाड़-मांस का होता है। इसमें देखने योग्य, आँख, दाँत, होंठ, चेहरा आदि होते हैं। हाथ, पैर, मांसपेशियाँ भी स्थूल शरीर की बनावट से ही सम्बन्धित हैं। किन्तु सूक्ष्म शरीर के साथ प्राण शक्ति प्रतिभा जुड़ी होती है। षट्चक्र, उपत्यिकाऐं, कुण्डलिनी, आदि का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से है। उनके भीतर विशेष प्रकार की विद्युत् शक्ति होती है। इस विशेष क्षमता के सहारे मनुष्य का भला या बुरा व्यक्तित्व भीतर से बाहर उभर कर आता है।

हर वस्तु में सूक्ष्म शक्ति होती है। उसे उभारने के लिए विशेष प्रयोग करने पड़ते हैं। धातुऐं बाजार से मोल पर खरीदी जा सकती हैं। पर उनका खाने में प्रयोग नहीं हो सकता है। किन्तु जब उनका शोधन, मारण, जारण किया जाता है तो बहुमूल्य भस्में बन जाती हैं। लोह भस्म, स्वर्ण भस्म, आदि सूक्ष्म स्वरूप हैं। वे खाने में काम आती हैं। पच भी जाती हैं। उनके चमत्कारी परिणाम भी होते हैं। पारा ऐसी धातु है जिसे कच्चा खा लेने पर देह में से फूट निकलता है। उसकी संज्ञा विष में गिनी जाती है। अन्य विष भी शोधन करके औषधि रूप बन जाते हैं। पारा मकरध्वज बन जाता है जिसे अत्यन्त शक्तिशाली टॉनिक कहा जाता है। सूक्ष्मी-करण से कितनी ही वनौषधियों को विशेष प्रयोग से अमृतोपम बनाया जाता है। छोटी पीपल को विभिन्न रसों के पुट देकर ६४ पहर(आठ दिन) लगातार घोटते हैं। बीच में विराम का

अवसर नहीं आने देते। इस प्रकार वह पीपल भी इतनी गुणकारी हो जाती है कि अनुपान भेद से उसे शत रोग निवारिणी बना लिया जाता है।

डीरोन औषधि विक्रेता भी यही करते हैं। वे एक वनौषधि की लगातार इतनी अधिक घुटाई पिसाई करते हैं कि मूल औषधि की तुलना में उसके गुण बहुत अधिक बढ़ जाते हैं।

होम्योपैथी के सिद्धान्तों में भी सूक्ष्मीकरण को विधा काम करती है। साधारण वस्तुओं को वे इतनी अधिक पोटेन्सी की बना देते हैं कि इनका मदर टिंचर शक्कर या पानी में मिलाए जाने पर और अधिक सामर्थ्यवान बनता जाता है।

यही बात मनुष्यों के सम्बन्ध में भी है। सामान्य स्थिति में वे सामान्य स्तर के मनुष्य ही होते हैं। पर यदि उनकी प्रसुप्त क्षमताओं को किसी साधना या विधि विशेष से सूक्ष्म शक्ति सम्पन्न बना लिया जाय तो फिर वे असाधारण हो जाते हैं और ऐसी सामर्थ्य का परिचय देते हैं जिसे अद्‌भुत कहा जा सके।

तन्त्र या योग के माध्यम से मनुष्य के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों को विशिष्ट सामर्थ्य सम्पन्न बनाया जाता है। किसी देवी देवता की सिद्धि में किसी बाहर की सामर्थ्य को आकर्षित करके धारण करने की बात भ्रान्ति-पूर्ण है। मनुष्य के शरीर के भीतर ही ऐसी सामर्थ्य विद्यमान हैं, जिन्हें देवी-देवता का नाम दिया जा सके। वे हमारे स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में विद्यमान हैं। पर रहती प्रसुप्त स्थिति में हैं। इन्हें जागृत किया जा सके तो सात्विक अथवा तामसिक प्रकृति के देवी देवता अपने भीतर से ही जागृत हो जाते हैं और ऐसे काम करने लगते हैं मानो उन्हें कहीं बाहर से बुलाया या बशवर्ती किया गया है।

छाया पुरुष सिद्धि का विज्ञान एवं विधान जिन्हें मालूम है, वे जानते हैं कि ठीक अपनी ही जैसी आकृति-प्रकृति का एक अन्य देवता सिद्ध हो जाता है और वैसे ही काम करने लगता है मानो अपने ही जैसा एक दूसरा शरीर-धारी, भूत-प्रेत अपने साथ रहता हो और अज्ञानुवर्ती काम करता हो। इसमें अपनी ही छाया की साधना करनी पड़ती है। अपना शरीर यथावत् रहते हुए भी छाया की सिद्धि होने पर एक दूसरी शक्ति साथ रहने और काम करने लगती है। यही बात अन्य देवी देवताओं के सम्बन्ध में भी है। वे भीतर से उदय होते हैं, कहीं बाहर से नहीं आते। तामसिक तत्व भी अपने भीतर है और राजसिक-सात्विक भी। उनकी उपासना करने में उसी स्तर के देवताओं के दर्शन होने लगते हैं। किन्तु वह झाँकी मात्र ही होती है। उनमें शक्ति सामर्थ्य उसी स्तर की होती है जितना कि साधक का व्यक्तितत्व होता है। झलक झाँकी देखने से कौतूहल का समाधान भर होता है पर उस देव दर्शन से कुछ काम नहीं बनता। वे इतने समर्थ नहीं होते कि कुछ प्रयोजन सिद्ध कर सकें। इसके लिए देव उपासना मात्र पर्याप्त नहीं। साधक को अपना निजी व्यक्तित्व सबल समर्थ बनाना होता है। क्योंकि शक्ति भीतर से उगती है। बाहर की वस्तुऐं-जिनमें देवता भी सम्मिलित हैं, झलक-झाँकी दिखाकर तिरोहित हो जाती हैं। छाया पुरुष के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। वह प्राय: अपने ही सदृश्य होता है। उसमें बल, पराक्रम प्राय: अपने जितना ही होता है।

विक्रमादित्य के पाँच वीर सिद्ध थे। यह उसके ही पाँच कोश थे। वह स्वयं जितना पराक्रम कर सकता था, पाँचों वीर उतना-उतना ही कर कार्य करते थे। अन्तर केवल इतना ही होता था कि अदृश्य छाया पुरुषों के लिए चर्म शरीर के साथ जो बन्धन होते हैं वे नहीं होते। चर्म शरीर एक घण्टे में तीन मील चलता है पर अदृश्य शरीरों के लिए ऐसा बन्धन नहीं। वह एक घण्टे में पचास मील या अधिक भी चल सकता है। दृश्य शरीर की गतिविधियाँ दूसरों के चर्म चक्षु प्रत्यक्ष देखते हैं किन्तु वीर स्तर के उत्पन्न किए गये सहयोगी अदृश्य रहने के कारण अपने काम तो करते रहते हैं किन्तु वे काम दूसरों को दृष्टिगोचर नहीं होते। प्रत्यक्ष शरीर इन्द्रियों के माध्यम से अपना प्रभाव दूसरों तक पहुँचाते हैं। कान के माध्यम से अपनी बान सुनाते हैं। आँख के माध्यम से घटनाक्रम का प्रभाव दूसरों तक पहुँचाते हैं। किन्तु अदृश्य शरीर बिना वाणी सुनाए या घटना दिखाए भी दूसरे के मन पर अपनी छाप छोड़ सकते हैं। दृश्य शरीर की प्रभाव शक्ति उतने ही लोगों तक सीमित होती है जो प्रभाव परिधि की सीमा में होते हैं। आँख से देखने और कान से सुनने वालों की संख्या एक सीमा तक ही होती है। दृश्य शरीर उतनी परिधि को ही प्रभावित करता है। किन्तु अदृश्य शरीर के लिए ऐसा कोई बन्धन नहीं है। वह दो पाँच हजार को भी एक साथ प्रभावित कर सकता है। जो बात कहनी है-सुनानी है उसे बिना कानों की सहायता के भी सीधे मस्तिष्क तक पहुँचा सकता है।

अन्त:करण की गहराई तक उतार सकता है। इस प्रकार अदृश्य होने के कारण उसका कार्य क्षेत्र, प्रभाव क्षेत्र सैकड़ों गुना अधिक बढ़ जाता है। इतने पर भी यह बात समझ रखने की है कि मूल व्यक्तित्व जितना समर्थ एवं प्रभावी होगा अदृश्य शरीर की कार्य शक्ति न्यूनाधिक उसी के समतुल्य होगी। विक्रमादित्य का प्रत्यक्ष व्यक्तित्व जितना बलिष्ठ था उसके उपार्जित पाँचों वीरों में से प्रत्एक उतना-उतना ही पुरुषार्थ कर सकने में समर्थ थे। कोई घटिया स्तर का व्यक्ति उपासना विशेष के विज्ञान का आश्रय लेकर अपने छाया पुरुष उपार्जित करले तो उनकी सामर्थ्य उतनी ही स्वल्प होगी। वे दूसरों पर उतना ही सीमित प्रभाव छोड़ सकेंगे।

अलाउद्दीन के चिराग की कथा जिसने सुनी है, वे उसकी वास्तविकता जानना चाहें तो सम्भवत: यह ज्ञात हो कि चालीसों उसे चोरी, उठाईगीरी के काम में ही मदद कर पाते होंगे। वे ऐसे उच्चस्तरीय कार्य करने में समर्थ नहीं रहे होंगे जैसे कि ऋषि-मुनि करते थे या करना चाहते थे। क्योंकि मूल अलाउद्दीन ने जिस ढाँचे में अपना व्यक्तित्व ढाला था सकी अनुकृतियाँ उनसे भिन्न प्रकार का स्तर अपनाने में समर्थ नहीं हो सकती थीं। तान्त्रिक साधना करने वालों को श्मशान सेवन, अघोरी आचरण का बहुत पहले ही अभ्यास करना होता है। जब उस कापालिक स्तर की प्रक्रिया उसकी नस-नस में भर जाती है तभी वे भूत, प्रेत, चुड़ैल, डाकिन, जिन्न, मसान स्तर के भयावह कृत्य कर सकने में समर्थ होते हैं। यही बात देवोपम कृत्यों के बारे में है। योगीजन अपने व्यक्तित्व को उपवास, ब्रह्मचर्य धारणा, ध्यान, पुण्य, परमार्थ के कृत्यों में लगाए रहते हैं। इन कार्यों में उनकी गति जितनी गहरी होती है उसी अनुपात से उनकी अनुवृत्तियाँ, छाया शक्तियाँ विशिष्ट कार्य करने में समर्थ होती हैं।

सिद्ध पुरुषों की ऋद्धि-सिद्धियाँ वस्तुत: उनके मूल व्यक्तित्व के अनुरूप ही होती हैं। कितने ही सिद्ध पुरुष बाजीगर जैसे कौतुक भरे दृश्य दिखा सकते हैं पर उनके अतिरिक्त कोई प्रत्यक्ष लाभ बड़ी मात्रा में किसी को नहीं दे सकते। हवा में हाथ मारकर लौंग इलायची मँगाकर किन्हीं को उसके दस-पाँच नग ही वे दे सकते हैं। एक बोरी लौंग, एक बोरी इलायची मँगाकर किसी को वे हजारों रुपए का लाभ तत्काल करा सकें ऐसा नहीं हो सकता। कई आकृतियाँ दिखा सकना, गाय, बैल के झुण्ड सामने दीखने लगना, यह हो सकता है, पर वे बैल हल खींचने लगें और गायें दूध देने लगें यह नहीं हो सकता। क्योंकि उस सिद्ध पुरुष के मूल शरीर में बैलों की तरह हल जोतने की सामर्थ्य नहीं होती। यदि उनमें उतनी क्षमता रही होती तो वे जादुई बैल हल जोतने-गाड़ी खींचने का लाभ दे सकने में भी अवश्य ही समर्थ रहे होते। जिन्हें मात्र कौतुहल उत्पन्न करना है, सस्ती वाहवाही लूटनी है। पर जिन्हें अपने प्रत्यक्ष व्यक्तित्व के समतुल्य अदृश्य साथी उत्पन्न करने हैं। वे सर्व प्रथम अपनी मूल सत्ता को तद्नुरूप बनाते हैं। इसी सफलता के ऊपर यह निर्भर है कि वे कितने साथी उत्पन्न कर सकते हैं। विक्रमादित्य पाँच वीर ही उत्पन्न कर सके यही उनकी चरम सीमा थी। यदि वे दस उत्पन्न करते तो उनमें नाम मात्र की शक्ति होती। संख्या की दृष्टि से दस होने पर भी वे पाँच के बराबर भी काम न कर पाते। साथ ही यह बात भी थी कि विक्रमादित्य जैसे योद्धा के, शासक के गुण थे वे वीर भी इन्हीं कामों को कर सकते थे। किसी ऋषि की भूमिका निभा सकना उनके बस की बात न थी।

हमारे सूक्ष्मीकरण प्रयोग के पीछे भी यही तथ्य काम करता रहा है। हमने ७५ वर्षों में एक विशष क्षमता सम्पन्न व्यक्तित्व विनिर्मित किया है और प्रत्यक्ष शरीर से १० ऋषियों की भूमिका निभाई है। व्यास की लेखनी, पातंजलि का योगाभ्यास, चरक का वनौषधि विज्ञान एवं याज्ञवल्क्य का यज्ञ विज्ञान, नारद का प्रचार तन्त्र अपनाया है। विश्वामित्र की तरह गायत्री के दृष्टा बने हैं। पर इन सब वीरों में हमारी अर्जित शक्ति का एक-एक अंश ही आ सका है। एक ही समग्र शक्ति में से यह विभाजन हुए हैं। यदि एक काम में पूरी शक्ति लगी होती तो उसके परिणाम भी आश्चर्य जनक होते। अब पाँच गुने व्यक्तित्व की सम्भावना सामने है। पाँच कोशों को समूचा व्यक्तित्व समझा जा सकता है। गायत्री की पंचमुखी साधना में अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश, आनन्दमय कोश यदि ठीक तरह विकसित किए जा सकें तो पाँच स्वतन्त्र व्यक्तित्व विकसित होते हैं और वे अदृश्य स्तर के रहने के कारण दृश्यमान पाँच शरीरों की अपेक्षा पाँच गुना अधिक कार्य कर सकते हैं। सूक्ष्मीकरण प्रयास का तात्पर्य यही है। अब तक हम जो काम करते रहे हैं, उनमें अनेक गुनी क्षमताओं का समावेश होने से सफलता भी अनेकों गुनी

होगी। दृश्य से अदृश्य की क्षमता अनेक गुनी अधिक जो होती है।

स्थूल शरीर की तुलना में सूक्ष्म और सूक्ष्म के कारण शरीर की सामर्थ्य कहीं अधिक है। सूक्ष्म शरीर की शक्तियाँ प्रसुप्त स्थिति में पड़ी रहती हैं। उन्हें साधना के माध्यम से जगाया-उभारा जा सके तो मनुष्य अतीन्द्रिय शक्ति सम्पन्न बन सकता है। कारण शरीर जीवात्मा की क्रीडा-स्थली है। परमात्मा की दिव्य अनुभूतियाँ इसी क्षेत्र में रमण करती हैं। उनका जागरण सम्भव हो सके तो प्राप्त उपलब्धियों से अपना ही नहीं दूसरों का भी हित साधना सम्भव है।

सूक्ष्म शरीर का दिव्यीकरण

पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति पदार्थों को ऊपर से नीचे की ओर खींचती है। पर साथ ही प्रकृति का दूसरा नियम भी काम करता है ऊर्जा द्वारा पदार्थ से हलकापन उत्पन्न करके उसे नीचे से ऊपर को उड़ाना। वर्षा की बूंदें बादलों से जमीन पर गिरती हैं। वृक्षों की टहनियाँ भी टूटकर नीचे गिरती हैं। किन्तु साथ ही यह भी देखा जाता है कि उबलता हुआ पानी भाप बनकर ऊपर की ओर उड़ता है। ग्रीष्म ऋतु में हवा नीचे से ऊपर उठती है और आंधी चक्रवात के रूप में धूलिकणों को ऊपर की ओर उड़ा ले जाती है। मनुष्य के उत्थान-पतन का भी यही क्रम है। लोक प्रचलन में सम्मिलित पतन पराभव का साथी बनकर मनुष्य अपने अस्तित्व को भी निकृष्ट बनाता है। दुर्जन के कुसंग में दुर्गुण सीखता है। कुबुद्धि अपनाता और कुकर्म करता है। किन्तु सदा ऐसा ही नहीं होता। सज्जनों की प्राण ऊर्जा के सान्निध्य में आकर मनुष्य ऊंचा भी उठता है। उत्कृष्टता अपनाता और समुन्नत स्तर पर विकसित होता है। मनुष्य पशुता की ओर भी चल सकता है और देवत्व की दिशा में भी अग्रसर हो सकता है।

सूक्ष्म शरीर मनुष्य का मध्यवर्ती संस्थान है। उसके लिए भौतिक क्षेत्र में उलझे रहने की भी सम्भावना है और ऊंचे उठकर देव समाज में सम्मिलित होने की भी ।

शरीर जड़ है। उसके संचालन में मस्तिष्कीय क्षमता ही कार्य करती है। चेतना को भौतिक जगत की आकर्षण शक्ति भी अधोगामी बना सकती है और ऊर्जा के साथ लिपटकर उसकी लपटें गगनचुम्बी भी हो सकती हैं।

वासना, तृष्णा और अहन्ता का गुरुत्वाकर्षण इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध होकर ऐसी गतिविधियाँ भी अपना सकता है जो अपने बहिरंग और अन्तरंग जीवन में निकृष्टता की भरमार करदे और ऐसा भी सम्भव है कि संयम, आदर्श एवं उदार साहस अपना कर ऊँचा उठे। सज्जनतायुक्त महामानवों के साथ घनिष्ठता स्थापित करके ऊँचा उठे। साथ ही यह सम्भव है कि पिछड़ों को बढ़ाने, पतितों को उठाने एवं असमर्थों को सहारा देकर अपनी गरिमा को सार्थक समुन्नत करे। श्रेष्ठता का मार्ग ऐसा है जिसे अपनाकर व्यक्ति स्वयं भी ऊँचा उठता और दूसरों को भी उत्कर्ष की दिशा में अग्रसर करता है। नीचे गिरना या ऊपर उठना, यह मनुष्य के अपने चयन एवं विवेक पर निर्भर है।

सूक्ष्म शरीर मेरुदण्ड के समान है। उसे मध्यवर्ती भी कह सकते हैं। उसका उपयोग दुर्बल व्यक्ति सवर्णों का सहारा लेकर ऊपर उठने के लिए भी कर सकते हैं जबकि समर्थ व्यक्ति हेय वातावरण में रहकर अपनी गरिमा भी गँवा सकते हैं। शबरी जगद्बद्य बनी और मेनका विश्वामित्र के अधःपतन का कारण बनी । दिशा अपनाने में मनुष्य का स्वेच्छा चयन ही प्रधान है।

शक्तिवान उदार दानवीरों की तरह अपनी संचित तप साधना को अल्प प्राण वाले किन्तु व्रतशील लोगों को प्रदान करते और उनके माध्यम से संसार का हित साधन करते हैं। सद्भावनाओं और सत् प्रवृत्तियों को उकसाते हैं। यह सदुपयोग है। समर्थता का दुरुपयोग भी होता है। रावण और दुर्योद्धन का समूचा परिकर कुमार्गगामी हो गया था। उनकी निजी अशक्तता के दबाव में विरोध तक की गुंजाइश उनमें नहीं रही थी। उसे सज्जनता या उदारता का मार्ग कहा जा सकता है कि व्यक्ति अपनी वरिष्ठता की लगाम सम्भाले रहे और उसे केवल उत्कर्ष के निमित्त प्रयुक्त करे। यों कोई चाहे तो पतन और पराभव का मार्ग भी खुला हुआ है। यह व्यावहारिक कार्यक्षेत्र की चर्चा है।

उच्चस्तरीय प्रयोगों में सूक्ष्म शरीर की गतिविधियाँ संचय करने के लिए वरिष्ठता का दिशा में प्रयुक्त करने के लिए होती हैं। चमत्कार दिखाने और सिद्धियों की खिलवाड़ करने सूक्ष्म शरीर मदारी, बाजीगर स्तर की भूमिका निभाता है। उस खिलवाड़ में अपने पूर्व उपार्जन को भी गँवा बैठता है। चापलूसों और जेबकटों से घिर जाता है और उनको अनुचित लाभ पहुँचाने का चस्का लगाकर अपनी वरिष्ठता को गँवाता चला जाता है।

सूक्ष्म शरीर को अधिक बलिष्ठ बनाना चाहिए ताकि उससे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य सध सकें। गधा कम और हाथी अधिक बोझ उठाता है। सामान्य मध्यवर्ती स्थिति में व्यक्ति विशेष की सामान्य सहायताऐं ही बन पड़ती हैं पर यदि शारीरिक तपश्चर्या और मानसिक योग साधना द्वारा सूक्ष्म शरीर को अधिक समुन्नत बनाया जा सके तो अपने को देवोपम बनते हुए ईश्वर का अनुग्रह पात्र बनाया जा सकता है और उसके निकटतम स्तर तक पहुँच सकता है।

ऐसी स्थिति तक पहुँचा हुआ साधक व्यक्ति विशेष की सामान्य लौकिक सहायताऐं ही करने में समर्थ नहीं होता वरन् व्यापक प्रवाह और वातावरण को भी बदलने, एवं सुधारने में समर्थ हो सकता है। उसकी परिधि बड़ी होती है इसलिए अपने क्रिया-कलापों को सीमित न रखकर व्यापक भी बना सकता है।

आवरण आवश्यकतानुसार सभी को धारण करना पड़ता है ईश्वर की मूलभूत सत्ता विश्व व्यवस्था में लगी रहती है। ब्रह्माण्ड का जड़ कलेवर कल्पनातीत विस्तार का है। फिर प्राणी परिकर का भी स्वरूप बुद्धि के लिए अगम्य है। पृथ्वी पर दृश्य और अदृश्य अगणित प्राणि प्रजातियाँ हैं। फिर पृथ्वी जैसे जीवनधारी पिण्ड इस ब्रह्माण्ड में अनेकों हैं। उन सब प्राणियों के कर्म विधान की साज सम्भाल भी ईश्वर के हाथ में है। इतना विस्तार सम्भालने में ही ईश्वर की मूल सत्ता संलग्न रहती है। उसके लिए यह सम्भव नहीं कि मन:स्थितियों एवं परिस्थितियों का सन्तुलन बिठाने में भी लगा रहे। यह कार्य उन देवमानवों का है जो ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करके उसी की क्षमताओं को उपार्जित कर सके हैं। लोक-लोकाचार की गड़बड़ाती हुई परिस्थितियों को यह देवमानव ही सम्भालते हैं। उनकी शक्ति एवं नियुक्ति का यही उपयोग होता है।

मलीनता उत्पन्न होते रहना स्वाभाविक है। मनुष्य शरीर के हर भाग से विकृतियाँ निकलती हैं वायु मण्डल भी कूड़ा-करकट बिखेरता रहता है। इसे स्वच्छ करने में समय भी लगता है और सामर्थ्य भी। देव मानव इसी दायित्व को समझते है। जहाँ कहीं टूट-फूट होती है उसे सम्भालने के लिए वे यथा समय यथा स्थान जा पहुँचते हैं और अव्यवस्था को व्यवस्था में बदलते हैं।

कहने को हर श्रेष्ठ काम ईश्वर करता है। उसी की इच्छा से सब कुछ होता रहता है। पर यह कथन आंशिक सत्य है। यह कार्य देवभूतियों का है। अपना-अपना कार्य क्षेत्र उन्हें ही सम्भालना पड़ता है। किसी शासन की व्यवस्था उसके अफसर ही सम्भालते हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर को ईश्वरीय चेतना के साथ लपेटकर उच्चस्तरीय देवमानव वही करते रहते हैं जिसे ईश्वर की इच्छा या कृपा कहा जाता है। कार्य कोई भी अफसर करे, उसे शासन का निर्देश समझा जाता है। इसी प्रकार देव मानवों की सुधार एवं सन्तुलन प्रक्रिया ईश्वर की इच्छा या आज्ञा मानी जाती है।

बिगाड़ना शैतान का काम है। प्राणि की जन्मजात निकृष्टता एवं हेय वातावरण को सम्भालना ईश्वर का काम है। देव मानवों का जो अग्नि में ईंधन की तरह आत्म समर्पण करते हुए तद्रूप हो चुके हैं, सालोक्य, सामीप्य, सान्निध्य एवं सारूप्य की मोक्ष स्थिति के अधिकारी बन चुके हैं, इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए ही सूक्ष्म शरीर को देव्य स्वरूप में परिवर्तित कर लेना माना जाता है।

सूक्ष्म शरीर के उत्कर्ष की पृष्ठभूमि

सूक्ष्म शरीर अर्थात चेतना क्षेत्र का विचार तन्त्र। इसे क्रियाशील शरीर से कहीं अधिक बढ़-चढ़ कर माना गया है। काया सुडौल और सुगढ़ हो तो उससे परिश्रम परक कार्य भी लिए जा सकते हैं। उसका उपार्जन भी श्रमिक स्तर का ही हो सकता है, पर यदि व्यक्तित्व प्रतिभावान है। मानसिक स्तर की शिक्षा, समझदारी, सुव्यवस्था और शालीनता की है तो उस आधार पर हर किसी की दृष्टि बढ़-चढ़ कर मूल्यांकन होता है। बहुमूल्य वस्तुऐं हर जगह सम्मान पाती हैं। सम्पर्क में आने वाले को अलंकृत करती हैं और अपने मूल्य के अनुरूप ऊँचे स्तर की उपलब्धि भी हस्तगत करती हैं। शरीरगत सुडौलता न होने पर भी मनस्वी व्यक्ति अपनी विशिष्टता के बल पर समुदाय की वरिष्ठता उपलब्ध करते हैं, सम्मान भी पाते हैं और सहयोग भी। सम्पन्नता के बल पर लोग अहंकार का प्रदर्शन करते देखे गए हैं, किन्तु परिष्कृत मानसिकता के बलबूते अपने को सन्तुष्ट भी रखा जा सकता है और प्रसन्न भी। तृप्ति-तुष्टि और शान्ति प्राप्त करने के लिए एक ही उपाय-उपचार है कि अपनी मानसिकता को आदर्शों की शालीनता से भरा पूरा रखा जाय। चिन्तन तन्त्र को इतना सुसंस्कृत बनाया जाय कि प्रस्तुत समस्याओं का हल और

आवश्यकताओं का सरंजाम जुटाने में उन्मुक्त दृष्टिकोण अपनाया जा सकना सम्भव हो सके। सूक्ष्म शरीर के मनन संस्थान को समुन्नत इसी प्रकार रखा जा सकता है।

व्यावहारिक जीवन भी एक साधना क्षेत्र है। इतना ही मन बना लेना उपयुक्त नहीं कि किन्हीं विशेष साधना उपचारों से ही स्थूल सूक्ष्म एवम् कारण शरीरों को समर्थ सुव्यवस्थित बनाया जा सकता है। इनकी भी उपयोगिता है पर यह सम्भव नहीं कि व्यावहारिक जीवन गया-गुजरा बना रहे और पूजा उपचारों की सहायता भर से समग्र उत्कर्ष के लक्ष्य तक पहुँचा जा सके ।

अखाड़े में पहलवानी सीखी और सिखाई जाती है। सर्वसाधारण को मोटी दृष्टि से यही प्रतीत होता है कि अखाड़े के साथ सम्बन्ध जोड़ना, वहाँ बताए जाने वाला क्रिया-कलाप अपनाना किसी को भी पहलवान बना सकता है। ऐसा ही कुछ साधनाओं के सम्बन्ध में सोचा जाता है और माना जाता है कि अमुक साधनाऐं करने से अमुक प्रतिफल प्राप्त हो जाता है। पर इस प्रकार का गणित फैलाने वालों से एक भूल रह जाती है कि वे यह नहीं सोचते कि साधना के अतिरिक्त और भी कुछ करना आवश्यक होता है क्या? समझा जाना चाहिए कि पहलवानी के शौकीनों को पौष्टिक खुराक बढ़ानी पड़ती है। ब्रह्मचर्य से रहना पड़ता है। थके अंगों को चैतन्य करने के लिए मालिश कराने जैसे उपचारों का आश्रय लेना पड़ता है। यदि यह सब न किया जाय तो मात्र दण्ड पेलने-बैठक करने भर से दंगल पछाड़ने की स्थिति प्राप्त कर लेना सम्भव नहीं । कई बार तो दुर्बलाकाय व्यक्ति उस दबाव को असाधारण रूप से बढ़ा लेने पर व्यायाम का अतिरिक्त दबाव सहन नहीं कर पाते उल्टे शरीर में, जोड़ों में दर्द उत्पन्न कर लेने जैसे संकटों में फँस जाते हैं।

स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों को असाधारण रूप से सशक्त बनाने वाली साधनाऐं तो हैं, पर उन्हें बताने अपनाने से पूर्व अपनी स्थिति का पर्यवेक्षण करना चाहिए और विकास- परिष्कार के लिए जो मध्यवर्ती अनुबन्ध पालना होता है उसकी तैयारी करनी चाहिए।

सूक्ष्म शरीर को, मानस तन्त्र को प्रगतिशील बनाने के लिए उस क्षेत्र की स्थिरता, एकाग्रता, समस्वरता सही बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। देखना चाहिए कि किस प्रकार मानसिक उद्वेगों से बचा जा सकता है। समुद्र में जोरदार ज्वार-भाटे उठ रहे हों तो नाव खेने वाले को डांड चलाते हुए असाधारण परिश्रम करना पड़ता है। कई बार तो किसी चट्टान से टकरा जाने पर उसके डूबने तक का खतरा सामने आ खड़ा होता है। हिलोरें लेते जलाशय में सूर्य, चन्द्रमा की परछाई यथावत नहीं दीख सकती। दौड़ते घोड़े पर सवारी गाठे रहना कोई साधारण काम नहीं है। उसमें सवार के गिर जाने और घोड़े के ठोकर खा जाने का आशंका बनी रहती है। दृश्य स्थिर रहे तो ही उसकी छवि ठीक से देख पड़ना आँखों के लिए सम्भब हो पाता है, धावक की दौड़ छवि ठीक तरह देखते नहीं बन पड़ती। उद्विग्न मन सामयिक समस्याओं का समाधान तक ठीक तरह ढूँढ़ नहीं पाता। दूसरों के साथ उसका व्यवहार असंगत हो जाता है। वस्तुस्थिति को समझने एवं भविष्य की सम्भावनाओं के उतार चढ़ावों का अनुमान लगाते नहीं बन पड़ता। ऐसी दशा में उसके मिश्रण, निर्णय, निर्धारण भी सही स्तर के होंगे, इसकी आशा नहीं की जा सकती। जब लोक व्यवहार में मन की अस्थिरता इतनी अधिक होती है तो आध्यात्मिक साधनाऐं ठीक प्रकार बन पड़ेगी, इसकी आशा कैसे की जाय? चित्तवृत्ति निरोध किए बिना, मनोनिग्रह किए बिना साधना कर पाना शक्य नहीं है।

मन में उद्वेग अनायास ही नहीं उठते। उनका कुछ कारण होता है, जलाशयों से लहरें तब उठती हैं, जब कोई भारी वस्तु गेरे अथवा तेज हवा चले। गर्मियों में चक्रवात स्वेच्छापूर्वक अनायास ही नहीं उठते वरन् गरम हवा का तीखा प्रवाह उनका निमित्त कारण होता है। इसी प्रकार मानसिक उद्विग्नता भी किन्हीं अन्य कारणों के साथ जुड़ी हुई होती है।

सृष्टि व्यवस्था के साथ जीवनक्रम की संगति सरलता पूर्वक बिठाई जा सकती है। वह सर्वथा सम्भव है कि बिना उत्तेजित हुए या दूसरों को उत्तेजित किए पहिया अपनी लकीर पर लुढ़कता रहे। न हम किसी से टकराऐं और न कोई हमसे टकराए। ऐसा सुयोग आसानी से बन सकता है। रोग को मारने और रोगी को बचा लेने की नीति चिकित्सक अपनाते हैं। यह विद्या न तो असाध्य है न असम्भव। बच्चे को कीचड़ में सन जाने पर कीचड़ धोई जाती है, और बच्चे को किसी प्रकार कोई क्षति नहीं पहुँचने दी जाती है। यह कौशल ऐसा है जिसे तनिक से अभ्यास द्वारा स्वभाव का अंग बनाया जा सकता है।

उत्तेजनाऐं परिस्थितियाँ उत्पन्न करती हैं या व्यक्ति ही उस हेतु आड़े आते हैं, ऐसी बात नहीं है। कई बार अपना मानस ही ऐसा दुर्बल होता है कि स्थिति का आंकलन करने में असाधारण रूप से चूक कर जाता है। आँखों पर रंगीन चश्मा पहन लेने पर वस्तुऐं उसी रंग में रंगी हुई दीखती हैं। यह भ्रान्ति है। वस्तुऐं अपने-अपने रंग की होती हैं किन्तु चश्मा रंगीन पहन लेने पर जो प्रतीत होता है, वह अवास्तविक होते हुए भी वास्तविक जैसा लगता है। इसके बारे में हम जो सोचते हैं, जैसा उन्हें मान बैठते हैं वस्तुतः वे वैसे नहीं होते। आंकलन सही कर सकने की क्षमता रहने पर यहाँ सब कुछ सरल एवं स्वाभाविक प्रतीत होता है। इतना बन पड़ने पर वे उत्तेजनाऐं नहीं उभरती हैं जो चढ़ दौड़ने पर मानसिकता को तनाव से भर देती हैं। आवेश ग्रस्त करके ऐसा कुछ कर गुजरने के लिए बाधित करती है जिसके लिए पीछे शर्म करने या पछताने की आवश्यकता अनुभव होती है।

मनोविकारों को शरीरिक रोगों से भी अधिक अनर्थकारी कहा गया है। शरीर में ताप बढ़ने, रक्त चाप ऊँचा होने पर जो स्थिति बनती है, उससे रोगी किसी काम-धाम के योग्य नहीं रह पाता है ठीक यही बात मानसिक आवेशों के सम्बन्ध में भी है। इस उत्तेजना में विचार तन्त्र बुरी तरह लड़खडा जाता है। दूसरों पर दोषारोपण करता है। भविष्य को भयंकर देखता है और अपने दुर्भाग्य को कोसता है।

चूल्हे पर जब दूध उबलता है तो उसके उठते हुए झाग पहले की अपेक्षा बढ़े-चढ़े मालूम होते हैं, पर वस्तुतः वह जलने लगता है, चूल्हे में गिरता है, आग बुझाता और उसमें दरार डालता है। ठण्डा होते-होते उसकी परत पतीली की दीवारों से चिपक जाती है। इस प्रकार उफान के बाद वह पहले की अपेक्षा कहीं कम मात्रा में रह जाता है। इसी प्रकार मन में उफान आने से शरीर को हर दृष्टि से घाटा ही घाटा रहता है। शरीर को चढ़ा हुआ बुखार जलाता है। मनः संस्थान को सूक्ष्म शरीर की उत्तेजनाऐं जलाती रहती हैं। उसकी विशेषताऐं इसी उष्णता में जल जाती है। ऐसी दशा में सूक्ष्म शरीर के प्रसक्त होने पर प्रत्यक्ष और परोक्ष लाभ जो मिल सकते थे उन सबका द्वार बन्द हो जाता है। इसलिए अपनी दिव्य विशिष्टताओं को समुन्नत करने के लिए प्रथम चरण वह उठना चाहिए कि मानसिक सन्तुलन किसी भी कारण गड़बड़ाने न पाए।

चर्म चक्षुओं से देखने पर शरीर की सुडौलता सुन्दरता, समर्थता आकर्षक लग सकती है, पर जहाँ तक व्यक्तित्व की वरिष्ठता और प्रतिभा की विशिष्टता का सम्बन्ध है वहाँ मानसिकता का क्षेत्र ही मणि-माणिकों से भरा-पूरा सिद्ध होता है। जिसमें दूरदर्शिता-विवेकशीलता होती है, गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से जो गुणवत्ता, विभूतिमत्ता विकसित होती है, वह इसी आधार पर निर्भर है कि मनुष्य का मानसिक धरातल सुसंयत सुसन्तुलित रहे।

मानसिक विक्षेपों से एक सीमा तक सांसारिक परिस्थितियाँ, प्रतिकूलताऐं भी कारण हो सकती हैं, किन्तु उनका समाधान सरल और सम्भव है। अड़चनों से बचकर निकला जा सकता है। काँटे नहीं बीने जा सकते तो पैर में जूता पहना जा सकता है। अपना कार्य क्षेत्र व्यवसाय भी टकराव से बचाते हुए निर्धारित किया जा सकता है। सम्भावित सशक्तता अर्जित करके विग्रहियों से संघर्ष भी किया जा सकता है और उपयुक्त रणनीति बनाकर उन्हें परास्त भी किया जा सकता है। यह सामान्य व्यवहार कुशलता है, जिसके सहारे परिस्थितियों की प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदला जा सकता है। किन्तु बड़ी कठिनाई तब उपस्थित होती है, जब अपना ही स्वाभाव, अभ्यास, दृष्टिकोण, विसंगतियों से भर जाता है।

अहंता पग-पग पर बाधक होता है। वह आत्मविज्ञापन चाहती है। वाह-वाही लूटने में रस लेती है। दूसरों को पिछड़ी स्थिति में रखकर ही अपना बड़प्पन उभरता है। इसके लिए वे सभी उपाय अपनाने होते हैं जिनमें छल छद्म अपनाने होते हैं। आक्रमण करने होते हैं और खर्चीले-ठाट-बाट के संरजाम जुटाने पड़ते हैं। अंहकार की तुष्टि तब होती है जब दूसरों को अपने से हेय सिद्ध किया जाय। यह आक्रामक मार्ग है, जिसमें प्रतिस्पर्धा एवं प्रतिशोध का जोखिम भी सामने आता रहता है। अपने को विनम्र, सज्जन, उदार बनाने वाले के लिए यह पुरुषार्थ कतई असम्भव नहीं। वस्तुतः लिप्सा, तृष्णा और विलासिता की ललक ऐसी है, जो सदा अपूर्ण ही रहती है और महत्त्वाकाँक्षी को उद्विग्न, असन्तुष्ट और आवेशग्रस्त बनाए रहती हैं इन दुरितों को निरस्त एवम् परास्त करने के उपरान्त ही सूक्ष्म शरीर का उत्कर्ष सम्भव हो सकता है।

सूक्ष्म शरीर का उत्कर्ष-ज्ञान योग से

सूक्ष्म शरीर विचार प्रधान है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का अन्तःकरण चतुष्टय इस आवरण का आधार है। विविध कामनाऐं, वासनाऐं, आकाँक्षाऐं, लालसाऐं इसी में बैठती हैं। अभिरुचि और प्रकृति का केन्द्र यही है। शरीर विज्ञान के अनुसार मस्तिष्क में यह संवेदनाऐं समाविष्ट हैं, अतएव मस्तिष्क को सूक्ष्म शरीर का निवास स्थल माना गया है। यों यह चेतना समस्त शरीर में भी व्याप्त है। मस्तिष्क के दो भाग हैं- एक सचेतन, दूसरा अचेतन। माथेवाले अग्रभाग में सोचने, विचारने, समझने, बूझने, निर्णय और प्रयत्न करने वाला सचेतन मन रहता है और मेरुदण्ड से मिले हुए पिछले भाग में अचेतन मस्तिष्क का स्थान है। यह अनेकों आदतें, संस्कार, मान्यताऐं, अभिमान, प्रवृत्तियाँ, मजबूती से अपने अन्दर धारण किए रहता है। शरीर के अविज्ञात क्रिया कलापों का संचालन यहीं से होता है।

गुण विभाजन के अनुसार स्थूल शरीर तमोगुण (पंच तत्वों) से, सूक्ष्म शरीर रजोगुण (विचारणा) से और कारण शरीर सतोगुण (भावना) से विनिर्मित है। स्थूल शरीर को प्रवृत्ति प्रधान, सूक्ष्म शरीर को जीव प्रधान और कारण शरीर को आत्मा (परमात्मा) प्रधान माना गया है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, आनन्दमय, विज्ञानमय कोष भी इन तीन शरीरों से अन्तर्गत ही हैं, जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है। यहाँ तो इतना जानना ही पर्याप्त है कि सूक्ष्म शरीर में देवत्व का अभिवर्धन करने के लिए ज्ञानयोग की आवश्यकता होती है। ज्ञानयोग का अर्थ उन जानकारियों को हृदयंगम करना है जो हमारे आदर्श, सिद्धान्त, मनोभाव और क्रिया कलापों का निर्माण एवं संचालन करती हैं।

स्थूल ज्ञान वह है सांसारिक जानकारियाँ बढ़ा कर हमारे मस्तिष्क को अधिक उर्वर, सक्षम एवं समर्थ बनाता है। यश, धन, व्यक्तित्व, शिल्प, कौशल आदि इसी आधार पर उपार्जित किए जाते हैं। इसी को शिक्षा कहते हैं। विविध विषयों की अगंणित शिक्षा संस्थाऐं इसी प्रशिक्षण के लिए खुली हुई हैं जिनमें पढ़ कर छात्र अपनी रुचि एवं आवश्यकतानुसार जानकारी अर्जित करते हैं। पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो, टेलीविजन, फिल्म, परस्पर सम्भाषण, भ्रमण आदि साधनों से भी मस्तिष्क को समुन्नत करने वाली जानकारी मिलती है। यह सब शिक्षा के ही भेद है।

शिक्षा सांसारिक जानकारी देती है, उसकी पहुँच मस्तिष्क तक है। विद्या अन्तःकरण तक पहुँचती है और उसके द्वारा व्यक्तित्व का निर्माण, निर्धारण होता है। विद्या को ही ज्ञान कहते हैं। ज्ञान का आधार अध्यात्म है। केवल शब्दों के श्रवण मनन से शिक्षा पूरी हो सकती है पर विद्या का उद्देश्य तभी पूरा होगा जब उसकी पहुँच अन्तरात्मा तक हो, उसका आधार अध्यात्म, तत्व ज्ञान रहे और उसका प्रशिक्षण ऐसे व्यक्ति द्वारा किया गया हो जो अपना आदर्श उपस्थित कर उन भावनाओं को हृदयंगम करा सकने में समर्थ हो। यह आधार प्राप्त न हो तो विद्या एक तरह की भौतिक शिक्षा मात्र ही बन कर रह जाती है और उससे अभीष्ट प्रयोजन पूर्ण नहीं होता। आज कल अध्यात्म के नाम पर- ज्ञानयोग के नाम पर वाचालता बहुत बढ़ गई है। कथा-प्रवचनों के अम्बार खड़े होते चले जाते हैं पर सुनने वालों को कौतूहल समाधान होने के अतिरिक्त लाभ कुछ नहीं होता। उनके अन्दर प्रभाव, प्रकाश एवं परिवर्तन तनिक भी दिखाई नहीं देता। इसका कारण यही है कि विद्या को भी शब्द-शक्ति तक ही सीमित किया जा रहा है जबकि उसका प्रवेश और प्रकाश सीधा आत्मा तक पहँचना चाहिए।

ज्ञान-योग का उद्देश्य आत्मा तक सद्ज्ञान- का तत्व ज्ञान का प्रकाश है। इसका शुभारम्भ आत्म-ज्ञान से होता है। लोग सांसारिक जानकारियों के बारे में बहुत चतुर निपुण और निष्णात होते हैं, अपनी इस प्रतिभा के बल पर धन, यश, सुख और पद प्राप्त करते हैं। किन्तु खेद है कि अपने अस्तित्व, स्वरूप उद्देश्य और कर्त्तव्य के बारे में तात्विक दृष्टि से अनजान ही बने रहते हैं। यों इन विषयों पर भी वे एक लम्बी स्पीच झाड़ सकते हैं, पर यह केवल उनका मस्तिष्कीय चमत्कार भर होता है, यदि आत्म ज्ञान का थोड़ा भी तात्विक प्रकाश मनुष्य के अन्तःकरण में पहुँच जाय तो उसकी जीवन दिशा में उत्कृष्टता का समावेश हुए बिना नहीं रह सकता। उसकी विचारणा, निष्ठा तथा गतिविधि सामान्य लोगों जैसी नहीं- असामान्य पाई जाएगी। सच्चा आत्म-ज्ञान केवल जानकारी भर बन कर नहीं रह सकता। उसकी पहुँच अन्तःकरण के गहन स्तर तक होती है और उस स्थान तक पहुँचा हुआ प्रकाश-जीवन क्रम में प्रकाशित हुए बिना नहीं रह सकता।

अध्यात्मवाद का प्रथम प्रशिक्षण आत्म-ज्ञान की उपलब्धि के साथ ही दिया जाता है। उपनिषत्कार ने

पुकार-पुकार कर कहा है-

"आत्मा व अरे दृष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो।"

"अपने को सुनो, अपने बारे में जानो, अपने को देखो और अपने बारे में बार-बार मनन चिन्तन करो।" वस्तुत: हम अपने को शरीर मान कर जीवन की उन गतिविधियों का निर्धारण करते हैं जिनसे केवल शरीर का ही यत्किंचित स्वार्थ सिद्ध होता है। आत्मा के हित और कल्पना के लिए हमारे जीवन क्रम में प्राय: नहीं के बराबर स्थान रहता है। यदि हम अपने को आत्मा और शरीर को उसका एक वाहन-औजार मात्र समझें तो सारा दृष्टिकोण ही बदल जाय। समस्त गतिविधियाँ ही उलट जाएं तब हम आत्मा के हित, लाभ और कल्याण को ध्यान में रख कर अपनी रीति-नीति निर्धारित करें। ऐसी दिशा में हमारा स्वरूप न नर-पशु जैसा रह सकता है और न नर पिशाच जैसा। तब हम विशुद्ध नर नारायण के रूप में परिलक्षित होंगे, देवत्व हमारे रोम-रोम से फूटा पड़ा रहा होगा।

यदि इस तथ्य को हृदयंगम किया जा सके तो हर साधक अपने सूक्ष्म शरीर में- मानसिक चेतना में- ज्ञनयोग का समावेश कर देवत्व का जागरण करने की दिशा में आशाजनक प्रगति कर सकता है।

भाव संवेदनाओं का भाण्डागार: कारण शरीर

सामान्य बुद्धि काया को ही अपना समग्र स्वरूप मानती है और उतने तक ही प्रसन्नता को सीमाबद्ध रखती है। शारीरिक स्वार्थ ही मनुष्य के, लक्ष्य बन कर रहते हैं। उसी को अपना समग्र स्वरूप मानते हुए सोचने और करने की परिधि सीमाबद्ध कर लेते हैं। शोभा, सज्जनता, समर्थता, सम्पन्नता, सरसता ही शरीर को रुचते हैं। इसलिए उन्हीं के निमित्त समूचा प्रयास नियोजित रहता है। पर प्राय: यह भुला ही दिया जाता है कि स्थूल के भीतर दो अन्य सत्ताऐं भी विद्यमान हैं।

सूक्ष्म शरीर को मोटे रूप से समझने के लिए चेतना के उस पक्ष को आधार मानना पड़ेगा जिसे कल्पना या विचारणा कहते हैं। कुशलता, चतुरता भी। स्वभाव और रुझान इसी स्तर के साथ जुड़ा हुआ है। शिक्षा, अनुभव, अभ्यास के आधार पर विचार तन्त्र का उत्कर्ष किया जाता है। इस दिशा में प्रगतिशील व्यक्तियों को पैनी सूझ बूझ वाला, चतुर, विद्वान आदि के नाम से जाना जाता है। यह शरीर के साथ संचित कल्मषों के बन्धनों से भी बँधा रहता है। इसीलिए उसकी दौड़धूप, कल्पना, इच्छा प्राय: बहिरंग जीवन के निमित्त ही क्रियाशील रहती है। जबकि मस्तिष्कीय गतिविधियों को कायिक निर्वाह के लिए सोचने और साधन जुटाने में संलग्न पाया जाता है।

कारण शरीर का तत्वज्ञान तो बढ़ा-चढ़ा है, पर उसे सामान्य परिचय में भाव संवेदना कह सकते हैं। भावना, आस्था, प्रेरणा, साहस, विश्वास, आदर्श जैसे तत्व इसी क्षेत्र में उभरते हैं। किसी को महामानव स्तर तक विकसित करने की अलौकिकता इसी क्षेत्र में उभरती है। उसकी विकसित स्थिति इतनी समर्थ है कि एकाकी निर्धारण कर सके। अकेला चल सके। आदर्शों के लिए कठिनाइयों को सहन कर सके। बिना जगमगाए उच्च लक्ष्य तक पहुँच सके। योगी, तपस्वी, मनीषी, सुधारक, सृजेता इसी स्तर के होते हैं जो मात्र उत्कृष्टता की दिशा में ही कदम बढ़ाते हैं। विचार तन्त्र और क्रिया तन्त्र को साथ-साथ घसीट ले चलने की क्षमता परिष्कृत कारण शरीर में ही होती है। साथ ही यह बात भी है कि इस क्षेत्र पर यदि अनैतिक, अवांछनीयता, अधिकार जमा ले तो व्यक्ति को घिनौने स्तर का अपराधी आततायी और असुर बना देती है। इसलिए व्यक्तित्व का स्वरूप निर्धारित करने एवं उसे भला-बुरा, समुन्नत, अध: पतित बनाने वाली उमंगें भी वहीं से उठती हैं। मानवीय गरिमा के अनुरूप जीवन जी सकना और महामानवों का स्तर अपना सकना जिस आधार पर सम्भव होता है उसे कारण शरीर ही कहना चाहिए।

कर्म स्थूल शरीर से बन पड़ते हैं। विचार सूक्ष्म शरीर में उठते हैं और भाव संवेदनाओं का उद्गम कारण शरीर को समझा जा सकता है। उदारचेत्ता, संवेदनशील, आदर्शवादी, परमार्थी स्तर उन्हीं का होता है जिनका कारण शरीर परिष्कृत हो ।

सूक्ष्म शरीर के विकृत, विपन्न होने पर कुकल्पनाऐं उठती हैं। चंचलता छायी रहती है। असम्बद्ध भटकाव का दौर चढ़ा रहता है। आदतें बिगड़ती हैं और स्वभाव घटिया हो जाता है। फलस्वरूप मानसिक उद्वेग बने रहते हैं। क्रोध, आतुरता, निराशा, चिन्ता, ईर्ष्या, प्रतिशोध, महत्त्वाकाँक्षाओं का ऐसा उफान उठता रहता है जिसे समुद्र में उठने वाले ज्वार भाटे या उष्ण वायु में बनने

वाले चक्रवात के समतुल्य समझा जा सके। मानसिक तनाव रहने पर शरीर भी स्वस्थ्य नहीं रह सकता क्योंकि मात्र आहार बिहार पर ही स्वस्थता निर्भर नहीं है वरन् उस तन्त्र के संचालन के उपयुक्त ऊर्जा मनः क्षेत्र में ही मिलती है। उद्वेग उभरने पर भूख, प्यास, नींद तक गायब हो जाती है और असन्तुलित मनः स्थिति में व्यक्ति सनकी, विक्षिप्त, उन्मादी, जैसा आचरण करने लगता है। दूरदर्शिता कुंठित हो जाने पर सामान्य गतिविधियाँ एवं निर्धारणाऐं भी ठीक तरह नहीं बन पड़तीं । इतना ही नहीं, भीतरी अंग अवयवों पर इतना दबाव पड़ता है कि जहाँ तहाँ से, जिस तिस प्रकार की रुग्णता उभरने लगती है। बाह्य प्रभाव की प्रतिकूलता से जितना अनिष्ट होता है उससे कहीं अधिक अनर्थ मानसिक असन्तुलन से होता है। स्वास्थ्य बिगड़ता है और निर्णय निर्धारण क्रिया कलाप उलटे होने लगते हैं।

यदि शारीरिक स्वास्थ्य की तरह मानसिक सुसन्तुलन का ध्यान रखा जाय तो उस स्थिति में बाह्य परिस्थितियों की प्रतिकूलता भी हँसते हँसाते सहन करली जाती है। सही चिन्तन चलता रहे तो स्वभाव में ऐसी आदत सम्मिलित नहीं हो पाती जो स्वास्थ्य बिगाड़े, मस्तिष्क तनावग्रस्त रहे। बेतुके आचरण अपनाए और व्यवहार कुशलता के अभाव में जैसे असहयोग तथा विग्रह का सामना करना पड़ता है, उस प्रकार का त्रास सहना पड़े।

मनः स्थिति की विपन्नता ही अकर्म करने के लिए प्रेरित करती है और उसी कारण परिस्थितियाँ ऐसी बनती हैं जिन्हें दुखद या दुर्भाग्यपूर्ण कहा जा सके। एक जैसी परिस्थितियों में जन्में और पले व्यक्तियों में से कुछ लोकप्रिय होते हैं साथ ही तेजी से प्रगति पथ पर दौड़ लगाते हैं। चुम्बक अपने प्रभाव से लौह खण्डों को घसीटकर अपने साथ चिपका लेता है उसी प्रकार विचारशील व्यक्ति अपने सही चिन्तन को सद्गुणों में बदलता है और सद्गुणों के लिए चिरस्थायी सम्मान एवं सहयोग सुरक्षित रहता है। सही निर्णय, सही स्वभाव, सही आचरण यही शृंखला अनेकानेक सफलताओं का आधारभूत कारण बनती है। जो इस तथ्य को नहीं समझते वे विचार तन्त्र को उच्छृंखलता के खाई खन्दकों में भटकने देते हैं फलस्वरूप उनका व्यक्तित्व अवांछनीय हेयस्तर का बन जाता है । पग-पग पर ठोकरें लगती हैं। हर दिशा से तिरस्कार, उपहास, विरोध बरसता है। ऐसा व्यक्ति स्वयं तो दुःखी रहता ही है साथ ही सम्बद्ध लोगों को, मित्र परिजनों को भी विषम विपन्नता में धकेलता है। कुसंस्कारिता अपने आप में एक विपत्ति है। वह जहाँ भी रहती है वहीं अपने स्तर के अनेक सहयोगियों को न्यौत बुलाती है। ऐसी विसंगतियों से भरा हुआ कोई व्यक्ति न तो स्वयं चैन से रहता है और नहीं जिसके साथ जुड़ता है उसे चैन से बैठने देता है। ऐसों के दुर्गति ही होती है वे कभी कहने योग्य सफलता और सज्जनों के द्वारा की गई प्रशंसा के पात्र नहीं बन पाते ।

स्वास्थ्य सुधारने और सुन्दर सम्पन्न दीखने के लिएं जितना प्रयत्न किया जाता है उतना ही यदि मन को सुसंस्कारी बनाने के लिए भी किया जाय तो अपेक्षाकृत कहीं अधिक लाभ में रहा जा सकता है। उपलब्धियाँ-साधन सम्पदाऐं कितनी ही अधिक क्यों न हों उनका सदुपयोग करने की दूरदर्शी विवेकशीलता का अभाव रहे तो दुरुपयोग से अमृत भी विष बन सकता है। कुबेर को भी अभाव रह सकता है और इन्द्र जैसा सर्व सम्पन्न भी पतित, निन्दित एवं अभिशप्त स्थिति में पहुँच सकता है। जिन्हें इस वस्तु स्थिति का ज्ञान है वे सूक्ष्म शरीर को, विचार तन्त्र को, परिष्कृत, परिमार्जित बनाने पर पूरा-पूरा ध्यान देते हैं और हर परिस्थिति में हँसता-हँसाता हुआ खिलता -खिलाता हुआ जीवन जीते हैं। यही है सूक्ष्म शरीर का सामान्य जीवन में सदुपयोग।

कारण शरीर में भाव संवेदनाओं का भण्डार है। असीम शक्ति का स्रोत यहीं से उभरता है। स्थूल शरीर को विकसित करने के लिए कर्मयोग का, सूक्ष्म शरीर की प्रगति के लिए ज्ञान योग का और कारण शरीर को समृद्ध बनाने के लिए भक्ति योग का आश्रय लेना पड़ता है।

कारण शरीर देव शरीर

जिन पदार्थों को निर्जीव या जड़ कहा जाता है, उनमें भी हरकतें, हलचलें होती हैं। यह समूचा विश्व परमाणुओं से बना है। उनके नाभिक एवं इर्द-गिर्द परिभ्रमण करने वाले घटक निरन्तर भ्रमणशील रहते हैं। इन्हीं इकाईयों का चित्र-विचित्र समीकरण विभिन्न पदार्थों के रूप में परिलक्षित होता है। इनका स्वरूप भी स्थायी नहीं रहता। यह बनता, बढ़ता, परिपक्व होता एवं वयोवृद्ध होकर मरता बदलता रहता है।समस्त पदार्थों की यही गति नियति है।

ताप, प्रकाश एवं ध्वनि तरंगें समूचे ब्रह्माण्ड में गतिशील हो रही हैं। अणु-परमाणु उन्हीं की परिस्थिति

जन्य संगठना है। विनिर्मित पदार्थ तो स्थिर दीखते हैं पर उनका निर्माण एवं परिवर्तन करने वाली तरंगीय एवं आणविक इकाईयाँ द्रुत वेग से गतिशील रहती हैं। इसलिए आँखों में जो कुछ स्थिर दीखता है तत्वत: वह सभी गतिशील एवं परिवर्तनरत है। क्रिया उन सब के साथ सघन रूप से जुड़ी हुई है।

सृष्टि का एक भाग जड़ है। दूसरा सचेतन। सचेतन में जीवधारियों का समुदाय आता है। उनके शरीर में विचारणा काम करती है। वे पेट प्रजनन की व्यवस्था जुटाने के लिए सोचते और साधन जुटाते रहते हैं। ऋतु प्रभाव एवं अन्य कठिनाइयों से बचने निपटने के लिए आत्म रक्षा हेतु संघर्ष भी करते है। उनकी विचारणा इसी छोटी सीमा तक सीमित है। मनुष्य अन्य प्राणियों की तुलना में अधिक विकसित है। अतएव उसका स्वार्थ चिन्तन भी विकसित है। उसे सरसता चाहिए और सुन्दरता, सम्पन्नता, प्रशंसा भी। अवएव उसका विचार क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। उसकी व्यावसायिक बुद्धि अनेक प्रकार के नीच ऊँच सोचती है, मोड़ मरोड़ों में होकर गुजरती हैं इसलिए उसे विचारशील ही नहीं बुद्धिमान भी माना जाता है।

उपर्युक्त दोनों उपक्रम स्थूल एवं सूक्ष्म की परिधि में आते ही हलचलें एवं विचारणाऐं इन्हीं वर्गों में गिनी जाती हैं। इन्हीं का आधार अपना कर जड़ चेतन की विविध विविध गतिविधियाँ चल रही हैं। इससे आगे का उत्कृष्ट क्षेत्र भावनाओं का है। दिव्य भावनाओं का जिसमें रागद्वेष नहीं वरन् ऐसी संवेदनाओं की गणना होती है जो दया करुणा, सेवा, पुण्य परमार्थ, संयम, साहस जैसी सद्भावनाओं के साथ जुड़ती है। यह मानवी सम्वेदनाऐं हैं जो स्वयं की सुख सुविधाओं पर अंकुश लगाती और दूसरों के प्रति उदार आत्म भाव जताती हैं। इसी सम्वेदना को आत्मीयता, उदारता एवं पुण्य प्रक्रिया रूप में निरूपित किया जाता है। यह मनुष्यता के साथ जुड़ी हुई दिव्य सम्वेदना है। इसका बाहुल्य तो नर देवों में भी होता है, पर माता और सन्तान के प्रति आरम्भिक दिनों में उभरता वात्सल्य अन्य प्राणियों में भी यत्किंचित मात्रा में पाया जाता है। पालतु पशु भी मनुष्यों के साथ बहुत हद तक प्यार दुलार बरतते देखे गए हैं।

तथाकथित देवताओं की मूल प्रवृति भी यही है। वे दयालु होते हैं जहाँ आवश्यकता समझते हैं, बादलों की तरह अनुदान बरदान बरसाते हैं। ऋषि, मुनि, योगी, तपस्वी, भक्त, मनीषी अपनी साधनाओं को इसी निमित्त नियोजित करते हैं कि उनका लगाव क्रियाशीलता और कल्पना की प्रतिक्रिया से यथा सम्भव विरत होता चले। स्वार्थ की सीमा से उछल कर परमार्थ संवेदनाओं में प्रवेश कर सके।

भक्ति भावना जब कभी भी जहाँ कहीं भी उभरती है तो उसका प्रवाह सेवा सहायता के लिए मचलता है। पुण्य परमार्थ को चरितार्थ किए बिना चैन नहीं पड़ता। इसी मन: स्थिति को भक्ति या आत्मीयता कहते हैं। प्रेम प्रीति भी यही है। निराकार भगवान की भावानुभूति इसी रूप की होती है। देवताओं की रीति-नीति भी यही हैं। सूर्य, चन्द्र, पवन, बादल आदि को निरन्तर परमार्थ में संलिप्त देखा जाता है। कारण शरीर के क्षेत्र में प्रवेश करने, उसे उभारने, उजागर करने में भी इसी परिपाटी को अपनाना पड़ता है। पति पत्नी परस्पर समर्पण योग की साधना करते हैं। माता का अजस्र वात्सल्य भी सन्तान पर इसी हेतु बरसता है। तत्व-ज्ञानी जब जीवन की गरिमा और महिमा पर विचार करते हैं तो उन्हें इसी में सार प्रतीत होता है कि द्वैत को अद्वैत में परिणत किया जाय। कामनाओं को भावनाओं में उलट दिया जाय। स्वार्थ को गला कर परमार्थ में ढाल दिया जाय। मनुष्यों में उत्कृष्टता जिन्हें अर्पित की जाती है वे पुरोहित और परिब्राजक के पुण्य प्रयास में लगे होते हैं।

ब्रह्म परायणों में से जो गृहस्थ रहते थे वे पुरोहित का काम करते थे और जिन्हें विरक्त रहना बन पड़ता था वे परिब्राजकों की तरह परिभ्रमण करते, आलोक वितरण का कार्य करते और जनमानस के परिष्कार में संलग्न रहते थे। औसत नागरिक की तरह निर्वाह करना लोभ मोह के बन्धन शिथिल रखना जिस किसी से भी बन पड़ा है उसने कारण शरीर को सशक्त बनाने की प्रक्रिया में उत्साहवर्धक सफलता प्राप्त की है।

कारण शरीर को देव शरीर भी कहते हैं, कारण कि पाँचों प्रसिद्ध देवताओं की दिव्य शक्तियों का उसमें समावेश रहता है। परमेश्वर को परमपूज्य कहा है और पाँच देव तत्वों का अधिष्ठाता कहा है। परमात्मा की उपासना का तात्पर्य है- श्रद्धा, निष्ठा, प्रज्ञा की त्रिधा, सद्भावनाओं का संगम। इस समागम को जिसने अन्तरात्मा में धारण कर लिया, समझना चाहिए कि उसने ब्राह्मी स्थिति उपलब्ध कर ली।

स्वर्ग मुक्ति और ऋद्धि, सिद्धी का भण्डार परब्रह्म को माना जाता है। उसका अवतरण जब कभी, जहाँ कहीं हुआ है उसे अन्तःकरण का उच्च स्तर एवं कारण शरीर का आधार बिन्दु के रूप में पाया गया है। समस्त सत्प्रवृत्तियों एवं सद्भावनाओं का उद्गम केन्द्र कारण शरीर ही है। उसी को परिष्कृत करने के लिए भक्ति भाव की साधना की जाती है।

उच्चस्तरीय प्रेम भक्ति में द्वैत को अद्वैत बनाना पड़ता है। इस स्थिति को समर्पण योग भी कहते हैं। समर्पण में छोटी इकाई को बड़ी सत्ता में अपने को होमना, सौंपना पड़ता है। नाला नदी में मिलता है। नदी नाले में नहीं। आत्मा को अपनी संकीर्णता परमात्मा की महानता में विलीन करनी पड़ती है। निजी इच्छा आकाँक्षाओं का परित्याग परमात्मा के अनुशासन में विलीन करना होता है। ऐसी दिशा में भक्त को दानी बनना पड़ता है, याचक नहीं।

कामना पूर्ति के लिए परमात्मा को अपने सेवक की तरह आदेश नहीं देने की धृष्टता का दुस्साहस नहीं अपनाना होता। इसमें तो महान की महानता को ही आँच आती है। भक्त की भावना का स्तर गया-गुजरा होकर याचक जैसा बन जाता है। यह अनुचित है। अयोग्य है। परमात्मा की महानता छूने के लिए भक्ति साधक को अपना अन्तःकरण उतना ही विशाल एवं अद्भुत बनाना पड़ता है। स्वार्थ को परमार्थ में परिणत करना होता है उच्चस्तरीय प्रेम का यही वास्तविक स्वरूप है।

कारण शरीर की विशिष्टता-भाव श्रद्धा

आदर्शवादी भाव संवेदनाओं का उद्गम अन्तःकरण है जिसे कारण शरीर भी कहते हैं। प्राणिवर्ग में जो तुच्छ स्तर के हैं उनका केवल शरीर पौरुष ही गतिशील रहता है। जो इससे अधिक विकसित हैं, उनका मन मस्तिष्क और युद्ध कौशल भी एक सीमा तक करने लगता है। कारण शरीर समस्त प्राणि समुदाय में से किसी का भी विकसित और सक्षम नहीं होता है। अकेला मनुष्य ही है जो चेतना क्षेत्र में विकास कर सका है। उसकी अविकसित स्थिति तो नर-वानरों जैसी ही होती है पर जैसे-जैसे मानवी गरिमा की परत खुलती जाती है वैसे-वैसे उसकी भाव सम्वेदना जगती हैं। आस्थाओं में परिपक्वता आती है और श्रद्धा का उत्कृष्टता अपनाने के लिए ऐसा प्रयास चल पड़ता है जिसे आत्मिक क्षेत्र का उत्कर्ष एवं अभ्युदय कहा जा सके। वस्तुतः मानवी गरिमा का शुभारम्भ यहीं से होता है।

आत्मिक प्रगति का एक ही लक्षण है आदर्श के मार्ग पर चलते को धकेल सकने जैसी क्षमता से सम्पन्न भाव सम्वेदना का उभरना। यह उभार वस्तुतः मानवी गरिमा का उन्नयन है। डण्ठल, डाली, पत्ते जब सभी परिपक्व हो जाते हैं तो कमल पुष्प खिलता है। पौधा जब तक कच्चा रहे तब तक उस पर सुविकसित पुष्प नहीं खिलता। इस प्रकार शरीरगत संयम और बुद्धिगत चिन्तन, मनन की परिपक्वता ही कारण शरीर को विकसित करती और मनुष्य को इस स्तर तक पहुँचाती है कि वह सद्भाव व श्रद्धा की सुविकसित स्थिति का अनुभव कर सके। यह श्रद्धा ही है जो अन्तराल को परमात्मा सत्ता के साथ जुड़ सकने की परिस्थिति पैदा करती है।

श्रद्धा विहीन व्यक्ति साधनों से, दक्षताओं से, बौद्धिक विलक्षणताओं से कितना ही सुसज्जित क्यों न हो उसके अन्तराल की गहराई में श्रद्धा के अंकुर नहीं उग पाते। इस अभाव के रहते उस भूमिका में प्रवेश कर सकना बन नहीं पड़ता जिसे आदर्शवादी भाव संवेदना कहते हैं। जिसकी क्षमता से सद्गुणों के अनेकानेक पक्ष उभरते हैं। करुणा की अनुभूति होती है। आत्मीयता विकसित होती है। महानता का मार्ग अपनाने के लिए उमंग उठती है। मनुष्य में देवत्व का उदय यही है। उसे अपनी आत्मा में सबकी आत्मा और सबकी आत्मा में अपनी आत्मा परिलक्षित होती है। विराट् विश्व के कण-कण में प्रभुसत्ता की उपस्थिति विद्यमान लगती है। जिस लोक में भगवान का निवास है वही-स्वर्ग है। ऐसा स्वर्ग अपनी विकसित श्रद्धा ही अपने लिए अपना स्वतन्त्र स्वर्ग गढ़ लेती है। जिनमें निरन्तर निवास करते रहने और आनन्द से ओत प्रोत रहने का अवसर मिलता है। महामानवों जैसे स्वभाव संस्कार भी उसी स्थिति में विकसित होते हैं। ऐसे कृत्य भी उसी मनोदशा में करते बन पड़ते हैं, जिन्हें मनीषियों और तपस्वियों के जीवन में ही क्रियान्वित होते देखा जाता है।

आत्मा और परमात्मा के मिलने से जो अद्भुत अलौकिक शक्ति उत्पन्न होती है उसी के आधार पर देवर्षि, महर्षि, ब्रह्मर्षि स्तर की देवात्माऐं अपनी स्थिति को असामान्य बनाती हैं। उनके क्रिया कलाप सामान्य लोगों की तुलना में कहीं अधिक उच्चस्तरीय होते हैं। वे

सामान्य कार्य कलेवर में रहते तो हैं पर उनका दिशा निर्धारण, लक्ष्य संकल्प कुछ विशेष स्तर का ही होता है। स्थिति में इतना अन्तर आ जाता है कि गीता के अनुसार जब दुनिया सोती है तो योगी जागता है और जब योगी जागता है तब दुनिया सोती है। दोनों की स्थिति में रात दिन जैसा अन्तर होता है। संसारी लोग जहाँ स्वार्थ के लिए ही निरन्तर मरते खपते रहते हैं वहाँ श्रद्धावान् परमार्थ को लक्ष्य रखता है। उसे कर सकने के लिए अपनी अन्तः स्थिति को कषाय कल्मषों से विरत करते रहने में लगा रहता है। सांसारिक लोगों का लक्ष्य जहाँ संकीर्ण स्वार्थ परता की पूर्ति का होता है वहीं आध्यात्मवादी परमार्थ संचय के अतिरिक्त और कुछ सोचता ही नहीं। एक जहाँ साधन सम्पदा से लदने के लिए उचित अनुचित का विचार तक छोड़ देता है वहाँ श्रद्धावान् न्यूनतम निर्वाह में काम चलाना और क्षमताओं का अपनी तथा दूसरों की संस्कृतियों को समुन्नत करने में नियोजित किए रहता है। दोनों के लक्ष्य और प्रयास में यह स्पष्ट अन्तर सहज ही जाना जा सकता है।

स्वार्थी लोग और अहंकार में डूबे पाए जाते हैं जबकि परमार्थी को सत्प्रवृत्तियों को बोने-उगाने बढ़ाने से ही फुरसत नहीं मिलती। इसी को मनुष्य और देवता के बीच पाया जाने वाला अन्तर समझा जा सकता है।

उपर्युक्त अन्तर के अनुरूप परिस्थितियाँ भी दोनों की अलग-अलग होती हैं। एक की स्वार्थ साधन में व्यस्तता रहती है तो दूसरे की उत्कृष्टता के चरम शिखर पर जा पहुँचने की ललक लगी रहती है।

एक ही जंकशन पर खड़ी दो रेल गाड़ियाँ दो विभिन्न दिशाओं के लिए छूटती हैं तो कुछ ही समय में दोनों के बीच भारी फासला पड़ जाता है। यही बात अनास्थावानों के बीच आस्थावानों के और भी होती है। एक नर पशु की तरह क्षुद्र स्वार्थ की पूर्ति में कोल्हू के बैल की तरह जुता रहता है और बदले में अशान्ति, ईर्ष्या, दुर्व्यसन, भय, आतंक, अपमान में डूबा रहकर अपनी मनः स्थिति और परिस्थिति को उद्विग्नता की आग में जलाता रहता है। वहाँ दूसरा कल्पवृक्ष की तरह फलता-फूलता और अपनी छाया में असंख्यों को सुख शान्ति भरा आनन्द अनुदान प्रदान करता रहता है। यह अन्तर श्रद्धा के भाव और स्थायी अभाव के ऊपर ही निर्भर रहता है।

गीता के अनुसार सद्ज्ञान मात्र श्रद्धा के माध्यम से मिलता है। श्रद्धा ही विवेक की आँखें खोलती है। ऐसे दृष्टिवान को यथार्थता का बोध होता है। आत्म ज्ञान का दिव्य अनुदान मिलता है। अज्ञान का पर्दा हटने पर न दोष रहते हैं न दुर्गुण। न शोक रहता है और न सन्ताप। जिसने अपना कल्याण कर लिया वही दूसरे अन्य असंख्यों का कल्याण कर सकने में भी समर्थ है।

श्रद्धा प्रभाव और प्रताप सुविकसित व्यक्तित्व में ही परिलक्षित होता है। यहाँ प्रतिभा के रूप में वह गरिमा के रूप में प्रकट होता है। गाँधी जी चर्म चक्षुओं से देखने पर शरीर की दृष्टि से चकाचौंध उत्पन्न करने वाली प्रतिभा के धनी नहीं थें। फिर भी उनकी महानता हर गतिविधि से, हर उच्चारित शब्द से अपनी गरिमा का परिचय देती थी। श्रद्धावानों का व्यक्तित्व अपने-अपने क्षेत्र में प्रायः इसी स्तर का हो जाता है। आन्तरिक उल्लास की अजस्र अनुभूति होने के अतिरिक्त उन्हें लोक सम्मान की जन सहयोग की भी कमी नहीं रहती। श्रद्धा अपने आप में परमात्म सत्ता का प्रत्यक्ष अनुदान है। वह जिसने अर्जित कर लिया समझना चाहिए कि उसने जीवन के सर्वांगीण सफलता का लक्ष्य प्राप्त कर लिया।

पशु और मनुष्य का अन्तर श्रद्धा के आधार पर ही आरम्भ होता है। अश्रद्धा को प्रत्यक्षवादी मनः स्थिति में किसी भी आदर्श का महत्त्व नहीं समझा जा सकता। परमार्थ की ओर एक कदम नहीं बढ़ा जा सकता क्योंकि प्रत्यक्ष स्वार्थ ही सब कुछ समझा जा सकता है। कोई किसी की परवाह क्यों करे ? अपनी विलासिता, लिप्सा, लालसा और महत्त्वाकाँक्षा पर कोई अंकुश क्यों लगाए ? स्वेच्छाचार बरतकर गर्व करने का अवसर क्यों खोए ? इस नियन्त्रण में तो अपने को रोकना प्रतिबन्धित ही करना पड़ेगा और दूसरों को लाभ देने की बात में अपने लिए तो घाटा ही है। आक्रमण से अनाचार से यदि लाभ उठाया जा सकता है तो दया धर्म के कारण असाधारण लाभ उठाने से क्यों चूका जाय ? उत्पीड़न, शोषण, छल, प्रपंच आदि पर अंकुश क्यों लगाया जाय ? इन सभी प्रसंगों में अनास्थावादी बुद्धि का यही निर्णय हो सकता है कि जिनमें स्वार्थ सधता हो वही किया जाय ? इस कारण दूसरों को क्या हानि होती है इसका विचार न किया जाय। ऐसी मनः स्थिति में पुण्य परमार्थ की बात सोचते भी नहीं बन पड़ती। क्योंकि उन सब में अर्थ प्रधान दृष्टि अपना अहित होने की बात ही सोचेगी।

श्रद्धा ही है जो मनुष्य को विराट् के साथ, आदर्शों के साथ, मानवी गरिमा के साथ जोड़ती है। जिसने उसे जिस रूप में पाया वह उसी गति से उत्कृष्टता को आध्यात्मिकता की दिशा में चल पड़ने के लिए तत्पर हुआ समझना चाहिए।

श्रद्धा और अन्ध श्रद्धा में जमीन आसमान जितना अन्तर हैं। अन्ध श्रद्धा पर अविवेक छाया रहता है। परम्परा का निर्वाह ही सब कुछ लगता है। उसमें उचित अनुचित का विश्लेषण करने का भी समय नहीं रहता। अनेकानेक कुरीतियां इस अन्ध श्रद्धा के आधार पर ही पनपी और परिपक्व हुई हैं।

इसी के सहारे धूर्तों ने मनगढंत संरचनाऐं रच कर मूर्खों को अपने चंगुल में फँसाया है। अन्ध श्रद्धा के साथ ही जो श्रद्धा शब्द लगा है और अपना कुप्रयोजन सिद्ध करने वाले उस अन्ध श्रद्धा की भी यथार्थता जैसी व्याख्या कर देते हैं पर वस्तुत: बात वैसी है नहीं। दोनों के बीच मृत और जीवित जैसा अन्तर है।

यों देवताओं के प्रति धर्म सम्प्रदायों के प्रति भी मान्यताओं का आग्रह रखा जाता है। पर वस्तुत: श्रद्धा भाव- संवेदनाओं की उत्कृष्टता के साथ ही जुड़ी होती है। उसमें अन्त:करण का ऐसा उल्लास जुड़ा होता है जिसकी प्रेरणा से हृदयता, सद्भावना और शालीनता को क्रियान्वित करने के लिए असाधारण उत्साह उभरे। कष्ट सहकर भी आदर्शों को अपनाए रहने की सतत् प्रेरणा मिले।

भावुकता और भावसम्वेदना में अन्तर है। भावुकता एक आवेश है जब कि सम्वेदना अन्त:करण का परिष्कृत स्तर। उसमें संकीर्ण स्वार्थ-परता का लेश मात्र भी अंश नहीं होता। जो कुछ सोचते बन पड़ता है और क्रिया रूप में अपनाया जाता है उसमें आत्मीयता का गहरा पुट होता है। श्रद्धा इसी स्थिति की अभिव्यक्ति है। उसमें अपनी श्रेष्ठतम चेतना का अंश निचोड़ा जाता है और उसे निस्वार्थ भाव से जन कल्याण के लिए अर्पित किया जाता है। इसे कारण शरीर से उभरा हुआ वरदान भी कह सकते हैं।

कारण शरीर का उत्कर्ष-भक्तियोग से

उपनिषद ने परमात्मा के भावनात्मक स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है- "रसो वै स " अर्थात् प्रेम ही परमेश्वर है। आँखों में भगवान जिस भी रूप में देखा जा सके, अन्तरात्मा में उसकी संवेदना प्रेम रूप में ही पाई जाती है जिसके अन्त:करण में- स्वभाव में- व्यवहार में प्रेम भावना का जितना समन्वय है समझना चाहिए कि इसमें उतना ही ईश्वरतत्व घुला हुआ है।

प्रेम' वह केन्द्र बिन्दु है जिसके इर्द-गिर्द अनेकों आध्यात्मिक सद्गुण विद्यमान रहते हैं। फूल खिलता है तो उस पर अनेक भौंरे, तितली, मधुमक्खी घुमडती दिखाई पड़ती हैं। 'प्रेम' तत्व जिसके अन्त:करण में उगेगा उसमें सौजन्य, सहृदयता, दया, करुणा, सेवा, उदारता, क्षमा, आत्मीयता आदि अनेकों सत्प्रवृत्तियां अनायास ही दृष्टिगोचर होंगी। प्रेम-पात्र के प्रति अपार सहानुभूति होती है। उसे अधिक सुखी और समुन्नत बनाने के लिए अन्त:करण में निरन्तर हिलोरें उठती रहती हैं। जो अपने पास है उसे प्रेमी पर उत्सर्ग करने की अभिलाषा रहती है। इस प्रकार आकांक्षा, अभिलाषा के होने पर स्वभावत: प्रिय-पात्र के प्रति अधिक सज्जनता का व्यवहार बन पड़ता है और प्रेम किसी व्यक्ति विशेष तक सीमित न रह कर यदि विश्व-मानव के प्रति- जनता जनार्दन के प्रति- व्यापक हो गया हो तो ऐसा व्यक्ति सन्त, ऋषि, सज्जन, देव से कम कुछ हो ही नहीं सकता। मानवोचित - देवोपम समस्त सद्गुण उसमें सुविकसित पाए जाएगें। जिसमें ऐसी महानता हो उसे इस धरती पर ईश्वर का प्रतीक-प्रतिनिधि ही कहा जाएगा।

प्रेमी का दम्पत्ति जीवन स्वर्ग जैसा पाया जाएगा। दूसरी ओर से समुचित प्रत्युत्तर न मिले तो वह अकेला अपने ही सद्व्यवहार से सन्तोष और शान्ति का आधार बनाए रह सकता है। इसी प्रकार कहीं भी- किसी भी परिस्थिति में- कैसे भी लोगों के बीच-प्रेमी स्वभाव का व्यक्ति सौजन्यपूर्ण वातावरण बनाए रह सकता है।

नारकीय दुष्टताएं, दुष्प्रवृत्तियां उस हृदय में उगती है जो रूखे, नीरस शुष्क,कठोर निर्दय प्रकृत्ति के हैं। उनमें एक-एक करके समस्त दानवी दुर्गुण एकत्रित होते चले जाएंगे। रंग का गोरा और रूप का सुन्दर होते हुए भी ऐसा मनुष्य भयावह नर-पिशाच की तरह अपना आतंक उत्पन्न करके वातावरण को विक्षुब्ध बनाए रहता होगा। शोक, सन्ताप, क्लेश, कलह, द्वेष, दुर्भाव ही उसके चारों ओर उमड़ते घुमड़ते पाए जाएंगे।

कारण शरीर की उत्कृष्टता प्रेम भावना की अभिवृद्धि पर निर्भर है। "भक्ति के वश में भगवान्" के होने की युक्ति प्रसिद्ध है। भक्ति का अर्थ प्रेम ही तो है।

जो प्रेमी है वही भक्त है। जिसके अन्तःकरण में जितनी प्रेम भावनाएं उमड़ती हैं ईश्वर उसके उतना ही समीप खिंचता चला आता है। सच तो यह कि प्रेम ही परमेश्वर है। यह उदात्त भावना जहाँ भी निवास करती है वहाँ अमृत का निर्झर झरता है और इसकी छाया जिस पर पड़ जाती है वह अपने आपको धन्य अनुभव करता है।

कारण शरीर में देवत्व का अभिवर्धन करने के लिए हमें अपनी उपासना में प्रेम-भावना का समावेश करना चाहिए। सामान्यतया गायत्री उपासना की शिक्षा दी गई है। आत्मा की परिपुष्टि के लिए विभिन्न अन्यान्य विधियाँ एवं पद्धतियाँ भी प्रयुक्त की जाती हैं। अपने-अपने स्थान पर यह सभी उपयुक्त हैं। आरम्भ में नाम, जप, कीर्तन, पूजन, हवन, श्रृगांर, उपवास, भोग, प्रसाद आदि के महात्म्य से यह पूजा पद्धतियाँ की जाती हैं पर इनका क्रमिक विकास प्रेम भावनाओं की अभिवृद्धि के साथ-साथ ही होता है। मीरा, शवरी, गोपी, सूर, तुलसी आदि की प्रखर भक्ति में उनकी प्रेम भावना ही प्रधान आधार थीं।

मन की एकाग्रता प्रेम भावना की मात्रा पर ही निर्भर है। मन प्रेम का गुलाम है । जिस वस्तुओं से हमें प्रेम होता है उन्हीं में मन रमा रहता है। ध्यान उन्हीं का रहता है और सुख उन्हीं के चिन्तन में मिलता है। अक्सर भजन में चित्त न लगने की- मन के अन्यत्र भाग जाने की शिकायत की जाती रहती है। इसका कारण एक ही है- सांसारिक पदार्थं से वास्तविक प्रेम और ईश्वर से औपचारिक बाँध-बधाव। जिससे वास्तविक प्रेम हो मन उसी में रमेगा। जो पदार्थ, प्राणी अथवा दृश्य प्रिय लगते हैं उन्हीं में भ्रमण करने के लिए मन भाग जाता है। न तो हम ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को जानते हैं और न उसके प्रति प्रेम भावना- आत्मीयता-जैसी कोई वस्तु अपने पास है। ज्यों-त्यों करके पूजा की लकीर पिटती रहती है। ऐसी दशा में मन लगने की आशा भी कैसे की जा सकती है? और मन न लगने पर उपासना का उच्च-स्तरीय प्रतिफल कहाँ ?

उच्च-स्तरीय उपासना में प्रेम भावना का समावेश अनिवार्य रूप से आवश्यक है। परिजनों को इसके लिए बहुत समय से प्रेरणा दी जाती रहती है। गायत्री माता की गोद में उसके अवोध शिशु की तरह क्रीड़ा करने, पय पान करने का ध्यान इन प्रयोजनों की पूर्ति के लिए बहुत ही उपयुक्त है। रुचि भिन्नता से जिनको वह ध्यान ठीक तरह न जम पाता हो उनके लिए दो ध्यान और भी हैं जो साधक के अन्तःकरण में तत्काल पुलकन उत्पन्न करते हैं।

(१) दो बालक समान वय तथा समान स्थिति के सहज स्नेह से वशीभूत होकर गले मिलते हैं, परस्पर एक दूसरे से लिपटते हैं, उसी प्रकार जीव और ब्रह्म के अबोध आलिंगन का ध्यान करना चाहिए। आत्मा और परमात्मा अपनी दूरी- पृथक्ता-भिन्नता दूर कर एक दूसरे के समीप,अति समीप आकर अभिन्नता की स्थिति में पहुँचने का प्रयत्न करते हैं द्वैत को मिटाकर अद्वैत की स्थिति उत्पन्न करते हैं।

राम-लक्ष्मण, राम-भरत अथवा कृष्ण-बलराम के बालकपन का परस्पर प्रेम मिलन चित्र इस प्रयोजन के लिए उपयोगी हो सकता है। अपनी वैसी ही स्थिति अनुभव करनी चाहिए। जीव और परमात्मा के बीच बहुत बड़ा अन्तर होना छोटे-बड़े का भाव रहना आत्मीयता एवं एकता में बाधक होता है। समानता में स्नेह का आदान-प्रदान अधिक सुविधा से होता है । पति पत्नी के प्रेम में जो उभार रहता है उसमें यह समानता ही कारण है। मीरा के योग की यही विशेषता थी। सखी सम्प्रदाय तथा गोपी प्रेम के वर्णन में-रासलीला में इसी आत्मा और परमात्मा के दाम्पत्ति भाव से मिलन का संकेत है। छोटे बालक के रूप में भी दोनों रह कर समानता का आनन्द ले सकते हैं।

आत्मा अपनी समस्त श्रद्धा और समस्त उपलब्धियाँ परमात्मा को समर्पण करती है और बदले में परमात्मा उसे ज्ञान, विवेक, प्रकाश, आनन्द और परम पद प्रदान करता है। इसे पाकर अन्तःकरण उल्लास, आनन्द और सन्तोष से परितृप्त होकर अमृतत्व का रसास्वादन करता है।

(२) दूसरा ध्यान दीपक पर पतंगे के जलने की तरह आत्मा का परमात्मा में प्रेम विभोर होकर आत्म समर्पण करने का हैं जीव और ब्रह्म के बीच माया ही प्रधान बन्धन हैं वही दोनों को एक दूसरे से पृथक् किए हुए हैं। अहंता, स्वार्थपरता, ममता संकीर्णता का कलेवर ही जीव की अपनी पृथक्ता एवं सीमा बाँधता हैं उसी की ममता में वह ईश्वर को भूलता और आदेशों की उपेक्षा करता है। इस अहंता कलेवर को यदि नष्ट कर दिया जाए तो जीव और ब्रह्म की एकता असंगत हैं ईश्वरीय प्रेम में प्रधान बाधक यह ममता अहंता ही है।

ब्रह्म को दीप ज्योति का भी अहंता कलेवर युक्त जीव को पतंगा का प्रतीक माना गया है। पतंगा अपने कलेवर को प्रिय पात्र दीपक में एकीभूत होने के लिए परित्याग करता है। आत्म समर्पण करता है। कलेवर का उत्सर्ग करता है। अपनी सम्पदा, विभूति एवं प्रतिभा को प्रभु की प्रसन्नता के लिए सर्वमेघ यज्ञ कर्ता की तरह होम देता है। विश्व मानव की पूजा प्रसन्नता के लिए साधक का परिपूर्ण समर्पण यही आत्म-यज्ञ है। इसमें अपने को होमने वाला-नरमेष करने वाला-ईश्वरीय सान्ध्यि की सर्वोच्च गति को पाता है।

जिस माया मग्नता के कारण ईश्वर और जीव में विरोध या उसका समर्पण कर देने पर ईश्वरीय अनन्त विभूतियों का अधिकारी साधक बन जाता है और उसे प्रभु का असीम प्यार प्राप्त होता है। बिछुड़ने की वेदना दूर होती है और दोनों एक दूसरे के गले मिल कर अनिर्वचनीय आनन्द का रसास्वादन करते हैं।

यह दोनों ही ध्यान समानता और समर्पण की भावनाओं से ओत-प्रोत होने के कारण बड़े सरल, आकर्षक एवं उल्लासपूर्ण हैं। मन आसानी से लगता है और ध्यान में क्रमशः तन्यमयता बढ़ती जाती है। इन ध्यानों में याचना की नहीं आत्मदान की भावना है। उच्चस्तरीय साधना का यही आधार भी है। निम्न स्तर की प्राथमिक उपासना में ईश्वर से सांसारिक लाभ अथवा आत्मिक अनुदान माँगे जाते हैं, पर जैसे-जैसे स्तर ऊँचा होता जाता है। साधक माँगने की तुच्छता छोड़ समर्पण की महानता अपनाने के लिए व्याकुल होता है। ध्यान अथवा भावना तक ही उसकी यह साधना सीमित नहीं रहती वरन् वस्तुतः वह विश्व के लिए, लोक-मंगल के लिए बड़े से बड़ा अनुदान देकर अपनी गणना बड़े से बड़े भक्तों में कराने का आत्म सन्तोष उपलब्ध करता है। उसका व्यवहार अपने जीवन परिवार एव समाज के प्रति इतना सज्जनता पूर्ण हो जाता है कि प्रतिक्रिया उसे दैवी वरदान की तरह चारों ओर से पुष्प वर्षा करती हुई परिलक्षित होती है। स्वर्ग सुख यही तो है। अहंता और ममता, वासना और तृष्णा के-बन्धनों से मुक्त जीव को मरने पर मुक्ति मिलने की प्रतिक्षा नहीं करनी पड़ती वह जीवित रहते हुए भी जीवन मुक्त होता है।

स्थूल शरीर की तरह ही सूक्ष्म और कारण शरीर का भी ध्यान रखें

शरीर केवल एक ही नहीं है। जिसे हम धारण किए हुए हैं और जो दीखता अनुभव होता है, उसके भीतर दो और शरीर हैं जिन्हें सूक्ष्म और कारण शरीर कहते हैं। इनमें सूक्ष्म शरीर अधिक सक्रिय और प्रभावशाली है। मरण के उपरान्त उसी का अस्तित्व रह जाता है और उसी के सहारे नया जन्म होने तक की समस्त गतिविधियाँ चलती रहती हैं।

मरने के उपरान्त इन्द्रियाँ, मन, संस्कार तथा पाप पुण्य साथ जाते हैं। मरण से पूर्व वाले जन्म का स्मरण भी इसी शरीर में बना रहता है इसलिए अपने परिवार वालों को पहचानता और याद भी करता है। अगले जन्म में इस पिछले जन्म के संस्कारों को ढो कर ले जाने में भी यह सूक्ष्म शरीर ही काम करता है। वस्तुतः मरण के पश्चात एक विश्राम जैसी स्थिति आती है उसमें लम्बे जीवन में जो दिन रात काम करना पड़ता है उसकी थकान दूर होती हैं। जैसे रात को सो लेने के पश्चात् सवेरे ताजगी आती है उसी तरह नए जन्म के लिए इस मध्य काल के विश्राम से फिर कार्य क्षमता प्राप्त हो जाती है। जिनका मृत्यु के उपरान्त तुरन्त पुनर्जन्म हो जाता है। उन्हें पूरा विश्राम न मिल पाने से थकान बनी रहती है और शरीर तथा मन में अस्वस्थता देखी जाती है।

सूक्ष्म शरीर इस जन्म में भी स्थूल शरीर के साथ ही सक्रिय रहता है। रात्रि को सो जाने के उपरान्त जो स्वप्न दीखते हैं वह अनुभूतियाँ सूक्ष्म शरीर की ही हैं। दिव्य दृष्टि, दूर श्रवण, दूरदर्शन, विचार संचालन भविष्य ज्ञान, देव दर्शन आदि उपलब्धियाँ भी सूक्ष्म शरीर के माध्यम से ही होती हैं। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की उच्चस्तरीय योग साधना द्वारा इसी शरीर को समर्थ बनाया जाता है ऋद्धियों और सिद्धियों का स्रोत इस सूक्ष्म शरीर को माना जाता है।

भारतीय योग शास्त्रों में सूक्ष्म शरीर को भी स्थूल शरीर की तरह ही प्रत्यक्ष और प्रमाणित माना गया है और उसका स्वरूप तथा कार्य क्षेत्र विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वह दुर्बल कैसे हो जाता है और उसे सशक्त कैसे बनाया जा सकता है इसका विस्तृत विवेचन किया गया है। कहा गया कि सूक्ष्म शरीर में विकार उत्पन्न हो जाने से स्थूल शरीर भी अस्वस्थ्य और खिन्न रहने लगता है इसलिए समग्र समर्थता के लिए स्थूल शरीर की ही तरह सूक्ष्म शरीर का भी ध्यान रखना चाहिए।

यदि आत्मा को अमर माना जाय, मरणोत्तर जीवन को मान्यता दी जाय तो सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व भी

मानना पड़ेगा। स्थूल शरीर तो मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाता है। नया शरीर तुरन्त ही नहीं मिलता, उसमें देर लग जाती है। इस मरण और जन्म के बीच की अवधि में प्राणी को सूक्ष्म शरीर का सहारा लेकर ही रहना पड़ता है। शरीर धारण कर लेने के बाद भी उसके अन्तर्गत सूक्ष्म शरीर और कारण शरीरों का अस्तित्व बना रहता है। अतीन्द्रिय ज्ञान उन्हीं के द्वारा होता है और उपासना साधना द्वारा इन्हीं दो अप्रत्यक्ष शरीरों को परिपुष्ट बनाया जाता है। यह अन्तर शरीर यदि बलवान हो तो बाह्य शरीर में तेज, शौर्य, प्रकाश, बल और ज्ञान की आभा सहज ही प्रस्फुटित दीखती है। उत्साह और उल्लास भी सूक्ष्म शरीर की निरोगता का ही परिणाम है।

स्वर्ग और नरक का जैसा वर्णन है उसका उपभोग सूक्ष्म शरीर द्वारा ही सम्भव है। पिछले जन्म के ज्ञान, सूक्ष्म, संस्कार, गुण, रुचि आदि का अगले जन्म में उपलब्ध होने का आधार भी यह सूक्ष्म शरीर है। भूत प्रेतों का अस्तित्व इसी परोक्ष शरीर पर निर्भर है और दिव्य अनुभूतियाँ, योग की सिद्धियाँ, स्वप्नों पर परिलक्षित सच्चाइयाँ आदि प्रक्रियाँ सूक्ष्म शरीर से ही सम्भव हो सकती हैं। यदि स्थूल शरीर मात्र का अस्तित्व माना जाय तो फिर नास्तिकों का वही मत प्रतिपादित होगा जिसमें कहा गया है कि मृत्यु के बाद फिर आना कहाँ होगा, जब तक जीना है सुख से जियो और ऋण लेकर मद्य पियो।

इतिहास, पुराणों में सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व सिद्ध करने वाली अनेक घटनाओं का वर्णन मिलता है। भगवान शंकराचार्य ने राजा अमरूक के मृत शरीर में अपना सूक्ष्म शरीर प्रबद्ध करके ग्रहस्थ जीवन सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया था। रामकृष्ण परमहंस ने महाप्रयाण के उपरान्त भी विवेकानन्द को कई बार दर्शन तथा परामर्श दिए थे। पुराणों में तो पग-पग पर ऐसे कथानकों का उल्लेख है।

थियोसोफिकल सोसाइटी की जन्मदात्री मैडम ब्लाबटस्की के बारे में कहा जाता है कि वे अपने को कमरे में बन्द करने के उपरान्त भी जनता को सूक्ष्म शरीर से दर्शन और उपदेश देती थीं। कर्नल टाउन शेंड के बारे में भी ऐसे ही प्रसंग कहे जाते हैं पाश्चात्य योग साधकों में से हैर्वटलमान, लिण्डार्स, एण्ड्रूजैक्शन, डा० माल्थ, जेल्ट, कारिंगटन, डुरावेल मुलडोन, आलिवर लाज, पावर्स डा० मेस्मर, ऐलेक्जेण्ड्रा, डेविडनीत, ब्रण्टन आदि के अनुभवों और प्रयोगों में सूक्ष्म शरीर की प्रमाणिकता सिद्ध करने वाले अनेक प्रमाण उपस्थित किए गए हैं। जे० मूलडोन अपने स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर को पृथक् करने के कितने ही प्रदर्शन भी कर चुके थे। इनमें इस सबकी चर्चा अपनी पुस्तक 'दी प्रोजेक्शन ऑफ आस्टलकण्डी' में विस्तार पूर्वक की है।

भारतवर्ष में स्वामी विशुद्धानन्द तथा स्वामी निगमानन्द जी भी अपनी ऐसी अनुभूतियों को प्रमाणित कर चुके हैं 'कहा जाता है कि तैलंग स्वामी को नंगे फिरने के अपराध में काशी के एक अंग्रेज अधिकारी ने जेल में बन्द करा दिया। दूसरे दिन वे जेल से बाहर टहलते हुए पाए गए। नाथ सम्प्रदाय के महीन्द्रनाथ, गोरखनाथ, जालन्धरनाथ कणप्पा आदि के बारे में भी ऐसे ही वर्णनों का उल्लेख है।

आत्मा के अस्तित्व और शरीर न रहने पर भी उसका अस्तित्व बने रहने के बारे में पाश्चात्य दार्शनिकों और तत्व वेत्ताओं में से जिनने इस सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट समर्थन किया है उनमें राल्फ वाल्डो ट्राइन, मिडनी फ्लोवर, एलाह्वीलर, बिलकाक्सस, विलयमवाकर, एटकिंसन, जेम्स, केनी आदि का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। पुराने दार्शनिकों में से कार्लाइन इमर्सन, काण्ट, हेगल, धामस, हिलमीन डायसन आदि का मत भी इसी प्रकार का था।

जो कार्य हम स्थूल जीवन में करते हैं।या मस्तिष्क में जैसे विचार भरे रहते हैं उनकी छाप सूक्ष्म शरीर पर पड़ती हैं और वह छाप ही संस्कार बन जाती है। मनुष्य का चिन्तन और कर्म जिस दिशा में चलता रहता है। कालान्तर में वही स्वभाव बन जाता है और बहुत समय तक जिस स्वभाव को अभ्यास में लाया जाता रहता है उसी तरह के संस्कार बन जाते हैं। यह संस्कार ही परिपक्व होकर शुभ अशुभ प्रारब्ध एवं कर्मफल का रूप धारण करते रहते हैं। इस प्रकार कर्मफल प्रदान करने की स्वसंचालित प्रक्रिया भी इसी सूक्ष्म शरीर से सम्पन्न होती रहती है।

जिस प्रकार अखाद्य खाने, दूषित ज़लवायु में रहने और असंयम बरतने से बाह्य शरीर दुर्बल एवं रुग्ण हो जाता है उसी प्रकार बुरे कर्म और बुरे चिन्तन से सूक्ष्म शरीर पर बुरा प्रभाव पड़ता है और वह अपनी समर्थता खो बैठता है। कुमार्गगामी का अन्तःकरण सदा दुर्बल और कायर बना रहता है, फलस्वरूप अनेक मानसिक रोग उठ खड़े होते हैं। यों तो सूक्ष्म शरीर दूध में मक्खन की

तरह समस्त शरीर में व्याप्त है। पर उसका मुख्य स्थान मस्तिष्क माना गया है। बुरे विचारों से मन मस्तिष्क और सूक्ष्म शरीर का सामान्य स्वास्थ्य सन्तुलन नष्ट हो जाता है फलस्वरूप मनुष्य का व्यक्तित्व ही लड़खड़ाने लगता है और प्रगति के सारे मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं। सात्विक जीवन शुद्ध आहार और शुभ विचार का क्रम ठीक बनाए रहने से ही आन्तरिक बलिष्ठता स्थिर रहती है और उसी के आधार पर स्थूल शरीर को परिपुष्ट तथा दीर्घजीवी रखा जा सकता है।

सद्भावना सम्पन्न व्यक्ति जिन्होंने उच्च आदर्शों के अनुरूप अपनी निष्ठा परिपक्व की है उनका कारण शरीर परिपुष्ट होता है। स्वर्ग, मुक्ति, शान्ति से लेकर आत्म साक्षात्कार और ईश्वर दर्शन तक की दिव्य विभूतियाँ इस कारण शरीर की समर्थता पर ही निर्भर हैं। जिस प्रकार हम स्थूल शरीर की स्वस्थता का लाभ समझते हुए उसे सुस्थिर बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं उसी प्रकार सूक्ष्म और कारण शरीर की सुरक्षा एवं समर्थता के लिए सदैव सचेष्ट रहना चाहिए।

योग साधना की तीन धाराऐं

योगविज्ञान को त्रिवेणी संगम की तरह तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। हमारे कायिक आवरण भी तीन हैं- स्थूल, सूक्ष्म और कारण। इन तीनों की स्वच्छता और प्रगति के लिए तीन स्तर के उपाय-उपचारों का प्रचलन है।

स्थूल शरीर को स्वस्थ रखना आवश्यक है। बीमार व्यक्ति तो अपने तथा दूसरों के लिए भारभूत ही होता है। उससे न भौतिक प्रगति सधती है, न आत्मिक। इसीलिए योगी को सर्वप्रथम शरीर से सम्बन्धित क्रिया योग को अपनाना पड़ता है। इसके दो प्रमुख आधार हैं। एक आहार, दूसरा व्यायाम। साधना हेतु आहार की सात्विकता आवश्यक है। उसका स्तर और अनुपात भी ऐसा रहना चाहिए जिससे आलस्य या अपच का प्रकोप न होने पाए। इसके अतिरिक्त इसी क्षेत्र में व्यायाम का महत्त्व माना गया है। आसनों का अभ्यास इसी निमित्त किया जाता है। बन्ध-मुद्राओं के अभ्यास भी इस प्रयोजन में मदद करते हैं। संचित मलों के निष्कासन के लिए हठयोग के अन्तर्गत इसी निमित्त, नेति, धौति, वस्ति, कपाल, भांति इत्यादि का प्रयोग किया जाता है। यह क्रिया प्रधान होने से क्रियायोग के नाम से जानी जाती है। इसी निमित्त कई बार चान्द्रायण व्रत, दूध-तक्र कल्प आदि किए जाते हैं।

योग का दूसरा चरण है- मनोनिग्रह। इसे सूक्ष्म शरीर की साधना कहा गया है। मन की कुकल्पनाऐं और इच्छाऐं इसके अन्तर्गत नियन्त्रित की जाती है। एकाग्रता की साधना अपने विभिन्न रूपों में इसी निमित्त करते हैं। ध्यान के अनेकानेक प्रयोग प्रचलन इसी निमित्त हैं।

मन की चंचलता का निरोध इन्द्रिय संयम, अर्थ संयम, समय संयम, विचार संयम इन चार अनुशासनों से बँधा हुआ है। निरंकुश स्वेच्छाचारी मन न नीति मर्यादा का अंकुश मानता है और न सही मार्ग पर चलने के लिए सहमत होता है। उसे सरकस के रिंगमास्टर की तरह हंटर के बल पर अनुशासन मानने के लिए बाधित किया जाता है। यही मनोनिग्रह है। एक काम से छुड़ाने का एक ही उपाय है- वह यह कि दूसरी आदत छुड़ाने के लिए नई कार्य पद्धति में उसे जुटा दिया जाय। जप या ध्यान का युग्म मनोनियन्त्रित करके उसे लक्ष्य बिन्दु पर केन्द्रित होना सिखाता है।

कारण शरीर की साधना में अन्तःकरण का उदात्तीकरण करना पड़ता है। आस्थाऐं, भावनाऐं, आकांक्षाऐं, विचारणाऐं आदर्शों के अनुरूप ढालनी पड़ती हैं। जन्म जन्मान्तरों के संचित कुसंस्कार इस मार्ग में पग-पग पर बाधा पहुँचाते हैं इसलिए उनकी ओर से विमुख होने की बैरागी प्रवृत्ति अपनानी होती है और आदर्शों के समुच्चय भगवान के साथ आन्तरिक भक्ति भावना जोड़नी पड़ती है। यही योग है। इसी को अद्वैत एवं समर्पण की स्थिति कहते हैं। जिस प्रकार आग में ईंधन डाल देने पर वह सामान्यता खोकर असामान्य बन जाता है, उसी प्रकार प्रेम' रूपी भगवान में अपने आपको होम देने पर मनुष्य का जीवनक्रम विश्व प्रेम से ओत-प्रोत हो जाता है। आत्मीयता की परिधि सीमित न रहकर असीम हो जाती है। जिससे भी प्रेम किया जाता है, उसकी प्रसन्नता के लिए सेवा सहायता करने की उत्कण्ठा होती है। विराट् विश्व को ईश्वरमय मानते हुए लोक मंगल के कार्यों में निरत होना पड़ता है। भगवान की विश्व- वाटिका को सींचना, उसे हरी-भरी सुरम्य-सुविकसित बनाना वास्तविक ईश्वर प्रेम है। यह कल्पना लोक को उड़ान उड़ने से नहीं जनकल्याण की सेवा-साधना का ब्रत लेने से सम्भव होती है। योग की

यही तीन धाराऐं हैं, जिनका साधक को समुचित समन्वय करते हुए ही आगे बढ़ना होता है।

त्रिविध शरीरों की समन्वित साधना

तीन शरीरों के विकास परिष्कार के लिए यों अनेकों साधनाऐं प्रचलित हैं। पर उनका वर्गीकरण किया जाय तो सभी को तीन वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है। जप, ध्यान और प्राणायाम। इन्हीं त्रिविध आधारों के भेद-उपभेद अनेकानेक साधनाओं का स्वरूप विनिर्मित करते हैं। उन्हें समेटा-सिकोड़ा जाय तो फिर वे तीन में सिकोड़ा भी जा सकता है। इसके अतिरिक्त और कोई ऐसा प्रयोग नहीं है जिसे इस परिधि से बाहर किया जा सके ।

जप में किसी मन्त्र विशेष की अनवरत रट लगाई जाती है। पुनरावर्तन एक गतिचक्र विनिर्मित करता है उसमें अपने प्रकार की विशेष शक्ति होती है। ब्रह्माण्ड के ग्रह नक्षत्र अपनी कक्षा में अनवरत भ्रमण करते हैं। उसी घुमाव परिभ्रमण से वह चुम्बकत्व उत्पन्न होता है जिसके सहारे स्वयं भी अपनी कक्षा में, सुस्थिर बने रहते हैं और अपने सम्पर्क क्षेत्र के अन्यान्य ग्रह पिण्डों को भी जकड़े रहते हैं। यदि यह परिभ्रमण क्रिया बन्द हो जाय तो उसका परिणाम बिखराव के रूप में ही होगा। यों शरीर के मूल घटक यह प्रक्रिया अपनाए रहते हैं। पर उसमें तीव्रता-तालबद्धता और सुव्यवस्था लाने के लिए जप की शब्द प्रक्रिया एक विशेष भूमिका निभाती है। पुनरावर्तन कालान्तर में स्वभाव का अंग बन जाता है और बिना प्रयास के ही अपनी धुरी पर परिभ्रमण करने लगता है। पत्थर से उपकरण को घिस-घिस कर ही धारदार और चमकीला बनाया जाता है।

स्थूल शरीर का केन्द्र नाभिचक्र माना गया है पर उसका प्रभाव क्षेत्र अधोभाग की दिशा में एक बड़ी परिधि तक फैला हुआ है। मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्रों वाला मेरुदण्ड भाग इसी का प्रभाव क्षेत्र समझा जाता है। विशेषतया जननेन्द्रिय मूल और सुषुम्ना का अन्तिम छोर नाभिचक्र से प्रभावित होता है। कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रिया पूरी तरह इसी परिकर से सम्बद्ध है। कुण्डलिनी स्थूल शरीर की बीज शक्ति है जो जननेन्द्रिय मूल से उठकर मेरुदण्ड का देवयान मार्ग पार करती हुई मस्तिष्क के मध्य वाले ब्रह्मरन्ध्र सहस्रार कमल तक पहुँचती है और आज्ञाचक्र द्वारा बाहर निकलकर सम्पर्क क्षेत्र को अपनी विद्युत् शक्ति से प्रभावित करती है।

जप के साथ-साथ पूजन अर्चन वाली प्रक्रिया भी जुड़ी हुई है। उनके माध्यम से आत्म परिष्कार का प्रशिक्षण क्रम चलता है। चन्दन, अक्षत, धूप-दीप, नैवेद्य-जल आदि को सद्गुणों में से एक-एक का प्रतीक मानकर अपने आपको यह सिखाया समझाया जाता है कि सर्वतोमुखी शालीनता की अवधारणा, अभिवृद्धि किस प्रकार की जानी चाहिए। मन्त्र जप के साथ इष्ट देव की छाँव को सर्म्मुख रखना होता है और उस पर श्रद्धा समर्पण का आरोपण करते हुए अपने क्रिया-कलापों में आदर्शवादिता का बढ़ा-चढ़ा समावेश करने की मन: स्थिति बनानी पड़ती है। उसे उस स्तर तक बढ़ाना पड़ता है ताकि व्यावहारिक जीवन में उसका कार्यान्वयन भी हो सके। इस समस्त पक्षों के समन्वय से स्थूल शरीर में उत्कर्ष अभ्युदय बन पड़ने की सम्भावना परिपक्व होती है।

नाभिचक्र में कमल पुष्प का ध्यान करना पड़ता है जिसमें उसकी प्रत्एक पंखुरी उस क्षेत्र की अगणित दिव्य शक्तियों का प्रतीक बन कर निरन्तर विकसित होती रहे और समग्र रूप में विकसित शोभायमान कमल का रूप प्रस्तुत कर सके।

इसका शरीर सूक्ष्म शरीर है जिसे एक शब्द में मानसिक संस्थान कह सकते हैं। कल्पना, विचारणा, निर्धारणा इसी के अंग हैं। तर्क वितर्क इसी में उठते हैं। शिक्षण, अनुभव, स्वाध्याय, सत्संग, चिन्तन-मनन आदि उपायों के द्वारा व्यावहारिक रूप में इसे विकसित किया जाता है। बुद्धिमान, विद्वान, कुशल, पारंगत, समुन्नत बनने का अवसर इसी क्षेत्र के परिसर में बन पड़ता है।

मन: क्षेत्र को विकसित करने के लिए प्राण प्रवाह का अवलम्बन लेना पड़ता है। प्राण एक ऐसी विद्युत् शक्ति है और वायु के साथ घुली रहती है। इसे संकल्प शक्ति से खींचा और धारण किया जाता है। साधारणतया साँस चलती रहती है। उसके साथ जीवनोपयोगी ऊर्जा प्रदान करने वाली ऑक्सीजन भी समुचित मात्रा में घुलती रहती है। गहरी साँस लेना इसी दृष्टि से आवश्यक माना गया है कि ऑक्सीजन की समुचित मात्रा फेंफड़ों से लेकर छोटे-छोटे सभी घटकों को आवश्यक ऊर्जा मिल सके। साथ ही भीतरी क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली गन्दगी की सफाई भी होती रहे। गहरी साँस लेना छोड़ना एक स्वसंचालित व्यायाम है। इसे अपनाया तो जाना चाहिए पर इतना ही सूक्ष्म शरीर के परिष्कार के लिए पर्याप्त नहीं है।

प्राणायाम में संकल्प भरी इच्छा शक्ति का समुचित प्रयोग होता है। भावना करनी पड़ती है कि ब्रह्माण्डव्यापी प्राण तत्व साँस के साथ खिंचता चला आता है और नाक द्वारा प्रवेश करके स्थूल शरीर में ही नहीं सूक्ष्म शरीर के अदृश्य प्रकोष्ठों में भी भर जाता है। इस प्रकार की संकल्प युक्त साँस खींचने की प्रक्रिया जितनी लम्बी हो सके करनी चाहिए। इसके बाद साँस रोकने का कुम्भक आता है। इसे खींचने में जितना समय लगा था उससे आधा समय ही रोकने को कुंभक में लगाना चाहिए। साथ ही अवधारणा करनी चाहिए कि साँस में घुला हुआ जो प्राण तत्व कण-कण में भरा है वह नव जीवन प्रदान कर रहा है।

अवधारणा के समय मस्तिष्क क्षेत्र के अन्तराल का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए उसमें सद्प्रवृत्तियाँ और सद्विचारणाऐं अतीन्द्रिय क्षमताऐं प्रसुप्त स्थिति में छिपी पड़ी रहती हैं। प्राणायाम द्वारा खींचा गया प्राण उन्हें झकझोरता और प्रसुप्ति से जाग्रत स्थिति में लाता है। सन्तुलन, उत्साह, विवेक, इस आधार पर सरलतापूर्वक उभारा जा रहा है और जो अवांछनीय तत्व सूक्ष्म शरीर के किसी क्षेत्र में जम गए हैं उन्हें प्राण युक्त साँस छोड़ने को रोचक प्रक्रिया द्वारा बाहर निकाला जा सकता है।

सूक्ष्म शरीर का प्रतिनिधि केन्द्र हृदय चक्र माना गया है। साधरण स्थिति में वह मुँदी हुई कली जैसा रहता है पर प्राण की ऊर्जा एवं प्रातः कालीन उदयीयमान सूर्य सविता के ध्यान द्वारा उसे खिले कमल की स्थिति में लाया जाय। इसकी पंखुड़ियाँ मानसिक विशेषताओं कुंजियाँ हैं। हृदय जब खिलता है तो उससे सम्बन्धित मानसिक विशेषताऐं भी उभर पड़ती हैं। साधक के अधिक प्राणवान होने की सम्भावना बढ़ती है।

तीनों शरीरों के जागरण उन्नयन का क्रम एक साथ चलता है। एक-एक करके अलग-अलग समयों में पृथक्-पृथक् विकास की परम्परा नहीं है। शरीर के सभी अंगों का साथ-साथ विकास होता है। ऐसा नहीं कि पहले हाथ पुष्ट करले इसके बाद पैर सम्भालेंगे। स्कूलों में, छात्रों में, भाषा, गणित, भूगोल, इतिहास आदि की पुस्तकें एक ही समय में क्रम पूर्वक चलानी पड़ती हैं। ऐसा नहीं होता कि पहले भाषा पढ़ले, पीछे गणित, व्याकरण। इसी प्रकार तीनों शरीरों का उन्नयन क्रम विविध चक्रों को प्रस्फुटित करने की प्रक्रिया के साथ चलाना पड़ता है। साधनाक्रम में तीनों का समावेश साथ-साथ किन्तु क्रमिक रूप से करना पड़ता है। इस समग्र साधन को ग्रन्थि बेध योग कहते हैं। इसमें नाभि, हृदय और ब्रह्मरन्ध्र के अतिरिक्त तीनों कमलों की मुदी हुई प्रसुप्त स्थिति से उवारकर जाग्रति में परिणत करना होता है। मुँदी कलियों को खिले हुए कमलों के स्तर तक पहुँचाना होता है। इसके लिए प्रातः कालीन सूर्य सविता की ऊर्जा को ध्यान धारण द्वारा तीनों शरीरों में उनके प्रतीक केन्द्रों में ओत-प्रोत करना होता है।

तीसरा कारण शरीर भाव शरीर कहलाता है इसमें आस्थाऐं, मान्यताऐं, आकांक्षाऐं, संवेदनाऐं निवास करती हैं। इन सभी को आदर्श की दिशा में धकेलना पड़ता है और मैत्री करुण मुदिता के स्तर पर सेवा साधना में नियोजित करना होता है। पुण्य परमार्थ की ओर बढ़ चलने के लिए प्रोत्साहित करने वाली योजना एवं क्रिया-प्रक्रिया में नियोजित करना होता है। उसे संयम और उदारता का समन्वय भी कह सकते हैं।

मस्तिष्क मध्य, जिसे ब्रह्मरन्ध्र या सहस्रार कमल कहते हैं। यही कारण शरीर के सम्वेदन परिकर का मध्य केन्द्र है। यहाँ भी मुँदी कली की स्थिति रहती है। इसे ध्यानयोग द्वारा कमल पुष्प की तरह खिलाया जाता है। पूर्व दिशा में प्रातः कालीन स्वर्णिम सूर्य का ध्यान इस समूचे प्रयोग के लिए आधारभूत अवलम्बन है। उदीयमान सूर्य को एक सेकण्ड खुली आँख देखने के उपरान्त उसी दृश्य की ध्यान धारणा प्रायः दस पन्द्रह सेकण्ड तक आँखें बन्द करके करनी होती हैं। जब अनुभूति झीनी होने लगे तो फिर आँख खोलकर एक सेकण्ड उदीयमान सूर्य को देखा जा सकता है और पुनः आँखें बन्द करके उसी दृश्य की अनुभूति की क्रिया दुहरायी जा सकती है। सूर्य के प्रत्यक्ष दर्शन का उपर्युक्त क्रम अधिक से अधिक एक सप्ताह चलाना चाहिए और अवधि पन्द्रह मिनट से अधिक नहीं होनी चाहिए क्योंकि जैसे-जैसे सूर्य के प्रकाश में तीवृता आती जाती है वैसे-वैसे वह खुली आँखों से देखने जैसी स्थिति में नहीं रहता। विकसित सूर्य को देखने पर आँखों को हानि पहुँचती है। उदीयमान को भी देर तक नहीं देखना चाहिए। यह प्रयोग आरम्भिक अभ्यास के लिए है। प्राय- एक सप्ताह में ऐसी स्थिति बन जाती है कि बिना प्रत्यक्ष दर्शन के ही भावनात्मक ध्यान द्वारा भी सविता देव का दिव्य दर्शन होने लगे। इस आलोक को नाभिचक्र, हृदयचक्र और ब्रह्मचक्र में अपनी आभा को प्रवेश कराते हुए अनुभव करना चाहिए।

हमारा अद्भुत-विलक्षण अन्नमय कोश

मानवी शरीर यों उपेक्षित परिभाषा में एक 'चलता-फिरता पेड़' है। भौतिक दृष्टि से उसकी और कुछ व्याख्या हो भी नहीं सकती। वनस्पतियों में पाए जाने वाले रसायन ही न्यूनाधिक मात्रा में उसमें भी पाए जाते हैं। जन्म, वृद्धि और मरण के चक्र में घास-पात की तरह मनुष्य भी भ्रमण करता है। आहार और साँस लेने की क्रिया ही पौधों की तरह उसे भी जीवित रखती है।

पिछले दिनों वैज्ञानिक इसी स्तर के प्रतिपादित करते रहे हैं। इससे किस सिद्धान्त की पुष्टि हो सकी-किसकी न हो सकी यह पीछे की बात है, पर मानवी सत्ता का अवमूल्यन निश्चित रूप से हुआ है। उसकी आत्मिक विशेषता को अस्वीकार कर देने पर मनुष्य वनस्पति वर्ग का रह जाता है। अधिक से अधिक उसे कृमि-कीटकों की तरह कुछ अधिक विकसित स्तर का काय-पिण्ड कह सकते हैं। इस स्थिति में उसके विशेष आदर्श, कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व मानने की भी आवश्यकता नहीं रह जाती। नैतिक मर्यादाओं में भी उसे क्यों बाँधा जाय ? फिर उसके स्वेच्छाचार पर भी क्यों अंकुश लगे ? तब सेवा, उदारता, आत्मीयता, सहकारिता के आदर्शों का विस्तार करने की बात भी क्यों सोची जाय ? त्याग, बलिदान की- तप और संयम की आश्यकता भी क्यों मानी जाय ? नास्तिक दर्शन में भस्मी भूत देह का पुनरागमन न होने की मान्यता अपनाने के उपरान्त 'यावज्जीवेत् सुखंजीवेत्' की नीति मान्य ठहराई गई है। उसे ऋणं कृत्वा वृतं पिवेत् की ही नहीं, शोषण, उत्पीड़न और रक्तपान की भी पूरी छूट है। विचारणीय है कि यदि मनुष्य चलता-फिरता पौधा ही ठहरा दिया गया तो फिर उस पर कोई नैतिक उत्तरदायित्व न लादे जा सकेंगे और आदर्शों के नाम पर आत्म-संयम बरतने एवं परमार्थ कृत्यों में उत्साह रखने का औचित्य सिद्ध न किया जा सकेगा। इस दिशा में बढ़ते हुए हम संचित मानवी सभ्यता, संस्कृति और आदर्शवादिता को तिलांजलि दे देंगे।

पौधे और मनुष्य के बीच पाए जाने वाले अन्तर पर दृष्टिपात करने से हमें दोनों के बीच हर क्षेत्र में मौलिक अन्तर दृष्टिगोचर होता है। विशिष्टता मानवी काया के रोम-रोम में संव्याप्त है। आत्मिक गरिमा पर विचार करना पीछे के लिए छोड़कर मात्र काय संरचना और उसकी क्षमता पर विचार करें तो इस क्षेत्र में भी सब कुछ अद्भुत दीखता है। वनस्पति तो क्या- पिछड़े स्तर के प्राणि-शरीरों में भी वे विशेषताऐं नहीं मिलती जो मनुष्य के छोटे और बड़े अवयवों में सन्निहित हैं। कलाकार ने अपनी सारी कला को इसके निर्माण में झोंका है।

शरीर रचना से लेकर मन:संस्थान और अन्त:करण की भाव सम्वेदनाओं तक सर्वत्र असाधारण ही असाधारण दृष्टिगोचर होता है। यह सोद्देश्य होना चाहिए। अन्यथा एक ही घटक पर कलाकार का इतना श्रम और कौशल नियोजित होने की क्या आवश्यकता थी? यह मात्र संयोग नहीं हैं और न इसे रचनाकार का कौतुक-कौतूहल कहा जाना चाहिए। मनुष्य को विशेष प्रयोजन के लिए बनाया गया। इस 'विशेष' को सम्पन्न करने के लिए उसका प्रत्एक उपकरण इस योग्य बनाया गया है कि उसके कण-कण में विशेषता देखी जा सके। इन साधन उपकरणों के सहारे ही वह आत्म-कल्याण एवं विश्व- कल्याण जैसे महान् प्रयोजन सम्पन्न कर सकने में समर्थ हो सकता है। सृष्टा ने इसी साज-सज्जा से अलंकृत करके उसे इस संसार में अभीष्ट कर्त्तव्यों का निर्वाह करने के लिए भेजा है।

हृदय की धड़कन में सिकुड़न की - सिस्टोल और फैलने का- डायेस्टोल क्रिया होती रहती है। इसी क्रिया के कारण रक्त-संचार होता है और जीवन के समस्त क्रिया- कलाप चलते हैं। यह रक्त प्रवाह नदी नाले की तरह नहीं चलता, वरन् पम्पिंग स्टेशन जैसी विशेषता उसमें रहती है। पम्प में झटका मारने की क्रिया होती है उससे गति मिलती है। नीचे की दिशा में तो प्रवाह अपने आप भी होता है, पर ऊपर की ओर ले जाना हो तो उसके पीछे शक्ति का दबाव होना आवश्यक है। आकुंचन-प्रकुंचन से झटका लगता है और उसके दबाव से रक्त-चक्र नीचे और ऊपर आने की दोनों आवश्यकताऐं पूरी कर लेता है। हृदय की धड़कन रक्त के परिभ्रमण में काम आने वाली गति की व्यवस्था करती है।

कोई यन्त्र लगातार काम करने से गरम हो जाता है। श्रम के साथ विश्राम भी आवश्यक है। श्रम में शक्ति का व्यय होता है, विश्राम उसको फिर से जुटा देता है। हृदय के आकुंचन-प्रकुंचन से जहाँ झटके द्वारा शक्ति उत्पादन की आवश्यकता पूरी होती है वहाँ इन दोनों क्रियाओं के बीच मध्यान्तर की अवधि में विश्राम का लाभ भी उसे मिलता रहता है। एक धड़कन एक मिनट के ७२ वें भाग में सेकण्ड के पाँच बटे छ: भाग में सम्पन्न होती है। इस अल्प अवधि में ही असंख्य विद्युत् तरंगें उस

संस्थान से प्रवाहित होती हैं।इन तरंगों के विद्युत् आवेशों को इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम के माध्यम से रिकार्ड करके हृदय की स्वास्थ्य परीक्षा की जाती है। नवजात शिशु की प्रगति आवश्यकता के अनुरूप उन दिनों हृदय एक मिनट में १४० बार धड़कता है किन्तु वह जरूरत कम होते जाने से यह चाल भी घटती है। ३ वर्ष के बच्चे का एक मिनट में १०० बार और युवा मनुष्य का मात्र ७२ बार धड़कता है। समर्थता की न्यूनाधिकता के अनुरूप धड़कन घटी-बढ़ी रहती है। चूहे का हृदय ५०० बार, चिड़ियों का २५० बार, मुर्गी का २०० बार, खरगोश का ६५ बार, घोड़े का ५० बार और हाथी का ४० बार एक मिनट में धड़कता है। मनुष्य के शिशु और प्रौढ़ के बीच समर्थता वृद्धि के अनुपात से हृदय की धड़कन भी घटती जाती है।

पुरुष के हृदय का औसत वजन ३३० ग्राम और स्त्री का २६० ग्राम यह सम्पूर्ण अवयव 'पेरीकार्डियम' नामक झिल्ली की थैली में बन्द रहता है। हृदय एक होते हुए भी उसके मध्य भाग में खड़ी सेप्टम नामक मांस-पेशी उसे दो भागों में बाँट देती है। यह दो भाग भी दो-दो हिस्सों में बँटकर चार हो जाते हैं। इनमें से ऊपरी भाग को ऑरिकिल और नीचे के भाग को वेंट्रिकिल कहते हैं। हृदय से फुफ्फुसीय धमनी में जाने की प्रक्रिया को मध्यवर्ती वाल्व नियन्त्रित करते हैं।

हृदय के समान ही फेंफड़ें भी आजीवन कभी विश्राम नहीं करते। २० से ३० घन इंच हवा को वे बार-बार भरते और शरीर को ताजगी प्रदान करते रहते हैं। बच्चों की श्वास गति २५ से ४० तक होती है । क्योंकि यह उनका विकास काल होता है।

शरीर में उत्पन्न दूषित वायु कार्बन-डाइ-ऑक्साइड गैस को बाहर निकालना और शुद्ध वायु ऑक्सीजन को शरीर पोषण के लिए उपलब्ध कराना यह दुहरा उत्तरदायित्व फेंफड़ों को निवाहना पड़ता है। फेंफड़ों में आँख से भी न दीख पड़ने वाली बहुत पतली वायु नलिकाऐं बहती हैं। इन ४० नलिकाओं के मिलने से एक वायुकोष्ठ- एयरसैक बनता है। यही सघन होकर फेंफड़े का रूप लेते हैं। इनकी संख्या प्रायः १६०० होती है। इन्हें श्वास विभाग के सफाई कर्मचारी भी कहा जा सकता है। इन वायुकोष्ठों की लचक अद्‌भुत है। इन्हें पूरी तरह फूलने का अवसर मिले तो वे समूचे शरीर से ५५ गुने विस्तार में फैल सकते हैं।

साधारणतया उपलब्ध ऑक्सीजन का ४.५ प्रतिशत अंश ही शरीर ग्रहण कर पाता है। यदि श्वास लम्बी और गहरी लेने का अभ्यास डाल लिया जाय तो तीन गुनी अर्थात् १३.५ तक ऑक्सीजन ग्रहण की जा सकती है। इस उपार्जन का लाभ भी शरीर पौषण के लिए तीन गुना अधिक प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार सफाई का कार्य तीन गुना अधिक बढ़ सकता है। जिस अनुपात से गहरी साँस द्वारा ऑक्सीजन अधिक ग्रहण की जा सकती है उसी कार्बन-डाइऑक्साइड को भी ४.५ प्रतिशत के स्थान पर १३.५ के अनुपात से बाहर निकाला जा सकता है। कहना न होगा कि शक्ति प्राप्त करने और विषाक्तता निकालने के अनुपात बढ़ जाएं तो उससे आरोग्य वृद्धि में अत्याधिक लाभ मिलेगा। गहरी और लम्बी साँस लेने की सामान्य प्रणाली, डीप ब्रीथिंग, भौतिक विज्ञान की प्राणायाम प्रक्रिया कहलाती है। इसमें आध्यात्मिक आधारों को भी मिला दिया जाय तो फेंफड़े स्वास्थ्य सम्वर्धन में अद्‌भुत भूमिका निभाने लगते हैं।

हृदय के समान ही फेंफड़े भी आजीवन बिना विश्राम लिए काम करते रहते हैं। २० से ३० घन इंच हवा वे बार-बार भरते और शरीर को ताजगी प्रदान करते रहते हैं। प्रति मिनट वे १७ बार के हिसाब से धोंकनी धोंकते हैं बच्चों की श्वास गति तो २५ से ४० तक होती है।

हृदय और फेंफड़े ही नहीं अन्य छोटे दीखने वाले अवयव भी अपना काम अद्‌भुत रीति से सम्पन्न करते हैं। गुर्दों की गाँठे देखने में मुट्ठी भर आकार की - भूरे कत्थई रंग की- सेम के बीज जैसे आकृति की- लगभग १५० ग्राम भारी है। प्रत्एक गुर्दा प्रायः ४ इंच लम्बा, २.५ इंच चौड़ा २ इंच मोटा होता है। जिस प्रकार फेंफड़े साँस को साफ करते हैं, उसी प्रकार जल अंश की सफाई इन गुर्दों के जिम्मे है। गुर्दे रक्त में घुले रहने वाले नमक, पोटैशियम, कैल्सियम, मैग्नीशियम आदि पर कड़ी नजर रखते हैं। इनकी मात्रा जरा भी बढ़ जाय तो शरीर पर घातक प्रभाव डालती हैं। शरीर में जल की भी एक सीमित मात्रा होनी चाहिए। रक्त में क्षारीय एवं अम्लीय अंश न बढ़ने पाए इसका ध्यान भी गुर्दों को ही रखना पड़ता है। छानते समय इन सब बातों की सावधानी वे पूरी तरह रखते हैं। गुर्दे एक प्रकार की छलनी हैं। उसमें १० लाख से अधिक नलिकाऐं होती हैं। इन सबको लम्बी कतार में रखा जाय तो वे ११० किलोमीटर लम्बी डोरी बन

जाएगी। एक घण्टे में गुर्दे इतना रक्त छानते हैं जिसका वजन शरीर के भार से दूना होता है। विटामिन अमीनो अम्ल, हॉरर्मोन, शकर जैसे उपयोगी तत्व रक्त को वापिस कर दिए जाते हैं। नमक ही सबसे जादा अनावश्यक मात्रा में होता है। यदि यह रुकना शुरू करदे तो सारे शरीर पर सूजन चढ़ने लगेगी। गुर्दे ही हैं जो इस अनावश्यक को निरन्तर बाहर फेंकने में लगे रहते हैं।

दोनों गुर्दों में परस्पर अति सघन सहयोग है। एक खराब हो जाय तो दूसरा उसका बोझ अपने ऊपर उठा लेता है। गुर्दे प्रतिदिन प्रायः दो लिटर मूत्र निकालते हैं। मनुष्य अनावश्यक और हानिकारक पदार्थ खाने से बाज नहीं आता। इसका प्रायश्चित्य गुर्दों को करना पड़ता है। नमक, फॉस्फेट, सल्फेट, पोटैशियम,कैल्सियम, मैग्नेशियम, लोहा, क्रिएटाइनिन, यूरिया, अमोनिया, यूरिक ऐसिड, हिप्यूरिक ऐसिड, नाइट्रोजन आदि पदार्थों की प्रचलित आहार पद्धति में भरमार है। गुर्दे इस कचरे को मूत्र मार्ग से बाहर करने और स्वास्थ्य सन्तुलन बनाए रखने का उत्तरदायित्व निबाहते हैं। यदि वे अपने कार्य में तनिक भी ढील करदें तो मनुष्य ढोल की तरह फूल जाएगा और देखते-देखते प्राण गँवा देगा।

आमाशय का मोटा काम भोजन हजम करना माना जाता है, पर यह क्रिया कितनी जटिल और विलक्षण है। इस पर दृष्टिपात करने से आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है, इसे छोटी थैली की एक अद्भुत रासायनशाला की संज्ञा दी जाती है, जिसमें सम्मिश्रणों के आधार पर कुछ से कुछ बना दिया जाता रहता है। कहाँ अन्न और कहाँ रक्त? एक स्थिति को दूसरी में बदलने के लिए उसके बीच इतने असाधारण परिवर्तन होते हैं- इतने अधिक रसायनिक सम्मिश्रण मिलते हैं कि इस स्तर के प्रयोगों की संसार भर में कहीं भी उपमा नहीं ढूँढी जा सकती। आमाशय में पाए जाने वाले लवणाम्ल, पेप्सिन, रेन्नेट आदि भोजन को आटे की तरह गूँधते हैं। लवणाम्ल खाद्य-पदार्थों में रहने वाले रोग कीटाणुओं का नाश करते हैं। पेप्सिन के साथ मिलकर वे प्रोटीनों से 'पेप्टोन' बनाते हैं। पेन्क्रियाज में पाए जाने वाले इन्सुलीन आदि रसायन शक्कर को सन्तुलित करते हैं और आँतों के काम को सरल बनाते हैं। इतने अधिक प्रकार के- इतनी अद्भुत प्रकृति के- इतनी विलक्षण प्रतिक्रियाऐं उत्पन्न करने वाले रासायनिक प्रयोग मनुष्यकृत प्रयोग प्रक्रिया द्वारा सम्भव हो सकते हैं, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। आमाशय की रासायनिक प्रयोगशाला क्या-क्या कौतुक रचती है और क्या से क्या बना देती है ? इसे किसी बाजीगर की विलक्षण जादूगरी से कम नहीं कहा जा सकता।

यों तो कर्त्ता की कारीगरी का परिचय रोम-रोम और कण-कण में दृष्टिगोचर होता है, पर आँख कान जैसे अवयवों पर हुई कारीगरी तो अपनी विलक्षण संरचना से बुद्धि को चकित ही कर देती है। आँख जैसा कैमरा मनुष्य द्वारा कभी बन सकेगा। इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। कैमरों में नाभ्यान्तर-फोकल लेन्थ- को बदला जा सके ऐसे कैमरे कहीं नहीं बने। फोटो लेने के लिए अच्छे कैमरों के लेंस भी पहले एक निश्चित नाभ्यान्तर पर फिट करने होते हैं। फिल्मों तक में फोटो दृश्य और कैमरे की दूरी का सन्तुलन मिलाकर फोकस सही करना पड़ता है। इस व्यवस्था को बनाए बिना अभीष्ट फोटो खिंच ही नहीं सकेगा। किन्तु नेत्र संरचना में ऐसा कुछ नहीं करना पड़ता। वे निकट से निकट और दूर से दूर को भी- आँखों के बिना आगे पीछे हटाए मजे से देखते रह सकते हैं। प्रिज्म या थ्रीडायमेन्शनल कैमरे अद्भुत माने जाते हैं। पर वे भी रंगों का वर्गीकरण उस तरह नहीं कर सकते जैसा कि आँखें करती हैं। सुरक्षा सफाई का 'प्रबन्ध' जैसा आँखों में है वैसा किसी कैमरे में नहीं होता। कैमरे पहले उलटा फोटो लेते हैं, फिर दुबारा प्रिंट करके उन्हें सीधा करना पड़ता हैं किन्तु आँखें सीधा एक ही बार में सही फोटो उतार लेती हैं।

कान जैसा 'साउण्ड फिल्टर' यन्त्र कभी मनुष्य द्वारा बन सकेगा, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। रेडियो और वायरलैस की आवाजें एक निश्चित 'फ्रीक्वेन्सी' पर ही सुनी जा सकती है। कानों के सामने इस प्रकार की कोई कठिनाई नहीं है। वे किसी भी तरफ की- कोई भी ऊँची हलकी आवाज सुन सकते हैं। कई आवाजें एक साथ सुनने या कोलाहल के बीच अपने ही व्यक्ति की बात सुन लेने की क्षमता हमारे ही कानों में होती है। ध्वनि साफ करने के लिए 'रेक्टीफायर' का प्रयोग किया जाता है। कुछ यन्त्रों में 'वैकुऊम सिस्टम' एवं 'गस सिस्टम' से ध्वनि साफ की जाती है। उनमें लगे धन प्लेट 'ऐनोड' और ऋण प्लेट 'कैथोड' के साथ 'ग्रिड' जोड़ना पड़ता है तब कहीं एक सीमा तक आवाज साफ होती है। किन्तु कान की तीन हड्डियाँ स्टेयिम, मेलियस और अंकस में

इतनी स्वच्छ प्रणाली विद्यमान है कि वे आवाज को उसके असली रूप में बिना किसी कठिनाई के सुन सके। न मात्र सुनने की है उस सन्देश के अनुरूप अपना चिन्तन और कर्म निर्धारित करने के लिए प्रेरणा देनी वाली विद्युत् प्रणाली कानों में विद्यमान है। साँप की फुसकार सुनते ही यह प्रणाली खतरे से सावधान करती है और भाग चलने की प्रेरणा देने के लिए रोंगटे खड़े कर देती है। ऐसी बहुद्देशीय संरचना किन्हीं ध्वनि-ग्राहक यन्त्रों में सम्भव नहीं हो सकती ।

शरीर पर चमड़ी का क्षेत्रफल प्राय: २५० वर्ग फुट और वजन ६ पौण्ड होता है। एक वर्ग इन्च त्वचा में ७२ फुट लम्बाई वाला तन्त्रिका जाल और १२ फुट से अधिक लम्बाई वाली रक्त नलिकाऐं बिछी बिखरी होती हैं। त्वचा के रोमकूपों से प्राय: एक पौण्ड पसीना बाहर निकलता है। शरीर को 'एयरकण्डीशन' बनाए रखने के लिए त्वचा फैलने और सिकुड़ने की क्रिया द्वारा कूलर और हीटर दोनों का प्रयोजन पूरा करती है। त्वचा के भीतर बिखरे ज्ञान तन्तुओं को एक लाइन में रख दिया जाय तो वे ४५ मील लम्बे होंगे। इन तन्तुओं द्वारा प्राप्त अनुभूतियाँ मस्तिष्क तक पहुँचती हैं और टेलीफोन तारों जैसा उद्देश्य पूरा होता है। त्वचा से 'कोरियम' नामक एक विशेष प्रकार का तेल निकलता रहता है यह सुरक्षा और सौन्दर्य वृद्धि के दोनों ही कार्य करता है। उसकी रंजक कोशिकाऐं 'नेलानिक' रसायन उत्पन्न करती हैं। यही चमड़ी को गोरे, काले, पीले आदि रगों से रंगता रहता है।

शरीर पूरा जादू घर है। उसकी कोशिकाऐं, तन्तुजाल किस प्रकार जीवन-मरण की गुत्थियाँ स्वयं सुलझाते हैं और समूची काया को समर्थ बनाए रहने में योगदान करते हैं यह देखते ही बनता है। जीवन सामान्य है, पर उसे सुनियोजित एवं सुसंचालित रखने में एक छोटा ब्रह्माण्ड ही जुटा रहता है। पिण्ड मानवी काया का नाम है, पर उसके भीतर चल रही विधि-व्यवस्था को ब्रह्माण्डीय क्रिया-प्रक्रिया का छोटा रूप ही कहा जा सकता है।

अन्नमय कोश जिसे स्थूल शरीर भी कहते हैं। परमेश्वर की विचित्र कारीगरी से भरा-पूरा है । उसके किसी भी अवयव पर दृष्टिपात किया जाय उसमें एक से एक बढ़ी-चढ़ी अपने-अपने ढंग की विलक्षणताऐं प्रतीत होंगी। सामान्यतया इसे खाने-सोने में ही खपा दिया जाता है। पर यदि इस सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ अनुदान के सदुपयोग की बात सोची जाय, उसकी प्रसुप्त क्षमताओं को जागृत किया जाय तो इतना कुछ कर गुजरना सम्भव हो सकता है जिससे मनुष्य जन्म को सच्चे अर्थों में सार्थक हुआ कहा जा सके ।

जीव सत्ता की प्रचण्ड शक्ति-सामर्थ्य

मनुष्य गया-गुजरा उस स्थिति में-जब अपनी सामर्थ्य को पहचानने और उसका उपयोग करने में उपेक्षा बरते। महान् और असाधारण उस स्थिति में- जब वह अपनी गरिमा को समझे और असीम क्षमता पर विश्वास करे। साधारणतया यह आत्म-विश्वास की कमी ही वह कठिनाई है जिसके कारण हेय स्थिति में रहना पड़ता है।

मनुष्य की क्षमता का एक छोटा उदाहरण उसकी आरम्भिक स्थिति 'भ्रूणावस्था' की गतिविधियों का पर्यवेक्षण करते हुए सहज ही किया जा सकता है। अपनी सत्ता के प्रकटीकरण अवसर पर साधन रहित स्थिति में यदि इतना अधिक पुरुषार्थ किया जा सकता है। तो साधन सम्पन्न और विकसित स्थिति में अपेक्षाकृत और भी अधिक पराक्रम कर सकना सम्भव होना चाहिए। किन्तु देखा यह जाता है कि श्री गणेश का उपक्रम पीछे चल कर शिथिलता की दिशा में बढ़ने लगता है और क्रमश: ठण्डा होता चला जाता है। इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए। अन्यथा कोई कारण नहीं कि आरम्भ में जिस स्तर की सक्रियता अपनाई गई थी, उसमें शिथिलता आने लगे। यह नहीं सोचा जाना चाहिए कि आरम्भ में विशेष क्षमता होती है और वह पीछे स्वयमेव घट जाती है। बीज से अंकुर निकलते समय, अंकुर को पौधा बनते समय जो प्रगति क्रम दृष्टिगोचर होता है वह पीछे समाप्त या शिथिल कहाँ होता है ? उस विकास प्रक्रिया में क्रमश: अभिवृद्धि ही होती चलती है, फिर कोई कारण नहीं कि प्रथम चरण में मनुष्य द्वारा किया जाने वाला पुरुषार्थ आगे चलकर अधिकाधिक तीव्र न होता चले। यदि इसी क्रमिक विकास की प्रक्रिया को अपनाए रहा जाय, उसमें शिथिलता न आने दी जाय तो मनुष्य देव या दैत्य स्तर के बढ़े-चढ़े काम करता रह सकता है।

पिता के शरीर से निकला हुआ शुक्राणु इतना छोटा होता है कि आलपिन की नोंक पर उसके हजारों भाई बैठ सकते हैं। उसे बिना शक्तिशाली सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र के

खुली आँखों से तो देखा तक नहीं जा सकता। रतिक्रिया से जो मन्थन क्रिया होती है। उससे यौन संस्थान में तीव्र विद्युत् स्पन्दन उठने आरम्भ हो जाते हैं। उन्हीं की उत्तेजना से वह शान्त पड़ा जीव उत्तेजित हो उठता है और अपनी स्वतन्त्र सत्ता का निर्माण करने के लिए सहयोगी की तलाश में द्रुतगति से परिभ्रमण करता है। उस समय उसके हाथ, पैर, आँख आदि कुछ नहीं होते, तो भी अपनी आन्तरिक आकांक्षा से प्रेरित होकर अभीष्ट साथी को खोजने के लिए इसी तेजी से दौड़ता है कि हिरन, चीते की दौड़ से भी उसका अनुपात बढ़ा-चढ़ा रहता है।

शुक्राणु को डिम्बाणु तक पहुँचने में अपने आकार और स्थान की दूरी के अनुपात से उतनी लम्बी यात्रा करनी पड़ती है जितनी कि उसे मनुष्य के बराबर आकार का होने पर पूरी पृथ्वी की दूरी नापनी पड़ती। इस यात्रा पर स्खलन के समय लाखों शुक्राणु अभीष्ट मनोरथ की पूर्ति के लिए निकलते हैं। इसे डर्वी की घुड़ दौड़ के समतुल्य प्रतिस्पर्धा माना जा सकता है। प्रकृति संबल को सफलता देने की नीति अपनाती है। जो उस लम्बी और कष्ट साध्य यात्रा में अन्त तक प्रबल पुरुषार्थ नहीं कर पाते, बीच में ही थक कर बैठ जाते हैं, वे दम तोड़ देते हैं। जो अणु प्राणपण का साहस करता है वही सफल होता है और भ्रूण बनने का- प्रगति पथ पर अग्रसर होने का- श्रेय प्राप्त करता है।

शुक्र और डिम्ब का मिलकर बना हुआ 'कलल' बिजली की नेगेटिव और पॉजिटिव दो-दो धाराओं के सम्मिलिन से उत्पन्न शक्ति प्रवाह की तरह सक्रिय हो उठता है। गंगा यमुना का यह मिलना तीर्थराज संगम बनता है। सहयोग और सहकारिता का मैत्री और साधन आत्मीयता का जीवन के पहले ही दिन जो पाठ पढ़ा जाता है। उसका सत्परिणाम तत्काल देखने को मिलता है। यह सहकारिता यदि आगे भी जारी रखी गई होती, उसका महत्त्व भुला न दिया गया होता तो मनुष्य प्रगति करते-करते न जाने कहाँ से कहाँ जा पहुँचा होता।

भ्रूण कलल आरम्भ में बाल की नोंक की बराबर होता है किन्तु वह एक महीने के भीतर ही इतनी प्रगति करता है कि आकार में ५० गुना और वजन में ८००० गुना बढ़ जाता है। जो पहले दिन चिपचिपे जल बिन्दु के अतिरिक्त और कुछ नहीं था, वही एक महीने में चौथाई इंच का बुलबुला बन जाता है। उसे परीक्षण, विश्लेषण की मेज पर रखा जाय तो स्थिति को देखकर आश्चर्य चकित रह जाना पड़ेगा। उसके शिर और धड़ को देखा जा सकता है। पैर पूँछ की तरह होते हैं। हाथ तो स्पष्ट नहीं होते पर हृदय धड़कता हुआ और नसों में रक्त चक्कर लगाता हुआ देखा जा सकता है। जीव की सृजनात्मक गति का यह अद्भुत परिचय है। निर्माण का संकल्प जब कार्य रूप में परिणत होने के लिए आतुर हो उठे तो सहयोग, साधन और परिस्थितियाँ किस प्रकार अनुकूल होती चली जाती हैं। इसका यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। एक महीने मात्र स्वल्प समय में किया गया कायनिर्माण का कार्य कितनी प्रगति कर लेता है। इसे देखते हुए जीव की अद्भुत सृजनात्मक शक्ति पर सन्देह करने का कोई कारण शेष नहीं रहता है।

माता के शरीर में असीम मात्रा में पोषक पदार्थ भरे रहते हैं। उसे इच्छानुसार मात्रा में प्राप्त करने में भ्रूण पर कोई रोकथाम नहीं होती, पर वह सही विकास के सिद्धान्त को समझता है कि निर्वाह मात्र के लिए न्यूनतम लिया जाय अन्यथा अनावश्यक संग्रह उसके लिए अन्ततः भार बनेगा और विपत्ति उत्पन्न करेगा। 'तएनत्यक्ते भुंजीथा' का पाठ प्रत्एक प्रगतिशील को पढ़ना पढ़ा है। भ्रूण भी उस सनातन सिद्धान्त से अपरिचित नहीं होता। उसे अपने शरीर के चारों ओर एक परत चढ़ानी पड़ती है। जो गर्भाशय में उपलब्ध सामग्री में से छना हुआ, उपयुक्त पोषक पदार्थ ही भ्रूण तक जाने देती है। इसे संयम और मर्यादा का आवरण कह सकते हैं। शरीरशास्त्र की दृष्टि से इस झिल्ली को 'ट्रोफोब्लास्ट' कहते हैं। सम्पत्ति के समुद्र में से मात्र उपयुक्त निर्वाह स्वीकार करने की व्यवस्था यह झिल्ली ही बनाती है। ऑक्सीजन और रसायन मिश्रित भ्रूण का उपयोगी आहार उसके शरीर में इसी झिल्ली द्वारा छन कर भीतर पहुँचता है। बात इतने से ही समाप्त नहीं होती। भ्रूण के शरीर से मल भी बनता है। उसे बाहर निकालना आवश्यक है। यह झिल्ली ही उस मल को बाहर लाती है और माता के रक्त में धकेल देती है। उसकी सफाई माता के रक्त को अपनी निज की सफाई के साथ-साथ ही करनी पड़ती है। उपलब्धि की तरह परित्याग का सिद्धान्त अपनाया जाना कितना आवश्यक है। इसे हृदयंगम करने पर ही भ्रूण कलल की सुरक्षा और अभिवृद्धि सम्भव होती है। हम तथाकथित 'बुद्धिमान' लोग दोनों हाथों से अनावश्यक संग्रह में जुटते हैं और स्वेच्छा परित्याग के लिए कृपणता

वश साहस ही नहीं जुटाते। फलतः उस भार संग्रह की विषाक्तता जीवन की नाव को बीच मझदार में डुबो देने का कारण बनती है।

अनुदानों के लिए लालायित रहने वाले लोग सोचते हैं कि दूसरों के अनुग्रह से मिली सामग्री से ही काम चल सकता है। पर यह कुकल्पना सर्वथा निरर्थक ही सिद्ध होती है। लोग सम्भवतः यही मानते हैं कि माता का रक्त ही भ्रूण की नसों में घूमता है किन्तु वास्तविकता वैसी है नहीं। बच्चे का अपना स्वतन्त्र रक्त होता है। यह बात अलग है कि उसके निर्माण की साधन सामग्री माता के शरीर से उपलब्ध होती है।

दूसरे महीने में भ्रूण के ऊपर एक रक्षा कवच-जलीय जाकिट के रूप में धारण कर लेता है। वह जानता है कि हर समर्थ को सुरक्षा संग्राम में उतरना पड़ता है। जीवन एक खुला संघर्ष है। जो इस रण क्षेत्र में उतरने से डरता है- सुविधाओं की वर्षा होते रहने के सपने देखता है, वह पाता कुछ नहीं खोता बहुत है। संकटों से जूझने में जितने मरते हैं उसकी तुलना में उनसे डरने के कारण, बेमौत मरने वाले कायरों की संख्या कहीं अधिक होती है। भ्रूण की शरीर सम्पदा बढ़ती है साथ ही खतरा बढ़ता है। बाल की नोंक या चना, मटर जितने शरीर को पेट में कुछ विशेष खतरा नहीं था, पर जब आकार बढ़ेगा तो खतरे की आशंका भी रहेगी ही। बच्चे के बढ़े हुए शरीर पर माता के पेट का दबाव बढ़ता है। साथ ही उसके चलने-फिरने, उलटने-पलटने की क्रिया भी भ्रूण को प्रभावित करता है। ऐसी दशा में यह सुरक्षा-कवच आवश्यक है। सुरक्षात्मक जीवन संघर्ष के क्षेत्र में भ्रूण को कवच धारण करके उतरना पड़ता है और उसकी आवश्यकता मृत्यु पर्यन्त बनी ही रहती है। स्वावलम्बन की सतर्कता पूर्वक आत्म-रक्षा की प्रगति के लिए अपने पैरों खड़े होने की जो शिक्षा प्रथम मास के कार्य-काल में कार्यान्वित की गई थी, उसे यदि भविष्य में भी अपनाए रहा जा सके तो प्रगति की असीम सम्भावनाऐं मूर्तिमान होती चलती हैं।

एक महीने का भ्रूण एक इंच के दशवे भाग की बराबर लम्बा होता है। तभी से उसके हृदय, मस्तिष्क, फेंफड़े और आंतें बनना शुरू हो जाती हैं। गुर्दे बनाने में तो जीव को भारी उखाड़-पछाड़ करनी पड़ती है। आरम्भिक गुर्दा मछली के गुर्दे से मिलता जुलता होता है। पीछे वह मेंढक जैसा बनता है। फिर उसकी आकृति छोटे पशुओं के समतुल्य होती है। सम्भवतः यह विकास परम्परा का क्रम है। शरीर की मूल-सत्ता आदिम स्मृतियों को धारण किए रहती है और अपना काम वहीं से आरम्भ करती है। किन्तु विकसित जीव उससे अपना काम चलता नहीं देखता। फलतः वह अपनी मर्जी के गठन में जुटता है। गुर्दों के परिवर्तन में देखी जाने वाली प्रवृत्ति यदि आगे भी चलती रहे तो पशु-प्रवृत्तियों से लड़-झगड़कर उन्हें खदेड़ देना और आत्म-गौरव के अनुरूप उच्चस्तरीय प्रकृति ढाल लेना और प्रवृत्ति अपना लेना कुछ भी कठिन न रह जाएगा।

पहले महीने में भ्रूण की जो स्थिति होती है। दूसरे महीने में उसका क्रम बढ़ता ही चला जाता है। पहले महीने की तुलना में उसकी लम्बाई छः गुनी और वजन ५०० गुना बढ़ता है। ज्ञानेन्द्रियों के निशान-रीढ़ की हड्डी-अस्थियों का ढाँचा- तन्त्रिकाओं का जाल- इसी अवधि में विनिर्मित होने आरम्भ हो जाते हैं।

तीसरे महीने में यों शरीर के अन्य अवयव भी स्पन्दन, ऐंठन और हलचल करते देखे जाते हैं, पर सबसे अधिक उथल-पुथल आँतों में होती है। वे होतीं तो अनगढ़ रस्सी की तरह हैं, पर उनकी मन्थन क्रिया देखते ही बनती है। पूर्ण मनुष्य की आँतें जितना जिस गति से काम करती हैं, उसकी तुलना में भ्रूण की आँतें प्रायः हजार गुना अधिक पुरुषार्थ कर रही होती हैं। जीव चेतना की मूलभूत क्षमता का यही प्रारम्भिक परिचय है। इससे उसकी तात्विक सामर्थ्य का पता चलता है। यदि इसे कुंठित न किया जाय तो पेट की पाचन शक्ति अद्भुत स्तर तक अपनी क्रियाशीलता का परिचय देती रह सकती है।

शरीर में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अवयव दो हैं एक मस्तिष्क दूसरा हृदय। तीसरे महीने इनका विकास आरम्भ हो जाता है। बुद्धि और भावना की दो क्षमताऐं ही ऐसी हैं जो मनुष्य को अभीष्ट गति और उपयुक्त दिशा देती हैं। विकास साधनों के आधार पर नहीं, इन्हीं दो अवयवों, दो विभूतियों के आधार पर होता है। सफलताऐं और उपलब्धियाँ तो इन दो तत्वों की प्रतिक्रिया मात्र हैं। गर्भस्थ शिशु इन्हें विकसित करने की आवश्यकता समझता है और किसी योग्य हो सकने की स्थिति में आने के लिए दो महीने की अवधि पूरी होते ही वह इन दो अति महत्त्वपूर्ण केन्द्रों के विकसित करने में जुट जाता है।

उन दिनों इन पर जितना श्रम होता है उतना ही यदि जन्मकाल के उपरान्त भी किया जा सके तो मनुष्य की ज्ञानसम्पदा और भावविभूति की चरम उन्नति हो सकती है। ऐसा मनुष्य देवात्मा स्तर का आलोकमय जीवनयापन कर सकता है।

लिंग भेद की पृथकता तीसरे महीने से प्रारम्भ होती है। उससे पूर्व भ्रूण में उभय-लिंगी लक्षण होते हैं। दोनों में से जीव किसका चुनाव करता है यह उसकी अपनी चेतनात्मक प्रकृति पर निर्भर है। जीव की पसन्दगी के आधार पर ही उसका प्रिय एवं अभ्यस्त लिंग विकसित होने लगता है। प्रकृति ने दोनों ही अनुदान उसके सामने खुले रखे हैं। जिसे भी जीव चुनना चाहे स्वेच्छापूर्वक उनमें से एक को स्वीकार और दूसरे को अस्वीकार कर सकता है।

जन्म लेते ही बालक जीवन संघर्ष के लिए भयंकर मल्ल युद्ध आरम्भ करता है। भीतर और बाहर की परिस्थितियों में भारी अन्तर होता है। उदर के सुरक्षित दुर्ग में उसे बाहरी खतरों का सामना नहीं करना पड़ता था। पर बाहर तो ऋतु प्रभाव से लेकर घातक विकरणों से भरा हुआ नया एवं अपरिचित संसार होता है। आहार, विश्राम, मलत्याग आदि का सर्वथा नई परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। इस परिविर्तन को ऐसा ही माना जा सकता है जैसे एक लोक के प्राणी को दूसरे लोक में बसने के समय हो सकता है। स्थिति का सामना करने के लिए बहुमुखी समर्थता चाहिए। यह अनुदान कोई और नहीं दे सकता। जीव को अपने ही बलबूते उपार्जित करना पड़ता है जन्म लेते ही वह अपने शरीर को नई परिस्थितियों से टक्कर लेने योग्य बनाने के लिए प्रचण्ड प्रयास करता है। इसको जन्म काल में बालक की विचित्र गतिविधियों के रूप में देखा जा सकता है। नव जात शिशु जन्म लेते ही हाँफता है, काँपता है, चिल्लता है, हाथ-पैर पीटता है, यह सब क्या है ? इसे उसका सामर्थ्य सम्पादन प्रयत्न ही कहा जा सकता है। गर्भ रज्जु कटते ही उसे स्वावलम्बन का उत्तरदायित्व सम्भालना पड़ता है। तब माता उसके विकास में सीमित सहायोग ही दे पाती है। इस संसार का यही नियम है कि जीव को अपने बलबूते निर्वाह और प्रगति के साधन जुटाने पड़ते हैं। सहयोग तो आदान-प्रदान के सिद्धान्त पर ही टिकता है। उदर अनुदान तो क्रमश: घटते ही जाते हैं ? माता की सहायता गर्भकाल जितनी कहाँ मिलती है। उसका अनुपात क्रमश: घटता ही जाता है। बालक इस कमी को अपनी स्वावलम्बी प्रयासों से पूरी करता है।

पेट से बाहर आने में कष्ट तो माता को होता है, पर उसके बाहर आने प्रक्रिया में प्रबल चेष्टा और अदम्य आकांक्षा शिशु की ही काम कर रही होती है। गर्भस्थ शिशु अतिशय दुर्बल हो तो वह माता की कितनी ही इच्छा होने पर भी बाहर न आ सकेगा। उसे माता का पेट चीर कर ही बाहर निकालना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि जन्मने के तुरन्त बाद बालक रोय, चिल्लाए नहीं, हाथ-पैर न पीटे तो उसका जीवित रहना कठिन हो जाएगा। ऐसी स्थिति होने पर चतुर दाइयाँ ठण्डे पानी के छींटे देकर या दूसरे कृत्रिम उपायों से बच्चे को रोने, चिल्लाने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। कहावत है कि बिना रोए माता दूध नहीं पिलाती हैं। प्रकृति भी समर्थता का उपहार बालक को तभी देती है जब वह इसके लिए भारी उत्कंठा प्रकट करे। रोने चिल्लाने में इसी माँग की प्रचण्डता का आभास मिलता है।

जीव को जन्म लेने के उपरान्त नए लोक में पहुँच कर नए उत्तरदायित्व सम्भालने, नए लोगों के साथ तालमेल बिठाने, नई परिस्थितियों को समझने, नए साधन उपयोग करने की तरह हर स्तर की नवीनता से परिचित ही नहीं अभ्यस्त भी होना पड़ता है। इसके लिए क्या कुछ सीखना और क्या कुछ करना पड़ता है इसकी कल्पना तक इस समय तो अपने लिए कठिन ही है।

जीव को प्रसुप्ति से जागृति में आने और तज्जनित परिस्थितियों का सामना करने में कितने प्रबल पुरुषार्थ और कितने अधिक सामर्थ्य की आवश्यकता पड़ती है इसे देखकर उसकी मौलिक गरिमा का अनुमान लगाया जा सकता है।

आत्मा की सामर्थ्य का मूल स्रोत परमात्मा है। परमात्मा अनन्त समर्थता का पुंज है। फिर उससे अविच्छिन्न सम्बन्ध सूत्रों के साथ जुड़ा हुआ आत्मा ही क्यों किसी प्रकार अभावग्रस्त हो सकता है? अन्नमय कोश-काय-कलेवर हाड़ मांस का पिटारा नहीं है। उसके रोम-रोम में आत्म-सत्ता ओत-प्रोत है। अपने आरम्भिक दिनों में जीव अपने घरोंदे को जिस प्रबल पुरुषार्थ के सहारे विकसित करता है वह समर्थता उसमें सदैव बनी रहती है। उसे विस्मृत और उपेक्षित पड़े रहने देने से ही हमें हेय और दुर्बल स्थिति का सामना करना पड़ता है।

अन्नमय कोश की साधना से वह पथ-प्रशस्त होता है। जिससे मानवी काया में सन्निहित विशेषताओं को उभारना और उपयोग में लाना सम्भव हो सके। कहना न होगा कि यदि निष्ठापूर्वक इसके लिए प्रयास किया जाय तो कोई भी व्यक्ति उतनी प्रगति कर सकता है। जितनी कि भूतकाल में किसी ने की है। इतना ही नहीं भविष्य की सम्भावनाऐं तो भूतकाल की सफलताओं की अपेक्षा और भी अधिक बढ़ी-चढ़ी हो सकती हैं।

अन्नमय-कोश और चमत्कारी हॉर्मोन ग्रन्थियाँ

अवयवों की प्रत्यक्ष हलचलें ही शरीर विज्ञान की शोध का विषय रही हैं। अब तक जो खोजें हुई हैं उनमें वह प्रत्यक्ष ही मूलभूत आधार है। इसलिए समझा जाता है कि पंच तत्वों से बना हुआ यह ढाँचा मात्र ही शरीर है। समझा जाता है कि अन्न,जल, वायु विश्राम आदि के सहारे ही जीवन की गाड़ी चलती है। इतना होते हुए भी शरीरगत अनेक सन्दर्भ ऐसे हैं जिन पर रहस्य का पर्दा ही पड़ा हुआ है।

स्थूल शरीर पर सूक्ष्म-सत्ता का नियन्त्रण हमें इन्हीं हलचलों के पीछे झाँकता हुआ दीखता है। अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ- वंशानुक्रम प्रक्रिया-भ्रूणावस्था में जीव का अत्यन्तिक उग्र विकास क्रम, जीवकोषों की अद्‌भुत क्षमता, अचेतन मन की रहस्यमय गतिविधियाँ, भाव सम्वेदना से उत्पन्न अदम्य प्रेरणा, अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ, जीवाणुओं की स्वसंचालित जीवन-पद्धति, प्रभावशाली तेजोबलय जैसे अनेकानेक सन्दर्भ ऐसे हैं जिनका शरीर की सामान्य संरचना के साथ कोई ताल-मेल नहीं बैठता। रासायनिक पदार्थों के अपने गुण, धर्म होते हैं। सम्मिश्रण से उनमें भिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाऐं भी होती हैं, किन्तु ऐसे रहस्य उत्पन्न नहीं होते जैसे कि अनबूझ पहेलियों के रूप में सामने आते रहते हैं। इनके भौतिक समाधान अभी तक नहीं मिले हैं और न भविष्य में मिलने की सम्भावना है। इनके कारण हमें सूक्ष्म शरीर में ही खोजने होंगे।

अन्नमय कोश का वर्णन अपेक्षाकृत सूक्ष्म संस्थानों के अन्तर्गत आता है। इसमें रासायनिक हलचलों की उत्पन्न क्रिया-प्रक्रिया स्थूल शरीर के क्षेत्र में आती है। शरीर-शास्त्रियों की खोज-बीन यहीं तक सीमित है। स्वास्थ्य सम्बर्धन के लिए चिकित्सा उपचार के लिए जो क्रिया-कलाप चलते हैं उन्हें भौतिक क्षेत्र की मर्यादा माना गया है। ऐसे अद्‌भुत रहस्य जिनका ताल-मेल रासायनिक हलचलों से नहीं बैठता, उन्हें सूक्ष्म शरीर की शक्ति सत्ता का प्रभाव कहा जा सकता है। यह क्षेत्र अत्यन्त सुविस्तृत है। उसका थोड़ा-सा परिचय जिन प्रत्यक्ष प्रमाणों के आधार पर प्राप्त हो सकता है, उनमें अन्तः स्रावी हॉर्मोन ग्रन्थियों की भी गणना की जा सकती है। उनसे निकलने वाले राई-रत्ती स्राव शरीर में कितनी अद्‌भुत गतिविधियाँ सम्पन्न करते हैं उन्हें देखकर चकित रह जाना पड़ता है।

शरीर-विज्ञान की अन्तरंग शोधों से यह स्पष्ट हो गया है कि हृदय, आमाशय, आँख, कान, त्वचा आदि तो यन्त्र हैं। इन यन्त्रों के संचालक सूक्ष्म, अवयव अन्य ही होते हैं और उन संचालक तत्वों या अवयवों के स्वरूप पर ही हमारे स्वास्थ्य का बहुत कुछ आधार निर्भर रहता है। इन सूक्ष्म अवयवों में हॉर्मोन का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उनकी सक्रियता-निष्क्रियता का हमारी शारीरिक एवं मानसिक स्थितियों पर भारी प्रभाव पड़ता है। शरीर की आकृति कैसी भी हो, उसकी प्रकृति का निर्माण तो मुख्यतः इन हॉर्मोन रसों से ही प्रभावित होता है। यद्यपि आकृति पर भी इन जीवन रस-स्रावों का प्रभाव पड़ता ही है। कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि विशेष मनःस्थिति के कारण किन्हीं युवतियों का रूप लावण्य तब तक बना रहा, जिस आयु में सामान्य रूप से शरीर पर वृद्धता के चिन्ह उभर आते हैं। उनके बने रहने का रहस्य-सूत्र भी निश्चय ही इन हॉर्मोन-स्रावों में छिपा हुआ माना जाता है। यद्यपि औषधि विद्या और शल्य-प्रक्रिया की पहुँच अभी वहाँ तक नहीं हो पाई है, पर उनके स्वरूप की कुछ-कुछ जानकारी तो आधुनिक शरीरशास्त्र को हो ही गई है।

हॉर्मोन स्रावों के विशेष अनुसन्धानकर्ता डा० क्रूक शेक ने इन स्रावों की आधार ग्रन्थियों को 'जादुई ग्रन्थियाँ' कहा है और बताया है कि व्यक्ति की वास्तविक स्थिति को जानने के लिए इन स्रावों के सन्तुलन और क्रिया-कलाप का परीक्षण करके ही यह जाना जा सकता है कि उसका स्तर एवं व्यक्तित्व सचमुच क्या है ? हॉर्मोन वे रासायनिक तत्व या रहस्यमय जीवन रस हैं, जो अन्तःस्रावीं ग्रन्थियों द्वारा स्रवित होते हैं।

ग्रंथियाँ दो प्रकार की होती हैं-(१) बहिर्स्रावी ग्रन्थियाँ या प्रणाली युक्त ग्रन्थियाँ (डक्ट या एक्सटेरो ग्लैण्ड्स) (२) अन्तः स्रावी या प्रणाली विहीन ग्रन्थियाँ (इण्डोक्राइन या डक्टलैस ग्लैण्ड्स)

(१) बहिर्स्रावी ग्रन्थियाँ- इन ग्रन्थियों में प्रत्एक के साथ एक नलिका मिली होती है। नलिका द्वारा ग्रंथियों का रसस्राव शरीर के रक्त-प्रवाह में न मिलकर शरीर की ऊपरी सतह पर चला जाता है। इन रसों के द्वारा शरीर की अनेक जरूरतें पूरी की जाती हैं। प्रमुख बहिर्स्रावी ग्रन्थियाँ तीन हैं- (१) अश्रु ग्रन्थियाँ (टियर ग्लैण्ड्स) (२) प्रस्वेद ग्रन्थियाँ (स्वीट ग्लैण्ड्स) (३) लार ग्रन्थियाँ (सेलिइवरी ग्लैण्ड्स)।

(२) अन्त: स्रावी ग्रन्थियाँ- इन दोनों क्रोमोसोम्स तथा वंशानुक्रम की चर्चाएिं बहुत व्यापक रूप से उठा करती हैं। इन प्रक्रियाओं के मूल में अन्त: स्रावी ग्रन्थियों के स्राव कुछ विशिष्ट हॉर्मोन्सि ही हैं। अब तक की शोधों के आधार पर अन्त:स्रावी ग्रन्थियों के ८ केन्द्र माने जाते हैं। यह शरीर के विभिन्न अगों में अवस्थित हैं। जैसे- सिर में (१) पीनियलबॉडी (२) पिट्यूटरी ग्लैण्ड हैं गले में (३) पैराथाइराइड और (४) थाइराइड ग्लैण्ड होते हैं वक्षस्थल के ऊपरी भाग में (५) थाइराइड ग्लैण्ड स्थित हैं। उदर प्रदेश में (६) एड्रीनल ग्लैण्ड्स और (७) पैक्रियाज ग्रन्थियाँ हैं पेडू क्षेत्र में (८) गोनड्स ग्रन्थियों का स्थान है।

इन ग्रन्थियों की अद्‌भुत क्षमता के सम्बन्ध में अभी वैज्ञानिकों को पूरी जानकारी नहीं है। उनके बारे में सांकेतिक जानकारी ही प्राप्त हो सकी है। फिर भी यह विश्वास किया जाता है कि यदि इनके प्रभाव को जाना और नियन्त्रित किया जा सके तो मनुष्य अपने अन्दर आश्चर्यजनक परिवर्तन ला सकता है। इन सभी ग्रन्थियों की सामान्य जानकारियाँ निम्नानुसार हैं-

(१) पीनियल बॉडी और (२) पिट्यूटरी ग्रंन्थि- ए दोनों मिलकर जिस चेतन-पक्ष का निर्माण करते हैं, उसे ही आज्ञा-चक्र कहा जाता है।

मस्तिष्क के मध्य में स्थिति, पिन की नोंक के बराबर पीनियल ग्रन्थि मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास से सम्बन्धित है। सुविस्तृत स्थूल तथा सूक्ष्म जगत की विभिन्न हलचलों के साथ सम्पर्क का माध्यम यही केन्द्र बनता है। प्रेतात्माओं और देवदूतों के साथ सम्बन्ध बनाने का केन्द्र यही है। ईथरीय प्रकाश को उत्पन्न करने तथा ग्रहण करने का कार्य यहीं से होता है।

पिट्यूटरी ग्रन्थि 'मास्टर' ग्रन्थि है। यह सभी अन्त:स्रावी ग्रन्थियों की नियन्त्रक है। यह खोपड़ी के आधार में- मस्तिष्क के नीचे एक छोटे-से गड्ढे में स्थित है। यह एक छोटी-सी नलिका द्वारा मस्तिष्क से जुड़ती है। यह आकार में छोटी, पर प्रभाव में बहुत प्रखर है। इसमें अधिक स्राव होने लगे तो मनुष्य असाधारण रूप से लम्बे और बेडोल हो जाते हैं, कम हुआ तो बौने रह जाते हैं। बुद्धि की तीव्रता, प्रेम सम्बन्ध, उत्साह आत्म-नियन्त्रण उसका मुख्य कार्य है। पुरुषत्व और नारीत्व का दिशा- परिवर्तन यहीं से होता है। यौवन के उतार-चढाव तथा प्रजनन सम्बन्धी गतिविधियों का सम्पर्क इसी केन्द्र से है। शक्कर, चर्बी, स्टार्च, पानी आदि की ठीक मात्रा शरीर में बनाए रहना इसी का काम है।

(३) पैराथाइराइड- गेहूँ के दाने के बराबर की पैराथइराइड्स का स्नायु-संस्थान से निकट सम्बन्ध है। ए चार के समूह में होती हैं। इनका स्थान थाइराइड ग्रन्थि के पीछे है। ए चारों वस्तुत: लघु ग्रन्थियों के दो युग्म हैं। इनसे स्रावित पैराथोरमोन नामक हॉर्मोन तन्त्रिका क्रिया में कैल्शियम और फॉस्फोरस की मात्रा को नियन्त्रित करता है। हड्डियों को मजबूत बनाता है। यदि इनके स्राव बढ़ जायें, तो हड्डियाँ बलुई हो जाएंगी और तनिक से आघात से टूटने या मुड़ने का खतरा बना रहेगा। गुर्दे की पथरी भी इसी गड़बड़ी से उत्पन्न होती है। स्त्रियों के प्रजनन केन्द्रों की हड्डियाँ गड़बड़ा जाने से वे बिना ऑपरेशन के बच्चा नहीं जन पाती हैं।

इसमें अवांछनीयता से जूझने का साहस भरा रहता है। टूटी हुई कोशिकाओं का पुनर्निर्माण, स्नायु तन्त्रों का गठन, स्फूर्ति, रोग-निरोधी क्षमता का भण्डार इसी केन्द्र में भरा है।

(४) थायरॉइड- यह गलग्रन्थि स्वांस नली के चतुर्दिक स्थित होती है। इससे थायरॉक्सिन नामक हॉर्मोन निकलता है। यह थायरोक्सिन उस सामान्य गति को नियन्त्रित करता है, जिससे शरीर में ऊर्जा उत्पन्न होती है थायरॉक्सिन की मात्रा कम रह गई तो ऊर्जा धीरे-धीरे पैदा होती है, भले ही शरीर में खाद्य-सामग्री पर्याप्त भरी हो। ऐसी स्थिति में व्यक्ति आलसी हो जाता है। यदि थायरॉक्सिन अधिक हो जाए, तो क्रियाशीलता बहुत बढ़ जाती है। उस स्थिति में व्यक्ति अधीर, अशान्त, उत्तेजित, बकवादी हो सकला है। इस प्रकार आलस्य और उत्साह के लिए यही केन्द्र जिम्मेदार है। प्रतिभाशाली, विकासोन्मुख व्यक्तियों को वैसा अवसर थायरॉइड की सुव्यवस्था से ही प्रदान किया होता है।

(५) थाइमस- ए वक्षस्थल के ऊपरी भाग में होती हैं। गर्भस्थ स्थिति में विकास करने की क्षमता इसी में भरी है। यदि यह ग्रन्थि अविकसित रहे तो भ्रूण, स्वस्थ्य माता से भी उचित पोषण प्राप्त न कर सकेगा। जन्म से लेकर किशोरावस्था और यौवन के द्वार तक ठीक तरह पहुँचा देने की जिम्मेदारी भी उसी को सम्भालनी पड़ती है। संक्षिप्त में इसे विकास-ग्रन्थि भी कह सकते हैं।

(६) एड्रीनल-ग्रन्थियाँ- गुर्दे के ऊपर दो हिस्सों में बंटी होती हैं। एक को कॉर्टेक्स और दूसरी को मेडुला कहते हैं। कॉर्टेक्स से दो प्रकार के स्राव निकलते हैं।

(१) ग्लूको- कार्टिकाइड (२) इलेक्ट्रो कार्टिकाइड। ग्लूकोकार्टिकाइड का कार्य शरीर में कार्बोहाइड्रेटों तथा वसा का भण्डार जमा करना है और प्रोटॉनों का सही विभाजन करना है। वही इस संचय का उपयोग संकट काल में करता है।

दूसरा स्राव- समूह-इलेक्ट्रोकार्टिकाइड भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। यह शरीर में पानी को तथा सोडियम क्लोराइड आदि रसायनों को नियन्त्रित करता है। यह रोकथाम न हो तो शरीर पाला मारे वृक्ष की तरह सूख जाएगा।

यह भावनात्मक उद्वेगों से एड्रीनल ग्रन्थियाँ असाधारण रूप से उत्तेजित हो जाती हैं और आपत्ति से लोहा ले सकने योग्य शारीरिक एवं मानसिक ऊर्जा उत्पन्न करती हैं। क्रोध, भय, हर्ष, रोमांस जैसे अवसरों पर रोमांच हो जाता है, साँस तेज हो जाती है, रक्त-प्रवाह बढ़ जाता है, पसीना छूटता है, यह सब इसी ग्रन्थि के हॉर्मोन का चमत्कार है।

(७) पेन्क्रियाज- यह ग्रन्थि आमाशय के नीचे स्थित है। इसका मुख्य कार्य भोजन पचाने के लिए पाचक रसों का उत्पादन है। भोजन पचाने के दौरान अनेक तरह के रसों की उन पर प्रतिक्रिया की जाती है। उनका सन्तुलन बिगड़ने पर पाचन संस्थान लड़खड़ा जाता है। उस स्थिति में आहार शरीर में ऊर्जा पैदा करने के लिए कोषों तक नहीं पहुँच पाता। पेन्क्रियाज की इस भूमिका के कारण इनकी गणना बहिस्स्रावी ग्रन्थियों में भी की जाती है।

पेन्क्रियाज के अन्दर ही विशेष खण्ड 'आइलेट्स आफ लैंगरहेन्स' हैं। इसमें से इन्सुलीन नामक एक विशेष हॉर्मोन पैदा होता है। शरीर के अन्दर शर्करा के अनुपात का नियन्त्रण यही रखता है। शरीर में ऊर्जा पैदा करने के लिए जितनी शर्करा खर्च होती है यदि उससे अधिक शर्करा शरीर में हो जाय तो मधुमेह(डायविटीज) रोग हो जाता है। इन्सुलीन कार्बोहाइड्रेट्स से अधिक शर्करा न बनने देने तथा अतिरिक्त शर्करा चर्बी आदि में बदल देने का कार्य करती है।

(८) गोनेड्स- ए कामवासना सम्बन्धी ग्रन्थियाँ होती हैं। इन्हें हम प्रजनन ग्रन्थियाँ भी कहते हैं। पुरुष की प्रजनन ग्रन्थियाँ शुक्र ग्रन्थियाँ या वृषण तथा स्त्रियों की प्रजनन ग्रन्थियाँ, डिम्बग्रन्थियाँ या अण्डाशय कहलाती हैं। पुरुष सेक्स हॉर्मोन्स की उत्पादिका वृषण- ग्रन्थि नर में होती है। उसी से उसका पुरुषत्व जगता है। पुरुष आकृति को नारी से भिन्न करने वाले दाढ़ी-मूँछ आदि लक्षण प्रकट होते हैं। नारी में डिम्बग्रन्थियाँ गर्भाशय के दोनों छोरों पर होती हैं। इन स्त्री-गोनड्स से अनेक स्राव निकलते हैं। जिनमें मुख्य हैं दो- (१) एस्ट्रोजेन्स, (२) प्रोजेस्ट्रोन।

शारीरिक विकास की दृष्टि से ए स्राव अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। स्त्रियोचित, कोमलता तथा गर्भ धारण की क्षमता इन्हीं स्रावों में सम्बन्धित है। लिंग परिवर्तन की जो घटनाऐं होती रहती हैं वह इसी ग्रन्थि के स्रावों की उल्टी-पुल्टी के परिणाम स्वरूप होती है।

गोनड्स (जनन ग्रन्थियाँ) जननेन्द्रिय हलचलों की क्षमता को तथा प्रजनन-शक्ति को नियन्त्रित करती है। पुरुष-यौवन और नारी-यौवन का- विशेषतया प्रजनन सम्बन्धी यौवन का इसी ग्रन्थि से सम्बन्ध रहता है। वृद्धावस्था में आमतौर से शरीर बहुत शिथिल हो जाता है और इन्द्रियाँ जबाव दे जाती हैं। फिर भी कई बार यह आश्चर्य देखा गया है कि शताधिक आयु वाले व्यक्ति भी नवयुवकों की तरह प्रजनन क्रिया सफलतापूर्वक सम्पन्न करते रहते हैं। यह गोनड्स ग्रन्थियों के सशक्त बने रहने और समुचित यौन-हॉर्मोन्स स्रावित होते रहने का ही परिणाम है।

मन: शास्त्री एडलर ने काम-प्रवृत्ति की शोध करते हुए पाया कि बाहर से अतीव सुन्दर आकर्षक और कमनीय दिखाई देने वाली अनेक महिलाऐं काम-शक्ति से सर्वथा रहित है। उनमें न तो रमणी-प्रवृत्ति थी, न नारी-सुलभ उमंग। खोज करने पर ज्ञात हुआ कि यौन-हॉर्मोन्स के स्रोत ही इन विशेषताओं के आधार हैं।

एडलर ने अपनी खोज के दौरान देखा कि कितने ही युवकों की शारीरिक स्थिति सामान्य थी, ऊपर से

उनमें मर्दानगी भरी ही दिखाई देती थी, पर थे वे वस्तुतः नपुंसक। न तो उनके मन में काम उमंग थी, न जननेन्द्रिय में उत्तेजना । कारण तलाश करने पर उनमें सेक्स-हॉर्मोनों का अभाव पाया गया। इसके विपरीत उन्हें ऐसे नर-नारी भी मिले जो अल्पवयस्क अथवा वयोवृद्ध होते हुए भी काम-पीड़ित रहते थे।

अन्तःस्रावी ग्रन्थियों और उनमें उत्पन्न हॉर्मोनों के आश्चर्यजन प्रभा के ढेरों प्रमाण अध्ययनकर्त्ताओं को मिले हैं। बीथोवेन जैसे बहरे का प्रखर संगीतज्ञ बनना, डीमास्थनीज जैसे हकलाने वाले धुरन्धर वक्ता हो सकना, डेनियलबोर्न जैसे मन्द-दृष्टि का- सुन्दर दृश्यों का अंकन करने वाला कुशल चित्रकार बन पाना इन्हीं हारमानों के स्राव की मात्रा पर निर्भर रहा है।

'एस्ट्रालॉजिकल कोरिलेशन्स विथ द डक्टलैस ग्लैण्ड्स' नामक ग्रन्थ में अन्तः ग्रन्थियों की चर्चा आन्तरिक ग्रहों के रूप में की गई हैं। जिस प्रकार सौर-मण्डल के विविध ग्रह परस्पर सन्तुलन स्थिति बनाए हैं, वैसे ही ए अन्तः स्रावी ग्रन्थियाँ शारीरिक, मानसिक सन्तुलन साधे रहती हैं।

इस तुलना-क्रम में सूर्य की पीनियलबॉडी से, चन्द्र की पिट्युटरी से, मंगल की पैराथाइराइड से, बुध की थाइराइड से, बृहस्पति की एड्रीनल से तथा शुक्र की थाइमस से तुलना की गई है। "आकल्ट एनाटामी" के लेखक ने इन ग्रन्थियों का उल्लेख "ईथर सेण्टर्स" के रूप में किया है तथा उनके उद्दीपन की अन्तर्ग्रही चेतना के साथ जोड़ा है। प्रतीत होता है कि अविज्ञात चेतना केन्द्रों से इन ग्रन्थियों के माध्यम को कुछ असाधारण अनुदान मिलता रहता है।

उपर्युक्त कथनानुसार अन्तःस्रावी ग्रन्थियों का सम्बन्ध ब्रह्माण्ड चेतना से- सूक्ष्म जगत से बनता है। वे विश्व शक्तियों के साथ आदान-प्रदान का काम करती हैं। शरीरशास्त्र के अनुसार उनका प्रभाव काय-कलेवर के अन्तर्गत शरीर और मस्तिष्क को प्रभावित करता है। इसका अर्थ हुआ कि यह ग्रन्थियाँ भीतर और बाहर दोनों ही क्षेत्रों में अपना प्रभाव छोड़ती हैं। उनका प्रभाव व्यक्तित्व की विविध-विविध क्षमताऐं उभारने में असाधारण रूप से होता है। यदि इन ग्रन्थियों को नियन्त्रण से बाहर माना जाता है और समझा जाता है कि इनकी प्रकृति एवम् क्रिया-पद्धति बदलना अपने हाथ की बात नहीं है। किन्तु ऐसा है नहीं। सूक्ष्म शरीर का प्रभावित करने वाले साधनात्मक प्रयत्नों से इन ग्रन्थियों की स्थिति बदली जा सकती है और अनावश्यक हॉर्मोनों का उत्पादन घटाकर जो उपयोगी हैं उन्हें बढ़ाया जा सकता है। अन्नमय कोश में इन ग्रन्थियों के नियन्त्रण सूत्र माने गए हैं।

हमारे शरीर के रहस्यमय घटक जीन्स

अन्नमय कोश की- दृश्यमान शरीर की- स्थूल संरचना तो अन्य प्राणियों जैसी ही है पर उसके अन्तराल में प्रवेश करने पर पता चलता है कि पग-पग पर उसमें विलक्षणताऐं भरी पड़ी हैं। इनके स्वरूप और उपयोग को जाना जा सके तो तिलस्म के वे पर्दे उठ सकते हैं जिनके भीतर रहस्यमय सिद्धियों के अनन्त भाण्डागार भरे पड़े हैं। काय-कलेवर में प्रजनन क्षमता की सूत्रधार अत्यन्त छोटी इकाई है- जीन्स। यह आँख से दृष्टिगोचर न होने वाले शुक्राणुओं और डम्बाणुओं के अन्तराल में रहने वाले अत्यन्त ही क्षुद्र घटक हैं। इतने पर भी उसकी क्षमता देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। यह नहीं सोचना चाहिए कि हॉर्मोन या जीन्स ही रहस्यमयी क्षमताओं से सुसम्पन्न हैं। सच तो यह है कि पूरी काया ही तिलस्मी रहस्यों से भरी पूरी है। दुर्भाग्य यही है कि हम न तो उसकी सामर्थ्य को समझ पाते हैं और न उसके सदुपयोग का ही साहस जुटाते हैं।

हम जानते है कि हमारी काया का स्थूल भाग अन्नमय कोश छोटी-छोटी कोशिकाओं (सैल्स) से बना है। इन कोशिकाओं के अन्दर एक द्रव 'साइटोप्लाज्म' (बसामय पीला सा द्रव) पदार्थ भरा रहता है । इसके बीच में अवस्थित होता है, कोशिका का नाभिक अथवा केन्द्रक (न्यूक्लियस)। पुरुष की शुक्राणु कोशिका अथवा नारी की अण्डाणु या डिम्बाणु कोशिका के नाभिक में छोटे-छोटे धागे जैसे गुण सूत्र (क्रोमोसोम) होते हैं एक नाभिक में इनके २३ या २४ जोड़े होते हैं। इन्हीं से लाखों की संख्या में जीन्स चिपके रहते हैं। नए मनुष्य शरीर के निर्माण तथा उसमें अनुवांशिकीय गुण धर्मों का विकास इन्हीं पर निर्भर करता है।

यह जीन्स क्या हैं ? कैसे यह अपनी आश्चर्यजनक भूमिका पूरी करते हैं ? इस रहस्य पर से विज्ञान अभी पर्दा उठा नहीं सका है। उनके सम्बन्ध में बड़ी तेजी से शोध कार्य चल रहे हैं, बहुत से रहस्य खुले भी हैं, फिर भी वह नहीं के बराबर हैं।

अभी तक अध्ययन के आधार पर 'जीन्स' छोटे से विद्युन्मय पुटपाक या पुड़िया (पैकेट) हैं। माना जाता है कि इनकी रचना कई तरह के न्यूक्लियल अम्लों के संयोग से हुई है। उनमें से अभी केवल दो के बारे में जाना जा सका है। वे हैं (१) डी०एन०ए० (डी आक्सी राइबो न्यूक्लीक एसिड़) (२)आर०एन०ए० (राइबो न्यूक्लीक एसिड)।

जीन्स की संरचना के बारे में अभी तक नहीं जाना जा सका है, किन्तु यह जानकारियाँ निश्चित रूप से हो गयी हैं कि शरीर के अगं प्रत्यगं की विशिष्ट रचना में लेकर अनेक परम्परागत स्वभावों, रोगों तथा गुणों के विकास की आश्चर्यजनक क्षमता इनमें है। इनके गुणों और कार्यकलापों को कैसे नियन्त्रित किया जाय यह पता विज्ञान अभी नहीं लगा सका है, किन्तु यह माना जाने लगा है कि यदि 'जीन्स' के गुणों और कार्य प्रणाली को प्रभावित किया जा सके, तो आश्चर्यजनक उपलब्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। यह अन्नमय कोश के छोटे से घटक एक कोशिका के नाभिक में रहने वाले नगण्य अकार वाले विद्युन्मय पैकेट मनुष्य के आस पास के वातावरण से लेकर उसके विचारों और भावनात्मक विशेषताओं के संस्कार ग्रहण करने में समर्थ हैं।

मनुष्य के विकास के सम्बन्ध में भारतीय मान्यता यह रही है कि उस पर अनुवांशिकता के साथ-साथ बाह्य वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है। पहले इस मान्यता के प्रति उपेक्षा बरती जाने लगी थी।

यह स्पष्ट हो गया है कि अपने वातावरण तथा अपनी चेष्टाओं द्वारा व्यक्ति जिन स्वभाव-गुणों को अर्जित करता है, वे वंशानुक्रम से प्राप्त नहीं होते और नहीं कोई व्यक्ति उन अर्जित विशेषताओं को वंशानुक्रम द्वारा अपने बच्चों को प्रदान कर सकता है। उदाहरण के लिए यदि एक व्यक्ति ने अनेक भाषाऐं सीखी हैं, तो वह उस भाषा-ज्ञान को अपने बच्चों को वंशानुक्रम द्वारा नहीं दे सकता। बच्चों को भी भाषा-ज्ञान की प्रचलित विधियों को ही अपनाना होगा तथा मेहनत करनी पड़ेगी। वहीं दूसरी ओर यह भी स्पष्ट हो गया है कि वंशानुक्रम का निश्चित प्रभाव सन्तान पर पड़ता है। आनुवंशिक (जेनेटिक्स) का सारा ढाँचा ही इसी आधार पर खड़ा है। यह सही है कि कोई भी व्यक्ति जंगली बेर के बीज बोकर उनसे गुलाब के फूलों की आशा नहीं कर सकता। गौरैया के अण्डों को सेकर उनमें से मोर के बच्चे कौन निकाल सकता है ? लेकिन जिन पौधों के बीज बोए जाते हैं, उनसे उन्हीं जैसे पौधे आखिर क्यों उगते हैं ? चूहों से चूहा और बिल्ली से, बिल्ली ही क्यों पैदा होती है? इसका उत्तर है आनुवंशिकता अर्थात् नियमित वंश परम्परा, जिसके कारण ही ऐसा होता है। जो वस्तु जिस वंश की होगी, उसका बीज डाले जाने पर वैसा ही फल होगा। आनुवंशिकता में काम करने का ढंग भी शामिल है और चीजों का कद तथा रंग भी। उदाहरण के लिए बया पक्षी को बढ़िया लटकने वाला घोंसला बनाना किसी को सिखाना नहीं पड़ता है।

आनुवंशिकता अपने पूर्वजों से मिलने वाली विशेषताओं का ही दूसरा नाम है। वैज्ञानिक जानते हैं कि जीवों में जो विशेषताऐं होती है। वे उन्हें अपने माता-पिता से अत्यन्त सूक्ष्म कणों के रूप में मिलती हैं। इन सूक्ष्म कणों को 'जीन' कहा जाता है। हमारा शरीर बहुत सी कोशिकाओं से मिलकर बना है। 'जीन' कोशिका का ही एक भाग है। अगर किसी बट-वृक्ष की शाखा को कहीं उसके अनुकूल स्थान में ले जाकर वो दिया जाय तो वह भी मूल पेड़ की तरह ही फलने फूलने लगेंगी। उसकी कोशिकाओं के जीन अपने पहले के पेड़ की भाँति होगें। ठीक उसी तरह जिसे तरह किसी स्पज के टुकड़े में वैसे ही छिद्र होते हैं, जैसे उस स्पज में थे जिसमें से कि टुकड़े को तोड़ा गया है।

अधिकांश पौधों और जीवों की उत्पत्ति नर और मादा से होती है। कुछ 'जीन' नर से और कुछ मादा से मिलते हैं। झरबेरी झाड़ी के बीज गुलाब तो नहीं, लेकिन एक ऐसा पौधा अवश्य उगा सकते हैं, जिसमें एक की बजाय दो तरह के फूल हों। काली बिल्ली का बच्चा एकदम सफेद हो सकता है। यदि कोई पौधा या जानवर दो तरह की विशेषता के "जीन" आनुवंशिकता द्वारा प्राप्त करता है, और दोनों का प्रभाव बराबर रहता है तो दोनों के मिलने से तीसरी विशेषता उत्पन्न होती है। अगर लाल गाय और सफेद रंग का साँड़ हो तो उनका बछड़ा न तो सफेद होगा और न लाल। वह भूरा, यानी दोनों के बीच के रंग का हो सकता है। ऐसा हो जाने के नियम की वैज्ञानिक व्याख्या आनुवंशिकता के सिद्धान्त के आधार पर की जाती है। 'जीन' ही इस आनुवंशिकता के वाहक हैं और आनुवंशिकता की बुनियादी इकाई हैं। अभी तक किए गए परीक्षणों से यही जाना जा सका है कि व्यक्ति की शारीरिक विशेषताऐं जैसे रंग, रूप, नेत्र,

त्वचा, खून का प्रकार लम्बाई, ठिगनापन आदि सब ही आनुवंशिक और पित्रागत होते हैं। ए शारीरिक गुण भी मात्र माता-पिता से नहीं प्राप्त होते, वरन् वे दादा, परदादा तथा अन्य पूर्वजों से क्रमशः संक्रमित होकर आते हैं। वंशानुगत गुणों में माता-पिता का दाय प्रत्एक गुण में आधा होता है। यानी माँ का एक चौथाई और पिता का एक चौथाई। उनके पूर्व के चार पितरों में प्रत्एक का दाय प्रत्एक गुण का सोलहवां भाग होता है अर्थात चारों पितरों का कुल दाय एक चौथाई भाग होता है। शेष १ चौथाई और पुरानी पीढ़ियों से आते हैं।

व्यक्ति के संस्कार तो उसके जन्म-जन्मान्तरों की संचित सम्पदाऐं और साधन हैं। किन्तु उसके उपयुक्त उपकरण- अन्नमयकोश, के निर्माण के घटक जीन्स-क्रोमोसोम्स का भी स्वरूप-निर्धारण कितनी सूक्ष्मताओं और जटिलताओं के आधार पर होता है, यह आनुवंशिकी की आधुनिक खोजों द्वारा भी स्पष्ट होता है। भारतीय मनीषी इन सूक्ष्मताओं से परिचित थे तभी वे सुसन्तति के लिए माता-पिता का चरित्रगत, तपस्वी-संयमी होना अनिवार्य बतलाते थे। इन्द्रिय लिप्साओं की रहने की खुजली को शान्त करते रहने की कुचेष्टाओं के साथ सुसन्तति की आकांक्षा करते रहना एक असम्भव कल्पना मात्र है। उसके सफल होने की कदापि कोई भी सम्भावना नहीं है। अन्नमय कोश की इन सूक्ष्मताओं से परिचित होकर, अपना जीवनक्रम उस प्रकार व्यवस्थित कर व्यक्ति न केवल सुयोग्य सन्तति के जनक- जननी बनने की क्षमता से, अपितु उन अनेक विशिष्ट क्षमताओं, विभूतियों से सम्पन्न बनता है, जिनसे मनुष्य शरीर की सार्थकता और गरिमा है। अन्नमय कोश की साधना स्वयं की इन क्षमताओं के विकास का ही नाम है।

आनुवंशिकता का प्रभाव बिल्कुल सीधा और स्थूल नहीं होता। उदाहरण के लिए किसी माता-पिता में से दोनों को या किसी एक को टी० बी० रोग (क्षयरोग) हो तो इसका. यह अर्थ कदापि नहीं कि बच्चे को जन्म से ही टी० बी० (क्षयरोग) हो, अपितु इसका सिर्फ यह अर्थ है कि बच्चे के शरीर में एकसी वृत्ति या तत्परता विद्यमान है कि क्षय रोग के कीटाणु शरीर में पहुँचते ही वहाँ जड़ पकड़ लेंगे।

इसी प्रकार मान लीजिए कि कोई बढ़ई है, जो अपने काम में बड़ा दक्ष है। यह कार्यदक्षता बच्चे में जन्मजात रूप से नहीं उत्पन्न होती। अपितु यदि बच्चे को कुशल बढ़ई बनाना है, तो उसे बढ़ईगीरी का काम सिखाना ही होगा। हाँ, उस बच्चे के हाथ ऐसे हो सकते हैं, जिनके द्वारा कि उन औजारों का अधिक अच्छा उपयोग सम्भव हो, जो बढ़ईगीरी के काम आते हैं।

इसीलिए आनुवंशिकता और पर्यावरण दोनों को समान महत्त्व दिया जाता है। आनुवंशिकता द्वारा अर्जित गुण नहीं प्राप्त होते। कुछ जन्मजात गुणों का आधार ही आनुवंशिता को माना जाता है। ए जन्मजात गुण वंशानुक्रम के लक्षण कहे जाते हैं। वंशानुक्रम के लक्षण क्रोमोसोमों के आधार पर प्राप्त होते हैं। क्रोमोसोमों में होते हैं- जीन, जो व्यक्ति के "करेक्टरिस्टिक्स" का निर्माण करते हैं।

'जीन' का व्यवहार या आचरण से सीधा सम्बन्ध नहीं होता। जीन शरीर के ऊतक तथा अंगों के विकास को निद्रेशित नियन्त्रित करते हैं। इस प्रकार वे शरीर की क्रियाशीलता को भी नियन्त्रित करते हैं। शरीर की ए क्रियाऐं स्पष्टतः व्यवहार को भी प्रभावित करती हैं और उस रूप में जीन्स का सम्बन्ध व्यवहार से भी होता है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति वंशानुक्रम से छोटी टाँगें, ठूँठदार अँगुलियाँ या बहरे कान प्राप्त करता है तो निश्चय ही कुछ क्षेत्रों में उसकी योग्यता सीमित हो जाएगी। इसी प्रकार शरीरिक क्रियाओं में भाग लेने वाले हजारों रासायनिक तत्व भी जीन्स द्वारा ही निर्धारित होते हैं। जैसे दृष्टि के लिए प्रकाशसंवेदी तत्व या कि रक्त के जमने में कई रासायनिक तत्व योग देते हैं। इन तत्वों की उपस्थिति सशक्तता या दुर्बलता का सम्बन्ध जीन्स से ही होता है। ऐसे अनेक लक्षण वंशानुक्रम से सम्बन्धित होते हैं।

वंशानुक्रम के आधारभूत घटकों, जीन्स और क्रोमोसोम्स के अध्ययनों के निष्कर्ष इस तथ्य के द्योतक हैं कि अन्नमय कोश में निर्माण का सूक्ष्म आधार कितना व्यापक और जटिल होता है। पौष्टिक भोजन मात्र से अन्नमय कोश सुदृढ़ नहीं हो जाता इसके विपरीत अन्नमय कोश की सुदृढ़ता ही भोजन के रस परिपाक का कारण व आधार बनती है। बढ़िया खाने-पहनने की चिन्ता करते रहने को ही जीवन का पुरुषार्थ मान बैठने वाले अन्नमय कोश के निर्माण के आधारों से अनभिज्ञ रहकर उसे अस्त-व्यस्त और दूषित, विकृत बनाते रहते हैं और भावी सन्ततियों को भी उस विकृति का अभिशाप दे जाते हैं।

एक जीन, युग्म शरीर के किसी विशेष 'करेक्टरिस्टिक' के विकास का निर्देश करता है। आँखें, भूरी हैं या नीली, बाल घने काले हैं या हल्के स्वर्णिम, हैं अथवा लाल, घुँघराले हैं या सीधे, सामान्य बाल हैं या गंजापन है, दृष्टि सामान्य है, या रतौंधी ज्यादा होने की सम्भावना है, श्रवण-शक्ति सामान्य है या जन्मजात बहरापन है, रक्त सामान्य है या कि "हेमोफीलिया" का दोष है, रंग-बोध स्पष्ट है या वर्णान्धता दोष है, उँगलियों या अँगूठों की संख्या सामान्य है या कम अधिक है, किसी जोड़ में कोई उँगली छोटी-बढ़ी तो नहीं है, सभी अवयव सामान्य हैं या कुछ अवयव विरूप हैं, आदि सभी शरीरिक 'करेक्टरिस्टिक्स' जीन-युग्मों पर ही निर्भर करते हैं।

फ्रान्सीसी दार्शनिक मान्टेन को ४५ वर्ष की आयु में पथरी की बीमारी हुई। उनके पिता को यह रोग २५ वर्ष की आयु में आरम्भ हुआ। जबकि मान्टेन के जन्म के समय उनके पिता सिर्फ इक्कीस वर्ष के थे। उस समय उन्हें यह रोग नहीं था। लेकिन उनके जीन्स में इस रोग के आधार विद्यमान थे। मान्टेन की पित्ताशय की पथरी की बीमारी कई पीढ़ियों से चली आ रही थी।

बालकों का 'गैलेक्टो सीमिया' रोग जीन्स से ही सम्बन्धित होता है। वह जीन, जब "यूरी डायल ट्रान्सफरे एन्जाइम नहीं बनने देता, तो बच्चे दूध में रहने वाली मिठास- गैलैक्टोस- को पचा नहीं पाते। फलत: वह खून में जमा होती रहती है और जिगर में इकट्ठी होकर बच्चे का पेट खराब कर देती है तथा मृत्यु का भी कारण बन बैठती हैं।

"एक्रोडमें टाइटिस ऐटेरीपैथिका" नामक रोग का कारण भी मुख्यत: जीन्स की विकृतियाँ ही होती हैं। आँख का केन्सर- रेटीनो ब्लास्टीमा-जीन्स दोष का ही परिणाम है। जीन्स की 'एक्रोड्रोप्लासिया' -विकृति के कारण बच्चे अविकसित रह जाते हैं। वे जल्दी मरते हैं। बच गए तो भी वंश-वृद्धि में असमर्थ होते हैं। ऐसे दोष वाली महिलाऐं गर्भवती होने पर स्वयं भी प्राण-रक्षा नहीं कर पाती, बच्चे की जान तो खतरे में होती ही है।

'राइजोबियम' नामक जीवाणु की जीन को यदि धान, गेहूँ, ज्वार, बाजरा आदि फसलों की जड़ों में पलने वाले किसी जीवाणु में प्रत्यारोपित करना सम्भव हो तो इन फसलों के लिए अधिक उर्वरक नहीं खर्च करना पड़ेगा। भारत समेत विश्व भर की आनुवंशिकी प्रयोगशालाओं में इस हेतु प्रयास हो रहा है।

स्थूल दृष्टि की उपेक्षणीय लगने वाले इस अन्नमय कोश के अति सूक्ष्म घटक 'जीन्स' के साथ मनुष्य के उत्कर्ष की कितनी धाराएं, कितनी सम्भावनाएं जुड़ी हैं, इसे देखकर इसके रचियता उस महान कलाकार की कलाकारी को शत् शत् नमन ही करते बनता है। अन्तर में बार-बार यही हूक उठती है कि क्या ही अच्छा होता कि हम इन महत् शक्तियों के जागरण और उपयोग की विधि जानपाते, सीख पाते और अपना पाते ?

अन्नमय कोश में 'जीन' प्रक्रिया का परिवर्तन

व्यक्तित्व के विकास निर्माण में आमत्तौर से वातावरण और प्रयत्न पुरुषार्थ का महत्त्व माना जाता है। यह मान्यता एक सीमा तक ही ठीक है क्योंकि एक जैसी परिस्थितियों में जन्में और पले बालक आगे चलकर भारी भिन्नतायुक्त देखे गए हैं। परिस्थितियों का उस पर यत्किंचित ही प्रभाव पड़ता है।

जीवसत्ता की रहस्यमय परतों का रहस्योद्घाटन करने के लिए हमें काय-कलेवर के गहन अन्तराल में प्रवेश करके यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि व्यक्तित्व को प्रभावित करने, दिशा देने एवं उठाने गिराने में सूक्ष्म शक्तियों का कितना बड़ा योगदान रहता है। अन्नमय कोश- स्थूल शरीर की वास्तविक स्थिति मात्र आहार बिहार पर निर्भर नहीं है, वरन् ऐसे तथ्यों पर टिकी है जिन पर मानवी बुद्धि का कोई प्रत्यक्ष नियन्त्रण नहीं है।

वंशानुक्रम विज्ञान पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि मनुष्य के शरीर, मन और व्यक्तित्व को बनाने में ऐसे कारणों का भी बहुत बड़ा हाथ होता है जो दुर्भाग्य या सौभाग्य की तरह बहुत पहले से ही पल्ले बँधे होते हैं और उनसे न पीछा छुड़ाना सम्भव होता है और परिवर्तन का पुरुषार्थ ही सफल होता है। ऐसे प्रसंगों पर अध्यात्म साधनाऐं ही एकमात्र वह उपाय है जिनके सहारे वंशानुक्रम एवं संग्रहीत संस्कारों में अभीष्ट परिवर्तन सम्भव हो सकता है। इस दृष्टि से शरीर विज्ञान एवं आरोग्य शास्त्र की अपेक्षा आध्यात्म उपचारों की सामर्थ्य बहुत बढ़ी-चढ़ी है उनके सहारे शारीरिक एवं मानसिक स्थिति का ही नहीं स्वभाव, दृष्टिकोण एवं समूचे व्यक्तित्व का ही काया कल्प हो सकता है।

भावी पीढ़ियों के निर्माण में आमतौर से पति-पत्नी की शारीरिक स्थिति की देख-भाल की जाती है और समझा जाता है कि निरोग एवं वलिष्ठ पति-पत्नी के संयोग से सुविकसित पीढ़ी बन सकती है। 'रक्त शुद्धि' मान्यता सम्भव: इसी आधार पर बनी है। मिश्र के शासक कभी इस सम्बन्ध में बहुत कठोर थे, वे मात्र अपने ही निकटवर्ती कुटुम्ब की मर्यादा में विवाह-शादी करते थे ताकि अन्य परिवारों के साथ रक्त सम्मिश्रण न हो और उनकी परम्परागत विशेषताओं में अन्तर न आए। यूरोप के राज्य परिवारों में भी इस रक्त-शुद्धि के सिद्धान्त को मान्यता मिलती रही है। हिटलर ने इस मान्यता को उन्माद की तरह उभारा था वह जर्मनों में आर्य रक्त की श्रेष्ठता बताता था और अन्यों से अपने लोगों को श्रेष्ठ मानता था। भारत में भी रोटी-बेटी व्यवहार में सम्भवत: ऐसी ही मान्यताओं का प्रभाव रहा हो।

उपर्युक्त मान्यताऐं अवैज्ञानिक और अन्ध-विश्वासों पर आधारित रही हैं। तथ्य यह है कि भिन्न रक्तों के सम्मिश्रण से नए किस्म के परिवर्तन होते हैं और उनसे नई प्रगति के आधार बनते हैं। सन्तान के व्यक्तित्व का ढाँचा बनाने में जो जीन्स काम करते हैं, वे न जाने कितनी पीढ़ियों से चले आते हैं। मातृ कुल और पितृ कुल के सूक्ष्म उत्तराधिकारों से वे बनते हैं। सम्मिश्रण की प्रक्रिया द्वारा वे परम्परागत स्थिरता भी बनाए नहीं रहते, वरन् विचित्र प्रकार से परिवर्तित होकर कुछ से कुछ बन जाते हैं। यदि पीढ़ियों को दोष-मुक्त प्रखर एवम् सुसंस्कृत बनाना है तो इस जीन प्रक्रिया को प्रभावित तथा परिवर्तित करना होगा, यह अति कठिन कार्य है। उतनी गहराई तक पहुँच सकने वाला कोई उपाय उपचार अभी तक हाथ नहीं लगा है जो इन सूक्ष्म इकाइयों के ढाँचे में सुधार या परिवर्तन प्रस्तुत कर सके।

असमर्थता देखते हुए भी यह कार्य बड़ा आवश्यक है कि जीन्स जैसी व्यक्तित्व निर्माण की कुंजी को हस्तगत किया जाय। अन्यथा परिस्थिति वातावरण, आहार -बिहार, शिक्षा परिष्कार के समस्त साधन जुटाने पर भी व्यक्तित्वों का निर्माण 'विधि-विधान' स्तर का ही बना रहेगा। इस सन्दर्भ में आशा की किरण अध्यात्म उपचार में ही खोजी जा सकती हैं। साधना प्रयत्नों से अन्नमय कोश की अन्त:प्रक्रिया में परिवर्तन लाया जा सकता है। उससे जीन्सों की स्थिति बदलने और पीढ़ियों के उज्जवल भविष्य की आशा की जाती है। इतना ही नहीं पैतृक प्रभाव के कारण वयस्क व्यक्ति का जो ढाँचा बन गया है उसमें भी सुधार परिष्कार सम्भव हो सकता है। शारीरिक काया-कल्प- मानसिक ब्रेनवाशिंग की चर्चा होती रहती है। व्यक्तित्वों के परिवर्तन में साधनात्मक प्रयोग का परिणाम और भी अधिक उत्साहवर्धक हो सकता है।

आनुवंशिकी की खोजों से स्पष्ट हो गया है कि जीन्स में मात्रा भोजन की पौष्टिकता का तो प्रभाव नगण्य ही होता है, शारीरिक सुदृढ़ता, स्फूर्ति, अभ्यास, कर्म-कौशल, व्यवहार, विकास, चरित्र का स्तर, मस्तिष्कीय क्षमताओं के विकास आदि सम्पूर्ण व्यक्तित्व का सारभूत अंश उनमें विद्यमान रहता है। शरीर की विकृतियों का भी वे कारण होते हैं, पर उससे अनेक गुना महत्त्वपूर्ण तो मन: स्थिति, बौद्धिक क्षमताऐं और चारित्रिक प्रवृत्तियाँ होती हैं। आलस्य और प्रमाद के कारण व्यक्तित्व की क्षमताऐं, प्रखरताऐं बिखरती, नष्ट होती रहीं, तो शारीरिक सुघड़ता में तो दोष आते ही हैं, व्यक्तित्व का मूलभूत स्तर घटिया होता जाता है। जिससे स्वयं का जीवन भी देवोपम विभूतियों से वंचित रहा आता है और अपनी सन्तान पर भी उसका विषाक्त प्रभाव छोड़ने का अपराधी बनना पड़ता है।

आनुवंशिकी शोधें इतना भर विश्वास दिलाती हैं कि उपयुक्त रक्त मिश्रण से नई पीढ़ी का विकास हो सकता है। आरोपण प्रत्यारोपण की सम्भावनां भी स्वीकार की गई है। वर्तमान स्थिति को बदलने के लिए नहीं भावी में सुधार होने के सम्बन्ध में ही यह आश्वासन लागू होता है। वैज्ञानिक कहते हैं-'जीन' सामान्यतया निष्क्रिय स्थिति में पड़े रहते हैं। उनकी सक्रियता नर-नारी का संगम होने के उपरान्त उभरती है। जीन का कार्य युग्म रूप में आरम्भ होता है। जिनका एक सदस्य पिता से आता है और दूसरा माता से। यह जोड़ा मिलकर नई संरचना की विधि-व्यवस्था में जुटता है। यदि दोनों पक्ष एक प्रकृति हुए तो उनका सृजन ठीक उसी रूप में होगा, किन्तु यदि भिन्नता रही तो दोनों के सम्मिश्रण का जो परिणाम होगा वह सामने आएगा। जो पक्ष प्रबल (डामिनेन्ट) होगा वह दुर्बल पक्ष-(रिसेसिव) की विशेषताओं को दबाकर अपना वर्चस्व प्रकट करेगा। फिर भी दुर्बल पक्ष की कुछ विशेषताऐं तो उस नए सम्मिश्रत सृजन में दृष्टिगोचर होती ही रहेंगी। एकरूपता मिलते चलने पर आकार भार बढ़ेगा। पानी में पानी मिलाते चलने पर

रहेगा पानी ही, उसका परिणाम भर बढ़ेगा। किन्तु दो भिन्नताऐं मिलकर आकार ही नहीं स्थिति और प्रकृति का परिवर्तन भी प्रस्तुत करेंगी। पीला और नीला रंग मिला देने पर वे दोनों ही अपना मूल स्वरूप खो बैठेगें और तीसरा नया हरा रंग बना जाएगा। जीनों की परम्परा में पाई जाने वाली विशेषताऐं तथ्य रूप तो बनी रहेगी, पर उसका प्रत्यक्ष रूप परिवर्तित दृष्टिगोचर होगा। घोड़ी और गधे के सम्मिश्रण से नई किस्म के खच्चर पैदा होते हैं। कलमी पौधों के फल-फूलों में नए किस्म की विशेषताऐं उभरती हैं।

आनुवंशिकी के आधार पर अब तक इतना ही सम्भव हो सका है कि उपयुक्त जोड़े मिलाकर भावी पीढ़ी के विकास की बात सोची जाय। उस क्षेत्र में भी यह प्रश्न बना ही हुआ है कि निर्धारित जोड़े में जो विकृतियाँ चली आ रही होंगी उनका निवारण, निष्कासन कैसे होगा? अच्छाई अच्छाई से मिलकर अच्छा परिणाम उत्पन्न कर सकती हैं तो बुराई-बुराई से मिलकर अधिक बुराई क्यों उत्पन्न न करेगीं? यदि अच्छाई-बुराई के बीच संघर्ष आरम्भ हो गया तो नई मध्यवर्ती स्थिति बन सकती है, पर प्रगति का अभीष्ट परिणाम किस प्रकार उपलब्ध हो सकेगा ?

आनुवंशिकी शोधें तथ्यों पर पड़े पर्दे का तो उद्‌घाटन करती हैं, पर अभीष्ट सुधार के लिए उपयुक्त एवं सुनिश्चित मार्ग-दर्शन करना उनके लिए भी सम्भव नहीं हो सका है। वनस्पति में प्रत्यारोपण क्रिया के उत्साहवर्धक परिणाम, सामने आए हैं। कृत्रिम गर्भाधान तथा दूसरे प्रत्यारोपणों का परिणाम भी किसी कदर अच्छा निकला है। मनुष्य की शरीर रचना में भी थोड़े हेर-फेर हुए हैं। गोरे और काले पति-पत्नी के संयोग से तीसरी आकृति बनी है। ऐंग्लोइण्डियन रेस अपने ढंग की अलग ही है। इतने पर भी मूल समस्या जहाँ की तहाँ है। जीन के साथ जुड़ी हुई पैतृत्व परम्परा में जो रोग अथवा दुःस्वभाव जुड़े रहेंगे उनको हटाना या मिटाना कैसे बन पड़ेगा ? यह तो भावी पीढ़ी के परिवर्तन में प्रस्तुत कठिनाई हुई। प्रधान बात यह है कि वर्तमान पीढ़ी को अवांछनीय उत्तराधिकार से किस प्रकार छुटकारा दिलाया जाय ? उसे असहाय स्थिति में पड़े रहने की विवशता से त्राण पाने का अवसर कैसे मिले ? इस क्षेत्र में परिवर्तन हो सकने की बात बहुत ही कठिन मालुम देती हैं।

मनुष्य के एक जीन में करोड़ों इकाइयाँ होती हैं। इन पर विषाणुओं, वायरसों की क्या प्रतिक्रिया होती हैं, प्रस्तुत शोधें इसी उपक्रम के इर्द-गिर्द घूम रही हैं। डा० हरगोबिन्द सिंह खुराना ने जिस जीन के कृत्रिम संश्लेषण में सफलता प्राप्त करके नोबुल पुरस्कार जीता था, वह मात्र १९९ इकाइयों वाला था। जिस नए जीवाणु की जीन बनाई जा सकी है उसकी १९९ इकाइयों को सही क्रम से जोड़ने में ९ वर्ष लगे हैं। यह तो एक प्रयोग भर हुआ। मनुष्य के एक जीन में पाई जाने वाली करोड़ों इकाइयों को सही क्रम से जोड़ना अतीव दुष्कर है। यहाँ एक बात और भी ध्यान रखने की है कि प्रत्एक जीवाणु कोशिका में ऐसे कई लाख जीन होते हैं। जो मानव शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों के निर्माण एवं संचालन का कार्य सम्पन्न करते हैं।

शरीर के विभिन्न अंग-प्रत्यंगों के जीन्स द्वारा निर्माण की प्रक्रिया को अनुशासित रखने का दायित्व -एन्जाइमों' का है। ए 'एन्जाइम' न्यूक्लिक अम्लों के माध्यम से- जीन्स से सम्बद्ध रहते हैं। चुम्बकत्व-शक्ति के प्रयोगों- उपचारों द्वारा इन एन्जाइमों को प्रभावित कर जीन्स के विकास-क्रम पर प्रभाव डाला जा सकता है। अभी वैज्ञानिक इस दिशा में अध्ययन कर रहे हैं।

भारत में अतीतकाल में सुसन्तति के लिए तप-साधना का विधान था, जो कि मनुष्य में अन्तर्निहित चुम्बकत्व-शक्ति का विकास-अभिवर्धन करता था। कृष्ण और रुकिमणी ने बद्रीनाथ धाम में बारह वर्ष तक तप कर अपनी चुम्बकत्व -शक्ति को अत्याधिक उत्कृष्ट बना लिया था। तभी उन्हें प्रद्युम्न के रूप में मनोवांच्छित सन्तान प्राप्त हो सकी थी।

वैज्ञानिकों का मत है कि जीन्स की विशेषताऐं विकिरणों द्वारा प्रभावित की जा सकती हैं। शरीर के भीतर रश्मियों के केन्द्रीकरण द्वारा ऐसी विकिरण-चिकित्सा व्यवस्था की जा सकती है। विद्युत्-क्षेत्र (इलेक्ट्रिक-फील्ड्स) द्वारा जीन्स की रासायनिक और विद्युतीय दोनों विशेषताओं में परिमार्जन संशोधन किए जा सकते हैं। ध्वनियों तथा अतिध्वनियों के क्षेत्र में भी खोजें चल रही हैं। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि उनके द्वारा भी जीन्स में परिवर्तन की विधि खोजी जा सकती है।

भौतिक विज्ञान से यह सम्भव हो या न हो, पर अध्यात्म विज्ञान से तो यह साध्य है ही। भारतवर्ष में साधना द्वारा शरीरस्थ जैवीय विद्युत् को प्रखर बनाकर

मन्त्रों के माध्यम से उत्पन्न अतिध्वनियों तथा यज्ञादि के विकिरण का उपयोग इस दिशा में सफलतापूर्वक किया जाता रहा है। इन्द्र को जीतने में समर्थ वृत्रासुर की उत्पत्ति तथा राजा दशरथ के यहाँ राम भरत जैसी सुसन्तति की प्राप्ति ऐसे ही प्रयोगों द्वारा सम्भव हुई थी।

अध्यात्म विज्ञान वहाँ से आरम्भ होता है जहाँ भौतिक विज्ञान की सीमाऐं प्राय: समाप्त हो जाती हैं। स्थूल की अगली सीढ़ी सूक्ष्म है। अन्त: स्रावी ग्रन्थियों से निकलने वाले विचित्र हॉर्मोन स्रावों की तरह आनुवंशिकी क्षेत्र के रहस्यमय घटक 'जीन' भी उतने ही विलक्षण हैं। इन्हें प्रभावित करने में, भौतिकी सफल न हो सके तो इसमें निराश होने की कोई बात नहीं है।सुनियोजित अध्यात्म विज्ञान के पीछे वे सम्भावनाऐं झाँकती हैं जिनसे न केवल हॉर्मोन और जीन वरन् ऐसे-ऐसे अनेकों रहस्यमय केन्द्र प्रभावित परिष्कृत किए जा सकते हैं जो सामान्य मनुष्य जीवन को असामान्य-देवोपम बना सकने में समर्थ है। अध्यात्म विज्ञान की 'अन्नमय कोश' की कक्षा-प्रयोग प्रक्रिया इसी उद्‌देश्य को पूरा करती है। उस सन्दर्भ में यदि शोध और प्रयोग के लिए आवश्यक उत्साह जुटाया जाय, तो व्यक्ति को निकृष्ट से उच्च, उच्च से उच्चतर और उच्चतर से उच्चतम बनाया जा सकना सम्भव हो सकता है।

अन्नमय कोश का परिष्कार और प्रतिफल

भारतीय दर्शन के अन्तर्गत जीवन के सर्वागींण विकास के लिए अन्नमय कोश की शुद्धि-पुष्टि और विकास को भी पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। भौतिक प्रगति हो या आध्यात्मिक लक्ष्मी की प्राप्ति-दोनों के लिए ही उसे आवश्यक और उपयोगी ठहराया गया है। योग साधनाओं में अन्नमय कोश की साधना को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है और उसके अनेक लाभों एवं सिद्धियों का भी उल्लेख मिलता है। इसके द्वारा ही योगी आरोग्य तथा शरीर संस्थान पर अद्‌भुत अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। इच्छानुसार शरीर को गर्म या ठण्डा रखना, ऋतुओं के प्रभाव से अप्रभावित रहना, शरीर की ऊर्जा पूर्ति के लिए आहार पर आश्रित न रहकर उसे सीधे प्राकृतिक स्रोतों से प्राप्त कर लेना, दीर्घ-जीवन, शरीर में वृद्धावस्था के चिन्हं न उभरना आदि सभी उपलब्धियाँ अन्नमय कोश की साधना पर निर्भर करती हैं।

यह सब उपलब्धियाँ आध्यात्मिक साधना मार्ग पर बढ़ने के लिए भी उपयोगी सिद्ध होती हैं और सांसारिक जीवनक्रम में भी इनका प्रत्यक्ष लाभ मिलता है। यह उपलब्धियाँ बड़ी आकर्षक भी लगती हैं। किन्तु योग मार्ग की यह बहुत प्रारम्भिक सीढ़ियों मात्र हैं। यह इसलिए आवश्यक है कि योग साधना के लिए आवश्यक साधनाक्रम में यह शरीर अपनी असमर्थता प्रकट करके साथ देने से कतराने न लगे। अन्नमय कोश शुद्ध और पुष्ट होने पर ही व्यक्ति सांसारिक उतार-चढ़ावों के बीच अपनी शरीर यात्रा को सन्तुलित क्रम से चलाता हुआ, अपने आत्मिक लक्ष्य की ओर अनवरत क्रम से बढ़ सकता है।

एक और सूक्ष्म पक्ष है जिसके लिए अन्नमय कोश को तैयार करना पड़ता है। आत्मिक प्रगति के क्रम में शरीर में अनेक दिव्य संवेदनाओं का संचार होता है। असंस्कारित अन्नमय कोश उसमें बाधक बन जाता है। अथवा वाँच्छित सहयोग नहीं देने पाता। इस क्रम में अनेक दिव्य क्षमताऐं उभरती हैं। उन्हें धारण करना उनके स्पन्दनों को सहन करके अपना सन्तुलन बनाए रखना भी बहुत आवश्यक है। यही सभी बातें परिष्कृत एवं विकसित क्षमता सम्पन्न अन्नमय कोश से ही सम्भव हैं।

इन सब उपलब्धियों एवं क्षमताओं का लाभ पाने के लिए अन्नमय कोश, उसके स्वरूप तथा सामान्य गुण धर्मों के बारे में भी साधक के मस्तिष्क में स्पष्ट रूप रेखा होनी चाहिए। पाचों कोशों की संगति में अन्नमय कोश की भूमिका तथा उसके महत्त्व को उचित अनुपात में समझना आवश्यक है।

हमारी सत्ता, स्थूल -सूक्ष्म अनेक स्तर के तत्वों के संयोग से बनी है। उनमें से हर एक घटक का अपना-अपना महत्त्व है। किसी एक घटक का महत्त्व बतलाने से किसी दूसरे घटक का महत्त्व कम नहीं होता, क्योंकि एक घटक दूसरे का सहयोगी पूरक तो है, किन्तु उसका स्थान वह स्वयं नहीं ले सकता। उदाहरण के लिए भवन निर्माण में प्रयुक्त सीमेंन्ट का गारा (मॉर्टर) लें। उसमें सीमेन्ट, बालू, पानी रंग आदि सभी मिलाए जाते हैं। किसी एक का भी स्तर घटिया हो तो गारा घटिया हो जाएगा। उसकी लोच, मजबूती, सुन्दरता आदि इन सभी के सन्तुलित संयोग से हैं। हमारे अस्तित्व के बारे में यही तथ्य लागू होता है। हमारे अस्तित्व के हर घटक का, हर

कोश का अपना- अपना महत्त्व है, इसीलिए उन सबकी उत्कृष्टता एवं सन्तुलन का ध्यान रखना आवश्यक है।

हमारी संरचना में एक बड़ा भाग वह है जिसका सीधा सम्बन्ध स्थूल पदार्थों-पंच भूतों से है। उसके अस्तित्व, पोषण एवं विकास के लिए स्थूल पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है। शरीर संस्थान के इसी भाग को अन्नमय कोश कहते हैं। यह अगणित छोटी-छोटी स्थूल इकाइयों से बना हुआ है। इन्हें कोशिका (सैल) कहते हैं। स्पष्ट है कि यह इकाइयाँ जिस प्रकार की, जिन गुण धर्मों से युक्त होगी, संयुक्त शरीर संस्थान में भी वही गुण धर्म प्रकट होंगे। उन मूल इकाइयों को बदले बिना बाह्य दृश्य संस्थान में इच्छित विशेषताऐं पैदा नहीं की जा सकतीं। अन्नमय कोश को आवश्यकता के अनुरूप बनाने- ढालने के लिए भी उसकी मूल इकाइयों को ध्यान में रखना होगा।

उदाहरण के लिए कोई वस्त्र लें । वस्त्र किस कोटि का है, यह इस आधार पर निर्भर करता है कि उसकी रचना में किसी प्रकार के धागों का उपयोग हुआ है। उन धागों के लिए किस प्रकार के तन्तुओं (फाइवर्स) का प्रयोग किया गया है। वस्त्र कैनवास जैसा मजबूत है, रेशम जैसा भड़कीला है, टेरेलीन जैसा लुभावना है ऊन जैसा गर्म है, मखमल जैसा आराम देह है या मलमल जैसा हलका एवं मुलायम है, यह सब विशेषताऐं उसके लिए प्रयुक्त धागों एवं उसके तन्तुओं के आधार पर टिकी रहती हैं।

इसी तरह शरीर भी अनेक प्रकार की विशेषताओं से युक्त होते हैं। बन्दर एवं हिरन जैसा फुर्तीला, सिंह एवं हाथी जैसा बलशाली, बैल एवं घोड़े जैसा परिश्रमी, गधे जैसा कठोर, हंस जैसा सौम्य, सर्प जैसा लचकदार आदि अनेक प्रकार की विशेषताएं शरीरों में पायी जाती हैं, अथवा पैदा की जा सकती हैं। यह बहुत स्थूल वर्गीकरण है। इससे थोड़े सूक्ष्म स्तर पर देखें तो, ध्रुव प्रदेश एवं हिमालय की ठण्ड को स्वाभाविक रूप से सहन कर सकने वाले शरीर, भूमध्य रेखा के निकट प्रदेशों की भीषण गर्मी में सुखी रहने वाले शरीर, जल जीवों की तरह पानी के संसर्ग में रहने वालों से लेकर मरुभूमि के शुष्कतम वातावरण में निवास करने वाले शरीरों की अपनी-अपनी विशेषताऐं, उनकी सेल इकाइयों के अनुरूप ही विकसित होती हैं।

इससे एक चरण और आगे चलें तो अन्नमय कोश की सूक्ष्म क्षमताओं का स्वरूप भी उभर कर सामने आएगा। किसी भी क्षेत्र में उच्च स्तरीय साधक का सारा शरीर उसकी मुख्य साधना में सहयोगी बन जाता है। श्रेष्ठ चित्रकार जब किसी चित्र की कल्पना करता है तो उसके शरीर की हर इकाई उसके स्पन्दनों से प्रभावित होती है। शरीर की हलचल में उस कल्पना के स्पन्दन समाविष्ट हो जाते हैं तथा निर्जीव तूलिका सामान्य रगों से जीवन्त चित्र का निर्माण कर देती है। वाणी के साधक गायक के मन में जो भाव उभरते हैं। वह उसके हाव भाव तथा स्वर लहरी में न जाने कहाँ से- कैसे गुंथ जाते हैं और उसमें अद्‌भुत प्रभाव पैदा कर देते हैं। अपने कार्य के प्रति निष्ठावान चिकित्सक के चर्मचक्षुओं और माँसपेशियों में न जाने क्या विशेषता आ जाती है कि वह रोग के सूक्ष्म से सूक्ष्म चिन्ह तथा गम्भीर से गम्भीर स्तर को पकड़ लेता है। इन साधकों के चमत्कारों के पीछे यही तथ्य छिपा है कि उनके अन्नमय कोश की हर इकाई उनके अन्दर की सूक्ष्म सम्वेदनाओं को अनुभव करने, स्वीकार करने तथा उसके अनुरूप प्रभाव पैदा करने में सक्षम हो जाती है। उसके संस्कार उसके अनुरूप हो जाते हैं। किसी भी उच्चस्तरीय साधना के लिए विज्ञान से लेकर उपासना तक के किसी भी क्षेत्र में उल्लेखनीय स्तर पाने के लिए अपने अन्नमय कोश को ऐसी ही सुसंस्कृत, सुयोग्य सक्षम स्थिति में लाना आवश्यक होता है। उसके लिए उसकी मूल इकाईयों को विशेष रूप से गढ़ना-ढालना पड़ता है। इसे ही अन्नमय कोश का परिष्कार विकास की साधना कहा जाता है।

प्रश्न उठता है कि क्या अन्नमय कोश की मूल इकाईयों को वांछित ढंग का बनाया जा सकता है ? हाँ, यह सम्भव है। इसकी पुष्टि भारतीय दर्शन की सनातन मान्यता तथा वर्तमान वैज्ञानिक शोधों, दोनों ही आधारों पर होती है। वस्त्र आदि तो जैसे बन गए वैसे बन गए कैनवास को मखमल में नहीं बदला जा सकता क्योंकि वह जड़ संस्थान है। किन्तु शरीर तो चेतन संस्थान है उसमें नए कोशों का निर्माण तथा पुरानों का विघटन सम्भव ही नहीं है, वह तो उसकी एक स्वाभाविक एवं अनिवार्य प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया धीमी पड़ने से ही मनुष्य शरीर जराजीर्ण होने लगता है। जरा बुढ़ापा कुछ और नहीं अन्नमय कोश में नवीन स्वस्थ कोशिकाओं की संरचना तथा पुरानों के निष्कासन की गति शिथिल हो जाना मात्र

है। इस प्रक्रिया को व्यवस्थित, नियमित बनाकर शरीर संस्थान में क्रमश: इच्छित परिवर्तन लाए जा सकते हैं।

सामान्य व्यक्तियों में भी अन्नमय कोश की इकाइयों में परिवर्तन होता ही रहता है। किन्तु उसकी कोई व्यवस्था, योजना न होने के कारण एक ढर्रा भर चलता रहता है। सामान्य रूप से किसी भी फैक्ट्री में पुराने पुर्जों तथा पुरानी मशीनों के स्थान पर नए पुर्जे एवं नई मशीनों को स्थापित करने का क्रम चलता ही रहता है। उससे एक ढर्रे का उत्पादन निकलता भी रहता है। किन्तु कोई कुशल शिल्पी-उद्योगी जब अपने उत्पादन का स्तर बढ़ाने, नयी वस्तुऐं उत्पादित करने की योजना बनाता है तो फिर ढर्रे का क्रम पर्याप्त नहीं। उस स्थिति में लक्ष्य को ध्यान में रखकर सूझ-बूझ के साथ और परिवर्तन व्यवस्थित ढंग से करना होता है। पुर्जों और मशीनों से लेकर औजार (टूल) तथा कच्चे माल की व्यवस्था भी उसी योजना के अनुरूप करनी होती है। अपने शरीर की हर कोशिका को एक सजीव पुर्जा, औजार, मशीन मानकर उन्हें लक्ष्य के अनुरूप बनाना, उसके लिए उपयुक्त आहार बिहार अपनाना, योग साधक के लिए आवश्यक हो जाता है।

सामान्य व्यक्ति के अन्नमय कोश तथा योगी के अन्नमय कोश में अन्तर क्यों ? किस आधार पर आवश्यक है ? इसे एक सामान्य उदाहरण से समझा जा सकता है। एक बिजली की लाइन को लें। विद्युत् तारों में बहती है। उन्हें सहारा देने के लिए खम्भे रहते हैं। तार और खम्भों के बीच में ऐसे उपकरण लगे रहते हैं जो बिजली को खम्भों में होकर पृथ्वी में प्रविष्ट होने से रोके रहें। उन्हें 'कुचालक इन्सुलेटर' कहते हैं। सामान्य दबाव बोल्टेज की विद्युत् के लिए तार खम्भे तथा इन्सुलेटर सामान्य ही चल जाते हैं। (हाईबोल्टेज) की बिजली अधिक मात्रा में प्रवाहित करनी हो तो उसके लिए यह सभी उपकरण विशिष्ट स्तर के लगाने पड़ते हैं। यही बात सामान्य व्यक्ति तथा विशिष्ट साधक के साथ लागू होती है। सामान्य जीवनक्रम में सामान्य शारीरिक जैवीय विद्युत (बायो इलेक्ट्रिसिटी) की ही आवश्यकता पड़ती है, किन्तु उच्च लक्ष्यों के लिए अधिक प्रखर शक्ति तरंगें पैदा करनी होती है। उनका सम्वेदने, संचार करने के लिए अधिक सशक्त संस्थान की आवश्यकता स्वाभाविक रूप से पड़नी ही चाहिए। इसीलिए साधक को अपने अन्नमय कोश के परिष्कार, उसकी पुष्टि और विकास के लिए विशेष ध्यान देना, विशेष प्रयास करना होता है। तभी वह प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोशों के विकास में सहायक बनने तथा उनकी विकसित स्थिति के साथ तालमेल बिठाने में समर्थ हो पाता है।

ताल-मेल बिठाने की बात यों ही नहीं कही गयी है, उसका अपना विशिष्ट अर्थ है। निर्जीव घटक तालमेल नहीं बिठा सकते, वह तो चेतना सम्पन्न के लिए ही सम्भव है। अन्नमय कोश की हर इकाई, हर कोशिका (सेल) को आज वैज्ञानिक भी स्वतन्त्र जैविक इकाई मानने लगे हैं। हर सेल में उसका हृदय न्यूक्लियस होता है। उसके स्वांस संस्थान को वैज्ञानिक भाषा में 'माइटो कोण्ड्रिया' कहते हैं। हर सेल में एक 'गाल्गी एप्रेटस' होता है, जो उसके पाचन संस्थान का काम करता है। हर कोश अपने जैसे नए कोश का उत्पादन कर सकता है। इस व्यवस्था को वैज्ञानिक 'न्यूक्लियोलस एण्ड क्रोमेटिन नैटवर्क' कहते हैं। हर सैल में अपनी एक विशिष्ट जैवीय विद्युत् का प्रभार (चार्ज) होती है जिसे उसका प्राण कह सकते हैं। इस प्रकार हर कोशिका एक स्वतन्त्र जैविक इकाई के रूप में अपने अस्तित्व को बनाए रखते हुए, शरीर संस्थानों से अपना तालमेल बिठाए रखता है।

अन्नमय कोश के कोटि-कोटि सदस्य यह कोशिकाऐं (सेल) इष्ट उद्देश्य-लक्ष्य के अनुरूप स्वयं में स्वाभाविक क्षमता उत्पन्न कर सकें, उसके लिए विशिष्ट संस्कारवान नयी कोशिकाओं का उत्पादन कर सकें, तो उच्चतम लक्ष्य प्राप्ति की सुनिश्चित पृष्ठभूमि बन जाती है। इसके लिए उन्हें विशेष रूप से- योजनाबद्ध प्रक्रिया द्वारा तैयार किया जाता है। उनके लिए आहार, बिहार, चिन्तन आदि की विशिष्ट एवं व्यवस्थित पद्धति का अनुसरण करना होता है। जैसे बच्चों को सुयोग्य बनाने के लिए उन्हें साधन ही नहीं श्रेष्ठ संस्कार भी देने पड़ते हैं, इसी प्रकार इन कोशिकाओं के लिए भी आहार व्यवहार से लेकर ध्यान उपसना तक के अनेक माध्यम अपनाने होते हैं। उन सबके संयोग से ही अन्नमय कोश की प्रभावशाली साधना का स्वरूप बनता है।

नाभिचक्र अन्नमय कोश का प्रवेश द्वार

गर्भाशय में भ्रूण का पोषण माता के शरीर की सामिग्री से होता है। आरंभ में भ्रूण, मात्र एक बुलबुले की तरह होता है। तदुपरान्त वह तेजी से बढ़ना आरम्भ करता है। इस अभिदृष्टि के लिए पोषण सामिग्री चाहिए। उसे प्राप्त करने का उस कोंटर में और कोई आधार नहीं

है। मात्र माता का शरीर ही वह भण्डार है जहाँ से गर्भस्थ बालक को अपने निर्वाह एवं अभिवर्धन के लिए आवश्यक आहार मिल सकता है। वह मिलता भी है। यह अनुदान शिशु को अपनी नाभि के मुख से प्राप्त होता है। तब न मुँह खुला होता है और न पाचन तन्त्र ही सक्षम होते हैं। पका हुआ, पचा हुआ आहार उस स्थिति में उसे अपनी नाभि द्वारा ही उपलब्ध होता है।

प्रसव के समय जब बालक बाहर आता है तो देखा जाता है कि उसकी नाभि में एक नाल रज्जु बंधी है और वह माता के गर्भ स्थली के साथ जुड़ी है। उसे काटना पड़ता है तब दोनों अलग होते हैं। यह नाल ही वह द्वार है जिसके द्वारा माता के शरीर से निकल कर आवश्यक रस द्रव्य बालक के शरीर में निरन्तर पहुँचते रहते हैं। इस दृष्टि से प्रथम मुख नाभि को ही कहा जा सकता है। दांत,जीभ, कंठ, तालु वाला मुँह तो जन्म ले चुकने के बाद खुलता है। तब तक नौ मास की अवधि में बालक बहुत कुछ प्राप्त कर चुका होता है गर्भ काल में बच्चा जितनी तेजी से बढ़ता है वह आश्चर्यजनक है। उसे अपने शरीर के अनुपात से इतनी अधिक खुराक की जरूरत पड़ती है जितनी जन्म लेने के उपरान्त फिर कभी नहीं पड़ती। उन सारी आवश्यकता की पूर्ति नाभि मार्ग से ही होती रहती है।

भ्रूण के फेंफड़े गर्भावस्था के नौ महीने प्रायः निष्क्रिय ही रहते हैं। श्वाँस प्रश्वाँस की आवश्यकता माता और भ्रूण के दो जुड़े हुए अवयव पूरी करते हैं। माता के 'यूटेरिस' गर्भाशय में स्थित जरायु बच्चे के "प्लेसेन्टा" ही फेफड़े का भी काम करते हैं। जन्म के उपरान्त जैसे ही बालक रोता, हाथ पैर चलाता और साँस लेता है वैसे ही रक्त संचार आरंभ हो जाता है। हृदय से बड़ी धमनी में होकर रक्त फेफड़ों में पहुँचता है और वे अपना काम आरम्भ कर देते हैं। नाल काटने पर बच्चे का 'अम्ब कार्ड' माता के 'प्लेसेन्टा' से कट कर अलग हो जाता है। तब फिर दोनों के बीच बने हुए सम्बन्ध सूत्र का विच्छेद हो जाता है और इस कार्य के सम्पन्न करती रहने वाली 'अम्ब वेन' निष्क्रिय हो जाती है बच्चे की कार्य वाहिनी सामर्थ्य अपने बल बूते अपना काम चलाने लगती हैं। फेफड़े हृदय आदि को ठीक तरह अपना काम करने लगते हैं और उस स्व संचालित प्रक्रिया के सहारे नवजात शिशु की जीवन यात्रा स्वावलम्बनपूर्वक अपने ढर्रे पर लुढ़कने लगती है। माता का सहयोग समाप्त हो जाता है। तब उस केन्द्र की उपयोगिता भी समाप्त हो जाती है।

इसके बाद उस महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया का केन्द्र नाभि बाह्य दृष्टि से एक सामान्य गड्ढे के रूप में रह जाती है। स्थूल विज्ञान के अनुसार अन्दर उस स्थान से कुछ सूत्र जिगर से जुड़े रहते हैं। वर्तमान जीवशास्त्री इसे निरर्थक निष्क्रिय सूत्र मानते हैं और उन्हें 'लीगामैन्ट टेरीस आफ लीवर' कहते हैं। किन्तु यह सूत्र एकदम निष्प्राण नहीं होते बल्कि स्थूल दृष्टि से सुप्त जैसी स्थिति में पड़े रहते हैं। जब जिगर रोग ग्रस्त हो जाता है तो उस पर पड़ने वाले रक्त दबाव को कम करने के लिए यह सूत्र पुनः सक्रिय हो उठते हैं। जिगर पर पड़ने वाले रक्त के दबाव से उसे बचाने के लिए रक्त को नाभि क्षेत्र में फैला देते हैं। उस समय नाभि क्षेत्र फूला हुआ, उसमें रक्त शिराएं उभरी हुई स्पष्ट दिखाई देती हैं स्पष्ट है कि स्थूल दृष्टि से सुप्त, यह तन्तु सूक्ष्म दृष्टि से संतत सक्रिय रहते हैं।

शरीर के विकास की दृष्टि से नाभि की भूमिका समाप्त हो जाती है यह एक दृष्टि से उचित भी है। नाभि द्वारा पोषित भ्रूण गर्भ में जिस तीव्र गति से बढ़ता है वह गति अत्यधिक तीव्र होती है। नाभि की पोषण क्षमता सक्रिय रहे और यदि जन्म लेने के बाद भी उसी क्रम से शरीर की वृद्धि का क्रम चलता रहता तो फिर कदाचित मनुष्य ताल वृक्ष जितना ऊँचा, हाथी जितना विशालकाय बन सकता था और उसकी खुराक जुटाने के लिए दस हाथियों जितने आहार की आवश्यकता पड़ सकती थी। ईश्वर को धन्यवाद है कि भ्रूण की वृद्धि और आवश्यकता की तीव्रता को गर्भ काल तक ही सीमित रखा।

वर्तमान शरीर शास्त्र की दृष्टि से जन्म के बाद मनुष्य के लिए नाभिचक्र निरर्थक कहा भी जा सकता है, किन्तु अध्यात्म विज्ञान की मान्यता इससे भिन्न है। उसने नाभि को 'नाभिकीय' केन्द्र माना है। जिस प्रकार परमाणु के नाभिक का महत्त्व सर्वोपरि है, जिस प्रकार सौर मण्डल का सूत्र संचालन सूर्य द्वारा होता है उसी प्रकार शरीर का मध्य बिन्दु नाभि है और उसमें नाभिकीय क्षमता विद्यमान है। मस्तिष्क का- सूक्ष्म शरीर का नाभिक आज्ञाचक्र है। स्थूल शरीर की स्थिति उससे भिन्न है। उसका नाभिक-न्यूक्लियस-नाभि है। उसकी क्षमता अपने समीपवर्ती अवयवों को प्राणबल देती है और वे अपना काम ठीक तरह कर सकने में समर्थ बनते हैं। प्राकृतिक

चिकित्सा तथा योग चिकित्सा के अन्तर्गत नाभि को इसी लिए बहुत महत्त्व दिया जाता है। शरीर के अनेक गम्भीर रोगों के उपचार की एक रहस्यमय पद्धति अपने देश में बहुत समय से चली आ रही है। उसमें शरीर के कुछ विशिष्ट केन्द्रों को दबाने, सहलाने, बाँधने मलने आदि क्रियाओं द्वारा रोगों का सफल उपचार कर दिया जाता है। यह पद्धति आजकल 'जीन थैरैपी' के नाम से एक सुनिश्चित चिकित्सा पद्धति के रूप में विकसित की जा रही है। उसमें भी नाभि को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता है।

शरीर शास्त्र की दृष्टि से भी नाभि के आसपास नौ महत्त्वपूर्ण अत:स्रावी ग्रन्थियाँ (गैंग्लियान) है। गैंग्लियान-स्वायत्त नाड़ी संस्थान (आटोनॉमस नर्वस सिस्टम) के वह केन्द्र हैं जो शरीर के प्रमुख संस्थानों की गतिविधियों उनके रक्त संचारण, हॉर्मोन, एन्जाइम आदि अन्त: रसों के निस्सरण आदि का नियमन संचालन करते हैं। नाभि के आसपास चार लम्बर गैंग्लियान, उन्हीं से लगे हुए चार सेक्रल गैंग्लियान तथा उससे नीचे एक कावसीजियल गैंग्लियान कुल नौ गैंग्लियान होते हैं। स्थूल शरीर के पोषण एवं विकास से सम्बन्धित लगभग सभी स्थूल संस्थानों से इनका सम्बन्ध होता है। आमाशय तथा पाचन संस्थान, गुर्दे, तिल्ली, जिगर आदि के महत्त्व सर्व विदित हैं। इनका सबका नियन्त्रण-सुसंचालन इन्हीं गैंग्लियान केन्द्रों से होता है। नए शरीर निर्माण की प्रणाली, प्रजनन संस्थान भी अपनी अद्भुत क्षमताओं सहित इन्हीं केन्द्रों के नियत्रण में कार्य करती हैं। नाभि क्षेत्र के लम्बर गैग्लियानों का हस्तक्षेप हृदय क्षेत्र में भी हैं। हृदय क्षेत्र में ग्यारह 'थोरैसिक' गैंग्लियान होते हैं। कई क्षेत्रों में 'लम्बर' और 'थोरैसिक' दोनों मिलकर भी कार्य करते हैं।

शरीर के महत्त्वपूर्ण संस्थानों का नाभि से सम्बन्ध शरीर शास्त्रियों के लिए रहस्य हो सकता है किन्तु आत्म विज्ञान से विदित है कि नाभिचक्र का वह चुम्बकत्व आजीवन बना रहता है जिसके आधार पर माता के शरीर से आवश्यक अनुदान खींचने में गर्भस्थ शिशु समर्थ रह सका था। ट्रांजिस्टर में छोटा सा 'क्रिस्टल' लगा रहता है। उस यन्त्र की सारी मशीनरी अपना काम तभी तक ठीक तरह कर पाती हैं जब यह 'क्रिस्टल' सही स्थिति में हो। नाभि केन्द्र के चुम्बकत्व को भी यही संज्ञा दी जा सकती है। उसमें आदान प्रदान की उभय पक्षीय क्षमता विद्यमान है। अनन्त अन्तरिक्ष से आवश्यक शक्ति खींचने और धारण करने और समीपवर्ती अवयवों से लेकर दूरस्थ अंगों तक को वह अदृश्य एवं अविज्ञात सामर्थ्य प्रदान करने का कार्य इस चुम्बकत्व का ही है।

शरीर को अनेक प्रकार की ऊर्जाएं चाहिए, जिन्हें वह अपनी चुम्बक शक्ति के द्वारा खीचता है। वातावरण का कितना प्रभाव शरीर पर पड़ता है इसे हर कोई जानता है। कहाँ का जलवायु शरीर पर क्या प्रभाव डालता है इसे हम प्रत्यक्षत: देखते हैं। बहुमूल्य आहार प्राप्त होते रहने पर भी घटिया जलवायु के क्षेत्र में रहने वाले रुग्ण दुर्बल रहते हैं और स्वल्पकाल में ही जीवन समाप्त कर देते हैं। इसके विपरीत, जहाँ का वातावरण सशक्त है वहाँ के निवासी घटिया भोजन मिलने पर भी बलिष्ठ बने रहते हैं।

मोटा तगड़ा शरीर भी सामान्य सा भार वहन करने और दौड़-धूप में संलग्न रहने के अतिरिक्त, और कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य न कर सकेगा। प्रगतिशील मनुष्यों के शरीर में स्फूर्ति पाई जाती है। उनका प्रत्एक अवयव प्रशिक्षित कलाकारों की तरह अपना काम करने में कुशल होता है। इन्द्रियाँ काबू में रहती हैं और नियत निर्धारित क्रम से अपने सुव्यवस्थित क्रिया कौशल का परिचय देती हैं। यही कारण है कि वे सामान्य मनुष्यों की तुलना में कई गुने परिमाण में उत्कृष्ट स्तर का काम कर पाते हैं। यही उनकी सफलता का बहुत बड़ा कारण है।

शरीर के लिए आवश्यक इस प्रकार की सूक्ष्म शक्तियाँ, मात्र अन्न, जल, वायु से प्राप्त नहीं हो सकतीं, उसकी पूर्ति ब्रह्माण्ड व्यापी उन शक्ति स्रोतों से भी होती है जो दृश्य रूप में अनुभव में तो नहीं आते पर अपनी महत्ता सिद्ध करते रहते हैं। पृथ्वी का काम अपने भीतरी उत्पादनों से ही नहीं चल जाता, वरन् सूर्य से आने वाली गर्मी और रोशनी से उसे जीवन संचार का लाभ मिलता है। न केवल सूर्य से वरन् वह अन्य ग्रहों से भी बहुत कुछ प्राप्त करती है। ग्रहों से ही क्यों उसका अपना उपग्रह चन्द्रमा तक ज्वार-भाटा से लेकर और भी न जाने क्या- क्या सहायता देकर धरती की सजीवता बनाए रहने में सहायता देता है। यदि वे अन्तर्ग्रही अनुदान न मिलें तो पृथ्वी निर्जीव, निस्तब्ध ही नहीं बन जाएगी वरन् अपना अस्तित्व बनाए रहने में भी समर्थ न हो सकेगी। ठीक यही बात मनुष्य शरीर के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

नाभि स्थल का शारीरिक दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व भले ही न हो पर आध्यात्मिक दृष्टि से उसकी उपयोगिता आजीवन वैसी ही बनी रहती है जैसी कि भ्रूण काल में थी। पृथ्वी ध्रुव क्षेत्र में सन्निहित अपनी चुम्बकीय शक्ति से अन्तर्ग्रही ऊर्जा को आकर्षित करती और उससे अपनी महत्त्वपूर्ण आवश्यकताऐं पूरी करती है। ठीक इसी प्रकार नाभि चक्र का ध्रुव प्रदेश शरीर को समर्थ एवं सुव्यवस्थित बनाए रहने वाली विशिष्ट ऊर्जा को आकाश से खींचता है। यदि यह चक्र प्रसुप्त स्थिति में है तो उसकी आकर्षण शक्ति न्यून होगी और मात्र आहार पर ही निर्वाह चलाना पड़ेगा। किन्तु यदि नाभि चक्र के चुम्बकत्व को साधना योग द्वारा जाग्रत किया जा सके तो उसकी आकर्षण क्षमता सहज ही बढ़ जाएगी और उसकी प्रखरता के आधार पर इतना कुछ अदृश्य अनुदान प्राप्त किया जा सकेगा जो रक्त माँस आदि स्थूल सम्बन्धों की अपेक्षा कम नहीं वरन् कुछ अधिक ही उपयोगी है।

अन्नमय कोश का प्रवेश द्वारा नाभि चक्र है। इस केन्द्र की समर्थता एवं उपयोगिता सदा बनी रहती है। दिव्य शक्तियों का शरीर में प्रवेश इसी मार्ग से होता है। इस सन्दर्भ में योग ग्रन्थों में कितने ही उल्लेख मिलते हैं। यथा-

पातंजलि योग दर्शन में नाभि चक्र की साधना से काया की भीतरी स्थिति की सूक्ष्म जानकारी मिलने का वर्णन है।

नाभिचक्रे काय व्यूह ज्ञानम्।

-पातंजलि योग सूत्र

नाभि चक्र से संयम करने से काय के चक्रव्यूह का ज्ञान होता है।

ऐसा उल्लेख योग रसायन ग्रन्थ में भी है-

नाभिचक्रे यदा कुकर्याद्धारणां योगविद्यदि।
शरीराभ्यन्तरे सर्वसंस्थानं तु विलोकएत् ।।

-योग रसायन

जिस काल में योगी नाभि चक्र में धारण करता है, उस समय वह शरीर के सम्पूर्ण अभ्यन्तर शरीर संस्थान को देख लेता है।

केचित्तद्योगत: पिण्डा भूतेभ्य: संभवा क्वचित्।
तस्मिन्नन्नमय, पिण्डो नाभिमण्डलस स्थिति: ।।

-त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद्

(रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थि मज्जा, वीर्य आदि सप्त) धातुओं के योग से प्राणों के पिण्डों की उत्पत्ति होती है। उनमें से नाभिमण्डल में अन्नमय पिण्ड हैं।

तृतीयं नाभिचक्रं स्यात्तन्मध्ए तु जगत् स्थितम्।
पंचावर्ता मध्यशक्तिं चिन्तएद्विद्यु दाकृति।।
तां ध्यात्वा सर्वसिद्धीनां भाजनं जायते बुध: ।

-योगराजोपनिषद्

नाभि चक्र में यह भौतिक जगत अवस्थित है। पंचा वृत्त- पाँच तत्वों से विनिर्मित विद्युत् शक्ति का इससे ध्यान करना चाहिए। ऐसा ध्यान करने से साधक सभी भौतिक सिद्धयाँ प्राप्त कर लेता है।

नाभिकन्दादध स्थानं कुण्डल्या द्व्यंगुल मुने।
अष्टप्रकृतिरूपा सा कुण्डली मुनिसत्तम ।।

-जगत दर्शनोपनिषद्

नाभि कन्द के नीचे कुण्डलिनी शक्ति का निवास है। अष्ट प्रकृति की प्रतीक अष्ट सिद्धियाँ उसमें कुण्डली मारकर बैठी हुई हैं।

रावण किसी शस्त्र से मर नहीं सकता था क्योंकि उसकी नाभि में अमृत का कुण्ड था। उसे सुखाए बिना यह असुर बध सम्भव नहीं है। यह भेद राम को बिभीषण ने बताया। राम ने वह कुण्ड सुखा कर रावण मारा। इससे प्रकट है कि शरीर की स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिए नाभि चक्र के माध्यम से कितनी बड़ी सफलता प्राप्त की जा सकती है। अध्यात्म रामायण में यह प्रसंग इस प्रकार आता है-

नाभि देशेऽमृतं तस्य कुण्डलाकार संस्थितम्।
तच्छोषयान अस्त्रेण तस्य मृत्युस्ततो भवेत् ।।
बिभीषण बच: श्रुत्वा राम: शीघ्र पराक्रम: ।
पाबकास्त्रैण संयोज्य नाभि बिव्याध राक्षस: ।।

-अध्यात्म रामायण

यह बिभीषण की उक्ति है- संकेत है कि रावण की नाभि में कुण्डलाकार स्थित अमृत को अग्निवाण से सुखा दें, तभी उसकी मृत्यु होगी तब राम ने बड़ी फुर्ती से अपने पावकास्त्र से रावण की नाभि को बेध डाला।

यह अमृतत्व पतनोन्मुख करके फुलझड़ी की तरह जलाकर तनिक सा बिनोद भी खरीदा जा सकता है। उसे मधुमक्खी की तरह संचित करके अपना श्रेय

और दूसरों को सुख बढ़ाया जा सकता है। प्रजनन संयत्र के इर्द-गिर्द अनेकानेक क्षमताओं के दिव्य केन्द्र बिखरे हुए हैं। इनमें शरीर शास्त्री कुछ हॉर्मोन ग्रन्थि स्रावों तथा उत्तेजना परक विद्युत् प्रवाहों के सम्बन्ध में ही थोड़ी सी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। इतने से भी वे मानते हैं कि मस्तिष्क के बाद अवयवों की दृष्टि से हृदय और स्फुरण की दृष्टि से काम संस्थान की महत्ता है। आत्म-विद्या के अनुसार नाभिचक्र प्राण सत्ता का-साहसिक पराक्रमशीलता एवं प्रतिभा को केन्द्र माना गया है। इस स्थान की ध्यान साधना करते हुए इस प्राण-शक्ति को निग्रहीत और दिशा नियोजित किया जाता है। फलत: उसके सत्परिणाम भी ओजस्विता की वृद्धि के रूप में सामने आते हैं।

अन्नमय कोश और उसकी साधना

गायत्री के पाँच मुखों में आत्मा के पाँच कोशों में प्रथम कोश का नाम अन्नमय कोश है। अन्न का तात्विक अर्थ है- पृथ्वी का रस। पृथ्वी से जल, अनाज, फल तरकारी घास आदि पैदा होती है। उन्हीं से दूध, घी, माँस आदि भी बनते हैं। यह सब अन्न कहे जाते हैं। इन्हीं के द्वारा रज-वीर्य बनते हैं और इन्हीं से इस शरीर का निर्माण होता है। अन्न द्वारा ही देह बढ़ती और पुष्ट होती है तथा अन्न में अन्न रूपी पृथ्वी में ही भस्म होकर या सड़ गल कर मिल जाती है। अन्न से उत्पन्न होने वाला और उसी में मिल जाने वाला यह देह इसी प्रधानता के कारण 'अन्नमय कोश' कहा जाता है।

यहाँ एक बात ध्यान रखने की है कि हाड़ माँस का जो पुतला दिखाई देता है, वह अन्नमय कोश की आधीनता में है पर उसे ही अन्नमय कोश न समझ लेना चाहिये। मृत्यु हो जाने पर देह तो नष्ट हो जाती है पर अन्नमय कोश नष्ट नहीं होता। वह जीव के साथ रहता है। बिना शरीर के भी जीव भूतयोनि में या स्वर्ग नरक में उन भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, चोट, दर्द आदि को सहता है जो स्थूल शरीर से सम्बन्धित हैं। इसी प्रकार उसे उन इन्द्रिय भोगों की चाह रहती है जो शरीर द्वारा ही भोगे जाने सम्भव हैं। भूतों की इच्छाएँ वैसी ही आहार विहार की रहती है। जैसी कि शरीर धारी मनुष्यों की होती हैं। इससे प्रकट है कि अन्नमय कोश शरीर का संचालक कारण, उत्पादक, उपभोक्ता आदि तो है, पर उससे पृथक भी। इसे सूक्ष्म शरीर भी कहा जा सकता है।

रोग हो जाने पर डाक्टर, वैद्य, उपचार, औषधि, इन्जेक्शन, शल्य क्रिया आदि द्वारा उसे ठीक करते हैं। चिकित्सा पद्धतियों की पहुँच स्थूल शरीर तक ही है। इसलिये यह केवल उन्हीं रोगों को दूर कर पाते हैं जो कि हाड़ मांस त्वचा आदि के विकारों के कारण उत्पन्न होते हैं। परन्तु कितने ही रोग ऐसी भी हैं जो अन्नमय कोश की विकृति के कारण उत्पन्न होते हैं। उन्हें शारीरिक चिकित्सक लोग ठीक करने में प्राय: असमर्थ रहते हैं। ऐसे रोगों का समाधान अन्नमय कोश की साधना द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

अन्नमय कोश की स्थिति के अनुसार शरीर का ढाँचा और रंग रूप बनता है, उसी के अनुसार इन्द्रियों की शक्तियाँ होती हैं। बालक जन्म से ही कितनी ही शारीरिक त्रुटियाँ, अपूर्णताएँ या विशेषताएँ लेकर आता है। किसी की देह आरम्भ से ही मोटी, किसी की जन्म से ही पतली होती है।आँखों की दृष्टि वाणी की विशेषता मस्तिष्क का भोंडा य तीव्र होना, किसी विशेष अंश का निर्बल या न्यून होना अन्नमय कोश की स्थिति के अनुरूप होता है। माता पिता के रज वीर्य का भी उसमें थोड़ा प्रभाव होता है पर विशेषता अपने कोश की रहती है। कितने ही बालक माता-पिता की अपेक्षा अनेक बातों में बहुत भिन्न पाये जाते हैं।

शरीर अन्न से बनता और बढ़ता है। अन्न के भीतर सूक्ष्म जीवन तत्व रहता है वह अन्नमय कोश बनता है। जैसे शरीर में पाँच कोश हैं वैसे ही अन्न में तीन कोश हैं-स्थूल, सूक्ष्म, कारण। स्थूल में स्वाद और भार सूक्ष्म में प्रभाव और गुण तथा कारण के कोश में संस्कार रहता है। जिह्वा से केवल भोजन का स्वाद मालूम होता है। पेट उसके बोझ का अनुभव करता है, रस से उसकी मादकता, उष्णता आदि प्रकट होती है। अन्नमय कोश पर उसका संस्कार जमता है। माँस आदि अनेक अभक्ष पदार्थ ऐसे हैं जो जीव को स्वादिष्ट लगते हैं, देह को मोटा बनाने में भी सहायक होते हैं। पर उनमें सूक्ष्म संस्कार ऐसा होता है जो अन्नमय कोश को विकृत कर देता है। और उसका परिणाम अदृश्य रूप में आकस्मिक रोगों के रूप में तथा जन्म जन्मान्तरों तक कुरूपता एवं शारीरिक अपूर्णता के रूप में चलता है। इसलिये आत्म विद्या के ज्ञाता सदा तात्विक सुसंस्कारी, अन्न पर जोर देते हैं ताकि स्थूल शरीर में बीमारी, कुरूपता, अपूर्णता, आलस्य एवं कमजोरी की बढ़ोत्तरी न हो। जो लोग अभक्ष खाते हैं। वे अब नहीं तो भविष्य में ऐसी आन्तरिक विकृति में ग्रस्त हो जायेंगे। जो उनको शारीरिक सुख से वंचित रखे रहेगी।

इस प्रकार अनीति से उपार्जित धन या पाप की कमाई प्रकट में आकर्षक लगने पर भी अन्नमय कोश को दूषित करती है और अन्त में शरीर को विकृत तथा

चिररोगी बना देती है। धन सम्पन्न होने पर भी ऐसी दुर्दशा भोगने के अनेक उदाहरण प्रत्यक्ष दिखाई दिया करते हैं।

कितने ही शारीरिक विकारों की जड़ अन्नमय कोश में होती है। उनका निवारण दवा दारू से नहीं, योगिक साधनों से हो सकता है। जैसे संयम, चिकित्सा, शल्यक्रिया, व्यायाम, मालिश, विश्राम, उत्तम आहार विहार, जलवायु आदि से शारीरिक स्वास्थ्य में बहुत कुछ अन्तर हो सकता है वैसे ही कुछ ऐसी भी प्रक्रिया हैं, जिनके द्वारा अन्नमय कोश को परिमार्जित एवं परिपुष्ट किया जा सकता है। और विविध विध शारीरिक अपूर्णताओं से छुटकारा पाया जा सकता है।

अन्नमय कोश के आनावरण की, उसे परिपुष्ट एवं समुन्नत करने की अनेक साधनायें हैं। इस साधना में उपवास, आसन, तत्वशुद्धि और तपश्चर्या मुख्य हैं। जब इस कोश की साधना चलती है तो इधिका, दीपिका, मोचिका, अध्यागिनी, पूषा, चन्द्रिका, धूर्मांचि, आमाया, असिता आदि ९६ उपत्यकाओं की शुद्धि होती है। जिससे नानाप्रकार के मल दूर होते हैं। शरीर की छैहों अग्नियाँ ऊष्मा, बहुवृच, ह्लादि, रोहिता, आप्ता और व्याप्ति जागृत होती हैं। उत्तरायण- दक्षिणायण की गोलार्द्ध स्थिति का, चन्द्रमा की घटती, बढ़ती कलाओं का, नक्षत्रों से भूमि पर आने वाले प्रभाव का, सूर्य की अंश किरणों का, शरीर लाभ उठाने लगता है। पाँचों प्रकार के उपवास, पाचक, शोधक, शामक, आतक, पातक अपना अपना प्रभाव दिखाने लगते हैं। सर्वाङ्गासन, सिद्धासन, हस्तपादासन, कुक्कुटासन, सर्पासन, मयूरासन धनुरासन, पद्मासन आदि आसनों पर अधिकार हो जाता है। तत्वशुद्धि से शरीर में मिट्टी, पानी, वायु, अग्नि, आकाश की मात्रा व्यवस्थित हो जाती है। पंचतत्वों पर अधिकार हो जाता है और चारों वाणियाँ वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति, परा-अपना-अपना कार्य प्रभावशाली ढंग से करने लगती है। तप के मार्ग में सरलता होती है। आरवाद, तितीक्षा, कर्षण, कल्प, प्रदातक्ष्य, निष्कासन, ब्रह्मचर्य, अजन आदि में कोई कठिनाई नहीं रहती। नेति, धोती, वस्ति, न्योलि, बज्रोली, कपालभाति आदि हठयोग के षटकर्मों की आवश्यकता अन्नमय कोश की गायत्री साधना से आसानी के साथ पूर्ण हो जाती है। अन्नमय शरीर में जो आश्चर्यजनक शक्तियाँ और सिद्धियाँ भरी पड़ी हैं उनका विकास एवं जागरण इस प्रथम कोष की साधना से होता है।

अन्नमय कोश की साधना से मनुष्य निरोग दीर्घजीवी, सुन्दर, सुदृढ़, आकर्षक एवं प्रभावशाली बनता है। ऐसा शरीर धारण किये रहने वाला जीव जीवन के जिस क्षेत्र में भी प्रवेश करता है अपने प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व के कारण सफलता ही प्राप्त करता चला जाता है।

अन्नमय कोश को जागृत करने की अनेक पद्धतियाँ हैं। ऐसी पद्धतियों में (१) आहार शुद्धि (२) उपवास (३) आसन (४) तत्व शुद्धि (५) तपश्चर्या-यह पाँच मुख्य हैं। इन पाँचों पर इस प्रकरण में कुछ प्रकाश डालेंगे।

अन्नमय कोश और उसका अनावरण

मनुष्य देह का विकास अन्न से होता है "अन्नादिभवन्ति भूतानि" के अनुसार प्राणि संरचना में अन्न का प्रमुख भाग है। गर्भ में आने के साथ ही जीव उसकी आवश्यकता अनुभव करने लगता है। प्रारम्भ में नाभि-प्रदेश के माध्यम से और जन्म लेने के बाद से मुँह के माध्यम से वह अन्न ग्रहण करता है और इस तरह उसका शरीर बढ़ता विकसित होता है। अन्न के अभाव में स्थूल काया दुबली पड़ जाती है। एक निश्चित अवधि के बाद अन्न न मिले तो मृत्यु तक हो सकती है। इस तरह अत्यन्त स्थूल और नाशवान होकर भी अन्नमय शरीर 'जीव' के दृश्य अस्तित्व का मूल आधार है। यह वह भवन है जिसमें जीव निवास करता है यदि वह स्वच्छ स्वस्थ्य और भव्य हो तो जीवन में आनन्द ही आनन्द है। टूटे-फूटे, सड़े गले मकान में तो रहकर कोई भी खुश नहीं रह सकता। अन्नमय कोश स्थूल शरीर के तात्विक शरीर उसकी महत्ता और उसे स्वस्थ समर्थ बनाए रखने की विद्या का नाम है। उसे न समझने वाले अज्ञानीजन शरीर को ही सुखों का मूल मानने की भूल करते और इन्द्रिय सुखों में आसक्त होते हैं। शरीर की बाह्य सज धज में दिन रात लगे रहने के कारण उसमें निवास करने वाली जीवात्मा उपेक्षित होती है। यही अन्नमय कोश में आबद्ध होता है शरीर की वस्तुस्थिति को समझ कर युक्ता युक्त आहार और व्यवस्थित जीवन क्रम अपनाना ही इस कोश का अनावरण कहलाता है।

अन्न से ही मन बनता है जैसा अन्न खाया जाता है वैसा ही मन बन जाता है। अध्यात्म का सारा क्रिया कलाप मन की स्थिति पर ही अवलम्बित रहता है। मन भी तमोगुण, रजोगुण में डूबा हुआ है। उस पर तृष्णा और

वासना के मल आवरण छाये हुए हों तो बाहरी उपायों से सुधार हो सकना कठिन है, हम देखते हैं कि रोज कथा-वार्ता कहने-सुनने वाले और धार्मिक कर्मकाण्डों में देर तक लगे रहने वाले व्यक्ति भी दुर्भावनाओं और दुष्प्रवृत्तियों को चरितार्थ करते रहते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि जिसे धर्म का पर्याप्त ज्ञान है, जो दूसरों को भी ज्ञान का उपदेश देता है वह अपने व्यवहारिक जीवन में अधर्म का आचरण करता रहता है। विचार करने पर उसका एक ही कारण प्रतीत होता है कि व्यक्ति का अन्तःकरण मानसिक स्वर ही वह मर्मस्थल है जहाँ से प्रेरणायें और प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। बनावटी ढंग से आडम्बर के रूप में मनुष्य कुछ भी कहे या करे वस्तुतः उसकी प्रवृत्तियाँ उसी दिशा में अग्रसर होगी जैसी कि उसकी मनोभूमि बनी हुई है।

मनोभूमि के सुधारों में स्वाध्याय और सत्संग बहुत सहायक होता है। उपासना तथा दूसरे धार्मिक कर्मकाण्डों का भी बहुत कुछ असर होता है पर सबसे अधिक प्रभाव अन्न का होता है। जिस प्रकार का जिस स्तर का आहार किया जाता है उसी तरह का मन बनता है। वस्तु जैसी कुछ बनी है उसका प्रधान गुण तो वही रहेगा। सुधार और संस्कार से उसकी प्रगति में कुछ न कुछ अन्तर तो आता है। पर पूरा परिवर्तन नहीं होता। आज साधना मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति आहार पर उतना ध्यान नहीं देते जितना कि देना चाहिये। फलस्वरूप तमोगुणी और रजोगुणी प्रकृति की वस्तुएँ खाते रहने पर मन का मूल स्वभाव भी वैसा नहीं बन जाता है। स्वाध्याय सत्संग में उस पर नियन्त्रण तो रहता है पर जब कभी भीतर से कामना एवं वासना का प्रबल वेग उठता है तो उस बाह्य नियंत्रण को तोड़ फोड़ कर मनुष्य को दुष्कर्म में प्रवृत्त कर देता है। दुष्प्रवृत्तियाँ रुक नहीं पातीं।

इस कठिनाई का एक मात्र हल यह है कि श्रेय पथ का पथिक अपने आहार पर सबसे अधिक ध्यान दे। पंचकोशी गायत्री उपासना का आरम्भ अन्नमय कोश की शुद्धि से ही होता है। नींव पक्की न हुई तो आगे ऊँची दीवार उठाने और उसे स्थायी बनाने का कार्यक्रम सफल हो सकेगा ? जो व्यक्ति जिह्वा के गुलाम हैं, चटोरेपन ने जिन्हें अपने वश में कर रखा है। स्वादेन्द्रिय पर जो नियंत्रण नहीं कर सकते, शुद्ध आहार की प्राप्ति में जो कष्ट और असुविधा उठानी पड़ती है। उसे सहन कर सकना जिनके वश की बात न हो, उन्हें योगाभ्यास आत्मोकर्ष, लक्ष्य की पूर्ति, स्वर्ग-मुक्ति जैसे स्वप्न नहीं ही देखने चाहिये। अध्यात्म शूरवीरों का मार्ग है। साधना को संग्राम कहा गया है। इसमें षडरिपुओं के चक्र व्यूह को तोड़ने के लिये घनघोर युद्ध करना पड़ता है। गीता में श्रीकृष्ण नें धनुर्धर अर्जुन को जिस महाभारत में प्रवृत्त किया है वह वस्तुतः आन्तरिक शत्रुओं से लड़ने का ही प्रशिक्षण है। अपनी दुर्बलता से लड़ पड़ने का प्रबल पुरुषार्थ किये बिना जीवन मुक्ति की विजय वैजयन्ती धारण कर सकना किसे के लिए भी संभव नहीं होता।

अन्नमय कोश की जागृति, आहार शुद्धि से

आत्मिक प्रगति का मुख्य माध्यम मन है। वही बंधन और मोक्ष का कारण है। मन की चचंलता एवं कुटिलता को नियन्त्रित करके ही अध्यात्म साधना के मार्ग से प्रगति होती है और सफलता मिलती है। मन का स्तर खाये हुए अन्न के अनुरूप बनता है। अस्तु साधना पथ के पथिक को सर्व प्रथम अपने आहार पर ध्यान देना चाहिये। अन्न के स्तर में जितना सात्विकता का समावेश होगा, मन उसी अनुपात से निर्मल बनता जायगा। यह चिन्तन की पवित्रता ही वासना, तृष्णा, अहंता आदि दुष्प्रवृत्तियों का नियमन कर पाती है। अन्नमय कोश प्रथम और प्रत्यक्ष है। उसकी साधना के लिये अन्न की गरिमा को ध्यान में रखते हुए आगे बढ़ने का प्रयास करना चाहिये। शास्त्र अन्न की आध्यात्मिक गरिमा का इस प्रकार प्रतिपादन करता है-अन्नमयं हि सोम्य मन।

-छान्दोग्योपनिषद् ६ प्र० ५।४

हे सोम्य ! यह मन अन्नमय है।

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्।.........तपसा ब्रह्म विजिसास्व। स तपस्तप्त्वा।

-तैत्तरीयोपनिषद् ३।२

महर्षि भृगु ने तप करके यह जाना कि यह अन्न ही ब्रह्म है, यह तप ब्रह्म से जाना जाता है। सो वे अन्न तप करने लगे।

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनोभवति ।।२।। अपा सोम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति ।।३।। तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति ।।४।।

-छान्दोग्योपनिषद् ६ प्र० ६।२, ३, ४

हे सोम्य ! इस प्रकार ही खाये जाते अन्न का जो सूक्ष्म भाग होता है वह ऊपर उठ जाता है। वह मन तन्तु जाल बनता है। ऐसे ही पिये जाते हुए जलों का जो सूक्ष्म अंश होता है, वह ऊपर नितर आता है। वह प्राण जीवन हो जाता है। ऐसे ही खाये हुऐ तेज का जो सूक्ष्म अंश होता है वह ऊपर नितर आता है वह वाणी बन जाती है।

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य य: स्थविष्टो। धातुस्तपुरोषं भवति यो मध्यमस्तन्मासं योणिष्टास्तन्मन: ।।१।।

–छान्दोग्य ६।५ ।१

जो अन्न खाया जाता है वह तीन भागों में विभक्त हो जाता है। स्थूल अंश मल, मध्यम अंश रस, रक्त, माँस आदि और सूक्ष्म अंश मन बन जाता है।

अन्नमयं हि सौम्यमन:।

–छान्दोग्य ६।५।४

अन्न की शुद्धता से मन की शुद्धता होती है।

यदन्नम् पुरुषो भवति तदन्ना स्तस्य देवता:।

–बाल्मीक रामायण

मनुष्य जैसा अन्न खाता है, वैसे ही उसके देवता भी बनते हैं।

अयं यज्ञो वेदेयु प्रतिष्ठित:। वेदा वाचि प्रतिष्ठित: वाङ् मनसि प्रतिष्ठिता। मन: प्राणे प्रतिष्ठितम्। प्राणोऽन्ने प्रतिष्ठित:।

–गायत्री उपनिषद् ७

यह यज्ञ वेद पर निर्भर है। वेद वाक् पर निर्भर है। वाक् मन पर, मन प्राण पर, प्राण अन्न पर निर्भर है।

भुक्तं पीतं यदस्त्यत्र तद्रसादामबन्धनम्।
स्थूलदेहस्य लिंगस्य तेन जीवनधारणाम्।।

–शिव गीता

इस स्थूल देह से जो कुछ भोजन किया जाता, पिया जाता है उसी के कारण लिंग और स्थूल देह में सम्बन्ध उत्पन्न होता है, उसी से जीवन धारण होता है।

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान्पानवतोऽभिसिद्धयति यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति याऽन्नं प्रह्मेत्युपास्ते। अस्ति भगवोऽन्नांद्भूय इति।

–छान्दोग्योपनिषद् ७ प्र० ९।२

जो जन अन्न को महान् मानकर भगवान की उपासना करता है, खाता पीता हुआ उसको नहीं भूलता, वह अमृतभोजी अन्न वाले और पान वाले लोकों को सिद्ध कर लेता है।

आहार शुद्धया नृपते, चित्त शुद्धिश्च जायते।
शुद्धे चित्ते प्रकाश: स्याद्धर्मस्य नृपसत्तम् ।।

–देवी भागवत्

हे राजन ! आहार शुद्ध होने पर चित्त की शुद्धि होती है। इस निर्मल चित्त से ही धर्म का प्रकाश होता है।

अपनी स्थिति का विश्लेषण करते हुए महर्षि तैत्तरीय कहते हैं मैंने यह रहस्य भली प्रकार जान लिया कि मैंने जैसा खाया वैसा ही बन गया। मेरी स्थिति अन्न पर ही आधारित रही है।

हाइबु,हाइवु, हाइवु। असमन्नमहन्नमहन्नम्।

–तैत्तरीयोपनिषद् ३।१०

आश्चर्य, महान् आश्चर्य, मैं अन्न ही हूँ, मैं अन्न ही हूँ।

अन्न के प्रति श्रद्धा रखी जाये। उसका महत्व न घटाया जाये। अन्न में जीवट, जीवनी शक्ति रहती है। वह प्राण स्वरूप है। उसका सेवन व्रत की तरह किया जाये। जो अन्न की गरिमा समझकर उसकी ब्रह्म समान उपासना करता है। वह कीर्तिवान, सम्पत्तिवान, बलिष्ठ और नेता बनता है। उसे ब्रह्म वर्चस की प्राप्ति होती है।

यह भाव तैत्तरीयोपनिषद् के निम्नलिखित श्रुति में इस प्रकार व्यक्त किये गये हैं–

अन्नं न निंद्यात्। तद्व्रतं । प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राण: प्रतिष्ठित:। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठिति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या ।।१।।

–तैत्तरीयोपनिषद् ३–वल्ली ७

न केवल अन्न वरन् जल भी आहार है। खाने की तरह पीना भी महत्त्वपूर्ण है। उसका भी मन:स्थिति पर प्रभाव पड़ता है। जल भी अपने ढंग का खाद्य ही है। अस्तु आहार शुद्धि की तरह जल शुद्धि का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा जाना चाहिये। साधना प्रयोजनों में पवित्र नदी सरोवरों के जल को इसी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। कहा गया है–

आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योति: प्रतिष्ठितम्।

–तैत्तरीय ३०

जल भी अन्न है। उसमें दिव्य ज्योति का निवास है।

आहार स्वाद के लिए औषधि रूप में सेवन किया जाये। उसकी अन्त:शक्ति को ध्यान में रखा जाये। वह जीवन है जीवन का आधार है। यह समझते हुए उसकी स्वादिष्टता को नहीं सात्विकता को ही महत्त्व दिया जाना चाहिये। अविधिपूर्वक सेवन किया गया-अभक्ष आहार उलटा प्राणी को ही खा जाता है। उसके लिए विपत्ति का कारण बनता है। इस भाव को उपनिषद्कार ने इस प्रकार व्यक्त किया है-

अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वोषध मुच्यते।
जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेति च भूतानि।

-तैत्तरीय

प्राणियों में अन्न की ही श्रेष्ठता है। इसलिये उसे सर्वतोमुखी औषधि कहते हैं। अन्न से जीव जन्मते और बढ़ते हैं। जीवधारी अन्न को खाते हैं पर वह अन्न जीवों को भी खा जाता है।

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चाति भाजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥

-मनु योग सध्या

अधिक भोजन करने से अनारोग्यता और आयुष्य का नाश होता है; वह स्वर्ग का विरोधी है अर्थात् यज्ञ, जप आदि में वायु के विकार से बैठा नहीं जाता है उपाधि करने से स्वर्ग का भी विरोधी है, अपवित्र और लोक में निंदित है इससे विशेष भोजन न करें।

मिताहारं विनायस्तु योगारम्भं तु कारयेत्।
नानारोग भवन्त्यस्यकिंचिद् योगो न सिध्यति।

-घेरंड संहिता ५।१६

जो व्यक्ति मिताहार के बिना ही योगाभ्यास प्रारम्भ कर देता है, उसे अनेक रोग हो जाते हैं; योग की कुछ भी सिद्धि नहीं होती।

यादृशं अन्न मश्नाति सात्विकं राजसन्तु वा।
तादृशं गुण मानप्नोति गुणैः कर्मगतिं तथा।

मनुष्य जैसा भी सत्वगुणी, या तमोगुणी अन्न का सेवन करता है, वैसा ही उसे गुण प्राप्त होता है। अतएव सत्वादि गुणों के अनुसार ही कर्म तथा चेष्टा होती है।

आलस्यादन्नदोषाश्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसर्ति।

-मनु० ५।४

आलस्य और अन्न दोष से असामयिक अकाल मृत्यु होती है।

दीपो भक्ष्यते ध्वान्तं कज्जलं च प्रसूयते।
यदन्नं भक्षयेत् नित्य जायते तादृशी प्रजा॥

-चाणक्य

दीपक अँधेरा खाता है। इसलिये काजल को जन्म देता है। मनुष्य जैसा अन्न खाता है, वैसा ही उसकी क्रिया एवं परम्परा उत्पन्न होती है।

आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति लम्भे सर्वग्रन्थिनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदित काषा पाप तमसस्पा दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः।

-छान्दोग्य

जब आहार शुद्ध होता है, तब सत्व अर्थात् अन्त:करण शुद्ध होता है। सत्व के शुद्ध होने पर ध्रुवास्मृति अर्थात् पूर्ण तत्व का निरन्तर स्थायी स्मरण रहता है। उससे सभी कषाय कल्मषों की कुसंस्कारी ग्रन्थियों का विनाश हो जाता है। इस प्रकार निष्पाप नारदजी को भगवान् सनत्कुमार ने अज्ञान को पार करने वाले परम तत्व का साक्षात्कार कराया।

साधक का आहार अनेक स्वादों का न हो। एक ही पदार्थ व एक ही स्वाद उत्तम है। योगी भिक्षा में मिले विभिन्न पदार्थों को इकट्ठा करके एक स्वाद बना लेते हैं। यह उत्तम प्रक्रिया है। इस दृष्टि से खिचड़ी, दलिया जैसे पदार्थ साधन काल में उत्तम रहते हैं। शाक आदि उसी में डाले जा सकते हैं। दही, घी आदि का मिश्रण भी उस एक पदार्थ में ही हो सकता है। इस संदर्भ में इस प्रकार के निर्देश मिलते हैं-

कणानां भक्षणे युक्तः पिण्याकस्य च भो द्विजाः।
स्नेहानां वर्जने युक्तो योगी बलमवाप्नुयात्॥
भुञ्जानो यावकं रूक्षं दीर्घकालं द्विजोत्तमाः।
एकाहारी विशुद्धात्मा योगी बल्तमवाप्नुयात्॥
अखण्डमपि वा मा सततं मुनिसत्तमाः।
उपोष्य सम्यक्शुद्धात्मा योगी बलमवाप्नुयात्॥

-ब्रह्मपुराण

दलिया, सत्तू, जौ, खिचड़ी आदि रूखा घी रहित भोजन उपवास पूर्वक करता हुआ मनुष्य आत्मशुद्धि कर लेता है और आत्म बल प्राप्त करता है।

तेषांनाशायकर्त्तव्यं योगिनां तन्निबोधमे।
स्निग्धायवागूमत्युष्णां भुक्त्वा तत्रैवधारयेत्॥
वातगुल्म प्रशान्त्यथमुदावर्त्ते तथोदरे।
यवागूँवापिपवनं वायुग्रन्थि प्रतिक्षिपेत्॥
नासतोदर्शर्नं योगेतस्मात्तत्परिवर्जयेत्।

-मार्कण्डेय पुराण

घी समेत खिचड़ी खाया करे। यह वात, गुल्म, अपच, उदर रोग आदि रोगों को दूर करती है। योग साधक अपने आहार विहार को ठीक रखे निरर्थक, बातों में न उलझे।

आहाराभक्ष्य निवृत्ता विशुद्धं हृदयं भवेत
आहार शुद्धौचित्तस्य विशुद्धिर्भवति स्वत:
चित्ते शुद्धे क्रमाज ज्ञानं भिन्दयतेग्रन्थय: स्फुरम् ।

–पाशुपत ब्रह्मोपनिषद्

अभक्ष आहार त्याग देने से अन्त:करण पवित्र होता है। चित्त की शुद्धि स्वयमेव होने लगती है। इस चित्त शुद्धि के आधार पर सद् ज्ञान का उदय होता है और अवरोधों की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।

भोजन प्रसन्न चित्त होकर किया जाये। उसे भगवान का प्रसाद मानकर खाया जायें। जो अनुपयोगी हो उसे खाने से पहले ही उठा दे। खाते समय नाक भों न सकोड़े। ठूँस-ठूँस कर न खाये। जल्दबाजी न करें। कड़ी भूख लगे बिना न खाया जाये। बार-बार खाते रहने की आदत न डालें। साधक को इन तथ्यों पर ध्यान रखने का निर्देश करने वाले कुछ शास्त्र वचन इस प्रकार हैं-

पूजये दशनं नित्यमद्याच्चैत्तदकुत्सयन् ।
द्रष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देश्च सर्वश: ।।

–मनु० २।५४

भोजन को नित्य आदर की दृष्टि से देखें और अन्न की निन्दा न करते हुए प्रसन्नतापूर्वक भोजन करे तथा उसे देखकर प्रसन्न होवे और सर्वथा प्रशंसा करे।

यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं ग्रस्तं परिणमेच्यात् ।
हितं च परिणामे यत्तपाद्यं भूति मिच्छता ।।

जो ग्रास खाया जा सके, खाया हुआ पच जावे, तथा पचने पर हितकारी हो, उसी को कल्याण चाहने वाले मनुष्य को खाना चाहिये।

अन्नेन पूरयेदर्धं तोयेन तु तृतीयकम् ।
उदरस्य तृतीयाशं संरक्षेद वायुचारणे ।।

–चे० स० ५।१२

उदर के आधे भाग को अन्न से भरे, तीसरे भाग को जल से और चौथे को वायु संचार के लिए रिक्त रखे।

द्वौ भागौ पूरंयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत् ।
वायो: संचारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ।।

–योग संध्या

उदर के दो भाग अन्न से पूर्ण करे और एक भाग को जल से पूर्ण करे और चौथे भाग को वायु के चलने के लिए शेष रखे।

अन्न एक स्तर पर औषधि, दूसरे पर तृप्ति और तीसरे पर विष है। नारी एक स्तर पर माता, दूसरे पर बहिन या पुत्री और तीसरे पर विषय वासना से भरी हुई रमणी है।

परिश्रम से उपार्जित अन्न खाकर साधना करने से ही उसकी सफलता होती है। पराया अन्न खाकर योगाभ्यास करने से कर्त्ता को मिलने वाला प्रतिफल उस अन्नदाता को चला जाता है। इसी प्रकार यदि वह पाप उपार्जित धन हुआ तो उस पाप से भी परान्न खाने वाले को पापी बनना पड़ता है। अस्तु साधक स्व उपार्जित अन्न पर निर्वाह करें। जिन कुटुम्बियों का भरण पोषण किया है उनसे अपना अनुदान वापस माँगे। यदि दान पर ही निर्वाह करना हो तो बदले में लोक सेवा के लिए परिश्रम करके उस ऋण से छुटकारा प्राप्त करें। भजन करने के नाम पर मुफ्त का माल खाते रहने वालों को साधना की सिद्धि नहीं मिलती। कहा भी है-

यस्यान्नेन तु पुष्टांगो जपं होमं समाचारेत् ।
अन्नदातु फलस्यार्धं चार्धं कर्तुर्न संशय: ।।

–कुलार्णव तंत्र

दूसरे के अन्न से पेट भरकर जप, हवन आदि करने वाले साधक का आधा फल उसके लिए चला जाता है जिसका अन्न खाया है।

यो यस्यान्न समश्नाति स तस्याश्नाति किविषम्

–कूर्स पुराण

अर्थात् जो जिसके अन्न को खाता है वह उसके पापों को भी खा लिया करता है।

ऋग्वेद १०।११७।६ में स्व उपार्जित धन का एक महत्त्वपूर्ण अंश परमार्थ प्रयोजनों में लगाने के उपरान्त ही शेष यज्ञावशिष्ठ को खाने का विधान है। जो अपनी कमाई आप ही खाता रहता है उसका अंश दान परमार्थ प्रयोजनों में नहीं लगता वह कृपण व्यक्ति एक प्रकार से पाप ही खाता है। भले ही वह स्व उपार्जित क्यों न हो ? कहा गया है-

जो अपनी कमाई आप ही खाता रहता है, वह मूर्ख मनुष्य एक प्रकार से पाप ही खाता है।

गाँधी जी ने सप्त महाव्रत लेख माला में प्रथम व्रत 'अस्वाद' को माना है। उनका कथन है कि जिह्वा इन्द्रिय

की प्रबलता पर अंकुश लगाया जा सके तो कामेन्द्रिय आदि अन्य इन्द्रियों पर सहज ही नियन्त्रण हो सकता है।

प्राचीन काल में योगाभ्यासी ऋषियों का भोजन परम सात्विक होता था। महर्षि कणाद अन्न के दाने बीन कर गुजारा करते थे। पिप्पलाद का आहार पीपल वृक्ष के फ़ल थे। वन्य प्रदेशों में कन्द, मूल, फल उपलब्ध थे। इसलिये उनके निवास उसी क्षेत्र में होते थे। अत: वैसी स्थिति तो नहीं रही। पर जितना कुछ संभव है आहार की सात्विकता और व्यवस्था पर अधिकाधिक अंकुश रखना साधना की सफलता के लिए नितान्त आवश्यक समझना चाहिये

आहार के त्रिविधि स्तर, त्रिविधि प्रयोजन

पिछले दिनों ब्रिटेन मैञ्चेस्टर मेडिकल,रिसर्च इन्स्टीटयूट ने इस विषय पर शोध कार्य हाथ में लिया कि आहार का मनुष्य और प्राणियों के स्वभाव, गुण तथा प्रकृति पर क्या प्रभाव पड़ता है। इसके लिए कई परीक्षण किये गये हैं। उनमें से एक इस प्रकार था। चूहा स्वभावत: शांत प्रकृति का होता है किसी से लड़ता झगड़ता या आक्रमण नहीं करता। प्रयोगशाला में पाले गये चूहों में से एक को निकाला गया और उसे सामान्य आहार न देकर मिर्च मसाले तथा माँस और नशीली चीजों से बना आहार दिया गया। यह आहार लेने से पूर्व तक चूहा बेहद शान्त था। पर इसके कुछ ही घण्टे बाद वह उद्दण्ड और आक्रामक बन गया। उसे वापिस पिंजरे में छोड़ा गया तो पिंजरे के दूसरे चूहों को उस अकेले ने इस बुरी तरह सताया कि कुछ चूहे लहुलुहान हो गये।

इसके बाद उसी चूहे को दूसरी बार सरल, शुद्ध और सात्विक भोजन दिया गया। इस पर भी पिछला प्रभाव तो बाकी था किन्तु चूहा अपेक्षाकृत शान्त था। कई बार साधारण खाना लेने के बाद चूहा अपनी वास्तविक स्थिति में आ पाया। इस तरह के सैंकड़ों प्रयोगों द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सका कि जो कुछ खाया जाता है। उससे शरीर का पोषण ही नहीं होता बल्कि लिया गया भोजन मनुष्य के व्यक्तित्व बनाने में भी असाधारण भूमिका निबाहता है। आत्म विज्ञान की दृष्टि से स्थूल शरीर और कारण शरीर के समान आहार के भी तीन प्रकार और तीन स्तर होते हैं। जिन्हें सत् रज और तम कहा जाता है। आहार के तम अंश से रक्त माँस बनता है। रज अंश से मस्तिष्कीय क्षमता प्रभावित होती है और सत् अंश भावनाओं का निर्माण करता है।

चिकित्सा शास्त्र की खोजबीनें और प्रयोग विश्लेषण आहार के स्थूल स्वरूप तक ही सीमित है। क्या खाने से शरीर के कौन से रासायनिक पदार्थों को बढ़ाया जा सकता है और क्या खाने से शरीर में कौन से रासायनिक तत्व घटते हैं चिकित्सा शास्त्र इतनी ही खोजबीन कर पाया है। विश्लेषण का क्षेत्र इस सीमा तक भी बढ़ा है कि मस्तिष्क पर आहार के कौन से अंश क्या और किस प्रकार का प्रभाव डालते हैं। सम्भवत: आगे चल कर आहार की कारण शक्ति के बारे में भी कुछ प्रयोग किये जायें। परन्तु भारतीय ऋषि मुनियों ने इस विषय पर पहले से ही विशद प्रकाश डाल रखा है कि क्या खाने से बौद्धिक प्रखरता बढ़ती है और कौन सा आहार स्वभाव तथा व्यक्तित्व की मूल परतों को स्पर्श करता है।

स्मरणीय है योगशास्त्रों और साधना ग्रन्थों ने अन्त:करण को पवित्र एवं परिष्कृत करने के लिए सात्विक आहार ही अपनाने को कहा है। गीता में भगवान कृष्ण ने सात्विक, राजसी और तामसी आहार की सुस्पष्ट व्याख्या की है तथा शरीर, मन और बुद्धि पर उसके पड़ने वाले प्रभावों का भी स्पष्ट विवेचना किया है। आत्मिक प्रगति के आकांक्षी और साधना मार्ग के पथिकों के लिए इस बात का निर्देश दिया गया है कि सात्विक आहार ही अपनाया जाये और उसकी सात्विकता को भी भावनाओं का सम्पुट देकर आत्मिक चेतना में अधिक सहायता दे सकने योग्य बनाया जाय। भगवान् का भोग प्रसाद, यज्ञाग्नि में पकाया गया, चरुद्रव्य इसी प्रकार के पदार्थ हैं जिनकी स्थूल विशेषता न दिखाई देने पर भी उनकी सूक्ष्म सामर्थ्य बहुत अधिक होती है।

प्रत्यक्ष रूप में यदि आहार का मस्तिष्क और स्वभाव पर क्या प्रभाव पड़ता है यह देखना हो तो नशों के रूप में देखा जा सकता है। हल्का या तेज नशा मस्तिष्क पर अपना कैसा प्रभाव छोड़ता है यह सुस्पष्ट है। सामान्य स्वस्थ मनोदशा में लोग बहुत कम अपराध कर्म करते हैं जबकि शराब पीकर या अन्य तेज मादक द्रव्यों का सेवन कर ज्यादातर, अपराध होते हैं। प्राय: सभी अपराधी शराब, चरस, गांजा जैसे मादक द्रव्यों के आदी होते हैं। शरीर विज्ञानियों के अनुसार हल्के से हल्के मादक द्रव्यों का सेवन भी शरीर पर विषाक्त प्रभाव छोड़ते हैं मस्तिष्क को कुंठित कर देने वाले नशे जिस प्रकार अपना हानिकारक प्रभाव दिखाते हैं उसी प्रकार ऐसे रसायन भी ढूँढ निकाले जा रहे हैं उसी प्रकार के अविकसित अंगों में

पुनर्जीवन भर सकते हैं। नशेबाजी के ठीक विपरीत प्रकार की यह रचनात्मक दिशा हुई।

पश्चिमी देशों में इस विषय को लेकर काफी खोज बीन हो रही है। अमेरिका के वाल्टीमीटर शहर के एक स्कूल में ५२ विद्यार्थियों को स्मार्टपिल्स नामक दवा एक महीने तक खिला कर देखा गया। एक महीने बाद उनके मस्तिष्क की परीक्षा की गई तो पाया गया कि इस थोड़ी सी अवधि में उन छात्रों की मस्तिष्कीय क्षमता पहले से अधिक बढ़ गई थी। मिशीगन विश्वविद्यालय के जीवशास्त्री ने मस्तिष्क पर आहार का प्रभाव जाँचने के लिए मनुष्येत्तर प्राणियों पर भी प्रयोग किये हैं। उक्त जीवशास्त्री डॉ० बर्नार्ड एग्रानोफ ने अपने प्रयोग के दौरान मछलियों की खुराक में फेर बदलकर उन्हें चतुर और भुलक्कड़ बनाने के सफल प्रयोग किये। डॉ० बर्नार्ड के अनुसार आहार में प्यरोमाइरिन नामक प्रोटीन मात्रा के घटने-बढ़ने से मस्तिष्क की क्षमता भी घटती-बढ़ती है। दस वर्षों तक लगातार प्रयोग और परीक्षण करने के बाद कैलीफोर्निया यूनिवर्सिटी के मनोविज्ञानी रिचार्ड थापंसन इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बुद्धि दैवी वरदान नहीं है उसे मानवी प्रयत्नों से घटाया बढ़ाया जा सकता है। इस प्रयोग शृंखला में उन्होंने कुत्तों, बिल्लियों, चूहों और बन्दरों को भी शामिल किया और प्रतिपादित किया कि अन्य शारीरिक परिवर्तनों के समान ही आहार द्वारा मस्तिष्कीय क्षमता में भी हर स्तर का परिवर्तन कर सकना सम्भव है।

मिशीगन विश्वविद्यालय के ही प्रो० जेम्स मेकानेल ने तो अपने प्रयोगों द्वारा यह भी सिद्ध कर दिया कि आहार में हेर-फेर करके स्मरण शक्ति और सम्वेदन शीलता को भी कम-ज्यादा घटाया-बढ़ाया जा सकता है। इतना ही नहीं दो व्यक्तियों में स्मृति और अनुभवों का परिवर्तन भी किया जा सकता है। ठीक उसी प्रकार जैसे कि एक व्यक्ति का रक्त दूसरे व्यक्ति के शरीर में प्रवेश कराया जा सकता है। और टूटे फूटे अवयवों को बदल कर उनके स्थान पर नये अंग का प्रत्यारोपण किया जा सकता है। कहा जा चुका है कि चिकित्सा विज्ञान का ढाँचा शरीर पर पड़ने वाले खाद्य पदार्थों के प्रभाव की जानकारी के आधार पर भले ही वह औषधि के रूप में क्यों नहीं, खड़ा किया गया है। वर्तमान में जारी प्रयोगों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अगले दिनों बुद्धि की मन्दता, अकुशलता और मानसिक विकृतियों का उपशमन भी खाद्य पदार्थों की सूक्ष्म शक्ति के आधार पर सफलतापूर्वक किया जाने लगेगा। सम्भव है अगले दिनों इस प्रकार की औषधियाँ बाजार में आने लगें जिनका सेवन कर मनुष्य अपनी स्मरण शक्ति, बुद्धि कौशल, सूझ-बूझ को बढ़ा सके।

मस्तिष्कीय क्षेत्र में यह सफलता आहार की सूक्ष्म शक्ति के आधार पर ही सम्भव हो सकेगी। इस प्रयोजन के लिए पदार्थों की सूक्ष्म शक्ति के विषय में अनेक प्रयोग और अन्वेषण कार्य चल रहे हैं। यह सूक्ष्म शक्ति शरीर का पोषण करने वाली स्थूल शक्ति से भिन्न स्तर की है। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि जो खाद्य पदार्थ शरीर के लिए उपयोगी हों वे मस्तिष्क के लिए भी उपयोगी हों, यह न तो आवश्यक है और न अनिवार्य ही।

आहार की स्थूल और सूक्ष्म शक्ति जो शरीर और मस्तिष्क को प्रभावित करती है। कारण शक्ति उससे भिन्न स्तर की है। कहना न होगा कि भावना क्षेत्र शरीर और मस्तिष्क से भिन्न और बढ़कर है। इसी के आधार पर गुण, कर्म, स्वभाव को दिशा मिलती है और उससे समूचे व्यक्तित्व का निर्माण होता है। जो व्यक्ति शरीर से बलवान है कोई आवश्यक नहीं कि वह मस्तिष्क से भी बुद्धिमान हो। उसी प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति भावना स्तर पर उच्चस्थिति सम्पन्न हो यह आवश्यक नहीं है। शरीर से बलवान और मस्तिष्क से बुद्धिमान होने पर भी कोई व्यक्ति भावना स्तर पर गया गुजरा हो सकता है और निकृष्ट कोटि का दुष्ट जीवन जी रहा हो सकता है। ऐसे व्यक्ति अपने दोष दुर्गुणों के कारण पग-पग पर ठोकरें खाते हैं। और प्रतिभा सम्पन्न होते हुए भी असफल जीवन जीकर रोते कलपते रहते हैं। इसके विपरीत अपेक्षाकृत सामान्य स्वास्थ्य और साधारण बुद्धि के लोग परिष्कृत भावना स्तर के कारण महामानवों की स्थिति में जा पहुँचते हैं और वन्दनीय स्थान प्राप्त कर लेते हैं।

यह विज्ञान आज भी अपने स्थान पर सही है और निश्चित परिणाम प्रस्तुत करने में समर्थ है। यह बात अलग है कि वह विज्ञान लुप्त हो गया है। पर उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह तो पता चलता है कि इस शक्ति के विकास में खाद्य पदार्थ की कारण शक्ति का भी सफलतापूर्वक उपयोग किया जाता था। पिप्पलाद ऋषि ने इसके लिए पीपल के फल खाकर निर्वाह किया था और इसी कारण पिप्पलाद ऋषि कहलाये। औदम्बर ऋषि

का नाम भी इसी आधार पर पड़ा कि वे औदुम्ब फल (गूलर का फल) खाकर ही अपनी जीवन यात्रा चलाते थे। केवल मूँग ही खाकर निर्वाह करने के करण मौद्गल ऋषि का नाम मौद्गल पड़ा। यह खाद्य पदार्थ भी विशिष्ट उपचारों से अभिमन्त्रित किये जाते थे। ताकि उनकी कारण शक्ति विशिष्ट रूप से उभर कर आ सके। यज्ञ विज्ञान के अनुसार विशिष्ट अग्निहोत्री में विभिन्न प्रयोगों द्वारा हवन सामग्री को परिष्कृत और अन्न को संस्कारित इसलिए किया जाता है कि उनकी कारण शक्ति का उपयोग किया जा सके।

आत्मिक प्रगति के लिए की जाने वाली सभी साधनाओं में आहार की कारण शक्ति को विकसित करके उसके उपयोग का विधान है। इस सम्बन्ध में उपेक्षा बरती जाने से आत्मबल सम्बर्धन के लिए किये जा रहे साधानात्मक प्रयोगों में यत्किंचित ही सफलता मिलती है, जबकि आत्मबल का अभिवर्धन ही मनुष्य की सबसे बड़ी सफलता है और वही सबसे मूल्यवान सम्पदा भी। यदि यह पूँजी अभीष्ट मात्रा में विद्यमान हो तो मनुष्य लौकिक दृष्टि से और आत्मिक दृष्टि से, सर्वप्रकारण सफल हो सकता है। उसमें इतनी शक्ति आ जाती है कि वह अपना आत्मिक उत्कर्ष करने के साथ- साथ सिद्ध पुरुषों की तरह अपनी नाव में बिठाकर असंख्यों को पार कर सकता है। इस संदर्भ में आहार शुद्धि की, उसकी सतोगुणी कारण शक्ति की उपयोगिता असंदिग्ध ही नहीं उपयोग अनिवार्य भी है। मनुस्मृति में साधकों के लिए भक्ष्य अभक्ष्य आहार की लम्बी सूची बताई गई है और कहा गया है कि आत्मिक प्रगति के इच्छुक को अभक्ष्य आहार अनजाने में भी नहीं करना चाहिये। अनजाने में हुए अभक्ष्य भक्षण का प्रायश्चित विधान करते हुए कहा गया है, "अमत्यैतानि वद् जग्ध्वा कृच्छं सान्तपनं चरेत् (५।२०) अर्थात्- अनजाने में उपरोक्त अभक्ष्य भोजन कर लेने पर कृच्छ सान्तपन अथवा चांद्रायण व्रत करना चाहिये।

उच्चस्तरीय साधना विधान में आहार विहार के ये कड़े नियम इसलिये बनाये गये थे कि साधक आत्मिक प्रगति के पथ पर निर्वाध गति से बढ़ता हुआ रह सके। खेद है कि प्राचीनकाल के तत्वदर्शियों द्वारा जो प्रयोग किये गये थे, वे अब प्रायः लुप्त ही हो गये हैं। मात्र उनकी छाया छुटपुट कर्मकाण्डों के रूप में खण्डहरों की तरह जहाँ-तहाँ अपनी कुरूप और विद्रूप स्थिति में पड़ी दिखाई देती है। भवन का प्रयोजन खण्डहरों से पूरा नहीं हो सकता और न ही योगसाधना का उद्देश्य प्रचलित एकांगी कर्मकाण्डों से पूरा हो सकता है। यही कारण है कि मात्र शरीर श्रम और वस्तु समुच्चय के आधार पर योग के नाम की जो लकीर भर पीटी जाती रही है। उसके उत्साहवर्धक सत्परिणाम सामने नहीं आ रहे हैं। उसके लिए तो पदार्थ की अल्पाहार की कारण शक्ति को भी समझना और उपयोग में लाना पड़ेगा।

आहार संयम और अन्नमय कोश का–जागरण

मनुष्य की अध्यात्मिक प्रगति का प्रधान माध्यम मन है। उसे ही बन्धन एवं मोक्ष का कारण बताया गया है। मन की चंचलता एवं चिन्तन प्रवाह को सुनियोजित करने से ही साधना के मार्ग में प्रगति मिलती है। मन का स्तर योगी के आंहार पर निर्भर है। यह जितना सात्विक होगा, मन उसी अनुपात में निर्मल बनता चला जायेगा। अन्नमय कोश की साधना के लिये अन्न की महिमा को प्रधानता देते हुए ही साधनाक्रम बिठाया जाता है। आहारशास्त्री बताते हैं कि अस्सी फीसदी रोगों का कारण आहार व्यतिक्रम है। भूख से आरम्भ होने वाली प्रक्रिया आहार ग्रहण करने तथा उसे आत्मसात कर उसका निष्कासन होने तक व्यक्ति को प्रभावित करती है।

आधुनिक समाज में कैंसर, आर्थाइटिस, दमा, हृदयाधान जैसे असाध्य रोगों का सुनिश्चित सम्बन्ध आहार से जोड़ा जाने लगा है। कुछ विशेषज्ञ तो यहाँ तक भी कहते हैं कि पाचन सम्बन्धी अनेक सामान्य असन्तुलन इन भयंकर रोगों के पूर्व संकेत है। राष्ट्र संघ की "पोषण एवं मानव की आवश्यकता" पर प्रकाशित एक रिपोर्ट में कहा गया है कि "इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही संक्रामक रोग बढ़ते चले आ रहे हैं । इसका कारण है आहार में विद्यमान संघटकों में परिवर्तन। कार्बोहांइड्रेट फल, साग- सब्जी तथा अन्न के स्थान पर अब बसा, शर्करा-स्टार्च ने जगह ले ली है। कैलोरी सम्बन्धी आवश्यकता पूरी करने वाली सारी सामग्री का साठ प्रतिशत इन्हीं पदार्थों से बना होता है। शरीर की जीवनी शक्ति को बढ़ाने के बजाय ये सभी तथाकथित पोषक पदार्थ मनुष्य को पाचन सम्बन्धी रोगों तथा संक्रामक रोगों के जंजाल में डाल देते हैं असामयिक मृत्यु के दस प्रमुख कारणों में से छह का सम्बन्ध आहार से है। कैंसर भी उसमें से एक है।"

नवीनतम वैज्ञानिक खोजों से यही स्पष्ट होता जा रहा है कि कैंसर के कारण, बचाव और उपचार में आहार का सर्व प्रमुख स्थान है। नेशनल कैंसर इंस्टीट्यूट अमेरिका के डॉ० गोरी के अनुसार पुरुषों में सभी प्रकार के कैंसर का साठ प्रतिशत तथा स्त्रियों में इकतालिस प्रतिशत सम्बन्ध आहर की अनियमितता से होता है। उपचार हेतु कितनी भी औषधियाँ खोज ली जायें यदि आहार सम्बन्धी भ्रमों से मनुष्य ने जल्दी ही मुक्ति नहीं पायी तो सारे प्रयास निष्फल ही सिद्ध होंगे।

आहार से पहले बारी आती है भूख की। समय-बेसमय भूख लगना, वस्तुत: मनुष्य के भीतर की अपूर्णता या रिक्तता की द्योतक है। भूख का सम्बन्ध मन एवं चेतना से है। भूख अच्छे स्वास्थ्य का एक चिन्ह है। यह मस्तिष्क के लिए भी संकेत है कि शरीर को अन्न की जरूरत है इस भूख के तीन प्रकार हैं- क्षुधा, व्यथा, तथा भूख की असह्यता। क्षुधा रुचिकर भोजन की इच्छा से सम्बन्धित है। व्यथा या कसक जैविक क्रमानुसार पेट में कुलबुलाहट उठने से सम्बन्धित है। तीसरी असह्य भूख है, अचेतन स्तर पर शरीर को जीवित बनाये रखने के लिए प्रकृति की माँग है। आत्मसुरक्षा हेतु निर्धारित सुरक्षा व्यवस्था है।

भूख के ये तीनों कारक मस्तिष्क को आवश्यक रस स्राव हेतु स्नायु संस्थान को सक्रिय करने के लिए संकेत देते हैं। शरीर के अन्दर ऐसी भी व्यवस्था है जो बताती है कि हमें कितना खाना चाहिये एवं कब खाना बन्द कर देना चाहिये। आन्तरिक सजगता का विकास यदि न हुआ हो तो मनुष्य इन संकेतों के प्रति सम्वेदनशील हो जाता है एवं अपनी भूख की तीव्रता पर एक स्वाभाविक नियन्त्रण स्थापित कर लेता है। अति आहार के कारण होने वाली व्याधियों जैसे- मोटापा, अजीर्ण तथा पाचन सम्बन्धी रोगों का निवारण करने के लिए आत्म नियन्त्रण अत्यन्त आवश्यक है। वासनामय चित्र, आत्मक्रेन्द्रित दृष्टिकोण अनुसार/वृत्ति सुख उपभोगों, मे लिप्सा ही सारे शारीरिक असंकलनों व मानसिक तनावों को जन्म देते हैं। भोग लालसा मन को इन सुखों के पीछे भागने को विवश करती है। जब व्यक्ति वासना से अभिभूत होकर अधिक खाता है तो रोग से ग्रस्त हो जाता है। इस प्राकृतिक नियम का दुरुपयोग व्यक्ति को निम्न अधोगामी प्रवृत्तियों में ही लिप्त रखता है। तथा अति आहार के लिये विवश करता है।

शरीर की सूक्ष्म एनाटामी के अनुसार स्वाधिष्ठान चक्र का सम्बन्ध सुखानुभूति व काम-वासना से है। भोजन और सम्भोग इन स्वाभाविक वासनाओं की पूर्ति में ही सामान्य पशु लिप्त रहते हैं। कामवासना की स्वाभाविक पूर्ति में कोई अवरोध हो अथवा पूर्ण सन्तुष्टि प्राप्त न हो तो अन्त:प्रवृत्ति के वशीभूत हुआ मनुष्य उसकी पूर्ति भोजन द्वारा करता है। ये चक्र संस्थान हमारे आटोनोमिक नर्वस सिस्टम का एक भाग है। इन्हें सुनियोजित कर हम अपने अन्दर के जंगली पशु को साध सकते हैं। यह संस्थान आटोमेटिक है जो बिना किसी चेतन निर्देशन के अपना कार्य करता है। वैज्ञानिक वायोफीड बेक पद्धति द्वारा अन्त:नियन्त्रण व संयन्त्रों का प्रशिक्षण प्रयोग रूप में कर दिखाते हैं, इसी तरह पंचकोषों की साधना से आटोनामिक नर्वस सिस्टम को चैतन्य नियन्त्रण में रखने तथा भाव-सम्वेदनाओं की अतिरिक्ता के प्रभावों से बचाये रखने में सहायता मिलती है।

भूख के बाद बारी आती है आहार की। आहार की शुद्धता क्यों आवश्यक है, इस सम्बन्ध में शास्त्रकार निर्देश देते हैं:-

अन्नमयं हि सौम्य मन । (छान्दोग्य)
हे सोम्य ! यह मन अन्नमय है ।

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य य: स्थविष्टो धातुस्तपुरोषं भवति यो मध्य मस्तन्मा स योगिष्टास्तन्मव ।

(छान्दोग्य)

जो अन्न खाया जाता है, वह तीन भागों में विभक्त हो जाता है। स्थूल अंश मल, मध्यम अंश रस-रक्तमांस तथा सूक्ष्म अंश मन बन जाता है।

आहार शुद्धया नृपते, चित्र शुद्धिश्च जायते ।
शुद्धे चित्रे प्रकाश: स्याद्धर्मस्य नृपसत्तम् ।।

-देवी भागवत

हे राजन आहार शुद्धि होने पर चित्त की शुद्धि होती है। इस निर्मल चित्त से ही धर्म का प्रकाश होता है।

आहार स्वाद के लिये नहीं, औषधि रूप में लिया जाना चाहिए। उसकी अन्त:शक्ति को ध्यान में रखा जाय। यह जीवन है- जीवन का आधार है, यह समझते हुए उसकी स्वादिष्टता को नहीं सात्विकता को ही महत्व दिया जाना चाहिए। अभक्ष आहार उल्टा प्राणी को ही खा जाता है एवं विपत्ति का कारण बनता है। उपनिषद्कार इस वैज्ञानिक तथ्य को इस तरह व्यक्त करता है-

अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वौषध-मुच्यते जाता अन्नेन वर्धन्ते ।अद्यतेति च भूतानि ।

–तैत्तिरीय

प्राणियों में अन्न की ही श्रेष्ठता है। इसलिये उसे सर्वोत्तम औषधि कहते हैं। अन्न से जीव जन्मते और बढ़ते हैं। जीवधारी अन्न को खाते हैं, पर वह अन्न जीवों को भी खा जाता है।

यह स्थिति तब आती है जब मनुष्य अभक्ष्य एवं अति पर उतर आता है। प्रसिद्ध अमेरिकन सिनेतारिका ग्लोरिया लिखती हैं कि "मुझे गर्भाशय का कैंसर बता दिया गया था। चिकित्सकों के अनुसार मेरी आयु मात्र १ वर्ष थी यदि मैं शीघ्र आपरेशन द्वारा यूटेरस को न निकलवाती।" ग्लोरिया ने इस सर्जरी को अनावश्यक मान आहार विशेषज्ञ से राय लेकर अपने जीवन में आमूलचूल परिवर्तन किया। जहाँ वह दिन में कई बार खाती थी एवं मांसाहार- चर्बी युक्त भोजन करती थी, कहाँ शाक सब्जी, अन्न ने व उपवासों के क्रम ने स्थान ले लिया। अढ़ाई वर्ष बाद पुन: परीक्षण होने पर पाया गया कि उसका ट्यूमर पूर्णत: लुप्त हो गया था। योग, आहार व इच्छा शक्ति के आधार पर मनुष्य रोगों पर विजय प्राप्त कर सकता है, यह अब एक सुनिश्चित तथ्य है।

आहाराभक्ष्य निवृत्ता विशुद्धं हृदयं भवेत । आहार शुद्धौ चितस्य विशुद्धिर्भवति स्वत: चित्ते शुद्धे क्रमान ज्ञानं भिन्दयते ग्रन्थम: स्फुरम ।।

–पाशुपत ब्रह्मोपनिषद्

अभक्ष्य आहार त्याग देने से अन्त:करण पवित्र होता है। चित्त की शुद्धि स्वयमेव होने लगती है। इस चित्त शुद्धि के आधार पर सद्ज्ञान का उदय होता है और अवरोधों की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।

अन्नमय कोष की साधना में साधक को इन्हीं बातों का ध्यान रखना होता है। समग्र स्वास्थ्य का आधार सात्विक आहार है, इसी मूल-दर्शन को योगविज्ञान में केन्द्र बिन्दु माना गया हैं। साधक का आहार अनेक स्वादों का नहीं होना चाहिये। एक ही पदार्थ व एक ही स्वाद उत्तम है। गाँधी जी ने सप्त महावर्त्त लेखमाला में प्रथम व्रत अस्वाद को माना है। उनके अनुसार यदि जितेन्द्रय की प्रबलता पर अंकुश लगाया जा सके तो कामेन्द्रियों पर सहज नियन्त्रण किया जा सकता है।

वस्तुत: पतन का आरम्भ जिह्वा के असंयम से ही आरम्भ होता है। जो व्यक्ति अपनी रसना को वश में कर लेता है, उसका चिन्तन कभी कामुकता में लीन नहीं हो सकता। किसी भी साधक, आत्मिक प्रगति के विद्यार्थी के लिये इसलिये इन प्राथमिक अभ्यासों को साधना में आवश्यक बताया गया है।

प्राचीनकाल में योगाभ्यासी ऋषियों का भोजन परम सात्विक होता था। महर्षि कणाद अन्न के दाने बीनकर गुजारा करते थे। पिप्पलाद का आहार था पीपल वृक्ष के फल। वैसी स्थिति आज कहीं पायी नहीं जा सकती, पर जितना कुछ सम्भव है, आहार की सात्विकता और व्यवस्था पर अधिकाधिक अंकुश रखना साधक की सफलता के लिये नितान्त जरूरी है।

अन्न के विषय में कहा गया है कि यह एक स्तर पर **औषधि है**, दूसरे पर तृप्ति **और तीसरे** पर विष। नारी एक स्तर पर माता, दूसरे पर **बहिन या पुत्री** तथा तीसरे पर विषय वासना से भरी रमणी **है**। **एक ही** वस्तु के तीन स्वरूप हैं। जिसने अन्न की सात्विक **और** सीमित मात्रा में ही उपयोगिता को समझा, वह न केवल शारीरिक दृष्टि से लाभ प्राप्त कर सका, अपितु चिन्तन तथा भावनाओं को उत्कृष्टता की ओर नियोजित कर स्वयं को आध्यात्मिक दृष्टि से भी ऊँचा उठा सका है।

उपनिषदकार कहता है–

एवमेव खुल साम्यान्नस्याश्य मानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्व: समुदीपति तन्मनोभवति। अपा सोम्य पीयमाननां योऽनेमा स ऊर्ध्व: समुदोषति स प्राणो भवति । तेजस: सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्व: समुदीषति सा वाग्भवति ।।

(छान्दोग्य)

हे सौम्य ! इस प्रकार ही खाये गये अन्न का जो भी सूक्ष्म भाग होता है, वह ऊपर उठ जाता है एवं मन का तन्तु जाल बनाता है। ऐसे ही पिये जाते हुए जलों का जो सूक्ष्म अंश आता है, वह ऊपर नितर आता है एवं प्राणमय जीवन बनाता है। ऐसे ही खाये हुए तेज का जो सूक्ष्म अंश होता है वह ऊपर नितर आता है एवं वाणी बन जाता है।

ऋषिगणों की इतनी सूक्ष्म दृष्टि थी कि उन्होंने साधना के स्वरूप को बोधगम्य बनाने के लिये आहार के सभी आयामों को शरीर मन की संरचना के साथ सम्बन्धित कर प्रस्तुत किया।

दुश्चिन्तन ही समस्त व्याधियों का मूल है। यह मनुष्य को अपनी अन्त:वृत्तियों का दास बनने पर विवश कर देता है। अन्तमय कोष की साधना आहार सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण के परिष्कार की साधना है। सांसारिक जीवन में सफलता की बात हो या आत्मिक उत्कर्ष की, सुखी स्वस्थ जीवन दोनों के लिये जरूरी है। जो अपनी वृत्तियों का परिशोधन कर अपने जीवनक्रम में परिवर्तन कर लेता है वह अन्नमयकोष जागरण की साधना के इस प्रथम चरण को पार कर लेता है।

शुद्ध सात्विक भोजन, मितआहार, प्रसन्न मन से भगवान से प्रसाद रूप में ग्रहण किया गया भोजन, स्वाद विशेष में रुचि न रख बीच-बीच में अस्वाद व्रत का पालन, परिश्रम की कमाई का ही भोजन निश्चितत: साधक की इस प्राथमिक भूमिका को सशक्त बनाते हैं।

आहार- विहार से जुड़ा है मन

मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय कहा गया है। शरीर का केन्द्र यही है। केन्द्र से जैसे संकेत आदेश मिलते हैं, वैसे ही प्राणि मात्र का शरीर संचालित होता है। अदृश्य रूप से हमारे मन में भाँति-भाँति के विचार भाव और अनुभव भरे रहते हैं। इन गुप्त विचारों के अनुरूप ही जीवन में क्रियाशीलता आती है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मनुष्य का आरोग्य उसकी मनोदशा पर निर्भर करता है। मन की विकृति, कमजोरी, आघात या मानसिक दु:ख के कारण स्वास्थ्य में तुरन्त गिरावट दिखाई देने लगती है।

मन की दो खुराक हैं। आहार और विहार जैसा हम अन्न खाते हैं उसका स्थूल रूप शरीर के उपयोग में आता है और सूक्ष्म भाग मनकी खुराक बन जाता है। जीवन के लिए भोजन अथवा भोजन के लिए जीवन इनकी प्रतिक्रिया सर्वथा भिन्न होती है। दो व्यक्ति एक साथ एक समय एक जैसा भोजन करते हैं, पर उनके परिणाम मन के ऊपर भिन्न प्रकार की छाप डालते हैं। भोजन सम्बन्धी रुचि और मर्यादा में अन्तर उपस्थित करते हैं। खाते समय जो छाप मन पर पड़ती है उसमें भारी अन्तर पड़ता है। भोजन को औषधि, या ईश्वर का प्रसाद समझकर ग्रहण करने वाला व्यक्ति उसे अमृत समझकर श्रद्धा और प्रसन्नतापूर्वक उतनी मात्रा में खाता है जितना स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। वस्तुओं के चुनाव में उसे पोषक तत्वों और गुणों का ध्यान रहता है। जबकि भोजन के लिए जीने वाला स्वाद के पीछे पड़ा रहता है। मनचाहा स्वाद न मिलने पर आहार को फेंके-फेंके फिरता है, नाक-भौं सिकोड़ता है और स्वादिष्ट वस्तु मिलने पर पेट में अधिक ठूँसता चला जाता है। मिर्च मसाले तले भुने नशीले पदार्थ तामसिक हैं। यह गुण मन को प्रभावित करता है। ऐसा आहार करने वाले प्राय: क्रोधी, तामसी कामुक-चंचल और पतनोन्मुख प्रवृत्तियों से घिर जाते हैं। बेईमानी से दूसरों को दु:ख या धोखा देकर अनीतिपूर्वक बिना परिश्रम कमाया हुआ पैसा जब पेट में जाता है, तो उससे मन अतीव उछृंखल, उद्दण्ड हो जाता है। तब वह न शास्त्र की, न धर्म की बात मानता है और न सन्त की। ऐसा आहार मन पर कुत्सित प्रभाव ही डालेगा। उसे कुसंस्कारी ही बनायेगा।

पोषण का दूसरा माध्यम है विहार। जल, वायु वस्त्र, निवास, सोना, उठना, श्रम, विनोद संयम, स्वच्छता, संगति, परिस्थिति, वातावरण आदि की मिली जुली व्यवस्था को विहार कहते हैं। इन बातों का शारीरिक स्वास्थ्य पर बहुत प्रभाव पड़ता है। अवांछनीय विहार करने वाले उच्छृंखल लोग कभी स्वस्थ नहीं रह सकते। अकेला आहार अच्छा होने से काम नहीं चलता, विहार भी ठीक होना चाहिए, तभी गाड़ी के दोनों पहिए ठीक तरह लुढ़केंगे और स्वास्थ्य ठीक रहेगा।

विहार का सूक्ष्म रूप भी है जो मन का पोषण करता है। यह है काम करते समय रखा जाने वाला दृष्टिकोण। सामान्य जीवन यापन भी उच्च दृष्टिकोणयुक्त हो सकता है और उसी को निकृष्ट भावना से किया जा सकता है। काम का बाहरी स्वरूप एक जैसा रहते हुए भी उसका सूक्ष्म प्रभाव विपरीत होगा और मन का पोषण उसी एक जैसे काम से भिन्न व्यक्तियों को भिन्न प्रकार का मिलेगा।

व्यापार कृषि, नौकरी आदि आजीविका के माध्यमों में दृष्टिकोण की भिन्नता रहती है। एक व्यक्ति इन माध्यमों से बिना नीति-अनीति का विचार किये जितना भी जैसे भी सम्भव हो अधिक उपार्जन का प्रयत्न करता है। दूसरा व्यक्ति दूसरों का प्रयोजन सिद्ध करने के फलस्वरूप निर्वाह की व्यवस्था रखने के लिए उपार्जन करता है। अपनी ही तरह वह उनके स्वार्थों का भी ध्यान रखता है जिनके माध्यम से वह आजीविका उपार्जित की गई। शिक्षा, विनोद, व्यायाम, मैत्री, सम्भाषण खर्च, परामर्श, चिन्तन आदि सामान्य दैनिक कार्यों में वह औचित्य और मनुष्यत्व को बनाये रखता है। फलस्वरूप कहीं रोजमर्रा के काम एक प्रकार से योग साधना बन

जाते हैं। इसका प्रभाव मानसिक स्थिति पर पड़ता है। यह विहार क्रम जिसे सात्विक मिला है, उसका मन न कुमार्गगामी होगा न उच्छृंखल, वह उद्धत आचरण नहीं करता। जानता है कि मेरा अस्तित्व सेवा करना है, मुझे सेवक के रूप में बनाया गया है, मेरा कर्त्तव्य आत्मा की सहायता करना है। मुझे कोई ऐसा काम न करना चाहिए, जिससे जीवात्मा के जीवन लक्ष्य में बाधा-व्यवधान उत्पन्न होता है। ऐसा समझदार मन मर्यादा तोड़कर सेवक से शासक बनने का प्रयत्न स्वत: ही नहीं करता और उसके और उच्छृंखल बनने की आशंका नहीं रहती।

प्रसिद्ध मनश्चिकित्सक डॉ० कैनन के अनुसार "आमाशय का सीधा सम्बन्ध मस्तिष्क के 'आटोनेमिक' केन्द्र से होता है। सिंपैथेटिक और पैरापैथैटिक यह आटोनेमिक केन्द्र के दो भाग हैं जो पेट की क्रियाओं को संचालित करते हैं तथा पाचन रस उत्पन्न करते हैं। यदि व्यक्ति की मन: स्थिति आवेशग्रस्त और अस्त व्यस्त होती है तो उसके पेट की क्रियाओं पर विपरीत प्रभाव पड़ता है और वह हमेशा के लिए खराब रहने लगता है।" चिकित्सा मनोविज्ञानी डॉ० केन्सडोलमोर और डाक्टर कोओ ने अपने शोध प्रबंध में यह प्रकाश डाला है कि शरीर में कोई रोग उत्पन्न हो ही नहीं सकता जब तक कि मनुष्य का मन स्वस्थ है।

एक व्यक्ति की क्रूरता, हिंस्रता और अहंवादिता के कारण ही संसार के लाखों लोग अकाल युद्ध के गाल में कवलित होते हैं वहीं दूसरी ओर एक ही व्यक्ति की परिष्कृत शुद्ध सात्विक मन:स्थिति के कारण समाज में महत्त्वपूर्ण क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाते हैं।

मन की शक्ति अणु शक्ति से किसी प्रकार भी कम नहीं है। बल्कि उससे अधिक ही समर्थ और प्रचंड है। इतिहास पुराणों में वर्णित शाप और वरदान की घटनायें इसी मन:स्थिति के विध्वंस और सृजन उपयोगों के उदाहरण हैं। मन पर देख-रेख न रखी जाय तो वह भी अन्य चोर नौकरों की तरह भोले-मालिकों की हजामत बनाने का ढर्रा अपना लेगा। सरकस के शेर की तरह सधा हुआ मन मालिक का हित साधना और दर्शकों का मनोरंजन करता है। पर यदि वह उजड्ड, अनगढ़ और अनियंत्रित हो तो मालिकों से लेकर दर्शकों तक सभी के लिए संकट सिद्ध होगा। मन को साध लिया जाय तो वह पारद से रसायन बनने की तरह उपयोगी भी अत्यधिक है। उसका कुसंस्कारी रूप तो विषैले पारे की तरह है जो जिस शरीर में भी जायेगा उसे तोड़-फोड़ कर बाहर निकलेगा। मनोनिग्रह के लिए जहाँ उसे सत्परामर्श देना, समझाना बुझाना, मनन चिन्तन के आधार पर परिष्कृत करना, स्वाध्याय, सत्संग से सन्मार्गगामी बनाया जाना चाहिए, वहाँ यह भी आवश्यकता है कि उसके लिए आहार-विहार की ऐसी व्यवस्था बनाई जाय जिससे वह स्वयं उच्छृंखलता छोड़कर शालीनता को स्वीकार करने के लिए सहमत हो जाय। इस तथ्य को भारतीय तत्वदर्शियों ने बहुत पहले ही जान लिया था कि मन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष दिलाने वाली सभी शक्तियाँ भरी पड़ी हैं, उसकी सात्विक और विधेयक शक्ति का ज्ञान होने के कारण ही ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि "मेरा मन शिव संकल्प वाला हो।"

सतोगुणी न्यायोपार्जित सज्जनों के सम्पर्क में बना हुआ आहार मन की सत्प्रवृत्तियों को उभारता है और हर कार्य में उदात्त दृष्टिकोण का समन्वय रखने से क्रियाकलाप की छाप मन पर ऐसी सुसंस्कार डालती है जिसे परिष्कृत विहार कहा जा सके। शरीर को स्वच्छ रखने की तरह मन को सुसंस्कारी रखने के लिए भी उपयुक्त आहार- विहार की व्यवस्था रखी जानी चाहिए, तभी वह आत्मा का शासक बनने की कुचेष्टा न करके एक सदाचारी सहयोगी की तरह सेवक बना रहने के लिए सहमत हो सकेगा।

आहार और उसकी शुद्धि

अन्नमय कोश की -स्थूल शरीर की शुद्धि के लिए अस्वाद व्रत का पालन करना पड़ता है। शरीर का निर्माण खाने से होता है। जो हम खाते हैं उसी से रक्त माँस आदि सात धातुएँ बनती हैं। यह प्रक्रिया यहीं तक समाप्त नहीं होती वरन् हमारे चेतना क्षेत्र तक चली जाती है। रस, रक्त, माँस, मज्जा, अस्थि, मेद, वीर्य इस सात स्थूल धातुओं के बनने के बाद इसी संदर्भ में औज नामक सूक्ष्म तत्व बनता है और उसके बाद उसी से मन बुद्धि, चित्त अहंकार का अन्त:करण चतुष्टव बनता है। इस प्रकार स्थूल शरीर की उन्नति-अवनति ही नहीं सूक्ष्म शरीर की-अन्तर्जगत की स्थिति भी अन्न पर ही अवलम्बित रहती है। "जैसा खाये अन्न वैसा बने मन", वाली कहावत अक्षरश:सत्य है। अभक्ष खाने वालों की मनोभूमि कभी भी उच्चकोटि की नहीं बन सकती। शरीर

और मन जिस वस्तु से बनता है वह अन्न यदि निकृष्ट श्रेणी का है उसमें निकृष्ट कोटि के संस्कार समन्वित हैं तो यह आशा नहीं की जा सकती है कि हमारी चेतना उत्कृष्ट कोटि की होगी।

इसीलिए साधना क्षेत्र में प्रवेश करते हुए आहार की शुद्धि पर अत्यधिक ध्यान देना पड़ता है । चौका चूल्हे की छूत की प्रथा आज भी अपने भोंड़े रूप में प्रचलित है। उसका वर्तमान स्वरूप तो जाति-पाँति पर आधारित होकर उपहासास्पद एवं रूढ़िमात्र हो रह गया है। कुसंस्कारी और सुसंस्कारी व्यक्ति तो हर जाति में हो सकते हैं। जिस आधार को लेकर वह प्रथा आरंभ हुई थी वह आधार अभी भी यथावत् बना हुआ है। भोजन निर्माण में सुसंस्कारी व्यक्तियों का ही हाथ होना चाहिए।

कुसंस्कारी व्यक्तियों के हाथ का बना हुआ भोजन अपने साथ कुसंस्कार ही धारण किये रहता है उसे खाने पर मन में कुसंस्कारी ही भावनाएँ पैदा होती हैं। कोढ़ी के पीव टपकते हाथों से बनाया हुआ भोजन करने में हमें घृणा होती है क्योंकि उसका पीव भोजन में मिलकर हमारे शरीर में जायेगा तो हमें भी रोगी बना देगा। ठीक यही बात कुसंस्कारी लोगों के ऊपर लागू होती है। उनके संस्कार भी निश्चित रूप से उनके द्वारा बनाये हुए भोजन में रहते हैं और वे हमारी बुद्धि में भी वैसे ही हलचल पैदा करते हैं जैसे कोढ़ी का पीव मिला हुआ आहार हमारे शरीर में विकार उत्पन्न करता है।

वासी, सड़े, बुसे, झूठे, गंदे भोजन से हमें घृणा उत्पन्न होती है। वह स्वादिष्ट या कीमती हो तो भी उसे त्याज्य माना जाता है। अरुचिकर और बुरे स्वाद का भोजन भी नहीं खाया जाता। यही दृष्टि कुछ गहराई तक उतरे तो कुसंस्कारी भोजन को भी त्यागना पड़ेगा। बाजारों में, होटलों में अच्छी प्लेटों में सजे हुए, तरह-तरह के स्वाद वाले भोजन करते समय लोग प्रसन्न होते और गर्व करते हैं पर यह नहीं देखते कि इनके बनाने वाले कौन हैं ? कैसी उनकी मनोवृत्ति है। कैसे संस्कार उनके भीतर पड़े हैं ? यदि यह विचार नहीं किया गया है और केवल स्वाद एवं सजावट को ही पसंद कर लिया गया है तो यह एक भारी भूल है। मानसिक दृष्टि से अहित ही इससे होगा। ऐसा आहार खाने वाले के विचार आधोगामी ही होंगे। बेचारी थोड़ी सी साधना भी उस विकार का कहाँ तक शमन करेगी ?

आहार बनाने वाले के कुसंस्कार जैसे अन्न पर पड़ते हैं वैसे ही उसके उपार्जन की स्थिति का भी प्रभाव पड़ता है। चोरी, बेईमानी, रिश्वत, छल, से कमाया हुआ पैसा जब खाया जाता है तो उस आहार पर भी उस उपार्जन की छाया रहती है। बिना मेहनत का, बाप दादों की कमाई का, कूपन से प्राप्त हुआ धन जब हमारे पेट में जाता है तो यह आशा नहीं करना चाहिए कि इसे खाने पर भी हमारी बुद्धि सात्विक रह सकेगी।

चटोरेपन के वशीभूत होकर गरिष्ट, कुपाच्य निर्जीव, जीभ जलाने वाले, चटपटे पदार्थ पेट की सामर्थ्य से अधिक मात्रा में खाने पर हमारा स्वास्थ्य नष्ट होता है। पाचन क्रिया खराब होने से नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते है और वे अकाल मृत्यु का ग्रास बनाने के लिए हमें घसीट ले जाते हैं। इसी प्रकार यदि आहार कुछ अनीति कमाई का है अथवा कुसंस्कारी व्यवस्था के द्वारा उसे पकाने ओर परोसने की क्रिया सम्पन्न हुई होगी तो उसका दूषित प्रभाव भी हमारे मानसिक स्वास्थ्य को नष्ट किये बिना न रहेगा।

अन्नमय कोश का अनावरण करने के लिए हमें इस प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक विचार करते रहना चाहिए। ठीक तो यह होगा कि सप्ताह में एक दिन अस्वाद व्रत करने का नियम अपनावें । प्रारम्भ में इतना भी कम नहीं है पर आगे और भी अधिक सोचने और करने की आवश्यकता अनुभव होगी। तब सात्विक और सुसंस्कारित रसोई के प्रश्न पर भी कड़ाई- से व्यवस्था बनाने के लिए प्रयत्न करना पड़ेगा। आरम्भ में कुछ कठिनाई इसमें प्रतीत हो सकती है, पर अभ्यास और मनोबल की दृढ़ता से हर कठिन काम सरल हो सकता है। हर कठिनाई का रास्ता निकल सकता है।

प्राचीन काल में संत और सत्पुरुष अपना आहार आप उपजाते और अपने श्रम से उसे सींचते काटते थे। अन्न के उत्पादन काल में जैसे संस्कार उस पर डाले जाते हैं उसकी प्रकृति बैसी ही बन जाती है। यज्ञ कार्य में प्रयुक्त होने वाले अन्न तथा औषधियों को विशेष विधि विधान के साथ बोने, उगाने, सींचने, काटने एवं शोधने का विधान है ताकि वह संस्कारवान् द्रव्य, पदार्थ अपनी क्रिया शक्ति से जन मानस में कल्याणकारक प्रभाव उत्पन्न कर सकें और उस रहस्यमय आध्यात्मिक विशेषता से देवताओं को भी प्रसन्न एवं आकर्षित कर सकें। हमारा शरीर भी एक यज्ञ है। जठराग्नि ही

यज्ञाग्नि है, भोजन ही आहुति है इसके लिए भी यदि अन्न का उपार्जन विशेष शुद्धतापूर्वक, गायत्री का मानसिक जप करते हुए किया जाय तो उसका प्रभाव और भी महत्त्वपूर्ण हो सकता है। जिसके पास थोड़ी सी जमीन है वे साधक आसानी से अपने लिए ऐसा अन्न उत्पन्न कर सकते हैं। एवं दूध देने वाली गौओं की उचित सेवा तथा परिचर्या करके उन्हें भी संस्कारित किया जा सकता है। यदि ऐसा आहार किन्हीं को प्राप्त हो सके तो उस साधक की साधना बहुत ही तीव्रता से फलित होगी। आज की स्थिति में सब के लिए इस सीमा तक व्यवस्था कर सकना सम्भव नहीं है। पर जितना कुछ बन पड़े उतना अधिकाधिक सावधानी हमें इस दिशा में रखनी ही चाहिए। अस्वाद व्रत का साप्ताहिक व्रत लेने के बाद अब हमारी विचार धारा का प्रवाह इसी दिशा में चलना चाहिए।

आहार की शुद्धि अपने आप में एक साधना है। प्राचीनकाल में आत्मकल्याण पथ के श्रेयार्थी पथिक इस ओर पूरा-पूरा ध्यान रखते थे। पीपल के फलों पर निर्वाह करने वाले 'पिप्पलादि ऋषि" ने अपनी साधना में आहार शुद्धि को प्रधान माध्यम बनाया था। राजा जनक अपने खेत में स्वयं हल जोतकर अपने भोजन के लायक अन्न स्वयं उपजाते थे। हल जोतते समय ही तो उन्हें सीताजी प्राप्त हुई थीं।

यदि हम चाहते हैं कि मन कुमार्गगामी न हो, यत्र तत्र न भटके, साधना में लगे तो उसके मूल आधार को सुधारना पड़ेगा, आहार शुद्धि पर ध्यान देना पड़ेगा।

आहार शुद्धौ:, सत्व शुद्धौ:

साधना विज्ञान में विभिन्न प्रकार के साधन उपक्रमों के साथ-साथ आहार को भी महत्त्वपूर्ण माना गया है। आत्मिक प्रगति भली-भाँति होती रहे, इसके लिए साधना का ही नहीं, वरन् आहार का भी सही और सात्विक चयन आवश्यक है। अस्तु इस पथ के पथिकों को इसके निर्धारण में अतिरिक्त सावधानी बरतनी पड़ती है यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि आहार से रक्त और माँस ही नहीं, मन भी बनता है तथा उसका मानसिक कार्यक्षमता पर अनिवार्य रूप से असर पड़ता है। चाय, काफी जैसे गरम व उत्तेजक पदार्थ मन पर उत्साहवर्धक प्रभाव डालते हैं। गर्मी से शरीर ही नहीं, मन भी संतप्त होता है। शीतल पेय पीने पर मुँह एवं पेट में ही ठंडक नहीं लगती, मन भी शान्त होता है। क्रोध से उद्विग्न व्यक्ति को ठंडे पेय पीने पर आवेश में कमी अनुभव होती है। आहार का मन पर क्या प्रभाव पड़ता है, उसे उष्ण व शीतल पेय पीकर तत्काल अनुभव किया जा सकता है।

आहार के प्रभावों को और भी प्रत्यक्ष देखना हो, तो नशे के रूप में देखा जा सकता है। ब्राउन सुगर, गांजा, भांग, चरस, अफीम, शराब, हेरोइन, एल. एस. डी. आदि के सेवन से मस्तिष्क की जो स्थिति हो जाती है, उससे भारी आश्चर्य होता है। नशा पीकर आदमी अपने स्तर को ही भूल जाता है और लोक-व्यवहार की सामान्य क्रिया-प्रक्रिया तक लड़खड़ा जाती है। उद्वत, अनर्गल, संभाषण और आचरण करते देखकर यह अनुमान लगता है कि कम-से-कम कुछ समय के लिए तो नशेबाज की स्थिति विक्षिप्त जैसी ही हो जाती है। नशे के आवेश में लोग दूसरों पर आक्रमण करते तथा अपनी दुर्गति बनाते देखे जाते हैं। शराब पीने से व्यक्ति का आक्रमक आवेश फूट पड़ता है और सहृदयता एवं विवेक को ताक पर रखकर व्यक्ति उचित अनुचित न जाने क्या-क्या कर गुजरता है। क्रूर कर्म करने वाले इसीलिए नशीली तथा उत्तेजक चीजों का सेवन करते हैं कि सहृदयता अथवा विवेकशीलता उभर कर उनकी क्रूरता को कम न करें अपितु और अधिक उभारें व भड़कावें।

यह आहार का हानिकारक एवं निषिद्ध पक्ष हुआ। इसका दूसरा पक्ष यह है कि सात्विक आहार से बुद्धि सतोगुणी होती है। संसार में अनेक ऐसे खाद्य पदार्थ भी हैं जिनसे मस्तिष्क की कार्यक्षमता बढ़ती है, बुद्धि-कौशल, मनोबल, दूरदर्शिता, यथार्थ चिन्तन एवं सही निर्णय लेने जैसी मानसिक क्षमताएँ बढ़ाने में भी खाद्य पदार्थ विशिष्ट भूमिका निभाते हैं ऐसे भोज्य पदार्थों की सहायता ली जा सकती है, जिनमें मानसिक परिपोषण के लिए उपयुक्त तत्व प्रचुर परिमाण में विद्यमान हों।

मस्तिष्क के विकास में ऐसे भोजन का बड़ा योगदान रहता है, जो सात्विक प्रकृति के और सुपाच्य माने जाते हैं। गरिष्ठ, चटपटे, तले-भुने, शक्कर, नमक की अनावश्यक मात्रा वाले, मसाले डालकर सुगंधित एवं रंग डालकर आकर्षक बनाये गये पदार्थ सात्विक प्रकृति के नहीं होते। उनमें उत्तेजना भरी रहती है और यह प्रायः तामसिक स्तर के होते हैं। ऐसे पदार्थों का सेवन अपच-अजीर्ण जैसी शिकायत एवं रक्त विकार जैसी विकृतियाँ उत्पन्न करता है और फिर उनसे तरह-तरह की बीमारियाँ उठ खड़ी होती हैं। स्वाद के लिए गरिष्ठ और

उत्तेजक पदार्थों को खाने से न केवल सामान्य स्वास्थ्य को वरन् मस्तिष्कीय कोमलता एवं सक्षमता को भी हानि पहुँचती है।

सात्विक खाद्यों की श्रेणी में कौन-कौन से पदार्थ आते हैं ? इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि कुछ एक को छोड़कर बिना भुने, तले अनेक प्राकृतिक रूप, रस, गंध, और स्वाद से हमारी तृप्ति करने वाले उन सभी पदार्थों को अपनी शरीर रचना के हिसाब से अनुकूल एवं प्राकृतिक कहा जा सकता है, जो प्राय: आध्यात्मिक क्षेत्र के साधक मनोभूमि वाले लोग ग्रहण करते हैं। ऐसे आहार पर निर्भर रहने वाले अध्यात्मवेत्ता अपनी बौद्धिक व आत्मिक विशेषता बनाते और बढ़ाते रहते हैं।

कुछ विशेष पदार्थ ऐसे भी हैं जो सामान्य भोजन की तरह तो नहीं, औषधियों के -अतिरिक्त परिपोषण के रूप में लिये जा सकते हैं। इनमें कई उपयोगी जड़ी-बूटियों की गणना होती आयी है। आयुर्वेद में अमृत, मधुयष्टि शतावरी, बच, शंखपुष्पी, ब्राह्मी, जटामांसी आदि का उल्लेख बुद्धिबर्धक एवं शामक पदार्थों के रूप में हुआ है।

सन् १९८९ में कनाडा के मेडिकल रिचर्स सेण्टर के शरीरशास्त्रियों ने जब भारतीय आयुर्वेद की बढ़ी-चढ़ी प्रशंसा सुनी, तो उन्होंने इसकी सत्यता परखने के लिए कुछ भारतीय जड़ी-बूटियों पर प्रयोग परीक्षण आरंभ किये। इनमें स्मरण शक्ति बढ़ाने वाली ब्राह्मी बूटी प्रमुख थी। हर्मेपोनिन मोनिए सानम नाम से जानी जाने वाली इस वनस्पति का सत्व इंजेक्शन द्वारा कुत्तों के मस्तिष्क में पहुँचाया गया, उससे कोर्टिकल भाग की क्रियाशीलता में अपेक्षाकृत अधिक तेजी पाई गई। इसके आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि ब्रेन की सक्रियता और क्षमता में बढ़ोत्तरी आ गई। इसी प्रकार अन्य बूटियों पर भी उनने परीक्षण किये। सभी को वैद्यक शास्त्र में वर्णित उनके गुणधर्म के अनुरूप ही पाया गया।

आत्मिक प्रगति के क्षेत्र में भी उपयुक्त आहार महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपने मन में जमे कषाय-कल्मषों के ही कारण सबसे ज्यादा अवरोध उत्पन्न होता है। सात्विक आहार इन कल्मषों के निवारण का प्रथमोचार है। इस प्रकार के शोधन उपचारों में पंचगव्य प्राशन और हविष्यान्न सेवन की चिर परम्परा है। गोरस में समाविष्ट सतोगुणी संस्कारों का बाहुल्य सर्वविदित है। गोदुग्ध, गोदधि, गोघृत, गोबर, गोमूत्र-इन पाँचों के सम्मिश्रण को पंचगव्य कहते हैं। दूध, दही और घृत की उपयोगिता सर्वविदित है। गोमूत्र की आयुर्वेद में भूरि-भूरि प्रशंसा की गई और उसे उदर रोगों तथा रक्त विकारों की अमोघ औषधि माना गया है। यही बात गोबर के सम्बन्ध में है। लीपने से स्थान शुद्धि और यज्ञाग्नि में प्रयुक्त होने के लिए उपलों की महत्ता बतायी गई है। उनका तनिक सा रस होम्योपैथी दवाओं की तरह कितने ही प्रकार के लाभ उत्पन्न करता है। पंचगव्य में यों गाय का दूध, दही, घृत ही प्रधान होता है। गोमूत्र और गोबर के रस की मात्रा अत्यन्त स्वल्प रहती है। इस सम्मिश्रण को यों आरोग्य की दृष्टि से भी बहुत उपयोगी माना जा सकता है, साथ ही भावनात्मक शोध-उपचार की दृष्टि से भी उसका महत्त्व कम नहीं है। प्रायश्चित्त विधानों में पंचगव्य प्राशन का पग-पग पर निर्देश है।

हविष्यान्न में तिल, जौं, चावल इन तीन अन्नों की गणना है। इन्हें भी परम सात्विक सुसंस्कारों से युक्त माना गया है। यज्ञ कार्य में आहुतियाँ देने के लिए इन तीनों का उपयोग होता है। सामयिक अन्न संकट के कारण इन दिनों उनकी मात्रा घटा दी गई है पर प्रतीक रूप में उन्हें कुछ तो रखा ही जाता है। इन तीनों धान्यों को यज्ञ सामग्री में प्रयुक्त होने वाली औषधियों की तरह ही प्रतिष्ठा दी गई है।

तपस्वियों के सामान्य आहार में इन्हीं को प्राथमिकता दी जाती है। कई तो गायत्री पुरश्चरण जैसी लम्बी तप साधनाएँ इनमें से किसी एक अथवा तीनों के सम्मिश्रण से पूर्ण करते हैं। सामान्य आहार में भी इनको आधार मानकर चला जाय तो उससे शरीर और मन में सात्विकता का अंश और बढ़ेगा, साधना-तपस्या में आशाजनक प्रगति होगी।

"जैसा खाये अन्न वैसा बने मन" वाला निष्कर्ष अक्षरश: सत्य है। कुधान्य खाकर अभक्ष्य अपनाकर किसी की तप-साधना ध्यान-धारण सफल नहीं हो सकती। ऐसा अन्न पेट में जाकर ऐसे उपद्रव खड़े करता है, जिनके कारण मन में न शांति रहती है, न स्थिरता। इस विग्रह के निवारणार्थ साधक सबसे पहले अपने आहार में सात्विक तत्वों के समावेश का प्रयास करते हैं। इस प्रयोजन के लिए मिर्च-मसालों से रहित सात्विक अन्न सर्वाधिक उपयोगी है।

ब्राह्मणोपनिषद् में कहा गया है-"आहार शुद्धौ सत्वशुद्धौ:..." अर्थात् आहार पवित्र होने से अन्त:करण

पवित्र होता है। अन्त:करण की शुद्धि से विवेक बुद्धि प्रखर होती है उस विवेक से अज्ञानजन्य निविड़ बन्धन खुलते हैं। अध्यात्म क्षेत्र के लोगों को यह तथ्य भली-भाँति ज्ञात होना चाहिए। आत्मिक उन्नति निर्विघ्न तभी जारी रह सकती है अस्तु साधकों को स्वविवेक अथवा अनुभवी मार्गदर्शक की सहायता से अपनी साधना के अनुरूप उपयुक्त सात्विक आहार का निर्णय और निर्धारण करना चाहिए। ऐसा आहार स्वास्थ्य की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण होता ही है, उसका मुख्य लक्ष्य अन्त:करण चतुष्ट्य का स्तर तमोगुणी, रजोगुणी भूमिका से ऊँचा उठाकर सतोगुणी स्तर तक पहुँचाना है इसीलिए साधना विज्ञान में आहार को इतना महत्त्वपूर्ण माना गया है और उसके चयन में पूर्ण सतर्कता बरतने की सलाह दी गई है।

अन्नमय कोश की सरल साधना पद्धति

अन्नमय कोश की सरल साधना पद्धति में प्राकृतिक जीवन का अभ्यास क्रम समाविष्ट है। आहार-शुद्धि, उपवास, जल-मृतिका- उष्णता आदि के द्वारा शरीर के पाँच तत्वों का शोधन एवं उपचार अन्नमय कोश की साधना का अंग है। शरीर के निरोग और स्फूर्तिवान रहे बिना आध्यात्मिक उन्नति के अगले कार्यक्रम अति कठिन हो जाते हैं। जिनके पैर पहली सीढ़ी पर ही लड़खड़ाने लगे, वे ऊपरी मञ्जिल तक कैसे पहुँचेंगे ?

अन्नमय कोश की साधना के दो मुख्य अंग हैं- (१) आहार-विहार सम्बन्धी शुद्धता (२) सूक्ष्म साधनाएँ। गायत्री उपासना में दोनों ही अंगों का साथ-साथ ध्यान रखा जाना चाहिए।

आहार-विहार सम्बन्धी शुद्धता के बिना सूक्ष्म साधनाओं का अभ्यास असम्भव है। आहार शुद्धि पर इसलिए जोर दिया जाता है कि मन की शुद्धता-अशुद्धता का आधार वही है। यदि अन्न अशुद्ध होगा, तो मन भी अशुद्ध रहेगा और अशुद्ध मन न कभी ध्यान, भजन में एकाग्र होता है और न श्रद्धा-विश्वास को ही ग्रहण करता है। मन का परिशोधन अन्न की शुद्धि पर निर्भर है। इसलिए साधना-समर में उतरने वाले को सबसे पहले आहर शुद्धि पर ध्यान देना पड़ता है। शुद्ध कमाई का, शुद्धतापूर्वक बनाया हुआ, भगवान का प्रसाद मानकर औषधि एवं अमृत की भावना से भोजन करना आवश्यक है। स्वाद के लिए नहीं, वरन् शरीर रक्षा के लिए ही खाया जाना चाहिए। पेट की थैली को देखते हुए उसमें आधा आहार, चौथाई जल और चौथाई वायु के लिए स्थान रहने देना चाहिए। अर्थात् भोजन की मात्रा इतनी रहनी चाहिए, जिससे पेट पर अनावश्यक भार न पड़े, आलस्य न आवे। जल्दी-जल्दी नहीं, वरन् धीरे-धीरे अच्छी तरह चबा कर ग्रास को उदरस्थ किया जाय। यह सब बातें जान लेना ही पर्याप्त नहीं, वरन् लाभ तभी है, जब अभ्यास में लाया जाय।

अन्न से मन बनता है। जैसे संस्कारों का अन्न खाया जाता है मन की प्रवृत्ति वैसी ही बन जाती है। मन को शुद्ध संयमी, स्थिर और सन्मार्गगामी बनाने का प्रधान उपाय अन्न पर संयम करना है।अभक्ष खाने वाले, माँस, मदिरा, नशेवाजी में ग्रस्त मनुष्य आत्मकल्याण के मार्ग पर दूर तक चल सकेंगे यह संदिग्ध है। जिह्वा को चटोरापन मन में उसी प्रकार चंचलता उत्पन्न करता है जिस प्रकार तेज हवा चलने से जलाशय में लहरें उठने लगती हैं। अनीति की कमाई की रोटी खाने वाला वह आन्तरिक स्वच्छता कैसे प्राप्त कर सकेगा, जिसमें भगवान का विराजमान हो सकना संभव होता है। साधना का प्रथम चारण अन्न की शुद्धि है। दूध, मलाई खाकर शरीर मोटा हो सकता है पर मन को निर्मल बनाने के लिए अन्त में सात्विकता की आवश्यक मात्रा का मिला होना आवश्यक है।

अस्वाद व्रत एवं उपवास आत्मिक साधना के आवश्यक अगं हैं। एक सप्ताह में दो दिन नमक-शक्कर छोड़कर अस्वाद व्रत रखना चाहिए। ये दिन गुरुवार और रविवार रखे जा सकते हैं। साधनात्मक दृष्टि से इन दोनों दिनों का विशेष महत्त्व है। पर जिन्हें किसी कारण से इन दिनों में असुविधा हो वे सुविधानुसार अन्य दिन भी चुन सकते हैं साधक के भोजन में एक समय एक साथ अनेक प्रकार की वस्तुएँ न होनी चाहिए। हर वस्तु का पाचन काल न्यूनाधिक होता है। उनके लिए पाचक रसों की आवश्यकता भी प्रथम प्रकार की रहती है। यदि अनेक प्रकार के व्यंजन बनाकर एक साथ खाये जायेंगे तो उसका हाल उस खिचड़ी जैसा हो जायेगा, जिसमें आध घण्टे से लेकर छै घण्टे तक पकने वाली चीजें इकट्ठी करके पकाई जा रही हैं। इनमें से कुछ चीजें कच्ची रह जावेंगी। जिस थाली में अनकों कटोरियाँ होगीं, अनेकों व्यंजन परोसे गये होंगे वह स्वास्थ्य की दृष्टि से खाने वाले के लिए उस बढ़ी संख्या के अनुपात से ही

हानिकारक होगी। सन्त महात्मा बहुधा एक ही वस्तु खाते हैं। यदि कई प्रकार की चीजें उन्हें खानी पड़ें तो आपत्ति धर्म की तरह उन सबको इकट्ठी करके उनकी संख्या एक कर लेते हैं और अनेक स्वादों को नष्ट कर एक ही स्वाद बना लेते हैं। इस आदर्श के पीछे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के सुधार का एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण तथ्य सन्निहित है। भोगों को, स्वादों को सीमित करना, मन को वश में करने का, इन्द्रिय निग्रह का एक मात्र उपाय है। भोजन में जितने अधिक प्रकार वस्तुओं का समावेश किया जायेगा उतनी ही पाचन क्रिया खराब होगी, उतना ही खर्च बढ़ेगा और उतना ही मन चंचल होगा। इसलिए संयम का अवलम्बन करते हुए ही साधना पथ के पथिक को अग्रसर होना पड़ता है। चटोरा व्यक्ति मन को कभी संयम में ला सकेगा इसमें सन्देह ही है।

जिनकी आर्थिक स्थिति थोड़ी सुधरी हुई है वे आम-तौर से भोजन की शान इस बात में समझते हैं कि उसमें कितनी ही कटोरियाँ सजी हुई हों। कितने ही प्रकार के शाक, दाल, भात, रायते, अचार, चटनी, पापड़, मिठाई, पकौड़ी, नमकीन, आदि के कितने ही तरह के स्वाद उन्हें पसन्द लगते हैं। शान और शेखी-खोरी को हमें चटोरेपन और असंयम का, विलासिता और चंचलता का चिह्न मानना चाहिए। सादगी ही सभ्यता का चिन्ह माना गया है, यह सादगी भोजन में भी रहनी ही चाहिए। अन्नमय कोश का परिशोधन करने की उच्चस्तरीय गायत्री साधना का हमारा प्रथम प्रयास ही लड़खड़ाने लगेगा, यदि इतना भी न बन पड़ा तो आगे जो कठिन तपश्चर्याएँ करने का अवसर प्रस्तुत होगा तो उसे किस प्रकार किया जा सकेगा ?

भोजन में दो वस्तुएँ रहना पर्याप्त है। एक खाने की वस्तु, दूसरी लगाने की। रोटी-शाक, रोटी-दाल, भात व दाल जैसी किन्हीं दो वस्तुओं का जोड़ा मिला लेने से एक खाने की प्रधान वस्तु और दूसरी सहायक का जोड़ आसानी से बन जाता है। हर भोजन में वस्तुएँ बदली जा सकती हैं पर उनकी संख्या दो ही हो। जिस प्रकार पति और पत्नी दो तक ही काम सेवन की मर्यादा सीमित रहती है उसी प्रकार स्वाद सेवन के लिए भी दो का जोड़ा पर्याप्त हैं कोई यह न सोचे कि इसका स्वास्थ पर कुछ बुरा असर पड़ेगा। इससे पाचन-क्रिया तो सुधरेगी ही, मन भी बहुत संयमी बनेगा। संयमी मन जितना पारलौकिक सद्गति के लिए आवश्यक होता है उतना ही लौकिक समृद्धि और सफलताएँ उपलब्ध करने के लिए भी उपयोगी है। चञ्चलता मिटाकर एकाग्रता उत्पन्न करने के लिए यदि इतना त्याग करना पड़ता है। तो उसे कोई बहुत बड़ी बात नहीं मानना चाहिए।

जो लोग अधिक चटोरे हैं, जिन्हें इतना त्याग कर सकना कठिन मालूम पड़ता है वे इतना तो करें ही कि भोजन में जितनी संख्या में वस्तुएँ रहती हैं उसकी संख्या अबकी अपेक्षा घटालें और उनकी सीमा निर्धारित करले कि तीन-चार से अधिक तो यह संख्या किसी भी प्रकार नहीं होनी चाहिए। अन्नमय कोश की साधना को (१) एक सप्ताह में दो दिन नमक, शक्कर छोड़कर अस्वाद व्रत का पालन और (२) भोजन में एक बार में खाद्य वस्तुओं की संख्या दो तक सीमित रखना यह दो जरूरी बातें हैं दुर्बल मनोभूमि वाले एक सप्ताह में एक बार अस्वाद व्रत रखते हुए और भोजन में वस्तुओं की संख्या तीन या चार रखते हुए भी धीरे-धीरे आगे बढ़ सकते हैं।

अन्न के साथ-साथ जल की शुद्धता का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। ग्रहण करने की शक्ति जल में अन्न से भी अधिक रहती है, यदि तमोगुणी स्थिति का जल प्रयोग किया जाय तो उससे साधना क्रम में बाधा ही पड़ेगी। सामूहिक जल पात्रों में जहाँ हर कोई मन माने ढगं से बिना हाथ धोये पानी भरता पीता है, काँच के गिलास बिना माँजे धोये काम में आते रहते हैं, वहाँ तभी पानी पीना चाहिए जब उसके बिना काम न चलता हो। होटलों की चाय दुहरी हानि पहुँचाती है। चाय का नशा तो हानिकारक है ही। होटलों की गन्दगी उसमें 'गिलोय नीम चढ़ी' की उक्ति चरितार्थ करती है। शराब, भाँग,जैसे नशीले पेय आत्म- कल्याण के इच्छुकों को त्यागने ही पड़ते हैं। धुआँ पीना भी अन्न में माना जायेगा। तमाखू खाना-पीना गाँजा, चरस, मदक आदि भले ही धुएँ या उत्तेजना के रूप में ही क्यों न हों, हमारे जीवन कोषों और मस्तिष्कीय कोष्टकों में प्रवेश करके तमोगुण उत्पन्न करते हैं। और यह तमोगुण आत्मिक प्रगति के मार्ग में एक भारी बाधा बनकर खड़ा रहता है। नशेबाजी से हमें बचना ही चाहिए। भले ही वह बीड़ी पीने जैसी छोटी-सी ही क्यों न हो । इस वर्ष हमें नशेबाजी और अशुद्ध जल के प्रयोग को बन्द करने का प्रयत्न करना चाहिए, जिन्हें यह बुरी आदतें पड़ गई हों उन्हें उसे छोड़ना चाहिए। एक साथ न छूट सकें तो इनका उपयोग आधा तो तुरन्त ही कर देना चाहिए।

उपवास का क्रम भी सप्ताह में एक दिन रखना चाहिए। प्रारम्भ में पन्द्रह दिन में एक दिन या सप्ताह में आधा दिन का उपवास रख सकते हैं। उपवास के दिन जल पर्याप्त मात्रा में ग्रहण करना आवश्यक है। इसके साथ नीबू या शहद मिलाकर ले सकते हैं। जिन्हें दुर्बलता प्रतीत होती है, उन्हें शहद का प्रयोग लाभ पहुँचाएगा। नीबू से पाचन संस्थान की सफाई में सहायता मिलेगी। एनीमा के प्रयोग का भी क्रम बाँधा जा सकता है। किन्तु एनीमा प्रत्येक उपवास में लेने की सरलता नहीं। महीने या दो महीने में एक बार ले लेना पर्याप्त है।

विहार सम्बन्धी शुद्धता में निरालस्यता और ब्रह्मचर्य प्रमुख हैं। शरीर के ओज एवं पोषण को कम से कम नष्ट करने पर ही आन्तरिक शक्ति में अभिवृद्धि सम्भव है। समय का एक क्षण भी बर्बाद न करना, निरन्तर काम में लगे रहना, प्रातःकाल दिनचर्या बना कर उसे पूरा करने में मशीन की तरह लगे रहना तथा उपासना का नियमित क्रम सदैव निभाना ये साधक के आवश्यक कर्त्तव्य हैं। आहार-विहार की शुद्धता तथा उपासना की नियमितता से अन्नमय कोश की साधना आगे बढ़ती है और व्यक्ति स्वस्थ शक्ति सम्पन्न, स्फूर्तिवान बनता है। इस तरह की गायत्री उपासना की उच्चस्तरीय साधना में प्रवेश करने वाले योद्धा को सर्वप्रथम शिक्षण स्वादेन्द्रिय से लड़ने और आहार शुद्धि की सुव्यवस्था बनानी पड़ती है। उसकी उपेक्षा करने से आगे का मार्ग अवरुद्ध ही पड़ा रहेगा यह बात हर उच्चस्तरीय साधक को कान खोलकर सुन लेना चाहिए और सुन समझकर गाँठ बाँध लेनी चाहिए कि आहार को सात्विक बनाये बिना किसी भी प्रकार काम चलने वाला नहीं है। जो साधक मिष्ठान, पकवान और माल मलाई विपुल परिमाण में चरते रहते हैं उन्हें वासनाएँ ऐसे ही पथ पर भ्रष्ट कर लेती हैं जैसे मुर्गे की गर्दन को बिल्ली मरोड़ कर रख देती है। ऐसे साधकों को पग-पग पर आलस, प्रमाद सताता है और वासना तृष्णा की मृगमरीचिका उन्हें निरन्तर भ्रमाती, भटकाती रहती है।

अन्नमय कोश की साधना का प्रारंभिक कदम 'इन्द्रिय निग्रह' है यों ज्ञानेन्द्रियाँ पांच मानी जाती हैं पर उनमें दो ही प्रधान हैं। (१) स्वादेन्द्रिय (२) कामेन्द्रिय। इनमें से स्वादेन्द्रिय प्रधान है उसके वश में आने से कामेन्द्रिय भी वश में आ जाती है। जीभ का स्वाद जिसने जीता वह विषय वासना पर भी अंकुश रख सकेगा। चटोरा आदमी ब्रह्मचर्य से नहीं रह सकता, उसे सभी इन्द्रियाँ परेशान करती हैं। विशेष रूप से काम वासना तो काबू में आती ही नहीं। इसलिए इन्द्रिय निग्रह की तपश्चर्या स्वाद को जीभ को वश में करने से आरम्भ की जाती है।

आरोग्य ही नहीं, मन को वासनासक्त होने से रोकने की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि स्वादेन्द्रिय पर अंकुश लगाया जाय। इस दृष्टि से नमक और मीठा दोनों को ही छोड़ देना अच्छा रहता है। यह निराधार भय है कि इससे स्वास्थ्य खराब हो जायेगा। सच तो यह कि इस संयम से पाचन क्रिया ठीक होती है, रक्त शुद्ध होता है, इन्द्रियाँ सशक्त रहती हैं, तेज बढ़ता है और जीवन काल बढ़ जाता है। इनसे भी बड़ा लाभ यह है कि मन काबू में आता है।

चटोरेपन को रोक देने से वासना पर जो नियन्त्रण होता है वह धीरे-धीरे सभी इन्द्रियों को वश में करने वाला सिद्ध होता है। जिस प्रकार पाँचों ज्ञानेन्द्रियों में स्वादेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय ही प्रबल हैं, उसी प्रकार स्वाद के षट रसों में नमक और मीठा ही प्रधान हैं। चरपरा, खट्टा, कसैला आदि तो उनके सहायक रस मात्र हैं। इन दो प्रधान रसों पर संयम प्राप्त करना षट्रसों की त्यागने के बराबर ही है। जिसने स्वाद और काम-प्रवृत्ति को जीता उसकी सभी इन्द्रियाँ वश में हो गई जिसने नमक, मीठा छोड़ा, उसने छहों रसों को त्याग दिया, ऐसा ही समझना चाहिए। मन को वश में करने के लिए यह संयम-साधना हर साधक को किसी न किसी रूप में करनी होती है।

संक्षेप में इस सन्दर्भ निम्नलिखित दिशा निर्देशों को ध्यान में रखते हुए साधना मार्ग पर चलने वालों को अपनी परिस्थिति एवं सुविधा का ध्यान रखते हुए कार्य पद्धति निर्धारित करनी चाहिए।

(१) सप्ताह में एक उपवास रखा जाय। यदि मात्र जल पर रह सकना कठिन पड़े तो दूध, छाछ, दही, फलों का रस, शाक का रस जैसे प्रवाही पदार्थों से काम चलाया जाय। इतने में भी कठिनाई पड़े तो एक समय अन्नहार एक समय रसाहार की व्यवस्था बना ली जाय।

(२) समय-समय पर नियत अवधि के लिए अस्वाद व्रत का पालन करते रहा जाय। नमक और शकर दोनों को छोड़कर फीका भोजन करना ही अस्वाद व्रत है। आवश्यक नमक और शकर की पर्याप्त मात्रा हमारे

स्वाभाविक आहार में रहती ही है। बाहर से नमक, शकर, मसाले आदि का प्रयोग स्वाद के लिए किया जाता है। इनमें स्वास्थ्य रक्षक कोई तत्व नहीं है। अस्तु अस्वाद व्रत पालन से स्वादेन्द्रिय को ही असुविधा होती है, स्वास्थ्य की दृष्टि से तो इस अवांछनीय दबाव के हटने पर लाभ ही रहता है।

(३) साधक को दो वार से अधिक भोजन तो नहीं ही करना चाहिए। बीच-बीच में खाते रहने की आदत न डाली जाय। प्रातःकाल और तीसरे प्रहर दूध, छाछ क्वाथ, नीबू, शहद जैसे द्रव पदार्थ भर लिये जा सकते हैं।

(४) एक समय अन्नाहार, एक समय शाकाहार, फलाहार आदि पर रहा जा सके तो भी उत्तम है।

(५) अपने हाथ से भोजन बनाया जा सके तो सर्वोत्तम अन्यथा सुसंस्कारी, स्वजनों के हाथ का बना परोसा भोजन ही ग्रहण किया जाय । शारीरिक और मानसिक दृष्टि से रुग्ण, कुसंस्कारी लोगों का पकाया परोसा भोजन न लिया जाय। पात्रों की स्वच्छता का ध्यान भी रखा जाय। बाजार की बनी वस्तुओं से यथा सम्भव बचा जाय। बाहर जाना पड़े तो फल, सत्तू, चना जैसे चवैना पदार्थों पर गुजारा किया जाय जिन में व्यक्ति संस्कार अधिक न पड़े हों।

(६) माँस, अण्डा, जीव शरीरों से बनी औषधियाँ, शराब, तम्बाकू आदि नशीली वस्तुएँ ग्रहण न की जायें। मसालों की आदत जितनी घटाई जा सके घटानी चाहिए।

(७) पेट ठूंस-ठूंस कर न भरा जाय, उसे जल और वायु के लिए एक तिहाई खाली रहने दिया जाय। कड़ी भूख लगने पर ही कुछ खाया जाय। यदि भूख न लगी हो तो उस समय का भोजन टाल दिया जाय उतावली न की जाय ग्रास को पूरी तरह चबाने के बाद ही गले से नीचे उतरने दिया जाय।

(८) थाली में कटोरियों की संख्या न बढ़ने दी जाय। खाद्य पदार्थों की संख्या अधिक न हो। रोटी शाक, दाल-चावल जैसे दो की संख्या तो खाद्य पदार्थों की संख्या रहे तो ठीक है। उन्हें अदलते बदलते रहा जा सकता है। अधिक जायके, अधिक पदार्थ भोजन में न बढ़ने पायें, यही उचित है।

(९) खिचड़ी या दलिया, दाल, शाक डालकर पकाया जाय और उसमें ही दही आदि मिला लिया जाय तो यह आहार साधक के उपयुक्त सस्ता, सात्विक, सरल और हर दृष्टि से उपयोगी हो सकता है। इस पर भली प्रकार गुजर हो सकती है।

(१०) हमारा आहार अनीति उपार्जित न हो। बिना परिश्रम की कमाई भी साधक के लिए अभक्ष्य ही है। न्यायोपार्जित आजीविका में से भी लोक हित का एक महत्त्वपूर्ण अंश निकालने के उपरान्त ही यज्ञावाशिष्ट खाया जाय। पंच महायज्ञों को नित्य कर्म में इसी का स्मरण रखने की दृष्टि से समावेश किया गया है।

यह साधना का एक पक्ष ही है वस्तुतः यह मन को स्वस्थ निरालस्य और ब्रह्मचर्य संकल्प से ओत-प्रोत बनाने के लिए हैं। आधार बुद्धि से स्वतः मन उसके लिए स्फूर्त होता है पर पूर्व अभ्यास के कारण कभी विकार उठें भी तो उन्हें हठात रोका जाये और मन को अधिकाधिक आत्म विकास की ओर उन्मुख रखा जाय।

(११) अन्नमय कोश के शोधन का दूसरा व्रत कुछ दिन बाद यह लेना चाहिए कि सप्ताह में एक दिन अथवा कम से कम एक समय उपवास किया जाय अब तक अस्वाद व्रत ही पर्याप्त माना जाता था, उपवास अनिवार्य नहीं था पर अब इसमें क्रमशः उच्चस्तरीय साधकों को सप्ताह में एक दिन या एक समय उपवास भी करना चाहिए।

(१२) ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में अपेक्षकृत हर वर्ष कुछ कड़ाई बढ़ाते ही चलना चाहिए। गृहस्थ होते हुए भी साधकों को अधिकाधिक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। इससे आत्म बल बढ़ता है, स्वास्थ्य सुधरता है, मानसिक शक्ति एवं बुद्धि में तीव्रता आती है, दीर्घ जीवन सुलभ होता है- और सन्तान की संख्या बढ़ने से परिवार का अर्थ सन्तुलन बिगड़ने से बच जाता है। पत्नी की सबसे बड़ी सेवा यही हो सकती है कि उसे अधिकाधिक ब्रह्मचर्य से रहने देकर निरोगिता एवं सन्तान-पालन के असह्य भार से बचने का लाभ प्राप्त करने दिया जाय। इस सुविधा के प्राप्त होने पर ही वह पति तथा परिवार की अधिक सेवा कर सकने में समर्थ हो सकती है।

ब्रह्मचर्य की लम्बी मर्यादाएँ पालन करने वाले, असंयम से बचे रहने वाले पति-पत्नी ही सुयोग्य संतान उत्पन्न कर सकते हैं। युग-निर्माण के उपयुक्त नई पीढ़ी को जन्म देने के लिए यह आवश्यक है कि गृहस्थ में भी वासनात्मक संयम को कड़ाई से पालन किया जाय और इन्द्रिय निग्रह की अवधि अधिकाधिक लम्बी बनाई जाती रहे। गायत्री उपासना में संलग्न पति-पत्नी-स्वाध्याय

और परस्पर विचार विनियम द्वारा भावनात्मक उत्कर्ष करते रहें। साथ ही परमार्थिक कार्यों में भी आवश्यक अभिरुचि लेते रहें तो उनके शरीरों में वे तत्व उत्पन्न हो सकते हैं जिनके कारण नर रत्नों को जन्म दे सकना सम्भव होता है। हमारी हार्दिक इच्छा है कि गायत्री परिवार के सद्गृहस्थों के यहाँ उच्चकोटि की आत्माएँ जन्म लें। युग निर्माण के लिए बड़ी ही विभूतियों की आवश्यकता पड़ेगी। दशरथ- कौशिल्या, वसुदेव-देवकी, दुष्यन्त-शकुन्तला की तरह प्रबुद्ध दम्पत्ति ही यह सौभाग्य लाभ प्राप्त कर सकते हैं। पंचकोशी गायत्री उपासना में अन्नमय कोश को अनावरण करने का प्रयत्न करते हुए साधक यदि ब्रह्मचर्य को अधिकाधिक महत्त्व देते रहें और अपने साथ ही पत्नी का आत्मिक स्तर ऊँचा उठाने का प्रयत्न करते रहें तो गायत्री माता के अन्य वरदानों के साथ यह वरदान भी मिल सकता है कि इतिहास में अपना और अपने पिता-माता का नाम अमर करने वाली सुसन्तति उन्हें प्राप्त हो।

उपवास का आध्यात्मिक महत्त्व

जिनके शरीर में मलों का भाग संचित हो रहा हो उस रोगी की चिकित्सा आरम्भ करने से पहले ही चिकित्सक उसे जुलाब देते हैं। ताकि दस्त होने से पेट साफ हो जाय और औषधि अपना काम कर सके। यदि चिर संचित मल के ढेर की सफाई न की जाय तो औषधि भी उस मल के ढेर में मिलकर प्रभावहीन हो जायेगी। अन्नमय कोश की अनेक सूक्ष्म विकृतियों का परिवर्तन करने में उपवास वहीं काम करता है जो चिकित्सा के पूर्व जुलाब लेने से होता है।

मोटे रूप से उपवास के लाभों से सभी परिचित हैं। पेट में रुका अपच पच जाता है, विश्राम से पाचन अंग नव चेतना के साथ दूना काम करते हैं, आमाशय में भरे हुए अपक्व अन्न से जो विष उत्पन्न होता है वह नहीं बनता, आहार की बचत से आर्थिक लाभ होता है। ये उपवास के लाभ ऐसे हैं जो हर किसी को मालूम हैं। डाक्टरों का यह भी निष्कर्ष प्रसिद्ध है कि स्वल्पाहारी दीर्घजीवी होते हैं। जो बहुत खाते हैं, पेट को ठूँस-ठूँसकर भरते हैं, कभी पेट को चैन नहीं लेने देते, एक दिन को भी उसे छुट्टी नहीं देते वे अपनी जीवनी सम्पत्ति को जल्दी ही समाप्त कर लेते हैं और स्थिर आयु की अपेक्षा बहुत जल्दी उन्हें दुनियाँ से बिस्तर बाँधना पड़ता है। आज के राष्ट्रीय अन्न-संकट में तो उपवास देश भक्ति भी है। यदि लोग सप्ताह में एक दिन उपवास करने लगें तो विदेशों से करोड़ों रुपये का अन्न न माँगना पड़े और अन्न सस्ता होने के साथ-साथ अन्य सभी चीजें भी सस्ती हो जायें।

गीता में 'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः' श्लोक में बताया है कि उपवास से विषय-विकारों की निवृत्ति होती है। मन का विषय-विकारों से रहित होना एक बहुत बड़ा मानसिक लाभ है। उसे ध्यान में रखते हुए भारतीय धर्म में प्रत्येक शुभ कार्य के साथ उपवास को जोड़ दिया है। कन्यादान के दिन माता-पिता उपवास रखते हैं अनुष्ठान के दिन यजमान तथा आचार्य उपवास रखते हैं। नवदुर्गा के नौ दिन कितने ही स्त्री-पुरुष पूर्ण या आंशिक उपवास रखते हैं। ब्राह्मण भोजन कराने से पूर्व उस दिन घर वाले भोजन नहीं करते। स्त्रियाँ अपने पति तथा सास-ससुर आदि पूज्यों को भोजन कराये बिना भोजन नहीं करतीं। यह आंशिक उपवास भी चित्त शुद्धि की दृष्टि से बड़े उपयोगी होते हैं।

स्वास्थ्य की दृष्टि से उपवास का असाधारण महत्त्व है। रोगियों के लिये तो इसे जीवन मूरि भी कहते हैं। चिकित्साशास्त्र का रोगियों को एक दैवी उपदेश है कि 'बीमारी को भूखा मारो।' भूखा रहने से बीमारी मर जाती है और रोगी बच जाता है। संक्रामक, कष्ट साध्य एवं खतरनाक रोगों में लंघन भी चिकित्सा का एक अंग है। मोतीझाला, निमोनियाँ, विशूचिका, प्लेग, सन्निपात, टाइफाइड जैसे रोगों में कोई भी चिकित्सक उपवास कराये बिना रोग को आसानी से अच्छा नहीं कर पाता। प्राकृतिक चिकित्सा-विज्ञान में तो समस्त रोगों में पूर्ण या आंशिक उपवास को ही प्रधान उपचार माना गया है।

उपवास से सूक्ष्म शक्ति की अभिवृद्धि

आम धारणा है कि मनुष्य का जीवन-व्यापार भोजन जल और वायु पर निर्भर है। ये न मिलें तो उसका जीवित रहना असम्भव है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टा जानते हैं कि जीवन का मूल वह प्राण-शक्ति है जो अनन्त अन्तरिक्ष में सर्वत्र व्याप्त है, जिसे कतिपय लोग आकाश तत्व के नाम से भी सम्बोधित करते हैं। जीवन-संचालन के लिए इसकी उपयोगिता वायु की अपेक्षा कहीं अधिक है। वस्तुतः आकाशतत्व को प्राणशक्ति का प्रतीक-प्रतिनिधि कहना

अधिक उपयुक्त होगा। जीवधारियों की जीवनी-शक्ति का मुख्य आधार यही है।

उपवास के दौरान इसी प्राणशक्ति को आकाशतत्व के अवगाहन द्वारा अधिकाधिक मात्रा में ग्रहण किया जाता है। इस लिए उच्चस्तरीय साधनाओं जप-अनुष्ठानों पर्व त्योहारों में उपवास की महत्ता पर विशेष बल दिया गया है। यों तो उपवास का भावार्थ है- पाचन संस्थान को विश्राम देना और संचित मल का निष्कासन करना पर यदि इसके शब्दार्थ पर विचार करें तो अर्थ होगा समीप रहना। समीप किसके ? यहाँ अभिप्राय उस सूक्ष्म प्राण सत्ता के सान्निध्य से है जो प्राणियों के जीवन का मूलभूत कारण है। पेट को खाली रखते हुए आकाशतत्व के माध्यम से उसका अधिकतम लाभ उठाने का ही निर्देश इस शब्द में निहित है। धर्मानुष्ठानों में साधना-विधानों में इसी कारण इसे एक अनिवार्य अनुबन्ध के रूप में सम्मिलित किया गया है ताकि इसके अतिरिक्त लाभ लिया जा सके। प्राय: साधना-अनुष्ठानों का मुख्य उद्देश्य जीवन को अधिक प्रखर अधिक समर्थ बनाना होता है। इसे उपवास द्वारा अदृश्य आकाशतत्व में विद्यमान सूक्ष्म शक्तियों को आत्मसात कर अधिक सरलतापूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि पेट जितना खाली रखा जा सके उतना ही आकाशतत्व को अधिक मात्रा में उपलब्ध कर सकने की सम्भावना रहेगी और उसी अनुपात में हम लाभान्वित भी हो सकेंगे।

इसे देव संस्कृति में ही इतना महत्त्व मिला हो ऐसी बात नहीं है। अन्य धर्म-सम्प्रदायों में भी उपवास का अपना विशिष्ट स्थान है। मुसलमानों में रमजान के महीने में रोजा रखने का विधान है। कहा जाता है कि मोहम्मद साहब को तीस दिन की उपवास युक्त साधना के उपरान्त ही दैवी शक्तियों का साक्षात्कार हुआ था। ईसामसीह के बारे में भी विख्यात है कि ४० दिन की उपवास-तपश्चर्या के पश्चात् ही उन्हें दिव्य अनुभूतियाँ हुई थीं। ईसाई धर्म में अब भी "लेण्ट" के रूप में ईस्टर पर्व से पूर्व चालीस दिन का उपवास रखने की प्रथा-परम्परा है। इसमें व्रतधारी उपवास करता हुआ अपने पापों का प्रायश्चित करता है। ईसाई समुदाय में ऐसी मान्यता है कि इस प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति के सारे पाप धुल जाते हैं। जैन धर्म में व्रत उपवास पर्यूषण पर्व के रूप में मनाया जाता है। यहूदी, बौद्ध, सिण्टो, ताओ, आदि धर्मों में भी किसी न किसी रूप में साधना विधानों के अन्तर्गत उपवास किये जाने की परम्परा अभी भी जीवित है।

जीवन के लिए वैसे तो पृथ्वी जल अग्नि, वायु, एवं आकाश पाँचों तत्व ही आवश्यक हैं, किन्तु इनमें सूक्ष्म प्राण की मात्रा क्रमश: अधिक होती जाती है। इस दृष्टि से आकाशतत्व की महत्ता एवं उपयोगिता बढ़ जाती है। उपवास के दिनों में इसकी अभिवृद्धि का अनुभव हर व्यक्ति अपने अन्दर कर सकता है। इन दिनों विचारणा-शक्ति अपेक्षाकृत अधिक समर्थ व सशक्त बन जाती है। श्रवणेन्द्रियों एवं घ्राणेन्द्रियों की संवेदनशीलता बढ़ जाती है। यहाँ तक कि मन भी सात्विकता की ओर मुड़ पड़ता है। पहले जिसका सुस्वादु व्यंजन की ओर मन ललकता था बाद में उसे सादा भोजन भी रुचिकर लगने लगता है। सूझ-बूझ प्रत्युत्पन्नमति कल्पनाशक्ति स्मरणशक्ति आदि में भी स्पष्ट बढ़ोत्तरी दृष्टिगोचर होती है। अमेरिका के प्रसिद्ध साहित्यकार अपटान सिन्क्लेयर का इस सम्बन्ध में व्यक्तिगत विचार है कि इससे जहाँ शरीर में ताजगी और स्फूर्ति महसूस होती है, वहीं मन में उत्साह और उल्लास उमड़ता रहता है। पढ़ाई में ध्यान रमता है एवं एकाग्रता बढ़ने लगती है। यह सब परिवर्तन प्रकारान्तर से उपवास के मध्य शरीर में आकाशतत्व की अभिवृद्धि से ही अनुभव होते हैं।

महात्मा गाँधी ने आत्म शोधन एवं आध्यात्मिक शक्ति-सम्पादन हेतु उपवास को एक महत्त्वपूर्ण उपकरण बताया था और समय-समय पर वे इसका लाभ भी उठाते रहते थे। सामान्य व्यक्ति भी सुविधानुसार साप्ताहिक, पाक्षिक, या मासिक उपवास करता रहकर शरीर व मन शोधन का उभय-पक्षीय लाभ हस्तगत कर सकता है। वर्ष में दो बार नवरात्रि उपवास कर लेने एवं आहार-विहार का संतुलन बिठाये रखने से हर व्यक्ति अपने शरीर व मन को स्वस्थ निरोग बनाये रह सकता है। कुछ लोगों की मान्यता है कि एक दिन भोजन नहीं करेंगे तो कमजोर हो जायेगें, पर वस्तुत: ऐसी बात नहीं है। शरीर में जो विजातीय द्रव्य रहते हैं, उपवास के दौरान उनका निष्कासन होने लगता है जीवनी-शक्ति इसी दिशा में उन दिनों व्यय होने लगती है फलत: आरम्भ में कुछ कमजोरी लगना स्वाभाविक है मगर यह स्थिति अधिक दिन तक नहीं बनी रहती है। जल्द ही शरीर अपने स्वाभाविक क्रम में आ जाता है। इस मध्य काया में कुछ क्षीणता अवश्य आ जाती है, किन्तु स्थूलता घटने के साथ-साथ सूक्ष्म शक्तियों

का भी प्रादुर्भाव होता है। मुखमण्डल में ओजस- तेजस बढ़ जाते हैं। रोगी का दुर्बल शरीर थका-थका सा मलीन और निस्तेज दिखाई पड़ता है जबकि साधक के शरीर और चेहरे पर चमक होती है। उसका, खाली पेट रहना उद्देश्यपूर्ण होता है। उसके साथ उसका संकल्प बल और लक्ष्य जुड़ा होता है अत: हाथों हाथ उसका सत्परिणाम भी ओजस-तेजस वर्चस से अभिवृद्धि के रूप में मिलता है, जबकि मरीज को निराहार स्थिति मजबूरी वश होती है। उसके मन में इसके प्रति न संकल्प होता है न उमंग-उत्साह जिससे इस दौरान उसकी शारीरिक क्षमता घटती प्रतीत होती है। निरुद्देश्य अथवा अभाववश भूखे रहने वाले उपवास के आध्यात्मिक लाभ से सदा वंचित रह जाते हैं।

इस तथ्य को हमारे ऋषियों ने भली प्रकार समझा था। उन्होंने हर महीने कई उपवासों का धार्मिक महत्त्व स्थापित किया था।

उपवास से उपत्यिकाओं का शोधन

अन्नमय कोश की शुद्धि के लिये उपवास की विशेष आवश्यकता है। शरीर में कई जाति की उपत्किायें देखी जाती हैं, जिन्हें शरीरशास्त्री 'नाड़ी गुच्छक' कहते हैं। देखा गया है कि कई स्थानों पर ज्ञान तन्तुओं जैसी बहुत पतली नाड़ियाँ आपस में चिपकी होती हैं। यह गुच्छक कई बार रस्सी की तरह आपस में लिपटे और बँटे होते हैं। कई जगह वह गुच्छक गाँठ की तरह ठोस गोली जैसे बन जाते हैं।

कई बार यह समानान्तर लहराते हुए सर्प की भाँति चलते हैं और अन्त में उनके सिर आपस में जुड़ जाते हैं। कई जगह इनमें बरगद के वृक्ष की तरह शाखा- प्रशाखायें फैली रहती हैं और इस प्रकार के कई गुच्छक परस्पर सम्बन्धित होकर एक परिधि बना लेते हैं इनके रंग आकार एवं अनुच्छेदन में काफी अन्तर होता है। यदि अनुसंधान किया जाय तो, उनके तापमान अणु परिक्रमण एवं प्रतिभापुंज में भी काफी अन्तर पाया जायेगा।

वैज्ञानिक इन नाड़ी गुच्छकों के कार्य का कुछ विशेष परिचय अभी तक प्राप्त नहीं कर सके हैं, पर योगी लोग जानते हैं कि यह उपत्यिकायें शरीर में अन्नमयकोश की बन्धन ग्रन्थियाँ हैं। मृत्यु होते ही सब बन्धन खुल जाते हैं और फिर एक भी गुच्छक दृष्टिगोचर नहीं होता। यह उपत्यिकायें अन्नमय कोश के गुण-दोषों का प्रतीक हैं। 'इन्धिका' जाति की उपत्यिकायें चंचलता, अस्थिरता उद्विग्नता की प्रतीक हैं। जिन व्यक्तियों में इस जाति के नाड़ी गुच्छक अधिक हों तो उनका शरीर एक स्थान पर बैठ कर काम न कर सकेगा, उन्हें कुछ खटपट करते रहनी पड़ेगी। 'दीपिका' जाति की उपत्यिकायें जोश, क्रोध, शारीरिक उष्णता, अधिक पाचन, गर्मी, खुश्की आदि उत्पन्न करेंगी। ऐसे गुच्छकों की अधिकता वाले लोग चर्म रोग, फोड़ा-फुन्सी, नकसीर फूटना, पीला पेशाब, आँखों में जलन आदि रोगों के शिकार होते रहेंगे।

'मोचिकाओं' की अधिकता वाले व्यक्ति के शरीर से पसीना, लार, कफ, पेशाब आदि मलों का निष्कासन अधिक होगा। पतले दस्त अक्सर हो जाते हैं और जुकाम की शिकायत होते देर नहीं लगती। 'आप्याविनी' जाति के गुच्छक आलस्य, अधिक निद्रा, अनुत्साह, भारीपन उत्पन्न करते हैं। ऐसे व्यक्ति थोड़ी-सी मेहनत में थक जाते हैं। उनसे शारीरिक या मानसिक कार्य विशेष नहीं हो सकता।

'पूषा' जाति के गुच्छक काम वासना की ओर मन को बलात् खींच ले जाते हैं। संयम, ब्रह्मचर्य के सारे आयोजन रखे रह जाते हैं। 'पूषा' का तनिक-सा उत्तेजन मन को बेचैन कर डालता है और वह बेकाबू होकर विकार ग्रस्त हो जाता है। शिवजी पर शर संधान करते समय काम देव ने अपने कुसुम वाण से उस प्रदेश की 'पूषाओं' को उत्तेजित कर डाला था।

'चन्द्रिका' जाति की उपत्यिकायें सौन्दर्य बढ़ाती हैं। उनकी अधिकता से वाणी में मधुरता, नेत्रों में मादकता, चेहरे पर आकर्षण, कोमलता एवं मोहकता की मात्रा रहेगी। 'कपिल' के कारण नम्रता, डर लगना, दिल की धड़कन, बुरे स्वप्न, आशंका, मस्तिष्क की अस्थिरता, नपुंसकता, वीर्यरोग आदि लक्षण पाये जाते हैं। 'घूसार्वि' में संकोचन शक्ति बहुत होती है। फोड़े देर में पकते हैं, कफ मुश्किल से निकलता है। शौच कच्चा और देर में होता है, मन की बात करने में झिझक लगती है। ऊष्माओं की अधिकता से मनुष्य हाँफता रहता है। जाड़े में भी गर्मी लगती है। क्रोध आते देर नहीं लगती। जल्दबाजी बहुत होती है। रक्त की गति, श्वांस-प्रश्वांस में तीव्रता रहती है।

'अमाया' वर्ण के गुच्छक, दृढ़ता, मजबूती, कठोरता, गम्भीरता, हठधर्मी के प्रतीक होते हैं। इस प्रकार के शरीरों पर ब्राह्य उपचारों का कुछ असर नहीं होता।

कोई दवा काम नहीं करती, ये स्वेच्छापूर्वक रोगी या रोग मुक्त होते हैं। उन्हें कोई कुपथ्य रोगी नहीं कर पाता परन्तु जब गिरते हैं तो संयम नियम का पालन भी कुछ काम नहीं आता।

चिकित्सक लोगों के उपचार अनेक बार असफल होते रहते हैं। कारण कि उपत्यिकाओं के अस्तित्व के कारण शरीर की सूक्ष्म स्थिति कुछ ऐसी हो जाती है कि चिकित्सा कुछ विशेष काम नहीं करती। 'उद्‌गीथ' उपत्यिकाओं की अभिवृद्धि से सन्तान होना बन्द हो जाता है। यह जिस पुरुष या स्त्री में अधिक होंगी वह पूर्ण स्वस्थ होते हुए भी सन्तानोत्पादन के आयोग्य हो जायेगा।

स्त्री-पुरुष में से 'असिता' की अधिकता जिनमें होगी वही अपने लिंग की सन्तान उत्पन्न करने में विशेष सफल रहेगा। 'असिता' से सम्पन्न नारी को कन्यायें और पुरुष को पुत्र उत्पन्न करने में सफलता मिलती है। जोड़े में से जिसमें 'असिता' की अधिकता होगी उसकी शक्ति जीतेगी।

'युक्त हिंसा' जाति के गुच्छक क्रूरता, दुष्टता, परपीड़न की प्रेरणा देते हैं। ऐसे व्यक्तियों को चोरी, जुआ, व्यभिचार, ठगी आदि करने में बड़ा रस आता है। आवश्यक धन, सम्पत्ति होते हुए भी उनका अनुचित मार्ग अपनाने को मन चलता रहता है। कोई विशेष कारण न होते हुए भी दूसरों के प्रति ईर्ष्या द्वेष और आक्रमण का आचरण करते हैं। ऐसे लोग मांसाहार मद्य-पान, शिकार खेलना, मारपीट करना या लड़ाई-झगड़े को और पंच बनने को बहुत पसन्द करते हैं। 'हिंसा' उपत्यिकाओं की अधिकता वाला मनुष्य सदा ऐसे काम करने में रस लेगा, जो अशान्ति उत्पन्न अपने बच्चों को बेतरह पीटने और कुकृत्य करते देखे जाते हैं।

उपरोक्त पंक्तियों में कुछ थोड़ी-सी उपत्यिकाओं का वर्णन किया गया है। इनकी ९६ जातियाँ जानी जा सकी हैं। सम्भव है ये इससे भी अधिक होती हैं। यह ग्रन्थियाँ जानी जा सकी हैं जो शरीरिक स्थिति को इच्छानुकूल रखने में बाधक होती हैं। मनुष्य चाहता है कि मैं अपने शरीर को ऐसा बनाऊँ, वह उसके लिये कुछ उपाय भी करता है, पर कई बार वे उपाय सफल नहीं होते। कारण यह है कि ये उपत्यिकायें भीतर ही भीतर शरीर में ऐसी विलक्षण क्रिया एवं प्रेरणा उत्पन्न करती हैं जो बाह्य प्रयत्नों को सफल नहीं होने देतीं और मनुष्य अपने को बार-बार असफल एवं असहाय अनुभव करता है।

अन्नमय कोश को शरीर से बाँधने वाली यह उपत्कियें शारीरिक एवं मानसिक अकर्मों से उलझकर विकृत होती हैं तथा सत्कर्मों से सुव्यवस्थित रहती हैं। बुरा आचरण तो खाई खोदना है और शरीर को उस खाई में गिराकर रोग, शोक आदि की पीड़ा सहनी पड़ती है। इन उलझनों को सुलझने के लिये आहार-विहार का संयम एवं सात्विक रखना दिनचर्या ठीक रखना, प्रकृति के आदेशों पर चलना आवश्यक है। साथ में कुछ ऐसे ही विशेष योगिक उपाय भी हैं जो उन आन्तरिक विकारों पर काबू पा सकते हैं, जिनको कि केवल बाह्योपचार से सुधारना कठिन है।

उपवास का उपत्यिकाओं के संशोधन, परिमार्जन और सुसंतुलन से बड़ा सम्बन्ध है। योग साधना में उपवास का एक सुविस्तृत विज्ञान है। अमुक पर, अमुक मास में, अमुक मुहूर्त में, अमुक प्रकार से उपवास करने का अमुक फल होता है। ऐसे आदेश शास्त्रों में जगह-जगह पर मिलते हैं। ऋतुओं के अनुसार शरीर की छः अग्नियाँ न्यूनाधिक होती रहती हैं। ऊष्मा, बहुवृच, ह्वादी, रोहिता, आत्पता, व्याति-यह छः शरीरगत अग्नियाँ ग्रीष्म से लेकर बसन्त तक छः ऋतुओं में क्रियाशील रहती हैं। इनमें से प्रत्येक के गुण भिन्न-भिन्न हैं।

१- उत्तरायण, दक्षिणायन की गोलार्ध स्थिति, २- चन्द्रमा की घटती -बढ़ती कलायें, ३- नक्षत्रों का भूमि पर आने वाला प्रभाव, ४- सूर्य की अंश किरणों का मार्ग। इन चारों बातों का शरीरगत ऋतु अग्नियों के साथ सम्बन्ध होने से क्या परिणाम होता है,इनका ध्यान रखते हुए ऋषियों ने ऐसे पुण्य-पर्व निश्चित किये हैं, जिनमें अमुक विधि से उपवास किया जाय तो उसका अमुक परिणाम हो सकता है। कार्तिक कृष्णा चौथ जिसे करवा चौथ कहते हैं, उस दिन का उपवास दाम्पत्य प्रेम बढ़ाने वाला होता है क्योंकि उस दिन की गोलार्द्ध स्थिति, चन्द्रकलायें, नक्षत्र प्रभाव एवं सूर्य मार्ग का सम्मिश्रण परिणाम शरीरगत अग्नि के साथ समन्वित होकर शरीर एवं मन की स्थिति को ऐसा उपयुक्त बना देता है, जो दाम्पत्य सुख को सुदृढ़ और चिरस्थायी बनाने में बड़ा सहायक होता है।

इसी प्रकार के अन्य व्रत, उपवास हैं जो अनेक इच्छाओं और आवश्यकताओं को पूरा करने में तथा बहुत से अनिष्टों को टालने में उपयोगी सिद्ध होते हैं।

उपवास के प्रकार

उपवासों के पाँच भेद होते हैं (१) पाचक (२) शोधक (३) शामक (४) आनस (५) पावक। पाचक उपवास वे हैं, जो पेट के अपच, अजीर्ण, कोष्ठबद्धता को पचाते हैं। शोधक वे हैं जो रोगों को भूखा मार डालने के लिये किये जाते हैं, इन्हें लंघन भी कहते हैं। शामक वे हैं जो कुविचारों, मानसिक विकारों, दुष्प्रवृत्तियों एवं विकृत उपत्यिकाओं का शमन करते हैं। आनस- वे हैं जो किसी विशेष प्रयोजन के लिए दैवी शक्ति को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये किये जाते हैं। पावक वे हैं जो पापों के प्रायश्चित के लिये होते हैं। आत्मिक और मानसिक स्थिति के अनुरूप कौन-सा उपवास उपयुक्त होगा और उसके क्या नियमोपनियम होने चाहिए, इसका निर्णय करने के लिये सूक्ष्म विवेचना की आवश्यकता है।

साधक का अन्नमय कोश किस स्थिति में है ? उसकी कौन उपत्यिकायें विकृत हो रही हैं ? किस उत्तेजित संस्थान को शान्त करने एवं किस मर्म स्थल को सतेज करने की आवश्यकता है ? यह देखकर निर्णय किया जाना चाहिये कि कौन व्यक्ति किस प्रकार का उपवास कब करे?

पाचक उपवास में तब तक भोजन छोड़ देना चाहिए जब तक कि कड़ाके की भूख न लगे। एक बार का, एक दिन का या दो दिन का आहार छोड़ देने से आमतौर पर कब्ज पक जाता है। पाचक उपवास में सहायता देने के लिये नीबू का रस, जल एवं किसी पाचक औषधि का सेवन किया जा सकता है।

शोधन उपवासों के साथ विश्राम आवश्यक है। यह लगातार तब तक चलते हैं, जब तक रोगी खतरनाक स्थिति को पार न कर ले। औटाकर ठण्डा किया हुआ पानी ही ऐसे उपवासों में एक मात्र अवलम्ब होता है।

शामक उपवास दूध, छाछ, फलों का रस आदि पतले, रसीले हल्के पदार्थों के आधार पर चलते हैं। इन उपवासों में स्वाध्याय, आत्म-चिन्तन, सेवन, मौन, जप, ध्यान, पूजा, प्रार्थना, आदि आत्मा-शुद्धि के उपचार भी साथ में होने चाहिए।

अनास उपवास में सूर्य की किरणों द्वारा अभीष्ट दैवी शक्ति का आह्वान करना चाहिए। सूर्य की सप्तवर्ण किरणों में राहु, केतु को छोड़ कर अन्य सातों ग्रहों की रश्मियाँ सम्मिलित होती हैं। सूर्य में तेजस्विता, उष्णता, पित्त प्रकृति प्रधान हैं। चन्द्रमा शीतल, शान्तिदायक, उज्ज्वल, कीर्तिकारक। मंगल-कठोर, बलवान, सहायक। बुध-सौम्य, शिष्ट, कफ प्रधान, सुन्दर, आकर्षक। गुरु विद्या, बुद्धि, धन, सूक्ष्मदर्शिका, शासन, न्याय राज्य का अधिष्ठाता। शुक्र-बात प्रधान, चञ्चल, उत्पादक,, कूटनीतिक। शनि-स्थिरता, स्थूलता, सुखोपभोग, दृढ़ता, परिपुष्ट का प्रतीक है। जिस गुण की आवश्यकता हो उसके अनुरूप दैवी तत्वों को आकर्षित करने के लिये सप्ताह में उसी दिन उपवास करना चाहिए। इन उपवासों में लघु आहार उन ग्रहों में समता रखने वाला होना चाहिए उसी ग्रह के अनुरूप रंग की वस्तुयें वस्त्र आदि का जहाँ तक सम्भव हो अधिक प्रयोग करना चाहिए।

रविवार को श्वेत रंग और गाय के दूध, दही का आहार उचित है। सोमवार का पीला रंग और चावल का माड़ उपयुक्त है। मंगल को लाल रंग, भैंस का दही या छाछ। बुध को नीला रंग और खट्ठे-मीठे फल। गुरु को नारंगी रंग वाले मीठे फल। शुक्र को हरा रंग, बकरी का दूध, दही, गुड़ का उपयोग ठीक रहता है। प्रातःकाल की किरणों के सम्मुख खड़े होकर नेत्र बन्द करके निर्धारित किरणें अपने में प्रवेश होने का ध्यान करने से वह शक्ति सूर्य रश्मियों द्वारा अपने में अवतरित होती हैं।

पावस उपवास प्रायश्चित स्वरूप किये जाते हैं। ऐसे उपवास केवल जल लेकर करने चाहिये। अपनी भूल के लिये प्रभू से सच्चे हृदय से क्षमा याचना करते हुए भविष्य में वैसी भूल न करने का प्रण करना चाहिये। अपराध के लिये शारीरिक कष्टसाध्य तितीक्षा एवं शुभ कार्य के लिये इतना दान करना चाहिए जो पाप की व्यथा को पुण्य की शान्ति के बराबर कर सके। चान्द्रायण व्रत कृच्छ चान्द्रायण आदि ये पावस व्रतों में गिने जाते हैं।

प्रत्येक उपवास में यह बातें विशेष रूप से ध्यान रखने की हैं-१- उपवास के दिन जल बार-बार पीना चाहिये, बिना प्यास के भी पीना चाहिये। २- उपवास के दिन अधिक शारीरिक श्रम न करना चाहिये। ३-उपवास के दिन यदि निराहार न रहा जाय तो अल्प मात्रा में रसीले पदार्थ, दूध, फल आदि ले लेना चाहिये। मिठाई, हलुआ आदि गरिष्ठ पदार्थ भरपेट खा लेने से उपवास का प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। ४- उपवास तोड़ने के बाद हल्का शीघ्र पचने वाला आहार स्वल्प मात्रा में लेना चाहिये। उपवास समाप्त होते ही अधिक मात्रा में भोजन

कर लेना हानिकारक है। ५- उपवास के दिन अधिकांश समय आत्म-चिन्तन, स्वाध्याय या उपासना में लगाना चाहिये।

उपत्यिकाओं के शोधन परिमार्जन और उपयोगीकरण के लिये उपवास किसी विज्ञ पथ-प्रदर्शक की सलाह से करने चाहिये, पर साधारण उपवास जो कि प्रत्येक गायत्री उपासक के अनुकूल होता है, रविवार के दिन होना चाहिए। उस दिन सातों ग्रहों की सम्मिलित शक्ति पृथ्वी पर आती है जो विविध प्रयोजनों के लिये उपयोगी होती है। रविवार को प्रातःकाल स्नान करके या सम्भव न हो तो हाथ-मुँह धोकर शुद्ध वस्त्रों में सूर्य के सम्मुख मुख करके बैठना चाहिये और एक बार खुले नेत्र बन्द कर लेने चाहिए। "इस सूर्य के तेजपुञ्ज रूपी समुद्र में हम स्नान कर रहे हैं, वह हमारे चारों ओत-प्रोत रहा है" ऐसा ध्यान करने से सविता की ब्रह्य रश्मियाँ अपने भीतर भर जाती हैं। बाहर से चेहरे पर धूप पड़ना और भीतर से ध्यानाकर्षण द्वारा उसकी सूक्ष्म रश्मियों को खींचना उपत्यिकाओं को सुविकसित करने में बड़ा सहायक होता है। यह साधना १५-२० मिनट तक की जा सकती है।

उस दिन श्वेत वर्ण की वस्तुओं का अधिक प्रयोग करना चाहिए, वस्त्र भी अधिक सफेद ही हों। दोपहर के बारह बजे के बाद फलाहार करना चाहिये। जो लोग रह सकें वे निराहार रहें, जिन्हें कठिनाई हो वे फल, दूध, शाक लेकर रहें। बालक, वृद्ध, गर्भिणी, रोगी या कमजोर व्यक्ति चावल, दलिया आदि दोपहर को, दूध रात को ले सकते हैं, नमक एवं शक्कर इन दो स्वाद उत्पन्न करने वाली वस्तुओं को छोड़कर बिना स्वाद का भोजन भी एक प्रकार का उपवास हो जाता है। आरम्भ में अस्वाद आहार के आंशिक उपवास से भी गायत्री साधक अपनी प्रवृत्ति को बढ़ा सकते हैं।

उच्चस्तरीय गायत्री साधना और आसन

उपासना बैठकर की जाती है। ध्यान धारण, जप, पूजा, पाठ, आदि क्रियाकृत्य खड़े होकर नहीं किये जाते उनके लिए स्थिरतापूर्वक सुख से बैठने का विधान है। महर्षि पतंजलि ने इसीलिए अपने अष्टांग योग में 'यम' नियम के बाद आसन को महत्त्व दिया है। यों आसन की परिभाषा 'स्थिर-सुखमासनम्' की गयी है, जिसका अर्थ स्थिरतापूर्वक सुख से बैठना कहा गया है। परन्तु-आसन का तात्पर्य मात्र बैठने की विधि से नहीं वरन् उस स्थान एवं वातावरण से है, जहाँ उपासना की जाय। आसन के नाम पर सिद्धासन, सर्वांगासन, पद्मासन आदि पैरों को मोड़ने-मरोड़ने की विधि विशेष तक ही सीमित नहीं किया जाना चाहिए, वरन् उसमें समूचे वातावरण का संकेत सन्निहित समझा जाना चाहिए, जहाँ कि उपासना की जा रही है या की जानी है।

व्यक्ति की शरीरिक एवं मानसिक स्थिति पर स्थान और वातावरण का अनिवार्य रूप से प्रभाव पड़ता है। अवांछनीय परिस्थितियों में रहते हुए चित्त में उद्विग्नता बनी रहेगी और आत्मिक उत्कर्ष के वे प्रयोग न सध सकेंगे जिनमें, शान्ति-चित्त होने की, मानसिक स्थिरता की शर्त जुड़ी हुई है। साधना में मन न लगने, जी ऊबने, चित्त के चंचल रहने की शिकायत साधकों को प्रायः बनी ही रहती है। इसका कारण मन का अनगढ़ होना और निग्रह में संकल्प शक्ति का प्रयोग न किया जाना भी होता है। उसके कारण भी मन उचटता रहता है। साधना जिस श्रद्धा, अभिरुचि और विश्वासपूर्वक की जानी चाहिए वह हो नहीं पाती। कारण स्पष्ट है कि जिसमें गहरी श्रद्धा एवं मनोबल युक्त संकल्प का समावेश न होगा वह आत्मोत्कर्ष के लिए किया जाने वाला साधन मात्र छुट पुट कार्यक्रमों के सहारे संपन्न न हो सकेगा। अस्तु आसन की, वातावरण की उपयोगिता समझी जानी चाहिए और उसके लिए अच्छे स्थान की अच्छे वातावरण की व्यवस्था की जानी चाहिए।

किसके लिए, कहाँ, क्या, कितना सम्भव है ? यह निर्णय करना हर व्यक्ति का अपना काम है। उसे अपेक्षा कृत अधिक उपयुक्तता तलाश करनी चाहिए। पर यदि बहुत घिचपिच हो तो समीप में कोई सुविधाजनक सज्जनता के वातावरण वाला शान्त स्थान तलाश किया जा सकता है। घर में एक हवादार कोठरी कोलाहल रहित कोने में मिल सके तो उत्तम है। खुली छत का भी उपयोग हो सकता है। कुछ भी न बन पड़े तो इतनी व्यवस्था तो बनानी चाहिए कि जितने समय तक उपासना की जानी है उतने समय तक लोगों का आवागमन न रहे। उपासना में कई व्यक्ति एक साथ बैठ सकते हैं, पर वे सभी रहने आत्मतल्लीन ही चाहिए। एक की हलचलें दूसरों का ध्यान न उचटावें, तभी साथ बैठने की सार्थकता है।

अब आसन की वह परिभाषा आरम्भ की जाती है। जिसका बैठने से सम्बन्ध है। आसन पैरों का ही नहीं समस्त शरीर का होता है। कमर सीधी-आँखें अधोमिलित, शान्त चित्त, स्थिर शरीर यह स्थिति रहनी चाहिए। मात्र ध्यान करना हो तो दोनों हाथ गोदी में रहने चाहिए अन्यथा जप में दाहिने बायें हाथों को इधर-उधर भटकाते नहीं रहना चाहिए वरन् एक निर्धारित क्रम सुस्थिर रखने की व्यवस्था आसन मुद्रा कहलाती है।

पैरों को किस प्रकार मोड़कर बैठा जाय। इसका भी साधना में महत्त्व है। इस बैठक का भी शरीर पर और मन पर प्रभाव पड़ता है और उसके सहारे साधना की सफलता में सरलता उत्पन्न होती हैं। यहाँ इतना और स्मरण रखने योग्य है कि उत्तानपाद, शीर्षासन, मत्स्यासन, मयूरासन आदि चौरासी या न्यूनाधिक संख्या में गिनाये जाने वाले आसन एक प्रकार के शारीरिक व्यायाम हैं। आरोग्य रक्षा की दृष्टि से विशेष व्यायामों जैसा ही उनका महत्त्व है। उन्हें आध्यात्मिक साधनाओं के साथ सम्मिलित नहीं किया जा सकता। चित्र-विचित्र ढगं से शरीर के अवयवों को मोड़ने मरोड़ने से शरीरगत लाभ तो हो सकते हैं, पर मन की एकाग्रता पर तो उनके कारण उत्पन्न हुए तनाव से बाधा ही पड़ेगी।

साधना के लिए बैठने में शरीर को सुविधा की स्थिति में रखे रहने वाली मुद्रा होनी चाहिए। इसके लिए सुखासन सर्व-सुलभ है। साधारण रीति से पालथी मारकर बैठने का नाम- उसकी सुविधा को ध्यान में रखते हुए-'सुखासन' उपयुक्त ही रखा गया है। इसे किसी भी साधना में बिना किसी संकोच के प्रयुक्त किया जा सकता है। शास्त्रकार आसन का उद्देश्य और स्वरूप समझते हुए कहते हैं-

येन केन प्रकारेण सुखं धैर्य च जायते ।
यत्सुखासनामित्युक्तमशक्तस्तत्समाश्रयेत् ।।१२।।

-जावालदर्शनोपनिषद् ३।१२

जिस प्रकार बैठने से शरीर को सुविधा हो, शान्ति में अड़चन न पड़े उसे सुखासन कहते हैं। निर्बल साधकों को ऐसे ही आसन का आश्रय लेना चाहिए।

योगशास्त्र के अंतर्गत कई प्रकार के आसनों का उल्लेख है। उन्हें मार्गदर्शन के परामर्श एवं निर्देश के अनुसार विशेष साधनाओं के लिए विशेष रूप से किया जाता है। यों योग शास्त्र में ८४ प्रकार के आसनों का उल्लेख है। गोरक्ष संहिता में तो ८४ लाख योनियों के अनुसार ८४ लाख आसनों की चर्चा की गई है पर मुख्य ८० ही बताये गये हैं। (१।९-१०)

इन चौरासी आसनों में भी चार विशेष उल्लेखनीय हैं (१) सिद्धासन (२) पद्मासन (३) मुद्रासन तथा (४) स्वीस्तकासन। यथा-

सिद्धं पद्म तथा सिहं यदं चेति चतुष्टयम्
श्रेष्ठं तंत्रापि च सुखे तिष्ठेन सिद्धिसिनेसदा

(हठयोग प्रदीपिका १।३ ६)

इन चार आसनों में भी दो ही मुख्य माने गये हैं (१) सिद्धासन (२) पद्मासन। दो मुख्य आसनों में भी पद्मासन सरल है। उसका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है।

बामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वानं तथा,
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम्।
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतव्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासन प्राच्यते।।

हठयोग प्रदीपिका १।४४

बाईं जांघ के ऊपर दाहिने पैर और दाहिनी जांघ पर बायें पैर को रखें। पीछे की ओर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगूठे पकड़कर 'और' ठोड़ी को कण्ठ में सटाकर नाक के अग्रभाग में देखें यह पद्मासन है। इससे व्याधियाँ नष्ट होती हैं।

पद्मासन की सामान्य प्रचलित रीति में पैरों पर पैर चढ़ाकर हाथ सुविधाजनक घुटनों पर अथवा गोद में रखकर बैठने का क्रम है। पीछे से हाथ ले जाकर अंगूठा पकड़ने को पद्मासन कहा जाता है।

गायत्री साधना द्वारा कुंडलिनी जागरण के प्रयोग में सिद्धासन को प्रमुखता दी जाती है। यह लगातार तो नहीं हो सकता पर जितनी देर शक्ति चालिनी मुद्रा एवं प्राणायाम के अभ्यास किये जाते हैं, उतनी देर उसे लगाना लाभदायक है। सिद्धासन का महत्त्व शास्त्रकार इस प्रकार बताते हैं।

चतुर शीति पीठेषु सिद्धमेवसदाम्यसेत् ।
द्वा सप्तति सहस्राण्ये नाड़ीनां मलशोधनम् ।।

अर्थात्- ८४ आसनों में से सिद्धासन का हमेशा ही अभ्यास करना चाहिए क्योंकि वह ७२ हजार नाड़ियों के मल को दूर करता है।

किमन्यै बहुभि: पीठै: सिद्धे सिद्धासने सति ।
प्राणानिले सावधाने बद्धे केवलकुंभके ।।

उत्पद्यते निरायासात्स्वयमेवोन्मनो कला ।
तथैकस्मिन्नेव दृढे सिद्धे सिद्धासने सति ।।
बन्धत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते ।।

–हठयोग प्रदीपिका १।४३,४४

अर्थात्- सिद्धासन के सिद्ध होने पर अन्य अनेक आसनों के अभ्यास की क्या आवश्यकता ? प्राणवायु को सावधानीपूर्वक संयमित रखकर 'केवल कुम्भक' प्राणायाम का अभ्यास करते हुए सिद्धासन में दृढ़ रहकर साधना करने से उन्मनी कला स्वंयमेव सिद्ध होती है और तीनों बन्ध भी इस अभ्यास से स्वत: ही सिद्ध हो जाते हैं।

एतत्सिद्धासनं ज्ञयं सिद्धानां सिद्धिदायकम् ।।
येनाभ्यास वशात् शीघ्रं योगनिष्पत्तिमाप्नुयात् ।।
सिद्धासनं सदा सेव्यं पवनाभ्यासिना परम् ।।

शिव संहिता ३।१०२।१०३

अर्थ- यह सिद्धासन सिद्धिदायक है। इसके अभ्यास में योग निष्पत्ति शीघ्र होती हैं। इसीलिए प्राणवायु के अभ्यासी साधक को यह सिद्धासन सदा करना चाहिए।

सिद्धासन का मूल प्रयोजन मूलाधार चक्र को प्रभावित एवं उत्तेजित करना है। उसमें पैर की ऐड़ी का दवाब मूलाधार क्षेत्र पर डालना। इस प्रकार उत्पन्न की गई उत्तेजना कुंडलिनी को जागृत करने में विशेष रूप से सहायक सिद्ध होती है। इस सिद्धासन का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है-

योनि स्थानकमडि घ्रमूलघरितं कृत्वा दृढं विन्यसेत्
मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये धृत्वा सम विग्रहम् ।।
स्थाणु: सयंमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन् भ्रुवोरंतरं।
चैतन्यारण्यकपाट भेद जनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ।।

–गोरक्ष संहिता

योनि स्थान को बाँये पद के मूल देश से दवा और एक चरण मेढ़ू के देश में आबद्ध करके एवं हृदय में ठोड़ी को जमाते हुए देह को सरल रख दोनों भौंहों के मध्य देश में दृष्टि स्थान पूर्वक यानी शिव नेत्र होकर निश्चल भाव से बैठने का नाम सिद्धासन है।

सिद्धासन का स्वरूप अधिक अच्छी तरह समझने के लिए उसे इस प्रकार जानने और अभ्यास में लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

सिद्धासन–कमर सीधी। ध्यान मुद्रा। बाँया पैर इस प्रकार मोड़ें कि उसकी ऐड़ी का ऊपरी भाग सीवंन मलमूत्र छिद्रों के मध्यवर्ती भाग के नीचे आ जाय। स्थिति ऐसी रहनी चाहिए कि सीधे बैठने पर ऐड़ी का दवाब 'सीवन' के भीतर चल रही मूत्र नलिकाओं पर पड़े।

दाँयें पैर को बाँयें पैर के ऊपर रखकर पालथी जैसी स्थिति बनाई जाय। ऐसा करने से दाहिने पैर की ऐड़ी नाभि से लगभग चार अंगुल नीचे उसी की सीध में जमी दिखाई देगी।

इस प्रकार दोनों ऐड़ियाँ शरीर की मध्य रेखा पर रहती है। तथा उनके बीच मूलाधार क्षेत्र आ जाता है।

इस प्रकार बैठने से पैरों पर दबाव पड़ता है और अधिक देर इस तरह बैठ सकने में कठिनाई होती है। अतएव आवश्यकतानुसार पैरों को बदलते रहा जा सकता है। जिस प्रकार आरम्भ में बाँया पैर नीचे और दाहिना ऊपर रखा गया था उसी प्रकार बदलने पर दाहिने नीचे चला जायेगा और बाँया ऊपर आ जायेगा।

सिद्धासन का अभ्यास आरम्भ में पाँच मिनट से करना चाहिए और जितना अभ्यास हो सके। उठने पर पैरों को कष्ट अनुभव न हो उतनी देर चलाया जा सकता है। प्राय: १५ मिनट से आधा घण्टे तक यह अभ्यास आसानी से बढ़ सकता है। इसका प्रयोग सामान्य जप में नहीं सूर्यविधन प्राणायाम जैसी विशेष साधनाओं में ही करना चाहिए। सामान्य गायत्री जप ध्यान आदि में तो सामान्य पालथी मारकर बैठना ही पर्याप्त होता है। तनाव उत्पन्न करने वाले साधनों से सामान्य साधना में ध्यान बटता है। लेकिन यदि गायत्री की उच्चस्तरीय साधना करनी हो तो, किस स्थिति, में कौन सा आसन अपनाया जाना चाहिए। इसका निर्णय स्वयं ही नहीं किया जा सकता है। इसके लिए उपयुक्त मार्ग दर्शन की सहायता पथ प्रदर्शक के रूप में प्राप्त करनी चाहिए। इसके साथ वातावरण, स्थान एवं संयम नियम का अपना महत्त्व तो है ही।

आसनों का काय-विद्युत शक्ति पर अद्भुत प्रभाव

मोटें तौर से काय-आसनों को शारीरिक व्यायाम में ही गिना जाता है। उनसे वे लाभ मिलते हैं, जो व्यायाम द्वारा मिलने चाहिए। साधारण कसरतों से जिन भीतर के अंगों का व्यायाम नहीं हो पाता उनका आसनों द्वारा हो जाता है।

ऋषियों ने आसनों को योग साधना में इसलिए प्रमुख स्थान दिया है कि ये स्वास्थ्य रक्षा के लिए अतीव

उपयोगी होने के अतिरिक्त मर्म स्थानों में रहने वाली 'हव्य-वहा' और 'कव्य-वहा' तड़ित शक्ति को क्रियाशील रखते हैं। मर्मस्थल वे हैं जो अतीव कोमल हैं और प्रकृति ने उन्हें इतना सुरक्षित बनाया है कि साधारणत: उन तक बाह्य प्रभाव नहीं पहुँचता। आसनों से इनकी रक्षा होती है।

इन मर्मों की सुरक्षा में यदि किसी प्रकार की बाधा पड़ जाय तो जीवन संकट में पड़ सकता है। ऐसे मर्म स्थान उदर और छाती के भीतर विशेष हैं। कण्ठ-कूप स्कन्ध, पुच्छ, मेरुदण्ड और ब्रह्मरन्ध्र से सम्बन्धित ३३ मर्म हैं। इनमें कोई आघात लग जाय, रोग विशेष के कारण विकृति आ जाय, रक्ताभिषरण रुक जाय और विष बालुका जमा हो जाय तो देह भीतर ही भीतर घुलने लगती है। बाहर से कोई प्रत्यक्ष या विशेष रोग दिखाई नहीं पड़ता, पर भीतर-भीतर देह खोखली हो जाती है। नाड़ी में ज्वर नहीं होता, पर मुँह का कडुआपन, शरीर में रोमांच, भारीपन उदासी, हड़फूटन, शिर में हल्का-सा दर्द, प्यास आदि भीतरी ज्वर जैसे लक्षण दिखाई पड़ते हैं। वैद्य, डाक्टर कुछ समझ नहीं पाते, दवा दारू देते हैं पर कुछ विशेष लाभ नहीं होता।

मर्मों में चोट पहुँचने से आकस्मिक मृत्यु हो सकती है। तांत्रिक अभिचारी, जब मारण प्रयोग करते हैं, तो उनका आक्रमण इन मर्म स्थलों पर ही होता है। हानि, शोक, अपमान आदि की कोई मानसिक चोट लगे तो मर्मस्थल क्षत-विक्षत हो जाते हैं और उस व्यक्ति के प्राण संकट में पड़ जाते हैं। मर्म अशक्त हो जायें तो गठिया, गंज, श्वेतकण्ठ, पथरी, गुर्दा की शिथिलता, खुश्की, बवासीर जैसे न ठीक होने वाले रोग उपज पड़ते हैं।

शिर और धड़ में रहने वाले मर्मों में 'हव्य-वहा' नामक धन (पोजेटिव) विद्युत का निवास और हाथ पैरों में, 'कव्य-वहा' ऋण (नेगेटिव) विद्युत की विशेषता है। दोनों का सन्तुलन बिगड़ जाय तो लकवा, अर्द्धांग, सन्धिवात जैसे उपद्रव खड़े होते हैं।

कई बार मोटे, स्वस्थ दिखाई पड़ने वाले मनुष्य भी ऐसे मन्द रोगों से ग्रसित हो जाते हैं, जो उनकी शारीरिक अच्छी स्थिति को देखते हुए न होने चाहिए थे। इन मार्मिक रोगों का कारण मर्म स्थानों की गड़बड़ी हैं। कारण यह कि साधारण परिश्रम या कसरतों द्वारा इन मर्म स्थानों का व्यायाम नहीं हो पाया। औषधियों की वहाँ तक पहुँच नहीं होती। शल्य क्रिया या सूची-भेद (इन्जेक्शन) भी उनको प्रभावित करने में समर्थ नहीं होते। उस विकट गुत्थी को सुलझने में केवल 'योग-आसन' ऐसे तीक्ष्ण अस्त्र हैं जो मर्म शोधन में अपना चमत्कार दिखाते हैं।

ऋषियों ने देखा कि अच्छा आहार-विहार रखते हुए भी विश्राम व्यायाम की व्यवस्था रखते हुए भी कई बार अज्ञात सूक्ष्म कारणों से मर्म स्थल विकृत हो जाता है और उनमें रहने वाली, 'हव्य-वहा' 'काव्य-वहा' तड़ित शक्ति का सन्तुलन बिगड़ जाने से बीमारी तथा कमजोरी आ घेरती हैं, जिससे योग साधना में बाधा पड़ती है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये उन्होंने अपने दीर्घकालीन अनुसंधान और अनुभव द्वारा 'आसन-क्रिया' का आविष्कार किया।

आसनों का सीधा प्रभाव हमारे मर्मस्थलों पर पड़ता है। प्रधान नस, नाड़ियों और माँस-पेशियों के अतिरिक्त सूक्ष्म कशेरुकाओं का भी आसनों द्वारा ऐसा आकुंचन-प्रकुंचन होता है कि उनमें जमे हुए विकार हट जाते हैं तथा फिर नित्य सफाई होती रहने से नये विकार जमा नहीं होते। मर्मस्थलों की शुद्धि, स्थिरता एवं परिपुष्टि के लिये आसनों को अपने ढंग का सर्वोत्तम उपचार कहा जा सकता है।

आसनों के प्रकार- आसन अनेक हैं, उनमें से ८४ प्रधान हैं। उन सबकी विधि-व्यवस्था और उपयोगिता वर्णन करने का यहाँ अवसर नहीं है। सर्वांग पूर्ण आसन विद्या की शिक्षा कहाँ नहीं दी जा सकती। यहाँ तो हमें गायत्री की योग साधना करने के इच्छुकों को ऐसे सुलभ आसन बताना पर्याप्त होगा जो साधारणत: उसके सभी मर्म स्थलों की सुरक्षा में सहायक हों।

आठ आसन ऐसे है, जो सभी मर्मों पर अच्छा प्रभाव डालते हैं। उनमें से जो चार या अधिक अपने लिये सुविधाजनक हों उन्हें भोजन से पूर्व कर लेना चाहिए। इनकी उपयोगिता एवं सरलता अन्य आसनों से अधिक है। उपासना के पश्चात् ही करना चाहिये, जिससे रक्त की गति तीव्र हो जाने से उत्पन्न हुई चित्त की चञ्चलता ध्यान में बाधक न हो।

(१) **सर्वांगासन-** आसन पर चित्त लेट जाइये और शरीर को बिल्कुल सीधा कर दीजिये। हाथों को जमीन से ऐसा मिला रखिये कि हथेलियाँ जमीन से चिपकी रहें। अब घुटने सीधे कड़े करके दोनों पैर मिले हुए ऊपर

को उठाइये और पैरों को ले जाकर सिर के पीछे जमीन से लगाइये। पैर मुड़ने न पावें, बल्कि सीधे तने हुए रहे। हाथ चाहे जमीन पर रखिये, चाहे सहारे के लिये कमर से लगा दीजिये। ठोड़ी कण्ठ के सहारे से चिपकी रहनी चाहिए।

(२) **बद्ध-पद्मासन-** पालती मार कर आसन पर बैठिये। फिर पीठ के पीछे से दाहिना हाथ ले जाकर दाहिने पैर का अँगूठा पकड़िये। पीठ को तान दीजिये और दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर जमाइये। ठोड़ी को कण्ठ के मूल मे गढ़ाये रखिये। बहुतों के हाथ शुरू में ही पीठ पीछे घूमकर अँगूठा नहीं पकड़ सकते, इसका कारण उनकी इन नसों का शुद्ध और पूरे फैलाव में न होना है। इसलिये जब तक दोनों पैरों के अँगूठे पकड़े न जा सकें तब तक एक ही पैर का अँगूठा पकड़ कर अभ्यास बढ़ाना चाहिए।

(३) **पाद-हस्तासन-** सीधे खड़े हो जाइये। फिर धीरे-धीरे हाथों को नीचे ले जाकर हाथ से पैरों के दोनों अँगूठों को पकड़िये। पैर आपस में मिले और बिल्कुल सीधे रहें, घुटने-मुड़ने न पावें इसके बाद शिर दोनों हाथों के बीच से भीतर की ओर ले जाकर नाक सीधा घुटनों से मिलाइये। दाहिने हाथ से बाँये हाथ से दाहिने पैर का अँगूठा पकड़ करके भी यह किया जाता है। इस आसन को करते समय पेट को भीतर की ओर खूब जोर से खींचना चाहिये।

(४) **उत्काटसन-** सीधे खड़े हो जाइये। दोनों पैर, घुटने, एड़ी और पंजे आपस में मिले रहने चाहिऐ। दोनों हाथ कमर पर रहें पेट को कुछ भीतर की तरफ खींचिये और घुटनों को मोड़ते हुए शरीर सीधा रखते हुए उसे धीरे-धीरे पीछे की ओर झुकाइये। इस प्रकार बिल्कुल उस तरह हो जाइये जैसे कुर्सी पर बैठते हैं। जब कमर झुकाकर घुटनों के सामने हो जाय तो उसी दशा में स्थिर हो जाना चाहिये।

इसका अभ्यास हो जाने पर एड़ियों को भी जमीन से उठा दीजिए और केवल पंजों के बल स्थिर होइये। उसका भी अभ्यास हो जाये तो घुटनों को खोलिए और उन्हें काफी फैला दीजिये। ध्यान रहे घुटनों को इस प्रकार रखिये कि दोनों हाथों की उँगलियाँ घुटनों के बाहर जमीन को छूती रहें।

(५) **पश्चिमोत्तान आसन-** पैरों को लम्बा फैला दीजिये। दोनों पैर मिले रहें। घुटने मुड़े न हो बिल्कुल सीधे रहें। टाँगें जमीन से लगी रहें। इसके बाद टाँगों को झुकाकर दोनों हाथों से पैरों के दोनों अँगूठों को पकड़िये। ध्यान रहे कि पैर जमीन से जरा भी न उठने पावें। पैरों के अँगूठे पकड़ कर शिर दोनों घुटनों के बीच में करके यह प्रयत्न करना चाहिए कि शिर घुटनों पर या उनके भी आगे रखा जा सके।

यदि बन सके तो हाथ की कोहनियों को जमीन से छुआना चाहिये। शुरू में पैर फैलाकर और घुटने सीधे रखकर कमर आगे झुकाकर अँगूठे पकड़ने का प्रयत्न करना चाहिए और धीरे-धीरे पकड़ने लग जाने पर शिर घुटनों पर रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

(६) **सर्पासन-** पेट के बल आसन पर लेट जाइये। फिर दोनों हाथों के पंज़े जमीन पर टेक कर हाथ खड़े कर दीजिये। पंजे नाभि के पास रहें। शरीर पूरी तरह जमीन से चिपटा हो मूल घुटने यहाँ तक कि पैर के पंजों की पीठ तक जमीन से पूरी तरह चिपकी हो। अब क्रमशः शिर, गर्दन, गला, छाती, और पेट को धीरे-धीरे जमीन से उठाते जाइये और जितना तान सकें तान दीजिये। दृष्टि सामने रहे। शरीर साँप के फन की तरह तना खड़ा रहे, नाभि के पास शरीर जमीन से उठा रहना चाहिए।

(७) **धनुरासन-** आसन पर लेट जाइये। फिर दोनों पैरों को घुटनों से मोड़कर पीछे की तरफ ले जाइये और हाथ भी पीछे ले जाकर दोनों पैरों को पकड़ लीजिये। अब धीरे-धीरे सिर और छाती को ऊपर उठायें, साथ ही हाथों को भी ऊपर की ओर खींचते हुए पैरों को ऊपर की ओर तानिये। आगे-पीछे शरीर इतना उठा दीजिये कि केवल पेट और पेडू जमीन से लगे रह जायें। शरीर का बाकी तमाम हिस्सा उठ जाय और शरीर खिंचकर धनुष के आकार का हो जाय। पैर, शिर और छाती के तनाव में टेढ़ापन आ जाय, दृष्टि सामने रहे और सीना निकलता हुआ मालूम हो।

(८) **मयूरासन-** घुटनों के सहारे आसन पर बैठ जाइये और फिर दोनों हाथ जमीन पर साधारण अन्तर से ऐसे रखिये कि पंजे पीछे भीतर की ओर रहें। अब दोनों पैरों को पीछे ले जाकर पंजों के बल होइये और हाथों की दोनों कोहनियाँ नाभि के दोनों तरफ लगा कर छाती और शिर को आगे दबाते हुए पैरों को जमीन से ऊपर का प्रयत्न कीजिए।

जब पैर जमीन से उठ कर कोहनियों के समानान्तर आ जायें तो शिर और छाती को भी सीधा कर दीजिये। सारा शरीर हाथों की कोहनियों पर सीधा आकर तुल जाना चाहिए।

यह आठ आसन ऐसे है, जो अधिक कष्टसाध्य न होते हुए भी मर्मों और सन्धियों पर प्रभाव डालने वाले हैं। शास्त्रों में इनकी विशेष प्रशंसा है।

इन सबके द्वारा जो लाभ होते हैं, उसका सम्मिलित लाभ सूर्य नमस्कार से होता है। यह एक ही आसन कई आसनों के मिश्रण से बना है। इसका परस्पर ऐसा क्रमवत् तारातम्य है कि अलग-अलग आसनों की अपेक्षा यह एक ही आसन अधिक लाभप्रद सिद्ध होता है।

हम गायत्री साधकों को बहुधा सूर्य-नमस्कार करने की ही सलाह देते हैं। हमारे अनुभव में सूर्य नमस्कार के लाभ अधिक महत्त्वपूर्ण रहे हैं, किन्तु जो कर सकते हों वे उपरोक्त आठ आसनों को भी करें। बड़े लाभदायक हैं।

सूर्य नमस्कार

शरीर का प्रत्येक संस्थान एक दूसरे से इस प्रकार जुड़ा है कि एक अंग में आयी खराबी सारे शरीर में विकार उत्पन्न कर डालेगी। शरीर रचनाशास्त्री जानते हैं कि पूरे शरीर को स्वस्थ रखने के लिए देह के समस्त अंगों सूक्ष्म संस्थानों का समुचित संचालन आवश्यक है। प्रत्येक अंग जीवन्त को बनाये रखने पर्याप्त श्रम जरूरी हैं।

शरीर के सूक्ष्म संस्थानों, कोषों सूक्ष्म ग्रंथियों से विकारों को निष्कासित करने के लिए भारतीय योगशास्त्रियों ने एक ऐसी पद्धति का विकास किया है जो व्यायाम की आवश्यकता को पूरी करती है, मर्मस्थलों का शोधन भी करती है और साथ-साथ आत्मिक उन्नति के सोपानों पर भी चढ़ाती है। उन मर्मस्थलों के शोधन के साथ-साथ यह शरीर के स्नायुओं को सचेष्टा भी करता है। उस पद्धति का नाम है-'सूर्य नमस्कार'।

सूर्य नमस्कार दस आसनों की एक पूर्ण आसन प्रणाली है जिसमें नमस्कारासन, पादहस्तासन, एक पाद प्रसारणासन, द्विपाद प्रसापणासन, अष्टांग प्रतिपातासन, सर्वासन और मयूरासन क्रम से आरम्भ कर पुन: अंतिम आसन से लौटा जाता है। प्रत्येक आसन की विधि इस प्रकार है-

सूर्य-नमस्कार की विधि

प्रात:काल सूर्योदय समय के आस-पास इन आसनों को करने के लिये खड़े होइये। यदि अधिक सर्दी-गर्मी या हवा हो तो हल्का कपड़ा शरीर पर पहिने रहिये अन्यथा लँगोट या नेकर के अतिरिक्त सब कपड़े उतार दीजिये, खुली हवा में स्वच्छ खुली खिड़कियों में कमरे में कमर सीधी रखकर खड़े होइये।

मुख पूर्व की ओर कर लीजिए। नेत्र बन्द करके हाथ जोड़कर भगवान सूर्यनारायण का ध्यान कीजिये और भावना कीजिये कि सूर्य की तेजस्वी आरोग्यमयी किरणें आपके शरीर में चारों ओर से प्रवेश कर रही हैं। अब निम्न प्रकार आरम्भ कीजिये-

१- पैरों को सीधा रखिये। कमर पर नीचे की ओर झुकिए, दोनों हाथों को जमीन पर लगाइए। मस्तक घुटनों से लगे, यह 'पाद-हस्तासन' है। इससे टखनों का, टाँग के नीचे के भागों का, जंघा का, पुटठों का, पसलियों का, कंधों के पृष्ठ भाग तथा बाँहों के नीचे के भाग का व्यायाम होता है।

२- शिर को घुटनों से हटाकर लम्बी साँस लीजिये। पहले दाहिने पैर को पीछे ले जाइये और पंजे को लगाइये। बाँए पैर को आगे की ओर मुड़ा रखिये। दोनों हथेलियाँ जमीन से लगी रहें। निगाह सामने और शिर कुछ ऊँचा रहे। इससे जाँघों के दोनों भागों का तथा बाँये पेडू का व्यायाम होता है, इसे एक पादप्रसारणासन कहते हैं।

३- बाँये पैर को पीछे ले जाइये। उसे दाहिने पैर से सटाकर रखिये। कमर को ऊँचा उठा दीजिये। सिर और सीना कुछ नीचे झुक जायेगा।

यह द्विपादप्रसारणासन है। इससे हथेलियों की सब नसों का भुजाओं का, पैरों की उँगलियों और पिण्डलियों का व्यायाम होता है।

४- दोनों पाँवों के घुटने, दोनों हाथ, छाती तथा मस्तक इन सब अंगों को सीधा रखकर भूमि में स्पर्श कराइये। शरीर तना रहे, कहीं लेटने की तरह निश्चेष्ट न हो जाइये। पेट जमीन को न छुए।

इसे "अष्टांग प्रणिपातासन" कहते हैं। इससे बाँहों, पसलियों, पेट, गर्दन, कन्धे तथा भुजदण्डों का व्यायाम होता है।

५- हाथों को सीधा खड़ा कर दीजिए। सीना ऊपर उठाइये। कमर को जमीन की ओर झुकाइये, शिर ऊँचा

कर दीजिये, आकाश को देखिये। घुटने जमीन पर न टिकने पावें। पंजे और हाथों पर शरीर सीधा रहे। कमर जितनी मुड़ सके मोड़िये, ताकि धड़ ऊपर को अधिक उठ सके।

६- हाथ पैर के पूरे तलुए जमीन से स्पर्श कराइये घुटने और कोहनियों के टखने झुकने न पावें। कमर को जितना हो सके ऊपर उठा दीजिये। ठोड़ी कण्ठमूल में लगी रहे, सिर नीचे रखिए।

यह 'मयूरासन' है। इससे गर्दन पीठ, कमर, कूल्हे, पिण्डली, पैर तथा भुजदण्डों की कसरत होती है।

७-यहाँ से अब पहली की हुई क्रियाओं पर वापिस जाया जायेगा। दाहिने पैर को पीछे ले जाइये पूर्वोक्त नं० २ के अनुसार 'एक पादप्रसारणासन' कीजिए।

८- पूर्वोक्त नं० १ की तरह 'पादहस्तासन' कीजिए।

९- सीधे खड़े हो जाइये। दोनों हाथों को आकाश की ओर ले जाकर हाथ जोड़िये। सीने को जितना पीछे ले जा सकें ले जाइये। हाथ जितने पीछे जा सकें ठीक है, पर मुड़ने न पावें। यह 'उर्ध्वनमस्कारासन' है इससे फेफड़ों और हृदय का अच्छा व्यायाम होता है।

१०- अब उसी आरम्भिक स्थिति पर आ जाइये, सीधे खड़े होकर हाथ जोड़िये और भगवान सूर्यनारायण का ध्यान कीजिये।

यह एक सूर्य नमस्कार हुआ। आरम्भ पाँच से करके सुविधानुसार थोड़ी-थोड़ी संख्या धीरे-धीरे बढ़ाते जाना चाहिये। व्यायाम काल में मुँह बन्द रखना चाहिए। साँस नाक से ही लेनी चाहिए।

सूर्य नमस्कार के सभी आसनों में फुर्ती और शीघ्रता अधिक लाभदायी है। प्रयत्न यह करना चाहिए कि एक सैकण्ड में एक आसन हो जाय अर्थात् दस सेकण्ड में एक पूरा नमस्कार संपन्न किया जा सके। अभ्यास आरम्भ करते समय आसन एक दम तो उतने कम समय में नहीं किये जा सकते उनमें कुछ देरी भी हो सकती है पर पीछे जैसे-जैसे अभ्यास बनता जाय एक मिनट में कम से कम छः नमस्कार कर लेने की आदत तो बना ही लेनी चाहिए। पादहस्तासन के सम्बन्ध में नये अभ्यासियों के लिए ज्ञातव्य है कि सामान्यत: पहली ही बार में पांवों को सीधे रखते हुए हथेलियों को जमीन पर टिकाना सम्भव नहीं होता। इसकी चिंता नहीं करनी चाहिए, शुरू में न टिके तो न सही पर घुटनों को किसी भी दशा में मुड़ने न देना चाहिए। उसी स्थिति में घुटनों को रखते हुए हथेलियाँ जमीन पर टिकाने का अभ्यास करना चाहिए।

सूर्य नमस्कार के लिए पाँच नम्बर से आरम्भ कर १८० आसनों तक बढ़ाये जा सकते हैं। इतने नमस्कार तीस मिनट में आसानी से अभ्यास होने के बाद पूरे हो सकते हैं प्रात:काल शौचादि से निवृत होकर स्नान करने से आधा घण्टा पूर्व अथवा स्नान के बाद किया जाय। कहना नहीं होगा इसके लिए प्रात:काल से अच्छा समय और क्या हो सकता है। स्थान की दृष्टि से कोई ऐसी जगह चुने जहाँ एकान्त हो और खुली जगह हो। प्रभाव के कारण शारीरिक शक्ति होने के साथ-साथ मानसिक तथा आत्मिक बल भी बढ़ता है। आसनों का लाभ स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों को मिलता है।

पंच तत्वों की साधना
तत्व साधना एक महत्त्वपूर्ण सूक्ष्म विज्ञान

योगविद्या में तत्व साधना का अपना महत्त्व एवं स्थान है। पृथ्वी आदि पाँच तत्वों से ही समस्त संसार बना हैं। विद्युत आदि जितनी भी शक्तियाँ इस विश्व में मौजूद हैं। वे सभी इन पञ्च तत्वों की ही अन्तर्हित क्षमता है। आकृति-प्रकृति की भिन्नता युक्त जितने भी पदार्थ इस संसार में दृष्टिगोचर होते हैं वे सब इन्हीं तत्वों के योग-संयोग से बने हैं।

न केवल शरीर की, वरन् मन की भी बनावट तथा स्थिति में इन्हीं पंचतत्वों की भिन्न मात्रा का कारण है। शारीरिक, मानसिक दुर्बलता एवं रुग्णता में भी प्राय: इन तत्वों की ही न्यूनाधिकता पर्दे के पीछे काम करती रहती है। शरीर विश्लेषणकर्त्ताओं रासायनिक पदार्थों की न्यूनाधिकता अथवा अमुक जीवाणुओं की उपस्थिति-अनुपस्थिति को शारीरिक असन्तुलन का कारण मानते हैं, पर सूक्ष्मदर्शियों, की दृष्टि में तत्वों का असन्तुलन ही इन समस्त संभ्रातियों का प्रधान कारण होता है।

किस तत्व को शरीर में अथवा मन क्षेत्र में कमी है उसकी पूर्ति के लिए क्या किया जाय, इसका पता लगाने के लिए तत्व विज्ञानी अध्यात्मवेत्ता किसी व्यक्ति में क्या रंग कम पड़ रहा है, क्या घट रहा है यह ध्यानस्थ होकर देखते हैं और औषधि उपचारकर्ताओं की तरह जो कमी पड़ी थी, जो विकृति बढ़ी थी उसे उस तत्व प्रधान आहार-

विहार में अथवा अपने में उस तत्व को उभार कर उसे अनुदान रूप रोगी या अभावग्रस्त को देते हैं। इस तत्व उपचार का लाभ सामान्य औषधि चिकित्सा की तुलना में कहीं अधिक होता है।

फिल्टरों से युक्त नियोनआर्क लेम्प- लेसर किरणों के उपकरण- एक्सरेज की विशिष्ट धाराएँ-क्वान्टा किरणें इनर्जेटिक्स- क्वान्टम इलेक्ट्रोनिक्स आदि का प्रस्तुतीकरण सूर्य किरणों की विशेष रंग धाराओं का विश्लेषण करके ही सम्भव हो सका है। अब यह विज्ञान दिन-दिन अधिक महत्त्वपूर्ण स्तर पर उभरता चला आ रहा है और लगता है रंगों के भले-बुरे प्रभावों को अधिक अच्छी तरह जानना और उनका उपयुक्त प्रयोग करके लाभन्वित होना, मनुष्य के लिए निकट भविष्य में ही सम्भव हो जायेगा। रंग यों देखने में मात्र दृष्टि आकर्षण एवं शोभा सज्जा के लिए काम आते दीखते हैं, पर वस्तुत: उनकी गरिमा और क्षमता कहीं अधिक है। सामान्य रंगाई भी अपना प्रभाव रखती है, फिर सूक्ष्म रूप से काम करने वाली तत्वों से सम्बन्धित रंग शक्ति का तो कहना ही क्या।

लाल रोशनी का उत्तेजनात्मक प्रभाव असंदिग्ध है। प्रात:काल और सायंकाल जब सूर्योदय और सूर्यास्त की लालिमा आकाश में छाई रहती है तब पेड़-पौधा, जलचर और पक्षिवृन्द अधिक क्रियाशील और बढ़ते विकसित होते पाये जाते हैं। वनस्पतियों की वृद्धि किस समय किस क्रम से होती है इसका लेखा-जोखा रखने वालों का निष्कर्ष यही है कि प्रात: सायंकाल के थोड़े से समय में वे जितनी तीव्र गति से बढ़ते हैं उतने अन्य किसी समय नहीं। मछलियों की उछल-कूद इसी समय सबसे अधिक होती है। पक्षियों का चहचाहाना जितना दोनों संध्या काल में होता है उतना चौबीस घण्टों में अन्य किसी समय नहीं होता है। इसी प्रकार पीला, हरा, बेंगनी, गुलाबी आदि अन्य रंगों का अपना-अपना प्रभाव होता है। रंगों की शोभा सर्वविदित है, पर उनकी सूक्ष्म शक्ति की जानकारी बिरलों को ही होती है।

तत्वों के रंगों के सम्बन्ध में पाश्चात्य वैज्ञानियों की मान्यता यह है कि आकाश तत्व का रंग नीला, अग्नि का लाल, जल का हरा, वायु का पीला और पृथ्वी का भूरा- मटमैला सफेद है। शरीर में जिस तत्व की कमी पड़ती है या बढ़ोतरी होती है उसका अनुमान अंगों के अथवा मलों के स्वाभाविक रंगों में परिवर्तन देखकर लगाया जा सकता है। त्वचा तो नस्ल के हिसाब से काली, पीली, सफेद या लाल रहती है, पर उसके पीछे भी रंगों के उतार-चढ़ाव झाँकते रहते हैं। साधारण स्थिति में त्वचा का जो रंग था उसमें तत्वों के परिवर्तन के अनुपात से परिवर्तन आ जाता है। यह हेर-फेर साथ-पैरों के नाखूनों में, जीभ में, आँख की पुतलियों में अधिक स्पष्टता के साथ देखा जा सकता है। इसलिए शरीर में होने वाले तत्वों की न्यूनाधिकता को इन्हें देखकर आसानी से समझा जा सकता है मल-मूत्र में भी यह अन्तर दिखाई पड़ता है। सन्तुलित स्थिति में पेशाब साधारण स्वच्छ जल की तरह होगा, पर यदि कोई बीमारी होगी तो उसका रंग बदलेगा। डाक्टर मल-मूत्र रक्त आदि का रासायनिक विश्लेषण करके अथवा उनमें पाये जाने वाले विषाणुओं को देखकर रोग का निर्णय करता है तत्ववेत्ता अपने ढंग से जब तत्व चिकित्सा करते हैं तो यह पता लगाते हैं कि शरीर के आधार पंच तत्वों में से किसकी कितनी मात्रा घटी-बढ़ी है। यह जानने के लिए उन्हें रंगों का- शरीर में जो हेर-फेर हुआ है उसे देखना पड़ता है।

तत्ववेत्ता मन: शास्त्रियों को अपनी दिव्यदृष्टि इतनी विकसित करनी पड़ती है कि मनुष्य के चेहरे के इर्द-गिर्द विद्यमान तेजोबलय की आभा को देख सकें और उसमें रंगों की दृष्टि से क्या परिवर्तन हुआ है इसे समझ सकें।

मानवीय विद्युत की ऊर्जा शरीर के हर अंग में रहती है और वह बाह्य जगत से सम्बन्ध मिलाने के लिए त्वचा के परतों में अधिक सक्रिय रहती है। शरीर का कोई भी अंग स्पर्श किया जाय उसमें तापमान की ही तरह विद्युत ऊर्जा का अनुभव किया जायेगा। यह ऊर्जा सामान्य बिजली की तरह उतना स्पष्ट झटका नहीं मारती या मशीनें चलाने के काम नहीं आती फिर भी अपने कार्यों को सामान्य बिजली की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह सम्पन्न करती है।

मस्तिष्क स्पष्टत: एक जीता जागता बिजलीघर है। समस्त काया में बिखरे पड़े अगणित तन्तुओं में सम्वेदना सम्बन्ध बनाये रहने, उन्हें काम करने की प्रेरणा देने में मस्तिष्क को भारी मात्रा में बिजली खर्च करनी पड़ती है। उसका उत्पादन भी खोपड़ी के भीतर ही होता है। अधिक समीपता के कारण अधिक मात्रा में बिजली

उपलब्ध हो सके, इसीलिए प्रकृति ने महत्त्वपूर्ण ज्ञानेन्द्रियाँ शिर के साथ जोड़कर रखी हैं। आँख, कान, नाक, जीभ जैसी महत्त्वपूर्ण ज्ञानेन्द्रियाँ गरदन से ऊपर ही हैं। इस शिरो भाग में सबसे अधिक विद्युत मात्रा रहती है इसलिए तत्वदर्शी आँखें हर मनुष्य के शिर के इर्द-गिर्द प्राय- डेढ़ फुट के घेरे में एक तेजोबलय का प्रकाश लाल गोल घेरा चमकता देख सकती हैं। देवताओं के चित्रों में उनके चेहरे के इर्द-गिर्द एक सूर्य जैसा प्रकाश गोलक बिखरा दिखाया जाता है। इस इस अलकंार चित्रण में तेजोबलय की अधिक मात्रा का आभास मिलता है। अधिक तेजस्वी और मनस्वी व्यक्तियों में स्पष्टत: यह मात्रा अधिक होती है उसी के सहारे वे दूसरों को प्रभावित करने में समर्थ होते हैं।

तेजोबलय में इन्द्र धनुष जैसे अलग-अलग रेखाओं वाले तो नहीं पर मिश्रित रंग घुले रहते हैं। उनका मिश्रण मन: क्षेत्र में काम करने वाले तत्वों की न्यूनाधिकता के हिसाब से ही होता है। तत्वों की सघनता के हिसाब से रंगों का आभास इस तेजोबलय की परिधि में पाया जाता है। पृथ्वी सबसे स्थूल और भारी है, इसके बाद क्रमश: जल, अग्नि, वायु और आकाश का नम्बर आता है। तेजोबलय की स्वाभाविक स्थिति में रंगों की आभा भी इसी क्रम से चलती है।

स्थूल शरीर- स्थूल पंच तत्वों से बना है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी यह पाँच तत्व सर्वविदित हैं। काय-कलेवर में विद्यमान रक्त, माँस, अस्थि, त्वचा तथा विभिन्न अगं-प्रत्यगं इन्हीं के द्वारा बने हैं। सूक्ष्म शरीर में तन्मात्राओं के रूप में यह तत्व भी सूक्ष्म हो जाते हैं। आकाश की तन्मात्रा-शब्द,वायु, का-स्पर्श अग्नि का-रूप, जल का- रस और पृथ्वी, की गन्ध है। सूक्ष्म शरीर की संरचना अग्नि, जल आदि से नहीं वरन् सूक्ष्म तन्मात्राओं से हुई है, फिर भी उन्हें तत्व तो कह ही सकते हैं। सूक्ष्म शरीर की नाड़ियों में बहने वाले प्राण प्रवाह में ज्वार भाटे की तरह तत्व तन्मात्राओं उभार आते रहते हैं लहरों की तरह उनमें से एक आगे बढ़ता है तो दूसरा उसका स्थान ग्रहण कर लेता है। अन्त:क्षेत्र में कब कौन सा तत्व बढ़ा हुआ है यह पता साधना द्वारा मन: स्थिति लगा सकती है। हर तत्व की अपनी विशेषता है उसी के अनुरूप व्यक्तित्व में भी उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। प्रकृति और सामर्थ्य में हेर-फेर होता रहता है। सूक्ष्म शरीर में कब कौन सा तत्व बढ़ा हुआ है और किस तत्व की प्रबलता के समय क्या करनां अधिक फलप्रद होता है? यदि इस रहस्य को जाना जा सके तो किसी महत्त्वपूर्ण कार्य का आरम्भ उपयुक्त समय पर किया जा सकता है और सफलता का पक्ष अधिक सरल एवं प्रशस्त बनाया जा सकता है।

पृथ्वी तत्व का केन्द्र मल द्वार और जननेन्द्रिय के बीच है इसे मूलाधार चक्र कहते हैं। जल तत्व का केन्द्र मूत्राशय की सीध में- पेडू पर है इसे स्वाधिष्ठान चक्र कहते हैं। अग्नि तत्व का निवास- नाभि और मेरुदण्ड के बीच में है इसे मणिपुर चक्र कहते हैं। वायु केन्द्र हृदय प्रदेश के अनाहत चक्र में है। आकाश तत्व का विशेष स्थान कण्ठ में है- इसे विशुद्ध चक्र कहा जाता है।

कब किस तत्व की प्रबलता है इसकी परख थोड़ा सा साधना अभ्यास होने पर सरलतापूर्वक की जा सकती है। पृथ्वी तत्व का रंग पीला- जल का श्वेत अग्नि का लाल- वायु का हरा और आकाश का नीला है। आँखें बन्द करने पर अपने भीतर एवं बाहर जो रंग अधिक मात्रा में बिखरा दिखाई पड़े तब उसके अनुसार तत्व की प्रबलता आँकी जा सकती है। जिह्वा इन्द्रिय को सधा लेने पर मुँह में स्वाद बदलते रहने की प्रक्रिया को समझकर भी तत्वों की प्रबलता जानी जा सकती है। पृथ्वी तत्व का स्वाद मीठा- जल का कसैला-अग्नि का तीखा-वायु का खट्टा और आकाश का खारी होता है। गुण एवं स्वभाव की दृष्टि से यह वर्गीकरण किया जाय तो अग्नि और आकाश-सतोगुण वायु और जल रजोगुण तथा पृथ्वी को तमोगुण कहा जा सकता है।

व्यक्ति की त्वचा का रंग- चेहरे पर उड़ता हुआ तेजोबलय, उसकी स्वाद सम्बन्धी अनुभूतियाँ-रंग विशेष की पसन्दगी को कुछ परख कर यह जाना जा सकता है कि उसके शरीर में किस तत्व की न्यूनता एवं किस की अधिकता है। जिस की न्यूनता हो उसे पूरा करने के लिए उस रंग के वस्त्रों का उपयोग, कमरे की पुताई, खिड़कियों के पर्दे, उसी रंग के काँच में कुछ समय पानी रखकर पीने की प्रक्रिया अपनाई जाती है। आहार में अभीष्ट रंग के फल आदि का प्रयोग कराया जाता है। रंगीन बल्व की रोशनी पीड़ित भाग या समस्त अंग पर डाली जाती है, प्रयोक्ता अपने शरीर में अमुक तत्व आवश्यकतानुसार बढ़ाने और उसका प्रयोग जरूरत मन्दों पर करने की साधना भी करती है। यह साधना उसकी आवश्यकता भी

पूरी करता है और किसी अन्य की कठिनाई हल करने में भी इसका प्रयोग होता है।

तत्व साधना उच्चस्तरीय साधना विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण विधान है। पंच तत्वों की यह साधना मनुष्य की शारीरिक और मानसिक कठिनाइयों के समाधान का एक नया मार्ग खोलती है।

तत्व शुद्धि

यह सृष्टि पंचतत्वों से बनी हुई है। प्राणियों के शरीर भी इन तत्वों से बने हुए हैं। मिट्टी, जल, वायु, अग्नि, और प्रकाश इन पाँच तत्वों का यह सब कुछ संप्रसार है, जितनी वस्तुयें दृष्टिगोचर होती हैं या इन्द्रियों द्वारा अनुभव में आती हैं उन सबकी उत्पत्ति पञ्च-तत्वों द्वारा हुई है। वस्तुओं का परिवर्तन उत्पत्ति, विकास तथा विनाश इन तत्वों की मात्रा में परिवर्तन आने से होता है।

यह प्रसिद्ध है कि जलवायु का स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है, शीत प्रधान देशों तथा यूरोपीयन लोगों का रंग, रूप, कद, स्वास्थ्य अफ्रीका के तथा उष्ण प्रदेशवासियों के रंग रूप कद, स्वास्थ्य से सर्वथा भिन्न होता है। पंजाबी, कश्मीरी, बंगाली, मद्रासी लोगों के शरीर एवं स्वास्थ्य की भिन्नता प्रत्यक्ष है। यह जलवायु का ही अन्तर है।

किन्हीं प्रदेशों में मलेरिया, पीला बुखार, पेचिस, चर्मरोग फील पाँव, कुष्ठ आदि रोगों की बाढ़-सी रहती है और किन्हीं स्थान की जलवायु ऐसी होती है कि वहाँ जाने पर तपेदिक सरीखे कष्टसाध्य रोग भी अच्छे हो जाते हैं। पशु-पक्षी घास-अन्न, फल, औषधि आदि के रंग, रूप, स्वास्थ्य, गुण, प्रकृति आदि में भी जलवायु के अनुसार अन्तर पड़ता है। इसी प्रकार वर्षा, गर्मी-सर्दी का तत्व परिवर्तन प्राणियों में अनेक प्रकार के सूक्ष्म परिवर्तन कर देता है।

आयुर्वेद-शास्त्र में बात-पित्त, कफ का असन्तुलन रोगों का कारण बताया है। बात का अर्थ है-वायु, पित्त का अर्थ है- गर्मी, कफ का अर्थ है- जल। पाँच तत्वों में पृथ्वी शरीर का स्थिर आधार है। मिट्टी से ही शरीर बना है और जला देने या गाढ़ देने पर केवल मिट्टी रूप में ही इसका अस्तित्व रह जाता है। इसलिए पृथ्वी तत्व तो शरीर का स्थिर आधार होने से वह रोग आदि का कारण नहीं बताया।

दूसरे आकाश का सम्बन्ध मन से बुद्धि एवं इन्द्रियों की सूक्ष्म तन्मात्राओं से है। स्थूल शरीर पर जलवायु और गर्मी का ही प्रभाव पड़ता है और उन्हीं प्रभावों के आधार पर रोग एवं स्वास्थ्य बहुत कुछ निर्भर रहते हैं।

वायु की मात्रा में अन्तर आ जाने से गठिया, लकवा, दर्द, कम्प, अकड़ना, गुल्म, हड़फूटन, नाड़ी विक्षेप आदि रोग उत्पन्न होते हैं। तत्व के विकास से फोड़े-फुन्सी, चेचक, ज्वर, रक्त-पित्त, हैजा, दस्त, क्षय, श्वाँस, उपदंश, रक्त-विकार आदि बढ़ते हैं।

जल तव की गड़बड़ी से जलोदर, पेचिस, संग्रहणी, बहु-मूत्र, प्रमेह, स्वप्नदोष, सोम, प्रदर, जुकाम, खाँसी आदि रोग पैदा होते हैं। अग्नि की मात्रा कम हो तो शीत, जुकाम, अकड़न, अपच, शिथिलता सरीखे रोग उठ खड़े होते हैं। इसी प्रकार अन्य तत्वों का घटना बढ़ना अनेक रोग उत्पन्न करता है।

आयुर्वेद के मत से विशेष प्रभावशाली, गतिशील सक्रिय एवं स्थूल शरीर को स्थिर करने वाले कफ, बात-पित्त अर्थात् जल-वायु गर्मी ही हैं और दैनिक जीवन में जो उतार चढ़ाव होते रहते हैं उनमें इन तीन का ही प्रधान कारण होता है। फिर भी शेष दो तत्व पृथ्वी और आकाश शरीर पर स्थिर रूप में काफी प्रभाव डालते हैं।

मोटा या पतला होना, लम्बा या ठिगना होना, रूपवान या कुरूप होना, गोरा या काला होना, कोमल या सुदृढ़ होना शरीर में पृथ्वी तत्व की स्थिति से सम्बन्धित है। इसी प्रकार चतुरता-मूर्खता, सदाचार-दुराचार, नीचता-महानता, तीव्र बुद्धि, दूरदर्शिता, खिन्नता-प्रसन्नता एवं गुण, कर्म, स्वभाव, इच्छा, आकांक्षा, भावना, आदर्श, लक्ष्य आदि बातें इस पर निर्भर रहती हैं कि आकाश-तत्व की स्थिति क्या है?

उन्माद,सनक, दिल की धड़कन, अनिन्द्रा, पागलपन-दुःस्वप्न, मृगी, मूर्छा, घबराहट, निराशा आदि रोगों में भी आकाश ही प्रधान कारण होता है।

रसोई का स्वादिष्ट तथा लाभदायक होना इस बात पर निर्भर है कि उनमें पड़ने वाली चीजें नियत मात्रा में हों। चावल, दलिया, दाल, हलुआ, रोटी आदि में अग्नि का प्रयोग कम रहे या अधिक हो जाय तो वह खाने लायक न होगी। इसी प्रकार पानी, नमक, चीनी, घी आदि की मात्रा बहुत कम या अधिक हो जाय तो भोजन का स्वाद, गुण तथा रूप बिगड़ जायेगा।

यही दशा शरीर की है। तत्वों की मात्रा में गड़बड़ी पड़ जाने से स्वास्थ्य में निश्चित रूप से खराबी आ जाती है। जलवायु, सर्दी-गर्मी, (ऋृतु प्रभाव) के कारण रोगी मनुष्य निरोग और निरोग रोगी बन जाता है।

योग साधकों को जान लेना चाहिए कि पञ्च-तत्वों से बने शरीर को सुरक्षित रखने का आधार यह है कि देह में सभी तत्व स्थिर मात्रा में रहें। गायत्री के पाँच मुख शरीर में पाँच तत्व बनकर निवास करते हैं। यही पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियों को क्रियाशील रखते है। लापरवाही, अव्यवस्था और आहार-विहार के असंयम से तत्वों का संतुलन बिगड़ कर रोगग्रस्त होना एक प्रकार से पञ्चमुखी गायत्री माता का, देह परमेश्वरी का तिरस्कार करना है।

वेदान्त शास्त्र में इन पाँच तत्वों को आत्मा का आवरण एवं बन्धन माना गया है। भगवान शंकराचार्य ने 'तत्व-बोध' की संकेत चूर्णिका में 'पंचीकरण विद्या' बतायी है। उनका कथन है कि बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने के लिये पहले हमें यह भली-भाँति जान लेना चाहिये कि यह संसार और कुछ नहीं केवल पञ्चभूतों के परमाणुओं का इधर-उधर उड़ते फिरना, संयुक्त और विमुक्त होते रहना मात्र है जैसे वायु से प्रेरित बादल इधर-उधर उड़ते हैं तो उनके संयोग वियोग से आकाश में पर्वत, रीक्ष, सिंह, पक्षी, वृक्ष, गुफा जैसे नाना प्रकार के कोतुहल पूर्ण चित्र क्षण-क्षण में बनते और बिगड़ते रहते हैं, उसी प्रकार इस संसार में नाना प्रकार के निर्माण विकास और ध्वंस होते रहते हैं।

जैसे बादलों से बनने वाले चित्र मिथ्या है, भ्रम हैं, भुलावा हैं, स्वप्न हैं, वैसे ही संसार माया, भ्रम, या स्वप्न हैं। यह पाँच भूतों के उड़ने-फिरने का खेल मात्र है। इसलिए उसे लीलाधर की लीला, नटवर की कला या माया बताया गया है।

कई अदूरदर्शी व्यक्ति 'संसार स्वप्न है' यह सुनते ही आग-बबूला हो जाते हैं और वेदान्त शास्त्र पर यह आरोप लगाते हैं कि इन विचारों के द्वारा लोगों में अकर्मण्यता, निराशा, निरुत्साह, अनिच्छा, पैदा होगी और सांसारिक उन्नति की महत्त्वाकांक्षा शिथिल हो जाने से हमारा समाज या राष्ट्र पिछड़ा रह जायेगा। यह आक्षेप बहुत ही उथला और अविवेकपूर्ण है।

वेदान्त विरोधी इतना तो जानते ही हैं कि हमें मरना है और मरने पर कोई भी वस्तु साथ नहीं जाती। इतनी जानकारी होते हुए भी वे सांसारिक उन्नति को छोड़ते नहीं। स्वप्न में भी सब काम होते रहते हैं। इसी प्रकार समाज का निर्माण ही ऐसे ढंग से हुआ है, उसमें पेट की, इन्द्रियों की, मन की क्षुधायें इतनी प्रबल लगा दी गयी हैं कि बिना कर्तव्य परायण हुए कोई प्राणी क्षण भी चैन से नहीं बैठ सकता। निष्क्रिय व्यक्ति के लिए तो जीवन धारण किये रहना भी असम्भव है।

वेदान्त ने संसार की दार्शनिक विवेचना करते हुए उसे पञ्चभूतों का अस्थिर परमाणु-पुञ्ज, स्वप्न बताया है। तो इसका फलितार्थ यह होना चाहिये कि हम आत्मिक लाभ के लिये ही सांसारिक वस्तुओं का उपार्जन एवं उपयोग करें। वस्तुओं की मोहकता पर आसक्त होकर उनके सञ्चय एवं अनियन्त्रित भोगों की मृग-तृष्णा से अपने आत्मिक हितों का बलिदान न करें।

कर्तव्यरत रहना तो शरीर का स्वाभाविक धर्म है, इसे त्यागना किसी भी जीवित व्यक्ति के लिये सम्भव नहीं। वेदान्त की यह शिक्षा कि यह संसार पञ्चभूतों की क्रीड़ास्थली मात्र है, पूर्णतया विज्ञान सम्मत है। दार्शनिकों की भाँति वैज्ञानिक भी यही बताते हैं कि अणु परमाणुओं के दुर्गति से परिभ्रमण करने के कारण संसार की गतिशीलता है और पञ्च तत्वों से बने हुए ९६ जाति के परमाणु ही संसार की वस्तुओं, देहों, योनियों के उत्पादन एवं विनाश के हेतु हैं।

'पञ्चीकरण विद्या' के अनुसार साधक जब भली प्रकार यह बात हृदयंगम कर लेता है कि यह संसार उड़ते हुए परमाणुओं के संयोग- वियोग से क्षण-क्षण में बनने-बिगड़ने वाली चित्रावली मात्र है तो उसका दृष्टिकोण भौतिक न रह कर आत्मिक हो जाता है। वह वस्तुओं का अनावश्यक मोह न करके उन बुराइयों से बच जाता है, जो लोभ और मोह को भड़काकर नाना प्रकार के पाप, तृष्णा, द्वेष, चिन्ता, शोक और अभावजन्य क्लेशों से जीवन को नारकीय बनाये हुए हैं।

देह या मन को अपना मानने का कोई कारण नहीं। यह जड़, परिवर्तनशील, देह भी संसार के अन्य पदार्थों की भाँति ही पञ्चभौतिक है। इसलिये इसको अपने उपयोग की वस्तु औजार या सवारी समझ कर आनन्दमयी जीवन-यात्रा के लिये प्रयुक्त तो करना चाहिये पर देह या मन की आवश्यक तृष्णाओं के पीछे आत्मा को परेशान न करना चाहिये। इस मान्यता को हृदयंगम कराने के लिए शरीर का विश्लेषण करते हुए

'तत्व-बोध' में बताया गया है कि किस तत्व से शरीर का कौन-सा भाग बनता है।

पृथ्वी तत्व की प्रधानता से अस्थि, माँस, त्वचा, नाड़ी, रोम, आदि भारी पदार्थ बने हैं। जल की प्रधानता से मूत्र, कफ, रक्त, शुक्र आदि हुआ करते हैं। तात्पर्य यह है कि शरीर में जो कुछ अंग-प्रत्यंग पदार्थ तथा प्रेरणा हैं, वह पञ्च-तत्वों के आधार पर हैं।

जब इस प्रपञ्चरूप संसार और पञ्चावरण शरीर में से अहम् की मान्यता हटाकर विश्व-व्यापी चैतन्य आत्मा में अपने को परिव्याप्त मान लिया जाता है तो वह परिपूर्ण मान्यता ही मुक्ति बन जाती है। शरीर और संसार की पञ्चभौतिक सत्ता को प्रपंच शब्द से सम्बोधित किया गया है और वेदान्त शास्त्र में योग साधना का आदर्श है कि मैं और मेरा द्वैत छोड़कर केवल 'मैं' का अद्वैत सीखो विश्व में जो कुछ है, 'वह मैं आत्मा हूँ। मुझसे भिन्न कुछ नहीं यह मान्यता अद्वैत ब्रह्म को प्राप्त कर देती है।

इसीं बात को भक्ति मार्गी, दूसरे शब्दों में कहते हैं-'जो कुछ है तू है' मेरा अलग अपनत्व कुछ नहीं'। दोनों ही मान्यतायें बिल्कुल एक हैं। भक्ति-मार्ग और वेदान्त में शब्दों के फेर के अतिरिक्त वस्तुतः कुछ अन्तर नहीं है।

अन्नमय कोश के परिमार्जन के लिये तीसरा उपाय 'तत्व-शुद्धि' है। स्थूल रूप से शरीर के पंच-तत्वों को ठीक रखने के लिए जल, वायु, ऋतु, प्रदेश और वातावरण का ध्यान रखना आवश्यक है। सूक्ष्म रूप से पञ्चीकरण विद्या के अनुसार तत्वज्ञान प्राप्त करके आत्म तत्व और अनात्म-तत्व के अन्तर को समझाते हुए प्रपंच से छुटकारा पाना चाहिए, तत्व शुद्धि के दोनों ही पहलू महत्वपूर्ण हैं।

जिसे अपना अन्नमय कोश ठीक रखना है उसे व्यावहारिक जीवन में पंचतत्वों की शुद्धि सम्बन्धी बातों का भी विशेष ध्यान रखना चाहिए।

(१) **जलतत्व-** जल से शरीर और वस्त्रों की शुद्धि बराबर करता रहे। स्नान करने का उद्देश्य केवल मैल छुड़ाना नहीं वरन् पानी में रहने वाली 'विशिवा' नामक विद्युत से देह को सतेज करना एवं आक्सीजन, नाइट्रोजन आदि बहुमूल्य तत्वों से शरीर को सींचना भी है। सबेरे शौच जाने से बीस -तीस मिनट पूर्व एक गिलास पानी पीना चाहिए जिससे रात का अपच धुल जाय और शौच साफ हो।

पानी को सदा घूँट-घूँट कर धीरे-धीरे दूध की तरह पीना चाहिये। हर घूँट के साथ यह भावना करते जाना चाहिए कि 'इस अमृत-तुल्य जल में जो शीतलता, मधुरता और शक्ति भरी हुई है उसे खींचकर मैं अपने शरीर में धारण कर रहा हूँ।' इस भावना के साथ पिया हुआ पानी दूध के समान गुणकारक होता है।

जिन स्थानों का पानी भारी, खारी, तेलिया, उथला, तालाबों का तथा हानिकारक हो, वहाँ रहने पर अन्नमय कोश में विकार पैदा होता है। कई स्थानों में पानी ऐसा होता है कि वहाँ फीलपाँव, नासुर, जलोदर, कुष्ठ, खुजली, मलेरिया, जुएँ, मच्छर आदि का बहुत प्रसार होता है। ऐसे स्थानों को छोड़कर स्वस्थ, हल्के, सुपाच्य जल के समीप अपना निवास रखना चाहिये। धनी लोग दूर स्थानों से भी अपने लिये उत्तम जल मँगा सकते हैं।

कभी-कभी एनीमा द्वारा पेट चढ़ाकर आँतों की सफाई कर लेनी चाहिये। उससे संचित मलों से उत्पन्न विष पेट में से निकल जाते हैं और चित्त बड़ा हल्का हो जाता है। प्राचीन काल में वस्तिक्रिया योग का आवश्यक अंग थी। अब एनीमा यन्त्र द्वारा यह क्रिया सुगम हो गयी है।

जल चिकित्सा पद्धति रोग निवारण एवं स्वास्थ्य सम्वर्धन के लिये बड़ी उपयुक्त है। डाक्टर लुईकने ने इस विज्ञान पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं। उनकी बताई पद्धति से किये गये कटि स्नान, मेहन स्नान, मेरुदण्ड-स्नान, गीली चादर लपेटना, कपड़े का पलस्तर आदि से रोग निवारण में बड़ी सहायता मिलती है।

(२) **अग्नि-तत्व-** सूर्य के प्रकाश के अधिक सम्पर्क में रहने का प्रयत्न करना चाहिए। घर की सभी खिड़कियाँ खुली रहनी चाहिये ताकि धूप और हवा खूब आती रहे। सबेरे की धूप नंगे शरीर पर लेने का प्रयत्न करना चाहिए। सूर्यताप से तपाये हुए जल का उपयोग करना, भीगे बदन पर धूप लेना उपयोगी है।

स्नान करके गीले शरीर से ही प्रातःकालीन सूर्य के दर्शन करने चाहिए और जल का अर्घ देना चाहिए। पानी में बिजली को खींचने की बड़ी ताकत है। वर्षा ऋतु में बिजली का बहुत जोर रहता है। बादलों के जल के कारण आकाश में बिजली चमकती है। इलेक्ट्रिसिटी के तारों में भी वर्षा ऋतु में बड़ी तेजी रहती है। पानी में बिजली को गर्मी को खींचने की विशेष शक्ति है। इसलिए शरीर को तौलिया से पोंछने के बाद नम शरीर से ही नंगे बदन

सूर्य नारायण के सामने जाकर अर्घ देना चाहिए। यदि नदी, तालाब, नहर पास में हो कमर तक जल में खड़े होकर अर्घ देना चाहिए। अर्घ लोटे से भी दिया जा सकता है और अंजलि से भी, जैसी सुविधा हो कर लेना चाहिए। सूर्य के दर्शन के पश्चात् नेत्र बन्द करके उनका ध्यान करना चाहिए और मन ही मन यह भावना दुहरानी चाहिए- "भगवान सूर्य नारायण का तेज मेरे शरीर में प्रवेश करके नस नस को दीप्तमान सतेज और प्रफुल्लित कर रहे हैं और मेरे अगं प्रत्यंग में स्फूर्ति उत्पन्न हो रही है।" स्नान के बाद इस क्रिया को नित्य करना चाहिए।

सूर्य की सप्त किरणें अल्ट्रा वायलेट और अल्फा वायलेट किरणें स्वास्थ्य के लिये बड़ी उपयोगी साबित हुई हैं। वे जल के साथ धूप का मिश्रण होने से खिंच आती हैं। धूप में रखकर रंगीन काँच से सम्पूर्ण रोगों की चिकित्सा करने की विस्तृत विधि तथा अग्नि और जल के सम्मिश्रण से भाप बन जाने पर उसके द्वारा अनेकों का उपचार करने की विधि सूर्य चिकित्सा विज्ञाम की किसी भी प्रामाणिक पुस्तक से देखी जा सकती है।

रविवार को उपवास रखना सूर्य की तेजस्विता एवं बलदायिनी शक्ति का आह्वान है। पूरा या आंशिक उपवास शरीर की कान्ति और आत्मिक तेज को बढ़ाने वाला सिद्ध होता है।

(३) वायु तत्व- घनी आबादी के मकान जहाँ धूल, सील की भरमार रहती है और शुद्ध वायु का आवागमन नहीं होता, वे स्थान स्वास्थ्य के लिये खतरनाक हैं। हमारा निवास खुली हवा में होना चाहिये। दिन में वृक्ष और पौधों से ओषजन वायु (ऑक्सीजन) निकलती है, वह मनुष्य के लिये बड़ी उपयोगी है। जहाँ तक हो सके वृक्ष पौधों के बीच अपना दैनिक कार्यक्रम करना चाहिए। अपने घर, आँगन, चबूतरे आदि पर वृक्ष-पौधे लगाने चाहिए।

प्रात:काल की वायु बड़ी स्वास्थ्यप्रद होती है, उसे सेवन करने के लिये तेज चाल से टहलने के लिये जाना चाहिये। दुर्गन्धित एवं बन्द हवा के स्थान से अपना निवास दूर ही रखना चाहिये। तराई, सील, नमी के स्थानों की वायु ज्वर आदि पैदा करती है। तेज हवा के झोकों से त्वचा फट जाती है। अधिक ठण्डी या गर्म हवा से निमोनिया या लू लगना जैसे रोग हो सकते हैं। इस प्रकार के प्रतिकूल मौसम से अपनी रक्षा करनी चाहिए।

प्राणायाम द्वारा फेफड़ों का व्यायाम होता है और शुद्ध वायु से रक्त की शुद्धि होती है। इसलिए स्वच्छ एकान्त स्थान में बैठ कर नित्य प्राणायाम करना चाहिये। प्राणायाम की विधि इस प्रकार है।

स्नान करने के उपरान्त किसी एकान्त स्थान में जाइए। समतल भूमि पर आसन बिछा कर पद्मासन से बैठ जाइए। मेरुदण्ड बिलकुल सीधा रहे। नेत्रों को अध खुला रखिए। अब धीरे-धीरे नाक द्वारा साँस खींचना आरम्भ कीजिए और दृढ़ इच्छा शक्ति के साथ भावना कीजिए कि "विश्वव्यापी महान प्राण भण्डार में से मैं स्वास्थ्यदायक प्राणतत्व साँस के साथ खींच रहा हूँ और वह प्राण मेरे रक्त प्रवाह तथा समस्त नाड़ी तन्तुओं में प्रवाहित होता हुआ सूर्यचक्र में सोलर प्लेक्सस अर्थात नाभि स्थान में इकट्ठा हो रहा है। इस भावना को ध्यान द्वारा चित्रवत् मूर्तिमान रूप से देखने का प्रयत्न करना चाहिए। जब फेंफड़ों को वायु से अच्छी तरह भरलो तो दस सैकिण्ड तक वायु को भीतर रोके रहो। रोकने के समय ऐसा ध्यान करना चाहिए कि "प्राणतत्व मेरे अंग प्रत्यंगों में पूरित हो रहा है।" अब वायु को नासिका द्वारा ही धीरे-धीरे बाहर निकालो और निकालते समय ऐसा अनुभव करो कि "शरीर के सारे दोष, रोग और विष वायु के साथ-साथ निकाल बाहर किये जा रहे हैं।"

उपरोक्त प्रकार से आरम्भ में दस प्राणायाम करने चाहिए फिर धीरे-धीरे बढ़ाकर सुविधानुसार आध घण्टे तक कई बार इन प्राणायामों को किया जा सकता है। अभ्यास पूरा करने के उपरान्त आपको ऐसा अनुभव होगा कि रक्त की गति तीव्र हो गई है और सारे शरीर की नाड़ियों में एक प्रकार की स्फूर्ति, ताजगी और विद्युत शक्ति दौड़ रही है। इस प्राणायाम को कुछ दिन लगातार करने से अनेक शारीरिक और मानसिक लाभों का स्वयं अनुभव होगा।

हवन करना- अग्नि तत्व के संयोग से हवन वायु को शुद्ध करता है। जो वस्तु अग्नि में जलाई जाती है वह नष्ट नहीं होती वरन् सूक्ष्म होकर वायु मण्डल में फैल जाती है। भिन्न-भिन्न वृक्षों की समिधाओं एवं हवन सामग्रियों में अलग-अलग गुण हैं। उनके द्वारा ऐसा वायुमण्डल रखा जा सकता है, जो शरीर और मन को स्वस्थ बनाने में सहायक हो। किस समिधा और किन-किन सामग्रियों से किस विधान के साथ हवन

करने का क्या परिणाम होता है? इसका विस्तृत विधान बताने के लिये गायत्री यज्ञ विधान लिखा गया है।

गायत्री साधकों को तो अपने अन्नमय कोश की वायु शुद्धि के लिये कुछ हवन सामग्री बनाकर रख लेनी चाहिये जिसे धूपदानी में थोड़ी-थोड़ी जलाकर उससे अपने निवास स्थान की वायु शुद्धि करते रहना चाहिये।

चन्दन चूरा, देवदारू, जायफल, इलायची, जावित्री, अगर-तगर, कपूर, छार-छबीला, नागरमोथा, खस, कर्पूर-कचरी तथा मेवायें, जौ कूट करके थोड़ा घी और शक्कर मिलाकर धूप बन जाती है। इस धूप की बड़ी मनमोहक एवं स्वास्थ्यवर्धक गन्ध आती है। बाजार से भी कोई अच्छी अगरबत्ती या धूपबत्ती लेकर काम चलाया जा सकता है। साधना काल में सुगन्ध की ऐसी व्यवस्था कर लेना उत्तम है।

साँस मुँह से नहीं सदा नाक से ही लेना चाहिये। कपड़े से मुँह ढककर नहीं सोना चाहिये और किसी के मुँह के इतना पास नहीं सोना चाहिये कि उसकी छोड़ी हुई साँस अपने भीतर जाये। धूलि, धुँआ और दुर्गन्ध भरी अशुद्ध वायु से सदा बचना चाहिए।

(४) **पृथ्वी तत्व-** शुद्ध मिट्टी में विष-निवारण की अद्भुत शक्ति होती है। गन्दे हाथों को मिट्टी से माँजकर शुद्ध किया जाता है। प्राचीनकाल में ऋषि -मुनि जमीन खोदकर गुफा बना लेते थे और उसमें रहा करते थे। इससे उनके स्वास्थ्य पर बड़ा अच्छा असर पड़ता था।

मिट्टी उनके शरीर के दूषित विकारों को खींच लेती थी, साथ ही भूमि से निकलने वाले वाष्प द्वारा देह का पोषण भी होता रहता था। समाधि लगाने के लिये गुफायें उपयुक्त स्थान समझी जाती हैं, क्योंकि चारों ओर मिट्टी से घिरे होने के कारण शरीर को साँस द्वारा ही बहुत-सा आहार प्राप्त हो जाता है और कई दिनों तक भोजन की आवश्यकता नहीं पड़ती या कम भोजन से काम चल जाता है।

छोटे बालक जो प्रकृति के अधिक समीप हैं पृथ्वी के महत्त्व को जानते हैं, वे भूमि पर खेलना, भूमि पर लेटना, गद्दों तकियों की अपेक्षा अधिक पसन्द करते हैं। पशुओं को देखिये वे अपनी थकान मिटाने के लिये जमीन पर लोट लगाते हैं और लोट-पीटकर पृथ्वी की पोषण शक्ति से फिर ताजगी प्राप्त कर लेते हैं। तीर्थयात्रा एवं ध र्म कार्यों के लिये नंगे पैरों चलने का विधान है। तपस्वी लोग भूमि पर शयन करते हैं।

इन प्रथाओं का उद्देश्य धर्म साधनों के नाम पर पृथ्वी की पोषक शक्ति द्वारा साधकों को लाभन्वित करना ही है। पक्के मकानों की अपेक्षा मिट्टी के झोपड़ों में रहने वाले सदा अधिक स्वस्थ्य रहते हैं।

मिट्टी के उपयोग द्वारा स्वास्थ्य सुधार में हमें बहुत सहायता मिलती है। निर्दोष पवित्र भूमि पर नंगे पाँवों टहलना चाहिये। जहाँ छोटी-छोटी हरी घास उग रही हो, वहाँ टहलना तो और भी अच्छा है।

पहलवान लोग चाहें वे अमीर ही क्यों न हों रुई के गद्दों पर कसरत करने की अपेक्षा मुलायम मिट्टी के अखाड़ों में ही व्यायाम करते हैं, ताकि मिट्टी के अमूल्य गुणों का लाभ उनके शरीर को प्राप्त हो। साबुन के स्थान पर पोतनी या मुलतानी मिट्टी का उपयोग भी किया जा सकता है। यह मैल को दूर करेगी, विष को खींचेगी और त्वचा को कोमल, ताजा, चमकीला और प्रफुल्लित कर देगी।

मिट्टी शरीर पर लगाकर स्नान करना एक अच्छा उबटन है। गर्मी के दिनों में उठने वाली मरोरियाँ और फुन्सियाँ दूर हो जाती हैं सिर के बालों को मुलतानी मिट्टी से धोने का रिवाज अभी तक मौजूद है। इससे सिर को मैल दूर हो जाता है। खुरण्ट जमने पर बन्द हो जाते हैं। बाल काले मुलायम एवं चिकने रहते हैं तथा मस्तिष्क में बड़ी तरावट पहुँचती है। हाथ साफ करने और बर्तन माँजने के लिए मिट्टी से अच्छी और कोई चीज नहीं है।

फोड़े, फुन्सी, दाद, खाज, गठिया, जहरीले जानवरों के काटने सूजन, जख्म, गिल्टी, नासुर, दुखती हुई आँखों, कुष्ठ उपदंश, रक्त विकार आदि रोगों पर गीली मिट्टी बाँधने से आश्चर्यजनक लाभ होता है। डॉ० लुईकुने ने अपनी जल चिकित्सा में मिट्टी की पट्टी के अनेक उपचार लिखे हैं। चूल्हे की जली हुई मिट्टी से दाँत माँजने, नाक के रोगों में मिट्टी के ढेले पर पानी डालकर सुँघारने, लू लगने पर पैरों के ऊपर मिट्टी थोप लेने की विधि से सब लोग परिचित हैं।

किसी स्थान पर बहुत समय तक मल-मूत्र डालते रहें तो डालना बन्द कर देने के बाद भी बहुत समय तक वहाँ दुर्गन्ध आती रहती है। कारण यह है कि भूमि में शोषण शक्ति है वह पदार्थों को सोख लेती है और उसका प्रभाव बहुत समय तक अपने अन्दर धारण किये रहती है।

पृथ्वी को सूक्ष्म शक्ति लोगों के सूक्ष्म विचारों और गुणों को सोखकर अपने में धारण कर लेती है। जिन स्थानों पर हत्या, व्यभिचार, जुआ आदि दुष्कर्म होते हैं उन स्थानों का वातावरण ऐसा घातक हो जाता है कि वहाँ जाने वालों पर उनका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता।

श्मशान भूमि जहाँ अनेक मृत शरीर नष्ट हो जाते हैं, अपने में एक भयंकरता छिपाये बैठी रहती है, वहाँ जाने पर एक विलक्षण प्रभाव मनुष्य पर पड़ता है अनेक तांत्रिक साधना तो ऐसी हैं जिनके लिये केवल मात्र मरघट का वातावरण ही उपयुक्त होता है।

भूमिगत प्रभाव से गायत्री साधकों को लाभ उठाना चाहिये जहाँ सत्पुरुष रहते हैं, जहाँ स्वाध्याय, सद्विचार, सत्कार्य होते हैं, वे प्रत्यक्ष तीर्थ हैं, उन स्थानों का वातावरण साधक की सफलता में बड़ा लाभदायक होता है। जिन स्थानों में किसी समय में कोई अवतार या दिव्य पुरुष रहे हैं, उन स्थानों की प्रभाव शक्ति या तपस्वी बहुत काल तक रहे हैं वह स्थाना सिद्धपीठ बन जाते हैं और वहाँ रहने वालों पर अनायास ही अपना प्रभाव डालते हैं।

सूक्ष्मदर्शी महात्माओं ने देखा है कि भगवान कृष्ण की प्रत्यक्ष लीला तरंगें अभी तक ब्रजभूमि में बड़ी प्रभावपूर्ण स्थिति में मौजूद हैं। तीर्थवासियों के दूषित चित्तों के बावजूद इस भूमि की प्रभाव शक्ति अब भी बनी हुई है और साधक को उसका स्पर्श होते ही शान्ति मिलती है। कितने मुमुक्ष अपनी आत्मिक शान्ति के लिये इस पुण्यभूमि में निवास करने का स्थाई या अल्पकालीन अवसर निकालते हैं। कारण यह है कि क्लेशयुक्त वातावरण के स्थान में जितने श्रम और समय में जितनी सफलता मिलती है, उसकी अपेक्षा पुण्य भूमि के वातावरण में कहीं जल्दी और कहीं अधिक लाभ होता है। तीर्थ- स्थानों में नंगे पैर भ्रमण करने का भी महात्म्य इसलिये है कि उन स्थानों की पुण्य तरंगें अपने शरीर से स्पर्श करके आत्म-शान्ति का हेतु बनें।

पृथ्वीतत्व के शोधन में प्रति दिन प्रातःकाल नंगे पैरों टहलने से पैर और पृथ्वी का संयोग होता है। उससे पैरों के द्वारा शरीर के विष खिंच कर जमीन में चले जाते हैं और ब्राह्म मुहूर्त में जो अनेक आश्चर्य जनक गुणों से युक्त वायु पृथ्वी में से निकलती है उसको शरीर सोख लेता है। प्रातःकाल के समय यह लाभ और किसी समय में प्राप्त नहीं हो सकता। अन्य समयों में तो पृथ्वी से हानिकारक वायु भी निकलती है जिससे बचने के लिए जूता आदि पहनने की जरूरत होती है।

प्रातःकाल नंगे पैर टहलने के लिए कोई स्वच्छ जगह तलाश करनी चाहिए। हरी घास भी वहाँ हो तो और भी अच्छा। घास के ऊपर जमी हुई नमी पैरों को ठंडा करती है। वह ठंडक मस्तिष्क तक पहुँचती है। किसी बगीचे, पार्क, खेल या अन्य ऐसे ही साफ स्थान में प्रति दिन नंगे पाँवों कम से कम आधा घण्टा नित्य टहलना चाहिए। साथ ही यह भावना करते चलना चाहिए "पृथ्वी की जीवनी शक्ति को मैं पैरों द्वारा खींच कर अपने शरीर में भर रहा हूँ और मेरे शरीर में विषों को पृथ्वी खींच कर मुझे, निर्मल बना रही है।" यह भावना जितना ही बलवती होगी, उतना ही लाभ अधिक होगा।

हफ्ते में एक दो बार स्वच्छ भुरभुरी पीली मिट्टी या शुद्ध बालू लेकर उसे पानी से गीली करके शरीर पर साबुन को तरह मलना चाहिए। कुछ देर तक उस मिट्टी को शरीर पर लगा रहने देना चाहिए और बाद में स्वच्छ पानी से स्नान करके मिट्टी को पूरी तरह से छुड़ा देना चाहिए। इस मृतिका स्नान से शरीर के भीतरी और चमड़े के विष खिंच जाते हैं और त्वचा कोमल एवं चमकदार बन जाती है।

(५) **आकाश तत्व**- आकाश तत्व पिछले चार तत्वों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होने से अधिक शक्तिशाली है। विश्वव्यापी पोल में, शून्याकाश में एक शक्ति 'तत्व' भरा हुआ है, जिसे अंग्रेजी में 'ईथर' कहते हैं। पोले स्थान को खाली नहीं समझना चाहिये। वह वायु से सूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्ष रूप से अनुभव नहीं होता, तो भी उसका अस्तित्व पूर्णतया प्रमाणित है।

रेडियो द्वारा जो गायन, समाचार, भाषण आदि हम सुनते हैं, वे ईथर में, प्रकाश तत्व में, तरंगों के रूप में आते हैं। जैसे पानी में ढेला फेंक देने पर उसकी लहर बनती हैं, इसी प्रकार ईथर (आकाश) में शब्दों की तरंगें पैदा होती हैं और पलक मारते विश्व भर में फैल जाती हैं। इसी विज्ञान के आधार पर रेडियो यन्त्र का आविष्कार हुआ है।

एक स्थान पर शब्द तरंगों के साथ बिजली की शक्ति मिलाकर उन्हें अधिक बलवती करके प्रवाहित कर दिया जाता है। अन्य स्थानों पर जहाँ रेडियो यन्त्र लगे हैं,

उन आकाश में बहने वाली तरंगों को पकड़ लिया जाता है और प्रेषित सन्देश सुनाई देने लगते हैं।

वाणी चार प्रकार की होती है। १-वैखरी- जो मुँह से बोली और कानों से सुनी जाती है, जिसे शब्द कहते हैं। २-मध्यमा-जो संकेतों से, मुखाकृति से, भावभंगी नेत्रों से कही जाती है, इसे भाव कहते हैं। ३-पश्यन्ती-जो मन से निकलती है और मन ही उसे सुन सकता है। इसे विचार कहते हैं। ४-परा-यह आकांक्षा, इच्छा, निश्चय, प्रेरणा, शाप, वरदान आदि के रूप में अन्त:करण से निकलती है, इसे संकल्प कहते हैं।

यह चारों ही वाणियाँ आकाश में तरंग रूप से प्रवाहित होती हैं। जो व्यक्ति जितना ही प्रभावशाली है, उसके शब्द, भाव, विचार और संकल्प आकाश में उतने ही प्रबल होकर प्रवाहित होते हैं।

आकाश में असंख्य प्रकृति के असंख्य व्यक्यिों द्वारा असंख्य प्रकार की स्थूल एवं सूक्ष्म शब्दावली प्रेषित होती रहती हैं। हमारा अपना मन जिस केन्द्र पर स्थिर होता है, उसी जाति के असंख्य प्रकार के विचार हमारे मस्तिष्क में धँस जाते हैं और अदृश्य रूप से उन अपने पूर्व निर्धारित विचारों की पुष्टि करना आरम्भ कर देते हैं। यदि हमारा अपना विचार व्यभिचार करने का हो तो असंख्य व्यभिचारियों द्वारा आकाश में प्रेषित किये गये वैसे ही शब्द, भाव, विचार और संकल्प हमारे ऊपर बरस पड़ते हैं और वैसे ही उपाय-सुझाव मार्ग बताकर उसी ओर प्रोत्साहित कर देते हैं।

हमारे अपने स्वनिर्मित विचारों में एक मौलिक चुम्बकत्व होता है। उसी के अनुरूप आकाशगामी विचार हमारी ओर खिंचते हैं।

रेडियों में जिस स्टेशन के मीटर पर सुई कर दी जाय उसी के सन्देश सुनाई पड़ते हैं और उसी समय में जो अन्य स्टेशन बोल रहे हैं, उनकी वाणी हमारे रेडियो से टकराकर लौट जाती है, वह सुनाई नहीं देती। उसी प्रकार हमारे अपने स्वनिर्मित मौलिक विचार ही अपने सजातियों को आमन्त्रित करते हैं।

मरी लाश को देखकर कौआ चिल्लता है तो सैकड़ो कौए उसकी आवाज सुनकर जमा हो जाते हैं, । ऐसे ही अपने विचार भी सजातियों को बुलाकर एक अच्छी खासी, सेना जमा कर लेते हैं। फिर उस विचार-सैन्य की प्रबलता के आधार पर उसी दिशा में कार्य भी आरम्भ हो जाता है।

आकाश तत्व की इस विलक्षणता को ध्यान में रखते हुए हमें कुविचारों से विषधर सर्प की भाँति सावधान रहना चाहिये अन्यथा वे अनेक स्वजातियों को बुलाकर हमारे लिये संकट उत्पन्न कर देगें। जब कोई कुविचार मन में आवे तो तत्क्षण उसे मार भगाना चाहिये अन्यथा यह सारे मानस क्षेत्र को वैसे ही खराब कर देगा जैसे विष की थोड़ी-सी बूँद सारे भोजन को बिगाड़ देती है।

मन में सदा उत्तम, उच्च, सात्विक विचारों को ही स्थान देना चाहिये जिससे उसी जाति के विचार अखिल आकाश में से खिंचकर हमारी ओर चले आवें और सन्मार्ग की ओर प्रेरित करें उत्तम बात सोचते रहने, स्वाध्याय, मनन, आत्म-चिन्तन, परमार्थ और उपासनामयी मनोभूमि हमारा बहुत कुछ कल्याण कर सकती है। यदि प्रतिकूल कार्य नहीं हो रहे हों तो उच्च विचारधारा से भी सद्गति प्राप्त हो सकती है भले ही उन विचारों के अनुरूप कार्य न हो रहें हों।

संकल्प कभी नष्ट नहीं होते। पूर्वकाल में ऋषिमुनियों के महापुरुषों के जो विचार, प्रवचन एवं संकल्प थे वे अब भी आकाश में गूँज रहे हैं, यदि हमारी मनोभूमि अनुकूल हो तो उन दिव्य आत्माओं का पथ-प्रदर्शन एवं सहारा भी हमें अवश्य प्राप्त होता रहेगा।

परब्रह्म की ब्राह्मी प्रेरणायें, शक्तियाँ, किरणें एवं तरंगें भी आकाश द्वारा ही मानव अन्त:करण को प्राप्त होती हैं। दैवी शक्तियाँ ईश्वर की विविध गुणों वाली किरणें ही तो हैं, आकाश द्वारा मन के माध्यम से उनका अवतरण होता है।

शिवजी ने आकाश-वाहिनी गंगा को अपने शिर पर उतारा था तब वह पृथ्वी पर बही थी। ब्रह्म की सर्वप्रधान दिव्य शक्ति आकाश-वाहिनी गायत्री गंगा को साधक सबसे पहले अपने मन:क्षेत्र में उतारता है। यह अवतरण होने पर ही जीवन के अन्य अंगों में वह पतितपावनी पुण्यधारा प्रवाहित होती है।

शरीर में मन या मस्तिष्क आकाश का प्रतिनिधि है। उसी में आकाशगामी, परम कल्याणकरक तत्वों का अवतरण होता है। इसलिए साधक को अपना मन:क्षेत्र ऐसा शुद्ध, परिमार्जित स्वस्थ एवं सचेत रखना चाहिये, जिससे गायत्री का अवतरण बिना किसी कठिनाई के हो सके।

आकाश तत्व में से लाभदायक तत्वों, तरंगों एवं सद्विचारों को आकर्षित करने के लिए प्राणायाम के बाद

का समय ठीक है। एकान्त स्थान में किसी नरम बिछोने पर चित्त होकर लेट जाओ, या आराम कुर्सी पर पड़े रहो अथवा मसंद या दीवार का सहारा लेकर शरीर को बिल्कुल ढीला कर दो। नेत्रों का बन्द करके अपने चारों ओर नीले आकाश का ध्यान करो। नीले रंग का ध्यान करना मन को बड़ी शान्ति प्रदान करता है। जब नीले रंग का ध्यान ठीक हो जाय तब ऐसी भवना करनी चाहिए कि निखिल नील आकाश में फैले हुए सद्विचार, सद्विश्वास, सत्प्रभाव चारों ओर से एकत्रित होकर मेरे शरीर में विद्युत किरणों की भाँति प्रवेश कर रहे हैं और उनके प्रभाव से मेरा अन्त:करण दया, प्रेम, परोपकार, कर्तव्य परायणता, सेवा, सदाचार, शान्ति, विनय, गंभीरता, प्रसन्नता, उत्साह, साहस, दृढ़ता, विवेक आदि सद्गुणों से भर रहा है।" यह भावना खूब मजबूती और दिलचस्पी के साथ मनोयोग तथा श्रद्धापूर्वक होनी चाहिए। जितनी ही एकाग्रता और श्रद्धा होगी उतना ही इससे लाभ होगा।

आकाश तत्व की इस साधना के फलस्वरूप अनेक, सिद्ध, महात्मा, सत्पुरुष, अवतार तथा देवताओं की शक्तियाँ आकर अपने प्रभाव डालती हैं और मानसिक दुर्गणों को दूर करके श्रेष्ठत्तम सद्भावनाओं का बीज जमाती है। सद्भावों के कारण ही यह लोक और परलोक आनन्द मय बनता है यह तथ्य बिलकुल निश्चित और स्वयं सिद्ध है।

उपरोक्त पाँच तत्वों की साधनाएँ देखने में छोटी और सरल हैं तो भी इनका लाभ अत्यन्त विषद है। नित्य पाँचों तत्वों का जो साधन कर सकते हैं। वे इन सबको करें जो पाँचों को एक साथ न कर सकते हों वे एक-एक दो-दो करके किया करें। कौन सा साधन पहले कौन सा पीछे यह भी अपनी-अपनी सुविधा के ऊपर निर्भर है। जिन्हें प्रतिदिन करने की सुविधा न हो वे सप्ताह में एक दो दिन के लिए भी अपना कार्यक्रम निश्चित रूप से चलाने का प्रयत्न करें। रविवार के व्रत के दिन भी इन पाँचों साधनों को पूरा करते रहें तो भी बहुत लाभ होगा। नित्य प्रति नियमित रूप से अभ्यास करने वालों को तो शारीरिक और मानसिक लाभ इससे बहुत अधिक होता है।

तपश्चर्या से आत्मबल की उपलब्धि

तप का अर्थ है- उष्णता, गति, क्रियाशीलता, घर्षण, संघर्ष, तितिक्षा, कष्ट सहना। किसी वस्तु को निर्दोष, पवित्र एवं लाभदायक बनाना होता है तो उसे तपाया जाता है। सोना तपने से खरा हो जाता है। डाक्टर पहले अपने औजारों को गरम कर लेते हैं तब उनसे आपरेशन करते हैं। चाकू को शान पर न घिसा जाय तो काटने की शक्ति खो बैठेगी। हीरा खराद पर न चढ़ाया जाय तो उसमें चमक और सुन्दरता पैदा न होगी।

व्यायाम-कष्टसाध्य श्रम किये बिना कोई मनुष्य पहलवान नहीं हो सकता। अध्ययन का कठोर श्रम किये बिना विद्वान बनना सम्भव नहीं। माता बच्चे को गर्भ में रखने एवं पालन पोषण का कष्ट सहे बिना मातृत्व का सुख लाभ नहीं कर सकती। कपड़ों को धूप में न सुखाया जाय तो उनमें बदबू आने लगेगी। कोठी बन्द रखा हुआ अन्न धूप में न डाला जाय तो घुन जायेगा। ईंट यदि भट्टे में न पकें तो उनमें मजबूती नहीं आ सकती। बिना पके भोजन प्राण की रक्षा नहीं कर सकता।

प्राचीनकाल में पार्वती ने तप करके मनचाहा फल पाया था। भागीरथ ने तप करके गंगा को भूलोक में बुलाया था। ध्रुव के तप ने भगवान को द्रवित कर दिया था, तपस्वी लोग कठोर तपश्चर्या करके सिद्धियाँ प्राप्त करते थे। रावण, कुम्भकरण, मेघनाद, हिरण्यकश्यपु, भस्मासुर आदि ने भी जिस किसी को जो कुछ प्राप्त हुआ है वह तप के ही प्रभाव से प्राप्त हुआ है।

ईश्वर तपस्वी पर प्रसन्न होता है और उसे ही अभीष्ट आशीर्वाद देता है। जो धनी, सम्पन्न, सुन्दर, स्वस्थ्य, विद्वान, प्रतिभाशाली, नेता, अधिकारी आदि के रूप में चमक रहे हैं, उनकी चमक अबके या पिछले तप के ऊपर ही अवलम्बित है। यदि वे नया तप नहीं करते और पुरानी तपश्चर्या की पूँजी को खा रहे हैं तो उनकी चमक पूर्व पूँजी चुकाते ही धुँधली हो जायेगी।

जो लोग आज गिरे हुए हैं, उनके उठने का एकमात्र मार्ग है- तप। बिना तप के कोई भी सिद्धि, कोई भी सफलता नहीं मिल सकती न सांसारिक न आत्मिक। कल्याण की ताली तप की तिजोरी में रखी है। जो उसे खोलेगा, वही अभीष्ट वस्तु पावेगा।

दोनों हथेलियों को रगड़ा जाय तो वे गरम हो जाती हैं। दो लकड़ियों को घिसा जाय तो अग्नि पैदा हो जायेगी।

गति, उष्णता, क्रिया, यह रंग का परिणाम है। मशीन को चलाने के लिये उसके किसी भी भाग में धक्का या धचका लगाना पड़ेगा अन्यथा कीमती से कीमती मशीन भी बन्द ही पड़ी रहेगी।

शरीर को झटका लगाने के लिये व्यायाम या परिश्रम करना आवश्यक है। आत्मा में तेजस्विता, सामर्थ्य एवं चैतन्यता उत्पन्न करने के लिये तप करना होता है। बर्तन माँजे बिना, मकान झाड़े बिना, अशुद्धि और मलीनता पैदा हो जाती है। तपश्चर्या छोड़ देने पर आत्मा भी अशक्त, निस्तेज एवं विकारग्रस्त हो जाती है। आलसी और आराम-तलब शरीर में अन्नमय कोष की स्वस्थता स्थिर नहीं रह सकती । इसलिये उपवास, आसन, तत्व शुद्धि के साथ ही तपश्चर्या को प्रथम कोश की सुव्यवस्थ का आवश्यक अंग बताया गया है।

प्राचीनकाल में तपश्चर्या को बड़ा महत्त्व दिया जाता था। जो व्यक्ति जितना परिश्रमी, कष्टसहिष्णु, साहसी, पुरुषार्थी एवं क्रियाशील होता था, उसकी उतनी ही प्रतिष्ठा होती थी। गरीब अमीर, राजा-महाराजा सभी के बालक गुरुकुलों में भेजे जाते थे ताकि वे कठोर जीवन की शिक्षा प्राप्त करके अपने को इतना सुदृढ़ बना लें कि आपत्तियों से लड़ना और सम्पत्ति को प्राप्त करना सुगम हो सके।

आज तप के, कष्ट सहिष्णुता के महत्त्व को लोग भूल गये हैं और आरामतलबी, आलस्य, नजाकत को अमीरी का चिन्ह मानने लगे हैं। फलस्वरूप पुरुषार्थ घटता है, योग्यता द्वारा उपार्जन करने की अपेक्षा लोग छल, धूर्तता एवं अन्याय द्वारा बड़े बनने का प्रयत्न कर रहे हैं।

गायत्री साधकों को तपस्वी होना चाहिये। अस्वाद व्रत, उपवास ऋतु-प्रभावों का सहना, तितिक्षा, घर्षण, आत्मकल्प, प्रदातव्य, निष्कासन, साधन, ब्रह्मचर्य, चान्द्रायण, मौन अर्चन आदि तपश्चर्या की विधियों का विस्तार से आगे वर्णन किया गया है। यहाँ तो इतना कहना पर्याप्त होगा कि अन्नमय कोश को स्वस्थ रखने के लिए श्रम, कर्तव्यपरायणता, जागरुकता और पुरुषार्थ को सदा साथ रखना चाहिये। समय को बहुमूल्य सम्पत्ति समझकर एक क्षण को भी निरर्थक न जाने देना चाहिए।

परोपकार, लोक सेवा, सत्कार्य के लिये दान, यज्ञ भावना से किये जाने वाला परमार्थी जीवन प्रत्यक्ष तप है दूसरों के लाभ के लिये अपने स्वार्थों का बलिदान करना तपस्वी जीवन का प्रधान चिन्ह है। आज की स्थिति में प्राचीनकाल की भाँति तो तप नहीं किये जा सकते, अब शारीरिक स्थिति भी ऐसी नहीं रह गयी कि भागीरथ, पार्वती या रावण के जैसे उग्र तप किये जा सकें। दीर्घकाल तक निराहार रहना या बिना विश्राम किये लम्बे समय तक साधनारत रहना आज सम्भव नहीं है। वैसा करने से शरीर तुरन्त पीड़ा ग्रस्त हो जायेगा।

सतयुग में लम्बे समय तक दान, तप होते थे। क्योंकि उस समय शरीर में वायु तत्व प्रधान था। त्रेता में शरीरों में अग्नि-तत्व की प्रधानता थी। द्वापर में जल-तत्व अधिक था। उन युगों में जो साधनायें हो सकती थीं, आज नहीं हो सकतीं क्योंकि आज कलियुग में मानव देहों में पृथ्वी-तत्व प्रधान है। पृथ्वी-तत्व अन्य सभी तत्वों से स्थूल है इसलिए आधुनिक काल के शरीर उन तपस्याओं को नहीं कर सकते जो सतयुग, त्रेता आदि में आसानी से होती थीं।

दूसरी बात यह है कि वर्तमान समय में सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन हो जाने से मनुष्य के रहन-सहन में बड़ा अन्तर पड़ गया है। बड़े नगरों में निवासियों को यांत्रिक सभ्यता के बीच में रहने के फलस्वरूप शरीरिक-श्रम बहुत कम करना पड़ता है और अधिकांश में कृत्रिम वातावरण के कारण शुद्ध जलवायु से भी वञ्चित रहना पड़ता है। ऐसी अवस्था में शरीर को पूर्वकालीन तप योग्य रहना कहाँ सम्भव हो सकता है ?

कुछ समय पूर्व तक नेति, धोति, वस्ति, न्योली, वज्रोली, कपाल, भोति आदि क्रियायें आसानी से हो जाती थीं। उनके करने वाले अनेक योगी देखे जाते थे, पर अब युग प्रभाव से उनकी साधना कठिन हो गयी है। कोई बिरले ही हठयोग में सफल हो पाते हैं। जो किसी प्रकार इन क्रियाओं को करने भी लगते हैं वे उनसे वह लाभ नहीं उठा पाते जो इन क्रियाओं से होना चाहिए।

अधिकांश हठयोगी तो इन कठिन साधनाओं के कारण किन्हीं कष्टसाध्य रोगों से ग्रसित हो जाते हैं। रक्त, पित्त, अन्त्रदाह, मूलाधार, कफ, अनिद्रा जैसे रोगों से ग्रसित होते हुए हमने अनेक हठयोगी देखे हैं। इसलिये वर्तमान काल की शारीरिक स्थितियों का ध्यान रखते हुए तपश्चर्या में बहुत सावधानी बरतने की आवश्यकता है, आज, तो समाज सेवा, ज्ञान-प्रचार, स्वाध्याय, दान,

इन्द्रिय संयम आदि के आधार पर ही हमारी तप साधना होनी चाहिए।

आत्मबल तपश्चर्या से ही मिलता है !

दुनियाँ में जो कुछ हो रहा है, दिखाई दे रहा है, हो चुका है तथा जो होने जा रहा है वह सब 'शक्ति' का ही क्रीड़ा-किलोल है। संसार जड़ तत्वों का बना है। पदार्थ में उसके गुण तो हैं पर क्रिया एवं चेतना न होने से वह कुछ कर नहीं पाता। हलचल का उत्पत्ति, विकास, पतन और परिवर्तन का क्रम तो 'शक्ति' द्वारा ही संचालित होता है। शक्ति की प्रक्रिया जिस दिन सिमट जाती है, समाप्त हो जाती है उसी दिन प्रलय आ उपस्थित होती है। शरीर से जिस दिन प्राण शक्ति गई उसी दिन मृत्यु हो जाती है। फिर यह सारा कलेवर चाहे वह संसार के रूप में हो या शरीर के रूप में निर्जीव एवं निकम्मा बन जाता है फिर इसकी कोई उपयोगिता नहीं रहती। दीपक का सारा प्रकाश उसकी ज्वलन्त शील लौ में केन्द्रित हैं। लौ बुझी नहीं कि वह तेल बत्ती तथा मिट्टी के ठीकरा एक कवाड़ा मात्र रह जाता है।

इस संसार में जो कुछ चमक दीखती है, जो कुछ हलचल होती है उसमें शक्ति की विद्युत काम करती है। इसलिये शक्ति ही उपासनीय है। शक्ति को ईश्वर में भी स्फुरता पैदा करने वाली माना गया है यह मान्यता रखी गई है शक्ति ही अव्यक्त ब्रह्म को व्यक्त रूप में, अचिन्त्य सत्ता को चिन्त्य रूप देने में समर्थ होती है। इसलिए उसी की महत्ता अधिक है। कहा गया है कि-" शक्ति के बिना शिव, शव (लाश) मात्र है।"

इस शक्ति के दो रूप हैं एक स्थूल दूसरा सूक्ष्म। एक की क्रिया दूसरी को चेतना कहते हैं। स्थूल पंच भौतिक पदार्थों में सम्बद्ध होकर शक्ति के द्वारा जो हलचलें होती हैं वे क्रिया कहलाती हैं और जो भावना, बुद्धि, संकल्प, इच्छा, एकाग्रता, आवेश, विचार आदि के संयोग से अन्तःप्रदेश में गति-विधि उत्पन्न करती है उसे चेतना कहते हैं। क्रिया शक्ति के द्वारा इस संसार में सारी मशीनें चल रही हैं, सारे वैज्ञानिक उपकरण काम कर रहे हैं, समस्त जीवों में शरीर अपने-अपने पाचन रक्त भिषरण आदि भीतरी एवं श्रम निर्माण, व्यवस्था कला आदि विविध प्रकार की क्रिया कलाओं का आयोजन कर रहे हैं। चेतना के द्वारा विद्या विलास, अन्वेषण, विचार विमर्श राग द्वेष, हर्ष-विषाद सुख, आदि के कार्य चलते हैं। चेतना का एक भाग स्व संचालित हैं, उस पर मनुष्य का कोई नियन्त्रण नहीं, वृक्षों, वनस्पतियों में पदार्थों के विकास में, शरीरों के भीतर की स्वाभाविक गति विधियों में, चेतना शक्ति, सीधे सार्वभौम शक्ति भण्डार से आकर अपना काम करती रहती है और सृष्टि का कार्य-क्रम अनवरत रूप से चलता रहता है।

अब उस चेतना शक्ति का प्रसंग आता है जो मनुष्य के मस्तिष्क, हृदय एवं अन्तःकरण में सन्निहित है। यह मानवीय चेतना इतनी प्रचण्ड है कि इसे सार्वभौम अविज्ञात, विश्वव्यापी चेतना शक्ति के समतुल्य ही कहा जा सकता है। यों सार्व भौम चेतना शक्ति के कार्यों को देख मानव बुद्धि ठगी सी रह जाती है पर मानवीय चेतना की गुरुता का वह सार्वभौम शक्ति मूल्याकंन करती होगी तो वह भी स्तब्ध ही रह जाती होगी।

बादलों के द्वारा करोड़ों मन पानी इधर से उधर करते रहना, भूकम्प, बिजली, वर्षा, वृक्ष और पौधों में हरियाली पत्र-पल्लव फल-फूल आदि की शोभा, वीर्य बिन्दु से शरीर और शरीर में बिन्दु की उत्पत्ति, परमाणुओं की गतिशीलता, यह नक्षत्रों का परिधि भ्रमण आदि बातों पर जिस ओर दृष्टिपात किया जाय उधर आश्चर्य ही आश्चर्य दिखाई देता है। पर जब प्राणियों के अन्तर्गत-विशेषतया मानव अन्तःकरण में प्रस्फुटित चेतना शक्ति के कार्यों को देखा जाता है तो लगता है कि प्रकृतिगत शक्तियों पर उसने काबू पाने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। अपने बुद्धिबल से प्रकृति के गहन गह्वर को तिल-तिल करने के छान डालने में वह लगा हुआ है और कुछ अब तक भी प्राप्त कर सका है। वह आश्चर्य जनक है, फिर भविष्य की सम्भावनाओं का तो कहना ही क्या है ?

पृथ्वी के ध्रुव प्रदेशों में अवस्थित मध्य बिन्दु स्थल पर यदि वह थोड़े से भी परमाणु बम गिरादें तो इस पृथ्वी का अपने धुरी से हटकर किसी अन्य ग्रह के साथ टकरा जाना और चूर-चूर होकर धूलि बन जाना सम्भव है। ऊबड़-खाबड़ धरती के वक्ष को चीर कर वह अपने बुद्धि बल से ही मनमानी मात्रा में अन्न, फल, जल, धातुयें, रत्न खनिज तथा विद्युत सम्पदा प्राप्त करता है, बुद्धिबल से ही उसने आकाश में उड़ने और जल में तैरने के यान बनाए हैं। इस बीहड़-डरावनी अस्त-व्यस्त धरती को चित्र भी सुन्दर और सुसज्जित बनाने में, एक नगण्य द्विपद पशु मनुष्य को देव तुल्य आनन्दों का अधिकारी बनाने में, नाना विधि सुख-साधन सामिग्री जुटाने में यह

मानवीय अन्त:चेतना ही काम कर रही है। इससे प्रकृति पर, प्रकृति गत साधनों और शक्तियों पर विज्ञान के माध्यम से बहुत बड़ी मात्रा में अधिपत्य प्राप्त किया है और आगे इससे भी अधिक अधिपत्य प्राप्त करने की तैयारी है। इस चेतना शक्ति का जितना गुण गान किया जाय उतना ही कम है। उसने प्रयत्न करके वनों के सम्राट सिंह और मन्त्री हाथी को ही अपने हाथों का खिलौना नहीं बनाया है वरन् देवताओं को भी अपना वशवर्ती और आज्ञाकार बना कर छोड़ा है। स्वयं भगवान तक को उसके वश में होने को विवश होना पड़ा है। भक्त के वश में भगवान वैसे ही खेलता देखा गया है जैसे बालक गेंद से खेलते हैं।

इसी अन्त: चेतना का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दिशा में विकास करने का नाम तपश्चर्या है। मनुष्य के शरीर में काम करने वाली क्षमताएँ तुच्छ हैं, उनके द्वारा उतना भी कार्य नहीं हो सकता जितना बैल, घोड़े आदि कर लेते हैं। फिर बुढ़ापा, बीमारी, चोट, दुर्घटना आदि के अवसर आ जाने पर तो वह भी समाप्त होकर शरीर को लुंज पुंज अपाहिज अवस्था में छोड़ सकती है। इसी प्रकार वह धन शक्ति जिसे आज महत्त्व दिया जाने लगा है। शरीर शक्ति से भी तुच्छ है। अग्नि प्रकोप, जल प्रवाह, चोरी, राज दण्ड, अपव्यय आदि में उसकी बड़ी मात्रा भी स्वल्प काल में नष्ट हो सकती है। भाषण, लेखन, शिल्प, कला कौशल एवं अन्य प्रकार के चातुर्य भी मस्तिष्कीय एवं स्नायविक शक्ति के आधार पर टिके होते हैं। इनमें गड़बड़ी पड़ जाने पर चतुर एवं प्रशंसित व्यक्ति भी अपना महत्त्व खो सकते हैं।

मानव शरीर में जो अनकों बाह्य विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं उनके मूल में उसकी सूक्ष्म प्रतिभा ही काम करती है। यह आत्मबल की प्रतीक हैं । संकल्प बल इच्छा शक्ति, अन्तर्विद्युत इसी को कहते हैं। यह अन्तर्बल इतना कठिन है कि भारी से भारी कठिनाइयों से टक्कर लेकर असम्भव को सम्भव बना देता है। धैर्य, साहस, उत्साह, निष्ठा, तन्मयता, निर्भयता, आत्म-विश्वास, दृढ़ता इसी के प्रकट लक्षण हैं। यह तो हुई आत्मबल के सांसारिक उपयोग की बात। यदि सूक्ष्म जगत् में होने वाली इस आत्मबल की प्रतिक्रिया को देखा जाय तो लगता है कि ईश्वरीय विधान के बाद मनुष्य की अन्त: चेतना ही है जो प्रकृति के विभिन्न क्षेत्रों में अपना अधिकार जमाये और उसे इच्छानुसार चलाने में समर्थ है।

भारतीय इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठ इन अध्यात्म विज्ञानी, तपस्वी महापुरुषों के चरित्रों से भरे हुए हैं जिन्होंने असम्भव को सम्भव कर दिखाया और प्रकृति के साधरण विषयों को ही उलट पुलट करके दिखा दिया । तप करके लोग ऐसी-ऐसी विचित्र शक्तियाँ, विचित्र वरदान, विचित्र पदार्थ प्राप्त करते थे जो साधारणत: देखने या सुनने में नहीं आतीं। शाप और वरदान के कारण ऐसे कार्य सम्पन्न होते थे जो साधारण जीवन में आश्चर्य-जनक एवं असम्भव मालूम पड़ते थे। अष्ट सिद्धियों का वर्णन योग ग्रन्थों में मिलता है। पातञ्जलि योग दर्शन को विभिन्न साधनाओं के विभिन्न प्रतिफल बताये गये हैं। वे ऐसे हैं जो साधना और तपश्चर्या से विमुख व्यक्तियों को असत्य मालूम दें सकते हैं पर जिनके कारण अन्तर्बल को जाना और अभिवर्द्धन किया है वह भली प्रकार समझते हैं कि यह विभूतियाँ तो तुच्छ हैं, साधना के बल पर आत्मा को इतना महान् बनाया जा सकता है कि वह परमात्मा के समान बन जाय, परमात्मा सत्ता का साझीदार बनकर वही सब अधिकार प्राप्त कर लें जो स्वयं परमात्मा को प्राप्त हैं।

तप एक विशुद्ध विज्ञान है। जिस प्रकार रसायन विद्या, पशु विद्या, चिकित्सा विद्या, शिल्प शास्त्र, विद्युत विज्ञान, कृषि विद्या, संगीत शिक्षा आदि अनेकों स्थूल विद्याएँ इस संसार में विविध प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होती हैं। उसी प्रकार सूक्ष्म जगत में काम कर रही उन प्रक्रियाओं पर नियन्त्रण प्राप्त करने में आत्मविद्या का उपयोग होता है। जिस प्रकार मस्तिष्क में जो करने का विचार आता है वही शरीर काम करने लगता है। उसी प्रकार सूक्ष्म जगत में जो प्रक्रिया काम करती है वे ही कुछ समय उपरान्त घटनाओं के रूप में प्रकट हो जाती हैं।

जिस प्रकार विचारों पर नियन्त्रण करके हम अपने साधारण कर्मों को भलाई या बुराई की दिशा में मोड़ सकते हैं उसी प्रकार सूक्ष्म जगत में काम कर रही प्रक्रियाओं को आत्मबल के आधार पर प्रभावित कर लिया जाय तो संसार में जैसे घटनाएँ घटित होने की तैयारी थी उसे रोका, मोड़ा या बदला जा सकता है। प्राचीनकाल में जो भी लोग ऐसा करते भी रहे हैं। आज वैज्ञानिक बादलों पर बर्फ का चूरा छिड़क कर जहाँ चाहें वहाँ मन चाही वर्षा कराने में सफल हो गये हैं। आध्यात्म विज्ञान के वैज्ञानिक अपनी आत्म शक्ति को बरफ के चूरे से भी अनेकों गुना सूक्ष्म और सशक्त बना लेते हैं कि उसे विश्व की गतिविधियों को

अनिष्ट की दिशा में जाने से रोककर मंगलमय परिस्थितियों की विश्वहितकारणी वर्षा करा सकें। विश्व की सार्वभौमिक परिस्थितियों को दुख दारिद्र की, रोग शोक की, भय कलह की परिस्थितियों से बहुत अंशों में बचा सकना और किन्हीं भयानक संकटों को अपने बढ़े हुए आत्मबल के द्वारा संतुलित करना योगियों की शक्ति के अन्तर्गत आ जाता है। वे ऐसा करते भी हैं। कई बार व्यक्तिगत रूप से भी कुछ सत्पात्रों को आवश्यक सहायता प्रदान करते हैं जिससे कि तात्कालिक कठिनाइयों से छुटकारा पाकर धर्म सेवा के कार्यों में अधिक प्रगति कर सकें।

तपस्वी लोगों के बारे में यह सोचना उचित नहीं कि वे केवल अपने ही लाभ के लिए इतने कष्ट उठाकर तप करते हैं। अपना निज का स्वार्थ तो उनका इतना ही होता है कि अपने आत्मा को तप की अग्नि में तपाकर खरे सोने के समान निर्मल बनालें जिससे उसे परमात्मा का सजातीय बनने और उसमें मिल सकने योग्य करना संभव हो सकें। जिस प्रकार के ऊपर चढ़ी हुई राख के कारण उसका रंग काला और प्रकाश और गर्मी का अभाव दीखता है उसी प्रकार आत्मा पर भी पाप तापों का आवरण चढ़ा होने से वह अल्पज्ञ एवं दीन-हीन स्थिति में पड़े हुए साधारण जीवों जैसा दिखाई पड़ता है पर जब साधनात्मक प्रयत्नों द्वारा वह राख का परत हट जाता है तो अंगार अपनी प्रकाशवान् उष्णतायुक्त स्थिति को पुनः प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार ईश्वर का अविनाशी अंश आत्मा भी तप अग्नि में अपने को तपाकर निर्मल, निष्पाप एवं निराबरण बनकर ईश्वरीय दिव्य प्रभा से चमकने लगता है। साथ ही उसमें वे सब विशेषताएँ भी उत्पन्न हो जाती हैं जो ईश्वरीय प्रकाश से परिपूर्ण आत्मा में होनी चाहिए।

परमार्थ और परोपकार के बड़े-बड़े आयोजनों द्वारा लोगों को जो कुछ लाभ पहुँचाया जाना संभव है उतना लाभ आत्म बल के धनी अपनी-अपनी आत्म शक्ति के थोड़े से छींटे छिड़क कर ही पहुँचा देते हैं। किसी पुण्य प्रारब्ध से हीन दीन दरिद्र व्यक्ति को कोई अन्न दान करने वाला दानी कुछ दिन तक पेट ही भरके रहने की व्यवस्था कर सकता है उसके प्रारब्ध जन्य दारिद्र को दूर नहीं कर सकता। पर कोई तपस्वी अपने तप का एक छोटा अंश उसे दे दे तो उतने मात्र पुण्य से वह उम्र भर धनी सम्पन्न लोगों जैसा उन्नत जीवन व्यतीत् कर सकता है। वैसा उन्नत जैसा शायद उस अन्न दान करने वाले का स्वयं का भी न हो। औषधालय खोलने वाला व्यक्ति तात्कालिक उपचार भी कष्ट निवारण में अपने चिकित्सा कार्य द्वारा कुछ लाभ पहुँचा सकता है पर यदि दुष्कर्मों के फलस्वरूप उसके शरीर और मन अनेकों कष्ट कारक विकृतियाँ समय-समय पर फूटती रहती हैं तो उनका उपचार कोई चिकित्सक नहीं वरन् आत्मबल सम्पन्न तपस्वी ही कर सकता है। स्कूली शिक्षा की व्यवस्था करने वाले विद्या दानी किसी को उच्च पदवीधारी बनाकर रोजी रोटी कमाने लायक बना सकते हैं पर आत्मबल का कहीं से एक कण मिल जाने पर तो बाल्मीकि सरीखे डाकू भी बिना किसी कालेज में प्रवेश किए आदि कवि महर्षि बाल्मीकि बन सकते हैं।

श्रम, समय, धन और मस्तिष्क द्वारा किये जाने वाले परोपकार लोगों का कुछ भला तो कराते हैं पर वह थोड़ा सा, तात्कालिक और अस्थिर होता है। उनका स्वरूप प्रकट दिखाई देने के कारण संसार में उनकी प्रशंसा तो खूब होती है पर पुण्य उसी अनुपात से होता है जिस अनुपात से कि लोगों को साधारण या गम्भीर समस्याओं का समाधान उनके द्वारा संभव होता है। कीर्ति भी सत्कर्मों का एक फल ही है। साधारण पुण्यों का फल भी कीर्ति तक ही सीमित है। लोग अपने नाम का पत्थर लगा कर अपनी प्रशंसा छापे में छपा कर अपने दान की कीमत जीते जी ही वसूल कर लेते हैं। फिर परलोक में तो थोड़ी छूँछ मात्र ही मिलनी शेष रह जाती है। गत अंक में छपे पिछले लेख में अनेक पुण्य परमार्थों की चर्चा और प्रशंसा की गई है। स्वार्थ में दिन रात डूबे हुए, केवल अपना ही घर भरने और मोज मजा करने की धुन में लगे हुए लोगों के द्वारा इतना होना भी अच्छा ही है। सारे की सारी शक्तियाँ वासना और तृष्णा में लगने की अपेक्षा यदि उनका कुछ समय, श्रम और धन किसी शुभ कार्य में-परमार्थ में लग जाना है तो उतने अंशों में तो उनका समय या धन का सदुपयोग ही माना जा सकता है। "न कुछ से कुछ अच्छा" वाली कहावत के अनुसार जो भी कोई थोड़ा बहुत पुण्य परमार्थ करले वह अच्छा ही है। इस निमित्त से उसके मन पर जितने कुछ धर्म संस्कार जमते हैं वे आगे चलकर सन्मार्ग में सहायक ही होते हैं। इस दृष्टि से परमार्थ के प्रयत्न उचित और उत्तम ही हैं। पर इसका अर्थ यह नहीं कि उनकी तुलना आत्म बल उपार्जन करके तप के प्रयत्नों से की जाने लगे। दोनों

की स्थिति में उतना ही अन्तर है जितना चींटी और हाथी में होता है।

संसार में सबसे बड़ा धन तप का धन है। स्वास्थ्य बल, धन बल, बुद्धि बल, उसके आगे तुच्छ हैं। जिनके पास सोने का ढेर जमा है वह पचासों मनुष्यों की आवश्यकताएँ क्षणभर में पूरी कर सकता है पर जिस की पोटली में आधा सेर आटा ही है वह कितना तो दूसरों को देगा कितना अपने लिए रखेगा। उससे कितना अपना भला करेगा कितना दूसरो का ? संसार को सुखी बनाने और सुधारने के लिए संगठनात्मक, प्रचारात्मक और रचनात्मक अनेकों प्रयत्न किये जाते हैं, पर उन लोक सेवियों से समुचित आत्मबल आवश्यक तपोबल न होने से वे कार्य एक प्रदर्शक मात्र बनकर रह जाते हैं। दूसरों पर जैसा प्रभाव पड़ना चाहिए वैसा नहीं पड़ता। उनकी बातों को लोग सुन तो लेते हैं पर जीवन में ढालने को तैयार नहीं होते क्योंकि उन नेताओं और मार्ग दर्शकों के पास उस शक्ति का अभाव रहता है जो दूसरों के अन्तःकरण में गहराई तक प्रवेश करके उसमें प्रकाश एवं परिवर्तन उपस्थित कर सकता है। योगी लोग अपनी वाणी या प्रत्यक्ष क्रिया का उपयोग न करते हुए भी अपने आत्मबल का प्रवाह प्रसारित करके अनेकों व्यक्तियों में सन्मार्ग के प्रति वह उत्साह उमंग, आकांक्षा और तत्परता उत्पन्न कर सकते हैं जो अनेकों धुंआधार भाषाणों में सम्भव नहीं हैं। इस प्रकार गम्भीरतापूर्वक देखा जाय तो योगी लोग उच्चकोटि के परमार्थी ही सिद्ध होते हैं। उनका तप अपने तक ही सीमित नहीं होता, उसका प्रसाद अगणित लोगों को मिलता है। जैसे फूल खिलता है तो उसकी शोभा और सुगन्ध दूर दूर तक के लोगों को प्रसन्नता प्रदान करती है उसी प्रकार तपस्वी के शरीर और आत्मा में से अहर्निशि प्रवाहित होते रहने वाले विद्युत प्रवाह से अगणित लोग अनायास ही लाभान्वित होते रहते हैं। सान्निध्य में तो चन्दन के वृक्ष के समान अपने समीपवर्ती लोगों को भी अपने ही जैसा सुगन्धित बना देने का भी अनुग्रह करते हैं।

शक्ति का उत्पादन में घर्षण की कष्ट साध्य प्रकृया आवश्यक है। पहलवानी करने वाले जानते हैं कि कुश्ती पछाड़ने लायक क्षमता उत्पन्न करने के लिए उन्हें कितने दण्ड बैठक लगाने होते हैं। चाकू की धार तेज करने के लिए उसे सानगर के पत्थर पर बार-बार अपने आपको इतना रगड़वाना पड़ता है कि रगड़ के समय चिनगारियाँ उड़ने लगती हैं। मिट्टी के बर्तन पकाते समय इतनी आग सहनी पड़ती है कि बेचारा लाल हो जाता है, उत्तीर्ण होने वाले छात्र जानते हैं कि परीक्षा के दिनों में उन पर क्या बीतती है। यह कष्ट सहिष्णुता ही शक्ति की जननी है। प्राचीन काल में व्यक्ति अपने बच्चों को ऋषियों के आश्रम में कष्ट सहिष्णु जीवन यापन करते हुए विद्याध्ययन के लिए भेजते थे ताकि वे तपस्वियों के सान्निध्य में आवे और पकने वाले बर्तनों की तरह मजबूत और टिकाऊ होकर निकलें। आज सर्वत्र विलासिता, फैशन परस्ती और नजाकत का बोलवाला है। फलस्वरूप हम दृष्टि से कच्चे और कमजोर होते चले जा रहे हैं।

साधनों के लिए कोलाहल और जन विक्षेप से दूर वातावरण की आवश्यकता होती है। वैज्ञानिक और अन्वेषण कार्य ही वातावरण में सम्भव होते हैं। नाना प्रकार के विक्षेपों, चिन्ताओं, समस्याओं और प्रतिक्रियाओं के बीच साधारण राम नाम तो लिया जा सकता है, काम चलाऊ पूजा पाठ भी हो सकता है पर वह एकाग्रता और तन्मयता जिसमें साधक सारी शक्तियाँ एक ही दिशा में एकाग्र और तन्मय होकर लक्ष्य बेध कर सकें एकान्त में ही सम्भव हैं। इस दृष्टि से यदि तपस्वी लोग एकान्त स्थान ढूँढ़ लें तो उसमें कुछ अनुचित नहीं है। आध्यात्म को लोक शिक्षण करने की बहुत बड़ी व्यवस्था करने वालों से भी अरविंद को भी अपने लिए व्यक्तिगत रूप से तो एकान्त की ही सुविधा रखनी पड़ती थी। हमें स्वयं भी इस मार्ग का अनुसरण करना पड़ा है।

तपस्या का प्रचण्ड प्रताप

गायत्री उपासना एक ऐसी तपश्चर्या है जिसे गृही और विरागी,स्त्री को पुरुष, बालक और वृद्ध समान सुविधा से कर सकते हैं। तप ही एक मात्र वह साधन, है जिससे आत्मिक शक्ति बढ़ती है। और आत्मा शक्ति ही संसार की वह सर्वोपरि वस्तु है जिसके द्वारा मनुष्य इच्छानुकूल पदार्थ, मनोवांछित परिस्थिति और अक्षय शान्ति प्राप्त कर सकता है। दैवी शक्तियों को सहायता एवं ईश्वरीय कृपा को उपलब्ध करना भी तप द्वारा उपार्जित आत्म शक्ति पर ही निर्भर है।

कथा है कि- अनादि काल में जब नाभि कमल में ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए तो वे अकेले थे वे बहुत सोचते थे कि मैं क्या हूँ, क्यों हूँ, यह सब क्या है, पर कोई बात

समझ नहीं आती थी। जब वे कुछ भी न सोच सके और बहुत हैरान हो गये तब आकाशवाणी हुई कि "तप करो" ब्रह्माजी ने दीर्घकालीन तप किया, तब उन्हें आत्म ज्ञान हुआ, और अपना उद्देश्य एवं कार्य क्रम जाना। उन्हें गायत्री प्राप्त हुई उसकी सहायता से उन्होंने चारों वेद रचे। उन्हें सावित्री प्राप्त हुई उसकी सहायता से उन्होंने सृष्टि की रचना की । इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञान और विज्ञान का, चेतन्य और जड़ का मूलकरण, तप ही है, तप के बिना किसी भी वस्तु, विचार तत्व या गुण का होना सम्भव न था।

समुद्र मंथन की कथा में देवता और असुर दोनों ही मंथन का घोर तप करते हैं। कूर्म, शेषजी, मदिराचल को भी उसमें सम्मिलित होना पड़ता है। उस तप की घोर उष्णता से सूर्य, चन्द्र अमृत, लक्ष्मी जैसे १४ रत्न निकलते हैं। यदि वह समुद्र मंथन का तप न हुआ होता तो सूर्य, चन्द्र, जैसे वस्तुओं से वंचित रहकर इस दृष्टि को घोर अन्धकार में अचेतन जैसा पड़ा रहना पड़ता। श्री-हीन वसुन्धरा में जीवों को जीवन धारण करने के लिए कोई आकर्षण नहीं रहता।

तप की शक्ति साधारण नहीं है। स्वायंभु मनु और सतुरूपा रानी ने तप करके भगवान को अपनी गोदी में खिलाने की असम्भव इच्छा को सम्भव बना लिया। दशरथ और कौशिल्या के रूप में उन्होंने राम को गोदी में खिलाने के सौभाग्य का रसास्वादन किया। नन्द और यशोदा, देवकी और वसुदेव ने पूर्व जन्मों ऐसी ही तपस्या करके भगवान के भी माता पिता बनने का अवसर पाया था।

अवतारी आत्माओं को भी तप करना पड़ा है क्योंकि बिना तप के उनका शरीर भी ब्रह्मा जी की भाँति ही अशक्त रह जाता। राम का विश्वामित्र ऋषि के आश्रम में जाना और १४ वर्षों तक वनवास में तपस्वी जीवन बिताना सर्व विदित है। लक्ष्मण का ब्रह्मचर्य प्रसिद्ध है। सीता का वनोवास में अशोक वाटिका में और अन्त में बाल्मीकी ऋषि के आश्रम में तप करना किसी से छिपा नहीं है। भरत जी ने १४ वर्षों तक जो तप किया था उसका प्रताप था कि वे वाण पर बिठाकर हनुमान को लंका पहुँचा सके।

भगवान कृष्ण ने संदीपन ऋषि के आश्रम में सुदामा के साथ गुरुकुल का तपस्वी जीवन बिताते हुये शिक्षा प्राप्त की थी। रुक्मिणी से विवाह होने के पश्चात् कृष्ण और रुक्मिणी ने दीर्घ काल तक हिमालय पर्वत के उच्च शिखर पर तप किया था वहाँ वे केवल जंगली बेर खाकर रहते थे। बेर को संस्कृत में बद्री कहते हैं। बद्री नारायण का तीर्थ भगवान कृष्ण के उसी तप का स्मारक है।

शंकर जी तो साक्षात् योगिराज ही हैं। योग और तप ही उनका प्रधान कार्य है। उनकी वेष भूषा का अनुकरण करके योगियों की एक परम्परा बन गई है। अनेक लम्बी समाधियों का वर्णन ग्रन्थों में मिलता हैं। ऐसे अवधूत को पुनर्विवाह के लिए तैयार करना कोई साधारण कार्य न था परन्तु पार्वती के तप ने उस असाधारण को भी साधारण बना दिया।

चौबीस अवतारों की कथाओं का वर्णन करने का इस छोटे लेख में अवकाश नहीं है। पर विज्ञ पाठक जानते हैं कि उनमें से हर एक ने तप किया है। यद्यपि उनकी आत्मा पूर्ण थी। परन्तु स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में आवश्यक क्षमता उत्पन्न करने के लिए उनके लिए भी तप करना आवश्यक था। इन्द्र की इन्द्र पदवी उसकी तपस्या के कारण ही थी। अनेक कथाओं में यह प्रकट है कि किसी अधिक तपस्वी की उग्र तपस्या को देखकर इन्द्र डरता है कि कहीं यह इतना तप इकट्ठा न करले कि मुझसे इन्द्र पदवी छीन ले। इसलिए वह बहुधा तपस्वियों को तप भ्रष्ट करने के लिए प्रयत्न करता है। विश्वामित्र के उग्र तप से भयभीत होकर उसने मेनका अप्सरा को भेजकर उनका तप खंडित कराया था। अर्जुन को पराक्रम हीन करने के लिए भी उसने उर्वसी भेजी थी यह कथा महाभारत में विस्तारपूर्वक आई है। इन्द्र का आत्म ज्ञान प्राप्त करने के लिए ब्रह्माजी के पास जाना और ब्रह्माजी द्वारा उसे थोड़ी-थोड़ी शिक्षा देकर उसे सौ वर्ष तक तप करना और तब फिर आगे की शिक्षा देना यह कथा उपनिषदों में आती है। इससे प्रकट है कि देवता भी तप के प्रभाव से ही देवत्व के अधिकारी रहते हैं। देवत्व का भी पिता तप ही है।

अन्य देवदूतों पर दृष्टि डालिए वे भी इसी मार्ग के पथिक रहे हैं, भगवान बुद्ध, भगवान महावीर, ईसामसीह मुहम्मद साहब, जरथुरत, सुकरात, शंकराचार्य, गान्धी आदि ने जो तप किये हैं वे इतिहास के पाठकों को भली प्रकार विदित हैं। इनमें से प्रत्येक ने अपने-अपने ढगं से आत्म शुद्धि और दिव्य शक्ति प्राप्त करने के लिये ब्रह्मचर्य, व्रत, उपवास, तितीक्षा, त्याग, आराधना आदि

तपश्चर्याओं का अवलम्बन किया था। उसी के कारण उनका चरित्र, व्यक्तित्व एवं प्रभाव बढ़ा और उसी के कारण वे अपने विचारों की छाप अपने अनुयायियों पर डाल सके। संसार के प्रत्येक देश में वे ही व्यक्ति पूजनीय माने गये हैं जिन्होंने अपनी आत्मा को तपाकर निर्मल एवं साधन बनाया है।

यों यद्यपि तप के अनेक मार्ग हैं। विदेशी या विधर्मी लोग अन्य पद्धतियों से भी अपनी साधनाएँ करते हैं और उनसे यथासंभव लाभ भी उठाते हैं परन्तु अध्यात्म विज्ञान के सूक्ष्मदर्शी ऋषियों ने अपने योगबल से यह भी देख लिया था कि गायत्री की सहायता के बिना कोई तप अधिक फलदायक नहीं हो सकता, इसलिए भारतीय पद्धति में इस महामन्त्र को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। इतिहास पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि यहाँ इसी महा विज्ञान के आधार पर आत्म कल्याण के महान अभिमान किये जाते हैं। प्रायः सभी ऋषियों ने इस राज मार्ग को अपनाया है।

ऋषि महार्षियों में जो विशेषताएँ थीं उनमें उनकी तपस्या ही एक मात्र कारण थी। विश्वामित्र वशिष्ट, याज्ञवल्क्य, भारद्वाज, अत्रि, गौतम, कपिल, कण्व, पातंजलि, व्यास, वाल्मीक, च्यवन, शुकदेव, नारद, दुर्वासा, आदि ऋषियों के जीवन वृतान्त पर विहगंवलोकन किया जाय तो सहज ही पता चल जाता है कि उनकी महानता का, उनके अद्भुत एवं महान् कार्यों का कारण उनका गायत्री तप ही था।

विश्वामित्र जी के द्वारा अपने तपोबल की शक्ति से नई सृष्टि का बनाया जाना और त्रिशंकु को सशरीर स्वर्ग भेजने की कथा प्रसिद्ध है। वशिष्ठ को कामधेनु गौ (गायत्री) को लेने के लिए जब राजा विश्वामित्र गये थे तब वशिष्ठ जी ने निरस्त्र होते हुए भी राजा की भारी सेना को परास्त कर दिया था। भागीरथ जी तप करके गंगाजी को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाये थे। अम्बरीष का तपोबल जब दुर्वासा ऋषि के पीछे मृत्यु चक्र बनकर दौड़ा तो अंत में दुर्वासा को अम्बरीष की शरण लेकर ही प्राण बचाने पड़े थे। इस प्रकार की अगणित कथाएँ ऐसी हैं जिनसे प्रकट है कि तप के द्वारा कुछ विलक्षण शक्तियाँ तपस्या में उत्पन्न होती हैं।

शाप वरदान की अनेक कथाएँ मौजूद हैं। कपिल के शाप से राजा सगर के सौ पुत्र भस्म गये थे। ऋषियों को पालकी में जोत कर सवारी करने वाले राजा नहुष जो अगस्त्य ऋषि के श्राप वश गिर कर जिन्हें सर्प होना पड़ा था। राजा नृग ऐसे ही क्रोध के भाजन बनकर गिरगिट की योनि को प्राप्त हुए थे। गौतम के शाप से अहिल्या शिला हो गई थी और इन्द्र को शत भंग होने को कुरूपता धारण करनी पड़ी, गुरु पत्नी से गमन करने का शाप चन्द्रमा के ऊपर कलंक रूप में अब भी विद्यमान है। ऋगीं ऋषि के शाप से राजा परीक्षित को तक्षक सर्प ने काटा था, शुक्राचार्य के शाप से कच की विद्या निष्फल हो गयी थी। श्रवण कुमार को मृग जानकर तीर मारने पर उसके पिता का शाप राजा दशरथ को लगा था और अन्त में राजा को भी पुत्र शोक में प्राण त्यागने को विवश होना पड़ा था। ऋष्यमूक पर्वत पर वाली शाप वश ही नहीं जा पाता था। मेघदूत का यक्ष शाप वश ही अपनी प्रियतमा से वियोग का दुख सहता है। इसी प्रकार वरदानों का भी इतिहास है। देवताओं और ऋषियों के वरदानों से अनेकों को अनेक प्रकार की दिव्य शक्तियाँ प्राप्त हुई हैं। और वे उस कृपा के कारण असाधारण लाभों से लाभान्वित हुए हैं।

तप के द्वारा सांसारिक सुख सौभाग्यों से परिपूर्ण बनने वालों के उदाहरण भी कम नहीं हैं। ध्रुव ने तप करके राज्य पाया था। राजा दिलीप की संतान न थी उनने पत्नी समेत वशिष्ट जी के आदेशानुसार नन्दिनी (गायत्री) की उपासना की थी तदनुसार उन्हें महाप्रतापी पुत्र की प्राप्ति हुई। योगीराज मछीन्द्र नाथ की भस्म विभूति के द्वारा महायोगी गोरख नाथ का जन्म हुआ था। अंजनी ने कठिन तप करके वजरंगी हनुमान जी का प्रसव किया था। दशरथ जी यज्ञ के पुण्य प्रताप से संतान हीन के दुख से मुक्ति मिली थी और चार पुत्र प्राप्त हुए थे। कर्ण को नित्य सवा मन स्वर्ण प्राप्त होने का वरदान प्राप्त हुआ था वह इस स्वर्ण को नित्य दान कर देता था।

केवल पुरुषों को ही तप करने का अधिकार हो सो बात नहीं है। स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान ही इस क्षेत्र में पूर्ण अधिकारिणी हैं। आत्मा न स्त्री है न पुरुष वह ईश्वर का विशुद्ध स्फुल्लिंग है, उसे तप करके आत्मा को परमात्मा में मिला देने का स्वाभाविक अधिकार सदा से ही प्राप्त है। पार्वती जी का तप प्रसिद्ध है। गार्गी, मैत्रेयी, अनुसूया, अरुन्धती, अहिल्या, मदालसा, देवयानी, कुन्ती, सतरूपा, वृन्दा, मन्दोदरी, तारा, द्रौपदी, दमयन्ती, गौतमी,

अपाला, सुलमा, शाश्वती, उशिजा, सावित्री, लोपामुद्रा, प्रतिशेयी, वैशालिनी, बेहुला, गान्धारी, अञ्जनी, शर्मिष्ठा, देवहूति, आदिति, दिति, शची, सत्यवती, सुकन्या, शैब्या, तारा, मन्दोदरी, घोपा, गोधा, विश्ववारा, जुहू, रोमशा, श्रता, वयुना आदि अगणित तपस्विनी एवं आत्म शक्ति सम्पन्न नारियों के वृतान्त इतिहास पुराणों में विस्तार पूर्वक वर्णित हैं उसे पढ़कर यह भली प्रकार जाना जा सकता है कि प्राचीन काल में स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान ही तपश्चर्या के क्षेत्र में बढ़ी हुई थीं। गायत्री माता की गोदी में उसके पुत्र और पुत्री समान रूप से क्रीड़ा कल्लोल कर सकते हैं और समान रूप से पय पान कर सकते हैं।

कुन्ती ने कुमारी अवस्था में गायत्री मन्त्र द्वारा सविता के भर्ग को आकर्षित करके गर्भ धारण किया था और उसके द्वारा कर्ण का जन्म हुआ था। नारद जी द्वारा सावित्री को जब यह बता दिया गया कि सत्यवान का जीवन काल केवल एक वर्ष है। तब सावित्री ने तप करना आरम्भ कर दिया और एक वर्ष में ही वह शक्ति प्राप्त करली कि वह अपने पति को यम के हाथों में से वापिस लौटा सकीं। दमयन्ती का तप ही था जिसके कारण कुचेष्ठा प्रयत्न करने वाले व्याध को उस देवी के शाप से भस्म होना पड़ा। गान्धारी आँखों से पट्टी बाँधे रह कर नेत्रों का तप करती थी जिससे उसकी दृष्टि में इतनी शक्ति उत्पन्न हो गई थी कि उनके देखने मात्र से दुर्योधन का शरीर अभेद्य हो गया था। जिस जंघा पर उसने लज्जा वश कपड़ा डाल लिया था वही कच्ची रह गई और उसी पर प्रहार करके भीम ने दुर्योधन को मारा था। अनुसूया के तप ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश को छै: छै: महीने के बालक बना दिया था। सती शाण्डिली के तपो बल ने सूर्य के रथ को रोक दिया था।

तप, शक्ति उत्पादन का विशुद्ध विज्ञान है। तपस्वी को निश्चित रूप से आत्मा शक्ति मिलती है। उस शक्ति का किस कार्य में किस प्रकार उपयोग किया जाय यह दूसरा प्रश्न है। जैसे धन बल, बुद्धि बल, शरीर बल, अधिकार बल आदि का कोई मनुष्य सदुपयोग या दुरुपयोग कर सकता है वैसे ही तपोबल को दैवी या आसुरी कार्यों में प्रयुक्त किया जा सकता है। प्राचीन काल में असुरों ने बड़े-बड़े तप किये थे और अपने-अपने पुरुषार्थ के अनुरूप वरदान भी पाये थे। परन्तु उनका मार्ग अनुचित था इसीलिए वह तप उनकी प्रभुता बढ़ाते हुए भी नाश का ही कारण सिद्ध हुआ। रावण, कुम्भकरण, मेघनाद ने बड़े बड़े तप किये थे और उन्हीं के फलस्वरूप वे इतने सामर्थ्यवान् होगये थे कि उन्हें तीनों लोकों में कोई भी जीत न सकता था अन्त में उन्हें समेटने के लिए एक अवतार को ही आना पड़ा।

भस्मासुर स्वयं अपने वरदाता शंकर जी तक को भस्म कर देने के लिए तैयार हो गया था। हिरण्यकश्यपु, हिरण्याक्ष, महिषासुर, शुम्भ-निशुम्भ, कंस, जालंधर, अहिरावण, महिरावण, मारीच, खरदूषण, सहस्रवाहु, कालनेमि, सुन्द, उपसुन्द आदि अनेकों असुरों ने तप द्वारा ही इतनी शक्तियाँ प्राप्त की थीं कि उनके आतंक से समस्त संसार कम्पायमान होने लगा था और उनके विनाश के लिए भगवान को विशेष आयोजन करना पड़ा था।

तपोबल का आसुरी उपयोग करने वाली स्त्रियों की संख्या भी बहुत है। सूर्पनखा, ताड़का, त्रिजटा, लकिंनी, सुरसा, पूतना, विशिखा, कर्कटी, होलिका, ढुँढुरा, आदि के उपाख्यान सर्वविदित हैं। तांत्रिक विधान के अनुसार साधन करने वाले अघोरी, कापालिक, ब्रह्मराक्षस, वैताल, अग्निमुख, दृष्टि शूल आदि पुरुषों की भांति विशिखा, कृत्या कूष्माण्डी, भैरवी, शतचक्रा, भद्रा, भ्रामरी डाकिंनी शाकिनी आदि प्रकृति की स्त्रियाँ भी तपोबल का आसुरी उपयोग करती हैं। यह मार्ग दूषित अवश्य है पर इसमें दोष विज्ञान की नहीं उसके प्रयोक्ता है। चाकू से कलम बनाना या किसी का पेट फाड़ना यह अपने ही भले बुरे कर्म हैं। इनसे चाकू की निन्दा नहीं होती है।

वे महापुरुष जो इतिहास में उज्ज्वल नक्षत्र की तरह चमक रहे हैं उनके पीछे भौतिक नहीं आत्मिक बल ही था। भीष्म जी शर शैय्या पर उत्तरायण सूर्य आने की प्रतीक्षा में महीनों तक मृत्यु को दुत्कारते रहे। शीश कटा हुआ रावण अपनी अन्तिम सांसे लेता हुआ लक्ष्मण जी को राजनीति सिखाता रहा। बभ्रुवाहन का कटा हुआ सिर भी अपनी अनुभूतियाँ और अभिलाषाएँ प्रकट करता रहा। संजय को वह दिव्य दृष्टि प्राप्त थी कि घर बैठे महाभारत के सारे दृश्य धृतराष्ट्र को सुनाते हैं। बाल्मीकि जी ने रामावतार से पूर्व ही उनका सारा इतिहास लिख दिया। दधीच ऋषि की हड्डियों में इतना प्रचण्ड तेज था कि उन्हीं के द्वारा बना हुआ बज्र वृत्तासुर को मारने में सफल हुआ। परशुराम जी अकेले होते हुए भी पृथ्वी के समस्त राजाओं को सेना समेत संहार करने में सफल हुए। धौम्य ऋषि

के आशीर्वाद मात्र से अरुणि को समस्त विद्याओं की विद्वत्ता प्राप्त हो गई ।

जिन्होंने इतिहास पुराण पढ़े हैं, उन्हें इस प्रकार के असंख्यों उपाख्यानों का पता है । तप की महत्ता अनादि काल से लेकर अब तक समान रूप से अक्षुण्य बनी हुई है । पूर्ण काल में तप की ओर लोगों की अधिक रुचि थी इससे वे अधिक प्रतापी थे, यह रुचि घटने के साथ-साथ प्रताप में भी घटोत्तरी होती गई । मध्यकाल में भी जब जो आत्माएँ चमकी हैं उनमें आत्म तेज का ही प्रकाश रहा है । सन्त कबीर, नानक, दादूदयाल, रैदास, रामानुज, सूरदास, तुलसीदास, रामकृष्ण परमहंस, रामतीर्थ, विवेकानन्द, विरजानंद, दयानन्द, तिलक, गान्धी मालवीय, अरविन्द रमण, आदि के पीछे तपस्या की ही ज्योति जगमगाती हुई देखी जा सकती है । यों तपस्या के अन्य मार्ग भी हैं । पर स्मरण रखना चाहिए कि उन मार्गों में भी सूक्ष्म रीति से गायत्री का ही विज्ञान संबद्ध है । गायत्री के द्वारा ही अधिकांश तपस्वी तप करते हैं क्योंकि यह रास्ता सबसे सरल, सर्व सुलभ, हानि रहित, शीघ्र फलदायी और यही-विरक्त, स्त्री-पुरुष सभी के लिये सुसाध्य है ।

तप साधना द्वारा दिव्य शक्तियों का उद्भव

तपश्चर्या की महत्ता के वर्णन-दिग्दर्शन की दृष्टि से शास्त्रकारों ने कहा है कि ईश्वर भी तप के ही प्रभाव से सृष्टि-रचना में समर्थ हुआ है-

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत् ।
गुहा प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्चत् ।।

-एतद्वैतत क० २ । १ । ६

अर्थात् उस परमेश्वर ने सर्वप्रथम तप किया । उस तप के श्रमस्वेद से जल उत्पन्न हुआ ।

सोऽकामयत् । बहुस्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत् । स तपस्त्वप्त्वा इद सर्वमसृजत यदिकिंच । सत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशित् ।

-तैत्तरीय ब्रह्मवल्ली ६

अर्थात् उस परमात्मा ने प्रकट होने की इच्छा की । उस हेतु तप किया । तप की शक्ति से जगत रचा और उसी में प्रविष्ट हो गया ।

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत् स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते । रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति । ४ ।

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत् सर्व यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिं । ५ ।

-प्रश्नोपनिषद् १ ।४ ।५

अर्थात् प्रजा उत्पन्न करने की कामना वाले प्रजापति ने तप किया । तप द्वारा प्राण और रयि ये दो तत्व उत्पन्न किये । संसार में जो मूर्तिमान हैं, वह प्राण हैं और जो अमूर्तिमान है वह रयि है ।

तपश्चचार प्रथममराणं पितामहः ।
आविर्भूतास्ततो वेदाः सांगोपांगपदक्रमाः ।।

-मत्स्य पुराण

अर्थात् सर्व प्रथम तो देवों के पितामह ने तप किया । तब सब वेदों का आविर्भाव हुआ, जो अपने अगं शास्त्र उपांग तथा पद एवं क्रम से संयुक्त थे ।

अथैष ज्ञानमयेन तपसा चीपमानोऽकामयत
बहुस्यां प्राजायेयेति । अथैतस्मात् तप्यमानात् सत्य-
कामात् भीण्यक्षराण्य जायन्त । तिस्रो व्याहृतय-
स्त्रिपदा गायत्री त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो वर्णा-
स्त्रयोऽनयश्च जायन्ते ।

-शाण्डिल्योपनिद् ३ ।१

ब्रह्म ने ज्ञानमय तप से वृद्धि प्राप्त की । तब एक से अनेक होने की इच्छा की और इस हेतु पुनः तप किया । तब तीन अक्षर, तीन आवृति, त्रिपदा गायत्री, तीन वेद, तीन देव, तीन वर्ण, तीन अग्नि प्रकट हुए ।

स्पष्ट है कि तप साधना ही शक्ति और सिद्धि का माध्यम एवं स्रोत है । ईश्वर द्वारा तप के ये वितरण स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य के लिए अभीष्ट उपलब्धियों का यही एकमात्र मार्ग है ।

दूध तपाया जाता है, तो मलाई और घी निकलता है । धातुएँ तपकर बहुमूल्य रसायन एवं भस्म बनती हैं । सामान्य अन्न तपाये जाने पर स्वादिष्ट आहार बनता है । कच्ची मिट्टी तपाने पर दृढ़ पाषाण बन जाती है । कच्चा लोहा पक कर इस्पात बनता है । स्वर्ण अग्नि संस्कार द्वारा आभामय हो जाता है ।

तपता हुआ सूर्य अपनी आत्मा और ऊष्मा से समस्त विश्व में प्राण वर्षा करता हुआ ग्रह-परिवार को अपने साथ बाँधे रहता है । हिमालय की बरफ तप कर गंगा यमुना का प्रवाह बनती है । खारा और भारी सागर जल तप कर हलके मीठे जल वाले बादल बन जाता और दूर-दूर की यात्राएँ करता है ।

व्यायामशाला में तपने वाला पहलवान, खेतों में तपस्या करने वाला किसान और पाठशाला का तपस्वी ही विद्वान् बनता है। मूर्तिकार का तप अनगढ़ पत्थर को प्रतिमा की और चित्रकार का तप फलक और रंग के अस्त-व्यस्त संयोग को चित्र की गरिमा देता है।

लौकिक जीवन हो या आध्यात्मिक, पुरुषार्थ, श्रम, साहस, मनोयोग ही प्रगतिशील बनाते हैं। तप ही सम्पूर्ण प्रगति का आधार है। देवताओं के वरदान तपस्वियों को ही सुलभ होते हैं। भिखारियों को नहीं। भारतीय धर्मशास्त्र व पुराण तप की महत्ता के वर्णनों से भरे पड़े हैं। ऐतिहासिक महामानावों, ऋषियों, तत्वदर्शियों, देवदूतों की प्रसिद्धि और सिद्धि का आधार तप का प्रकाश ही रहा है। मनुष्य की अन्तर्निहित दिव्य शक्तियाँ तपस्या द्वारा ही प्रकाशित होती हैं। समुद्र में भरे रत्न गोताखोर ही ढूँढ़ पा सकते हैं। कठोर पुरुषार्थ द्वारा समुद्र मंथन किया गया, तभी १४ रत्न प्राप्त हो सके। देवताओं को तप द्वारा ही गौरवशाली पद प्राप्त हुए। भौतिक उन्नति के लिए प्रचण्ड पुरुषार्थ, अखण्ड मनोयोग, अनवरत श्रम और असीम साहस की आवश्यकता है। आध्यात्मिक प्रगति के लिए तो और अधिक मूल्य चुकाना हीं पड़ता है। तप द्वारा ही आध्यात्मिक शक्तियाँ और सिद्धियाँ आज तक उपलब्ध होती आई हैं और भविष्य में भी वही एकमेव मार्ग रहने वाला है।

भृगु ने कहा- ब्रह्म का ज्ञान कराइये। तब वरुण बोले- तप के द्वारा ब्रह्म को जानों । तप ही ब्रह्म है। यह सुनकर भृगु तप करने चले गये।

अवीहि भगवो ब्रह्मेति । तं होवाच ब्रह्म विजि-सासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्तवा।

-तैत्तिरीय भृगुवल्ली

बीज तप कर वृक्ष बनता है, नर तप कर नारायण बनता है। पुरुष से पुरुषोत्तम और आत्मा से परमात्मा बनने का यही मार्ग है।

तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां पृच्छसि क्षत्रिय ।
तपसा वेदविद्वांसः परंत्वमृतमाप्नुयुः ।।

-महाभारत

अर्थात् हे राजन् ! तुम जिस तपस्या के विषय में मुझसे पूछ रहे हो, वही सारे जगत का मूल है। वेदवेत्ता विद्वान तप द्वारा ही परम अमृत को, मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

तपसा स्वर्गगमनं भोगो दानेन जायते ।
ज्ञानेन मोक्षो विज्ञेयस्तीर्थस्नानादघक्षयः ।।

-महाभारत

अर्थात् तप से स्वर्गलोक में जाने का सौभाग्य प्राप्त होता है। दान से भोगों की प्राप्ति होती है। ज्ञान से मोक्ष मिलता है तथा तीर्थस्थान से पापों का क्षय होता है।

मनु ने भी कहा है-

अभ्दिर्गात्राणि शुद्धयन्ति, मनः सत्येन शुद्धयति ।
विद्या तपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति ।।

अर्थात् शरीर जल से और मन सत्य से शुद्ध होता है। आत्मा विद्या एवं तप से शुद्ध होती हैं तथा बुद्धि ज्ञान से।

न विद्यया केवलया तपसा चाऽपि पात्रता ।
यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रम्प्रचक्षते ।।

-स्कन्द

अर्थात् न केवल विद्या से और न ही केवल तपश्चर्या से पात्रता हुआ करती है। जहाँ सच्चरित्रता है और ये दोनों (तप और विद्या) भी विद्यमान हैं, वही वस्तुतः पात्र है।

तपसा स्वर्गमवाप्नोति ।

-अत्रि

तप से ही स्वर्ग मिल सकता है।

तपस्विनः पूजनीयाः ।

-याज्ञवल्क

तपस्वी पूजीनय होते हैं।

चेत्युच्चतं एतदप्युक्त नातपस्कस्यात्मज्ञानेऽधिगमः
कर्मशुद्धिर्वेत्येवं ह्याह ।
तपसा प्राप्यते सत्वं सत्वात् संप्राप्यते मनः ।
मनसा प्राप्यते त्वत्मा, ह्यात्मापत्या निवतंते ।।

-मैत्रायण्युपनिषद् ४।३

अर्थात् तपश्चर्या बिना आत्मा में ध्यान नहीं लगता। न कर्म शुद्धि ही होती है। तप से सत्व प्राप्त होता है। सत्व (ज्ञान) से मन का निग्रह होता है। मन स्थिर होने पर आत्मा की प्राप्ति होती है और बन्धन छूट जाते हैं।

इसीलिए अथर्ववेद में कहा गया है-

अग्ने ! तपस्तप्यामहं
उपतप्यामहे तपः ।
श्रुतानि श्रृण्वन्तो वयम्
आयुष्मन्तः सुमेधरुः ।।

-अथर्व० ७।६२।२

हे अग्निदेव ! हम तप तपते रहें। प्रचण्ड तप से हम तपते रहें तथा सद्बुद्धि सम्पन्न और दीर्घजीवी बनें।

यदग्ने तपसा तप,
उपतप्यामहे तप ।
प्रियाः श्रुतस्या भूयास्मा,
इऽयुष्मन्तः सुमेधरुः ।।

-अथर्व० ७।६१।१

हे देव ! हम आपकी कृपा से तप करेगें । तीव्र तप करेंगे। विद्वान और तपस्वी होकर हम जिएँ।

ऋषीन्तपस्वतो यमतपोजां अभिगच्छतात् ।

-अथर्व० १८।२।१५

तप से उत्पन्न, तपश्चर्या करते हुए ऋषियों की शरण में जाओ।

भद्रमिच्छत् ऋषयः स्वविंदस्तपौ
दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं
तदस्यै देवा उपसनमन्तु ।।

-अथर्व० १९।४१।१

उन शिव-संकल्पी ऋषियों ने व्रतों में दीक्षित होकर तप का अनुष्ठान किया। इससे राष्ट्र का जन्म हुआ। तप द्वारा ही उन्होंने इस राष्ट्र में बल और ओज का विकास किया। आइये, तप के द्वारा हम सब भी इस सामर्थ्य का सम्बर्धन करें।

तपश्चर्या के बहिरगं कलेवर का प्रयोजन समझा जाना आवश्यक है। मात्र तप के लिए तप नहीं किया जाता। वैसा होने पर तो यह शारीरिक उत्पीड़न की मूर्खता मात्र ही मानी जायेगी। आत्मीपीड़न एक अपराध ही है। यदि लक्ष्य का ध्यान न रहे तो तप आत्मपीड़न ही कहे जायेंगे।

वस्तुतः तप साधना के बहिरंग उपचारों, व्यायामों का लक्ष्य है आदर्शवादी जीवन प्रक्रिया को सहज रीति से अपना सकने का अभ्यस्त बन जाना। नीति, न्याय से उपार्जित धन की मात्रा सीमित ही रहती है। आजीविका के निर्वाह के साथ ही उसी में से सत्प्रयोजनों हेतु भी एक अंश निकालना होता है। सीमित आजीविका और ऊपर से परमार्थ प्रयोजनों का अतिरिक्त भार ये दो कारण आदर्शवादी को प्रायः औरों की तुलना में आर्थिक दृष्टि से तगीं में ही रखते हैं। विलासिता का व्यसन तो अत्यधिक धन साध्य है। अनीतिपूर्वक उपार्जित कर निष्ठुर संकीर्णता के साथ उसे अपनी ही इन्द्रिय लिप्साओं को तुष्ट करने हेतु लगाने के लिए सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति ही विलासी रहन सहन के उपयुक्त होती है। अन्यथा उस हेतु पर्याप्त पूँजी जुट ही नहीं सकती। इसीलिए आदर्शवादी व्यक्ति को प्रारम्भ से ही मितव्ययिता एवं सादगी का अभ्यस्त होना पड़ता है। "सादा जीवन उच्च विचार" इसीलिए अध्यात्म का प्रथम सिद्धान्त माना गया है। पूर्वाभ्यास द्वारा मनोभूमि एवं शारीरिक स्थिति अनुकूल बन जाने पर आदर्शवादी को धारा के प्रतिकूल चलने पर उत्पन्न कठिनाइयाँ क्लेशकर नहीं प्रतीत होतीं। तपश्चर्या के अभ्यासों के प्रमुख प्रयोजनों में से यह भी एक है।

साथ ही लोकार्पित जीवन-दृष्टि सदा ही ओरों के प्रति भी सम्वेदनशील होती है तथा समाज की पीड़ा और पतन के प्रति उदासीन नहीं रहती। परमार्थ प्रयोजनों के लिए धन लगाना भी समय, पुरुषार्थ और श्रम लगाने के साथ-साथ जरूरी होता है। तपश्चर्या का उद्देश्य अपनी सीमित नीति-उपार्जित आजीविका का एक अंश सहज भाव से परमार्थ प्रयोजनों हेतु लगा सकने की मनोभूमि तैयार करना भी है।

व्रत, उपवास आदि का अभ्यास स्वल्प, सस्ते, सादे भोजन में ही सन्तुष्ट हो जाने की वृत्ति तो दृढ़ करता ही है, नमक, शक्कर, मसाले आदि की स्वादिष्टता के प्रति इन अभ्यासों के कारण आकर्षण न रह जाने पर इन्द्रिय लिप्सा को नियन्त्रित करने की भूमिका भी शुरू हो जाती है। अस्वाद व्रत, ब्रह्मचर्य व्रत में सहायक है। ब्रह्मचर्य का तप साधनाओं में विशिष्ट स्थान है। राई-रत्ती वासना का क्रमशः इतना विस्तार होता जाता है कि मनुष्य की सम्पूर्ण शक्ति उसी में व्यय होती जाती है, फिर भी तनिक भी सन्तोष प्राप्त नहीं हो पाता। कामुकता की प्रेरणा, पत्नी ढूँढ़ने की प्रेरणा बन जाती है। पत्नी, बच्चे और परिवार का आधार बमती है। बच्चों के उत्तरदायित्व गर्दन तोड़ कर रख देते हैं। अपनी शत प्रतिशत शक्ति इसी जंजाल में झोंकते रहने पर भी सन्तोष जनक स्थिति की परिवार व्यवस्था जुट नहीं पाती और अन्त में मनुष्य रोता-कल्पता इस संसार से एक गहरी विफलता की टीस मन में लिए विदा होता है। यदि कामुकता पर नियन्त्रण रखा जा सके, तो जीवन की उस अनन्त सम्पदा का स्वामी बना जा सकता है, जिसको आजीवन परिवार के कोल्हू में पीसते हुए एक-एक बूँद तेल निकालते हुए गृहस्थी का दीपक जलाये रहना होता है। यह सम्पदा आत्म-कल्याण एवं विश्व-कल्याण के लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक हो सकती

थी। ब्रह्मचर्य जैसे तप-अभ्यास यही महान प्रयोजन पूरा करते हैं।

वाणी-संयम का तप, समाज में सद्भाव वृद्धि और उसके द्वारा सत्प्रयोजन की पूर्ति में सहायक बनता है। मौन आदि का अभ्यास यही सफलता लाता है आत्मिक ऊर्जा का सञ्चय भी मौन का सत्यपरिणाम होता है।

निरुद्देश्य तप व्यर्थ होते हैं। शरीर को बलिष्ठ बनाने का लक्ष्य लेकर निर्धारित रीति व क्रम से व्यायाम करने पर अभीष्ट परिणाम होता है, किन्तु अत्युत्साह के आवेश में किन्हीं निश्चित व्यायाम, अभ्यासों को ही चमत्कारी मान बैठा जाए और सब कुछ भूलकर उन्हीं में जुट जाया जाए, तो शरीर का बलिष्ठ होना तो दूर, अनेक शारीरिक कष्ट अवश्य पैदा हो सकते हैं। व्यायाम मात्र शारीरिक बल की अर्जन-विधि नहीं है। आहार विहार, रहन-सहन का भी तद्नरूप होना जरूरीर है। ठीक यही भूल तप साधनाओं के अभ्यास में भी हो जाती है। किसी साधना-प्रक्रिया मात्र को चमत्कारी मान बैठने से लाभ तो सम्भव नहीं, समय-शक्ति और बुद्धि-विवेक का अपव्यय तथा क्षरण अवश्य होता है।

ब्रह्मचर्य, व्रत,उपवास, शीत जल स्नान, धूप-आतप सहना, धूनी तापना, नंगे पाँवों चलना, देर तक खड़े रहना, कठोर आसन लगाकर बैठना, कम सोना, सवारी का उपयोग न करके पैदल चलना, स्वल्प वस्त्र धारण करना, केश न कटाना, मौन रहना, भूमिशयन, नमक, शक्कर आदि के स्वादों का त्याग जैसे क्रिया-कलाप जो तप कहे जाते हैं, इन्हीं प्रयोजनों की पूर्ति के लिए हैं। इन उपचारों को करने वाले तपस्वी कहे जाते हैं। तपस्वी के प्रति सहज ठीक ही लोक श्रद्धा उमड़ती है। सुख-सुविधाओं के अधिकाधिक संरजाम जुटाने में संलग्न लोगों भीड़ में इनसे विरक्त रहकर स्वतन्त्र निर्णय शक्ति और प्रवाह के प्रतिकूल चलने की सामर्थ्य का परिचय देना स्वाभाविक ही आकर्षण और श्रद्धा का कारण बन जाता है।

लेकिन यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि निजी जीवन में इन तप-साधनाओं का बहिरंग अभ्यास मात्र विशेष उपयोगी नहीं। अपनी सम्पदाओं और विभूतियों का विस्तार करके उन्हें लोक-मंगल के लिए समर्पित करते हुए दृष्टि उद्यान को अधिक सुरम्य-समुन्नत बनाना ही मानवीय जीवन की सार्थकता है। कठोरताओं को सहन करने का अभ्यास मात्र पर्याप्त नहीं। इस अभ्यास के आधार पर लोक-जीवन में मनुष्य की सुख-लिप्सा तथा इन्द्रिय-लिप्सा की ही जो छवि प्रतिष्ठित है, उसे खण्डित कर त्याग, बलिदान की भावनाएँ प्रवाहित करने में सार्थकता है। तप-साधनाओं का यही प्रयोजन है और उनका स्मरण रखा जाना आवश्यक है।

उन लोगों का तो तप-साधना से कोई वास्ता ही नहीं माना जाना चाहिए, जो अपने पहाड़ जैसे परिग्रह में से राई-रत्ती दान करते रहने का प्रदर्शन करते रहते हैं अथवा अपनी निरंकुश विलासिता की निष्ठुर पशु-चेष्टाओं को अनदेखा बनाने के लिए छोटे-छोटे अनुष्ठानों में शारीरिक कष्ट सहने का प्रदर्शन करते रहते हैं। वस्तुत वे आत्म-प्रवचंक और ठग हैं। तपस्वी होने का तो प्रश्न ही नहीं।

तप-साधना से निखरा व्यक्ति अनिवार्य निर्वाह के अतिरिक्त अपनी समस्त सम्पत्तियों और विभूतियाँ लोक-कल्याण के लिए समर्पित कर देता है। यही प्रभु समर्पित जीवन है। ऐसा जीवन जीने वाला ही तपस्वी तथा देवोपम सिद्ध पुरुष कहलाने का अधिकारी है।

ईश्वर का अनुग्रह तपस्वी के लिए

श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कंध नवमें अध्याय में भगवान ने अपने निज रूप का परिचय देते हुए कहा है-
"तपो में हृदयं- साक्षादात्माहि तपसो हि वै।"

अर्थात- तप मेरा प्रत्यक्ष हृदय है और मैं भी तप का हृदय हूँ। दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं।

आगे इस तथ्य का और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं-

सृजामि तपसैर्वेदं ग्रसामि तपसा पुनः ।।
विमर्मि तपसा विश्वं वीर्य मे दुश्चरं तपः ।।

अर्थात- मैं इस समस्त विश्व को तप के सहारे उत्पन्न करता हूँ तप के द्वारा ही अन्त में इसे आत्म रूप में विलीन कर लेता हूँ। विश्व का परिपोषण मैं तपोबल से ही करता हूँ। मेरी अद्भुत सामर्थ्य तप में ही केन्द्रीभूत है।

श्रीमद्भागवत् के आगे विवरण में अग्नि, ब्रह्मा, वासु आदि देवताओं का उल्लेख है जिनके अपने लिए कर्त्तव्य और साधन सम्बन्धी प्रश्न पूछने पर परब्रह्म ने एक ही उत्तर दिया है कि 'तपं तपस्य' अर्थात् तप की तपस्या करो। इसी से शक्ति उत्पन्न होगी। शक्ति के बलबूते ही व्यक्तित्व प्रखर होता है। क्षमताओं का स्रोत

खुलता है और उसी के सहारे सहजता से कठिन काम सम्पन्न होते हैं। जो अशक्त है वह कल्पना अल्पना कुछ भी करता रहे पर पुरुषार्थ की क्षमता के अभाव में कुछ बन नहीं पड़ता। जिसका पुरुषार्थ शिथिल है उसकी क्षमता भी क्या दृष्टिगोचर होगी और सफलता का सुयोग भी कैसे बनेगा।

सृष्टा ने मनुष्य के भीतर विद्यमान देवता को अपना अंशधर होने के कारण समस्त क्षमताओं से सम्पन्न किया है, पर वे बीज रूप में प्रसुप्त स्तर में बनकर रहती है उनके प्रकटीकरण के लिए ऊर्जा की अनिवार्य आवश्यकता है। जलयान, थलयान, वायुयान कितने ही सुनियोजित बने हों, पर उन्हें गतिशील करने के लिए ऐसा ईंधन चाहिए, जो तद्नुरूप ऊर्जा उत्पन्न कर सके। यह सुयोग जैसे ही बनता है वैसे ही वे चलना आरम्भ कर देते हैं। कुशल संचालक उन्हें नियत दिशा में नियत गति से चलाते हुए यथा समय लक्ष्य तक पहुँचाते हैं। यदि ऊर्जा का प्रबन्ध न बन पड़े तो कुशल संचालक एवं त्रुटि विहीन वाहन एक जगह खड़े रहेंगे और वह न कर सकेंगे जो वे कह सकते हैं।

तप का तात्पर्य है- तपाना गरम करना। वह प्रक्रिया रगड़ से उत्पन्न होती है। रगड़ ही अथक और अनवरत श्रम को कहते हैं। समुद्र में अनादिकाल से विपुल सम्पदा भरी पड़ी थी। उससे लाभ लेना तो दूर कोई उससे परिचित तक न था। पर जब देव और दानवों ने मिलकर मंथन का प्रबल पुरुषार्थ किया तो एक से एक अद्भुत चौदह रत्न निकले। जिनके प्रकटीकरण से संसार का काया कल्प ही हो गया।

इसीलिए पुरुषार्थ को ही तप कहा गया है। यह मात्र श्रम भर से सम्पन्न नहीं होता उसके पीछे उच्च उद्देश्य और अटूट साहस एवं विश्वास भी जुड़ा रहना चाहिए। इस त्रिविध संयोग से ही 'तप' बनता है। अन्यथा निरुद्देश्य और उपेक्षापूर्वक श्रम करते रहने पर भी वैसा परिणाम नहीं निकलता जैसा कि तप का सम्भव होता है।

तप अर्थात् तपाना। व्यक्तित्व को तपाने के लिए जिस ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है वह प्रतिरोध से उत्पन्न होती है। सरलता और सुविधा सभी को प्रिय है। इस प्रकार का सुविधा सम्पन्न जीवन जीने से व्यक्ति ठण्डा पड़ता जाता है। उसे निष्क्रिय पड़े लौह खण्ड की तरह जंग खाने लगती है और उपयोगिता चली जाती है। शस्त्रों की धार तेज करने के लिए उन्हें पत्थर पर रगड़ते रहने की निरन्तर आवश्यकता पड़ती है। अन्यथा धार न रहने पर वे देखने दिखाने भर के उपयुक्त रह जाते हैं। प्रहार का चमत्कार नहीं दिखा पाते । मनुष्य को सुविधा सम्पन्न जीवनचर्या से विरत होकर ऐसी रीति-नीति अपनानी पड़ती हैं जिसमें कठिनाइयों से जूझना पड़े। तेजस् उत्पन्न करने का यही तरीका है।

विलासिता शरीर और मन दोनों को क्षीण करती है। असंयमी अपनी शक्ति के भण्डार को चुकाता जाता है और घुन लगी लकड़ी की तरह क्षीण हो जाता है। मन की इस लोलुपता से जो जूझता है और संयमशील जीवन में जिस निग्रह का परिचय देना पड़ता है उसे अपनाता है उसे अपना तेजस् मनोबल निखरता प्रतीत होता है। यही है वह पूँजी जिसके बलबूते कष्टसाध्य लगने वाले-कठिन दीखने वाले कार्यों का नियोजन सम्भव होता है। इसलिए व्यक्तिगत जीवन में इन्द्रियजन्य लिप्सा, लोलुपता से जूझने के लिए समर्थ बनने वालों को समुचित साहस करना पड़ता है। इतना ही नहीं ऐसे कामों में भी हाथ डालना पड़ता है जो केवल कष्ट साध्य होते हैं वरन् जोखिम भरे भी होते हैं।

संचित कुसंस्कारों की परतें चट्टान जैसी कठोर होती है। उन्हें तोड़े बिना पथरीली जमीन में कुआँ खोदना और शीतल जल प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं होता। भूमि से प्राप्त करते समय सभी धातुएँ कच्ची मिश्रित एवं अनगढ़ होती हैं उन्हें शुद्ध करने के लिए तीव्र तापमान वाली भट्टी में तपाना पड़ता है। इसके उपरान्त यदि उससे उपकरण या आभूषण बनाने हों तो दूसरी बार तपाने और उपयुक्त साँचे में ढालने की आवश्यकता होती है। यही बात मनुष्य के सम्बन्ध में भी है। उसे अनुपयुक्तता के विरुद्ध संघर्ष करना होता है। अपने अनगढ़ स्वाभाव के विरुद्ध तनकर खड़ा होना होता है। शिथिलता बरतने वाले लिप्साओं से छुट नहीं पाते और उस तेजस्विता की अर्जित नहीं कर सकते जो उच्चस्तरीय आदर्शवादी प्रयोजन पूरे करने के लिए प्रचुर परिमाण में आवश्यक होती हैं।

ईश्वर के अनुग्रह से सकल कामनाओं की पूर्ति की बात कही जाती है। वह ईश्वर तप ही है जो मनुष्य को उठाता, सशक्त बनाता, योग्यता प्रदान करता और कठिन कामों को सरल बनाते हुए असम्भव लगने वाले प्रयोजनों तक सम्भव बनाते हुए कृत कार्य बनाता है। नीचे कुछ

पाप नाशक एवं शक्तिवर्धक तपश्चर्यायँ की जा रहीं है जिनको अपने साधना क्रम में सम्मिलित रखना हर साधक के लिए अनिवार्य है।

पापनाशक और शक्तिवर्धक तपश्चर्याएँ

अग्नि की उष्णता से संसार के सभी पदार्थ जल, बदल या गल जाते हैं। वे कोई ऐसी वस्तु नहीं हैं, जिसमें अग्नि का संसर्ग होने पर भी परिवर्तन न होता हो। तपस्या की अग्नि भी ऐसी ही है। वह पापों के समूह को निश्चित रूप से गलाकर नरम कर देती है, बदल कर मनोभावना बना देती है अथवा जलाकर भस्म कर देती है।

जो प्रारब्ध-कर्म समय के परिपाक से प्रारब्ध और भवतव्यता बन चुके हैं, जिनका भोगा जाना अमिट रेखा की भाँति सुनिश्चित हो चुका है, कष्ट साध्य भोग, तपस्या की अग्नि के कारण गल कर नरम हो जाते हैं। उन्हें भोगना आसान हो जाता है। जो पाप परिणाम दो महीने तक भयकंर उदरशूल होकर प्रकट होने वाला था यह साधारण कब्ज बनकर दो महीने तक मामूली गड़बड़ करके आसानी से चला जाता है। जिस पाप के कारण हाथ या पैर कट जाते , भारी रक्तस्राव होने की सम्भावना थी, वह मामूली ठोकर लगने से या चाकू आदि चुभने से दस बीस बूँद खून बहकर निवृत्त हो जाता है। जन्म जन्मान्तरों के सञ्चित वे पाप जो कई-कई जन्मों तक भारी कष्ट देते रहने वाले थे, वे थोड़ी-थोड़ी चिह्न-पूजा के रूप में प्रकट होकर इसी जन्म में निवृत्त हो जाते हैं और मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग मुक्ति का अत्यन्त वैभवशाली जन्म मिलने का मार्ग साफ हो जाता है। देखा गया है कि तपस्वियों को इस जन्म में प्राय: कुछ असुविधाएँ रहती हैं। इसका कारण है कि जन्म-जन्मान्तरों के समस्त पाप-समूह का भुगतान इसी जन्म में होकर आगे का मार्ग साफ हो जाय इसलिए ईश्वरीय वरदान की तरह हलके फुलके कष्ट तपस्वियों को मिलते रहते हैं। यह पापों का गलना हुआ ।

बदलना इस प्रकार होता है कि पाप का फल जो सहना पड़ता है उसका स्वाद बड़ा स्वादिष्ट हो जाता है। धर्म के लिए, कर्त्तव्य के लिये, यश, कीर्ति और परोपकार के लिए जो कष्ट सहने पड़ते हैं, वे ऐसे ही हैं जैसे प्रसव पीड़ा। प्रसूता को प्रसवकाल में पीड़ा तो होती है, पर उसके साथ-साथ एक उल्लास भी रहता है। चन्द्र से मुख का सुन्दर बालक देख कर तो वह पीड़ा बिल्कुल भुलादी जाती है। राजा हरिश्चन्द्र, दधीचि, प्रहलाद, मोरध्वज आदि को जो कष्ट सहने पड़े, वे उनके लिये उस काल में भी उल्लासमय थे और अन्तत: अमरकीर्ति और सद्गति की दृष्टि से तो वे कष्ट उनके लिये सब प्रकार मगंलमय ही रहे। दान देने में जहाँ ऋणमुक्ति होती है वहाँ यश तथा शुभ गति की भी प्राप्ति होती है। तप द्वारा इस प्रकार 'उधार पट जाना और मेहमान जीम जाना' दो कार्य एक साथ हो जाते हैं।

जल जाना इस प्रकार का होता है कि जो पाप अभी प्रारब्ध नहीं बने हैं, भूल, अज्ञान या मजबूरी में हुए हैं, वे छोटे-मोटे अशुभ कर्म तप की अग्नि में जल-बलकर अपने आप भस्म हो जाते हैं। सूखे हुए घास-पात के ढेर को अग्नि की छोटी-सी चिनगारी जला डालती है, वैसे ही इस श्रेणी के पाप कर्म तपश्चर्या, प्रायश्चित्त और भविष्य में वैसा न करने के दृढ़ निश्चय से अपने आप नष्ट हो जाते हैं। प्रकाश के सम्मुख जिस प्रकार अन्धकार विलीन हो जाता है, वैसे ही तपस्वी अन्त:करण की प्रखर किरणों से पिछले कुसंस्कार नष्ट हो जाते हैं और साथ ही उन कुसंस्कारों की छाया, दुर्गन्धि, कष्टकारक परिणामों की घटा का भी अन्त हो जाता है।

तपश्चर्या से पूर्वकृत पापों का गलना, बदलना एवं जलना होता हो सो ऐसी बात नहीं है, तरन् तपस्वी में एक नई परम सात्विक अग्नि पैदा होती है। इस अग्नि को दैवी विद्युत शक्ति, आत्म-तेज, ब्रह्म-तेज, तपोबल आदि नामों से भी पुकारते हैं। इस बल से अन्त:करण में छिपी हुई सुप्त शक्तियाँ जागृत होती हैं, दिव्य सतोगुणों का विकास होता है। स्फूर्ति उत्साह, साहस, धैर्य, दूरदर्शिता, संयम सन्मार्ग में प्रवृत्ति आदि अनेकों गुणों की विशेषता प्रत्यक्ष परिलक्षित होने लगती है, कुसंस्कार, कुविचार, कुटेव, कुकर्म से छुटकारा पाने के लिये तपश्चर्या एक रामबाण अस्त्र है। प्राचीन काल में अनेकों देव-दानवों ने तपस्यायें करके मनोरथ पूरा करने वरदान पाये हैं।

घिसने की रगड़ से गर्मी पैदा होती है। अपने को तपस्या के पत्थर पर घिसने से आत्म-शक्ति का उद्भव होता है। समुद्र को मथने से चौदह रत्न मिले। दूध के मथने से घी निकलता है। काम मन्थन से प्राणधारी बालक की उत्पत्ति होती है। भूमि मन्थन से अन्न उपजता है। तपस्या द्वारा आत्म-मन्थन से उच्च आध्यात्मिक तत्वों की वृद्धि का लाभ प्राप्त होता है। पत्थर

पर घिसने से चाकू तेज होता है। अग्नि में तपाने से सोना निर्मल बनता है। तप से तपा हुआ मनुष्य भी पापमुक्त, तेजस्वी और विवेकवान् बन जाता है।

अपनी तपस्याओं में गायत्री तपस्या का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है।नीचे कुछ पाप- नाशिनी और ब्रह्मतेज- वर्द्धिनी तपश्चर्यायें बताई जाती हैं-

(१) अस्वाद तप

तप उन कष्टों को कहते हैं, जो अभ्यस्त वस्तुओं के अभाव में सहने पड़ते हैं। भोजन में नमक और मीठा या स्वाद की प्रधान वस्तुयें हैं। इनमें से एक भी वस्तु न डाली जाय तो वह भोजन स्वाद रहित होता है। प्राय: लोगों को स्वादिष्ट भोजन करने का अभ्यास होता है। इन दोनों स्वाद तत्वों को या इनमें से एक को छोड़ देने से जो भोजन बनता है, उसे सात्विक प्रकृति वाला ही कर सकता है। राजसिक प्रकृति वाले का मन उससे नहीं भरेगा। जैसे-जैसे स्वाद रहित भोजन में सन्तोष पैदा होता है, वैसे ही वैसे सात्विकता बढ़ती जाती है। सबसे प्रारम्भ में एक सप्ताह, एक मास या एक ॠतु के लिए इसका प्रयोग करना चाहिये। आरम्भ में बहुत लम्बे समय के लिए नहीं करना चाहिये। यह अस्वाद-तप हुआ।

(२) तितीक्षा तप

सर्दी या गर्मी के कारण शरीर को जो कष्ट होता है उसे थोड़ा-थोड़ा सहन करना चाहिये। जाड़े की ॠतु में धोती और दुपट्टा या कुर्ता दो वस्त्रों में गुज़ारा करना, रात को रुई का कपड़ा ओढ़कर कम्बल से काम चलाना, गरम पानी का प्रयोग न करके ताजे जल से स्नान करना, अग्नि पर न तपना, यह शीत सहन के तप हैं। पंखा, छाता और बर्फ का त्याग यह गर्मी की तपश्चर्या है।

(३) कर्षण तप

प्रात:काल एक-दो घण्टे रात रहे उठकर नित्यकर्म में लग जाना, अपने हाथ से बनाया भोजन करना, अपने लिये स्वयं जल भरकर लाना, अपने हाथ से वस्त्र धोना, अपने बर्तन स्वयं मलना आदि अपनी सेवा के काम दूसरों से कम से कम कराना। जूता न पहनकर खड़ाऊँ या चट्टी से काम चलाना। पलंग पर शयन न करके तख्त या भूमि पर शयन करना। धातु के बर्तन प्रयोग न करके पत्तल या हाथ भोजन करना, पशुओं की सवारी न करना, खादी पहनना, पैदल यात्रा करना आदि कर्षण तप हैं। इसमें प्रतिदिन शारीरिक सुविधाओं का त्याग और असुविधाओं को सहन करना पड़ता है।

(४) उपवास

गीता में उपवास को विषय विकार से निवृत्त करने वाला बताया गया है। एक समय अन्नहार और एक समय फलाहार आरम्भिक उपवास है। धीरे-धीरे इसकी कठोरता बढ़ानी चाहिये। दो समय फल, दूध, दही आदि का आहार इससे कठिन है। केवल दूध या छाछ पर रहना हो तो उसे कई बार सेवन किया जा सकता है। जल हर एक उपवास में कई बार अधिक मात्रा में बिना प्यास के भी पीना चाहिए। जो लोग उपवास में जल नहीं पीते या कम पीते हैं वे भारी भूल करते हैं। इससे पेट की अग्नि आँतों में पड़े मल को सुखाकर गाँठें बना देती हैं। इसीलिये उपवास में कई बार पानी पीना चाहिये। उसमें नींबू, सोड़ा, शक्कर मिला लिया जाय तो स्वास्थ्य और आत्म-शुद्धि के लिये और भी अच्छा है।

(५) गव्य कल्प तप

शरीर और मन के अनेक विकारों को दूर करने के लिए गव्यकल्प अभूतपूर्व है। राजा दिलीप जब निस्सन्तान रहे तो उन्होंने कुल गुरु के आश्रम में गौ चराने की तपस्या पत्नी सहित की थी। नन्दिनी गौ को वे चराते थे और गौ-रस का सेवन करके ही रहते थे। गाय का दूध, गाय का दही, गाय की छाछ, गाय का घी सेवन करना, गाय के गोबर के कण्डों से दूध गरम करना चाहिए। गौमूत्र की शरीर पर मालिश करके सिर में डालकर स्नान करना, चर्म, रोगों तथा रक्त-विकारों के लिये बड़ा लाभदायक है। गाय के शरीर से निकलने वाला तेज बड़ा सात्विक एवं बलदायक होता है, इसलिये गौ-चराने का भी बड़ा सूक्ष्म लाभ है। गौ के दूध, दही, घी, छाछ पर मनुष्य तीन मास निर्वाह करे तो उसके शरीर का एक प्रकार से कल्प हो जाता है।

(६) प्रदातव्य तप

अपने पास जो शक्ति हो उसमें से कम मात्रा में अपने लिये रखकर दूसरों को अधिक मात्रा में दान देना है। धनी आदमी धन का दान करते हैं। जो धनी नहीं हैं

वे अपने समय, बुद्धि ज्ञान, चातुर्य, सहयोग आदि को उधार दान देकर दूसरों को लाभ पहुँचा सकते हैं। शरीर का, मन का दान भी धन दान की ही भाँति महत्त्वपूर्ण है। अनीति उपार्जित धन का सबसे अच्छा प्रायश्चित यही है कि उसको सत्कार्य के लिये दान कर दिया जाय। समय का कुछ न कुछ भाग लोक सेवा के लिये लगाना आवश्यक है। दान देते समय पात्र और कार्य का ध्यान करना आवश्यक है। कुपात्र को दिया हुआ, अनुपयुक्त कर्म के लिये दिया गया दान व्यर्थ है। मनुष्येत्तर प्राणी भी दान के अधिकारी हैं। गौ, चींटी, चिड़ियाँ, कुत्ते आदि उपकारी जीव-जन्तुओं को भी अन्न-जल का दान देने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

स्वयं कष्ट सहकर, अभावग्रस्त रहकर भी दूसरों की उचित सहायता करना, उन्हें उन्नतिशील, सात्विक, सद्गुणी बनाने में सहायता करना, सुविधा देना दान का वास्तविक उद्देश्य है। दान प्रशंसा में धर्म-शास्त्रों का पन्ना-पन्ना भरा हुआ है।

उसके पुण्य के सम्बन्ध में अधिक क्या कहा जाय। वेद ने कहा है-"सौ हाथों से कमाये और हजारों हाथों से दान करे।"

(७) निष्कासन तप

अपनी बुराइयों और पापों को गुप्त रखने से मन भारी रहता है। पेट में मल भरा रहे तो उससे नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं, वैसे ही अपने पापों को छुपाकर रखा जाय तो यह गुप्तता रुके हुए मल की तरह गन्दगी और सड़न पैदा करने वाले समस्त मानसिक क्षेत्र को दूषित कर देती है। इसलिए कुछ ऐसे मित्र चुनने चाहिये जो काफी गम्भीर और विश्वस्त हों । उनसे अपनी पाप कथायें कह देनी चाहिए। अपनी कठिनाइयाँ, दुःख गाथायें, इच्छायें अनुभूतियाँ भी इसी प्रकार किन्हीं ऐसे लोगों से कहते रहना चाहिए, जो उतने उदार हों कि उन्हें सुनकर घृणा न करें और कभी विरोधी हो जाने पर उन्हें दूसरों पर प्रकट करके हानि न पहुँचावें। यह गुप्त बातों का प्रकटीकरण एक प्रकार का आध्यात्मिक जुलाब है जिससे मनोभूमि निर्मल होती है।

प्रायश्चितों में "दोष प्रकाशन" का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गौहत्या हो जाने का प्रायश्चित शास्त्रों ने यह बताया है कि मेरी गौ की पूँछ हाथ में लेकर एक-सौ गाँवों में वह व्यक्ति उच्च स्वर से चिल्लाकर यह कहे कि मुझसे गौ-हत्या हो गयी । इस दोष प्रकाशन से गौ-हत्या दोष छूट जाता है। जिसके साथ बुराई की हो उससे क्षमा माँगनी चाहिये, क्षतिपूर्ति करनी चाहिए और जिस प्रकार वह संतुष्ट हो सके वह करना चाहिये। यदि वह भी न हो तो कम से कम दोष प्रकाशन द्वारा अपनी अन्तरात्मा का एक भारी बोझ हल्का करना ही चाहिये। इस प्रकार के दोष प्रकाशन के लिए इस पुस्तक के लेखक को एक विश्वसनीय मित्र समझकर पत्र द्वारा अपने दोषों को लिखकर उनके प्रायश्चित तथा सुधार की सलाह प्रसन्नतापूर्वक ली जा सकती है।

(८) साधना तप

गायत्री का चौबीस हजार जप नौ दिन में पूरा करना, सवालक्ष जप चालीस दिन में पूरा करना, गायत्री यज्ञ, गायत्री की योग साधनायें, पुरश्चरण, पूजन, स्तोत्र पाठ आदि साधनाओं से पाप घटता है और पुण्य बढ़ता है। कम पढ़े लोग 'गायत्री- चालीसा' का पाठ नित्य करके अपनी गायत्री भक्ति को बढ़ा सकते हैं और इस महामन्त्र से बढ़ी हुई शक्ति के द्वारा तपो बल के अधिकारी बन सकते हैं।

(९) ब्रह्मचर्य तप

वीर्य रक्षा, मैथुन से बचना, काम विकार पर काबू रखना ब्रह्मचर्य व्रत है। मानसिक काम-सेवन शारीरिक काम सेवन की ही भाँति हानिकारक है। मन को काम क्रीड़ा की ओर न जाने देने का सबसे अच्छा उपाय उसे उच्च आध्यात्मिक एवं नैतिक विचारों में लगाये रहना है। बिना इसके ब्रह्मचर्य की रक्षा नहीं हो सकती । मन को ब्रह्म में- सत् तत्व में लगाये रहने से आत्मोन्नति भी होती है, धर्म-साधन भी और वीर्य रक्षा भी । इस प्रकार एक ही उपाय से तीन लाभ कराने वाला यह तप गायत्री-साधना करने वालों के लिए सब प्रकार उत्तम है।

(१०) चन्द्रायण तप

यह व्रत पूर्णमासी से प्रारम्भ किया जाता है। पूर्णमासी को अपनी जितनी पूर्ण खुराक हो, उसका सोलहवाँ भाग प्रतिदिन कम करते जाना चाहिए। जैसे अपना पूर्ण आहार एक सेर है तो प्रतिदिन एक छटाँक आहार कम करते जाना चाहिये। कृष्ण पक्ष का चन्द्रमा जैसे १-१ कला नित्य घटता है, वैसे ही १-१ षोडसांश

नित्य कम करते चलना चाहिए। अमावस्या और पड़वा को चन्द्रमा बिल्कुल दिखाई नहीं पड़ता। उन दो दिनों बिल्कुल भी आहार न लेना चाहिए। फिर शुक्लपक्ष की दौज को चन्द्रमा एक कला निकलता है और धीरे-धीरे बढ़ता है। वैसे ही १-१ षोडसांश बढ़ाते हुए पूर्णमासी तक पूर्ण आहार पर पहुँच जाना चाहिए। इस एक माँस में आहार-विहार का संयम, स्वाध्याय, सत्संग में प्रवृत्ति, सात्विक जीवनचर्या तथा गायत्री-साधना में उत्साहपूर्वक संलग्न रहना चाहिए।

अर्ध चन्द्रायण व्रत पन्द्रह दिन का होता है। उसमें भोजन का आठवाँ भाग आठ दिन कम करना और आठ दिन बढ़ाना होता है। आरम्भ में अर्ध चन्द्रायण ही करना चाहिए। जब एक बार सफलता मिल जावे तो पूर्ण चन्द्रायण के लिये कदम बढ़ाना चाहिए।

(११) मौन तप

मौन से शक्तियों का क्षरण रुकता है, आत्मा-बल का संयम होता है, दैवी तत्वों की वृद्धि होती है, चित्त की एकाग्रता बढ़ती है, शान्ति का प्रादुर्भाव होता है, बहिर्मुखी वृत्तियाँ अन्तमुर्खी होने से आत्मोन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है। प्रतिदिन या सप्ताह में अथवा माँस में कोई नियत समय मौन रहने के लिये निश्चित करना चाहिए। कई दिन या लगातार भी ऐसा व्रत रखा जा सकता है। अपनी स्थिति, रुचि और सुविधा के अनुसार मौन की अवधि निर्धारित करनी चाहिए। मौन काल का अधिकांश भाग एकान्त में, स्वाध्याय अथवा ब्रह्म चिन्तन में व्यतीत करना चाहिये।

मौन एक श्रेष्ठ तप साधना

वाणी और मस्तिष्क का सीधा सम्बन्ध है। मनुष्य जो भी कुछ सोचता और विचारता है, उसकी अभिव्यक्ति वाणी के माध्यम से करता है। भावनाएँ वाणी के द्वारा ही प्रकट होती हैं और अन्तराल की उत्कृष्टता- निकृष्टता का परिचय देती हैं। वासना, तृष्णा, अहंता आदि की ज्वालाएँ अन्दर ही अन्दर धधकती रहती हैं और जब-तब अवसर पाकर वाणी के माध्यम से बाहर फूट पड़ती हैं अथवा मानसिक शक्तियों को घुन की तरह चाटती-कुतरती रहती हैं। अध्यात्म साधनाओं में इसीलिए वाणी के संयम को मानसिक संयम के साथ सम्बद्ध रखा गया है और कहा गया है कि विचारणा, भावना और आकांक्षा पक्ष से मानसिक शक्तियों का क्षरण रोका जाय, पर अभिव्यक्ति पक्ष से वाक् संचय न किया जाय, तो शक्ति संचय की साधना अधूरी एवं एकांगी रह जायेगी। इसलिए मानसिक संयम के साथ-साथ वाणी का संयम भी अनिवार्य रूप से आवश्यक है। मौन साधना इसी की पूर्ति करती है।

मौन की गणना मानसिक तप के रूप में की गई है। गीताकार ने कहा है 'मन प्रसादः सौमत्व्यं मौनमात्म विनिग्रहः।' अर्थात् मनकी प्रसन्नता, सौम्य शालीनता, मौन मनोनिग्रह और विचारों की शुद्धि मानसिक तप कहे जाते हैं। इससे न केवल एकाग्रता सधती है, वरन् शक्ति का अपव्यय भी रुकता है मानसिक संयम साधने में मौन का असाधारण महत्त्व है। शास्त्रों में इसके अनेकानेक उदाहरण भरे पड़े हैं। महर्षि व्यास की वह कथा प्रसिद्ध है, जिसमें महाभारत जैसे विशाल ग्रन्थ की रचना कर लेने के पश्चात् उनने गणेश जी से लेखन कार्य पूरा न होने तक एक शब्द भी न बोलने का कारण पूछा था। प्रत्युत्तर में गणेश जी ने कहा था 'यदि मैं बीच-बीच में बोलता जाता, तो आपका यह कार्य न केवल कठिन हो जाता, वरन् एक भार ही बन जाता। महर्षि रमण के बारे में प्रसिद्ध है कि वे सर्वथा मौन रहते हुए भी आगन्तुकों की समस्याओं का समाधान कर देते थे। सभी पूर्ण सन्तुष्ट होकर जाते और अपने प्रश्नों के उत्तर मौन वाणी से ही प्राप्त कर लेते थे। तभी तो मनीषियों ने मौन को पवित्रतम् विचारों का मन्दिर कहा है।

शरीर-क्रिया विज्ञानियों का कहना है कि शरीर के जिन कार्यों में सर्वाधिक शक्ति खर्च होती है, वह वाणी ही है। इसके संयम का महत्त्व न समझने वालों की प्रायः यही मान्यता होती है कि बोलने में क्या लगता है ? उन्हें यह ज्ञात नहीं कि बोलने में कितनी अधिक मानसिक शक्ति खर्च होती है। एक घण्टे लगातार बोलने पर व्यक्ति इतना थक जाता है मानो चार घण्टे तक शारीरिक श्रम किया हो। कारण वायतंत्र का सीधा सम्बन्ध मस्तिष्क से है। अन्यान्य कार्य तो हाथ-पैर से भी किये जा सकते हैं और उन्हें करते समय ध्यान कहीं और भी रह सकता है, पर बोलते समय सारा ध्यान बोलने पर ही रखना पड़ता है। अन्यथा मुख से उच्चरित शब्द बकवास मात्र रह जाते हैं। अधिक बकवास मानसिक शक्तियों को नष्ट करती है, वरन् उससे आध्यात्मिक दृष्टि से भी हानियाँ ही हानियाँ होती हैं।

मनीषियों ने वाणी के अपव्यय को रोकना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी बताया है। मूर्धन्य मनोविज्ञान वेत्ताओं का कहना है कि मौन से विचार शक्ति बढ़ती है। सुविख्यात विचारक जेम्स एलन अपनी कृति "पॉवर्टी टु पीस" में कहते हैं कि समस्त शक्तियों में सर्वश्रेष्ठ शक्ति मौन की शक्ति है। जब वह उचित मार्ग में प्रयुक्त होती है, तो उन्नति एवं अभ्युदयकारक होती है, किन्तु दुरुपयोग होने पर विनाशकारी दुष्परिणाम प्रस्तुत करती है। भाप, विद्युत आदि शक्तियों का दुरुपयोग हो, तो अनर्थ ही खड़े करेंगी। विचार सम्पदा के बारे में भी यही बात है। वह संसार में सबसे अधिक शक्तिशाली शक्ति है। जिन्हें मन को वश में रखना एवं अपने आप पर नियंत्रण साधना हो, उन्हें नियमित रूप से कुछ समय के लिए मौन रहना चाहिए। एकाग्रता सम्पादन के लिए इससे बढ़कर कोई अन्य सरल उपाय है नहीं।

सामान्य जीवन में भी कार्य करते समय बोलने और मौन रहने का अन्तर समझा जा सकता है। जो व्यक्ति मौन रहते हैं, उनकी बुद्धि अपेक्षाकृत अधिक स्थिर तथा संतुलित रहती है। संतुलित विचारों वाला हानि-लाभ, हित-अनहित के प्रसंगों पर बड़े धैर्यपूर्वक सोच समझ सकता है। संकट या आपत्ति के समय मौन द्वारा प्रखर की हुई विचार शक्ति बड़ी सहायक सिद्ध होती है। कभी भी देखा जा सकता है कि जब मनुष्य किसी गहन प्रसंग पर सोचना चाहता है, तब वह एकान्त की तलाश करता है। न तो वह उस समय बोलता है और न किसी से बात ही करता है। बोलना और विचार करना दोनों क्रियाएँ एक साथ नहीं हो सकतीं। विचारक जितने गहरे मौन में उत्तरत्ता जाता है, समस्याओं का सार्थक हल खोज लाता है। महात्मा गाँधी को जब कभी किसी विकट समस्या पर विचार करना होता था, तब वे कई दिनों तक मौन व्रत धारण कर लिया करते थे। सप्ताह में एक दिन तो वे मौन रखते ही थे, उनका कहना था कि मौन से आत्मिक बल बढ़ता है। आत्मिक बल बढ़ाने वाले मौन के साथ और बातें भी जुड़ी होती हैं। मौन को उनने सर्वोत्तम भाषण बताया है और कहा है कि अगर बोलना ही पड़े, तो कम बोलना चाहिए। यदि एक शब्द से काम चल जाय, तो दूसरा मुँह से नहीं निकलना चहिए।

"क्राइस्ट इन साइलेंस" नामक कृति में सी० एफ० एण्ड्रूज कहते हैं कि महान व्यक्ति वही होते हैं, जो यह जान लेते हैं कि आध्यात्मिक शक्ति- भौतिक शक्ति से अधिक बलवान है। आत्मशक्ति को जाग्रत करने का सबसे अच्छा और सरल उपाय उनने कुछ समय के लिए मौन होकर ईश्वर प्रार्थना को बताया है। उनके अनुसार मौन की गुप्त शक्ति असीम है। वाणी का संयम तो इससे होता ही है, मानसिक शक्ति का अनावश्यक क्षरण रुकता और एकाग्रता बढ़ती है। उच्चस्तरीय विचार प्रवाह शांत-स्थिर मनः स्थिति में ही उठते और अभ्युदय का, प्रगति का आधार खड़ा करते हैं। मौन की महिमा का गान करते हुए इमर्सन कहते हैं "आओ हम चुप रहें, ताकि फरिश्तों के वार्तालाप सुन सकें।"

वस्तुतः मौन हृदय की भाषा है। मुँह से एक शब्द कहे बिना भी अपनी भाव-संवेदना व्यक्त की जा सकती है और जितना असर वाणी का होता है, उसमें कहीं अधिक प्रभाव वह उत्पन्न कर सकती है। सुप्रसिद्ध मनीषी एडवर्ड इवरेट हेल अपनी रचना में एक छोटी बालिका के सम्बन्ध में लिखते हैं कि वह पक्षियों और वन्य जीवों के साथ खेला करती थी और बीच-बीच में पास में बने मन्दिर में प्रार्थना करने के लिए दौड़ जाया करती थी। प्रार्थना करने के पश्चात् बिल्कुल शान्त होकर चुपचाप कुछ देर के लिए वहीं बैठी रहती। पूछने पर कारण बताते हुए कहती कि-'मैं' देर तक चुपचाप इसलिए बैठी रहती हूँ, ताकि यह सुन सकूँ कि ईश्वर मुझसे कुछ कहना तो नहीं चाहता।' शान्त और एकाग्र मन से ही उससे वार्तालाप संभव है। मौन रहकर ही अपने अन्तराल में उतरने वाले ईश्वर के दिव्य संदेशों प्रेरणाओं को सुना समझा जा सकता है।

मौन के अभ्यास से न केवल अनावश्यक बोलने की प्रकृति पर अंकुश रखने की क्षमता आ जाती है, वरन् उसके विकसित होने पर वाणी के संतुलन के अनेकानेक प्रयोग करने की स्थिति भी पैदा हो जाती है। अतः मनः संयम के साधक को मौन साधना का कुछ न कुछ क्रम बनाकर रखना ही चाहिए। मौन का अर्थ यह नहीं है कि मुँह से कुछ न बोलते हुए हाथ चलाने या लिखकर बातें करने का क्रम अपनाया जाय। उससे मौन साधना के सत्यपरिणाम प्राप्त नहीं होते । शब्दों का उच्चारण भले ही न किया जाता हो, पर बोलने की वृत्ति दूसरी तरह से व्यक्त होती रहे, तो जो शक्ति बोलने में खर्च होती थी, वह उस विषय में खर्च होने लगती है। ऐसी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाकर किया गया मौन ही असाधारण प्रतिफल प्रदान करता है। मौन का अर्थ आन्तरिक है। वाह्य

क्रियाओं का अपने ऊपर प्रभाव न होने देना, स्वयं को उनसे निरपेक्ष रखने का नाम मौन है। मौन द्वारा बहिर्मुखी दिशा में तथा विचार संयम द्वारा आन्तरिक दिशा में मानसिक शक्तियों का अपव्यय होने से रोक लिया जाय, तो फिर इन्द्रिय संयम आसान हो जाता है।

वाचालता पर अंकुश लगाने के लिए मौन साधना का अभ्यास उपयुक्त माना गया है। थोड़ा अभ्यास थोड़ा लाभ दे सकेगा यह सच है। जितना गुड़ डाला जाय उतना ही मीठा होता है। जितना दाम खर्चा जाय उतना ही सामान मिलता है। जितना बीज बोया जाय उसी अनुपात से फसल काटने और उतना ही कोठा भरने का अवसर मिलता है। मौन मात्र दो घण्टे रोज साधा जाय या सप्ताह में मात्र दो घण्टे का क्रम रखा जाय तो उतना प्रयास भी निरर्थक नहीं जाता है। वाणी का असंयम रुकने से जीवनी शक्ति के अपव्यय से होने वाली क्षति में कमी आती है। बचत से सम्पन्नता बढ़ती है और आड़े समय में काम आती है। मौन साधना की' यत्किंचित प्रयास भी हर किसी के लिये लाभदायक सिद्ध होता है। उससे जीवनी शक्ति का भण्डार बढ़ता चला जाता है। भले ही वह सीमित प्रयास के कारण स्वल्प मात्रा में ही उपलब्ध क्यों न हो ?

जिन्हें अवसर और आवश्यकता है, उन्हें मौन की अवधि भी बढ़ानी चाहिए और उसमें गम्भीरता भी लानी चाहिए। इस आधार पर मौन मात्र संयम ही नहीं रखता वरन् तपश्चर्या स्तर तक जा पहुँचता है और साधना से सिद्धि के सिद्धान्त को प्रत्यक्ष चरितार्थ कर दिखाता है।

सामान्यता मौन व्रत लेने वाले कुछ घण्टे जीभ को विराम देते हैं पर उनकी कल्पनाएँ इच्छाएँ उछलती ही रहती हैं। इसे उनकी भावभंगिमा को देखकर सहज जाना जा सकता है। मन की चंचलता शरीरगत चेष्टाओं से परिलक्षित होती है। अपना अभिप्राय संकेतों के माध्यम से प्रकट करते हुए उन्हें देखा जा सकता है। आँखें चारों ओर घूमती हैं। जिस-तिस वस्तु को देखने में अभिरुचि का होना स्पष्ट प्रकट होता है। शंका समाधान चलता रहता है। पूछने बताने का काम जीभ से तो नहीं होता, पर कागज कलम, स्लेट, पैन्सिल के माध्यम से वार्त्तालाप प्रायः वैसा ही चलता रहता है जैसा कि बिना मौन वाले अपना कथन-श्रवण चालू रखते हैं। मात्र जिव्हा को विराम मिलना भी किसी हद तक अच्छा तो है, पर उतने भर से वह लाभ नहीं मिलता जो मौन से तपश्चर्या के रूप में साधने पर हस्तगत होता है। इस अनुबंध में कल्पनाओं, कामनाओं, इच्छाओं और चेष्टाओं पर भी अंकुश लगाना पड़ता है। यह न किया जा सके तो मात्र जिव्हा को विराम देकर उसे थकने से बचाने का उपाय किया जाय। मन की चंचलता, इच्छा कामना, चेष्टा यथावत् बनी रहे तो वह मौन नहीं सधता उसे तपश्चर्या कहते हैं और उसके सहारे दिव्य वाणियाँ उभरतीं और अपने-अपने चमत्कार दिखाती हैं।

जिव्हा से उच्चरित होने वाली वाणी को "वैखरी" कहते हैं। इसमें मुँह बोलता है और कान सुनते हैं। मस्तिष्क उसका निष्कर्ष निकालता है। इसके उपरान्त तीन वाणियाँ और हैं। मध्यमा, परा और पश्यन्ती। मध्यमा में मन बोलता है उसका परिचय चहरे की भावभंगिमा से अंग संचालन पर आधारित संकेतों से समझा जा सकता है। परा अन्तःकरण से भाव संवेदनाओं के रूप में प्रकट होती है। उसे प्रसन्नता, खिन्नता, उदासी के रूप में क्रियान्वित होते देखा जाता है। इसका प्रभाव एक व्यक्ति से उठ कर दूसरे में प्रवेश करता है। इसके सहारे एक दूसरे के मस्तिष्क में प्रवेश करते हैं और उस सम्प्रेषण की प्रतिक्रिया बटोर कर प्रेषक के पास वापस लौटते हैं। इसे मौन वार्तालाप भी कह सकते हैं इसमें चेहरे को देखकर अन्तराल को समझने के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता।

पश्यन्ती विशुद्धतः आध्यात्मिक है। इसे देव वाणी भी कह सकते हैं। इसे आकाश वाणी, ब्रह्म वाणी भी कह सकते हैं। यह परा चेतना के साथ टकराती है और वापस लौट कर उन समाचारों को देती है जो अदृश्य जगत की विभिन्न क्रिया-प्रतिक्रियाओं के रूप में सक्रिय रहते हैं। इसे अदृश्य दर्शन भी कहते हैं। इसी माध्यम से देवतत्वों की परा चेतना के साथ सम्भाषण एवं आदान-प्रदान होता है।

ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होती हैं। उनमें देखने, सूंघने, सुनने, चखने, स्पर्श की सरसता अनुभव होती है। यह भौतिक रसास्वादन है। पर यदि इन पंच देवों को साधना द्वारा सिद्ध कर लिया जाय तो वे अतीन्द्रिय क्षमताओं के रूप में विकसित होती और अलौकिक अनुभूतियाँ प्रस्तुत करती हैं। दूरश्रवण, दूरदर्शन, भविष्य ज्ञान, जन्मान्तर बोध आदि का धनी बना जा सकता है। जिव्हा है तो एक पर वह दुहरा काम करती है। वह चखने के लिए रसना रूप में और बोलने

के लिए वाणी रूप में प्रयुक्त होती है इसे यदि मौन एवं अस्वाद के आधार पर दोनों रूपों में सिद्ध कर लिया जाय तो अन्तरंग, और बहिरंग स्तर की दुहरी विभूतियों का रसास्वादन किया जा सकता है।

जिव्हा की दूसरी सिद्धि है- शाप और वरदान देने की क्षमता। साधारण वाणी जानकारियाँ देने भर के लिए काम आती है, पर तप, भूत जिव्हा सत्पत्रों पर सत्परिणामों की वरदान रूप में वर्षा करती है। यदा-कदा ऐसा भी आवश्यक हो जाता है कि बढ़ते हुए अनाचार को रोकने थामने के लिए उनके मार्ग में अवरोध खड़ा किया जाय। अभिशाप इसी को कहते हैं। मौन साधना द्वारा साधित की हुई जिव्हा उपरोक्त सभी प्रयोजनों की पूर्ति करती है।

बहिर्मौन और अन्तर्मौन

प्रख्यात मौन वह जिसमें वाणी से बोलना बन्द कर दिया जाता है। आवश्यकता होने पर इशारों से या लिख कर अपना अभिप्राय प्रकट कर देते हैं। यह मौन साधना उनके लिए अच्छा है जिन्हें बहुत बोलने की शेखीखोरी की, गप्पबाजी करने निन्दा चुगली किये बिना चैन न पड़ने की आदत है। कई लोग पैरों को हिलाने, हाथों को मरोड़ते, बिना खुजली के खुजलाते रहते हैं। कुछ न कुछ किये बिना चैन नहीं पड़ता।

इन अनावश्यक हरकतों से शरीर की इन्द्रियों की सामर्थ्य क्षीण होती है। अनावश्यक रूप से हुए अपव्यय से खजाने खाली हो जाते हैं। फिर अंगों की क्षमता को अकारण नष्ट करने की आदत का तो बुरा प्रभाव होना ही चाहिए। इस कुटेव को छुड़ाने के लिए मौन साधना का महत्त्व है। विशेषतया जिव्हा का अवरोध तो इसलिए करना पड़ता है कि असत्य या अनावश्यक वचन न निकालने का अभ्यास हो जाय और वह भी उस स्तर तक पहुँच जाय कि किसी से कहे हुए वचन अपना प्रभाव छोड़ने लगें। उसे सत्परामर्श देकर उपयोगी मार्ग पर चला सकें। वक्तृता में इतनी क्षमता उत्पन्न हो जाय कि उसका प्रभाव आशाजनक पड़ने लगे। वह वाणी किस काम की, जिसका कथन कतरनी की तरह चलता रहे। वस्तुत: जो कुछ कहा जाय, वह शब्द वेधी वाण की तरह काम में आ सके, ऐसी वाणी हो। विश्राम पाने के उपरान्त कई शक्ति अर्जित होने की बात सर्वविदित है। थकान दूर करने हृदयाघात रक्तचाप आदि में डाक्टर अधिक समय विश्राम करने की बात कहते हैं। अत: जिव्हा को भी कुछ समय के लिए विश्राम दिया जाय तो उसकी कुटवें छुटती हैं और विश्राम के उपरान्त नये सिरे से कार्यरत होने पर उसे आवश्यक नया प्रशिक्षण भी आसानी से दिया जा सकता है।

पूजा प्रार्थना मन्त्रोचारण जप आदि जिव्हा के सहारे ही बन पड़ते हैं। यदि जिव्हा पवित्र न हो तो उससे मन्त्र शक्ति उत्पन्न नहीं होती न उसकी पुकार देवलोक तक पहुँचती है। शाप, वरदान देने जैसी क्षमता भी उत्पन्न नहीं होती। इसलिए शरीर स्नान करने से भी प्रथम मुख मार्जन करना पड़ता है। उपासनात्मक कर्मकाण्डों का शुभारम्भ आचमन से किया जाता है। कारण कि जिह्वा को पवित्र करने के उपरान्त ही दिव्य प्रयोजनों का बन पड़ना सम्भंव होता है। शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी इसी की प्रमुखता है। जो सवेरे स्नान नहीं कर सकते वे भी उठते ही कुल्ला तो करते हैं। जितनी बार भोजन किया जाता है उतनी बार भोजन के अन्त में कुल्ला करने आचमन करने की प्रथा है। शरीर के समस्त अंगों की तुलना में शुद्धिकरण का ध्यान मुख क्षेत्र में अधिकाधिक रक्खा जाता है। इससे पाचन तन्त्र की समूची नलिकाएँ प्रभावित होती हैं कितने ही व्यक्ति सवेरे उठकर एक गिलास पानी पीते हैं, इससे जिह्वा सहित पाचन तन्त्र की शुद्धता होती है और उष्णता उत्तेजना दूर होकर शान्ति का वातावरण बनता है।

अच्छा हो मौन साधने के अवसर पर आहार शुद्धि का भी ध्यान रक्खा जाय। जिव्हा को ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों ही माना गया है। भोजन प्रयोजन में वह कर्मेन्द्रिय रहती है और वार्त्तालाप में ज्ञानेन्द्रिय बन जाती हैं। उसकी द्विधा प्रक्रियाओं का परिशोधन करने के लिए आहार शुद्धि का ध्यान रखना भी नितान्त आवश्यक है।

उपवास में दूध-छाछ, रस, रसादि का प्रयोग किया जाय। इतना न बन पड़े तो शाकाहार, फलाहार का अवलम्बन लिया जा सकता है। अन्यथा अस्वाद व्रत तो निभाना ही चाहिए। शक्कर और नमक, मसाले छोड़ देने भर से अस्वाद व्रत निभ जाता है। जिह्वा शुद्धि के लिए पानी में नीबू डालकर उसके कुल्ले प्रात: मध्याह्न सायंकाल तो करने ही चाहिए।

यह बहिर्मौन की विधा हुई। इसके अतिरिक्त अन्तर्मौन अध्यात्म प्रयोजनों के लिए आवश्यक है। वहिर्मौन केवल ब्राह्य जीवन को प्रभावित करता है। इसीलिए उसे अपूर्ण माना गया है। अन्तर्जीवन और

बहिर्जीवन दोनों पक्षों को मिलाकर एक पूर्ण जीवन बनता है। दोनों को मिला देने पर ही समग्रता आती है।

जिस प्रकार बहिर्जीवन में हाथ-पैर इन्द्रियाँ और धड़ संस्थान के भीतरी अवयव काम करते हैं। उसी प्रकार अन्तरंग जीवन में विचार संस्थान की घुड़दौड़ चलती है। कल्पना, विचारणा, इच्छा आदि के चित्र, विचित्र उफान उठते रहते हैं। कामनाएँ और कल्पनाएँ दोनों ही परस्पर प्रतिस्पर्धा ठाने रहती हैं। इस धमा-चौकड़ी में न चित्त स्थिर हो पाता है और न ध्यान धारण का क्रम बनता है। उच्च विचारों को प्रवेश करने की भी उसमें गुजांइश नहीं रहती। न अध्यवसाय के लिए क्रम बनता है न निदिध्यासन के लिए। ऐसी दशा में भगवत भक्ति का सुयोग बने ही कैसे? ब्रह्मरन्ध्र और सहस्त्रार कमल का जागरण भी इस स्थिति में सम्भव नहीं और न कुण्डलिनी जागरण, षटचक्र बेधन, पंचकोशें का उत्थान जैसी महती साधना के लिए मार्ग ही बनता है। मेले-ठेले की घिच-पिच में रास्ता चलना तक दूभर हो जाता है। एक दूसरे को धकेलते हुए ही आगे बढ़ते हैं। उस माहौल में कहीं शान्त चित्त बैठना जैसा कृत्य तो बन ही नहीं पड़ता। इसलिए यह भी आवश्यक है कि अन्तर्मौन का अभ्यास किया जाय। जिस प्रकार जीभ से हर समय बोलते और खाते रहने से वह चंचल लोलुप और अस्त व्यस्त होती है उसी प्रकार मनःक्षेत्र में अनेक प्रकार की विचारणाएँ उठते रहने पर भी यही होता है। अध्यात्म क्षेत्र की समस्त धाराएँ विलीन करके एक केन्द्र पर ध्यान एकत्रित करना पड़ता है। इस स्थिति को निर्विचार कहते हैं। कहा जाता है कि मस्तिष्क को निर्विचार करना चाहिए। तब अन्तर्मौन बनता है। पर यह कहने में जितना सरल है उतना करने में नहीं। यह समाधिवस्था है जिसमें कोई भी विचार मन में नहीं रहता। तब भी हृदयस्थ आत्मज्योति में अथवा ब्रह्माण्ड मध्य ब्रह्मरन्ध्र के लिए करना पड़ता है। अन्यथा खुली छूट रहने पर तो वह एक स्थान पर टिकेगा नहीं। यदि रामायण पढ़ी जाय तो उसका कथानक कभी कहीं से, कभी कहीं से याद आता रहेगा। उस समय की परिस्थिति अथवा कथोपकथन मस्तिष्क में घूमता रहेगा। यही बात स्त्रोत पाठ आदि के सम्बन्ध में भी है। इसमें इष्टदेव की जैसी आकृति-प्रकृति है वह भी मस्तिष्क में घूमती रहेगी विचार चाहे देवताओं के हों या अवतारों के हों, इतिहास के हों और अपना सुझाव विचार मन में आते ही रहेगें। तब विचारहीन स्थिति बन नहीं पड़ेगी और अन्तर्मौन सधेगा नहीं। इसलिए अपने आपको महाप्रलय की स्थिति में शिव ताण्डव करते हुए अथवा आकाश में सूर्यव्रत् एकाकी चमकते रहने का ध्यान करना चाहिए और साथ ही यह धारण भी करनी चाहिए कि महाप्रलय की स्थिति में संसार में कहीं कोई प्राणी या पदार्थ नहीं है। सर्वत्र महाशून्य की निस्तब्धता छाई हुई है जब कोई पदार्थ कहीं है ही नहीं यह मान्यता बनी तो फिर मन को आश्रय लेने का कोई क्षेत्र सीमित नहीं रह जाता। तब वह एकाकी स्थिति में अपने आपमें ही लय होता है। तब सूर्य का प्रकाश, शिव ताण्डव, इसके लिए उपयुक्त आधार बनते हैं। यह बात आत्म- ज्योति से ब्रह्म रन्ध्र में अपने आपको लय करने से भी बनती है। पर अपनी काया का विस्मरण करना पड़ता है। साथ ही शरीर और मस्तिष्क के कलेवर को विस्मरण कर देना चाहिए। यदि काया का स्मरण बना रहा तो मन को उस अयवयों के विखरने की आशंका रहेगी। इस प्रकार वाणी का संयम करने के लिए हर साधक को वाह्य और अंतर्मौन की तप साधना कुछ घंटे की नित्यप्रति करनी चाहिए। आत्मबल संवर्धन की यह सर्वश्रेष्ठ साधना है।

(१२) अर्जन तप

विद्याध्ययन, शिल्प-शिक्षा, देशाटन, मल्लविद्या, संगीत आदि किसी भी प्रकार की उत्पादक, उपयोगी शिक्षा प्राप्त करके अपनी शक्ति, योग्यता, क्षमता, क्रियाशीलता, उपयोगिता बढ़ाना अर्जन तप है। विद्यार्थी को कष्ट उठाना पड़ता है, जिस प्रकार मन मारना पड़ता है और सुविधाएँ छोड़कर कठिनाई से भरा कार्यक्रम अपनाना पड़ता है, वह तप का लक्षण है केवल बचपन में ही नहीं, वृद्धवस्था और मृत्यु पर्यन्त किसी न किसी रूप में सदैव अर्जन तप करते रहने का प्रयत्न रहना चाहिए। साल में थोड़ा सा समय तो अवश्य ही इस तपस्या में लगाना चाहिये, जिससे अपनी तपस्याएँ बढ़ती चलें और उनके द्वारा अधिक लोक-सेवा करना सम्भव हो सके।

सूर्य की बारह राशियाँ होती हैं। गायत्री के यह बारह तप हैं। इनमें से जो तप, जब, जिस प्रकार सम्भव हो अपनी स्थिति, रुचि और सुविधा के अनुसार अपनाते रहना चाहिये। ऐसा भी हो सकता है कि वर्ष के बारह महीने में एक-एक महीना एक-एक तप करके एक वर्ष पूरा तप-वर्ष बिताया जाय।

सातवें निष्कासन तप में एक दो बार विश्वस्त मित्रों के सामने प्रकटीकरण हो सकता है। नित्य तो अपनी डायरी में एक माँस तक अपनी बुराइयाँ लिखते रहना चाहिए और उन्हें पथ-प्रदर्शक को दिखाना चाहिए। यह क्रम अधिक दिन लागू रखा जाय तो और भी उत्तम है। महात्मा गाँधी सावरमती आश्रम में अपने आश्रमवासियों की डायरी बड़े गौर से जाँचा करते थे।

अन्य तपों में प्रत्येक को प्रयोग करने के लिये अनेकों रीतियाँ हो सकती हैं। उन्हें थोड़ी-थोड़ी अवधि के लिये निर्धारित करके अपना अभ्यास और साहस बढ़ाना चाहिए। आरम्भ में थोड़ा और सरल तप अपनाने से पीछे दीर्घकाल तक और कठिन कष्टसाध्य साधन करना भी सुलभ हो जाता है।

प्राणमय कोश का अनावरण

प्राणमय कोश और उसका विकास

प्राणमय कोश आत्मा पर चढ़ा हुआ दूसरा आवरण है। अन्नमय कलेवर खाने-सोने, काम करने जैसे प्रयोजन पूरे करता है। इसके भीतर जो ऊर्जा, स्फूर्ति, उमंग काम करती है वह प्राण है। प्राण से ही शरीर चलता और जीवित रहता है। जिसका यह कोश जितना समर्थ है वह उतना ही प्रतापी, पराक्रमी, शूर, साहसी प्रतीत होगा। उसका बढ़ा-चढ़ा चुम्बकत्व दूसरों का सहयोग, सद्भाव अनायास ही आकर्षित करता रहेगा। ओजस्वी, तेजस्वी, मनस्वी व्यक्तियों में यही प्राण प्रखरता आलोकित रहती है।

स्थूल अन्नमय कोश के कण-कण में प्राण ऊर्जा संव्याप्त है, पर उसका केन्द्र संस्थान प्रवेश द्वार जननेन्द्रिय मूल में अवस्थित मूलाधार चक्र है। इसकी उमंगें कामेच्छा के रूप में मन को और रति कर्म की ललक बनकर शरीर को उत्तेजित करती रहती है। इसी केन्द्र के रस-रज वीर्य के अन्तर्गत छोटे-छोटे कीटाणुओं में समूचे मनुष्य की आकृति-प्रकृति बीज रूप में विद्यमान रहती है। सरसता की विविध-विधि उमंगें यहीं से उठती हैं। कला केन्द्र इसी को कहा जाता है। सौन्दर्य बोध से लेकर उल्लास भरे भविष्य की आशा यहीं से निसृत होती है। डार्विन के अनुसार विकासवाद के मूल तत्व कामुकता के विविध रूपों में प्राणी को प्रेरित प्रभावित करते हैं। निस्तेज, निरुत्साही व्यक्ति को 'नपुंसक' कहा जाता है यह एक गाली है। जिसका अर्थ मनुष्य को नीरस निराश बनकर रहना होता है।

भारतीय तत्व दर्शन के अनुसार मनुष्य की स्थूल काया में व्याप्त उसी के अनुरूप एक प्राण शरीर भी होता है। इस प्राण शरीर को शरीरस्थ प्राण संस्थान को योगियों ने प्राणमय कोश कहा है। न केवल इसके अस्तित्व का वरन् इसके क्रियाकलापों, गुण, धर्मों तथा प्रभावों आदि विशेषताओं का वर्णन भी भारतीय ग्रन्थों में विस्तार से मिलता है। इस मान्यता को स्थूल विज्ञान बहुत दिनों से झुठलाता रहा है किन्तु जैसे-जैसे शरीर विज्ञान के संदर्भ में जानकारियाँ बढ़ती जा रही हैं, वैसे-वैसे प्राण संस्थान के प्राणमय कोश के अस्तित्व को एक सुनिश्चित तथ्य के रूप में स्वीकार किया जाने लगा है।

अब इस सूक्ष्म सत्ता के प्रभाव भौतिक विज्ञान के स्थूल उपकरणों की पकड़ में भी आने लगे हैं। रूस के इलेक्ट्रॉनिक विज्ञान वेत्ता सेम्योन किर्लियान ने एक ऐसी फोटोग्राफी का आविष्कार किया जो मनुष्य के इर्द-गिर्द होने वाली विद्युतीय हलचलों का भी छायांकन करती है। इससे प्रतीत होता है कि स्थूल शरीर के साथ-साथ सूक्ष्म शरीर की भी सत्ता विद्यमान है और वह ऐसे पदार्थों से बनी है जो इलेक्ट्रॉनों से बने ठोस पदार्थ की अपेक्षा भिन्न स्तर की है और अधिक गतिशील भी।

इंग्लैण्ड के डा० किलनर एक बार अस्पताल में रोगियों का परीक्षण कर रहे थे। एक मरणासन्न रोगी की जाँच करते समय उन्होंने देखा कि उनकी दुर्बीन (माइक्रोस्कोप) के शीशे पर एक विचित्र प्रकार के रंगीन प्रकाश कण जम गए हैं जो आज तक कभी भी देखे नहीं गए थे। दूसरे दिन उसी रोगी के कपड़े उतरवा कर जाँच करते समय डा० किलनर फिर चौंके उन्होंने देखा जो प्रकाश कण दिखाई दिया था, आज वह लहरों के रूप में माइक्रोस्कोप के शीशे के सामने उड़ रहा है। रोगी के शरीर के चारों ओर छः-सात इन्च परिधि में यह प्रकाश फैला है, उसमें कई दुर्लभ रासायनिक तत्वों के प्रकाश कण भी थे। उन्होंने देखा जब प्रकाश मन्द पड़ता है तब तक उसके शरीर और नाड़ी की गति में शिथिलता आ जाती है। थोड़ी देर बाद एकाएक प्रकाश पुंज विलुप्त हो गया। अब की बार जब उन्होंने नाड़ी पर हाथ रखा तो पाया कि उसकी मृत्यु हो गई। इस घटना को कई पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराने के साथ-साथ डा० किलनर ने विश्वास व्यक्त किया कि जिस द्रव्य में जीवन के मौलिक गुण विद्यमान होते हैं वह पदार्थ से प्रथम अति सूक्ष्म सत्ता है। उसका विनाश होता हो ऐसा सम्भव नहीं है।

प्राण तत्व को एक चेतन ऊजा (लाइव एनर्जी) कहा गया है। भौतिक विज्ञान के अनुसार एनर्जी के छ: प्रकार माने जाते हैं- १. ताप (हीट) २. प्रकाश (लाइट) ३. चुम्बकीय (मैगनैटिक)४. विद्युत (इलैक्ट्रिसिटी) ५. ध्वनि (साउण्ड) ६. घर्षण (फ्रिक्शन) अथवा यान्त्रिक (मैकेनिकल)। इस प्रकार की एनर्जी को किसी भी दूसरे प्रकार की एनर्जी में बदला भी जा सकता है। शरीरस्थ चेतना क्षमता-लाइव एनर्जी इन विज्ञान सम्मत प्रकारों से भिन्न होते हुए भी उनके माध्यम से जानी समझी जा सकती है।

एनर्जी के बारे में वैज्ञानिक मान्यता है कि वह नष्ट नहीं होती बल्कि उसका केवल रूपान्तरण होता है। यह भी माना जाता है कि एनर्जी किसी भी स्थूल पदार्थ से सम्बद्ध रह सकती है, फिर भी उसका अस्तित्व उसमें भिन्न है और वह एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में स्थानान्तरित (ट्रान्सफर) की जा सकती है। प्राण के सन्दर्भ में भी भारतीय दृष्टाओं का यही कथन है। अब तो पाश्चात्य वैज्ञानिक भी इसे स्वीकार करने लगे हैं।

इस संदर्भ में प्रकाश के बल्ब के आविष्कर्त्ता टामस एडिसन ने अत्यन्त बोधगम्य प्रकाश डालते हुए लिखा है-"प्राणी की सत्ता उच्चस्तरीय विद्युत-कण गुच्छकों के रूप में तब भी बनी रहती है जब वह शरीर से पृथक् हो जाती है। मृत्यु के उपरान्त यह गुच्छक विधिवत् तो नहीं होते, पर वे परस्पर सम्बद्ध बने रहते हैं। यह बिखरते नहीं, वरन् आकाश में भ्रमण करते रहने के उपरान्त पुन: जीवन चक्र में प्रवेश करते हैं और नया जन्म धारण करते हैं। इनकी बनावट बहुत कुछ मधुमक्खी के छत्ते की तरह होती है। पुराना छत्ता वे एक साथ छोड़ती हैं और नया छत्ता एक साथ बनाती हैं। इसी प्रकार उच्चस्तरीय विद्युत कणों के गुच्छक अपने साथ स्थूल शरीर की सामग्री अपनी आस्थाओं और सम्वेदनाओं के साथ लेकर जन्मने-मरने पर भी अमर बने रहते हैं।"

इन प्रमाणों से शरीर में अन्नमय कोश से सम्बद्ध किन्तु एक स्वतंत्र अस्तित्व सम्पन्न प्राणमय कोश का होना स्वीकार करना ही पड़ता है। यों भी शरीर में विज्ञान सम्मत ताप आदि छहों प्रकार की एनर्जी ऊर्जा के प्रमाण पाये जाते हैं, किन्तु सारे शरीर में संव्याप्त प्राणमय कोश का स्वरूप सबसे अधिक स्पष्टता से जैवीय विद्युत (बायो इलैक्ट्रिसिटी) के रूप में समझा जा सकता है।

शरीर विज्ञान में अब कायिक विद्युत पर पर्याप्त शोधें हो रही हैं। शरीर में कुछ केन्द्र तो निर्विवाद रूप से विद्युत उत्पादक केन्द्रों के रूप में स्वीकार कर लिए गये हैं। उनमें प्रधान हैं-मस्तिष्क, हृदय तथा नेत्र। मस्तिष्क में विद्युत उत्पादन केन्द्र को वैज्ञानिक 'रैटिकुलर एक्टिवेटिंग सिस्टम' कहते हैं। मस्तिष्क के मध्य भाग की गहराइयों में स्थित कुछ मस्तिष्कीय अवयवों में से विद्युत स्पंदन (इलैक्ट्रिक इम्पल्स) पैदा होते रहते हैं तथा सारे मस्तिष्क में फैलते जाते हैं। यह विद्युतीय आवेश ही मस्तिष्क से विभिन्न केन्द्रों को संचालित तथा परस्पर सम्बन्धित रखते हैं। चिकित्सा विज्ञान में प्रयुक्त मस्तिष्कीय विद्युत मापक यंत्र (इलैक्ट्रो एन्कैफलोग्राफ) ई० ई० जी० द्वारा मस्तिष्कीय विद्युत धाराओं को नापा जाता है। उन्हीं के आधार पर मस्तिष्क एवं सिर से सम्बन्धित रोगों के बारे में निर्धारण किया जाता है। सिर में विभिन्न स्थानों पर यंत्र के रज्जु (कार्ड) लगाये जाते हैं। उनसे नापे गये विद्युत विभव (पोटैंशल) का योग लगभग १ मिली वोल्ट आता है।

हृदय के संचालन में लगभग २० तार शक्ति विद्युत की आवश्यकता पड़ती है। यह विद्युत हृदय में ही पैदा होती है। हृदय में जिस क्षेत्र से विद्युत स्पंदन पैदा होते हैं उसे 'पेस मेकर' कहते हैं। यह विद्युत स्पंदन पैदा होते ही लगभग ०.८ सैकिण्ड में एक विकसित मनुष्य के सारे हृदय में फैल जाते हैं। इतने ही समय में हृदय अपनी धड़कन पूरी करता है। हृदय की धड़कन के कारण तथा नियन्त्रक यही विद्युत स्पंदन होते हैं। इन विद्युत स्पंदनों का प्रभाव ई० सी० जी० (इलैक्ट्रो कार्डियोग्राफ) नामक यंत्र पर अंकित होते हैं। हृदय रोगों से निर्धारण के लिए इन विद्युत स्पन्दनों को ही आधार मान कर चला जाता है।

नेत्रों में भी वैज्ञानिकों के मतानुसार फोटो इलैक्ट्रिक सैल जैसी व्यवस्था है। फोटो इलैक्ट्रिक सैल की विशेषता यह होती है कि वह प्रकाश को विद्युत तरंगों में बदल देता है। नेत्रों में भी इसी पद्धति से विद्युत उत्पादन की क्षमता वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। नेत्र रोगों के निर्धारण वर्गीकरण के लिए नेत्रों में

उत्पन्न विद्युत स्पन्दनों की ई० आर० ज़ी० (इलैक्ट्रो रैटिनोग्राफ) यंत्र पर अंकित किया जाता है।

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि शरीरस्थ कुछ केन्द्रों में विद्युतीय स्पंदनों के उत्पादन के साथ-साथ सारे शरीर में उनका संचार भी होता है। ई० ई० जी० द्वारा सिर के हर हिस्से में मस्तिष्कीय विद्युत के स्पंदन रिकार्ड किये जाते हैं। यही नहीं बहुत बार तो उनका प्रभाव गर्दन से नीचे वाले अवयवों से भी स्पष्टता से मिलता है। हृदय की विद्युत का प्रभाव तो ई० सी० जी० यंत्र द्वारा पैर के टखनों तक पर रिकार्ड किया जाता है। हृदय के निकटतम तथा दूरतम सभी अंगों में यह स्पंदन समान रूप से शक्तिशाली पाये जाते हैं।

शरीरस्थ प्राण प्रवाह के माध्यम से रोगों के निदान पर चिकित्सा शास्त्रियों का विश्वास दृढ़ हो गया है। मांसपेशियों की निष्क्रियता तथा स्नायु संस्थान के रोगों में भी प्राणांकन पद्धति प्रयुक्त की जाती है। इसके लिए ई० एम० जी० (इलैक्ट्रो मायोग्राफ) का प्रयोग होता है। शरीर के हर क्षेत्र के स्नायुओं अथवा मांसपेशियों में विद्युतीय ऊर्जा की उपस्थिति तथा सक्रियता का यह स्पष्ट प्रमाण है। यहाँ तक कि शरीर की त्वचा जैसी पतली पर्त में भी उसकी अपने ढंग की विद्युत विद्यमान है। चिकित्सा शास्त्री त्वचा के परीक्षण में भी त्वक विद्युतीय प्रतिक्रिया (गैल्वानिक स्किनरिस्पॉन्स) पद्धति का प्रयोग करते हैं।

इन वैज्ञानिक प्रमाणों के अतिरिक्त सामान्य व्यावहारिक जीवन में भी मस्तिष्क से लेकर त्वचा तन में विद्युत संवेगों की क्षमता के प्रमाण मिलते रहते हैं। किसी व्यक्ति विशेष के प्रति आकर्षण तथा किसी के प्रति विकर्षण, यह शरीरस्थ विद्युत की समानता, भिन्नता की ही प्रति प्रतिक्रियाएँ हैं। दो मित्रों के परस्पर एक दूसरे को देखने, स्पर्श करने में विद्युतीय आदान-प्रदान होता है। योगी तो स्पर्श से अपनी विद्युत का दूसरे व्यक्ति के शरीर में प्रवेश संकल्प शक्ति के सहारे विशेष रूप से कर सकते हैं, किन्तु सामान्य स्पर्श से भी शरीरस्थ विद्युत का आंशिक आदान-प्रदान होता रहता है। स्पर्श, सहलाने, हाथ मिलाने, गले मिलने आदि से जो स्पंदन अनुभव किये जाते हैं वे विद्युतीय आवेगों के आदान-प्रदान के फलस्वरूप ही होते हैं, वैज्ञानिक भी इस तथ्य को अब स्वीकार करने लगे हैं।

विद्युतीय आवेगों के केन्द्र संस्थान को भारतीय योग विद्या के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो उसे प्राणमय कोश ही कहना पड़ेगा। प्राणमय कोश का स्पंदन विद्युतीय आवेग, प्राण ही जीवन का सार तत्व है। यह प्राण ही प्रगति का आधार है। समृद्धि उसी के मूल्य पर खरीदी जाती है। सिद्धियों और विभूतियों का उद्‌गम स्रोत वही है। यह प्राणतत्व अपने भीतर प्रचुर परिमाण में भरा पड़ा है। उसका चुम्बकत्व बढ़ा देने से विश्व प्राण में भी उसे अभीष्ट मात्रा में उपलब्ध और धारण किया जा सकता है। मानवी सत्ता में सन्निहित इस प्राण भंडार को प्राणमय कोश कहते हैं। सामान्यतया यह प्रसुप्त स्थिति में पड़ा रहता है और उससे शरीर निर्वाह भर के काम हो पाते हैं। उसे साधना विज्ञान के आधार पर जागृत किया जा सके तो सामान्य में से असामान्य प्रकटीकरण हो सकता है। प्राण की क्षमता असीम है। प्राण साधना से इस असीमता की दिशा में बढ़ चलना-प्रचुर सशक्तता प्राप्त कर सकना सम्भव हो जाता है।

अध्यात्मशास्त्र में प्राण तत्व की गरिमा का भाव भरा उल्लेख है। उसे ब्रह्म तुल्य माना और सर्वोपरि ब्राह्मी शक्ति का नाम दिया गया है। प्राण की उपासना करने का आग्रह किया गया है यह प्राण आखिर क्या है ? यह विचारणीय है।

विज्ञान वेत्ताओं ने इस संसार में ऐसी शक्ति का अस्तित्व पाया है जो पदार्थों की हलचल करने के लिए और प्राणियों को सोचने के लिए विवश करती है। कहा गया है कि यही वह मूल प्रेरक शक्ति है जिससे निःचेष्ट को सचेष्ट और निस्तब्ध को सक्रिय होने की सामर्थ्य मिलती है। वस्तुएँ शक्तियाँ और प्राणियों की विविध विधि हलचलें इसी के प्रभाव से सम्भव हो रही हैं। समस्त अज्ञात और विज्ञात क्षेत्र के मूल में यही तत्व गतिशील है और अपनी गति से सबको अग्रगामी बनाता है। वैज्ञानिकों की दृष्टि से इसी जड़ चेतन स्तरों की समन्वित क्षमता का नाम प्राण होना चाहिये। पदार्थ को ही सब कुछ मानने वाले ग्रैविटी, ईथर, मैगनेट के रूप में उसकी व्याख्या करते हैं अथवा इन्हीं की उच्चस्तरीय स्थिति उसे बताते हैं।

चेतना का स्वतंत्र अस्तित्व मानने वाले वैज्ञानिक इसे साईकिक फोर्स लेटेन्ट हीट कहते हैं और भारतीय मनीषी उसे प्राणतत्व कहते हैं। इस सन्दर्भ में भारतीय तत्व दर्शन का मत रहा है कि प्राण द्वारा ही शरीर का

अस्तित्व बसा रहता है। उसी के द्वारा शरीर का पोषण, पुनर्निर्माण, विकास एवं संशोधन कहने का अर्थ यह कि हर क्रिया प्राण द्वारा ही संचालित होती है। अन्नमय कोश में व्याहा, प्राणमय कोश ही उनका संचालन और नियंत्रण करता है। शरीर संस्थान की छोटी से छोटी इकाई में भी प्राण विद्युत का अस्तित्व अब विज्ञान ने स्वीकार कर लिया है। शरीर की हर कोशिका विद्युत विभव (इलैक्ट्रिक चार्ज) है। यही नहीं किसी कोशिका के नाभिक (न्यूक्लियस) में लाखों की संख्या में रहने वाले प्रजनन क्रिया के लिए उत्तरदायी जीन्स जैसे अति सूक्ष्म घटक भी विद्युत आवेश युक्त पुटिकाओं (पैक्टि्स) के रूप में जाने और माने जाते हैं। तात्पर्य यह है कि विज्ञान द्वारा जानी जा सकी शरीर की सूक्ष्मतम इकाई में भी विद्युत आवेश रूप में प्राणतत्व की उपस्थिति स्वीकार की जाती है।

शरीर की हर क्रिया का संचालन प्राण द्वारा होने की बात भी सदैव से कही जाती रही है। योग ग्रन्थों में शरीर की विभिन्न क्रियाओं को संचालित करने वाले प्राण-तत्व को विभिन्न नामों से संबोधित किया गया है। उन्हें पंच-प्राण कहा गया है। इस प्रकार शरीर के विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय प्राण को पंच उप प्राण कहा गया है। वर्तमान शरीर विज्ञान ने भी शारीरिक अंतरंग क्रियाओं की व्याख्याएँ विद्युत संचार क्रम के ही आधार पर की है। शरीर के एक सिरे तक जो संचार क्रम चलता है वह विद्युतीय संवहन प्रक्रिया के माध्यम से ही है। संचार कोशिकाओं में ऋण और धन प्रभार (निगेटिव तथा पोजिटिव चार्ज) अन्दर बाहर होते रहते हैं, और इसी से विभिन्न संचार क्रम चलते रहते हैं। इसे वैज्ञानिक भाषा में सैल का 'डिपोलराइजेशन' तथा रीपोलराइजेशन कहते हैं। यह प्रक्रिया भारतीय मान्यतानुसार पंच-प्राणों में वर्णित 'व्यान' के अनुरूप है।

आमाशय तथा आंतों में भोजन का पाचन होकर उसे शरीर के अनुकूल रासायनिक रसों में बदल दिया जाता है। वह रस आँत की झिल्ली में से पार होकर रस में मिलते हैं तब सारे शरीर में फैल पाते हैं। कुछ रसायन तो सामान्य संचरण क्रम से ही रक्त में मिल जाते हैं, किन्तु कुछ के लिए शरीर को शक्ति खर्च करनी पड़ती है। इस विधि को 'एक्टिव ट्रांस्पोर्ट (सक्रिय परिवहन) कहते हैं। यह परिवहन आँतों में जो विद्युतीय प्रक्रिया होती है। उसे वैज्ञानिक 'सोडियम पंपों के नाम से सम्बोधित करते हैं। सोडियम कणों में ऋण और धन प्रभार बदलने से वह सैलों की दीवार के इस पार से उस पार जाते हैं। उनके संसर्ग से शरीर के पोषक रसों (ग्लूकोज, वसा आदि) की भेदकता बढ़ जाती है तथा वह भी उसके साथ संचरित हो जाते हैं। यह प्रक्रिया पंच-प्राणों में 'प्राण' वर्ग के अनुसार कही जा सकती है।

ऐसी प्रक्रिया हर सैल में चलती है। हर सैल अपने उपयुक्त आहार खींचता है तथा उसे ताप ऊर्जा में बदलता है। ताप ऊर्जा भी हर समय सारे शरीर में लगातार पैदा होती और संचरित होती रहती है। पाचन केवल आँतों में नहीं, शरीर के हर सैल में होता है। उसके लिए रसों को हर सैल तक पहुँचाया जाता है। यह प्रक्रिया जिस प्राण ऊर्जा के सहारे चलती है उसे भारतीय प्राणवेत्ताओं ने 'समान' कहा है। इसी प्रकार हर कोशिका में रस परिपाक के दौरान तथा पुरानी कोशिकाओं के विखंडन से जो मल बहता है, उसके निष्कासन के लिए भी विद्युत रासायनिक (इलैक्ट्रो कैमिकल) क्रियाएँ उत्तरदायी हैं। प्राण विज्ञान में इसे 'अपान' की प्रक्रिया कहा गया है।

पंच-प्राणों में एक वर्ग 'उदान' भी है। इसका कार्य शरीर के अवयवों को कड़ा रखना है। वैज्ञानिक भाषा में इसे इलैक्ट्रिकल स्टिमुलाइजेशन कहा जाता है। शरीरस्थ विद्युत संवेगों से अन्नमय कोश के सैल किसी भी कार्य के लिए कड़े अथवा ढीले होते रहते हैं।

शरीर में इस प्रकार की अनेक अन्तरंग प्रक्रियाएँ कैसे चलती हैं। इसकी व्याख्या वैज्ञानिक पूरी तरह नहीं कर सके हैं। उसके लिए उन्होंने कई तरह के स्थूल सिद्धान्त बनाये हैं। उनमें सोडियम पोटेशियम साइकिल, पोटेशियम पंप, ए. टी. पी.-ए. डी. पी. सिस्टम, तथा साइकिलिक ए. एम. पी. आदि के हैं। इनकी क्रिया पद्धति तो कोई रसायन विज्ञान का विद्यार्थी ही ठीक से समझ सकता है, किन्तु है यह सब 'विद्युत रासायनिक' सिद्धान्त ही। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी घोल में रासायनिक पदार्थों के अणु ऋण और धन प्रभार युक्त भिन्न-भिन्न कणों में विभक्त हो जाते हैं। इन्हें आयन कहा जाता है। आयनों की संचार क्षमता बहुत अधिक होती है। इच्छित संचार के बाद ऋण और धन प्रभार युक्त आयन मिलकर पुनः विद्युतीय दृष्टि से उदासीन (न्यूट्रल) अणु बना लेते हैं। शरीर में पाचन, शोधन, विकास एवं निर्माण की अगणित प्रक्रियाएँ इसी आधार

पर चल रही हैं। तत्व दृष्टि से देखा जाए तो सारे शरीर संस्थान में प्राणतत्व की सत्ता और सक्रियता स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ेगी।

इन मोटी गतिविधियों से आगे बढ़कर शरीर की सूक्ष्म, गहन गति विधियों का विश्लेषण करने पर उनमें भी प्राण शरीरस्थ प्राणतत्व का नियन्त्रण तथा प्रभाव दिखाई देता है। शरीर में हारमोनों और एन्जाइमों की अद्‌भुत सर्व-था-विदित है। इन दोनों की सक्रियता शरीर में आश्चर्यजनक परिवर्तन लाने एवं शक्ति संचार करने में समर्थ है, इन सभी को शरीर की सूक्ष्म से सूक्ष्म गतिविधियों को विद्युतीय संवेगों द्वारा प्रभावित किया जा सकता है। वह अभी ऐसा कर नहीं सके हैं पर अध्यात्म विज्ञान के द्वारा, प्राणमय कोश को परिष्कृत कर भारतीय ऋषियों ने यह सब कर दिखाया है वरन् ऐसे प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं कि अपने प्राण परिष्कार से दूसरे व्यक्तियों को, समाज को, यहाँ तक कि पूरे विश्व को प्रभावित किया जा सके।

प्राणमय कोश में सन्निहित प्रचण्ड जीवनी शक्ति-प्राण

प्राण क्या है ?

ऋषियों का अभिप्राय प्राण से क्या है, इसका परिचय उस शब्द के नामकरण के आधार पर प्राप्त होता है। प्राण शब्द की व्युत्पत्ति 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'अन्' धातु से होती है। 'अन्' धातु जीवन, शक्ति, चेतनावाचक है। इस प्रकार उसका अर्थ प्राणियों की जीवनी शक्ति के रूप में किया जाता है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि चेतन की जीवनी शक्ति क्या हो सकती है। यहाँ उसका उत्तर 'संकल्प' बल के रूप में दिया जा सकता है। जिजीविषा से लेकर प्रगतिशीलता ही तक उसके असंख्य रूप हैं। अन्त:करण की आकांक्षा ही विचार शक्ति और क्रिया शक्ति को उत्तेजना एवं दिशा देती है। मात्र आकांक्षा रहने से काम नहीं चलेगा। उसे तो कल्पना या ललक मात्र कहा जा सकता है। आकांक्षा के साथ उसे पूरा करने की साहसिकता भी जुड़ी हुई हो तो उसे संकल्प कहा जा सकेगा। संकल्प में आकांक्षा, निष्कर्ष, योजना और अग्रगमन के लायक अभीष्ट साहसिकता जुटी रहती है। यह संकल्प ही मनुष्य जीवन का वास्तविक बल है। उसी के सहारे पतन उत्थान के आधार बनते हैं। परिस्थितियाँ इसी संकल्प भरी मन:स्थिति के आधार पर खिंचती चली आती हैं। इसी संकल्प तत्व को चेतन का प्राण कहा जा सकता है। इसी की उपासना करने के लिए अभिवर्धन के लिए तत्व दर्शियों ने निर्देश दिये हैं। प्रश्नोपनिषद ने प्राण की व्याख्या संकल्प रूप में की है।

यच्चित्तस्तेनैष प्राण मायाति प्राणस्तेजसा युक्त: महात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति।

-प्रश्नोपनिषद् ३। १०

आत्मा का जैसा संकल्प होता है वैसा ही स्वरूप संकल्प इस प्राण का बन जाता है। यह प्राण ही जीव के संकल्पानुसार उसे विभिन्न योनियाँ प्राप्त कराता है।

विकासवाद के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए एक कोशीय जीवाणु इसी संकल्प शक्ति की प्रेरणा से क्रमश: आगे बढ़े और विकसित हुए। अध्यात्म शास्त्र के अनुसार ब्रह्म ने एक से बहुत होने की इच्छा की और ब्रह्म इच्छा शक्ति ही प्रकारान्तर से परा-अपरा प्रकृति बनकर जगत् बन गई। उसी का विस्तार पंच तत्वों और पंच प्राणों में होता चला गया है।

विश्व के अन्तराल में काम करने वाली समग्र सामर्थ्य को व्याख्या के रूप में प्राण कहा जाता है। वह जड़ और चेतन दोनों को ही प्रभावित करती है। उपासना उसके इस एक पक्ष की ही की जाती है। जो मनुष्य को सत्प्रयोजनों की स्थिति में अग्रसर करने के लिए प्रयुक्त होती है। चेतना की सामर्थ्य तो उभय पक्षीय है। वह दुष्टता के क्षेत्र में दुस्साहस बनकर भी काम करती है। इस निषिद्ध पक्ष को नहीं जीवन को उत्कृष्टता की ओर अग्रसर करने वाले सत्संकल्पों को उपास्य प्राण माना गया है। उसको जितना मात्र उपलब्ध होता है, उसी अनुपात से प्रगतिशीलता का लाभ मिलता है। इन विशेषताओं को देखते हुए उसे ब्राह्मी शक्ति-ब्रह्म प्रेरणा एवं साक्षात् ब्रह्म कहा गया है। सुविधा के लिए इसे अन्तरात्मा की पुकार भी कह सकते हैं। शास्त्र की दृष्टि में प्राण तत्व की व्याख्या इस प्रकार होती है-

प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह कोषीतकिस्तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतं वाक्परिवेष्ट्री चक्षुर्गात्र श्रोत्रं संश्रावयितृ यो ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतं वेद दूतवान्भवति यश्चक्षु गोप्तृ गोप्तृमान्भवति य: श्रोत्रं संश्रावयितृ संश्रावयितृमान्भवति यो वाचं परिवेष्ट्री परिवेष्ट्रोमान्भवति।

-कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् २। १

यह प्राण ही ब्रह्म है। यह सम्राट है। वाणी उसकी रानी है। कान उसके द्वारपाल हैं। नेत्र अंगरक्षक, मन दूत, इन्द्रियाँ दासी, देवताओं द्वारा यह उपहार उस प्राण ब्रह्म को भेंट किये गये हैं।

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।
यो भूत: सर्वस्येश्वरी यस्मिन् सर्वप्रतिष्ठितम् ।।

–अथर्व० कां० ११

उस प्राण को मेरा नमस्कार है, जिसके अधीन यह सारा जगत् है, जो सबका ईश्वर है, जिसमें यह सारा जगत् प्रतिष्ठित है।

प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्या। तं मामायुरमृत भित्युपमृत भित्युपास्स्वाऽऽयु: प्राण: प्राणोवा आयु:। याग्वदस्मिञ्छरीरे प्राणो वसति तावदायु:। प्राणेन हि एव गस्मिन् लोकेऽमृतत्व माप्नोति।

–शांखायन

मैं ही प्राण रूप प्रज्ञा हूँ। मुझे ही आयु और अमृत जानकर उपासना करो। जब तक प्राण है, तभी तक जीवन है। इस लोक में अमृतत्व प्राप्ति का आधार प्राण ही है।

स एष वैश्वानरो विश्वरूप: प्रोणोग्निरुदयते।

प्रश्नो १। ७

वह प्राण रूपी तेजस सूर्य के उदय के साथ समस्त विश्व में फैलने लगता है।

प्राणो भवेत् परंब्रह्म जगत्कारणमव्यव्ययम्।
प्राणो भवेत् यथामंत्र ज्ञानकोश गतोऽपिवा ।।

–ब्रह्मोपनिषद्

प्राण ही जगत् का कारण परमब्रह्म है। मंत्र ज्ञान तथा पंच कोश प्राण पर आधारित है।

प्राण शक्ति का वही ब्रह्म तेज आँखों में, वाणी में, चिन्तन और क्रिया में चमकता है। यह चमक ही बौद्धिक क्षेत्र में तेजस्विता और क्रिया क्षेत्र में ओजस्विता कहलाती है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में यही मनस्विता प्रतिभा बनकर दीप्तिवान होती है। प्राण शक्ति ही सर्वतोमुखी समर्थता कही जाती है।

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानष्।
एष पृथिवी रयिर्देव: सदसच्चामृतं चयत् ।।

–प्रश्नो २। ५

यह प्राण ही अग्निरूप धारण करके तपता है। यही सूर्य, मेघ, इन्द्र, वायु, पृथ्वी तथा भूत समुदाय है। सत्-असत् तथा अमृत स्वरूप ब्रह्म भी यही है। अन्यत्र भी ऐसे ही उल्लेख हैं–

अमृत सु वै प्राण:।

–शतपथ

यह प्राण ही निश्चित रूप से अमृत है।

प्राणोवाव आशाया भूयान्यथा।

–छद्दान्दोग्य

इस प्राण शक्ति की सम्भावना आशा से अधिक है।

प्राणो वै यशो वलम्।

–वृहदारण्यक

प्राण ही यश और बल है।

प्राणश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

–यजुर्वेद

मेरी प्राण शक्ति सत्कर्मों में प्रवृत्त हो।

प्राण को कई व्यक्ति वायु या साँस समझते हैं और श्वांस प्रश्वांस क्रिया के साथ वायु का जो आवागमन निरन्तर चलता रहता है उसके साथ प्राण की संगति बिठाते हैं। यह भूल इसलिए हो जाती है कि अक्सर प्राण के साथ 'वायु' शब्द और जोड़ दिया जाता है। यह समावेश सम्भवत: वायु के समान मिलते-जुलते गुण प्राण में होने के कारण उदाहरण की तरह हुआ हो। चूँकि प्राण भी अदृश्य है और वायु भी। प्राण भी गतिशील है और वायु भी। प्राण भी सारे शरीर एवं विश्व में व्याप्त है और वायु भी इसलिए प्राण की स्थिति मोटे रूप में समझने के लिए उसे वायु के उदाहरण सहित प्रस्तुत किया गया है। किन्तु वास्तविक बात ऐसी नहीं है। वायु पंचतत्वों में से एक होने के कारण जड़ है, किन्तु प्राण तो चेतना का पुञ्ज होने से उसका वस्तुत: कोई सादृश हो नहीं सकता। प्राण को प्रकृति की उत्कृष्ट सूक्ष्म शक्तियों (नेचर्स फाइनर फोर्सेज) में से एक कह सकते हैं। भारतीय योगियों ने इसे मानसिक या इच्छा सम्बन्धी श्वांस प्रक्रिया (रेशपाइरेशन) के रूप में लिया है। वास्तव में ऐसी ही दिव्य धारा के प्रभाव से उच्च कोटि की आत्मिक शक्तियाँ प्राप्त होनी सम्भव हैं। श्वास प्रश्वास की क्रिया का प्रभाव तो फेफड़ों तक अधिक से अधिक भौतिक शरीर के बलवर्धन तक सीमित हो सकता है।

प्राणोऽयास्तीति प्राणी।

अर्थात् प्राणवान् को प्राणी कहते हैं। सांख्यकार ने प्राण को तत्व नहीं अन्त:करण का धर्म माना है। सांख्य सारिका में कहा गया है–

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य तैषा भवत्य सामान्या।
सामान्यकरण वृत्तिः प्राणद्या वायवः पञ्च ।

अन्तःकरण के चार पक्ष हैं। चारों का अपना-अपना धर्म है। मन का संकल्प, बुद्धि का विवेक, चित्त की धारणा और अहं का अभिमान। इन चारों का सम्मिलित स्वरूप समग्र प्राण है। विभिन्न कार्यों में होने वाले उसके प्रयोगों को देखते हुए प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान भेद से उसे पाँच प्रकार का कहा गया है।

न्याय दर्शन में प्राण को वायु अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। सम्भवतः उनका तात्पर्य 'ऑक्सीजन' या वैसी ही किसी अन्य प्रकृति क्षमता से रहा हो। वैशेषिक के अनुसार-

शरीरान्तः संचारी वायुः प्राणः संचैकोऽपि
उपाधि भेदात् प्राणायानादि संज्ञां लभते।

शरीर के भीतर संचारित होने वाले वायु प्राण हैं। वह एक होने पर भी उपाधि भेद से पाँच प्रकार की है। योगदर्शन का अभिमत भी उसी से मिलता-जुलता प्रतीत होता है। वेदान्तकार ने इससे अपना मत भेद व्यक्त किया है। ब्रह्म सूत्र में कहा गया है-ना वायु क्रिये प्रथगुपरेशात्। अर्थात् वायु प्राणी नहीं है, उनकी क्रिया और सत्ता में भेद है।

छान्दोग्य और प्रश्नोपनिषद् में प्रजापति द्वारा इन्द्रियों की शक्ति परीक्षा के सम्बन्ध में आती है। वे समर्थ भर दीखती तो थीं पर प्राण शक्ति के बिना कुछ भी कर सकने में समर्थ न हो सकीं। तब उन सब ने मिलकर प्राण की श्रेष्ठता स्वीकार की और उसे नमन किया।

अधिकांश उपनिषद्कारों ने प्राण को आत्मसत्ता की क्रिया शक्ति माना है और उससे अविच्छिन्न कहा है। आत्मा को ब्रह्म भी कहा जाता है। दोनों की एकता बोधक कितने ही प्रतिपादन मिलते हैं। इस दृष्टि से प्राण को ब्राह्म शक्ति भी कहा गया है।

प्रश्नोपनिषद् में प्राण को व्रात्य ऋषि कहा गया है-'व्रात्य स्त्वं प्राणैकर्षि' हे प्राण, तू (व्रात्य) कर्तव्य च्युत तो रहता है फिर भी मूलतः ऋषि ही है। व्याख्याकारों ने अन्य कई ऋषियों के नामों पर प्राण का उल्लेख किया है। उसे 'गृत्समदं' कहा गया है। 'गृत्स' कहते हैं नियंत्रण कर्त्ता को, मद कहते हैं कामुकता एवं अहंकार को। जो इन पर नियंत्रण कर सके वह 'गृत्स मद' सब का मित्र होने से उसे 'विश्वामित्र' कहा गया है। पापों से बचाने वाला-अत्रि। पोषक होने से भारद्वाज और विशिष्ट होने से उसकी संज्ञा वशिष्ठ बताई गई है।

कषाय कल्मषों और कुसंस्कारों का निराकरण, उन्मूलन इस प्रचण्ड संकल्प शक्ति के सहारे ही सम्भव होता है। ढीले पोले स्वभाव वाले आत्म परिष्कार की बात सोचते भर हैं, पर वैसा कुछ कर नहीं पाते। कल्पना जल्पनाओं में उलझे रहते हैं। प्रचण्ड संकल्प के बल पर उत्पन्न आत्मिक साहस ही दुर्भावनाओं, दुष्प्रवृत्तियों और कुसंस्कारों से जूझता है। उत्कृष्टता की दिशा में बढ़ चलने के लिए प्रेरणा और अवरोधों से जूझने की क्षमता उसी आत्मबल से मिलती है जिसे प्राण कहा जाता है। प्राण देवता के अनुग्रह से मनोनिग्रह और विकृतियों के उन्मूलन होने की बात वृहदारण्यक उपनिषद् में इस प्रकार कही गई है-

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्रासां दिशामन्तस्तद्गमयांचकार तदासां पाप्मनो विन्यदधात् तस्मान्न जनमियान्नान्तमियान्नेत्पाप्मानं मृत्युमन्ववायानीति।

-वृ० उ० १। ३। १०

प्राण देवता ने इन्द्रियों के पापों को दिगन्त तक पहुँचाकर विनष्ट कर दिया। क्योंकि वह पाप ही इन्द्रियों के मरण का कारण था। इन कल्मषों को इस निश्चय के साथ भगाया कि पुनः न लौट सकें।

अथ चक्षुरत्यवहत् तद् यदा।
मृत्युमत्यमुच्यत स आदित्योऽभवत्।
सोऽसावादित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तस्तपति।

-वृ० उ० १। ३। १४

जब प्राण की प्रेरणा से चक्षु निष्पाप हुए तो वे आदित्य बनकर अमर हो गये और तपते हुए सूर्य की तरह अपने तप से ज्योतिर्मय हो उठे।

इसी प्राण शक्ति को गायत्री कहते हैं। यों वह क्षमता स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों के कण-कण में संव्याप्त है, पर उसका केन्द्र संस्थान मल-मूत्र छिद्रों के मध्य मूलाधार चक्र गह्वर में माना गया है। प्राण-शक्ति के अभिवर्धन से इसी मूलाधार संस्थान का द्वार खटखटाना पड़ता है। दुर्ग में प्रवेश करने के लिए उसका फाटक खोलना या तोड़ना पड़ता है। मूलाधार चक्र की साधना से यही प्रयोजन पूरा होता है। गायत्री की प्राण शक्ति मूलाधार चक्र से सम्बन्धित होने का उल्लेख गायत्री मंजरी में मिलता है-

यौगिकानां समस्तानां साधनानां तु हे प्रिये।
गायत्री मतालोके मूलाधारा विदो वरैः।

-गायत्री मंजरी

विद्वानों का मत है कि समस्त यौगिक साधनाओं का मूलाधार गायत्री ही है।

प्राणाग्नय एवास्मिन् ब्रह्मपुरे जाग्रति।

-प्रश्नोपनिषद्

इस ब्रह्मपुरी में प्राण की अग्नियाँ ही सदा जलती रहती हैं।

यद्वाव प्राणा जागर तदेवं जागारितम् इति।

-ताण्डय०

प्राण को जागृत करना ही महान जागरण है। प्राण का ज्ञान एवं जागरण ही अमृत्व एवं मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग है। उसी से यह लोक और परलोक सुधरता है। इसी से भौतिक और आध्यात्मिक विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। इसलिए वेद ने कहा है-हे विचार शीलो प्राण की उपासना करो- गायत्री महामंत्र का आश्रय लो और आत्म कल्याण का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ चलो।

य एषं विद्वान्प्राणं वेद रहस्य प्रज्ञा
हीयतेऽमृतो भवति तयेव श्लोकः।

-प्रश्नोपनिषद्

जो ज्ञानी इस प्राण के रहस्य को जानता है उसकी परम्परा कभी नष्ट नहीं होती वह अमर हो जाता है।

प्राण शक्ति का स्वरूप और अभिवर्धन

प्राण साधना योगशास्त्र की सबसे महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। इसके लाभों का विस्तार, अणमादि अगणित ऋद्धि-सिद्धियों के रूप में किया गया है और ब्रह्मतेजस् के रूप में उसकी आध्यात्मिक उपलब्धियों की चर्चा की गई है। प्राणायाम इस दिशा में प्रथम सोपान है। दुर्बल विकृत प्राण को बहिष्कृत कर उसके स्थान पर महाप्राण की स्थापना करना इस साधना का लक्ष्य है। संध्या-वंदना जैसे नित्यकर्मों का उसे अनिवार्य आधार इसलिए बनाया गया है कि इस प्रकार प्रारम्भिक परिचय तथा अभ्यास करते हुए क्रमशः आगे बढ़ा जाये और प्राणवान् बनते हुए जीवन लक्ष्य को पूर्ण करने की दिशा में अनवरत रूप से गतिशील रहा जाए।

प्राणतत्व समस्त भौतिक और आत्मिक सम्पदाओं का उद्गाम केन्द्र है। वह सर्वत्र संव्याप्त है। उसमें से जो जितनी अञ्जलि भरने और उसे पीने में समर्थ होता है वह उसी स्तर का महामानव बनता चला जाता है। प्राण शक्ति का पर्यायवाची है। उसकी परिधि में भौतिक सम्पदाएँ और आत्मिक विभूतियाँ दोनों ही आती हैं।

शारीरिक परिपुष्टि के रूप में ओजस्वी, मनोबल, सम्पन्नता के रूप में मनस्वी, सामाजिक सहयोग सम्मान के रूप में यशस्वी और आत्मिक उत्कृष्टता रूप में तेजस्वी बन जाता है। यह चतुर्विधि क्षमताएँ जिस मूल स्रोत में उत्पन्न होती हैं उसे प्राण शक्ति कहते हैं। प्राण साधना इन्हीं सिद्धियों का प्राप्त कर सकना सम्भव बनाती हैं।

अँग्रेजी में श्वास के अर्थ में प्राण का प्रयोग होता है। यह भ्रम शायद इसलिए पैदा हुआ कि प्राणायाम में श्वास प्रश्वास क्रिया ही प्रधान होती है। रेचक, पूरक, कुम्भक के माध्यम से प्राणायाम किया जाता है। उसमें सांस को अमुक क्रम से छोड़ने, खींचने की विधि की प्रमुखता रहने से प्राण को उसी रूप में समझ लिया गया है।

स्वामी विवेकानन्द ने प्राण की विवेचना 'साइकिक फोर्स' के रूप में की है। इसका मोटा अर्थ 'मानसिक शक्ति' हुआ। मोटे रूप से तो यह कोई मस्तिष्कीय हलचल हुई। पर प्राण तो विश्व-व्यापी है। यदि समष्टि को मन की शक्ति कहें या सर्वव्यापी चेतना शक्ति का नाम दें तो ही यह अर्थ ठीक बैठ सकता है। व्यक्तिगत मस्तिष्कों की प्रथम मानसिक शक्ति की क्षमता प्राण के रूप में नहीं हो सकती। सम्भवतः स्वामी जी का संकेत समष्टि मन की सर्वव्यापी क्षमता की ओर ही रहा होगा।

मानसिक एवं शारीरिक क्षमताओं के रूप में प्राण शक्ति के प्रकट होने का, प्रखर होने का परिचय प्राप्त किया जा सकता है, पर वह मूलतः इन सब जाने हुए विवरणों से कहीं अधिक सूक्ष्म है।

वैदिक साहित्य में प्राण के साथ वायु विशेषण भी लगा है और उसे 'प्राण वायु' कहा गया है। उनका तात्पर्य ऑक्सीजन, नाइट्रोजन आदि वायु विकारों से नहीं वरन् उस प्रवाह से है जिसकी गतिशील विद्युत तरंगों के रूप में भौतिक विज्ञानी चर्चा करते हैं। अणु विकरण, ताप, प्रकाश, आदि को शक्ति धाराओं के मूल में संव्याप्त सत्ता से कहा जा सकता है। यदि इसके अध्यात्म स्वरूप का विवेचन किया जाए तो अँग्रेजी का 'लेटन्ट लाइट' शब्द इसके लिए लगभग अधिक उपयुक्त बैठता है।

प्रश्नोपनिषद् में प्राण का उद्गम केन्द्र सूर्य को माना गया है-

स एष वैश्वानरो विश्व रूप: प्राणोऽग्निरुद यते।

-प्रश्न० १-७

यह भौतिक व्याख्या है। सभी जानते हैं कि पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति का श्रेय सूर्य किरणों को है।

स्थूल जगत की जीवनी शक्ति का केन्द्र सूर्य है। उसके पाँच प्राण पाँच तत्व हैं।

आदित्यो हवै वाह्य: प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुर्षं प्राण। मनु गृहणान्: पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापान। मवस्टभ्यान्तरा यदाकाश: स समानो वायु व्यनि: तेजो हवै उदान:।

-प्रश्नोपनिषद्

यह सूर्य ही बाह्य प्राण है। उदय होकर दृश्य जगत की हलचलों को क्रियाशील करता है। इस विश्व रूपी शरीर को यह सूर्य का महाप्राण ही जीवन्त रखता है। पाँच तत्वों में वह पाँच प्राण बनकर संव्याप्त है।

प्राण को तत्वदर्शियों ने दो भागों में विभक्त किया है- (१) अणु (२) विभु। अणु वह है जो पदार्थ जगत में सक्रिय बनकर परिलक्षित होता है। विभु वह है जो चेतन जगत में जीवन बनकर लहलहा रहा है। इन दो विभागों को आधिदैविक कास्मिक और आध्यात्मिक, माइक्रोकास्मिक अथवा हिरण्य गर्भ कहा जाता है।

आधि दैविकेन समष्टि व्यष्टि रूपेण हैरण्य गर्भेण प्राणात्मनैवैतद् विभुत्व माम्नायते नाध्यात्मिकेन।

-ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य

समष्टि रूप हिरण्य गर्भ विभु है। व्यष्टि रूप आधिदैविक अणु ।

इस अणु शक्ति को लेकर ही पदार्थ विज्ञान का सारा ढाँचा खड़ा किया गया है। विद्युत ताप, प्रकाश, विकरण आदि की अनेकानेक शक्तियाँ उसी स्रोत में गतिशील रहती हैं। अणु के भीतर जो सक्रियता है वह सूर्य की है। यदि सूर्य का प्रकाश पृथ्वी तक न पहुँचे तो यह सर्वथा नीरव स्तब्धता परिलक्षित होगी। कहीं कुछ भी हलचल दिखाई न पड़ेगी। अणुओं की जो सक्रियता पदार्थों का आविर्भाव, अभिवर्धन एवं परिवर्तन करती है उसका कोई अस्तित्व दिखाई नहीं पड़ेगा। भौतिक विज्ञान से इस सूर्य द्वारा पृथ्वी को प्रदत्त अणु शक्ति के रूप में पहचाना है और उसे विभिन्न प्रकार के आविष्कार करके सुख साधनों का आविर्भाव किया है। शक्ति के कितने ही प्रचण्ड स्रोत करतल गत किये हैं। पर यह नहीं मान बैठना चाहिये। विश्व- व्यापी शक्ति भण्डार मात्र अणु शक्ति की भौतिक सामर्थ्य तक ही सीमाबद्ध है।

जड़ जगत में शक्ति तरंगों के रूप में संव्याप्त सक्रियता के रूप में प्राण का परिचय दिया जा सकता है और चेतन जगत में सम्वेदना उसे कहा जा सकता है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया इसी सम्वेदना के तीन रूप में है। जीवन्त प्राणी इसी के आधार पर जीवित रहते हैं। उसी के सहारे चाहते, सोचते और प्रयत्नशील होते हैं। इस जीवन शक्ति की जितनी मात्रा जिसे मिल जाती है वह उतना ही अधिक प्राणवान् कहा जाता है। आत्मा को महात्मा, देवात्मा और परमात्मा बनने का अवसर इस प्राण शक्ति की अधिक मात्रा उपलब्ध करने पर ही सम्भव होता है। चेतना की विभु सत्ता जो समस्त विश्व ब्रह्माण्ड में संव्याप्त है चेतन प्राण कहलाती है। उसी का अमुक अंश प्रयत्न पूर्वक अपने में धारण करने वाला प्राणी-प्राणवान् एवं महाप्राण बनता है।

वह प्राण हमारे अनुभव में जड़ पदार्थों की सक्रियता के रूप में और चेतन प्राणियों की सजगता के रूप में दिखाई पड़ता है। इससे प्रतीत होता है कि वस्तुओं एवं प्राणियों के उत्पन्न होने के उपरान्त ही इस शक्ति का उद्भव हुआ होगा, पर बात ऐसी नहीं है। वह सृष्टि से पहले ही मौजूद तो था। उसी सूक्ष्म प्राण शक्ति ने समयानुसार परा और अपरा प्रकृति का रूप धारण करके इस दृश्य जगत का सृजन किया है। शास्त्र में इसका वर्णन इस प्रकार आता है-

असद्वा इदमग्न आसात् तदाहु: कि तदसदासीदित्यृषयो वा व। तेऽग्नेऽसदासीत्, तदाहु: के ते ऋषभ इति प्राणा वा ऋषय।

-शतपथ

सृष्टि से पहले 'असत्' था। यह असत् क्या ? उत्तर में कहा गया वे ऋषि थे। ये ऋषि क्या थे ? तब उत्तर में कहा गया-वे प्राण थे । प्राण ही ऋषि हैं।

यहाँ असत् शब्द अभाव के अर्थ में नहीं-अव्यक्त के रूप में प्रयुक्त हुआ है। प्राण सृष्टि से पूर्व भी विद्यमान था। जब दृश्य पदार्थ विनिर्मित हुए तो उनमें प्राण को हलचल करता हुआ देखा गया। यह देखना ही 'व्यक्त' है।

प्राणको ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कहा गया है-

प्राणो वा व ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च।

-छांदोग्य ५, १, १

सृष्टि से पूर्व उसकी सत्ता विद्यमान होने से वह ज्येष्ठ है। श्रेष्ठ इसलिए कि समस्त पदार्थों और शरीरों में, उसी की विभिन्न हलचलें दृष्टिगोचर हो रही हैं। वस्तुत: जीवन के अर्थ में ही प्राण का प्रयोग होता रहा है।

यस्मात्कस्माच्चांगात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यति।

-वृहदारण्यक

जिस किसी अंग से प्राण निकल जाता है, वह सूख जाता है।

संस्कृत में प्राण शब्द की व्युत्पत्ति 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'अन्' धातु से होती है। 'अन्' धातु (प्राणने) जीवनी शक्ति-चेतना वाचक है। इस प्रकार प्राण शब्द का अर्थ चेतना शक्ति होता है। जीवधारियों को प्राणी कहते हैं। प्राण और जीवन दोनों एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

प्राण आत्मा का गुण है। वह परम आत्मा से(परब्रह्म से) निसृत होता है। आत्मा भी परमात्मा का एक अविच्छिन्न घटक है। उसके अंश रूप होते हुए भी मूल सत्ताधीश के सारे गुण विद्यमान हैं। व्यक्तिगत प्राण धारण करने वाला प्राणी जब सुविकसित होता है तो वह बूँद के समुद्र में पड़ने पर सुविस्तृत होने की तरह व्यापक बन जाता है। व्यापक महाप्राण का अंश प्राणी है अथवा प्राणधारियों की समष्टि चेतना महाप्राण है, इसमें तात्विक कोई अन्तर नहीं यह शब्दों की ही हेरा-फेरी है।

प्राण के स्वरूप को समझाते हुए शास्त्रकारों ने उसका परिचय कई प्रकार दिया है। उसे सृष्टि का सूत्र संचालक और परब्रह्म से निसृत जीवन सत्ता के रूप में समझाने के लिए ही यह कई प्रकार के प्रतिपादन प्रस्तुत किये हैं-

यथा-

स प्राणमसृजत प्राणाच्छद्धां खं वायुर्ज्योति रूप: पृथिविन्द्रिय मनोऽन्नम्।

-प्रश्न ६-४

उसने प्राण उत्पन्न किया। प्राण से श्रद्धा, बुद्धि, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन और अन्न आदि बने।

जड़ से चेतन उत्पन्न होने की बात भौतिक विज्ञानी कहते हैं। आत्म विज्ञान का मत इससे भिन्न है। वह कहता है चेतना से जड़ की उत्पत्ति हुई है। जड़ में न कुछ सोचने की शक्ति है न करने की। वह निर्जीव होने के कारण अवतरण, अभिवर्धन एवं परिवर्तन की कोई क्रिया नहीं कर सकता, उसकी हलचलें चेतना की ही देन है। चेतना की इच्छा एवं आवश्यकता के अनुसार प्राणियों के शरीर बनते और बदलते रहे हैं। इस तथ्य को तो भौतिक विज्ञानी भी मानते हैं। ऐसी दशा में चेतन प्राणी को ही प्रथम मानना पड़ेगा। सृष्टि से पूर्व निस्सन्देह उसकी सत्ता सूक्ष्म चेतना के रूप में रही है और महाप्राण इस विश्व के सूत्र संचालक परब्रह्म का-परमात्मा अथवा आत्मा का ही ब्रह्म तेजस् रहा है। वह कोई भौतिक शक्ति नहीं है।

आत्मन एष: प्राणो जायते।

-प्रश्न ३-३

इस प्राण की उत्पत्ति आत्मा से होती है

यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति नि:सृतम्।

-कठ० ६-३

यह समस्त जगत प्राण के स्पन्दन से नि:सृत होता है।

यथाग्ने क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्त्येव मेवास्मादात्मन: सर्वे प्राण:।

-वृहदारण्यक

जैसे अग्नि से छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं वैसे ही आत्मा से सब प्राण निकलते हैं।

इस प्राण सत्ता का जब जिस प्रयोजन के लिए प्रयोग होता है तब उसके नाम उसी क्रिया आधार को ध्यान में रखते हुए रख दिये जाते हैं। एक व्यक्ति दुकानदारी, रसोइया, चोरी आदि कई काम करता है। जिस समय उसे जो काम करते देखा जाता है तब उसे उसी आधार पर दुकानदार, रसोइया, चोर आदि कहा जाता है। ताँगे वाला उसे सवारी, व्यापारी उसे ग्राहक, डाक्टर उसे रोगी, अध्यापक उसे विद्यार्थी के नाम से पुकारता है। इतने पर भी वह एक ही व्यक्ति होता है। इसी प्रकार प्राण की जहाँ जो गतिविधियाँ होती हैं उसी प्रकार उसे नाम दिया जाता है। साधारणतया पाँच, दस या ग्यारह प्रकार से उसके वर्गीकरण होते रहे हैं-

यः प्राणः ए वायुः स एष वायुः पंचविधिः।
प्राणोऽपानोव्यान उदानः समानः ।

-शतपथ

यह प्राण वायु पाँच प्रकार का है-प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान।

दशये पुरुषे प्राणा आत्मैकादश।

-वृहदारण्यक

मनुष्य में रहने वाली दस इन्द्रियाँ और ग्याहरवाँ मन यह सब प्राण हैं।

इतने पर भी उसे वायुः इन्द्रियाँ या मन नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वह इस सबके भीतर काम करने वाली जीवनी शक्ति है।

न वायु क्रिये पृथगुपदेशात।

-ब्रह्मसूत्र २-४

यह प्राण वायु या इन्द्रियाँ नहीं हैं। शास्त्रों में उसका उपदेश भिन्न रूप से किया गया है। प्रश्नोपनिषद् में यह तथ्य और भी अधिक स्पष्ट कर दिया गया है-

तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमा पद्य था अहमेवैतत्पंचधात्मानं प्रविभज्यैत द्वाणमवष्टभ्य विधार यामि।

-प्रश्न० २-३

उस वरिष्ठ प्राण ने मन और इन्द्रियों से कहा- तुम मोह में मत पड़ो। मैं ही पाँच रूप बनाकर इस शरीर को धारण किये हुए हूँ।

न वायु प्राणो नापि करण व्यापारः।

-ब्रह्म सूत्र २-४-९

यह प्राण, वायु नहीं है और न वह इन्द्रियों का व्यापार ही है।

एत समाज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।

-मुण्डक २, १, ३

यह प्राण मन और इन्द्रियों से भिन्न है।

प्राणायाम को गहरी साँस लेने का-फेफड़े पुष्ट करने वाला व्यायाम नहीं माना जाना चाहिये। वस्तुतः वह निखिल ब्रह्माण्ड में संव्याप्त चेतना के समुद्र से बड़ी मात्रा में जीवनी शक्ति अपने भीतर धारण करके सामान्य लोगों की तुलना में अत्यधिक सामर्थ्यवान बनने का परिष्कृत विज्ञान सम्मत सुनिश्चित प्रयास है। इसे यदि विधिपूर्वक जाना और अपनाया जाए तो उसमें हमारे महत्वपूर्ण अभावों की पूर्ति हो सकती है।

प्राणायाम और प्राणशक्ति

विद्यार्थी नचिकेता अपने पिता वाजिस्रवा की आज्ञानुसार आचार्य यम के पास विद्या पढ़ने के लिए गए। वहाँ उन्होंने आचार्यों के पुस्तक भण्डार में कितने ही ग्रन्थ देखे और पाया कि उनमें प्राण विद्या का असाधारण महत्व बताया और यश गाया गया है। उसने पाया कि हठयोग प्रदीपिका का कथन है कि "प्राण वायु निग्रहीत हो जाने से मन एकाग्र होने लगता है। जिसने प्राण को जीत लिया उसने मन जीत लिया और मनोनिग्रह से होने वाले लाभों पर अधिकार कर लिया।"

"इन्द्रियों का स्वामी मन है और मन पर अंकुश प्राण का रहता है। इसलिए जितेन्द्रिय बनने वाले को प्राण की साधना करनी चाहिये।"

जाबाल दर्शनोपनिषद् का कथन है कि-"प्राणायाम से चित्त की शुद्धि होती है। चित्त शुद्ध होने पर अनेक तर्कों और जिज्ञासुओं का समाधान स्वयमेव हो जाता है।" प्रश्नोपनिषद् में उल्लेख है-"इस शरीररूपी ब्रह्मपुरी से प्राण ही कई प्रकार की अग्नियाँ बनकर दहकता है।"

प्राण का दर्शन किस रूप में किस स्थान में हो सकता है, इस संदर्भ में त्रिशिखोपनिषद् में कहा गया है कि-"मूलाधार चक्र में निवास करने वाली आत्मतेज रूपी अग्नि जीवनी शक्ति है। यह प्राण रूपी आकाश में प्रकाश वान कुण्डलिनी है।"

रुद्रयामल तंत्र में लिखा है-बिजली की बेल के समान तपते हुए सूर्य के समान अग्नि रूपी यह शक्ति मूलाधार क्षेत्र से ऊपर चढ़ती हुई दीखती है।

कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में कहा है-"यह प्राण ही ब्रह्म है। यही सम्राट है। वाणी उसकी रानी है। कान उसके द्वारपाल हैं। नेत्र अंगरक्षक हैं। इन्द्रियाँ दासी हैं। देवताओं ने यह सारे साधन प्राण ब्रह्म के लिए जुटाए हैं।"

अथर्ववेद की श्रुति है-"उस प्राण को नमस्कार है, जिसके आधीन यह सारा जगत है, जो सबका ईश्वर है, जिसके भीतर यह सारा ब्रह्माण्ड समाया हुआ है।

ब्रह्मोपनिषद् का कथन है-"यह प्राण ही अग्नि रूप धारण करके तपता है। यही सूर्य, मेघ, इन्द्र, वायु, पृथ्वी तथा मूल समुदाय है। सत्, असत् तथा अमृत स्वरूप ब्रह्म यही है।" शतपथ का कथन है। यह प्राण ही निश्चित रूप से अमृत है। छान्दोग्य में कहा है-इस

प्राण की शक्ति आशा से अधिक है।" वृहदारण्यक में कहा गया है-"प्राण ही यश और बल है।"

ताण्डय का कथन है-"प्राण को जागृत कर लेना ही महान जागरण है।" जो ज्ञानी प्राण के रहस्य को जान लेता है, उसकी परम्परा अमर हो जाती है।

ऐसे-ऐसे अनेक कथनों को पढ़ने पर नचिकेता की जिज्ञासा प्राण तत्व को जानने हेतु जगी। उसने आचार्य 'यम' से उसके सम्बन्ध में अधिक जानने की जिज्ञासा प्रकट की। यम कितने ही दिनों तक उसकी पात्रता परखते रहे और बात को आगे के लिए टालते रहे। उनके अनेक प्रलोभनों वाले साधनों को सीख लेने की बात कही। पर जब वह उसी ज्ञान का आग्रह करता रहा तो यम ने पंचाग्नि विद्याओं का रहस्य बताया। इसके सूत्र संकेत प्रश्नोपनिषद् में मिलते हैं।

अग्नियाँ तीन हैं। आह्वनीय, दक्षिणाग्नि और आहिताग्नि। फिर पंचाग्नि से क्या अभिप्राय है ? यह पाँच कोशों की साधना है। इसी को पंचाग्नि विद्या कहा गया है।

मंत्र विज्ञान सुविस्तृत है। मंत्र महोदधि और कुलार्णव तंत्र में अनेकानेक मंत्रों का उल्लेख और विधि-विधान बताया गया है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि-"प्राण रहित शरीर में जैसे कुछ काम करने की शक्ति नहीं रहती, उसी प्रकार बिना प्राण को जागृत किये किसी मंत्र की पुरश्चरण साधना सफल नहीं होती।"

मारकण्डेय पुराण में कहा गया है कि "जैसे हाथी महावत की इच्छानुसार अपनी चाल चलता है और बदलता है, उसी प्रकार सिद्ध किया हुआ प्राण अभीष्ट प्रयोजनों में ही निरत रहता है।"

जैसे पाला हुआ चीता मृगों को ही मारता है, पालने वाले को नहीं। उसी प्रकार निग्रहीत सिद्ध प्राण अभीष्ट लक्ष्य की पूर्ति करते हैं। साधक को हानि नहीं पहुँचाते।

प्राण तत्व को कितनों ने ही कास्मिक एनर्जी-दैवी तत्व कहा है और कई उसे विजुअल लाइफ प्रत्यक्ष जीवन कहते हैं। वस्तुत: वह ऐसी शक्ति है जिसे अपने निजी भण्डार में भरते हुए अधिकाधिक शक्तिशाली बनाया जा सकता है। जो कार्य घर में जेनरेटर होने पर उसके प्रयोग से हो सकते हैं, उसी स्तर के मानवी कार्य इस क्षमता के आधार पर हो सकते हैं। उसे परमार्थ प्रयोजनों में भी लगाया जा सकता है।

विशेषतया इसका प्रयोग रोगों के निवारण में हो सकता है। मैस्मेरेज्म विद्या में उसके कुछ उपचार लिखे भी हैं और वे कारगर भी होते हैं। किसी दुर्बल मन वाले को यह अनुदान भी दिया जा सकता है। शक्तिपात के रूप में किसी दुर्बल प्राण वाले को सबल प्राण जैसा बनाया जा सकता है। इस क्षमता वाले के शाप वरदान भी फलते हैं। उसको उपचार या प्राण प्रहार दोनों ही रूपों में प्रयुक्त किया जा सकता है। प्राणायाम की गरिमा अखिल विश्व से प्राण तत्व-वायटल फोर्स को खींचकर साधक के मन:क्षेत्र में भर देने के रूप में बतायी गई है।

स्वसंचालित नाड़ी संस्थान ऑटोनॉमिक नर्वस सिस्टम अब किसी अन्य उपाय से नियंत्रण में नहीं आता तब प्राण तत्व ही उसे वश में करता है। हारमोन तत्वों-अन्त:स्रावी ग्रन्थियों पर अन्य किसी उपाय से नियंत्रण स्थापित नहीं किया जा सकता। किन्तु जागृत हुए प्राण द्वारा यह नितान्त कठिन कार्य भी सरल हो जाता है।

संस्कृत में प्राण शब्द की व्युत्पत्ति 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'अन्' धातु से होती है। अन् धातु (प्राणने) जीवनी शक्ति चेतना वाचक है। इस प्रकार प्राण शब्द का अर्थ चेतना शक्ति होता है। प्राण और जीवन प्राय: एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

यह प्राणतत्व जीवनतत्व जब न्यून पड़ता है तो व्यक्ति हर दृष्टि से लड़खड़ाने लगता है और जब वह समुचित मात्रा में रहता है तो समस्त क्रिया-कलाप ठीक तरह चलते हैं। जब वह बढ़ता है तो उस अभिवृद्धि को, बलिष्ठता, समर्थन, सतर्कता, तेजस्विता, मनस्विता, प्रतिभा आदि के रूप में देखा जा सकता है। ऐसे व्यक्ति ही महाप्राण कहलाते हैं। वे अपना प्राण असंख्यों में वितरित करते और अनेकों को अपनी नाव पर बिठाकर पार करते हैं।

कई व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से समर्थ और मानसिक दृष्टि से सुयोग्य होते हैं पर अन्त:करण में साहस न होने के कारण कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठा पाते। शंका-आशंकाओं से असमंजस में पड़ी मन:स्थिति में न तो कोई साहसिक निर्णय कर सकना बन पड़ता है और न अवसर का लाभ उठा सकना ही सम्भव होता है। इसके विपरीत मनस्वी व्यक्ति स्वास्थ्य, शिक्षा, साधन, सहयोग, अवसर आदि की कठिनाइयाँ रहते हुए भी दुस्साहस भरे कदम

उठाते और आश्चर्यचकित करने वाली सफलताएँ प्राप्त करते हैं।

प्राणवान होने के लिए साहस भरे कामों में हाथ डालना और उन्हें पूरा करके ही रुकना ऐसा उपाय है जिस आधार पर प्राणशक्ति निरन्तर बढ़ती ही जाती है। इन्हीं उपायों में एक प्राणायाम का अभ्यास भी है, जिसके अनेकों रूप प्रचलित हैं।

प्राणायाम से प्राणमय कोश का परिष्कार

उच्चस्तरीय योग साधना में प्राणायाम साधना का अपना महत्व है। दैनिक कृत्यों में उसे ऐसे ही रेचक, कुम्भक, पूरक के नित्य कर्म में संयुक्त रखा जा सकता है। फेफड़ों के व्यायाम के लिए-डीप ब्रीदिंग-लम्बी साँस लेने की कई पद्धतियाँ देश-विदेश में इन दिनों बहुत लोकप्रिय और लाभप्रद सिद्ध हो रही हैं। शिथिलासन के साथ किया जाने वाला प्राणाकर्षण प्राणायाम अपनी उपयोगिता के लिए प्रख्यात है। चौरासी सामान्य और उनमें से चुने हुए आठ विशिष्टों की चर्चा साधना ग्रन्थों में मिलती है। नाड़ी शोधन, लोम विलोम, सूर्यभेदन साधनाएँ भी प्राण विद्या के अन्तर्गत ही आती हैं। इनमें से पंचकोशी साधना के अन्तर्गत प्राणमय कोश के परिष्कार के लिए किसे कौन सा प्राणायाम करना चाहिए, उसका विधान साधकों की शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक स्थिति को परख करके ही बताया जा सकता है। कोश साधना में सभी को एक लाठी से नहीं हाँका जा सकता।

इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना तीन प्राण नाड़ियाँ प्रधान हैं। इसके अतिरिक्त दश विशिष्ट हैं। सामान्यों की संख्या बहुत अधिक है। इन्हें किस प्रयोजन के लिए किस प्रकार उपयोग में लाकर प्राणमय कोश का कौन-सा पक्ष तीव्र एवं मन्द किया जाना चाहिये, इसका उल्लेख यहाँ न करके इन पंक्तियों में इतना ही कहा जा सकता है कि प्राण विद्या के अन्तर्गत प्राणायाम प्रक्रिया का सहारा लेकर प्राणमय कोश की समग्र एवं आंशिक साधना की जा सकती है। प्राणायाम दीखने में ही सामान्य लगता है, पर यदि उच्चस्तरीय विधान के आधार पर साधा जाए तो शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक प्रगति के लिए उससे महत्वपूर्ण लाभ उठाया जा सकता है।

प्राण तत्व का मन:संस्थान से घनिष्ट सम्बन्ध है। साहसिकता के अभाव में मन दुर्बल पड़ता है, उसकी चिंतनशीलता व सक्रियता शिथिल पड़ जाती है। शरीर से दुर्बल होने पर भी मनस्वी व्यक्ति सुदृढ़ होता है। इसके विपरीत काया की दृष्टि से सुदृढ़ व्यक्ति भी मनोबल के अभाव में दीन-हीन, अकर्मण्य, निराश, भयभीत बना रहता है। प्राण-शक्ति ही साहस बनकर उभरती और मनोबल का आधार बनती है।

मन पर नियन्त्रण कर सकने वाला अंकुश उसके साथी प्राण के ही हाथ में है। मन की चंचलता प्रसिद्ध है, वह क्षण-क्षण में अस्त-व्यस्त बना इतस्तत: उड़ता रहता है। एक स्थान पर न टिक पाने से किसी महत्वपूर्ण दिशा में गम्भीरतापूर्वक सोच सकना और तन्मयतापूर्वक प्रस्तुत कार्य कर सकना संभव नहीं होता। एकाग्रता और तत्परता बिना किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिल सकती। जीवन के सभी महत्वपूर्ण कार्य दत्त-चित्त होकर करने से ही सम्पन्न होते हैं। चंचलता प्रगति पथ की सबसे बड़ी बाधा है। इसके रहते हुए सुयोग्य व्यक्ति भी पग-पग पर ठोकरें खाते और असफल रहते देखे जाते हैं। भौतिक क्षेत्र की भाँति आत्मिक क्षेत्र की सफलताएँ भी चंचलता के निरोध पर निर्भर हैं। योग की परिभाषा करते हुए महर्षि पातंजलि ने उसे चित्त-वृत्तियों का निरोध बताया है। इस चित्त-प्रवृत्ति को दो रूपों में देखा जाता है-एक तो अस्थिर चंचलता, दूसरे पाशविक कुसंस्कारों की ओर रुझान। इन दोनों ही अवांछनीयताओं पर नियन्त्रण स्थापित करने से चित्त-वृत्ति निरोध की योग-साधना सम्भव होती है।

मन पर नियन्त्रण करने के लिए शास्त्रकारों ने प्राणायाम साधना पर बहुत बल दिया है। दोनों की परस्पर घनिष्टता बताते हुए कहा गया है कि यदि प्राण पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सके तो मनोनिग्रह जैसा कठिन कार्य सरल बन जायेगा।

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ।
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ।।
हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरण: ।
तयोर्विनष्ट एकस्मिस्तौ द्वावपि विनश्यत: ।।

-हठयोग प्रदीपिका ४। २१

जिसने प्राण वायु को जीता उसने मन जीत लिया। जिसने मन जीता उसने प्राण जीत लिया। चित्त की चंचलता के दो ही कारण हैं-एक वासना का दूसरा प्राण वायु का चञ्चल होना। इनमें से एक के नष्ट हो जाने पर दोनों का नाश हो जाता है।

चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरुधयेत्।।

-गोरक्ष प० १। ९

प्राण वायु चलायमान रहने से बिन्दु चलायमान रहता है। प्राण निश्चल हो जाने से वीर्य भी निश्चल हो जाता है समर्थ स्थिरता प्राप्त करने के लिए योगी प्राणायाम करे।

मनो यत्न विलीयते पवनस्तभ लीयते।
पवनो लीयते यत्र मनस्तभ विलीयते।।

-ह० प्र० ४। २३

अर्थ-जिस जगह मन विलीन हो जाता है उस जगह प्राण वायु लीन हो जाती है और जहाँ वायु विलीन हो जाती है वहाँ मन लीन हो जाता है।

दुग्धाम्बुवत्स मिलितावुभौ तौ तुल्य
क्रियौमानस मारुतौ हि।
यतो मरुचत्र मनः प्रवृत्तिर्यतो
मनस्तत्र-मरुत्प्रवृत्तिः ।।

-हठ० प्रदी० ४। २४

अर्थ-एक क्रिया वाले दोनों मन एवं वायु, दूध और पानी के समान मिले हुए हैं, इसी से जहाँ वायु है वहाँ मन की प्रवृत्ति होती है और जहाँ मन है वहाँ वायु की प्रवृत्ति होती है।

याव द्वायुः स्थिरो देहे तावज्जीवन मुच्यते।
मरण तस्यनिष्क्रांतिस्ततो वायुं निरोधयेत्।।

-ह० प्र० २। ३

अर्थ-जब तक शरीर में प्राण वायु विद्यमान है, तब तक ही वह जीवित है और शरीर से प्राण वायु का निकलना ही मृत्यु है। इसलिए प्राण वायु का निरोध करना चाहिये।

स यथा शकुनिः सूत्रे प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयते, एवमेव खलु सोम्यैतन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते, प्राणबन्धनं हि सोम्य मन इति।

-छान्दो० ६। ८। २

जिस प्रकार डोरी से बँधा हुआ पक्षी घूमघाम कर अपने मूल आश्रय पर ही आ जाता है, उसी तरह हे सौम्य मन कहीं दूसरी जगह आश्रय न पाने पर घूमघाम कर प्राण का ही आश्रय लेता है। क्योंकि मन प्राण से ही बँधा हुआ है।

नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं जायते मनः ।
तस्मात्तस्य जयः प्राणः प्राणस्य जय एव हि।।

-योग बीज

अनेकों प्रकार के विचारों से मन साध्य नहीं होता है। इससे प्राप्त वायु के जीतने से ही मन जीता जाता है।

चित्तं न साध्यं विविधैर्विचारै-
र्वितर्कवादैरपि वेदवादिभिः।
तस्मात्तु तस्यैव हि केवलं जयः-
प्राणो हि विद्येत न कश्चिदन्यः।।

-योग रहस्य

विविध विचारों, तर्कों और अध्ययन श्रवण आदि से चित्त का समाधान नहीं होता, मनोनिग्रह तो प्राणायाम से ही सम्भव है।

हठिनामधिकस्त्वेकः प्राणायाम परिश्रमः ।
प्राणायामे मनः स्थैर्यं स तु कस्य न सम्मतः।।

-बोधसार

हठयोगियों का मुख्य साधन श्रम-साध्य प्राणायाम है। यह अन्यान्य योगियों की साधना से अधिक है। परन्तु वह प्राणायाम सिद्ध हो जाने पर मन स्थिर हो जाता है, यह कौन स्वीकार नहीं करेगा।

इन्द्रिय विकार-अनियन्त्रित वासना प्रवाह का कारण शारीरिक नहीं मानसिक ही होता है। इन्द्रियों पर मन का नियन्त्रण है। मन विकारग्रस्त होगा तो इन्द्रियों की चंचलता भी उभरेगी और वे कुकृत्य कर सकेंगी। यदि मन पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सके तो वासना पर अंकुश स्वयमेव लग जाता है। प्राणायाम से मनोनिग्रह-मनोनिग्रह से वासनाजन्य विकारों की रोक थाम सम्भव होती है। असंयम के लिए उत्तेजित करने वाले विकृत मन को कुमार्ग त्यागने के लिए सहमत करना प्राणायाम की सुनियोजित साधना-पद्धति अपनाने से सम्भव हो सकता है। इस सम्बन्ध में साधना विज्ञान का मन्तव्य इस प्रकार है-

प्राणायामो भवेदेवं पातकेन्धनपावकः ।
भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभि सदा।।

-योग चूड़ामणि उप० १०८। १०९

प्राणायाम की अग्नि पाप रूपी ईंधन को जलाकर राख कर देती है और वह सेतु के समान संसार सागर से पार होने का मार्ग खोलती है।

रसस्य मनसश्चैव चंचलत्वं स्वभावत: ।
रसो वद्धो मनो बद्धं किं न सिद्ध्यति भूतले ।।
मूर्च्छितो हरते व्याधीन् मृतो जीवयति स्वयम् ।
बद्ध: खेचरतां धत्ते रसो वायुश्य पार्वति ।।
मन:स्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिन्दु: स्थिरो भवेत् ।
बिन्दुस्थैर्यात्सदा सत्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते ।।

-हठ० यो० प्रदी० ४ । २६ से २८

रस और मन यह दोनों ही स्वभावत: चंचल हैं। रस के बँध जाने से मन बँध जाता है। इनके बँध जाने पर भला क्या सिद्धि नहीं मिल सकती।२६।

यह रस और प्राण मूर्च्छित होने पर समस्त रोगों को हर लेते हैं, मरने पर दूसरों को जला देते हैं, बँधने पर आकाश में गमन करने लगते हैं।२७।

मन के स्थिर हो जाने पर प्राण स्थिर हो जाता है, और प्राण के स्थिर होने से वीर्य स्थिर होता है। वीर्य के स्थिर होने से शरीर में सदा सत्व स्थिर रहता है । २८।

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुत: ।
मारुतस्य लयो नाथ: स लयो नादमाश्रित: ।।

-ह० प्र० ४ । २९

अर्थ- इन्द्रियों का प्रवर्तक मन है और मन का प्रवर्तक वायु है और प्राण का नाथ मन का लय है और वह मन का लय नाद के आश्रित है।

हेतु द्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरण: ।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यत: ।।

-ह० प्र० ४ । २२

अर्थ- चित्त की प्रवृत्ति में दो कारण हैं- एक वासना, दूसरी प्राण वायु। उन दोनों में से एक के नष्ट हो जाने पर दोनों ही नष्ट हो जाते हैं।

अध्यात्म साधना में प्राणायाम को योगाभ्यास का महत्वपूर्ण अंग माना गया है। उससे मात्र मनोनिग्रह का लाभ ही नहीं मिलता अन्य सूक्ष्म संस्थानों का भी परिशोधन होता है। शारीरिक आरोग्य का लाभ सर्वविदित है। फेफड़ें सुदृढ़ होने से अधिक मात्रा में प्राण वायु के शरीर में प्रवेश करने से जीवन तत्व भी अधिक मिलते हैं और परिशोधन की गति भी तीव्र होती है। स्थूल और सूक्ष्म शरीरों पर-स्वास्थ्य सम्वर्धन और मानसिक परिष्कार का प्राणायाम का प्रत्यक्ष प्रभाव होता है। कारण शरीर के भाव संस्थान पर भी इस साधना की उपयुक्त प्रतिक्रिया होती है। कुसंस्कारों, दोष-दुर्गुणों का निराकरण होता है। आत्मिक पवित्रता बढ़ती है। अन्त:करण में श्रेष्ठ संस्कारों का उभार होने लगता है। ऐसी स्थिति बनती चले तो आत्मिक प्रगति में किसी प्रकार का सन्देह न रह जायेगा। कहा भी है-

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मला: ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषा: प्राणस्य निग्रहात् ।।

-मनु

जैसे अग्नि में डालने से धातुओं के मल जल जाते हैं वैसे ही प्राणायाम करने से इन्द्रियों के विकार दूर हो जाते हैं।

यथा पर्वतधातूनां दह्यन्ते धर्मनान्मला: ।
तथेन्द्रियकृता दोष: दह्यन्ते प्राणधारणात् ।।

-अमृतनादोपनिषद्

जिस प्रकार सोने को तपाने से उसके खोट जल जाते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियों के विकार प्राणायाम से जल कर नष्ट होते हैं।

प्राणायामेन युक्तस्य विप्रस्य नियतात्मन: ।
सर्वे दोषा: प्रथश्यन्ति सत्वस्थश्चैव जायते ।।
तपांसि यानि तप्यन्ते व्रतानि नियमाश्च ये ।
सर्वयज्ञफलश्चैव प्राणायामश्च तत्समः ।।

-वायु पुराण

प्राणायाम से युक्त नियत आत्मा वाले विप्र के समस्त दोष नष्ट हो जाया करते हैं और फिर वह केवल सत्वगुण में ही स्थित रहा करता है। जो भी तपस्यायें तपी जाती हैं, व्रत लिए जाते हैं और नियम ग्रहण किये जाते हैं तथा समस्त यज्ञों के करने का जो भी कुछ फल होता है वह सब प्राणायाम के समान होता है।

तस्माद्युक्त: सदा योगी प्राणायामपरो भवेत् ।
सर्व पापविशुद्धात्मा परं ब्रह्माधिगच्छति ।।

-वायु पुराण

इसलिए योगी को सर्वदा युक्त होकर प्राणायाम में परायण होना चाहिये। वह फिर समस्त पापों से विशुद्ध आत्मा वाला होकर परब्रह्म को प्राप्त कर लिया करता है।

प्राणायामो भवत्येवं पातकेन्धनपावक: ।
भवोदधिमहासेतु: प्रोच्यते योगिभि: सदा ।।

-योग सन्ध्या

प्राणायाम करने से जैसे पातक रूपी काष्ठ को भस्म करने वाला अग्नि होता है तैसे ही संसार रूपी समुद्र से तारने वाला बड़ा पुल योगियों ने प्राणायाम को कहा है।

तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य।

–पञ्च शिखाचार्य

प्राणायाम से बढ़कर और कोई तप नहीं। उससे मलों की शुद्धि होती है और ज्ञान का प्रकाश प्रदीप्त होता है।

सुषुम्नायां सदेवायं बहेत् प्राणसमीरणः ।
एतद् विज्ञान मात्रेण सर्व पापैः प्रमुच्यते।।

–गोरखनाथ

यह प्राण वायु सुषुम्ना नाड़ी में सर्वदा ही प्रवाहित होता है। परन्तु जो योगी इसे जान जाते हैं वे समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं।

प्राणायामेन चित्तं शुद्धं भवति सुव्रत ।
चित्ते शुद्धे शुचिः साक्षात्प्रत्यग्ज्योतिव्यवस्थितः।।
सर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यग्ज्ञानमवाप्नुयात् ।
मनोजवत्वमाप्नोति पलितादि च नश्यति ।।

– जावाल दर्शनोपनिषद् ६। १६। १९

प्राणायाम से चित्त की शुद्धि होती है। चित्त शुद्ध होने से अन्तःकरण में प्रकाश होता है और उस प्रकाश में आत्म साक्षात्कार होता है।

प्राणायाम का साधक श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करता है। मनस्वी और मनोजयी बनता है।

मारकण्डेय पुराण में प्राणायाम के चार स्तर बताये गये हैं और उनके द्वारा उच्चस्तरीय उद्देश्यों की पूर्ति होने का प्रतिपादन किया गया है–

तस्माद्युक्तः सदा योगी प्राणायाम परो भवेत्।
श्रूयतां मुक्ति फलद तस्यावस्था चतुष्टयम्।।
ध्वस्तिः प्राप्ति स्तथा संवित् प्रसादश्च महीयते।
स्वरूपं श्रुणुचेतषां कथ्यमान मनु क्रमात्।।
कर्म्मणाभिष्टदुष्टानांजायतेफलसंक्षयः।
चेतसोऽपकषायत्वंयत्रसाध्वस्तिरुच्यते।।
ऐहिकामुष्मिकान्कामांल्लोभोहात्मकान्स्वयम्।
निरुध्यास्तेसदायोगी प्राप्तिःसासार्वकालिकी।।
अतीतानागतानर्थान्विप्रकृष्टतिरोहितान्।
विजानातीन्दुसूर्य्यर्क्षग्रहाणांज्ञानसम्पदा।।
तुल्यप्रभावस्तुयदायोगी प्राप्नोतिसंविदम्।
तदासम्विदितिख्याताप्राणायामस्यसास्थितिः।।
यान्तिप्रसादंयेनास्यमनःपंचचवायवः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्चसप्रसादइतिस्मृतः।।

जैसे सिंह, व्याघ्र और हाथी को सिखा सधा कर नम्र बना लिया जाता है, वैसे ही प्राणायाम से प्राण वश में होते हैं।

जैसे महावत हाथी को अंकुश के बल पर इच्छानुसार चलाता है, वैसे ही योगीजन प्राण से इच्छानुसार काम लेते हैं।

जैसे पाला हुआ चीता मृगों को ही मारता है, पालने वाले को नहीं। उसी प्रकार प्राणायाम से सँभाला हुआ प्राण पापों को नष्ट करता है, जीवन को नहीं।

प्राणायाम की चार स्थिति हैं- (१) ध्वस्ति (२) प्राप्ति (३) संवित् (४) प्रसाद।

जिससे दूषित कर्मों और मनोविकारों का शमन होता है, उसे ध्वस्ति कहते हैं।

जिससे लोभ, मोह आदि से भरी कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं, उसे प्राप्ति कहते हैं।

जिससे ग्रह–नक्षत्र और सूक्ष्म लोकों से सम्बन्ध जुड़ जाता है तथा दिव्य ज्ञान की ज्योति दीप्तिमान होती है। अतीत अनागत और तिरोहित जान लिया जाता है उसे संवित् कहते हैं।

जिस स्थिति में पाँचों प्राण तथा दशों इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं, चित्त में आनन्द, उल्लास अनुभव होता है उसे प्रसाद कहते हैं।

प्राणायाम की पहुँच अध्यात्म क्षेत्र के अति महत्वपूर्ण परतों तक है। उसे शारीरिक, मानसिक, व्यायामों का उपचार मात्र नहीं समझना चाहिये। वरन् उसे उच्च–स्तरीय योग साधन ही मानकर चलना चाहिये। पुरश्चरण अनुष्ठानों की सफलता के लिए पूर्व भूमिका के रूप में प्राणायाम विज्ञान की विशेष साधनाएँ कराई जाती हैं। कहा गया है–

विना प्राणं यथा देहः सर्व कर्मसु न क्षमः।
विना प्राणं तथा मंत्रः पुरश्चर्याशतैरपि ।।

प्राण रहित होने पर जैसे शरीर में काम करने की कुछ भी क्षमता नहीं रहती, उसी तरह मंत्र की प्राण शक्ति को जब तक जागृत नहीं कर लिया जाता तब तक सैकड़ों पुरश्चरण करने पर भी मंत्र शक्ति से अभीष्ट लाभ की आशा नहीं की जा सकती।

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि सन्तता शिवा तां कुरु मोत्क्रमीः।।

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् ।
मातेव पुत्रान् रक्षस्त श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ।
-प्रश्नोपनिषद् २ । १२ । १३

हे प्राण, तेरा ही रूप वाणी में निहित है तू ही श्रोत, नेत्र, मन में विद्यमान है। तू उन्हें कल्याणकारी बना। इस शरीर में ही विद्यमान रह। इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ है सो सब तुझ प्राण के ही आश्रित है। तू माता-पिता के समान हमारी रक्षा कर और हमें सम्पदाओं तथा विभूतियों से सम्पन्न कर।

प्राणमय कोष का प्राणायाम द्वारा जब परिमार्जन किया जाता है तो प्राण शक्ति की अजस्र धारा उसमें फूट निकलती है। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, यह पाँच प्राण और नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय, यह पाँच उपप्राण ऐसे विद्युत-प्रवाह हैं जिनका सम्बन्ध प्रकृति की सूक्ष्म शक्तियों से है। इन दशों द्वारा प्रकृतिगत प्राण तत्व में से मनुष्य बहुत कुछ अपने लिए खींच सकता है। मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध और उड्डियान बन्ध से श्वाँस और नाड़ी तन्तुओं पर अधिकार प्राप्त होता है। महामुद्रा, खेचरी मुद्रा, विपरीत करणी मुद्रा, शांभवी मुद्रा, अगोचरी मुद्रा, भ्रुवरी मुद्रा मन को वश में करने और चित्त को स्थिर करने में अचूक हैं। लोम-विलोम, प्राणाकर्षण, सूर्यभेदी प्राणायाम, मूर्छाप्राणायाम, भ्रामरी प्राणायाम तथा प्लावनी प्राणायाम यह अपने-अपने क्षेत्र में बड़े ही महत्वपूर्ण हैं। इनसे मृत्यु तक पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

प्राणमय-कोश की साधना

'प्राण' शक्ति एवं सामर्थ्य का प्रतीक है। मानव शरीर के बीच जो अन्तर पाया जाता है, वह बहुत साधारण है। एक मनुष्य जितना लम्बा-मोटा, भारी है दूसरा भी उससे थोड़ा-बहुत ही न्यूनाधिक होगा। परन्तु मनुष्य की सामाजिक शक्ति के बीच जो जमीन आसमान का अन्तर पाया जाता है, उसका कारण उसकी आन्तरिक शक्ति है।

विद्या, चतुराई, अनुभव, दूरदर्शिता, साहस, लगन, शौर्य, जीवनीशक्ति, ओज, पुष्टि, पराक्रम, पुरुषार्थ, महानता आदि नामों से इस आन्तरिक शक्ति का परिचय मिलता है। आध्यात्मिक भाषा में इसे प्राणशक्ति कहते हैं।

प्राण नेत्रों में होकर चमकता है, चेहरे पर बिखरता फिरता है, हाव-भाव में उसकी तरंगें बहती हैं। प्राण की गन्ध में एक ऐसी विलक्षण मोहकता होती है, जो दूसरों को विभोर कर देती है। प्राणवान् स्त्री-पुरुष मन को ऐसे भाते हैं कि उन्हें छोड़ने को जी नहीं चाहता।

प्राण वाणी में घुला रहता है। उसे सुनकर सुनने वालों की मानसिक दीवारें हिल जाती हैं। मौत के दाँत उखाड़ने के लिए जान हथेली पर रखकर जब मनुष्य चलता है तो उसकी प्राण शक्ति ही ढाल-तलवार होती है। चारों ओर निराशाजनक घनघोर अन्धकार छाया होने पर भी प्राणशक्ति आशा की प्रकाश रेखा बनकर चमकती है। बालू में तेल निकालने की, मरुभूमि में उपवन लगाने की, असम्भव को सम्भव बनाने की, राई को पर्वत करने की सामर्थ्य केवल प्राणवान में ही होती है। जिसमें स्वल्प प्राण हैं, उसे जीवित मृतक कहा जाता है। शरीर से हाथी के समान स्थूल होने पर भी उसे पराधीन परमुखापेक्षी ही रहना पड़ता है। वह अपनी कठिनाइयों का दोष दूसरों पर थोपकर किसी प्रकार मन को सन्तोष देता है। उज्ज्वल भविष्य की आशा के लिए वह अपनी सामर्थ्य पर विश्वास नहीं करता। किसी सबल व्यक्ति की, नेता की, अफसर की, धनी की, सिद्ध पुरुष की, देवी-देवताओं की सहायता ही उसकी आशाओं का केन्द्र होती है। ऐसे लोग सदा ही अपने दुर्भाग्य का रोना रोते हैं।

प्राण द्वारा ही यह श्रद्धा, निष्ठा, दृढ़ता, एकाग्रता और भावना प्राप्त होती है, जो भव-बन्धनों को काटकर आत्मा को परमात्मा से मिलाती है, 'मुक्ति को परम पुरुषार्थ माना गया है। संसार के अन्य सुख-साधनों को प्राप्त करने के लिए जितने विवेक, प्रयत्न एवं पुरुषार्थ की आवश्यकता पड़ती है, मुक्ति के लिए उससे कम नहीं वरन् अधिक की ही आवश्यकता है।

मुक्ति विजय का उपहार है, जिसे साहसी शूरवीर ही प्राप्त करते हैं। भगवान अपनी ओर से न किसी को बन्धन देते हैं न मुक्ति। दूसरा न कोई स्वर्ग में ले जा सकता है न नरक में, हम स्वयं अपनी आन्तरिक स्थिति के आधार पर जिस दिशा में चलें, उसी लक्ष्य पर जा पहुँचते हैं।

उपनिषद् का वचन है कि "नायमात्मा बल हीनने लभ्य" वह आत्मा बलहीनों को प्राप्त नहीं होती। निस्तेज व्यक्ति अपने घरवालों पड़ौसियों, रिश्तेदारों, मित्रों को प्रभावित नहीं कर सकते तो भला परम-आत्मा

(परमात्मा) पर उनका क्या प्रभाव पड़ेगा। तेजस्वी व्यक्ति ही आत्म-लाभ कर सकते हैं, इसलिए प्राण-संचय के लिए योग-शास्त्र में अत्यधिक बल दिया गया है। प्राणायाम की महिमा से सारा अध्यात्म-शास्त्र भरा पड़ा है।

जैसे सर्वत्र ईश्वर की महामहिमामयी गायत्री शक्ति व्याप्त है वैसे ही निखिल विश्व में प्राण का चैतन्य समुद्र भी भरा पड़ा है। जैसे श्रद्धा और साधना से गायत्री शक्ति को खींचकर अपने में धारण किया जाता है, वैसे ही अपने प्राणायाम कोश को सतेज और चेतन करके विश्वव्यापी प्राणी से यथेष्ट मात्रा में प्राण-तत्व खींचा जा सकता है। यह भण्डार जितना अधिक होगा, उतने ही हम प्राणवान् बनेंगे और उसी अनुपात से सांसारिक एवं आध्यात्मिक सम्पत्तियाँ प्राप्त करने के अधिकारी हो जायेंगे।

दीर्घजीवन, उत्तम स्वास्थ्य, चैतन्यता, स्फूर्ति, उत्साह, क्रियाशीलता, कष्ट, सहिष्णुता, बुद्धि की सूक्ष्मता, सुन्दरता, मनमोहकता आदि विशेषताएँ प्राणशक्ति रूपी फुलझड़ी की छोटी-छोटी चिनगारियाँ हैं।

प्राणायाम-सांस को खींचने, उसे अन्दर रोके रखने और बाहर निकालने की एक विशेष क्रिया पद्धति है। इस विधान के अनुसार प्राण को उसी प्रकार अन्दर भरा जाता है जैसे साइकिल के पम्प से ट्यूब में हवा भरी जाती है। यह पम्प इस प्रकार का बना होता है कि हवा को भरता है पर वापस नहीं खींचता। प्राणायाम की व्यवस्था भी इसी प्रकार की है। साधारण श्वांस-प्रश्वांस क्रिया में वायु के साथ वह प्राण भी इसी प्रकार आता-जाता रहता है जैसे सड़क पर मुसाफिर चलते रहते हैं। किन्तु प्राणायाम विधि के अनुसार जब श्वास-प्रश्वास क्रिया होती है तो वायु में से प्राण खींचकर खासतौर से उसे शरीर में स्थापित किया जाता है जैसे कि धर्मशाला में यात्री को व्यवस्थापूर्वक टिकाया जाता है।

भारतीय योगशास्त्र षट्चक्रों में सूर्यचक्र को बहुत अधिक महत्व देता है। अब पाश्चात्य विज्ञान ने भी सूर्य-ग्रन्थि को सूक्ष्म तन्तुओं का केन्द्र स्वीकार किया है और माना है कि मानव शरीर में प्रतिक्षण होती रहने वाली क्रिया प्रणाली का संचालन इसी के द्वारा होता है।

कुछ विद्वानों ने इसे पेट का मस्तिष्क नाम दिया है। यह सूर्यचक्र या सोलर प्लेक्सस आमाशय के ऊपर हृदय की धुक-धुकी के पीछे मेरुदण्ड के दोनों ओर स्थित है। यह एक प्रकार की सफेद और भूरी गद्दी से बना हुआ है। पाश्चात्य वैज्ञानिक शरीर की आन्तरिक क्रिया-विधि पर इसका अधिकार मानते हैं और कहते हैं कि भीतरी अंगों की उन्नति अवनति का आधार यही केन्द्र है। किन्तु सच बात यह है कि खोज अभी अपूर्ण है। सूर्य चक्र का कार्य और महत्व उससे अनेक गुना अधिक है जितना कि वे लोग मानते हैं। ऐसा देखा गया है कि इस केन्द्र पर यदि जरा कड़ी चोट लगे तो मनुष्य की तत्काल मृत्यु हो जाती है।

योगशास्त्र इस केन्द्र को प्राणकोश मानता है और कहता है कि वहीं से निकलकर एक प्रकार का मानवी विद्युत प्रवाह सम्पूर्ण नाड़ियों में प्रवाहित होता है। ओजस शक्ति इस संस्थान में रहती है।

प्राणायाम द्वारा सूर्य-चक्र की एक प्रकार की हल्की-हल्की मालिश होती है और जिससे उसमें गर्मी, तेजी और उत्तेजना का संचार होता है। और उसकी क्रियाशीलता बढ़ती है। प्राणायाम से फुफ्फुसों में वायु भरती है और वे फूलते हैं और यह फुलाव सूर्य-चक्र की परिधि को स्पर्श करता है।

बार-बार स्पर्श करने से जिस प्रकार काम-सेचन वाले अंगों में उत्तेजना उत्पन्न होती है, उसी प्रकार प्राणायाम द्वारा फुस-फुस से सूर्य-चक्र का स्पर्श होना वहाँ एक सनसनी उत्तेजना और हलचल पैदा करता है। यह उत्तेजना व्यर्थ नहीं जाती वरन् सम्बन्धित सारे अंग-प्रत्यंगों को जीवन और बल प्रदान करती है जिससे शारीरिक और मानसिक उन्नतियों का द्वार खुल जाता है।

मेरुदण्ड के दाहिने, बाएँ दोनों ओर नाड़ी-गुच्छकों की दो श्रृंखलायें चलती हैं। ये गुच्छक आपस में सम्बन्धित हैं और इन्हीं में सिर, गले, छाती, पेट आदि के गुच्छक भी आकर शामिल हो गये हैं। अन्य अनेक नाड़ी तन्तुओं का भी वहाँ जमघट है। इनका प्रथम विभाग जिसे मस्तिष्क मेरु विभाग कहते हैं शरीर के ज्ञान-तन्तुओं से घनीभूत हो रहा है। इसी संस्थान से असंख्य 'बहुत ही बारीक' भूरे तन्तु निकलकर रुधिर नाड़ियों में फैल गये हैं और अपने अन्दर रहने वाली विद्युत शक्ति से भीतरी शारीरिक अवयवों को संचालित किये रहते हैं।

ऊपर बताया जा चुका है कि मेरुदण्ड के दाएँ-बाएँ नाड़ी गुच्छकों की दो पृथक् शृंखलायें चलती हैं। इन्हीं को योग में इड़ा और पिंगला कहा गया है।

रुधिर संचार, श्वास क्रिया, पाचन आदि प्रमुख कार्यों को सुसंचालित रखने की जिम्मेदारी उपरोक्त नाड़ी गुच्छकों के ऊपर प्रधान रूप से है। प्राणायाम साधना में इन इड़ा-पिंगला नाड़ियों को नियत विधि के अनुसार बलवान् बनाया जाता है, जिससे उनसे सम्बन्धित शरीर की सहानुभावी क्रिया के विकार दूर होकर आनन्दमयी स्वस्थता प्राप्त हो सके।

अत्यन्त प्राचीनकाल से अध्यात्मवेत्ता पुरुष प्राणायाम के महत्व और उनके लाभों को अनुभव करते रहे हैं। तदनुसार समस्त भू-मण्डल में योगी लोग अपनी विधि से इन क्रियाओं को करते रहते हैं। महापुरुष ईसामसीह अपने शिष्यों सहित एक पर्वत पर चढ़कर ईश्वर प्रार्थना किया करते थे। कहा जाता है कि इस ऊँची चढ़ाई में आध्यात्मिक श्वास-क्रियाओं का रहस्य छिपा हुआ था।

बौद्ध धर्म में 'जजन' नामक प्राणायाम बहुत काल से चला आता है। प्रसिद्ध जापानी पुरोहित हकुइन जेशी ने प्राणायाम का खूब विस्तार किया था। यूनान में प्लेटो से भी बहुत पहले इस विज्ञान की जानकारी का पता चलता है। अन्यान्य देशों में भी किसी न किसी रूप में इस विद्या के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं।

योगदर्शन 'साधना पाद' के सूत्र ५२, ५४ में बताया गया है कि प्राणायाम से अविद्या का अन्धकार दूर होकर ज्ञान की ज्योति प्रकट होती है और मन एकाग्र होने लगता है। ऐसी गाथायें भी सुनी जाती हैं कि प्राण को वश में करके योगी लोग मृत्यु को जीत लेते हैं और जब तक चाहें वे जीवित रह सकते हैं। प्राण शक्ति से अपने और दूसरे के रोगों को नष्ट करने का एक अलग विज्ञान है, अनेक प्रकार के प्राणायामों से होने वाले लाभ सुने और देखे जाते हैं। यह लाभ कभी-कभी इतने विचित्र होते हैं कि उन पर आश्चर्य करना पड़ता है।

इन पंक्तियों में उन अद्‌भुत और आश्चर्यजनक घटनाओं की चर्चा न करके इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्राणायाम से शरीर की सूक्ष्म क्रिया पद्धति के ऊपर अदृश्य रूप से ऐसे विज्ञान-सम्मत प्रभाव पड़ते हैं, जिनके कारण रक्त संचार, नाड़ी-संचालन, पाचन-क्रिया, स्नायविक दृढ़ता, प्रगाढ़-निद्रा, स्फूर्ति एवं मानसिक विकास के चिन्ह स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं एवं स्वस्थता, बलशीलता, प्रसन्नता, उत्साह तथा परिश्रम की योग्यता बढ़ती है।

आत्मोन्नति, चित्त की एकाग्रता, स्थिर दृढ़ता आदि मानसिक गुणों की मात्रा में प्राण साधना के साथ-साथ ही वृद्धि तो हो जाती है । इन लाभों पर विचार किया जाए तो प्रतीत होता है कि प्राणायाम आत्मोन्नति की महत्वपूर्ण साधना है।

प्राण तत्व का वायु से विशेष सम्बन्ध है। पाश्चात्य वैज्ञानिक तो प्राण को वायु का ही एक सूक्ष्म भेद मानते हैं। साँस को ठीक तरह लेने न लेने पर प्राण की मात्रा का घटना-बढ़ना निर्भर रहता है। इसलिए कम से कम साँस लेने के सही तरीके से प्रत्येक बाल-वृद्ध को परिचित होना ही चाहिये।

हमें गहरी और पूरी साँस लेना चाहिये, जिससे वायु फेंफड़े के हर भाग में जाकर सम्पूर्ण वायु-मन्दिरों में रक्त की सफाई कर सके। अधूरी और उथली साँस लेने से कुछ थोड़े से वायु-मन्दिरों की सफाई हो पाती है क्योंकि उथली साँस का दबाव इतना नहीं होता कि वह हर एक कोष्ठ में पहुँच सके। जब हवा वहाँ तक पहुँचेगी ही नहीं तो सफाई किस प्रकार होगी ? साँस का सम्पर्क होने पर रक्त की अशुद्धता(कार्बोनिक एसिड गैस) बाहर निकलती जाती है और साँस का प्राण-ऑक्सीजन में घुल जाता है।

यह प्राण शक्ति उस शुद्ध रक्त के दूसरे दौरे के साथ शरीर के अंग-प्रत्यंगों में पहुँचकर उन्हें ताजगी और स्फूर्ति प्रदान करती है। शुद्ध रुधिर में एक चौथाई भाग ऑक्सीजन का होता है। यदि इसमें न्यूनता हो जाय तो उसका प्रभाव पाचन-क्रिया पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। ऐसे व्यक्तियों की जठराग्नि मन्द होने लगती है।

इन सब क्रियाओं पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि हमें पूरी गहरी साँस लेने की आवश्यकता है, जिनसे रक्त में पर्याप्त ऑक्सीजन मिल जाय, जिससे अंग-प्रत्यंगों में ताजगी एवं स्फूर्ति पहुँचती रहे और पाचन-शक्ति में निर्बलता न आने पावे।

जठराग्नि मन्द होने से अन्य अंगों में शिथिलता आने लगती है और वे अपने को अधूरा एवं दोषपूर्ण बनाते हैं। यही क्रम यदि कुछ समय जारी रहे तो जीवन यात्रा में नाना प्रकार की विघ्न-बाधायें उपस्थित हो सकती हैं और विविध भाँति के रोगों का सामना करना पड़ता है।

अधूरी साँस लेने वाले के फेफड़े का बहुत-सा भाग निकम्मा पड़ा रहता है। जिन मकानों की सफाई

नहीं होती, उनमें गन्दगी, मकड़ी, मच्छर, छिपकली, कीड़े-मकोड़े आदि का जमघट होने लगता है। इसी तरह फेफड़े के जिन वायु-कोष्ठों में साँस की वायु नहीं पहुँचती, उनमें क्षय खाँसी, जुकाम, उरक्षत, कफ, दमा आदि के रोग कीट जड़ जमा लेते हैं। धीरे-धीरे वहाँ से निर्बाध रीति से पलते रहते हैं और भीतर ही भीतर अपना इतना आधिपत्य जमा लेते हैं कि फिर उनका निकाल बाहर करना कठिन या असम्भव हो जाता है।

प्राणायाम विज्ञान का सबसे पहले और आरम्भिक पाठ यह है कि हमें पूरी तरह गहरी साँस लेनी चाहिये। ऐसी आदत डालने का प्रयत्न करना चाहिये कि सदैव इस प्रकार साँस ली जाय कि वायु से पूरे फेफड़े भर जाएँ। यह कार्य झटके से या उतावली में नहीं होना चाहिये। धीरे-धीरे इस प्रकार पूरी साँस खींचनी चाहिये कि छाती भरपूर चौड़ी हो जाय और फिर उसी क्रम से धीरे-धीरे वायु को बाहर निकाल देना चाहिये।

यही रीति फेफड़ों को स्वस्थ रखने वाली, रक्त को शुद्ध करने वाली, शरीर के अंग-प्रत्यंग में चैतन्यता देने वाली, पाचन शक्ति ठीक बनाये रखने वाली है, इसलिए आरोग्य और दीर्घ जीवन देने वाली भी है।

पूरी साँस लेने का अभ्यास डालने से छाती की चौड़ाई बढ़ती है, फेफड़ों की मजबूती और वजन में वृद्धि होती है, हृदय की कमजोरी में सुधार होकर रक्तसंचार की क्रिया में चैतन्यता दिखाई देने लगती है। पाठकों को श्वास-विज्ञान के इस तथ्य को गम्भीरतापूर्वक विचारना चाहिये और अविलम्ब पूरी एवं गहरी साँस लेने की आदत डालने का प्रयत्न आरम्भ कर देना चाहिये। कुछ दिन श्वास-क्रिया पर ध्यान रखने से भूल सुधारते रहने से यह आदत भली प्रकार पड़ जाती है।

प्राणायाम विज्ञान की दूसरी शिक्षा 'नाक से साँस लेना' है। यद्यपि मुँह से भी साँस ली जा सकती है, पर वह इतनी उपयोगी कदापि नहीं हो सकती जितनी कि नाक से लेने पर होती है। एक बार एक जंगी जहाज के यात्रियों में चेचक बड़े उग्र रूप से फैली। डाक्टरों ने इनकी विशेष सावधानी से जाँच करते रहने का प्रयत्न किया। मृतकों के बारे में उनकी रिपोर्ट थी कि मुँह से साँस लेते थे। उस जहाज में एक भी ऐसा आदमी न मरा जिसे नाक से साँस लेने की आदत थी। जुकाम और सर्दी के रोगों के बारे में भी डाक्टरी जाँच का यही निष्कर्ष है कि मुँह खोलकर साँस लेने से इसका प्रकोप विशेष रूप से होता है और भी अनेक छोटे-बड़े रोग इसी बुरी आदत के कारण होते देखे गये हैं।

नाक से फेफड़ों तक जो हवा पहुँचाने वाली नली गई है, उसकी रचना इस प्रकार हुई है कि वह वायु को उचित रूप से संशोधन-परिमार्जन करके भीतर पहुँचावे। नासिका के छिद्रों में छोटे-छोटे बाल होते हैं। यह एक प्रकार की छलनी है जिसमें धूल व गन्दगी के अणु अटके रह जाते हैं और छनी हुई वायु भीतर जाती है। जब आप नासिका के छिद्रों में अँगुली डालकर उनकी सफाई करते हैं तो उनमें से कुछ मैल निकलता है। यह मैल वह कचरा है जो वायु के छनने से रहा हुआ है।

नासिका में एक प्रकार का तरल पदार्थ स्रवित होता रहता है, बालों में अटकने के सिवाय जो कचरा बचा रहता है, वह इस स्राव में चिपक जाता है। वायु का इतना संशोधन नासिका के छिद्रों में हो जाने के उपरान्त वह आगे चलती है। श्वास नली जो फेंफड़ों तक मस्तिष्क में होती हुई गई है, वह काफी लम्बी है। इतनी लम्बाई में यात्रा करती हुई वायु का तापमान सह्य हो जाता है। यदि ठण्डी हुई तो गरम हो जाती है। इस प्रकार फेंफड़ों तक पहुँचते-पहुँचते वह सब प्रकार सह्य संशोधित हो जाती है। किन्तु यदि मुँह से साँस लें तो परिणाम बिलकुल दूसरी ही प्रकार का हो जाता है।

मुँह में नासिका की तरह बाल नहीं होते जो वायु को छानें, दूसरे मुँह का छिद्र इतना बड़ा है कि उसमें वायु गर्द-गुबार बिना रुकावट के चल सकता है। तीसरे मुँह से फेफड़ों की दूरी बहुत कम है, इसलिये वायु की सर्दी-गर्मी में भी विशेष परिवर्तन नहीं होने पाता। इस प्रकार बिना छनी गर्द-गुबार युक्त सर्द-गर्म हवा मुँह के द्वारा जब फेफड़ों में पहुँचती है तो उन्हें हानि पहुँचाती है और बीमारियों की उत्पत्ति करती है। देखा गया है कि जो लोग रात में मुँह से साँस लेते हैं सबेरे उनका मुँह सूखा, कड़ुवा और बदबूदार होता है। रोगियों को यह लत हो तो उनके स्वस्थ होने में अनावश्यक देरी लग जाती है।

प्राणायाम के अभ्यासियों को योगियों की यह कड़ी ताकीद होती है कि वे सदा नाक से साँस लिया करें। यदि नासिका भाग में कुछ रुकावट हो जिसके कारण मुँह से साँस लेने के लिए बाध्य होना पड़ता है तो नासिका रन्ध्रों की सफाई कर लेनी चाहिये।

संगीत से फेफड़े बहुत मजबूत होते हैं। गायन में जिन्हें रुचि होती है, उन्हें छाती सम्बन्धी रोग कम होते देखे गये हैं। अत्यधिक गाने से या अनुचित अवस्था में अविधिपूर्वक गाने से बीमारियाँ हो सकती हैं, परन्तु साधारणतः संगीत की गणना फेफड़ों को मजबूत बनाने वाले अभ्यासों में है।

कण्ठ, हृदय, पसली, आमाशय, आंत, यकृत आदि सभी का, धड़ के अन्तर्गत रहने वाले अंगों का संगीत से अच्छा व्यायाम होता है। यदि अच्छे बाजे के साथ ध्वनिपूर्वक गाया बजाया जाये तो एक प्रकार की विद्युत तरंगें उत्पन्न होकर स्नायु-तन्तुओं को तरंगित करती रहती हैं, जिससे श्वास-संचालन क्रिया में विशेष रूप से सहायता मिलती है और मन्द एवं शिथिल गति से कार्य करने वाले अंगों में गतिशीलता का आविर्भाव होता है। जिन्हें गाना-बजाना आता है, उन्हें भोजन के पश्चात कम से कम दो-तीन घण्टे बचाकर सुविधानुसार अभ्यास करना चाहिये। जो बजा न सकते हों उन्हें केवल गाना ही चाहिये। सुविधानुसार यदि वाद्य-गान सुनने का अवसर मिले तो उससे लाभ उठाना चाहिये, क्योंकि संगीत से उत्पन्न होने वाली लहरें सुनने वालों को भी प्रभावित करती हैं।

प्रातः-सायं गायन-वाद्य तथा नृत्य के साथ संकीर्तन करने की धार्मिक प्रथा का स्वास्थ्य से बड़ा घना सम्बन्ध है। संकीर्तन में सम्मिलित होने वालों के गले फेफड़े का व्यायाम हो जाता है। जोर-जोर से धार्मिक भजन गाने या शंख बजाने से फेफड़ों का व्यायाम होता है और बहुत अंशों में प्राणायाम का लाभ मिलता है।

प्राणाकर्षण की सुगम क्रियायें

प्रातःकाल नित्य-कर्म से निवृत्त होकर साधना के लिए किसी शान्तिदायक स्थान पर आसन बिछाकर बैठिये, दोनों हाथों को घुटनों पर रखिये, मेरुदण्ड सीधा रहे, नेत्र बन्द कर लीजिए।

फेफड़ों में भरी हुई सारी हवा बाहर निकाल दीजिए, अब धीरे-धीरे नासिका द्वारा साँस लेना आरम्भ कीजिए। जितनी अधिक मात्रा में भर सकें फेफड़ों में हवा भर लीजिए। अब कुछ देर उसे भीतर ही रोके रहिये। इसके पश्चात् साँस को धीरे-धीरे नासिका द्वारा बाहर निकालना आरम्भ कीजिए। हवा को जितना अधिक खाली कर सकें, कीजिए। अब कुछ देर साँस को बाहर ही रोक दीजिए अर्थात् बिना साँस के रहिये। इसके बाद पूर्ववत् वायु खींचना आरम्भ कर दीजिए। यह एक प्राणायाम हुआ।

साँस निकालने को रेचक, खींचने को पूरक और रोके रहने को कुम्भक कहते हैं। कुम्भक के दो भेद हैं। साँस को भीतर भरकर रोके रखना 'अन्तः कुम्भक' और खाली करके बिना साँस रहना बाह्य कुम्भक' कहलाता है। रेचक और पूरक में समय बराबर लगना चाहिये पर कुम्भक में उसका आधा समय ही पर्याप्त है।

पूरक करते समय भावना करनी चाहिये कि मैं जन शून्य लोक में अकेला बैठा हूँ और मेरे चारों ओर विद्युत जैसी चैतन्य जीवनी शक्ति का समुद्र लहरें ले रहा है। साँस द्वारा वायु के साथ-साथ प्राण शक्ति को मैं अपने अन्दर खींच रहा हूँ।

अन्तः कुम्भक करते समय भावना करनी चाहिये कि उस चैतन्य प्राण-शक्ति को मैं अपने भीतर भरे हूँ। समस्त नस-नाडियों में अंग-प्रत्यंगों में वह शक्ति स्थिर हो रही है। उसे सोखकर देह का रोम-रोम चैतन्य, प्रफुल्ल, सतेज एवं परिपुष्ट हो रहा है।

रेचक करते समय भावना करनी चाहिये कि शरीर में संचित मल, रक्त में मिले हुए विष, मन में धँसे हुए विचार साँस छोड़ने पर वायु के साथ-साथ बाहर निकाले जा रहे हैं।

बाह्य कुंभक करते समय भावना करनी चाहिए कि अन्दर के दोष साँस के द्वारा बाहर निकलकर भीतर का दरवाजा बन्द कर दिया गया है ताकि वे विकार वापिस न लौटने पावें।

इन भावनाओं के साथ प्राणाकर्षण प्राणायाम करने चाहिये। आरम्भ में पाँच प्राणायाम करें फिर क्रमशः सुविधानुसार बढ़ाते जावें।

कहीं एकान्त में जाओ। समतल भूमि पर नरम बिछौना बिछाकर पीठ के बल लेट जाओ, मुँह ऊपर की ओर रहे। पैर कमर छाती सिर सब एक सीध में रहें। दोनों हाथ सूर्य चक्र पर (आमाशय का वह स्थान जहाँ पसलियाँ और पेट मिलता है) रहें। मुँह बन्द रखो। शरीर को बिल्कुल ढीला छोड़ दो। मानो वह कोई निर्जीव वस्तु है और उससे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ देर शिथिलता की भावना करने पर शरीर बिलकुल ढीला पड़ जायगा। अब धीरे-धीरे नाक द्वारा साँस खींचना आरम्भ करो और दृढ़ शक्ति के साथ

भावना करो कि विश्व व्यापी महान् प्राण-भण्डार में से मैं स्वच्छ प्राण, साँस के साथ खींच रहा हूँ और वह प्राण मेरे रक्त-प्रवाह तथा समस्त नाड़ी तन्तुओं में प्रवाहित होता हुआ सूर्य चक्र में इकट्ठा हो रहा है। इस भावना को कल्पना लोक में इतनी दृढ़ता के साथ उतारो कि प्राण शक्ति की बिजली जैसी किरणें नासिका द्वारा देह में घूमती हुई चित्रवत् दीखने लगें तथा उसमें प्राणप्रवाह बहता हुआ आए। भावना की जितनी अधिकता होगी उतनी ही अधिक मात्रा में तुम प्राण खींच सकोगे।

फेफड़ों को वायु से अच्छी तरह भर लो और पाँच से दस सेकण्ड तक उसे रोके रहो। आरम्भ में पाँच सेकण्ड काफी हैं। पश्चात् अभ्यास बढ़ने पर दस सेकेण्ड तक रोक सकते हैं। साँस के रोकने के समय अपने अन्दर प्रचुर परिमाण में प्राण भरा हुआ है, यह अनुभव करना चाहिये। अब वायु को धीरे-धीरे बाहर निकालो। निकालते समय ऐसा अनुभव करो कि शरीर के सारे दोष, रोग और विष इनके द्वारा निकाल बाहर किए जा रहे हैं। दस सेकण्ड तक बिना हवा के रहो और पूर्ववत् प्राणाकर्षण का मूलतत्व साँस खींचने-छोड़ने में नहीं वरन् आकर्षण की उस भावना में है जिसके अनुसार शरीर में प्राण का प्रवेश होता हुआ चित्रवत् दिखाई देने लगता है।

इस प्रकार श्वास-प्रश्वास की क्रियायें दस मिनट से लेकर धीरे-धीरे आध घण्टे तक बढ़ा लेनी चाहिये। श्वास द्वारा खींचा हुआ प्राण सूर्य चक्र में जमा होता जा रहा है, इसकी विशेष रूप से भावना करो। मुँह द्वारा साँस छोड़ते समय आकर्षित प्राण को छोड़ने की भी कल्पना करने लगें तो यह सारी क्रिया व्यर्थ हो जायगी और कुछ लाभ न मिलेगा।

ठीक तरह से प्राणाकर्षण करने पर सूर्य-चक्र जागृत होने लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पसलियों के जोड़ और आमाशय के स्थान पर जो गड्ढा है वह सूर्य के समान एक छोटा-सा प्रकाश बिन्दु मानव नेत्रों से दीख रहा है। यह गोला आरम्भ में छोटा, थोड़े प्रकाश का और धुँधला मालूम होता है किन्तु जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ने लगता है वैसे-वैसे साफ, स्वच्छ, बड़ा और प्रकाशवान् होता है। जिनका अभ्यास बढ़ा-चढ़ा है उन्हें आँखें बन्द करते ही अपना सूर्य साक्षात् सूर्य की तरह तेजपूर्ण दिखाई देने लगता है। वह प्रकाशित तत्व सचमुच प्राण शक्ति है। इसकी शक्ति से कठिन कार्यों में अद्भुत सफलता प्राप्त होगी।

अभ्यास पूरा करके उठ बैठो। तुम्हें मालूम पड़ेगा कि रक्त का दौरा तेजी से हो रहा है और सारे शरीर में एक बिजली सी दौड़ रही है। अभ्यास के उपरान्त कुछ देर शान्तिमय स्थान में बैठना चाहिये। अभ्यास से उठकर एक दम किसी काम में जुट जाना, स्नान, भोजन, मैथुन करना निषिद्ध है।

ऊपर सर्वसाधारण के उपयोग की श्वास-प्रश्वास क्रियाओं का वर्णन हो चुका है। इसके उपयोग से गायत्री साधकों की आन्तरिक दुर्बलता दूर होती है और प्राणवान् होने के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। प्राणमय कोश की भूमिका को पार करते हुए दस प्राणों को संशोधित करना पड़ता है।

पाँच प्राणों की साधना-पाँच कोशों की सिद्धि

सम्पूर्ण विश्व प्राण-ऊर्जा से संचालित है। भूमा प्राण ही इस विश्व का आधार है। विकिरण-ऊर्जाओं के पाँच प्रधान-स्तरों कास्मिक किरणों, पराकासनी, विकिरण, दृश्य (प्रकाश) विकिरण, अवरक्त विकिरण एवं रेडियो विकिरण के स्तर पर सक्रिय चेतन-सत्ताएँ ही पाँच प्रधान देवसमूह हैं, जो पाँच प्रकार की प्राण-शक्ति से प्राणित रहते हैं। प्राण-ऊर्जा का अपेक्षाकृत स्थूल रूप ही पंचभूतों के रूप में प्रकट होता है। न्यूक्लियान, मेसान, फोटान और लेप्टान ये चार प्राथमिक कण प्राण ऊर्जा की भूत, स्तरीय परिणति हैं, जो शास्त्रीय शब्दावली में क्रमशः पृथ्वी तत्व, आपः तत्व, अग्नि-तत्व एवं वायु-तत्व के नाम से अभिहित हैं। सूक्ष्म प्राण-तरंगें आकाशतत्व का स्वरूप है। तरल प्रवाहमयता के कारण को आपः शरीर कहा गया है-

"अथैतस्य प्राणस्य आपः शरीरम्।"

(वृह० उप० १। २। १)

इस प्रकार प्राण-ऊर्जा का तरंग प्रवाह ही सृष्टि का मूल है। पंचभूतों से ही यह अग-जग विनिर्मित है। प्राणियों का शरीर भी पंचभूत-निर्मित है। इसमें पाँच उपप्राण होते हैं। उन्हीं की प्रतिनिधि स्वरूपा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच कामेन्द्रियाँ मनुष्य को प्राप्त हैं जो पाँच प्रकार के बोधों की मूल हैं। शरीर में पाँच आवर्त या पाँच परतें हैं, जिन्हें पंचकोश कहते हैं। मनुष्य चित्त में पाँच मूल वृत्तियाँ संस्कारानुरूप उत्पन्न होती है। पांच प्रकार के क्लेश जीव को बाँधे रहते हैं। यही संसार प्रपंच है।

इसीलिए संसार प्रपंच की तुलना श्वेताश्वतर उपनिषद् में नदी से की गई है, जो सतत् प्रवाहमान है-

पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां
पञ्च प्राणोर्मि पञ्चबुद्धयादिमूलाम्।
पञ्चावर्ता पञ्चदुःखौघवेगां
पञ्चाशभ्देदां पञ्चपर्वामधीम।।"

(श्वे० १।५)

अर्थात् पाँच स्रोतों से आने वाले जल से उत्पन्न और पाँच उद्गमों से उद्भूत वक्रगति उग्रा यह पाँच प्राणतरंगों वाली एवं पाँच प्रकार के बोधों की मूल, पाँच आवर्तों या भंवरों वाली, पाँच दुःख प्रवाहों से वेग सम्पन्ना, पाँच पर्वों वाली इस पचास भेदों वाली जगत् सरिता को जानना चाहिये।

इस संसार प्रपंच को भलीभाँति जानने और उस पर स्वामित्व प्राप्त करने के लिए पंचप्राणों की साधना द्वारा पंचकोशों की सिद्धि करनी होती है। यही गायत्री की पंचमुखी साधना है।

गायत्री विद्या प्राण-विद्या है। गायत्री को प्राण कहा गया है-

"यो वै स प्राण, एषा सा गायत्री।।"

(शतपथ ब्रा० १।३।५।१५)

अर्थात् जो वह प्राण है वही यह गायत्री है। सूर्य जगत् के प्राण का प्रतीक है। सर्व व्यापी चेतना-प्राण को सविता कहते हैं। सूर्य उसी का आधिभौतिक रूप है। उसका आध्यात्मिक रूप सविता है। इसीलिए सविता को चेतना-सूर्य कहा जा सकता है।

सृष्टि में संव्याप्त पाँच विकिरण-ऊर्जाएं और सृष्टि का आधार पंचभूत समष्टिगत पंच प्राण हैं तथा प्रकाश विद्युत चुम्बकत्व, ऊष्मा एवं ध्वनि ये पाँच समष्टिगत उपप्राण हैं। व्यक्ति सत्ता में भी पाँच प्राण एवं पाँच उपप्राण क्रियाशील रहते हैं। इन पाँचों प्राणों और पाँच उपप्राणों पर अधिकार प्राप्त करना ही प्राण विद्या, गायत्री विद्या है। इसीलिए ऋग्वेद में कहा गया है कि व्यक्ति-सत्ता में प्रवाहमान महाप्राण वन्दनीय है। वही अग्नि ऋषि है-

"अग्निऋषि पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः।
तमीमहे महागयम्।

(ऋग्वेद ९।६६।२०)

अर्थात् यह अग्निऋषि हमें पवित्र करते हैं और पाँच कोशों में प्रकाश भरते हैं, उनका मार्गदर्शन करते हैं। उन्ही महाप्राण की हम शरण जाते हैं।

यहाँ महाप्राण को महागम कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में भी स्पष्ट किया गया है कि गय ही प्राण हैं।

साहैषा गायांस्तत्रे प्राणाः वै गयात्प्राणांस्तत्रे।
तद्यद् गयांस्तत्र तस्माद् गायत्री नाम।"

(शतपथ ब्रा० १४।८।१५।७)

अर्थात् गय ही प्राण हैं जो गयों का यानी प्राणों का त्राण परित्राण करती हैं। वह गायत्री है। काषीतकि उपनिषद् में भी स्पष्ट किया गया है कि प्राण ही गायत्री है-

"प्राणो वै गायत्र्यः।"

(कोशी० १५।२)

वृहदारण्यक उपनिषद् में इसी तथ्य का विशद विवेचन है-

"प्राणो वै बलं। यत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलम्। सत्यादोगीय इत्येवं वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता। सा हैषा गयाँस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणाँ, स्तत्रे तद्यद् गयाँ, स्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम।।

(वृहदा० उ० ५।१४।४)

अर्थात् प्राण ही बल है। जो प्राण में प्रतिष्ठित है, वही बल है। सत्य बल ही प्राण-बल है। इसीलिए प्राणाधिष्ठिता गायत्री अध्यात्म में प्रतिष्ठित है। गय ही प्राण है। गायत्री प्राणों का त्राण करती है। प्राणों का त्राण करती है, इसी से इसका नाम गायत्री है।

यह गायत्री त्रिपदा है अर्थात् यह तीन स्तरों पर एक साथ सक्रिय है। शरीर के स्तर पर यह प्राण-शक्ति ओजस् के रूप में क्रियाशील रहती है। मस्तिष्क के स्तर पर यही प्राण-शक्ति चिन्तन् की तेजस्विता के रूप में सामने आती है। इसे ही तेजस् कहा जाता है। अन्तःकरण स्थित आस्थाओं के स्तर पर यह प्राण शक्ति मूल चेतना की सर्वोच्च उत्कृष्टता से जुड़ने का आधार बनती है। वहाँ जितनी ही जागृत यह शक्ति होगी, व्यक्ति ब्रह्म सत्ता से उतनी ही गहराई से जुड़ सकने में समर्थ होगा। उसका अन्तःकरण उतना ही अधिक सविता प्रकाश से, ब्राह्म-सत्ता की ज्योति से आलोकित होगा। इसी आलोक को 'वर्चस' या ब्रह्मवर्चस कहते हैं। 'वर्च' धातु उज्ज्वल या आभायुक्त होने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। उससे असुन प्रत्यन करने पर नपुंसकलिंगी शब्द 'वर्चस्' बनता है। वीर्य प्रकाश कांति, आभा आदि उसके पर्याय हैं। तात्पर्य यह है कि त्रिपदा गायत्री प्राण शक्ति शरीर में ओजस् बल, चिन्तन में तेजस् बल तथा आस्था भूमि में वर्चस् बल या ब्रह्मसत्ता

के आलोक बल के रूप में अभिव्यक्त होती है। वही गायत्री शक्ति समष्टि जगत में आधिभौतिक या द्रव्य ऊर्जा आधिदैविक या दिव्य ऊर्जा तथा आध्यात्मिक या चेतन ऊर्जा के रूप में निरन्तर क्रियाशील है। सूर्य आधिभौतिक ऊर्जा का स्रोत है। आदित्य दैवी ऊर्जा का स्रोत है। आदित्य दबी ऊर्जा का आधार है तथा सविता आध्यात्मिक ऊर्जा का वितरण, नियन्ता एवं निर्देशक है। एक ही मूल शक्ति के ये विविध वर्गीकरण हैं। उन्हें भिन्न-भिन्न नहीं मानना चाहिये। जिस प्रकार एक ही काव्य पंक्ति में अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना भेद से तीन भिन्न-भिन्न अर्थ प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार एक ही परम सत्ता से तीन प्रकार की ऊर्जाएं, तीन प्रकार के प्रकाश-प्रवाह एवं प्रेरणा प्रवाह निरन्तर प्रवाहित होते रहते हैं। वही परम सत्ता गायत्री का प्राण सविता है।

वस्तुतः प्राण चेतना की बलिष्ठता का ही नाम है। वही चेतना इन्द्रिय क्षेत्र या शरीर क्षेत्र, मन-मस्तिष्क या चिन्तन क्षेत्र एवं आस्था-क्षेत्र में भिन्न-भिन्न रूपों में सक्रिय है। तीनों ही क्षेत्रों में प्राण-तत्व का अभिवर्धन गायत्री की त्रिपदा साधना है।

यह त्रिपदा-साधना पाँच तहों या स्तरों पर की जाती है। इसीलिए त्रिपदा गायत्री को पंचमुखी कहा जाता है। पाँचों ही स्तरों पर प्राण-विद्या को प्रखर बनाना ही पंचकोशी साधना है। प्रश्नोपनिषद् में यह स्पष्ट किया गया है। महर्षि पिप्पलाद ने भार्गव ऋषि को बताया कि एक बार शरीरस्थ पंच महाभूत सभी इन्द्रियाँ और अन्तःकरण अपनी-अपनी श्रेष्ठता का दावा करने और परस्पर झगड़ने लगे। तब प्राण-सत्ता ने उनसे कहा कि तुम लोग व्यर्थ झगड़ते हो। मैं ही पाँच भागों में विभक्त होकर तुम सबको आश्रय दे रहा हूँ। जब प्राण की इस बात को उन सबने नहीं माना तब वह अपना प्रभाव दिखलाने के लिए बाहर जाने के लिए ऊपर उठने लगा, तब सबने अनुभव किया कि इसके निकलने का प्रयास करते ही हम सब क्षीण, निष्क्रिय हुए जा रहे हैं। तब वे सब प्राण की स्तुति करने लगे और उसकी वरिष्ठता स्वीकार की। इस रोचक कथा द्वारा प्राण-शक्ति की मौलिकता बताते हुए आगे कहा है-

"एकोऽग्निस्तपत्येष सूर्यएक पर्जन्योमघवानेष वायुः।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतम् च यत् ।।"

(प्रश्नो० द्वितीय प्रश्न-५वाँ श्लोक)

अर्थात् यह प्राण-शक्ति ही अग्नि है, यही सूर्य है, यही इन्द्र है, यही वायु और यही पृथ्वी है। जो कुछ भी है, उन सबमें अमृत-तत्व यही है। आगे कहा गया है-

"प्राणाग्नय एवै तस्मिन्पुरे जाग्रति।"

(प्र० ४।३)

अर्थात् इस काया नगरी में पाँच प्राण रूप पाँच अग्नियों का निवास है-

इस प्रकार शरीर में ये पंचाग्नियाँ उसी प्रकार तपती रहती हैं, जैसे सम्पूर्ण विश्व में पंचस्तरीय प्राण-ऊर्जाएं सतत् प्रवाहमान हैं। समष्टि यज्ञ उन्हीं पंच प्राण-ऊर्जाओं से सम्पन्न होता रहता है। इसी प्रकार व्यष्टि यज्ञ भी इन्हीं पाँच प्राणाग्नियों से सम्पन्न होता रहता है।

शरीरस्थ पंच प्राण हैं- प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं समान। इन्हें ही पंचाग्नि रूप में इस प्रकार वर्णित किया गया है-

"गार्हपत्यो हवा एकोऽयानो, व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात् प्रणीते प्रणायनादाहवनीयः प्राणः। यदुच्छासनिः श्वासांवेत्तावाहुती समं नयतीति स समानः। मनोह वाव यजमानः इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानम् अहरहर ब्रह्म गमयति।।

(प्रश्नो० ४। ३ व ४)

अर्थात् अपान 'गार्हपत्य' अग्नि है, व्यान अन्वाहार्य पचन नामक अग्नि यानी दक्षिणाग्नि है। गार्हपत्य से जो उठाकर ले जायी जाती है, उसे आहवनीय अग्नि कहते हैं। इसीलिए ऊपर उठने वाला मुख्य प्राण प्रवाह आह्वनीय अग्नि है।

श्वासों का आवागमन ही आहुतियों का अविच्छिन्न क्रम है। इन दोनों श्वास निःश्वास या ऊर्ध्वश्वास, अधःश्वास रूपी आहुतियों को सम्पूर्ण शरीर में समायोजित करने वाली प्राण शक्ति समान है अर्थात् श्वास से खींचे गये पोषण तत्व को सम्पूर्ण शरीर में समानता से वितरित करने वाली और विजातीय वायु को सम्पूर्ण शरीर से खींचकर बाहर फेंकने वाली प्राण शक्ति को समान कहते हैं। इस सम्पूर्ण क्रिया के फलस्वरूप जो तेज की वृद्धि होती है, जो तीव्र वेग की क्षमता उत्पन्न होती है, वही उदान नामक प्राण-शक्ति है। इस प्रकार पंचाग्नि सेवित इस शरीर यज्ञ का यजमान मन है और होता है समान नामक प्राण शक्ति। उससे जो तेजस्

क्रमशः वृद्धिगत होता है, वह दिनानुदिन यजमान को ब्रह्मलोक या ब्रह्मवर्चस् की दिशा में आगे बढ़ाता है।

पंचप्राणों की साधना का यही रहस्य है कि उन पर अधिकार प्राप्त करते हुए क्रमशः ब्रह्मवर्चस् की दिशा में बढ़ा जाय, उत्कृष्टता का, सात्विकता का, आध्यात्मिकता का अधिकाधिक समावेश किया जाय। श्रेष्ठता की ओर प्रखरता पूर्वक बढ़ा जा सके, यही प्राण-साधना का सत्परिणाम है।

शरीर क्षेत्र में इन प्राणों के क्या-क्या कार्य हैं ? इसका वर्णन आयुर्वेद शास्त्र में इस प्रकार किया गया है-

(१) अपान-अपनयति प्रकर्षेण मलं निस्सारयति अपकर्षाति च शक्तिम् इति अपानः।

अर्थात्- जो मलों को बाहर फेंकने की शक्ति में सम्पन्न है वह अपान है। मल-मूत्र, स्वेद, कफ, रज, वीर्य आदि का विसर्जन, भ्रूण का प्रसव आदि बाहर फेंकने वाली क्रियाएँ इसी अपान प्राण के बल से सम्पन्न होती हैं।

(२) समान- रसं समं नयति सम्यक् प्रकारेण नयति इति समानः।

अर्थात्-जो रसों को ठीक तरह यथास्थान ले जाता है और वितरित करता है वह समान है। पाचक रसों का उत्पादन और उनका स्तर उपयुक्त बनाये रहना इसी का काम है।

पातञ्जलि योग सूत्र के पाद ३ सूत्र ४० में कहा गया है- "समान जयात् प्रज्वलम्" अर्थात् समान द्वारा शरीर की ऊर्जा एवं सक्रियता ज्वलन्त रखी जाती है।

(३) प्राण- प्रकर्षेण अनियति प्रकर्षेण वा बलं ददाति आकर्षति च शक्तिं स प्राणः।

अर्थात्- जो श्वास, आहार आदि को खींचता है और शरीर में बल संचार करता है वह प्राण है। शब्दोचार में प्रायः इसी की प्रमुखता रहती है।

(४) उदान- उन्नयति यः उद्आनयति वा तदानः।

अर्थात्- जो शरीर को उठाये रहे, कड़क रखे, गिरने न दे-वह उदान है। ऊर्ध्वगमन की अनेकों प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष क्रियाएँ इसी के द्वारा सम्पन्न होती हैं।

(५) व्यान- व्याप्नोति शरीरं यः स ध्यानः।

अर्थात्-जो सम्पूर्ण शरीर में संव्याप्त है-वह व्यान है। रक्त-संचार, श्वास-प्रश्वास, ज्ञान-तन्तु आदि माध्यमों से यह सारे शरीर पर नियन्त्रण रखता है। अन्तर्मन की स्वसंचालित शारीरिक गतिविधियाँ इसी के द्वारा सम्पन्न होती हैं।

इस तरह प्रथम प्राण का कार्य श्वास-प्रश्वास क्रिया का सम्पादन स्थान छाती है। इस तत्व की ध्यानावस्था में अनुभूति पीले रंग की होती है और षटचक्र वेधन की प्रक्रिया में यह अनाहत चक्र को प्रभावित करता पाया जाता है।

द्वितीय-अपान का कार्य शरीर के विभिन्न मार्गों से निकलने वाले मलों का निष्कासन एवं स्थान गुदा है। यह नारंगी रंग की आभा में अनुभव किया है और मूलाधार चक्र को प्रभावित करता है।

तीसरा समान-अन्न से लेकर रस-रक्त और सप्त धातुओं का परिपाक करता है और स्थान नाभि है। हरे रंग की आभा वाला और मणिपूर चक्र से सम्बन्धित इसे बताया गया है।

चौथा उदान- का कार्य है आकर्षण ग्रहण करना, अन्न-जल, श्वास, शिक्षा आदि जो कुछ बाहर से ग्रहण किया जाता है वह ग्रहण प्रक्रिया इसी के द्वारा सम्पन्न होती है। निद्रावस्था तथा मृत्यु के उपरान्त का विश्राम सम्भव करना भी इसी का काम है। स्थान कण्ठ, रंग बैंगनी तथा चक्र विशुद्धाख्य है।

पाँचवाँ व्यान-इसका कार्य रक्त आदि का सञ्चार, स्थानान्तरण। स्थान सम्पूर्ण शरीर। रंग गुलाबी और चक्र स्वाधिष्ठान है।

ये पाँच प्राण पाँच विशिष्ट रूपों में अभिव्यक्त होकर पाँच उपप्राण कहे जाते हैं, उनके नाम हैं-

(१) देवदत्त, (२) नाग, (३) धनंजय, (४) कूर्म और (५) कृंकर या कृकल।

पाँच उपप्राण इन्हीं पाँच प्रमुखों के साथ उसी तरह जुड़े हुए हैं जैसे मिनिस्टरों के साथ सेक्रेटरी रहते हैं। प्राण के साथ नाग। अपान के साथ कूर्म। समान के साथ कृकल। उदान के साथ देवदत्त और व्यान के साथ धनञ्जय का सम्बन्ध है। नाग का कार्य वायु सञ्चार, डकार, हिचकी, गुदा वायु। कूर्म का नेत्रों के क्रिया-कलाप कृकल का भूख-प्यास, देवदत्त का जँभाई, अँगड़ाई धनञ्जय को हर अवयव की सफाई जैसे कार्यों का

उत्तरदायी बताया गया है, पर वस्तुत: वे इतने छोटे कार्यों तक ही सीमित नहीं हैं। मुख्य प्राणों की प्रक्रिया को सुव्यवस्थित बनाये रखने में उनका पूरा योगदान रहता है। इन प्राण और उपप्राणों के भेद को और भी अच्छी तरह समझना हो तो तन्मात्राओं और ज्ञानेन्द्रियों के सम्बन्ध पर गौर करना चाहिये। शब्द तत्व को ग्रहण करने के लिए कान, रूप तत्व की अनुभूति के लिए नेत्र, रस के लिए जिव्हा, गन्ध के लिए नाक और स्पर्श के लिए जो कार्य त्वचा करती है, उसी प्रकार प्राण तत्व द्वारा विनिर्मित सूक्ष्म संभूतियों को स्थूल अनुभूतियों में प्रयुक्त करने का कार्य यह उप प्राण सम्पादित करते हैं।

इस तरह देवदत्त, जिव्हा, समेंत मुख-मण्डल और उसके साथ जुड़े नेत्र कर्ण, नासिका आदि की गतिशीलता का नियन्त्रक निदेशक है, जबकि नाग जननेन्द्रियों का नियंत्रक है। सहस्त्रार क्षेत्र की प्राण-ऊर्जा का संचालन देवदत्त के अधीन है, तो मूलाधार क्षेत्र की प्राण-शक्ति नाग के अधीन है। प्रजनन, कामवासना एवं कुंडलिनी-शक्ति का नियंत्रण यही करता है। इससे निचले क्षेत्र-जाँघ से एड़ी तक धनंजय उपप्राण के अधीन रहते हैं। अग्रगमन, गतिशीलता का उत्साह इसी की प्रखरता से बढ़ता रहता है। कूर्म उपप्राण पाचन-तंत्र की साज-सम्हाल करने वाली प्राण-ऊर्जा है तो वृकल उपप्राण गायन, सम्भाषण आदि कंठ से जुड़ी क्रियाओं का नियामक निर्देशक है। यों सामान्यत: प्राणामयकोश से ही पाँचों प्राणों और पाँचों उपप्राणों का सम्बन्ध माना जाता है। सामान्य स्वास्थ्य के लिए भी प्राण-शक्ति का सौम्य संतुलन अत्यावश्यक है। उनमें उत्पन्न विक्षोभ विभिन्न व्याधियाँ खड़ी करता है। प्राणायाम कोश की साधना में प्राणायाम द्वारा प्राण-ऊर्जा को प्रखर बनाया जाता है। उसी के द्वारा साधक मनस्वी एवं मनोजयी बन सकता है। गहरे अर्थों में प्राण-ऊर्जा ही पाँचों कोषों का आधार है और पंच प्राणों की सम्पूर्ण साधना का अर्थ चैतन्य प्राण ऊर्जा के सनातन प्रवाह पर नियंत्रण प्राप्त करना होता है। व्यष्टि-प्राण समष्टि प्राण से संयुक्त है और संयम पूर्वक साधना करने वाला विश्वप्राण पर भी अधिकार पा सकता है। इसीलिए छान्दोग्य उपनिषद् में तीसरे अध्याय के त्रयोदश खण्ड में हृदयाकाश की पाँच विशेष प्राण-धाराओं की बात कही गई है, जो पाँच-मार्गों में बहती है। वहाँ पंच प्राणों को देवसुषि कहा गया है-"तस्य ह वो एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषय:"

(छां० ३।१३ ।१)

ये पाँच प्राण, व्यान, अपान, समान एवं उदान, जब तक वशवर्ती नहीं बनाये जाते, वे क्रमश: चक्षु, श्रोत्र, वाक् मन एवं प्राणों को बाह्य विषयों की ओर आकर्षित करते रहते हैं, ऐसा श्री शंकराचार्य ने छान्दोग्य उपनिषद् के भाष्य में कहा है। इन्हें वशवर्ती बना लेना ही प्राण-साधना है। जो इन प्राणों का यथार्थ स्वरूप जान लेता है, वह ऊर्ध्वगामी बनता है। उत्कृष्टता से सम्पन्न होता है, स्वर्ग को प्राप्त करता है। इसीलिए इन पाँचों प्राणों को ब्रह्मसत्ता के सहयोगी ब्रह्मपुरुष कहा है।

नाग-उपप्राण शरीर विद्युत का पर्याय है और कूर्म उपप्राण शरीर की चुम्बकीय शक्ति का। इस प्रकार सूक्ष्म अर्थ में ये प्राण ऊर्जाएं पाँचों कोशों का आधार हैं, इन्हें स्वर्ग के पाँच द्वारपाल कहे जाने का हेतु यही है। इसी सूक्ष्म अर्थ में ही ऋग्वेद में प्राणों को अग्निऋषि कहकर उन्हें पाञ्चजन्य पुरोहित या पाँचकोशों का मार्गदर्शक कहा गया है।

उच्चस्तरीय प्राण साधना, जिससे मानसिक परिष्कार एवं भाव-परिष्कार भी होता है। उसकी चार स्थितियाँ कही गई हैं- (१) ध्वरित (२) प्राप्ति (३) संवित् (४) प्रसाद। दूषित कर्मों एवं मनोविकारों का उन्मूलन 'ध्वस्ति' है। प्रखरता, तेजस्विता का अभिवर्धन 'प्राप्ति' है। दिव्यज्ञान की ज्योति दीप्तिमान हो, सूक्ष्म लोकलोकान्तरों से सम्बन्ध जुड़ना, त्रिकालदर्शित्व प्राप्त होना 'संवित्' है और आनन्द-उल्लास की सतत अनुभूति की स्थिति 'प्रसाद' है। इस विवरण से स्पष्ट होता है कि अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एंव आनन्दमय पाँचों ही कोशों का जागरण उच्चस्तरीय प्राण साधना का परिणाम होता है। इसीलिए तो कौशीतकि उपनिषद् में कहा है-"यो वै प्राण: स प्रज्ञा, या वा प्रज्ञा स प्राण:"

(कोशी० ३।३)

अर्थात् प्राण ही प्रज्ञा है, प्रज्ञा ही प्राण है। प्राण-साधना की चरम परिणति है ऋतम्भरा प्रज्ञा की प्राप्ति। सच्चिदानन्द परमात्मा से तादात्म्य की वही स्थिति है।

पाँच प्राण – पाँच उपप्राणों की अद्भुत शक्ति धाराएँ

यों प्राणतत्व एक है, पर प्राणी के शरीर में उसकी क्रियाशीलता के आधार पर कई भागों में विभक्त किया गया है। शरीर के प्रमुख अवयव मांस पेशियों से बने हैं, पर संगठन की भिन्नता के कारण उनके आकार-प्रकार में भिन्नता पाई जाती है। इसी आधार पर उनका नामकरण एवं विवेचन भी पृथक्-पृथक् होता है। मानवी-काया में प्राण-शक्ति को भी विभिन्न उत्तरदायित्व निवाहने पड़ते हैं। उन्हीं के आधार पर उनके नामकरण भी अलग हैं और गुण धर्म की भिन्नता भी बताई जाती है। इस पृथकता के मूल में एकता विद्यमान है। प्राण अनेक नहीं हैं। उसके विभिन्न प्रयोजनों में व्यवहार पद्धति ही पृथक है। बिजली एक है, पर उसके व्यवहार विभिन्न यंत्रों में भिन्न प्रकार के होते हैं। हीटर, कूलर, पंखा, प्रकाश, पिसाई आदि करते समय उसकी शक्ति एवं प्रकृति भिन्न लगती है। उपयोग और प्रयोजन को देखते हुए भिन्नता अनुभव की जा सकती है तो भी जानने वाले जानते हैं कि यह सब एक ही विद्युत शक्ति के बहुमुखी क्रिया-कलाप हैं। प्राण-शक्ति के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। शास्त्रकारों ने उसे कई भागों में विभाजित किया है, कई नाम दिये हैं और कई तरह से व्याख्या की है। उसका औचित्य होते हुए भी इस भ्रम में पड़ने की आवश्यकता नहीं कि प्राणतत्व कितने ही प्रकार का है और उन प्रकारों में भिन्नता एवं विसंगति है। इस प्राण विस्तार को भी "एकोऽहं वहस्याम" का एक स्फुरण कहा जाता है।

मानव शरीर में प्राण को दस भागों में विभक्त माना गया है। इनमें ५ प्राण और ५ उपप्राण हैं। प्राणमय कोश इन्हीं १० के सम्मिश्रण से बनता है। ५ मुख्य प्राण हैं- (१) अपान (२) समान (३) प्राण (४) उदान (५) व्यान। उपप्राणों को (१) देवदत्त (२) वृकल (३)कूर्म (४) नाग (५) धनंजय नाम दिया गया है।

शरीर में कुछ ऐसे भ्रमर हैं, जिनके जागने से प्राण-तत्व की क्रिया एवं स्थिति उन भ्रमरों के अनुकूल ही हो जाती है। बिजली की धारा बल्ब के स्पर्श से प्रकाश करती है, पंखे के साथ मिलकर हवा करती है, मोटर में आकर ताकत पैदा करती है, रेडियो में उसका कार्य ध्वनि को पकड़ना होता है। प्राण तत्व एक प्रकार की विद्युत शक्ति के समान है। बहते हुए पानी में जैसे भ्रमरों के गड्ढे पड़ते हैं वैसे ही सूक्ष्म शरीर में कुछ ऐसे भ्रमर हैं जिनके साथ प्राण का सम्मिश्रण होने से एक विशेष प्रक्रिया की जाती है।

पाँच महाप्राणों को 'ओजस' और पाँच लघुप्राणों को 'रेतस' कहते हैं। दोनों प्राण एक दूसरे के सहायक एवं पूरक हैं। दोनों नेत्र, दोनों नथुने, दोनों कान, दोनों हाथ, दोनों पैर एक -दूसरे के सहायक एवं साथी हैं। इसी प्रकार महाप्राण और लघुप्राण भी आपस में सम्बद्ध तथा सहायक हैं। इनको एक ही प्राण के दो भाग कहा जा सकता है। एक होते हुए भी कुछ भेदों के कारण मस्तिष्क को अगला (बड़ा मस्तिष्क) और पिछला (छोटा मस्तिष्क) दो भागों में बाँटा गया है, वैसे ही प्राण-तत्व भी दो भागों में विभाजित हुआ है।

'प्राण वायु' का निवास स्थान हृदय है। 'नाग' भी उसके समीप रहता है। 'अपान' गुदा और मूत्रेन्द्रिय के बीच में मूलाधार के निकट रहता है, उसी के पास 'कूर्म' लघुप्राण का निवास है। 'समान और कृकल' नाभि में रहते हैं। 'उदान' और 'देवदत्त' का स्थान कण्ठ है। 'धनञ्जय में आकाश-तत्व का अधिक मिश्रण रहने से यह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है, पर उसका प्रधान केन्द्र मस्तिष्क का मध्य भाग है।

साधारणत: ऐसा माना जाता है कि प्राण के द्वारा शब्द एवं मस्तिष्क का पोषण होता है। अपान में मल-मूत्र, स्वेद आदि का विसर्जन होता है। समान से पाचन, परिपाक और उष्णता का संचार होता है। उदान विविध वस्तुएँ बाहर से शरीर के भीतर ग्रहण करता है। व्यान का काम रक्त-संचार है। लघु प्राणों में नाक से डकार आती है। कूर्म से पलक मारने और बन्द होने की क्रिया होती है। कृकल से छींकें और देवदत्त से जंभाई आती है। धनञ्जय जीवित अवस्था में शरीर का पोषण करता है और मरने पर देह सड़ा-गला कर शीघ्र नष्ट करने का प्रबन्ध करता है।

यह मान्यताएँ सर्वांगपूर्ण नहीं हैं। जिस स्थान पर जिस प्राण का निवास बताया गया है, वहाँ एक प्रकार के वायु भ्रमर होते हैं, जिनमें प्राणों का विशेष संचार रहता है। गर्मी के दिनों में जलवायु अधिक गरम हो जाती है तो एक प्रकार के वायु 'भ्रमर' उत्पन्न होते हैं, जो घूमते और नाचते हुए अन्धड़ की तरह आगे चलते हैं। उसी प्रकार के कुछ भ्रमर शरीर में पाये जाते हैं।

सूक्ष्म निरीक्षण करने पर पता चलता है कि इन स्थानों पर शरीरगत वायु और प्राण की उष्णता के कारण एक प्रकार के भ्रमर चक्र उत्पन्न हो जाते हैं। भ्रमर सदा ऊपर चौड़े होते हैं और नीचे की तरफ ढलवाँ होते जाते हैं तथा अन्त में बहुत ही छोटे नोंक मात्र रह जाते हैं। ऊपर के सबसे चौड़े भाग को 'स्तर' और नीचे से सबसे नुकीले भाग को 'बिन्दु' कहते हैं। इसी प्रकार प्राण वायु के भ्रमर का ऊर्ध्व भाग महाप्राण और अधो भाग लघुप्राण कहा जाता है। एक स्तर है तो दूसरा बिन्दु। वस्तुतः दोनों एक ही महातत्व के दो विभाग मात्र हैं।

वस्तुतः प्राण का कार्य जीवन चलाना है। हृदय की धड़कन जीवन की प्रतीक है। घड़ी में फनर की ऐंठ ही सब कल-पुर्जों को चलाती है। फनर की चाबी नष्ट हो जाय तो पुर्जों का चलना बन्द हो जायेगा। प्राण के द्वारा हृदय की धड़कन होती है। फिर उससे रक्त सञ्चार होता है, साँस आ जाती है। इसके बाद शरीर की अन्य क्रियायें होती हैं।

प्राण में शिथिलता आने पर जीवन शक्ति घट जाती है और उसके अत्यन्त न्यून हो जाने पर हृदय की धड़कन बन्द हो जाती है। समाधि लगाने वाले महात्माओं का प्राण पर अधिकार होता है। ये दीर्घ काल तक निस्तब्ध रहने पर जब चाहते हैं तब शरीर में प्राण का स्पन्दन बढ़ाकर हृदय का धड़कना आरम्भ कर देते हैं और साधारण जीवन जीने लगते हैं। जब तक उनका प्राण खिंचकर ब्रह्माण्ड में संचित किया रहता है तब तक हृदय की धड़कन बन्द रहती है और शरीर मृततुल्य हो जाता है इसलिए उनको दीर्घकालीन समाधि सुख मिलता रहता है।

प्राण पर अधिकार प्राप्त किये बिना लम्बे समय तक स्थिर समाधि नहीं लग सकती। प्राण अधिकार करके दीर्घकाल तक जीवन स्थिर रखना मृत्यु को इच्छानुवर्ती बना लेना सम्भव है। एक मनुष्य दूसरे को प्राण-दान दे सकता जैसे एक मनुष्य का रक्त दूसरे के शरीर में प्रवेश करके उसे जीवन एवं मनोबल दे सकता है।

'अपान' का कार्य स्थूल मलों का ठीक प्रकार विसर्जन करना है। देह के भीतर सदा पैदा होने वाले मल, मूत्र, पसीना, कफ, कीचड़, विष, विजातीय पदार्थ आदि त्याज्य पदार्थों को अपान अनेक छिद्रों द्वारा शरीर से बाहर निकालता रहता है। यदि अपान अपनी यह क्रिया न करे तो शरीर में मल निकलने की शक्ति घट जायेगी और अपच, जुकाम आदि अनेक रोग पैदा हो जायेंगे।

इसके अतिरिक्त अपान की सूक्ष्म क्रिया जननेन्द्रिय में होती है। काम-वासना का आधार इसी पर निर्भर है। मन को मथ डालने वाली, चित्त को अधीर, व्यग्र एवं आतुर कर डालने वाली वासना, अपान के उत्तेजित हो जाने से होती है। यह यदि शिथिल हो जाय तो तरुण पुरुष भी नपुंसक हो जायेगा। सन्तान का सौन्दर्य, स्वास्थ्य, बुद्धि, पराक्रम एवं स्वभाव अपान से बहुत कुछ सम्बन्धित हैं। अपान का सहवर्ती 'कूर्म' लघुप्राण यदि सुषुप्त अवस्था में होगा तो शारीरिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ होने पर भी गर्भ की स्थापना कदापि न हो सकेगी।

जिन स्त्री-पुरुषों में अपान साम्य होता है, उन्हें काम-सेवन में असाधारण आनन्द आता है। रूप, सौन्दर्य पर नहीं कामतुष्टि अपान की समानता पर निर्भर रहती है। पुरुष में अपान और स्त्री में कूर्म प्रधान होता है जो अनेक शारीरिक और मानसिक अभावों की पूर्ति करता है। अपान पर अधिकार की पद्धति न जानते हुए भी जिन्हें हठपूर्वक ब्रह्मचर्य रखना पड़ता है वे प्रायः किन्हीं रोगों में ग्रसित रहते हैं।

आज विधुर और विधवाओं में से अधिकांश का स्वास्थ्य खराब देखा जाता है और जन गणना की रिपोर्ट से पता चलता है कि ग्रहस्थों की अपेक्षा विधुरों की मृत्यु संख्या का अनुपात कहीं अधिक है, जिनमें अपान की समानता है वे अकारण ही आपस में घनिष्ठ मित्र बन जाते हैं। उन्हें एक-दूसरे के साथ रहने में बड़ी शान्ति मिलती है। ऐसे मित्रों को ही 'प्राणसखा' कहते हैं। उन्हें आपसी वियोग मर्मान्तक दुःख देता है।

समान प्राण उदर में नाभि के नीचे रहता है। पाचन इसका मुख्य कार्य है। गर्मी, उष्णता एवं पित्त को समान का प्रतीक कहते हैं। शरीर में चञ्चलता, स्फूर्ति, उत्साह, छरहरापन एवं चमक इसी के कारण होती है। त्वचा की चिकनाई, कोमलता, चमक में कृकल-प्राण का अस्तित्व परिलक्षित होता है। खूब भूख लगना, अधिक आहार करना, जल्दी पचा लेना, सर्दी के प्रभाव से व्यथित न होना समान की विशेषता है। जिनमें यह प्राण कम होगा वे सर्दी बर्दाश्त नहीं कर सकेंगे, जाड़ों में

उनकी देह लुञ्ज-पुञ्ज सी हो जायेगी। कानों को, उँगलियों को, पैरों को बड़ी ठण्ड लगेगी, ठण्डे जल में जाड़े के दिनों में स्नान करना उन्हें बड़ा कष्टकर होगा। अधिक कपड़े लादे रहने पर भी ठण्ड न छूटेगी।

ऐसे लोगों का जरा से भोजन में पेट भर जाता है। गरम पदार्थ खाने की, धूप या अग्नि के निकट बैठने की इच्छा रहती है। ऐसे मनुष्य अपनी दुर्बलता के कारण गर्मी को बर्दाश्त नहीं कर पाते, पर गर्मी का मौसम उनकी प्रकृति के अनुकूल पड़ता है। 'समान' की न्यूनता के कारण शरीर में उष्णता कम रहती है, उसकी पूर्ति गरम मौसम से हो जाती है। ऐसे लोगों की नाड़ी पतली चलती है।

समान-प्राण का स्वास्थ्य से बड़ा सम्बन्ध है। इन्द्रियों की रसानुभूति समान के आधार पर घटती-बढ़ती रहती है। स्वादिष्ट पदार्थ, मनोरम दृष्टि, मधुर ध्वनि, सुखद स्पर्श, सुरभित गंध को भली प्रकार ग्रहण करने और इससे आनन्दित होने की क्षमता 'समान' प्राण वालों में होती है। जिसका 'समान' घट जायेगा वह सब प्रकार की सुखद परिस्थिति होते हुए भी खिन्न, असन्तुष्ट एवं झुंझलाया रहेगा, देह का कोई न कोई अंग बीमारी का कष्ट पाता रहेगा।

ऐसे लोगों को सन्निपात, मोतीझला आदि तीव्र रोग तो नहीं होते, पर जुकाम, खाँसी, पेट का भारीपन सिरदर्द, दाँतों का हिलना 'आँखों की कमजोरी, देह का टूटना, थकान जैसे मन्द रोग घेरे रहेंगे। एक से पीछा छूटने से पहले ही दूसरा नया उत्पन्न हो जायेगा।

'समान' पित्त का प्रतीक है। 'कृकल' कफ का प्रतिनिधि है। दोनों के मिलने से 'बाद' बनता है। इन तीनों के उलझने-सुलझने और घटने-बढ़ने से बीमारी और तन्दुरुस्ती का चक्र घूमता है। कहा जाता है कि बीमारी की जड़ पेट में है। इसका अर्थ यही है कि नाभि चक्र के निवासी 'समान' और 'कृकल' ही हमारे स्वास्थ्य के अधिपति हैं। इन पर अधिकार होने से चिरस्थायी स्वास्थ्य का स्वामित्व प्राप्त होता है।

'उदान' प्राण का निवास कण्ठ है। यह श्री और समृद्धि का स्थान है। लक्ष्मी जी का केन्द्र कण्ठ-कूप की 'स्फुटा' ग्रन्थि को माना गया है। लक्ष्मी जी की पूजा एवं 'स्फुटा' के उत्तेजन से निर्मित कण्ठ में स्वर्णाभूषण धारण किये जाते हैं। 'स्फुटों' पर धातुओं और रत्नों का जो प्रभाव पड़ता है, उसे जानने वाले गले में रत्न, कवच, आभूषण एवं मालायें बनाकर कण्ठ में धारण करते हैं और उनके सूक्ष्म परिणामों से लाभान्वित होते हैं।

उदान के परिपूर्ण होने से मनुष्य को वे योग्यतायें, सामर्थ्य, शक्तियाँ, विशेषतायें एवं चतुरतायें प्राप्त होती हैं, जिनके कारण सांसारिक आवश्यकता की वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती रहती हैं। तृष्णाओं का तो अन्त नहीं, उन्हें तो कुबेर भी पूरा नहीं कर सकता, पर जीवनोपयोगी कोई वस्तु ऐसी नहीं जिसे उदान प्राण की सामर्थ्य से प्राप्त न किया जा सकता हो। जिनकी 'स्फुटा' ग्रन्थि जागृत है वे कभी भी अभावग्रस्त नहीं रह सकते, उनकी हर उचित आवश्यकता समय पर पूरी हो जाती है।

देवदत्त' सूक्ष्म प्राण आध्यात्मिकता और सम्प्रदायों का स्वामी है। अष्ट सिद्धियाँ, नव निद्धियाँ देवदत्त से सम्बन्धित हैं। शाप-वरदान, दूर-दर्शन, दूर-श्रवण, अणिमा, महिमा, लघिमा आदि चमत्कारों का केन्द्र यही है।

अमीर, सम्पन्न, बड़े आदमी, व्यापारी, धनी, लक्ष्मीपति बनना, वैसे घर में जन्म पाना, वैसी आकस्मिक सहायतायें प्राप्त होना, वैसे अवसर, सुझाव या मित्र मिल जाना उदान-प्राण के शक्तिशाली होने पर निर्भर हैं। जब यह प्राण निर्बल हो जाता है तो लक्ष्मी विदा होते देर नहीं लगती। ऐसे गलत कदम उठ जाते हैं, ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनके कारण घाटे पर घाटा होने लगता है, चोट पर चोट लगती है और मनुष्य कुछ दिनों में निर्धन एवं दीन-हीन बन जाता है।

जब तक स्फुटा जागृत रहती है, तब तक बड़ी-बड़ी हानि होने पर भी स्थायी रूप से दरिद्रता नहीं आ सकती। कारण यह है कि स्फुटा में उदान प्राण के सम्पर्क से एक ऐसी चैतन्य स्फुरणा उत्पन्न होती है, जो अदृश्य लोक में छिपे हुए भविष्य का परिचय पाती रहती है। उसे अज्ञात रूप से अनायास ही ऐसा आभास होता रहता है कि यह करना ठीक है और यह करना अनिष्टकारक होगा। एक अज्ञात शक्ति उसका पथ प्रदर्शन करती सी मालूम होती है। वह खतरों से बचाती है, आगे बढ़ने का मार्ग बताती है और कठिन परिस्थितियों में सहारा देती है, जिससे कि डूबता हुआ बेड़ा पार हो जाता है। उदान द्वारा चैतन्य 'स्फुटा' को शरीर-वासिनी लक्ष्मी कहा जाता है।

जिसका कण्ठ-धूप का 'देवदत्त' प्रबुद्ध होता है, ऐसा पुरुष महा चमत्कारी, परम सिद्ध पुरुष बन जाता है। वह चाहे तो प्राण बल से अद्भुत उथल-पुथल उत्पन्न कर सकता है।

'व्यान' का स्थान मस्तिष्क का मध्य भाग है। यह चार अन्य प्राणों का नियंत्रण करता है। दोनों कानों के बीच एक रेखा खींची जाय और दूसरी रेखा भ्रूमध्य भाग से लेकर सिर के पीछे तक खींची जाय तो दोनों जहाँ मिलेंगी, वह स्थान त्रिकुटी कहा जायेगा। यही 'ध्यान' का स्थान माना जाता है। इसका सहायक 'धनञ्जय' है। व्यान को कृष्ण, धनञ्जय को अर्जुन कहते हैं। इसी त्रिकुटी में, युद्धस्थली के मध्य भाग में कृष्णार्जुन सम्वाद रूपी गीता का आविर्भाव होता है। मध्य मस्तक में शतदल कमल में अवस्थिति जिस अमृतकलश का योगशास्त्रों में वर्णन है, उसे ध्यान और धनञ्जय का प्रसाद ही समझना चाहिये।

'व्यान' के प्रबुद्ध होने से ऋतम्भरा प्रज्ञा मिलती है। ऋतम्भरा प्रज्ञा उस उच्च विचारधारा को कहते हैं, जो जीव को आत्मकल्याण की ओर ले जाती है। सत्कर्म, शुभ-संकल्प, सद्वृत्ति आदि दैवी गुण कर्म स्वभावों का प्रकाश व्यान द्वारा ही होता है। आत्म-साक्षात्कार, ईश्वर-दर्शन, ब्रह्म-प्राप्ति, दिव्य-दृष्टि एवं समाधि का केन्द्र व्यान है। व्यान को गरुड़ कहा गया है। भगवान का वाहन गरुड़ है। जिसका व्यान जागृत हो गया उसके मानस में परमात्मा का प्रत्यक्ष विकास परिलक्षित होने लगता है।

मस्तिष्क में अनेक शक्तियाँ हैं, जिनके कारण मनुष्य अपनी सर्वोपरि प्रधानता सिद्ध करता है। संसार में ऐसे कितने ही महापुरुष हुए हैं, जिनकी अद्भुत मानसिक योग्यता एवं प्रतिभा ने लोगों को हैरत में डाल दिया है। यह धनञ्जय प्राण के विकास का चमत्कार है। मस्तिष्क में अनेक शक्तियों का निवास है। व्यवस्था-शक्ति, ग्रहण-शक्ति, निर्णय-शक्ति, रचना-शक्ति, आमोद-शक्ति, उपक्रान्ति-शक्ति, अनुवर्तन-शक्ति आदि अगणित शक्तियाँ मस्तिष्क में भरी पड़ी हैं।

सभी प्रकार की भली-बुरी, तुच्छ-महान, शक्तियों का भण्डार मस्तिष्क है। इस आधार की सुव्यवस्था एवं अव्यवस्था का आधार धनञ्जय प्राण है। यदि उसमें कुछ गड़बड़ी हो तो मनुष्य में अनेक मानसिक विभूतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसे लोग मूर्ख, मन्दबुद्धि चिंतित, दु:खी एवं उलझनों में उलझे रहते हैं। किसी व्यक्ति का पूर्ण मस्तिष्कीय विकास तभी हो सकता है जब उसका 'व्यान- ठीक हो और उसका मंत्री 'धनञ्जय' जागृत होकर काम करे।

दश प्राणों को सुसुप्त दशा से उठाकर जागृत करने, उसमें उत्पन्न हुई कुप्रवृत्तियों का निवारण करने, प्राण शक्ति पर परिपूर्ण अधिकार एवं आत्मिक जीवन को सुसम्पन्न बनाने के लिए 'प्राण-विद्या' का जानना आवश्यक है। जो इस विद्या को जानता है, उसको प्राण सम्बन्धी न्यूनता एवं विकृति के कारण उत्पन्न होने वाली कठिनाइयाँ दु:ख नहीं देतीं।

प्राण विद्या को ही हठयोग भी कहते हैं। हठयोग के अन्तर्गत प्राण परिपाक के लिए (१) बंध, (२) मुद्रा और (३) प्राणायाम के साधन बताये गये हैं। तीन बन्ध और प्राणायामों का वर्णन नीचे किया जाता है।

मूल बंध, उड्डियान बंध और जालंधर बंध का रहस्य

प्राणमय कोश की साधना में बन्धों का प्रमुख स्थान है। ध्यानात्मक आसनों से पूर्ण लाभ उठाने के लिए उनके साथ-साथ तीन बंध साधने चलने की व्यवस्था योगियों ने की है। प्राणायाम के लिए ये बंध पूरक एवं सहयोगी सिद्ध होते हैं। इनका पूर्ण फल स्वतन्त्रत: तो नहीं, ध्यानात्मक आसनों व प्राणायाम के साथ ही मिलता है जो मानसिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष के रूप में होता है। ये कुल तीन हैं-

(१) मूल बंध (२) उड्डियान बंध, और (३) जालंधर बंध।

(१) **मूल बंध**-प्राणायाम करते समय गुदा के छिद्रों को सिकोड़कर ऊपर की ओर खींचे रखना मूल-बंध कहलाता है। गुदा को संकुचित करने से 'अपान' स्थिर रहता है। वीर्य का अध: प्रभाव रुककर स्थिरता आती है। प्राण की अधोगति रुककर ऊर्ध्वगति होती है। मूलाधार स्थित कुण्डलिनी में मूल-बंध से चैतन्यता उत्पन्न होती है। आँतें बलवान होती हैं, मलावरोध नहीं होता, रक्त-संचार की गति ठीक रहती है। अपान और कूर्म दोनों पर ही मूल-बंध का प्रभाव रहता है। वे जिन तन्तुओं में बिखरे हुए फैले रहते हैं, उनका संकुचन होने से यह बिखरापन एक केन्द्र में एकत्रित होने लगता है।

मूल बंध की क्रिया को ध्यानपूर्वक समझने का प्रयास किया जाय तो वह सहज ही समझ में भी आ जाती है और अभ्यास में भी। मूल बंध के दो आधार हैं। एक मल-मूत्र के छिद्र भागों के मध्य स्थान पर एक एड़ी का हलका सा दबाव देना। दूसरा गुदा संकोचन के साथ-साथ मूत्रेन्द्रिय का नाड़ियों के ऊपर खींचना।

इसके लिए कई आसन काम में लाये जा सकते हैं। पालती मारकर एक -एक पैर के ऊपर दूसरा रखना। इसके ऊपर स्वयं बैठकर जननेन्द्रिय मूल पर हलका दबाव पड़ने देना।

दूसरा आसन यह है कि एक पैर को आगे की ओर लम्बा कर दिया जाय और दूसरे पैर को मोड़कर उसकी ऐड़ी का दबाव मल-मूत्र मार्ग के मध्यवर्ती भाग पर पड़ने दिया जाय। स्मरण रखने की बात यह है कि दबाव हल्का हो। भारी दबाव डालने पर उस स्थान की नसों को क्षति पहुँच सकती है।

संकल्प शक्ति के सहारे गुदा को ऊपर की ओर धीरे-धीरे खींचा जाय और फिर धीरे-धीरे ही उसे छोड़ा जाय। गुदा संकोचन के साथ-साथ मूत्र नाड़ियाँ भी स्वभावत: सिकुड़ती और ऊपर खिंचती हैं। उसके साथ ही साँस को भी ऊपर खींचना पड़ता है। यह क्रिया आरम्भ में १० बार करनी चाहिये। इसके उपरान्त प्रति सप्ताह एक के क्रम को बढ़ाते हुए २५ तक पहुँचाया जा सकता है। यह क्रिया लगभग अश्विनी मुद्रा या बज्रोली क्रिया के नाम से भी जानी जाती है। इसे करते समय मन में भावना यह रहनी चाहिये कि कामोत्तेजन का केन्द्र मेरुदण्ड मार्ग से खिसक कर मेरुदण्ड मार्ग से ऊपर की ओर रेंग रहा है और मस्तिष्क मध्य भाग में अवस्थित सहस्रार चक्र तक पहुँच रहा है। यह क्रिया कामुकता पर नियन्त्रण करने और कुण्डलिनी उत्थान का प्रयोजन पूरा करने में सहायक होती है। इसे मूल (जड़) इसलिए कहा जाता है कि वह मानवी काया के मूल बांध देता है।

(२) **उड्डियान बंध**-पेट में स्थित आँतों को पीठ की ओर खींचने की क्रिया को उड्डियान बंध कहते हैं। पेट को ऊपर की ओर जितना खींचा जा सके उतना खींचकर उसे पीछे की ओर पीठ में चिपका देने का प्रयत्न इस बंध में किया जाता है। इसे मृत्यु पर विजय प्राप्त करने वाला कहा गया है।

जीवनी शक्ति को बढ़ाकर दीर्घायु तक जीवन स्थिर रखने का लाभ उड्डियान से मिलता है। आँतों की निष्क्रियता दूर होती है। अन्त्र पुच्छ, जलोदर, पाण्डु, यकृत वृद्धि, बहु मूत्र सरीखे उदर तथा मूत्राशय के रोगों में इस बंध से बड़ा लाभ होता है। नाभि स्थित 'समान' और 'कृकल' प्राणों से स्थिरता तथा बात, पित्त, कफ की शुद्धि होती है। सुषुम्ना नाड़ी का द्वार खुलता है और स्वाधिष्ठान चक्र में चेतना आने से वह स्वल्प श्रम से ही जागृत होने योग्य हो जाता है।

उड्डियान बन्ध में पेट को फुलाना और सकोड़ना पड़ता है। सामान्य आसन में बैठकर मेरुदण्ड सीधा रखते हुए बैठना चाहिये और पेट को सकोड़ने फुलाने का क्रम चलाना चाहिये।

इस स्थिति में साँस खींचे और पेट को जितना फुला सकें, फुलायें फिर साँस छोड़ें और साथ ही पेट को जितना भीतर ले जा सकें, ले जायें। ऐसा बार-बार करना चाहिये। साँस खींचने और निकालने की क्रिया धीरे-धीरे करें ताकि पेट को पूरी तरह फैलने और पूरी तरह ऊपर खिंचने में समय लगे। जल्दी न हो।

इस क्रिया के साथ भावना करनी चाहिये कि पेट के भीतरी अवयवों का व्यायाम हो रहा है। उनकी सक्रियता बढ़ रही है। पाचन-तंत्र सक्षम हो रहा है, साथ ही मल विसर्जन की क्रिया भी ठीक होने जा रही है। इसके साथ भावना यह भी करनी चाहिये कि लालच का अनीति उपार्जन का, असंयम का, आलस्य का अन्त हो रहा है। इसका प्रभाव आमाशय, आँत, जिगर, गुर्दे, मूत्राशय, हृदय फुफ्फुस आदि उदर के सभी अंग अवयवों पर पड़ रहा है और स्वास्थ्य की निर्बलता हटती और उसके स्थान पर बलिष्ठता सुदृढ़ होती है।

उड्डियान बंध को मूल बंध का उत्तरार्द्ध कहा जा सकता है क्योंकि इसमें भी अधोमुखी को ऊर्ध्वगामी प्रवाह की ओर नियोजित करने का प्रयास किया जाता है। स्वाधिष्ठान चक्र को जागृत करने व विद्युत्चुम्बकीय प्रवाहों से वहाँ पर बैठे ऑटोनॉमिक संस्थान के नाड़ी गुच्छकों के उत्तेजित होने से सुषुम्ना का प्रसुप्त पड़ा द्वार खुलता है। शरीर में स्फूर्ति, जीवनी शक्ति में वृद्धि, आँतो में सक्रियता व अन्नमय कोश साधना के प्रारम्भिक अभ्यास पूरे होना इसके अतिरिक्त लाभ हैं।

(३) **जालंधर बंध**-मस्तक को झुकाकर ठोड़ी को कण्ठ-कूप (कण्ठ में पसलियों के जोड़ पर गड्ढा है, उसे

कण्ठ-कूप कहते हैं) में लगाने को जालंधर-बंध कहते हैं। जालंधर बंध से श्वास-प्रश्वास क्रिया पर अधिकार होता है। ज्ञान-तन्तु बलवान होते हैं। हठयोग में बताया गया है कि इस बन्ध का सोलह स्थान की नाड़ियों पर प्रभाव पड़ता है। १-पादांगुष्ठ, २-गुल्फ, ३-घुटने, ४-जंघा, ५-सीवनी, ६-लिंग, ७-नाभि, ८-हृदय, ९-ग्रीवा, १०-कण्ठ, ११-लम्बिका, १२-नासिका, १३-भ्रू, १४-कपाल, १५-मूर्धा और १६-ब्रह्मरंध्र। यह सोलह स्थान जालंधर बंध के प्रभाव क्षेत्र हैं, विशुद्धि चक्र के जागरण में जालंधर बन्ध से बड़ी सहायता मिलती है।

जालंधर बंध में पालती मारकर सीधा बैठा जाता है। रीढ़ सीधी रखनी पड़ती है। ठोड़ी को झुकाकर छाती से लगाने का प्रयत्न करना पड़ता है। ठोड़ी जितनी सीमा तक छाती से लगा सकें उतने पर ही सन्तोष करना चाहिये। जबरदस्ती नहीं करनी चाहिये। अन्यथा गरदन को झटका लगने और दर्द होने लगने जैसा जोखिम रहेगा।

इस क्रिया में भी ठोड़ी को नीचे लाने और फिर ऊँची उठाकर सीधा कर देने का क्रम चलाया जाय। साँस को भरने और निकालने का क्रम भी जारी रखना चाहिये। इससे अनाहत विशुद्धि और आज्ञा चक्र तीनों पर भी प्रभाव और दबाव पड़ता है। इससे मस्तिष्क शोधन का 'कपाल भाति' जैसा लाभ होता है। बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता दोनों ही जगते हैं। यही भावना मन में करनी चाहिये कि अहंकार छट रहा है और नम्रता भरी सज्जनता का विकास हो रहा है।

जालंधर बंध अर्थात् मस्तक को झुकाकर ठोड़ी को कण्ठ से लगाना व ध्यान को स्थिर करना। चित्त वृत्ति को शान्त कर मस्तिष्क को तनाव रहित व ध्यान योग्य बनाने में, विशुद्धि चक्र के जागरण में जालंधर बंध सहायक होता है। इसे मुख्य रूप से प्राणायाम में कुम्भक के साथ प्रयोग करते हैं। जब तीनों बंध एक साथ प्रयुक्त करते हैं तो इसे 'महाबंध' की स्थिति कहते हैं। यह सभी प्राणमय कोश को परिशोधित एवं चक्रों को जागृत करने में सहायक होता है, मानसिक सक्रियता बढ़ाती है, अतीन्द्रिय क्षमताएँ जागृत करती है।

मुद्रा उपचार:-मुद्राओं से ध्यान में तथा चित्त को एकाग्र करने में बहुत सहायता मिलती है। इनका प्रभाव शरीर की आंतरिक ग्रन्थियों पर पड़ता है। इन मुद्राओं के माध्यम से शरीर के अवयवों तथा उनकी क्रियाओं को प्रभावित, नियन्त्रित किया जा सकता है। विभिन्न प्रकार के साधना के उपचार क्रमों में इन्हें विशिष्ट आसन, बंध तथा प्राणायामों के साथ किया जाता है। मुद्रायें यों तो अनेक हठयोग के अन्तर्गत वर्णित हैं। अनेक प्रयोजनों के लिए उनका अलग-अलग महत्व है। उनमें कुछ ध्यान के लिए उपयुक्त हैं, कुछ आसनों की पूरक हैं, कुछ तान्त्रिक प्रयोगों एवं हठयोग के अंगों के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उन सबके विस्तार में जाना न तो उपयोगी है और न आवश्यक।

प्रस्तुत पंचकोश अनावरण के अन्तर्गत जिन मुद्राओं को महत्वपूर्ण पाया गया है उनका विवरण यहाँ दिया जा रहा है। वे हैं-

(१)महामुद्रा (२) खेचरी मुद्रा (३) विपरीत करणी मुद्रा (४) योनि मुद्रा (५) शाम्वी मुद्रा (६) अगोचरी मुद्रा (७)भूचरी मुद्रा

(१) महामुद्रा-बाएँ पैर की एड़ी को गुदा तक मूत्रेन्द्रिय के बीच सीवन भाग में लगावें और दाहिना पैर लम्बा कर दीजिए। लम्बे किये हुए पैर के अँगूठे को दोनों हाथों से पकड़े रहिये। सिर को घुटने से लगाने का प्रयत्न कीजिए। नासिका के बाएँ छिद्र से साँस पूरक खींचकर कुछ देर कुम्भक करते हुए दाहिने छिद्र से रेचक प्राणायाम कीजिए। आरम्भ में पाँच प्राणायाम बाईं मुद्रा से करने चाहिये, फिर दाएँ पैर को सकोड़कर गुदा भाग से लगायें और बाएँ पैर को फैलाकर दोनों हाथों से उसका अँगूठा पकड़ने की क्रिया करनी चाहिये। इस दशा में दाएँ नथुने से पूरक और बाएँ से रेचक करना चाहिये। जितनी देर बाएँ भाग से यह मुद्रा की थी उतनी ही देर दाएँ भाग से करनी चाहिये।

इस महा-मुद्रा से कपिल मुनि ने सिद्धि प्राप्त की थी। इससे अहंकार, अविद्या, भय द्वेष, मोह आदि के पंच क्लेशदायक विकारों का शमन होता है। भगन्दर, बवासीर, संग्रहिणी, प्रमेह आदि रोग दूर होते हैं। शरीर का तेज बढ़ता है और वृद्धावस्था दूर हटती जाती है।

(२) खेचरी मुद्रा-जीभ को उलटी करके उसे उलटना और तालू के गड्ढे में जिह्वा का अग्र भाग लगा देने को खेचरी मुद्रा कहते हैं। तालू के गड्ढे भाग में एक पोला स्थान है जिसमें आगे चलकर माँस की एक सूँड़ सी लटकती है, उसे कपिल कुहर भी कहते हैं। यही स्थान जिह्वा के अग्रभाग को लगाने का होता है।

प्राचीनकाल में जिह्वा को लम्बी करने के लिए कुछ ऐसे उपाय काम में लाये गये थे, जो वर्तमान परिस्थिति में आवश्यक नहीं हैं। १-जिह्वा को इस तरह दुहना जैसे पशु के थन को दुहते हैं, २-जिह्वा को शहद, कालीमिर्च आदि से सहलाते हुए आगे की ओर सूँतना या खींचना, ३-जीभ के नीचे नाड़ी तन्तुओं को काट देना, ४-लोहे की शलाका से दबा-दबा कर जीभ बढ़ाना। यह क्रिया देश, काल, ज्ञान की वर्तमान स्थिति के अनुरूप नहीं है। जैसे अब प्राचीनकाल की भाँति हजारों वर्ष तक निराहार तप कोई नहीं कर सकता, वैसे ही खेचरी मुद्रा के लिए जिह्वा बढ़ाने के लिए कष्टसाध्य उपाय भी अब असामयिक हैं।

काली मिर्च और शहद की जिह्वा पर हल्की मालिश कर देने से वहाँ के तन्तुओं में उत्तेजना आ जाती है और उसे पीछे की ओर लौटने में सहायता मिलती है। इस रीति से जिह्वा के अग्रभाग को तालु गह्वर में लगाने का प्रयत्न करना चाहिये। जिह्वा धीरे-धीरे चलती रहे, जिसमें तालु गह्वर की हल्की-सी मालिश होती रहे। दृष्टि भ्रूमध्य भाग में रखनी चाहिये।

खेचरी मुद्रा से कपाल गह्वर में होकर प्राण-शक्ति का संचार होने लगता है और सहस्रदल कमल में अवस्थित अमृत निर्झर झरने लगता है, जिसके आस्वादन से एक बड़ा ही दिव्य आनन्द आता है। प्राण की ऊध्र्वगति हो जाने से मृत्यु काल में जीव ब्रह्मरन्ध्र में होकर ही प्रयाण करता है, इसलिए उसे मुक्ति या सद्गति प्राप्त होती है। गुदा आदि अधोमार्गों से जिसका प्राण निकलता है, वह नरकगामी तथा मुख, नाक, कान से प्राण छोड़ने वाला मृत्युलोक में भ्रमण करता है, किन्तु जिसका जीव ब्रह्मरन्ध्र में होकर जायेगा वह अवश्य ही सद्गति को प्राप्त करेगा। खेचरी मुद्रा द्वारा ब्रह्माण्डस्थित शेषशायी सहस्रदल निवासी परमात्मा से साक्षात्कार होता है। यह मुद्रा बड़ी ही महत्वपूर्ण है।

(३) **विपरीत करणी मुद्रा**-मस्तक को जमीन पर रखकर दोनों हाथों को उसके समीप रखना और पैरों को सीधे ऊपर की ओर उल्टे करना, इसे विपरीत करणी मुद्रा कहते हैं। शीर्षासन भी इसी का नाम है। सिर का नीचा और पैर का ऊपर होना इसका प्रधान लक्षण है।

तालू के मूल से चन्द्र नाड़ी और नाभि के मूल से सूर्य नाड़ी निकलती है। इन दोनों के उद्गम स्थान विपरीत-करणी मुद्रा द्वारा सम्बन्धित हो जाते हैं। ऋषि-प्राण और धन-प्राण का इस मुद्रा द्वारा एकीकरण होता है। जिससे मस्तिष्क को बल मिलता है।

(४) **योनि मुद्रा**-इसे षड्मुखी भी कहते हैं। पद्मासन पर बैठकर दोनों हाथों के अँगूठों से दोनों कान, दोनों हाथ की तर्जनियों से दोनों आँखें, दोनों मध्यमाओं से दोनों कानों के छिद्र और दोनों अनामिकाओं से मुँह बन्द कर देना चाहिये। होठों को कौए की चोंच की तरह बाहर निकाल कर धीरे-धीरे साँस खींचते हुए उसे गुदा तक ले जाना चाहिये। फिर उल्टे क्रम से धीरे-धीरे बाहर निकाल देना चाहिये। योनि मुद्रा की यह साधना योग सिद्धि में बड़ी सहायक सिद्ध होती है।

(५) **शाम्भवी मुद्रा**- आसन लगाकर दोनों भौहों के बीच में दृष्टि को जमाकर भ्रकुटी में ध्यान करने को शाम्भवी मुद्रा कहते हैं। कहीं-कहीं अधखुले नेत्र और ऊपर चढ़ी हुई पुतलियों से जो शान्त चित्त ध्यान किया जाता है उसे भी शाम्भवी मुद्रा कहा है। भगवान शम्भू के द्वारा साधित होने के कारण इन साधनाओं का नाम शाम्भवी मुद्रा पड़ा है।

(६) **अगोचरी मुद्रा**-नासिका से चार उँगली आगे के शून्य स्थान पर दोनों नेत्रों की दृष्टि को एक बिन्दु पर केन्द्रित करना।

इसके अतिरिक्त नभो मुद्रा, महा-बंध शक्तिचालिनी मुद्रा, ताड़गी, माण्डवी अधोधारण ,आम्भसी, वैश्वानरी, बायवी, नभोधारणा, अश्वनी, पाशनी, काकी, मातंगी, धुजांगिनी आदि २५ मुद्राओं का घेरण्ड-संहिता में सविस्तार वर्णन है। यह सभी अनेक प्रयोजनों के लिए महत्वपूर्ण हैं। प्राणमय कोश के अनावरण में जिन मुद्राओं का प्रमुख कार्य है, उनका वर्णन ऊपर कर दिया है। अब ९६ प्राणायामों में से प्रधान ९ प्राणायामों का उल्लेख नीचे करते हैं।

नौ प्राणायाम

(१) **लोम-विलोम प्राणायाम**-सिद्धासन, पद्मासन या श्वतिकासन पर मूल बंध लगाकर बैठें। मेरुदण्ड को सीधा रखें। भीतर भरी हुई साँस बाहर निकाल दें। अब नासिका से साँस खींचिये और जालंधर बंध लगाकर उड्डियान बंध लगाकर दाहिने नथुने से धीरे-धीरे वायु निकाल दीजिये। फिर एक सैकण्ड बिना वायु के रहिये, तत्पश्चात् दाहिने नथुने से साँस खींचिये, फिर कुछ देर तक भीतर साँस रोक कर बाएँ नथुने से उसे बाहर निकाल दीजिये। इस प्रकार दो प्राणायाम हो जाते हैं।

पुन: एक सेकण्ड बाह्य-कुम्भक करके पहिले की भाँति दुहराना चाहिये। इस प्रकार आरम्भ में १० प्राणायाम करने चाहिये और प्रति नथुने से रेचक या पूरक करना हो, साँस छोड़ना या खींचना हो तो हाथ की अनामिका और कनिष्ठा उँगलियों से बाएँ नथुने को बन्द कर लें। इसी प्रकार जब बाएँ नथुने से वायु ग्रहण करनी या छोड़नी है तो दाहिने हाथ के अँगूठे से बाएँ हाथ के नथुने को बन्द करें।

(२) **सूर्य-भेदन प्राणायाम**-दाहिने नथुने से वायु खींचिये, यथाशक्ति कुम्भक कीजिए और बाएँ नथुने से बाहर निकाल दीजिये। इस प्रकार इस क्रिया को बार-बार करें। यही सूर्य भेदन प्राणायाम है। अनुलोम, विलोम, प्राणायाम में नथुनों से पूरक और रेचक होता है, परन्तु इसमें एक ही नथुने से (दाहिने में पूरक और बाएँ से रेचक) होता है।

इस प्राणायाम से शरीर में उष्णता बढ़ती है, इसलिए यह शीत प्रकृति वालों के लिए अथवा शीत ऋतु में विशेष उपयोगी सिद्ध होता है।

(३) **उज्जायी प्राणायाम**-सिर को कुछ झुकालें। कण्ठ से वायु खींचने का घर्षण शब्द करते हुए बाएँ से पूरक करें। चार-पाँच सेकण्ड कुम्भक करें। इसके पश्चात् बाएँ नथुने से वायु बाहर निकाल दें। इस प्राणयाम में रेचक, पूरक और कुम्भक तीनों ही थोड़ी मात्रा में होते हैं। इसमें बन्धनों का प्रयोग करना आवश्यक नहीं है। चलते-फिरते, उठते-बैठते या सोते हुए यह उज्जायी प्राणायाम आसानी से किया जा सकता है। रोगी लोग शय्या पर पड़े-पड़े इसे कर सकते हैं। पेट के रोगों के लिए यह उपयोगी है। इससे भी उष्णता बढ़ती है।

(४) **शीतकारी प्राणायाम**-दोनों नथुने बन्द करके जिह्वा और होठों द्वारा वायु खींचें। यथाशक्ति रोके रहें और फिर धीरे-धीरे दोनों नथुनों से वायु को बाहर निकाल दें।

दाँतों के बीच जिह्वा को बाहर होठों तक निकालकर होठों को फुलाकर मुख के बीच में सीत्कार करते हुए श्वास खींचने की क्रिया प्रधान होने के कारण इसे शीतकारी प्राणायाम कहते हैं। इस प्राणायाम में जिह्वा के सहारे वायु भीतर प्रवेश करती है। यह प्राणायाम शीतल है इसलिए उष्ण प्रकृति वालों के लिए अथवा ग्रीष्म ऋतु में यह विशेष उपयोगी है। यह शरीर को निर्विष बनाता है। कहते हैं कि काकभुशुण्डि जी ने इसी विधि से प्राणायाम में सिद्धि प्राप्त की थी।

(५) **शीतली प्राणायाम**-दोनों नथुने बन्द कर दीजिए। होठों को कौए की चोंच की तरह बनाकर जिह्वा को उनमें से थोड़ा बाहर निकाल दीजिए। फिर मुख द्वारा धीरे-धीरे वायु भीतर खींचिए। यथाशक्ति कुम्भक करके दोनों नथुनों से धीरे-धीरे वायु बाहर निकाल दीजिए, यह शीतली प्राणायाम कहलाता है। यह भी शीतल प्रकृति का है। रूप लावण्य में वृद्धि करता है।

(६) **भस्त्रिका प्राणायाम**-पद्मासन लगाकर बायीं नासिका से वेगपूर्वक जल्दी-जल्दी दस बार लगातार पूरक रेचक कीजिए। कुम्भक करने की आवश्यकता नहीं है। फिर ग्यारहवीं बार उसी नासिका से लम्बा पूरक कीजिए। यथाशक्ति कुम्भक करने के उपरान्त दाहिने नथुने से धीरे-धीरे वायु को बाहर निकाल दीजिए। फिर इसी क्रिया को दाहिने-नथुने से दुहराइये। यह भस्त्रिका प्राणायाम है। आरम्भ में इसे पाँच-पाँच बार से अधिक नहीं करना चाहिये।

यह सम-शीतोष्ण है। ब्रह्मग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि और रुद्र ग्रन्थि तीनों का यह भेदन करता है। इसके द्वारा सुषुम्ना में से प्राण-तत्व की विहंगम गति ऊर्ध्व-प्रदेश की ओर बढ़ती है। इसी से अग्नितत्व प्रदीप्त होता है। इसे आरम्भ में अधिक संख्या में या अधिक वेग से नहीं करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करने से फुफ्फुस कोश पर आघात पहुँचने का भय रहता है।

(७) **भ्रामरी प्राणायाम**-पद्मासन लगाकर नेत्र बन्द करके बैठिये। भ्रकुटी के मध्य भाग में ध्यान कीजिए। जालंधर बंध लगाइये फिर नाक द्वारा भ्रमर नाद के समान गुञ्जन स्वर करते हुए पूरक कीजिए। पश्चात् तीन सेकण्ड कुम्भक करके धीरे-धीरे भ्रमर गुञ्जन ध्वनि के साथ रेचक कीजिए। यही भ्रमरी प्राणायाम है।

कोई योगी दोनों नासापुटों से वायु खींचने और छोड़ने के पक्ष में है और कोई लोम-विलोम प्राणायाम की भाँति दाएँ-बाएँ नथुनों से इसे करने को अच्छा बताते हैं।

कुम्भक की अवस्था में रुकी हुई वायु को मस्तिष्क में बायीं ओर से दायीं ओर लगातार कई बार

घुमाकर तथा रेचक करते हैं। इस वायु को भ्रमण कराने की क्रिया के कारण तथा भ्रमण-नाद जैसी ध्वनि होने के कारण इस प्राणायाम का नाम भ्रामरी रखा गया है। यह मन की एकाग्रता एवं प्राण की स्थिरता के लिए लाभदायक है।

(८) **मूर्छा प्राणायाम**- दोनों हाथों के अँगूठे दोनों कानों में, दोनों तर्जनी दोनों आँखों पर, दोनों, मध्यमा नासिका पुटों पर और अनामिकायें तथा कनिष्ठकायें मुख पर रखकर मूल बंध तथा जालंधर बंध को आरम्भ से अन्त तक स्थिर करके बाएँ नथुने से पूरक करें। यथशक्ति कुम्भक करके दाहिने नथुने से रेचक करें। यह मूर्छा प्राणायाम हुआ।

इस प्राणायाम में रेचक करते समय बन्द नेत्रों से भूमध्य भागों में ध्यान करने पर पञ्च तत्वों के रंग दिखाई पड़ते हैं। शरीर में जो तत्व अधिक होगा, उसी का रंग अधिक दृष्टिगोचर होगा। पृथ्वी का रंग पीला, जल का सफेद, अग्नि का लाल, वायु का हरा और आकाश का नीला होता है। इन तत्वों का शोधन करने से नादानुसंधान तथा समाधि में सुविधा रहती है।

(९) **प्लाविनी प्राणायाम**-पद्मासन से बैठिए। दोनों भुजाओं को ऊपर की ओर लम्बी तथा सीधी रखिए। अब दोनों नथुनों से पूरक कीजिए और सीधा लेट जाइए। लेटते समय दोनों हाथों को समेट कर तकिए की तरह शिर के नीचे लगा लीजिए, कुम्भक कीजिए और ज़ब तक कुम्भक रहे, तब तक भावना कीजिए कि मेरी देह रुई के समान हल्की है। फिर बैठकर पूर्व स्थिति में आ जाइए और धीरे-धीरे दोनों नथुनों से वायु को बाहर निकाल दीजिए। यह प्लाविनी प्राणायाम है। इनसे ऋद्धियों और सिद्धियों का मार्ग प्रशस्त होता है।

किस प्राणायाम को किस मात्रा, किस प्रयोजन के लिए, किस प्रकार जागृत किया जाये ? इसका निर्णय करना इतना सुगम नहीं है कि उसे एक साँस में बताया जा सके। कारण यह है कि साधक की आन्तरिक स्थिति, सांसारिक परिस्थिति, शरीर का गठन, आयु, मनोभूमि, संस्कार आदि के आधार पर ही विचार किया जा सकता है कि उनके लिए वर्तमान स्थिति में किस प्रकार की साधना उपयोगी एवं आवश्यक है।

प्राणायाम कोश की सुव्यवस्था करने के लिए साधारणत: बन्ध मुद्रा तथा प्राणायाम की क्रियायें ही प्रयुक्त होती हैं। इन्हीं में हेर-फेर करके दस प्राणों का उन्नायक विधान बनाया जाता है। फिर भी कई बार ऐसे अवसर प्राप्त होते हैं, जिनमें इन साधनों में से किसी की भी आवश्यकता नहीं पड़ती और प्राण-विद्या की सांगोपांग सफलता मिल जाती है।

गायत्री का द्वितीय मुख प्राणमय कोश है। इसको अनुकूल बना लेना ही वेदमाता को प्रसन्न करके उनके दूसरे मुख से आशीर्वाद प्राप्त कर लेना है। प्राणकोश को शुद्ध एवं प्रशुद्ध करना यानी एक प्रकार से गायत्री माता की प्राणमयी उपासना है। इसे ही आत्मोन्नति की द्वितीय भूमिका कहा जाता है।

मनोमय कोश का अनावरण

पंचकोशों में तीसरा 'मनोमय कोश' है। इसे गायत्री का तृतीय मुख भी कहा गया है। मन बड़ा चंचल और वासनामय है। यह सुख प्राप्ति की अनेक कल्पनाएँ किया करता है। कल्पनाओं के ऐसे रंग-बिरंगे चित्र तैयार करता है कि उन्हें देखकर बुद्धि भ्रमित हो जाती है और मनुष्य ऐसे कार्यों को अपना लेता है, जो उसके लिए अनावश्यक एवं हानिकारक होते हैं तथा जिनके लिए उसको पीछे पश्चाताप करना पड़ता है। अच्छे और प्रशंसनीय कार्य भी मन की कल्पना पर अवलम्बित हैं। मनुष्य को नारकीय एवं घृणित पतितावस्था तक पहुँचा देना अथवा उसे मानव-भूसुर बना देना मन का ही खेल है।

मन में प्रचण्ड प्रेरक शक्ति है। इस प्रेरक शक्ति से अपने कल्पना चित्रों को वह ऐसा सजीव कर देता है कि मनुष्य बालक की तरह उसे प्राप्त करने के लिए दौड़ने लगता है। रंग-बिरंगी तितलियों के पीछे जैसे बच्चे दौड़ते-फिरते हैं, तितलियाँ जिधर जाती हैं, उधर ही उन्हें भी जाना पड़ता है, इसी प्रकार मन में जैसी कल्पनाएँ, इच्छाएँ, वासनाएँ आकांक्षाएँ, तृष्णाएँ उठती हैं उसी ओर शरीर चल पड़ता है।

चूँकि सुख की आकांक्षा ही मन के अन्तराल में प्रधान रूप से काम करती है, इसलिए वह जिस बात में भी, जिस-जिस दिशा में सुख प्राप्ति की कल्पना कर सकता है उसी के अनुसार एक सुन्दर मनमोहक रंग-बिरंगी योजना तैयार कर देता है, मस्तिष्क उसी ओर लपकता है। शरीर उसी दिशा में काम करता है। परन्तु साथ ही मन की चंचलता भी प्रसिद्ध है, इसलिए वह नई कल्पनाएँ करने में पीछे नहीं रहता। कल की योजना पूरी नहीं हो पाई थी कि उसमें भी एक नई और तैयार हो गई। पहली छोड़कर नई में प्रवृत्ति हुई। फिर वही क्रम आगे भी चला। उसे छोड़कर और नया आयोजन किया।

इस प्रकार अनेक अधूरी योजनाएँ पीछे छूटती जाती हैं और नई बनती जाती हैं। अनियन्त्रित मन का यह कार्यक्रम है। वह मृग तृष्णाओं में मनुष्य को भटकाता है और सफलताओं की, अधूरे कार्यक्रमों की अगणित ढेरियाँ लगाकर जीवन को मरघट जैसा कर्कश बना देता है।

वर्तमान युग में यह दोष और अधिक बढ़ गया है। इस समय मनुष्य भौतिकता के पीछे पागल हो रहा है। आत्म-कल्याण की बात को सर्वथा भूलकर वह कृत्रिम सुख-सुविधाओं के लिए लालायित हो रहा है और जिनके पास ऐसे साधन जितने अधिक होते हैं, उसे उतना ही भाग्यवान समझने लगता है। जो संयोगवश अथवा शक्ति के अभाव के कारण उन 'सुख-साधनों' से वंचित रह जाते हैं, वे अपने को परम अभागा, दीन-हीन अनुभव करते हैं। उनका मन सदैव घोर उद्विग्न रहता है और अतृप्त लालसाओं के कारण भी शान्ति का अनुभव करने में असमर्थ रहते हैं।

गीता में कहा गया है कि 'मन ही मनुष्य का शत्रु और मन ही मित्र है, बन्धन और बोझ का कारण भी यही है।' वश में किया हुआ मन अमृत के समान और अनियंत्रित मन को हलाहल विष जैसा अहितकर बताया गया है। कारण यह है कि मन के ऊपर जब कोई नियंत्रण या अनुशासन नहीं होता तो वह सबसे पहले इन्द्रिय भोगों में सुख खोजने के लिए दौड़ता है।

जीभ से तरह-तरह के स्वाद चाटने की लपक उसे सताती है। रूप यौवन के क्षेत्र में काम-किलोल करने के लिए इन्द्र के परिस्तान को कल्पना जगत में ला खड़ा करता है, नृत्य, गीत, वाद्य, मनोरंजन, सैर-सपाटा, मनोहर दृश्य, सुवासित पदार्थ उसे लुभाते हैं और उनके निकट अधिक-से-अधिक समय बिताना चाहता है। सरकस, थियेटर, सिनेमा, क्लव, खेल आदि के मनोरंजन, क्रीड़ास्थल उसे रुचिकर लगते हैं। शरीर को सजाने या आराम देने के लिए बहुमूल्य वस्त्राभूषण, उपचार, मोटर-विमान आदि सवारियाँ, कोमल पलंग, पंखे आदि की व्यवस्था आवश्यक प्रतीत होती है। इन सब भोगों का भोगने एवं वाहवाही लूटने, अहंकार की पूर्ति करने, बड़े

बनने का शौक पूरा करने के लिए अधिकाधिक धन की आवश्यकता होती है। उसके लिए अर्थ संग्रह की योजना बनाना मन का प्रधान काम हो जाता है।

असंस्कृत, छुट्टल मन प्रायः इन्द्रिय भोग, अहंकार की तृप्ति और धन संचय के तीन क्षेत्र में ही सुख ढूँढ़ पाता है। उसके ऊपर कोई अंकुश न होने से वह उचित-अनुचित का विचार नहीं करता और 'जैसे बने वैसे करने' की नीति अपनाकर जीवन की गतिविधि को कुमार्गगामी बना देता है। मन की दौड़ स्वच्छन्द होने पर बुद्धि का अंकुश भी नहीं रहता। फलस्वरूप एक योजना छोड़ने, दूसरी अपनाने में योजना के गुण-दोष ढूँढ़ने की बाधा नहीं रहती।

पाशविक इच्छाओं की पूर्ति के लिए अव्यवस्थित कार्यक्रम बनाते-बिगाड़ते रहना और इस अव्यवस्था के कारण जो उलझनें उत्पन्न होती हैं, उनमें भटकते हुए ठोकर खाते रहना साधारणतः यही एक कार्यप्रणाली सभी स्वच्छन्द मन वालों की होती है। इसकी प्रतिक्रिया जीवनभर क्लेश, असफलता, पाप, अनीति, निन्दा और दुर्गति होना ही हो सकता है।

मन का वश में होने का अर्थ उसका बुद्धि के, विवेक के नियंत्रण में होना है। बुद्धि जिस बात में औचित्य अनुभव करे, कल्याण देखे, आत्मा का हित, लाभ-स्वार्थ समझे, उसके अनुरूप कल्पना करने, योजना बनाने, प्रेरणा देने का काम करने को मन तैयार हो जाय तो समझना चाहिए कि मन वश में हो गया है। क्षण-क्षण में अनावश्यक दौड़ लगाना, निरर्थक स्मृतियों और कल्पनाओं में भ्रमण करना अनियन्त्रित मन का काम है। जब वह वश में हो जाता है तो जिस एक काम पर लगा दिया जाय, उसमें लग जाता है।

मन की एकाग्रता एवं तन्मयता में इतनी प्रचण्ड शक्ति है कि उस शक्ति की तुलना संसार की और किसी शक्ति से नहीं हो सकती जितने भी विद्वान लेखक, कवि, वैज्ञानिक, अन्वेषक, नेता, महापुरुष अब तक हुए हैं, उन्होंने मन की एकाग्रता से ही काम किया है।

सूर्य की किरणें चारों ओर बिखरी पड़ी रहती हैं, तो उनका कोई विशेष उपयोग नहीं होता, पर जब आतिसी शीशे द्वारा उन किरणों को एकत्रित कर दिया जाता है, तो जरा से स्थान की धूप से अग्नि जल उठती है और उस जलती हुई अग्नि से भयंकर दावानल लग सकता है। जैसे दो इन्च क्षेत्र में फैली हुई धूप का केन्द्रीकरण भयंकर दावानल के रूप में प्रकट हो सकता है, वैसे ही मन की बिखरी हुई कल्पना, आकांक्षा और प्रेरणा शक्ति भी जब एक केन्द्र बिन्दु पर एकाग्र होती है तो उसके फलितार्थों की कल्पना मात्र से आश्चर्य होता है।

पातंजलि ऋषि ने 'योग' की परिभाषा करते हुए कहा कि 'योगश्चित्तवृत्ति निरोध', अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध करना, रोककर एकाग्र करना ही योग है। योग साधना का विशाल कर्मकाण्ड इसलिए है कि चित्त वृत्तियाँ एक बिन्दु पर केन्द्रित होने लगें तथा आत्मा के आदेशानुसार उनकी गतिविधि हो। इस कार्य में सफलता मिलते ही आत्मा अपने पिता परमात्मा में सन्निहित समस्त ऋद्धि-सिद्धियों का स्वामी बन जाता है। वश में किया हुआ मन ऐसा शक्शिाली अस्त्र है कि उसे जिस ओर भी प्रयुक्त किया जायेगा उसी ओर आश्चर्यजनक चमत्कार उपस्थित हो जायेंगे। संसार के किसी कार्य में प्रतिभा, यश, विद्या, स्वास्थ्य, भोग, अन्वेषण आदि जो भी वस्तु अभीष्ट होगी, वह वशवर्ती मन के प्रयोग से निश्चित ही प्राप्त होकर रहेगी। उसकी प्राप्ति में संसार की कोई शक्ति बाधक नहीं हो सकती।

सांसारिक उद्देश्य ही नहीं, वरन् उससे परमार्थिक आकांक्षाएँ भी पूरी होती हैं। समाधि सुख भी 'मनोबल' का एक चमत्कार है। एकाग्र मन से की हुई उपासना से इष्टदेव का सिंहासन हिल जाता है और उसे गज के लिए गरुड़ को छोड़कर नंगे पैर भागने वाले भगवान की तरह भागना पड़ता है। अधूरे मन की साधना, अधूरी और स्वल्प होने से न्यून फलदायक होती है, परन्तु एकाग्र वशवर्ती मन तो वह लाभ क्षणभर में प्राप्त कर लेता है जो योगी लोगों को जन्म-जन्मान्तरों की तपस्या से मिलता है। सदन, कसाई, गणिका, गीध, अजामिल आदि असंख्य पापी जो जीवनभर दुष्कर्म करते रहे, क्षणभर के आर्त्तनाद से तर गये।

मेस्मरेजम, हिप्नोटिज्म, परसन मैग्नेटिज्म, मेण्टलथैरपी, आकल्ट साइन्स, मेण्टल हीलिंग, स्प्रिचुअलिज्म आदि के चमत्कारों की पाश्चात्य देशों में धूम है। तन्त्र क्रिया, मन्त्र-शक्ति, प्राण विनियम, सवारी विद्या, छाया-पुरुष, पिशाच सिद्धि, शव साधन, दृष्टि बन्ध अभिचार, धातु चौकी, सर्प कीलन, जादू आदि चमत्कारी शक्तियों से भारतवासी भी चिर परिचित हैं। यह सब खेल-खिलौने एकाग्र मन की प्रचण्ड संकल्प शक्ति के छोटे-छोटे मनोविनोद मात्र हैं।

संकल्प की पूर्ण शक्ति से हमारे पूजनीय पूर्वज परिचित थे, जिन्होंने अपने महान् आध्यात्मिक गुणों के कारण समस्त भूमण्डल में एक चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित किया था और जिन्हें जगद्गुरु कहकर सर्वत्र पूजा जाता था। उसकी संकल्प शक्ति ने भूलोक, स्वर्गलोक, पाताल लोक को पड़ौसी-मुहल्लों की तरह सम्बद्ध कर लिया था। उस शक्ति के थोड़े-थोड़े भौतिक चमत्कारों को लेकर अनेकों व्यक्तियों ने रावण जैसी उछल-कूद मचायी थी, परन्तु अधिकांश योगियों ने मन की एकाग्रता से उत्पन्न होने वाली प्रचण्ड शक्ति को परकल्याण में लगाया था।

अर्जुन को पता था कि मन को वश करने से कैसी अद्भुत सिद्धियाँ मिल सकती हैं। इसलिए उसने गीता में भगवान् कृष्ण से पूछा- "हे अच्युत् ! मन को वश में करने की विधि मुझे बताइये, क्योंकि वह वायु को वश में करने के समान कठिन है। महत्वपूर्ण वस्तुओं की प्राप्ति सम्भवत: कठिन होती है। वश में किया हुआ मन भूलोक का कल्प-वृक्ष है। ऐसे महान् पदार्थ को प्राप्त करना कठिन होना भी चाहिए।"

अर्जुन ने ठीक कहा है कि मन को वश में करना वायु को वश में करने के समान कठिन है। वायु को तो यंत्रों द्वारा किसी डिब्बे में बन्द भी किया जा सकता है, पर मन को वश में करने का तो कोई यन्त्र भी नहीं है।

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को दो उपाय मन को वश में करने के बताये। (१) अभ्यास और (२) वैराग्य। अभ्यास का अर्थ है-वे योग साधनायें जो मन को रोकती हैं। वैराग्य का अर्थ है- व्यावहारिक जीवन को संयमशील और व्यवस्थित बनाना। विषय-विकार, आलस्य-प्रमाद दुर्व्यसन-दुराचार, लोलुपता, समय का दुरुपयोग, कार्यक्रम की अव्यवस्था आदि कारणों से सांसारिक अधोगति होती है और लोभ, क्रोध, तृष्णा आदि से मानसिक अध:पतन होता है।

शारीरिक, मानसिक और सामाजिक बुराइयों से बचते हुए सादा, सरल, आदर्शवादी, शान्तिमय जीवन बिताने की कला वैराग्य कहलाती है। कई आदमी घर छोड़कर भीख टूक माँगते फिरना, विचित्र वेश बनाना, अव्यवस्थित कार्यक्रम से जहाँ-तहाँ मारे-मारे फिरना ही वैराग्य समझते हैं और ऐसा ही ऊटपटांग जीवन बनाकर पीछे परेशान होते हैं। वैराग्य का वास्तविक तात्पर्य है- राग से निवृत्त होना।

बुरी भावनाओं और आदतों से बचने का अभ्यास करने के लिए ऐसे वातावरण में रहना पड़ता हैं, जहाँ उनसे बचने का अवसर हो। तैरने के लिए पानी का होना आवश्यक है। तैरने का प्रयोजन ही यह है कि पानी में डूबने के खतरे से बचने की योग्यता मिल जाय। पानी से दूर रहकर तैरना नहीं आ सकता। इसी प्रकार राग-द्वेष जहाँ उत्पन्न होता है उस क्षेत्र में रहकर उन बुराइयों पर विजय प्राप्त करना ही वैराग्य की सफलता है।

कोई व्यक्ति जंगल में एकान्तवासी रहे तो नहीं कहा जा सकता कि वैराग्य हो गया क्योंकि जंगल में वैराग्य की अपेक्षा ही नहीं होती। जब तक परीक्षा द्वारा यह नहीं जान लिया गया कि हमने राग उत्पन्न करने वाले अवसर होते हुए भी उस पर विजय प्राप्त कर ली तब तक यह नहीं समझना चाहिए कि कोई एकान्तवासी वस्तुत: वैरागी ही है। प्रलोभन को जीतना ही वैराग्य है और यह विजय वहीं हो सकती है, जहाँ वे बुराइयाँ मौजूदा हों। इसलिए गृहस्थ में, सांसारिक जीवन में सुव्यवस्थित रहकर मन पर विजय प्राप्त करने को वैराग्य कहना चाहिए।

मनोमय कोश का विकास परिष्कार

मस्तिष्कीय क्षमता के चमत्कार 'पग-पग सामान्य लीक व्यवहार में दृष्टिगोचर होते हैं। सूझ-बूझ वाले बुद्धिमान मनुष्य हर क्षेत्र में आगे बढ़ते और सफलता पाते हैं। इसके विपरीत मूढ़मति और मंद बुद्धि लोग अनुकूल परिस्थितियाँ रहने पर भी पिछड़ी स्थिति में पड़े रहते हैं। जीवन की गहन समस्याओं को सुलझाने में और आत्मोत्कर्ष का लाभ प्राप्त करने में भी मन:स्थिति की प्रखरता ही लाभ देती है। ज्ञान तंतुओं के माध्यम से यह तत्व समस्त शरीर में फैला हुआ है, मस्तिष्क उसका केन्द्रीय कार्यालय है। यह सुविस्तृत ज्ञान विस्तार अध्यात्म की भाषा में मनोमय कोश कहलाता है। बौद्धिक प्रगति के लिए सामान्यतया प्रशिक्षण के स्कूली तथा दूसरी तरह के उपाय काम में लाये जाते हैं पर मन:चेतना के आध्यात्मिक उपचार साधनात्मक हैं। उनके माध्यम से मन:शक्ति विकसित और परिष्कृत की जाती है।

मनोमय कोश की साधना मस्तिष्कीय क्षेत्र में घुसे मनोविकारों को-दुष्प्रवृत्तियों को निरस्त करने के लिए लड़ा जाने वाला महाभारत हो, साथ ही इसमें धर्म राज्य की- राम राज्य की- स्थापना का लक्ष्य संकल्प भी जुड़ा हुआ हो।

इस सन्दर्भ में वैज्ञानिक-अनुशीलन ध्यान देने योग्य हैं। बहुत समय पहले शारीरिक रोगों का कारण, वात-पित्त, कफ, अपच, मलावरोध, ऋतु प्रभाव, विषाणुओं का आक्रमण आदि माना जाता है। नवीनतम शोधें शरीर पर पूरी तरह मन:सत्ता का अधिकार मानती हैं और बताती हैं कि बाह्य कारणों से उत्पन्न हुए रोग तो शरीर की जीवनी शक्ति स्वयं ही अच्छे कर लेते हैं। अथवा मामूली से उपचार से वे अच्छे हो सकते हैं। जटिल रोग तो आमतौर से मनोविकारों के ही परिणाम होते हैं। उनका निराकरण दवा दारू से नहीं मानसिक परिशोधन से ही सम्भव हो सकता है।

शारीरिक ही नहीं मानसिक रोगों का भी यही प्रधान कारण है। दुष्कर्म अथवा दुर्बुद्धिग्रस्त-व्यक्ति शारीरिक ही नहीं मानसिक रोगों से भी ग्रसित रहते हैं। उन्माद विस्फोट की स्थिति न आये तो भी असंतुलन से ग्रस्त व्यक्ति अर्ध-विक्षिप्त स्थिति में पड़े रहते हैं। अकारण दु:ख पाते और अकारण दु:ख देते हैं। इनकी मन:स्थिति कितनी दयनीय होती है। यह देखने भर से बड़ा कष्ट होता है। शारीरिक व्यथाओं से पीड़ितों की अपेक्षा मनोरोगों से ग्रस्त लोगों की संख्या ही नहीं पीड़ा भी अधिक है। इन व्यथाओं से छुटकारे का उपाय अस्पतालों में नहीं, मानसिक संशोधन की साधनाओं पर ही अवलम्बित है। वे उपाय, उपचार अन्य प्रकार भी हो सकते हैं, पर अध्यात्म विज्ञान के आधार पर उसे मनोमय कोश से, साधना से अधिक सुविधापूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है।

काय-विज्ञान के विद्यार्थी जानते हैं कि मस्तिष्क के साथ जुड़े हुए तन्तु सारे शरीर में फैले हैं। उन्हीं के माध्यम से इस जटिल यन्त्र का संचालन होता है। इन्द्रियों की क्रियाशक्ति, अनुभूतियाँ, सरसताएँ मस्तिष्क में ही जाकर खुलती हैं। इन्द्रिय गोलक तो मात्र सूचनाएँ संग्रह करने और उन्हें मस्तिष्कीय केन्द्रों तक पहुँचाने भर का काम करते हैं। कोई मानसिक कष्ट होने पर सारा शरीर शिथिल हो जाता है और क्रियाशक्ति में स्पष्टत: अस्त-व्यस्तता दीखने लगती है। भय, चिन्ता, शोक, निराशा जैसे प्रसंगों पर किसी भी मनुष्य का चेहरा उदास और सारा शरीर शिथिल देखा जा सकता है। क्रोध, अपमान, द्वेष, प्रतिशोध की स्थिति में किस प्रकार अंग-प्रत्यगों में उत्तेजना दीख जाती है, इसे किसी आवेशग्रस्त पर छाए हुए भावोन्माद को देखकर सहज ही देखा समझा जा सकता है। प्रसन्न और निश्चिन्त रहने वाले स्वस्थ रहते और दीर्घजीवी बनते हैं। इसके विपरीत क्षुब्ध रहने वाले अकारण दुर्बल होते जाते हैं और अकाल मृत्यु से असमय मरते हैं। यह तथ्य स्पष्ट करते हैं कि शरीर संस्थान पर आहार-विहार का, जलवायु का जितना प्रभाव पड़ता है उससे कहीं अधिक भाव-संस्थान का होता है।

शरीर में स्नायुमंडल द्वारा तथा नलिका विहीन ग्रन्थियों द्वारा भावनायें क्रियाशील होती हैं। हमारे सम्पूर्ण शरीर में स्नायुओं का जाल बिछा हुआ है। सामान्यत: स्नायु उज्जवलवर्णी होते हैं और तार की तरह ठोस होते हैं। हमारी सभी पेशियाँ स्नायुओं के ही आधार पर चलती हैं। प्रत्येक पेशी में पहुँचने वाला मुख्य स्नायु सुतली की तरह मोटा होता है। फिर उसकी शाखा-प्रशाखाएँ अधिकाधिक पतली होती चली जाती हैं। कई प्रशाखाएँ तो बारीक सूत जैसी पतली होती हैं।

सम्पूर्ण स्नायुमण्डल के दो भाग हैं-(१) ऐच्छिक (२) अनैच्छिक। चलने-फिरने, झुकने, मुड़ने वस्तुएँ उठाने, रखने आदि की क्रियाओं में हम अपने हाथ-पैर आदि को इच्छानुसार हिलाते हैं। यह ऐच्छिक स्नायुओं के ही कारण हैं। अनैच्छिक स्नायुओं पर हमारा ऐसा अधिकार नहीं होता। वे शरीर की आन्तरिक क्रियाएँ सम्पादित करते हैं। जैसे हृदय की धड़कनें साँसों का आना-जाना आदि।

अनैच्छिक स्नायुमंडल का केन्द्र मस्तिष्क का एक लघु अंश हाइपोथेलामस होता है। यही 'हाइपोथेलामस' नारी व पौरुष ग्रन्थियों को भी नियन्त्रित करता है। साथ ही 'मोनोएमीन आक्सीडेज' नामक किण्वन (एन्जाइम) भी सम्पूर्ण शरीर में विकीर्ण होते हुए भी केन्द्रीय स्नायविक प्रणाली में विशेष रूप से जमा रहता है। 'हाइपोथेलामस' द्वारा पिट्यूटरी ग्रन्थि भी उत्तेजित होती है और उससे विभिन्न हार्मोन्स निकलते हैं जो भावनाओं का परिणाम भी होते हैं और नई भावनाओं का कारण भी। किसी नई परिस्थिति के उपस्थित होने पर नलिकाविहीन ग्रन्थियों पर दबाव पड़ता है और वे विभिन्न हारमोनों को स्रावित करती हैं। इन हारमोनों की शरीर में प्रतिक्रिया होती है और यह प्रतिक्रिया उसी के अनुरूप भावना समूहों को जन्म देती है। जैसे किसी रोग के कीटाणुओं के संक्रमण-दबाव से पिट्यूटरी ग्रन्थि ने कोई हारमोन छोड़ा, इससे शरीर में तेज हलचल मच गई, व्यक्ति को अव्यवस्था महसूस होने लगी और वह खाट पर पड़ गया। अब बीमारी की दशा में तरह-तरह की भावनाएँ जो

अचेतन पन में दबी थीं, उभरने लगीं। उनके परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की शारीरिक प्रतिक्रियाएँ भी पैदा होने लगती हैं।

मनोमय कोश का निवास मस्तिष्क में बताये जाने का अर्थ केवल इतना ही है कि उसका केन्द्रीय कार्यालय वहीं है। उसके सूक्ष्म अवयव उसकी शाखा-प्रशाखाएँ तो सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त विस्तृत हैं। मस्तिष्क के जीवाणु अन्य जीवाणुओं से अधिक समझदार और अधिक अनुभवी होते हैं, इसीलिए वे शेष जीवाणुओं के अगुआ नेता कहे जाते हैं। वे जिस दिशा में चलते हैं, शेष जीवाणुओं भी उसी दिशा धारा में बहने लगते हैं। सम्पूर्ण सूक्ष्म शरीर को स्वस्थ, प्रसन्न, उल्लसित, प्रगतिशील बनाये रखने के लिए मस्तिष्कीय-स्थिति वैसी होनी जरूरी है। नेता ही निराश-हताश, कुण्ठिन त्रस्त हुआ, तो प्रगति की क्या आशा की जा सकती है। नेता का संवेग समस्त अनुयायियों को प्रभावित करता है।

वियन के मनोचिकित्सक डा० फैंकल का मत है कि मानसिक धरातल ही शारीरिक स्वास्थ्य का आधार है। मानसिक असन्तुलन का कारण जीवन की सार्थकता को समझना है। इसीलिए उन्होंने 'लौगोथेरेपी' या 'अर्थ-बोधचिकित्सा' नाम की चिकित्सा पद्धति विकसित की है। डा० फैंकल की मान्यता है कि जिस व्यक्ति को अपने जीवन और कार्य की सार्थकता का बोध नहीं हो, वह स्वस्थ नहीं रह सकता। मनुष्य जीवन के लक्ष्य और उनकी सिद्धि ही आनन्द का आधार है। डा० फैंकल की चिकित्सा पद्धति में रोगी से प्रिय-अप्रिय सभी विषयों पर चर्चा कर, उसे जीवन की सार्थकता की तलाश की प्रेरणा दी जाती है। व्यक्ति को जैसे ही जीवन में सार्थकता की अनुभूति हो उठती है, वह अपने भीतर निहित शक्तियों का स्मरण कर आत्मविश्वास से भर उठता है और धीरे-धीरे स्वस्थ होने लगता है। मन:क्षेत्र की स्वस्थता उसके स्थूल शरीर को भी स्वस्थ बना देती है।

सूक्ष्म शरीर की हलचलों का स्थूल शरीर पर स्पष्ट एवं निश्चित परिणाम होता है। तन्त्रकीय रोगों का कारण दबे हुए गन्दे विचार ही होते। शरीर-शास्त्रियों का भी यही मत है कि मात्र मानसिक चित्रों के आधार पर ही अनेक शारीरिक बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। 'इन्फ्लुएन्स' आफ द माइन्ड अपान द वाडी" नामक पुस्तक के लेखक डा० टुके ने लिखा है- "विक्षिप्तता मूढ़ता, अंगों का निकम्मा हो जाना पित्त, पाण्डुरोग, केश-पतन, रक्ताल्पता, घबराहट, मूत्राशय के रोग, गर्भाशय में पड़े बच्चे का अंग-भंग हो जाना, चर्मरोग, फुन्सियाँ, फोड़े, एग्जिमा आदि अनेक स्वास्थ्यनाशक रोग मात्र मानसिक क्षोभ तथा भावनात्मक उद्वेलन के परिणाम होते हैं।" मानसिक क्षोभ, भावनात्मक उद्वेलन, निषेधात्मक चिन्तन, सूक्ष्म शरीर की विकृतियाँ हैं, जिनका स्थूल शरीर पर स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार परिष्कृत दृष्टिकोण स्वस्थ-उदात्त चिन्तन, आदर्शवादी विचारधारा सूक्ष्म-शरीर को तेजस्वी प्रखर बनाती है और उसका श्रेष्ठ प्रभाव स्थूल शरीर पर भी स्पष्ट देख जा सकता है।

विधेयात्मक विचारों को, ऊर्ध्वमुखी चिन्तन की आश्चर्यजनक महत्ता के प्रतिपादन में डा० बैनेट ने स्वयं को ही प्रस्तुत किया है। ५० वर्ष की आयु तक डा० बैनेट निराशा और अवांछनीय चिन्तन के कारण अपना स्वास्थ्य पूरी तरह गँवा बैठे। उन्हें जब ऊर्ध्वगामी चिन्तन की इस असीम उपादेयता का पता चला तो उन्होंने अपना जीवन क्रम ही बदल डाला। मन की जड़ता और विषय-विकारों का जुआ उनने उतार फेंका, हृदय को श्रद्धा आस्था से भरा, सदैव प्रसन्न प्रफुल्ल रहने की आदत बना ली। २० वर्षों के अपने इस जीवन को स्वर्गीय सुख से ओत-प्रोत बनते हुए डा० बैनेट ने अपनी ५०वर्षीय फोटो तथा ७० वर्षीय फोटो भी इसी पुस्तक में छापी है। पहली में उनका चेहरा झुर्रियों से पिचके गाल, धँसी आँखों के कारण मनहूस दिखाई देता है जबकि ७० वर्ष की आयु में वे स्वस्थ सशक्त दिखाई देते हैं, झुर्रियाँ न जाने कहाँ चली गयीं, चेहरे में उद्दीप्ति है और युवकों जैसी सक्रियता।

अब तब किये गये ऐसे ही विविध आधुनिक प्रयोगों से यह स्पष्ट हो गया है कि मन का, मस्तिष्क का कष्ट प्रत्येक जीवाणु को कष्ट में डाल देता है। घृणा, ईर्ष्या, क्रोध का अनिष्ट प्रभाव समस्त जीवाणुओं में तुरन्त दौड़ जाता है, झलक उठता है। मस्तिष्क में प्रसन्नता का भाव आते ही प्रत्येक जीवाणु प्रसन्न पुलकित हो उठता है। ये सभी जीवाणु परस्पर गहन आत्मीयता और अभिन्नता का भाव रखते हैं। प्रत्येक जीवाणु की दशा से सभी प्रभावित होते हैं- इनका सुख-दु:ख मिला-जुला ही होता है। इनका पारस्परिक सौहार्द-सद्भाव अनूठा है। सच्ची मैत्री, प्रगाढ़ आत्मीयता सहानुभूति के ये अनूठे उदाहरण हैं। कल्पना करें कि एक व्यक्ति को तेज भूख लगी है। सुस्वादु भोजन का थाल सामने है। उसी समय किसी प्रियजन की मृत्यु का तार मिलता है। उसे पढ़ते ही मस्तिष्क में उस प्रियजन की संचित स्मृति सहसा जाग्रत हो उठती है। मन

आत्मीय सम्वेदना उमड़ पड़ती है। मस्तिष्क के जीवाणुओं में हलचल उथल-पुथल मच जाती है। मस्तिष्क के जीवाणुओं की इस प्रतिक्रिया का तत्काल सम्पूर्ण शरीर के जीवाणुओं पर प्रभाव पड़ता है। जीभ सूखने लगती है। भूख बढ़ाने वाले जीवाणुओं जो उछल-कूद मचा रहे थे, चीख-चीख कर भोजन की माँग कर रहे थे, सहम कर शान्त, निष्क्रिय, दुबके से बैठ जाते हैं। हृदय और दूसरे अंग भी निष्प्राण से हो चलते हैं। दिल-डूबने लगता है, आँखों के सामने अंधेरा छा जाता है, शरीर निढाल हो जाता है। समस्त अंगों पर यह प्रभाव पड़ता है। स्पष्ट है कि मस्तिष्कीय जीवाणुओं की भावदशा का तत्काल प्रभाव सम्पूर्ण शरीरस्थ जीवाणु-समूहों पर पड़ता है।

'ओल्ड एज इट्ज काज एन्ड प्रिवेन्शन' नामक पुस्तक में उसके रचियता सुप्रसिद्ध अमरीकी वैज्ञानिक तथा लेखक डा० बैनेट ने एक बहुत ही मनोरंजक किन्तु शिक्षाप्रद घटना दी है। एक १९ वर्षीय फ्रान्सीसी युवती ने एक अमेरिकन नव-युवक से विवाह का निश्चय किया। युवक निर्धन था सो तय यह हुआ कि पहले वह अमेरिका जाकर धन कमायेगा और लौटकर शादी करेगा। युवक ने ३ वर्ष में पर्याप्त धन कमा लिया, पर दुर्भाग्य से कोई मुकदद्मा लग जाने के कारण वह १५ वर्ष तक फ्रान्स नहीं लौट सका। १५ वर्ष बाद जब वह वापस लौटा तो यह देखकर आश्चर्य चकित रह गया कि उसकी मंगेतर का स्वास्थ्य, सौन्दर्य बिलकुल वैसा ही है जैसा वह १९ वर्ष पूर्व था। ३४ वर्ष की अधेड़ हो जाने पर भी उसमें १९ वर्षीय नव-युवती के गुण विद्यमान थे।

घटना का विवेचन करते हुए बैनेट महोदय लिखते हैं- प्रकृति ने मनुष्य शरीर की संचालन प्रक्रिया इस प्रकार रखी है कि शरीर का प्रत्येक कोश (सैल) ८० दिन पीछे पुराना होकर मैल के रूप में उसी प्रकार बाहर निकल जाता है, जिस प्रकार समुद्री लहरों में निरन्तर ज्वारभाटे से समुद्र की गन्दगी तटों पर जमा होती रहती है। कोश-परिवर्तन की यह प्रक्रिया आयु बढ़ने के साथ क्षीण होती रहती है, उसी का नाम वृद्धावस्था है- किन्तु इस घटना ने इस प्राकृतिक व्यवस्था को उलट दिया, ऐसा क्यों?

इसका उत्तर युवती के मुँह से दिलवाते हुए श्री बैनेट लिखते हैं कि-"मैं प्रतिदिन प्रातःकाल एक आदमकद शीशे के सम्मुख खड़ी होकर अपना चेहरा देखती और मन ही मन अनुभव करती कि मैं ठीक वैसी ही हूँ जैसी कल थी। दिन के परिवर्तन ने मेरे शरीर में कोई प्रभाव नहीं डाला। इच्छा शक्ति की यह दृढ़ता मुझे दिन भर पुलकित और प्रसन्न बनाये रखती। उसी का फल है जो मैं जैसे १५ वर्ष पूर्व थी वैसी ही आज भी हूँ।" सूक्ष्म शरीर के शोधन की -विचारों को ऊँचा उठाने की -संकल्प महत्ता उन्होंने अमरीका के अध्यात्म परायण व्यक्ति डा०मारडन की पुस्तक "लौहे इच्छा शक्ति" (एन आइरन बिल) से समझलें। जिसमें बताया गया है- मनुष्य अपने विचार नये कर लें, चरित्र को ऊँचा उठा ले तो अपना शरीर ही बदल सकता है।" यह स्वाध्याय उनके लिये तो औषधि बना ही, सैकड़ों को नया जीवन देने वाला है। प्रेम, मैत्री, दवा, करुणा और परोपकारी विचारों को धारण कर कोई भी इसका प्रत्यक्ष लाभ ले सकता है।

खोपड़ी के ऊपर या नीचे की रक्तवाहिनियों की पेशियाँ भावनाओं के अनुसार फैलती-सिकुड़ती व तीव्र सम्वेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ करती हैं।

अस्वस्थ भावनाएँ विभिन्न शारीरिक रोगों का कारण बनती हैं। सामान्य सिर दर्द से लेकर " माइग्रेन" नामक कठिन सिर दर्द भावनात्मक तनाव से होता है। इस तनाव से खोपड़ी की रक्तवाहिनाँ सिकुड़ती हैं और इससे सिर दर्द शुरू हो जाता है। आज तो यह पाया जाता है कि सिर दर्द की सौ घटनाओं में से पिचासी का कारण भावनात्मक तनाव होता है।

भावना-क्षोभ के कारण पेशियों में उत्पन्न तनाव के कारण कई बार लोग भोजन के बाद ऐसा अनुभव करते हैं कि कलेजे पर बोझ आ पड़ा और भोजन नीचे सरक नहीं रहा है। अधिक तनाव होने पर उबकाई आने लगती हैं, जी मिचलाने लगता है।

भावनात्मक तनाव से उत्पन्न स्नायु-रोगों में डकारें आना, पेट में ऐंठन होना, विभिन्न वायु-विकार अनेक त्वचा-विकार, एग्जिमा, खुजली आदि होते हैं।

कमर दर्द के बारे में अब ऐसा ज्ञात है कि अधिकांश मामलों में इसका कारण भावनात्मक तनाव ही होता है।

यह जान लेने पर कि भावनात्मक तनावों एवं विकृतियों से ही अधिकांश रोग पैदा होते हैं, यह प्रश्न अनेकों को कचोटता है कि भावनाओं पर नियन्त्रण कैसे हो ? इसका एक ही सरल मार्ग है-समझदारी भरे दृष्टिकोण का नित्य-प्रति के जीवन में अभ्यास। बिना अभ्यास के यह दृष्टिकोण व्यावहारिक जीवन में नहीं

उतरता। जिन्दगी को बोझ न मानते हुए, खेल भावना से जीना, अभ्यास द्वारा ही सम्भव है। अपनी सीमाओं को पहचानना, शक्ति के सर्वोत्तम उपयोग की व्यवस्था करना- 'मैं-मैं की चीख-पुकार से मुक्त अपने दायित्वों को समझना और निभाना, तथा सृजनात्मक वृत्तियों का जीवन में निरन्तर विकास करना ही एकमेव राजमार्ग है।

सामान्यत: कठोरता, क्रोध, बात-बात में लड़ बैठने आदि को हम भ्रान्तिवश शक्ति का पर्याप्त मान बैठते हैं, जबकि मनोवैज्ञानिक इन सबको 'बचकानी हरकतें' मानते हैं। ये दुर्बलता के प्रतीक हैं। शक्तिशाली व्यक्ति विनम्र एवं दृढ़ होता है। क्रोध और झगड़ालूपन तो शक्ति-हीनता की उपज है। सादगी-संयम का अभ्यास ही शक्ति का स्रोत है। किन्तु अपनी दुर्बलताओं पर व्यर्थ की खीझ भी लाभकर न होगी। धीरे-धीरे ही कुसंस्कार चित्त तल पर जमते हैं और धीरे-धीरे ही उनका उन्मूलन सम्भव है। सतत् अभ्यास ही सर्वोत्तम उपचार है। इस बात को सदा ध्यान में रखा जाय कि मन की कुटिलता और अनैतिक कर्म ही रोग का आधार है तथा मन की शुचिता, स्नेह, करुणा और व्यापक मानवीय प्रेम द्वारा इन रोगों को मिटा सकना सरलता से सम्भव है।

मस्तिष्क की धुलाई-सफाई वैज्ञानिक उपकरणों से भी सम्भव हो सकती है। फिर अध्यात्म साधना के उपचार तो उससे अधिक ही सशक्त समर्थ होते हैं। उनका प्रभाव तो और भी अधिक होना चाहिए।

इलेक्ट्रिकल स्टीम्यूलेशन आफब्रेन (ई० एस० वी०) पद्धति के अनुसार कई एशियन विश्वविद्यालयों ने आंशिक रूप से मस्तिष्क की धुलाई (ब्रेन वासिंग) में सफलता प्राप्त कर ली है। यह अभी बन्दर, कुत्ते, बिल्ली, खरगोश, चूहे जैसे छोटे स्तर के जीवों पर ही प्रयोग किये गये हैं। आहार की रुचि, शत्रुता, मित्रता, भय, आक्रमण आदि के सामान्य स्वभाव को जिस प्रकार चरितार्थ किया जाना चाहिये उसे वे बिलकुल भूल जाते हैं और विचित्र प्रकार का आचरण करते हैं। बिल्ली के सामने एक चूहा छोड़ा गया तो वह आक्रमण करना तो दूर उससे डरकर एक कोने में जा छिपी। क्षणभर में एक-दूसरे पर खूनी आक्रमण करना, एक आध मिनट बाद परस्पर लिपट कर प्यार करना यह परिवर्तन उस विद्युत क्रिया से होता है जो उनके मस्तिष्कीय कोशों के साथ सम्बद्ध रहती है। यही बात मनुष्यों पर भी लागू हो सकती है। मानव मस्तिष्क अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत होता है उसमें प्रतिरोधक शक्ति भी अधिक होती है इसलिये उसमें हेर-फेर करने के लिये प्रयास भी कुछ अधिक करने पड़ेंगे और पूर्ण सफलता प्राप्त करने में देरी भी लगेगी, पर जो सिद्धान्त स्पष्ट हो गये हैं, उनके आधार पर यह निश्चित हो गया है कि मनुष्य को भी जैसा चाहे सोचने, मान्यता बनाने और गतिविधियाँ अपनाने के लिए विवश किया जा सकता है।

मनोमय कोश की साधना मस्तिष्कीय क्षेत्र की धुलाई-सफाई ही नहीं करती, वरन् उसे समुन्नत सुसज्जित एवं सुसंस्कृत बनाने का काम भी बहुत हद तक पूरा कर सकती है।

मनोमय कोश शरीर और मस्तिष्क के समूचे को अपने अंचल में समेटे हुए हैं। वह इन दोनों क्षेत्रों को प्रभावित करता है। अन्त:करण के अस्त-व्यस्त और विकृत स्थिति में बने रहने पर उसकी प्रतिक्रिया शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर विनाशकारी प्रभाव डालती है। व्यक्तित्व लड़खड़ा जाने पर दृष्टिकोण और व्यवहार दोनों ही गड़बड़ाते हैं। फलत: गतिविधियाँ अवांछनीयता से भर जाती हैं। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में विपत्तियाँ ही उत्पन्न होंगी। अवरोध ही खड़े होंगे। कलह और संकट आक्रमण करेंगे। समूचा जीवन ही नरक बन जायगा। इस नारकीय यन्त्रणा से छुटकारा कोई और नहीं दिला सकता। क्योंकि इस विपत्ति का दोष भले ही किसी पर थोपा जा सके, उसका कारण अपना आपा ही होता है। मन:स्थिति के रूप परिस्थिति बनने का तथ्य इतना स्पष्ट है कि उसे झुठलाये जाने की कहीं कोई गुँजायश नहीं है। अपने आप में परिवर्तन किये बिना हम इस नरक से अन्य किसी तरह उबर नहीं सकते। जीवन-क्रम में उत्पन्न विविध-विधि अवरोधों से छुटकारा पाये बिना हमारा उद्धार हो नहीं सकता। समस्याओं और विपन्नताओं से त्राण मिल नहीं सकता।

प्रवीणता, पारंगतता, सफलता जैसी अनेकों उत्साहवर्धक विभूतिय इस मनोमय कोश की साधना के ही वरदान हैं। कभी-कभी किन्हीं विशेष व्यक्तियों में विलक्षण मानसिक विशेषतायें पाई जाती हैं। किन्हीं की स्मरण शक्ति इतनी विकसित होती है कि सामान्य लोगों की उनसे तुलना करने पर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। किन्हीं में कला कौशल की पारंगतता आरंभिक जीवन में ही पाई जाती है जिनके कारण वे एक आश्चर्य की तरह

दर्शनीय और ख्याति प्राप्त बन जाते हैं। इन अद्‌भुत घटनाओं का मूल रहस्य इतना ही होता है कि उनका मनोमय कोश किन्हीं अंशों तक जाग्रत हो उठता है। पूर्व जन्मों की उपलब्धियाँ ही ऐसे कारणों में प्रधान भूमिका निभा रही होती हैं। मनुष्य पिछले जन्म के असंख्य संस्कार अपने साथ लेकर आता है। उन्हीं में मनोमय कोश का विकास होना भी एक हो सकता है।

साधना की सिद्धि का सिद्धान्त हर क्षेत्र में काम करता है। श्रम का पुरस्कार मिलने की बात सर्वविदित है। पुरुषार्थ का प्रतिफल प्राप्त होने के सिद्धान्त को सुनिश्चित तथ्य मान कर ही संसार के विविध क्रिया-कलाप चल रहे हैं। अध्यात्म साधना के सम्बन्ध में भी यही बात है। यदि वह तथ्यों पर आधारित हो और विधिवत सम्पन्न की जाय तो उसके लाभ मिलना भी सुनिश्चित है।

मनोमय कोश को जाग्रत परिष्कृत करने के प्रयत्नों में ध्यान एकाग्रता को प्रमुखता दी गई है। जिससे संकल्प-बल प्रचण्ड हो, लक्ष्य विशेष पर उसका नियोजन हो सके। इस आधार पर मस्तिष्क संस्थान को विकसित करने, व्यक्तित्व में चमत्कारी प्रतिभाओं को जगाने जैसे अनेकों लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं।

मनोमय कोश की साधना से सर्वार्थ सिद्धि

मनोमय कोश मस्तिष्क के मन और बुद्धि संस्थानों से सम्बन्धित हैं। उसकी साधना हमारी बुद्धि, कल्पना, स्मरण शक्ति आदि क्षेत्रों को सुविकसित करती है। कालिदास, बरदराज जैसे मन्द मति प्रयत्न पुरुषार्थ से विद्वान-बुद्धिमान बने थे। यह अनगढ़ को सुगढ़ बनाने की प्रक्रिया है। इसे प्रशिक्षण द्वारा विकसित करने का उपाय सर्वविदित है। अध्यात्म प्रयत्नों द्वारा इस प्रयोजन को किस प्रकार पूरा किया जाय, उसी के प्रयोग से मनोमय कोश की साधना सहायता करती है।

इस साधना का दूसरा क्षेत्र है। साहसिकता का-संकल्प-शक्ति का अभिवर्धन। चिन्तन में उत्कृष्टता और क्रिया-कलाप में आदर्शवादिता का समावेश करने वाली वे सद्विचारणाएं भी इसी क्षेत्र में विकसित होती हैं जो चरित्रनिष्ठा विकसित करने के लिए उत्तरदायी हैं।

शिक्षा के आधार पर ज्ञान सम्पदा तीक्ष्णता एवं क्रिया कुशलता बढ़ाने के प्रयत्न होते हैं। इसके साथ संकल्प शक्ति का महत्व भी समझा जाना चाहिए, वे उपाय भी अपनाये जाने चाहिए जिनके आधार पर व्यक्ति संकल्पवान बनता है और प्रगति के पथ पर अग्रसर होने में सफल होता है। मनोमय कोश को जाग्रत करने के उपाय जो भी हों, पर संकल्प शक्ति का उदय उसी क्षेत्र से होता है।

प्रगति पथ पर अग्रसर होने के लिए-अभावों और असुविधाओं से लड़ने के लिए-प्रतिकूलताओं को अनुकूलता में बदलने के लिए- न केवल साधन सामग्री की अभिवृद्धि आवश्यक है वरन् यह और भी अधिक अभीष्ट है कि मानवी संकल्प-शक्ति को बढ़ाया जाय। मात्र साधनों की बहुलता से तो मनुष्य विलासी और आलसी भी बनता चला जायेगा। इससे उसको अकर्मण्यता अशक्तता और अदक्षता ही बढ़ेगी। प्रगति के इतिहास में साधनों एवं परिस्थितियों का उतना योगदान नहीं है जितना कि विचारणा और आकांक्षा का। संकल्प इन्हीं के समन्वय को कहते हैं। संकल्प की प्रखरता ही प्रगति का पथ-प्रशस्त करती हैं। जहाँ इसकी कमी होगी वहाँ प्रगति का रथचक्र उतना ही अवरुद्ध एवं दलदल में फँसा दिखाई पड़ेगा।

जीवन का मूल स्वरूप उसकी चिन्तन स्फुरणा के साथ जुड़ा हुआ है। विचारणा और आकांक्षा के समन्वय से जो 'संकल्प' उठता है, उसी में प्रगति की समस्त सम्भावनाएँ सन्निहित हैं। विकासवादी प्रगति पर दृष्टिपात करने पर हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है। वे एक जैसी परिस्थितियों में रहने पर भी एक की प्रगति दूसरे की यथास्थिति और तीसरे की अवगति का अन्तर देखकर इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि यह संकल्प-शक्ति की न्यूनाधिकता का ही प्रभाव है। साधनों के अभाव में भी लोग आगे बढ़ते हैं। सहयोग के बिना भी प्रगति करते हैं। इसके पीछे उनकी प्रखर संकल्प-शक्ति ही काम करती है। आगे बढ़ने वालों के पीछे साधन भी बनता है और सहयोग भी जुटता है। मोटर दौड़ती है तो उसके पीछे धूलिकण और पत्ते भी उड़ते चले आते हैं। संकल्प ही मानव जीवन की सर्वोपरि शक्ति है। उसके सहारे सामान्य स्थिति से आगे बढ़कर असामान्य स्तर तक पहुँचा जा सकता है। अन्धकार में प्रकाश उत्पन्न करने की निराशा में आशाजनक सम्भावनाएँ प्रस्तुत करने की क्षमता उसी में हैं। ऊँचे उठने और आगे बढ़ने के लिए साधन जुटाने और सहयोग बनाने की आवश्यकता सभी मानते हैं, पर यह भुला दिया जाना चाहिए कि यह

उपलब्धियाँ प्रचण्ड संकल्प-शक्ति उभारे बिना मिल नहीं सकतीं। किसी प्रकार संयोगवश मिल भी जायँ तो स्थिर नहीं रह सकतीं। प्रगति का मूल-मन्त्र 'संकल्प' को मानकर चला जाय और सर्वप्रथम उसी के उपार्जन, अभिवर्धन का प्रयत्न किया जाय तो यह निश्चित रूप से व्यावहारिक एवं बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयास माना जायेगा।

मन:संस्थान ज्ञान, अनुभव एवं कौशल का ही नहीं प्रतिभा का भी क्षेत्र है। उत्कृष्टता के प्रति आस्था के बीज भी भूमि में जमते हैं। संकल्प शक्ति का उद्‌गम केन्द्र यही है। मनोमय कोश की साधना द्वारा यदि इन विभूतियों को जाग्रत एवं उपलब्ध किया जा सके तो उस दिशा में किया गया प्रयत्न सामान्य कार्यों की दौड़-धूप से कम नहीं अधिक ही लाभदायक और बुद्धिमत्तापूर्ण सिद्ध होगा।

मन:संस्थान को सुविकसित करने के लिए स्वाध्याय, सत्संग एवं मनन-चिन्तन की आवश्यकता। पड़ती है। इसके अतिरिक्त एक और कारगर उपाय है- मनोमय कोश की योग साधना। काम-काजी मस्तिष्क समेत मन-क्षेत्रीय की स्तरीय परतें मनोमय कोश की परिधि में आती हैं। जिस प्रकार वन्य पशुओं को सधाकर पालतू बनाया जाता है। उनसे अनेक प्रकार के लाभ लिये जाते हैं, उसी प्रकार मन के महादैत्य को यदि साधना द्वारा सधा लिया जाय तो ऐसे लाभ मिल सकते हैं जिन्हें देवोपम उपलब्धियाँ प्राप्त करना, कहने में अत्युक्ति नहीं मानी जा सकती। मानसिक साधना ऐसे ही चमत्कार उत्पन्न करती है।

व्यक्तित्व और मन:संस्थान की स्थिति को परस्पर अति घनिष्ठ माना गया है। मन: स्तर ही व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व को समुन्नत बनानें के लिए मन:संस्थान की स्थिति ऊँची उठाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। यह कार्य मात्र जानकारियाँ बढ़ाने या समझाने-बुझाने भर से पूरा नहीं हो जाता। इसके लिए ऐसे मनोवैज्ञानिक प्रयोग करने पड़ते हैं जो लोहे को गरम करके उसे घन की चोटों से उपयुक्त औजार बनाने जैसा कार्य कर सकें। इस प्रकार के प्रयोगों को मनोमय कोश की साधना कहा जा सकता है।

मस्तिष्क की ऊपरी परत जो व्यावहारिक जीवन में काम आती है, समग्र मन:संस्थान का मात्र पाँचवाँ योग है। मानसिक शास्त्रियों ने उसकी संरचना का स्वरूप तो जाना है, पर उसके भीतर काम करने वाली विलक्षण क्षमताओं को देखकर आश्चर्यचकित रह गये हैं। इन रहस्यमयी गतिविधियों की मात्र ७ प्रतिशत जानकारी अभी तक मिल सकी है। शेष का आभास मिलता है और सोचा जाता है कि यदि इस अद्‌भुत संयंत्र की क्षमताओं का स्वरूप और उपयोग जाना जा सकता तो फिर मनुष्य की सामर्थ्य का वारापार न रहता।

सामान्य मान्यता यह है कि मन और बुद्धि का सम्मिश्रण ही मस्तिष्क है। ऐसा इसीलिए समझा जाता है कि दैनिक जीवन के क्रिया-कलापों में उन्हीं का उपयोग होता है। जो इस क्षेत्र की गहराई में घुसे हैं उनने देखा है कि ऊपरी परत तो क्रिया कुशलता और सूझ-बूझ के प्रतिफल प्रस्तुत कर पाती है। व्यक्तित्व का निर्माण अचेतन मन की गहरी परतें ही सम्पन्न करती हैं। मनोविकार बुद्धि क्षेत्र में नहीं, वरन् स्वभाव के अन्तर्गत आदतें बनकर घुस बैठते हैं। मनुष्य उनकी बुराइयाँ समझता है और छोड़ना भी चाहता है किन्तु संचित अभ्यासों का दबाव इतना अधिक होता है कि अपने ही निर्णय के विरुद्ध रास्ते पर चलने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इन आदतों के पीछे अचेतन मन ही काम करता है।

शरीर की अनवरत गतिविधियों में जाग्रत मस्तिष्क का नगण्य जितना अधिकार होता है। संचालन अचेतन की अभ्यस्त प्रवृत्तियाँ ही करती हैं। माँस-पेशियों का आकुंचन-प्रकुंचन पलकों का निमेष-उन्मेष फेंफड़ों का श्वास-प्रश्वास, आहार का ग्रहण और मल का विसर्जन, निद्रा, जागृति असंख्य शारीरिक क्रिया-प्रक्रियाएँ अचेतन मन के नियन्त्रण में ही चलती हैं। हारमोन ग्रन्थियों से लेकर-प्राणों के अवधारण तक पर अचेतन का ही प्रभाव है। मनोविकारों के कारण शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य चौपट हो जाना और सद्‌भावनाओं के आधार पर व्यक्तित्व के सभी पक्षों का समुन्नत होते चलना इसी संस्थान की संरचना के कारण सम्भव होता रहता है। उत्थान और पतन के बीज इसी क्षेत्र में उगते हैं। व्यक्तित्व की सुविस्तृत जड़ें इसी भूमि में घुसी होती हैं।

अचेतन को चित्त कहते हैं। वस्तुत: मस्तिष्क का प्रेरक केन्द्र यही है। यह गई-गुजरी स्थिति में पड़ा रहे तो सचेतन की बुद्धिमत्ता का उपयोग धूर्तता, दुष्टता जैसे निकृष्ट प्रयोजनों के अतिरिक्त किसी रचनात्मक कार्य में सम्भव न हो सकेगा और बुद्धिमान कहलाने वाला मनुष्य भी उज्ज्वल भविष्य का सृजन न कर सकेगा।

मन और बुद्धि को विकसित करने के लिए स्कूली साहित्य सम्पर्क जन्य, अनुभव सम्पादन करने जैसे अनेकों विधि-व्यवस्थाएँ प्रचलित हैं। किन्तु चित्त की चिकित्सा करने में उन्हीं उपचारों को काम में लाया जाता है जिन्हें मनोमय कोश की साधना कहते हैं। यों परामनोविज्ञान एवं मनोविज्ञान के अन्तर्गत भी अचेतन की क्षमता को समझने और उसमें अभीष्ट परिवर्तन करने के उपाय खोजे तथा सोचे जा रहे हैं किन्तु तत्वदर्शियों की अनुभूत पद्धति मन:साधना के अतिरिक्त और कोई कारगर मार्ग अभी तक करतलगत हुआ नहीं है।

मानसशास्त्री सर ऐलेक्जेण्डर केनन का कथन है- मनुष्य इस विश्व की सबसे विलक्षण सत्ता है। उसका सार तत्व मस्तिष्क है। मस्तिष्क का नवनीत अचेतन संस्थान है। दुर्भाग्य से इसी केन्द्र की न्यूनतम जानकारी हमें उपलब्ध है। यह नहीं जाना जा सका कि इस संस्थान को प्रभावित, परिवर्तित और परिष्कृत करने के लिए क्या किया जा सकता है ? शरीर चिकित्सा में काम आने वाले उपचारों की पहुँच वहाँ नहीं है। लगता है स्वसंवेदन स्वसम्मोहन और स्वनिर्देशन जैसे उन्हीं उपायों को काम में लाना पड़ेगा जिन्हें पुरातन योगीजन अपने ढंग से काम में लाते रहे हैं। जो हो संसार की सुख-शान्ति और मानवी प्रगति के मर्म केन्द्र तक हमें पहुँचना ही होगा। किसी उपाय से अचेतन को नियन्त्रित करने की विधि-व्यवस्था हस्तगत करनी हीं होगी। इसके बिना समुन्नत व्यक्ति और समृद्ध विश्व की सम्भावना बन नहीं सकेगी।

इस तथ्य को दूरदर्शी आत्म-विज्ञानियों ने चिरकाल पूर्व ही जान लिया था। उनने मानवी व्यक्तित्व का आधार केन्द्र मन को ही कहा है। जीवन की भली-बुरी स्थिति का उत्तरदायी उसी को माना है और इस बात पर बहुत बल दिया है कि समृद्धि के अन्यान्य आधारों पर जितना ध्यान दिया जाता है उससे कम नहीं, वरन् अधिक ही मानसिक परिष्कार पर दिया जाय। इस क्षेत्र की प्रगति के बिना भौतिक एवं आत्मिक प्रगति की आशा पूरी हो नहीं सकेगी। इन तत्वदर्शियों का अभिगत इस सन्दर्भ में इस प्रकार है-

चित्तमेव हि संसारो रागदिक्लेशदू षतम् ।
तदेव वर्तिनिमुक्तं भवान्त इति कथ्यते ।।

-महोपनिषद् ४।६६

यह चित्त ही संसार है। चित्त रागादि दोषों से भर जाने पर क्लेश होते हैं। इन दूषणों से छुटकारे को ही मुक्ति कहते हैं।

पापासक्तं हि बन्धाय पुण्यासक्तं हि मुक्तये ।
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो: ।।

-स्कन्द पुराण

पाप में आसक्त मन बन्धक का और पुण्य में संलग्न मन मोक्ष का कारण है। वस्तुत: मन ही मनुष्य को बन्धन में डालता और मुक्त करता है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयो, बन्धाय विषाय सक्तं मुक्त्यै निर्विषायं स्मृतम् ।

-योगवशिष्ठ

यह मन ही मनुष्यों को बन्धन में बाँधता है। इसके द्वारा मुक्ति भी मिलती है। विषयासक्त मन बन्धन का कारण है और उसकी निर्मलता से मुक्ति मिलती है।

दृढ़भावनया चेतो यद्यथा भावयत्यलम् ।
तत्तफलं तदाकारं तावत्मालं प्रपश्यति ।।

योगवशिष्ठ ४।२१।५६-५७

हे राजन् ! यह मन दृढ़ भावना वाला होकर जैसी कल्पना करता है उसको उसी आकार में उतने समय तक और उसी प्रकार का फल देने वाला अनुभव होता है।

गंगाद्वारश्च केदारं सन्नि हत्मां तथैब च ।
एवानि सर्वतीर्थानि कृत्वा पापै: प्रमुच्यते ।।

-व्यास स्मृति

जिसने अपने मन को जीत लिया उसके लिये गंगा द्वार, केदारनाथ आदि सभी तीर्थों का लाभ अपने पास ही मिल जाता है।

मनो निर्मलसत्वात्म यभ्दावयतियादृशम् ।
तत्तथाशु भवत्येव यथाऽवर्तो भवेत्यम: ।।

-योग वशिष्ठ ४।१७।४

मन यदि शुद्ध है तो जैसे जल भँवर का रूप धारण कर लेता है, वह जिस वस्तु की जैसी भावना करता है वह अविलम्ब वैसी ही हो जाती है और दूसरे की मन की बात अपने मन में उतर आती है।

मन क्षेत्र पर चढ़े संचित कुसंस्कारों को हटाना और उनके स्थान पर सत्प्रवृत्तियों की स्थापना कर सकना, मानव जीवन का सबसे प्रबल पुरुषार्थ है। इसके समान श्रेयस्कर सफलता और कोई हो नहीं सकती। इस महान् उपलब्धि को प्राप्त करने में मनोमय कोश की साधना से बढ़कर और कोई उपाय हो नहीं सकता। इसकी चर्चा शास्त्रकारों ने इस प्रकार की है-

इत्येवमादिभिर्यत्नै: संशुद्धं योगिनोमन: ।
शंक्त स्यादति सूक्ष्माणां महता मपि भावने ।।

-सर्व दर्शन सिद्धान्त

यत्नपूर्वक मन को शुद्ध करने से योगी सूक्ष्म और गम्भीर विषयों को समझने योग्य हो जाता है।

लयविक्षेप रहितं मनः कृत्वा सुनिश्चतम् ।
एतज्ज्ञानं च मोक्षं च शेषास्तु ग्रन्थविस्तराः ।।
एक एव मनोदेवो ज्ञेयः सर्वार्थसिद्धिदः ।
अन्यत्र विफलाक्लेशाः सर्वेषां तज्जयं विना ।।
विद्यमानं मनो यावत्तावदुःखक्षयः कुतः ।

मन को विक्षेपों से मुक्त करके सदुद्देश्य में लय करके स्थिर बना लेना- यही वह उपाय है जिससे सर्वार्थों में सिद्धि मिलती है। मन देवता ही परम देव है। उसकी साधना किये बिना क्लेशों और दुःखों की निवृत्ति नहीं हो सकती। मन को जीत लेना ही सबसे बड़ी विजय है।

मनः सर्वमिदं राम तस्मिन्नन्तश्चिकित्सिते ।
चिकित्सतो वै सकलो जगज्जालमयो भवेत् ।।

–योग वशिष्ठ ४।४।६

हे राम, मन ही सब कुछ है। मन की चिकित्सा लेने पर संसार के सब रोगों की चिकित्सा हो जाती है।

पूर्ण मनसि सम्पूर्ण जगत्सर्व सुधा द्रवैः ।
उपानद् गूढ़ पादस्य नानुचर्यास्तृतैव भूः ।।

–योग वाशिष्ठ ५।१२१।१४

मन यदि पूर्ण हो गया तो सारा संसार अमृत से परिपूर्ण दीखेगा। पैर में जूता पहन लेने से सारी पृथ्वी चमड़े से ढकी हुई प्रतीत होती है।

सर्वेषामुत्तम स्थानां सर्वा सांचिर संपदाम् ।
स्वमनो निग्रहो भूमिर्भूमिः सस्यश्रियामिव ।।

–योग वाशिष्ठ ५।४३।३५

सब उत्तम परिस्थितियाँ, सब श्रेष्ठ चिर संपदाएँ मन के निग्रह से उसी प्रकार प्राप्त होती हैं जैसे अच्छी भूमि से सब अन्न प्राप्त होते हैं।

मनः प्रमादाद्वर्धन्ते दुःखानि गिरि कूटवत् ।
तद्वशादेव नश्यन्ति सूर्यस्याग्रे हिमंयथा ।।

–योग वाशिष्ठ ३।९९।४३

मन के प्रमाद से ही दुःख पर्वत की चोटी के समान बढ़ते हैं और मन की विवेकशीलता से वे ऐसे नष्ट हो जाते हैं जैसे सूर्य की धूप से बर्फ नष्ट होती है।

आनन्दो वर्धते देहे शुद्धे चेतसि राघव ।

–योग वाशिष्ठ ६।८१।२१

हे राम, चित्त शुद्ध होने से देह का आरोग्य, आनंद भी बढ़ता है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैवह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मनोजितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।।

–गीता

स्वयं ही अपना उद्धार करना चाहिए। अपने आपको गिरावे नहीं। मनुष्य स्वयं अपना शत्रु है। जिसने अपने आपको सँभाल लिया वह स्वयं ही अपना मित्र है और जिसने अपने आपको पतित किया वह स्वयं ही अपना शत्रु है।

यतोनिर्विषयस्यास्य मनसो मुक्ति रिष्यते ।
अतो निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा ।।

मन का निर्विष्य होना मुक्ति है। इसलिए बन्धन से मुक्ति की इच्छा करने वालों को अपना मन निविष्य करना चाहिए।

तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदि गतं क्षयम् ।
सतज् ज्ञानं च ध्यानं च शेषोऽन्यो ग्रन्थ विस्तरः ।।

–विष्णु पुराण ६।७।२८

मन का तब तक निरोध करें जब तक कि हृदय की वासनाएँ नष्ट न हो जाय। यही ज्ञान है, यही ध्यान है और तो सब शास्त्र विस्तार है।

यह मनोनिग्रह, अन्तःसन्तुलन, चित्त परिशोधन समग्र विकास का आधारभूत उपाय है। मनोमय कोश की साधना का सत्परिणाम मनोजय है। इसे प्राप्त कर लेने वाला आत्म विजय को विश्व विजय के लाभ से भी बढ़कर आनन्ददायक अनुभव करता है।

गायत्री की उच्चस्तरीय योग साधना द्वारा मनोमय कोश का वेधन अनेक विशेषताएँ उत्पन्न करता है। मैस्मरेजम, हिप्नोटिज्म, मेंटल थरेपी, आकाल्ट साइन्स आदि विद्याओं पर योरोपीय योगी बड़ा अभिमान करते हैं, यह मनोमय कोश के छोटे-छोटे खेल हैं। ध्यानयोग की पाँच श्रेणियाँ स्थिति, संस्थिति विगति, प्रगति, संस्थिति इष्ट देव का साक्षात्कार कराने में समर्थ होती हैं। त्राटक से पत्थर को तोड़ देने वाली वेधक दृष्टि पैदा होती है। शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पंच तत्वों का इन पाँच तन्मात्राओं पर अधिकार होने से जो कुछ सूक्ष्म जगत में अदृश्य है वह सब दृश्यमान हो जाता है।

मन और उसका निग्रह

मनोनिग्र और मनोज के अभ्यास के लिए योगशास्त्रों में ऐसी कितनी ही साधनाओं का वर्णन है जिनके द्वारा

मन की चञ्चलता, घुड़दौड़, विषय लोलुपता और ऐषणा प्रकृति को रोककर उसे ऋतम्भरा बुद्धि के अन्तरात्मा के अधीन किया जा सकता है। इन साधनाओं को मनोमय योग कहते हैं। मनोमय योग के अन्तर्गत १- ध्यान, २-त्राटक, ३- जप, ४- तन्मात्रा साधना यह चार साधन प्रधान रूप से आते हैं। इन चारों का मनोमय कोश की साधना में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है।

ध्यान

ध्यान वह मानसिक प्रक्रिया है जिसके अनुसार किसी वस्तु की स्थापना अपने मन:क्षेत्र में की जाती है। मानसिक क्षेत्र में स्थापित की हुई वस्तु हमारे आकर्षण का प्रधान केन्द्र बनती है। उस आकर्षण की ओर मस्तिष्क की अधिकांश शक्तियाँ खिंच जाती हैं। फलस्वरूप एक स्थान पर उनका केन्द्रीयकरण होने लगता है। चुम्बक पत्थर अपने चारों ओर बिखरे हुए लौहकणों को सब दिशाओं से खींचकर अपने पास जमा कर लेता है। इसी प्रकार ध्यान द्वारा मन सब ओर से खींचकर एक केन्द्र बिन्दु पर एकाग्र होता है, बिखरी हुई चित्त-प्रवृत्तियाँ एक जगह सिमट जाती हैं।

कोई आदर्श, लक्ष्य इष्ट निर्धारित करके उसमें तन्मय होने को ध्यान कहते हैं। जैसा ध्यान किया जाता है मनुष्य वैसा ही बनने लगता है। साँचे में गीली मिट्टी को दबाने से वैसी आकृति बन जाती है, जैसी उस साँचे में होती है। कीट-भृंग का उदाहरण प्रसिद्ध है। भृंग, झींगुर को पकड़ ले जाता है और उसके चारों ओर लगातार गुंजन करता है। झींगुर इस गुंजन को तन्मय होकर सुनता है और भृंग के रूप को उसकी चेष्टाओं को एकाग्र भाव से निहारता है। झींगुर का मन भृंगमय हो जाने से उसका शरीर भी उसी ढाँचे में ढलना आरम्भ हो जाता है। उसके रक्त, माँस, नस, नाड़ी, त्वचा आदि में मन के साथ ही परिवर्तन आरम्भ हो जाता है और थोड़े समय में वह झींगुर मन से और शरीर से भी असली भृंग के समान बन जाता है। इसी प्रकार ध्यान शक्ति द्वारा साधक का सर्वांगपूर्ण काया-कल्प होता है।

साधारण ध्यान से मनुष्य का शरीर परिवर्तन नहीं होता। इसके लिए विशेष रूप से गहन साधनाएँ करनी पड़ती हैं। परन्तु मानसिक काया-कल्प करने में हर मनुष्य ध्यान-साधना से भरपूर लाभ उठा सकता है। ऋषियों ने इस बात पर जोर दिया है कि हर साधक को इष्टदेव चुन लेना चाहिए। इष्टदेव चुनने का अर्थ है- जीवन का प्रधान लक्ष्य निर्धारित करना। इष्टदेव उपासना का अर्थ है- उस लक्ष्य में अपनी मानसिक चेतना को तन्मय कर देना। इस प्रकार की तन्मयता का परिणाम यह होता है कि मन की बिखरी हुई शक्तियाँ एक बिन्दु पर एकत्रित हो जाती हैं। एक स्थानीय एकाग्रता के कारण उसी दिशा में सभी मानसिक शक्तियाँ लग जाती हैं, फलस्वरूप साधक के गुण, स्वभाव, विचार उपाय एवं काम अद्भुत गति से बढ़ते हैं, जो उसे अभीष्ट लक्ष्य तक सरलतापूर्वक स्वल्प काल में ही पहुँचा देते हैं। इसी को इष्ट सिद्धि कहते हैं।

ध्यान साधक के लिए ही आदर्शों को दिव्य रूपधारी देवताओं के रूप में मानकर उनमें मानसिक तन्मयता स्थापित करने का यौगिक विधान है। प्रीति सजातियों में होती है। इसलिए लक्ष्य रूप इष्ट को दिव्य देहधारी देव मानकर उसमें तन्मय होने का गूढ़ एवं रहस्यमय मनोवैज्ञानिक आधार स्थापित करना पड़ा है। एक-एक अभिलाषा एवं आदर्श का प्रतीक सावित्री मानी गई है। गौरी, पद्मा, शची, मेधा, सावित्री, विजया, जया, देवसेना, स्वधा, स्वाहा, मातर, लोक-मातर, धृष्टि, तुष्टि, पुष्टि, आत्मदेवी यह षोडश मातृकाएँ प्रसिद्ध हैं। शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कुष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी, सिद्धदात्री यह नत दुर्गाएँ अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण हैं।

ऐसा भी होता है कि एक ही इष्टदेव को आवश्यकतानुसार विभिन्न गुणों वाला मान लिया जाय। एक महाशक्ति की, विविध प्रयोजनों के लिए काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी- छिन्नमस्ता, त्रिपुर भैरवी, बँगला, मातंगी, कमला, इन्द्राणी, वैष्णवी, ब्राह्मणी, कौमारि, नरसिंही माहेश्वरी भैरवी आदि विविध रूपों में उपासना की जाती है। एक ही महागायत्री की ह्रीं, श्रीं, क्लीं (सरस्वती, लक्ष्मी, काली) तीनों रूपों में आराधना होती है। फिर इन तीनों में अनेक भेद हो जाते हैं। जो साधक मातृशक्ति की अपेक्षा पितृशक्ति में अधिक रुचि रखते हैं, जिन्हें नारी-परक शक्ति तत्व की अपेक्षा पुरुषतत्व प्रधान (पुल्लिंग) दिव्य तत्व में विशेष मन लगता है, वे गणेश, नृसिंह, भैरव, शिव, विष्णु आदि इष्टों की उपासना करते हैं।

यहाँ किसी को भ्रम में पड़ने की आवश्यकता नहीं। अनेक देवताओं का कोई स्वतन्त्र आधार नहीं है। ईश्वर

एक है। उसकी अनेक शक्तियाँ ही अनेक देवों के नाम से पुकारी जाती हैं। मनुष्य अपनी इच्छा, रुचि और आवश्यकतानुसार उन ईश्वरीय शक्तियों को प्राप्त करने के लिए अपनी ओर आकर्षित करने के लिए अपना इष्ट लक्ष्य चुनता है और उनमें तन्मय होते ही मनोवैज्ञानिक उपासना पद्धति द्वारा उन शक्तियों को अपने अन्दर प्रचुर परिमाण में धारण कर लेता है।

ध्यान-योग साधना में मन की एकाग्रता के साथ-साथ लक्ष्य को, इष्ट को भी प्राप्त करके योगस्थिति उत्पन्न करने का दुहरा लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। इसलिए इष्टदेव का मन:क्षेत्र में उसी प्रकार ध्यान करने का विधान किया गया है। ध्यान के पाँच अंग हैं। १-स्थिति, २-संस्थिति, ३-विगति, ४-प्रगति, ५-सस्मिति। इन पर कुछ प्रकाश डाला जाता है।

१- स्थिति का तात्पर्य है-साधक की उपासना करते समय की स्थिति। मन्दिर में, नदी, तट पर एकान्त में, श्मशान में स्नान करके, बिना स्नान किए, पद्मासन से, सिद्धासन से किस ओर मुँह करके, किस मुद्रा में, किस समय, किस प्रकार ध्यान किया जाय ? इस सम्बन्ध की व्यवस्था को स्थिति कहते हैं।

२-संस्थिति का अर्थ- इष्टदेव की छवि का निर्धारण। उपास्य देव का मुख आकृति, आकार मुद्रा, वस्त्र आभूषण, वाहन, स्थान, भाव को निश्चित करना संस्थिति कहलाती है।

३- विगति कहते हैं- गुणावली को । इष्टदेव में क्या विशेषताएँ शक्तियाँ, सामर्थ्य, परम्पराएँ एवं गुणावलियाँ हैं ? उनको जानना विगति कहा जाता है।

४-'प्रगति' कहते हैं- उपासना कला में साधक के मन में रहने वाली भावना को। दास्य, सखा, गुरु, बन्धु, मित्र, माता-पिता, पति, पुत्र, सेवक, शत्रु आदि जिस रिश्ते को उपास्य देव को मानना हो उस रिश्ते की स्थिरता तथा उस रिश्ते को प्रगाढ़ बनाने के लिए इष्टदेव को प्रमुख ध्यानावस्था में, अपनी आन्तरिक भावनाओं को विविध शब्दों तथा चेष्टाओं द्वारा उपस्थित करना 'प्रगति' कहलाती है।

५- 'संस्मिति' वह व्यवस्था है जिसमें साधक और साध्य, उपासक और उपास्य, एक हो जाते हैं। दोनों में कोई भेद नहीं रहता है। भृंग कीट की सी तन्मयता, द्वैत के स्थान पर अद्वैत की झाँकी, उपास्य और उपासक का अभेद, मैं स्वयं इष्टदेव हो गया हूँ या इष्टदेव में पूर्णतया लीन हो गया हूँ ऐसी अनुभूति का होना। अग्नि में पड़कर जैसे लकड़ी भी अग्निमय लाल वर्ण हो जाती है, वैसी ही अपनी स्थिति जिन क्षणों में अनुभव होती है उसे 'संस्मिति' कहते हैं।

एक ही इष्टदेव के अनेक प्रयोजनों के लिए अनेक प्रकार से ध्यान किए जाते हैं। साधक की आयु, स्थिति, मनोभूमि, वर्ण, संस्कार आदि के विचार से भी ध्यान की विधियों में स्थिति, संस्थिति, विगति, प्रगति एवं संस्मिति की जो कई महत्वपूर्ण पद्धति हैं, उनका सविस्तार वर्णन इन पृष्ठों में नहीं हो सकता। यहाँ तो हमारा प्रयोजन मनोमय कोश को व्यवस्थित बनाने के लिए ध्यान द्वारा मन को एकाग्र करने की, वश में करने की विधि बताना मात्र है। इसके लिए कुछ ध्यान नीचे दिये जाते हैं-

१- चिकने पत्थर की या धातु की सुन्दर-सी गायत्री प्रतिमा लीजिए। उसे एक सुसज्जित आसन पर स्थापित कीजिए। प्रतिदिन उसका जल, धूप, दीप, गन्ध, नैवेद्य, अक्षत, पुष्प आदि मांगलिक द्रव्यों से पूजन कीजिए। इस प्रकार नित्य-प्रति पूजन आरम्भिक साधकों के लिए श्रद्धा बढ़ाने वाला मन की प्रवृत्तियों को इस ओर झुकाने वाला होता है। साधक में अरुचि को हटाकर रुचि उत्पन्न करने का प्रथम सोपान, यह पार्थिव पूजन ही है। मन्दिरों में मूर्ति पूजा का आधार यह प्राथमिक शिक्षा के रूप में साधना का आरम्भ करना ही है।

२- शुद्ध होकर पूर्व को ओर मुँह करके, कुश के आसन पर पद्मासन लगाकर बैठिए। सामने गायत्री का चित्र रख लीजिए। विशेष मनोयोगपूर्वक उसकी मुखाकृति या अंग-प्रत्यंगों को देखिये। फिर नेत्र बन्द कर लीजिए। ध्यान द्वारा उस चित्र की बारीकियाँ भी ध्यानावस्था में भली-भाँति परिलक्षित होने लगेंगी। इस प्रतिमा को मानसिक साष्टांग प्रणाम कीजिए और अनुभव कीजिए कि उत्तर में आपको आशीर्वाद प्राप्त हो रहा है।

३- एकान्त स्थान में सुस्थिर होकर बैठिए। ध्यान कीजिए कि निखिल नील आकाश में और कोई वस्तु नहीं है, केवल एक स्वर्णिम वर्ण का सूर्य पूर्व दिशा में चमक रहा है। उस सूर्य को ध्यानावस्था में विशेष मनोयोगपूर्वक देखिए। उसके बीच में हंसारूढ़ माता गायत्री की धुँधली-सी छवि दृष्टिगोचर होगी, अभ्यास से धीरे-धीरे यह छवि स्पष्ट दीखने लगेगी।

४- भावना कीजिए कि इस गायत्री-सूर्य की स्वर्णिम किरणें मेरे नग्न शरीर पर पड़ रही हैं और वे रोमकूपों में

होकर प्रवेश हुई आभा से देह के समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म अंगों को अपने प्रकाश से पूरित कर रही हैं।

५- दिव्य तेजयुक्त, अत्यन्त सुन्दर, इतनी सुन्दर जितनी कि आप अधिक-से-अधिक कल्पना कर सकते हों आकाश में दिव्य वस्त्रों, आभूषणों से सुसज्जित माता का ध्यान कीजिए। किसी सुन्दर चित्र के आधार पर ऐसा ध्यान करने की सुविधा होती है। माता के एक-एक अंग को विशेष मनोयोगपूर्वक देखिए। उसकी मुखाकृति, चितवन, मुसकान, भाव-भंगिमा पर विशेष ध्यान दीजिए। माता अपनी अस्पष्ट वाणी, चेष्टा तथा संकेतों द्वारा आपके मन:क्षेत्र में नवीन भावों का संचार करेंगी।

६- शरीर को बिल्कुल ढीला कर दीजिए। आराम कुर्सी, मसनद या दीवार का सहारा लेकर, शरीर की नस-नाड़ियों को निर्जीव की भाँति शिथिल कर दीजिए। भावना कीजिए कि सुन्दर आकाश में अत्यधिक ऊँचाई पर अवस्थित ध्रुव तारे से निकल कर एक नीलवर्ण की शुभ्र किरण सुधा धारा की तरह अपनी ओर चली आ रही है और अपने मस्तिष्क या हृदय में ऋतुम्भरा बुद्धि के रूप में तरणतारिणी प्रज्ञा के रूप में प्रवेश कर रही है। उस परम दिव्य परम प्रेरक शक्ति को पाकर अपने हृदय में सद्भाव और मस्तिष्क में सद्विचार उसी प्रकार उमड़ रहे हैं जैसे समुद्र में ज्वार-भाटा उमड़ते हैं। वह ध्रुव तारा जो इस दिव्य धारा में प्रेरक है सत् लोकवासिनी गायत्री माता ही है। भावना कीजिए कि जैसे बालक अपनी माता की गोद में खेलता और क्रीड़ा करता है वैसे ही आप भी गायत्री माता की गोद में खेल और क्रीड़ा कर रहे हैं।

७- मेरुदण्ड को सीधा करके पद्मासन से बैठिए। नेत्र बन्द कर लीजिए। भू-मध्य भाग (भृकुटि) में शुभ्र वर्ण दीपक की लौ के समान दिव्य ज्योति का ध्यान कीजिए। यह ज्योति विद्युत की भाँति क्रियाशील होकर अपनी शक्ति से मस्तिष्क क्षेत्र में बिखरी हुई अनेक शक्तियों का पोषक एवं जागरण कर रही है ऐसा विश्वास कीजिए।

८- भावना कीजिए कि आपका शरीर एक सुन्दर रथ है। उसमें मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूपी घोड़े जुते हैं। इस रथ में दिव्य तेजोमयी माता विराजमान हैं और घोड़ों की लगाम उसने अपने हाथ में थाम रखी है। जो घोड़ा बिचकता है वह चाबुक से उसका अनुशासन करती है और लगाम झटककर उसको सीधे मार्ग पर ठीक रीति से चलने में सफल पथ-प्रदर्शन करती है। घोड़े भी माता से आतंकित होकर उसके अंकुश को स्वीकार करते हैं।

९- हृदय स्थान के निकट, सूर्य चक्र में सूर्य जैसे छोटे प्रकाश की ध्यान कीजिए यह आत्मा का प्रकाश है। इसमें माता की शक्ति मिलती है और प्रकाश बढ़ता है। इस बढ़े हुए प्रकाश में आत्मा से वस्तु स्वरूप की झाँकी होती है। आत्मा साक्षात्कार का केन्द्र यह सूर्य चक्र है।

१०- ध्यान कीजिए कि चारों ओर अन्धकार है। उसमें होली की तरह पृथ्वी से लेकर आकाश तक प्रचण्ड तेज जाज्वल्यमान हो रहा है। उसमें प्रवेश करने से अपने शरीर का प्रत्येक अंग, मन:क्षेत्र से उस परम तेज के समान अग्निमय हो गया है अपने समस्त पाप-ताप, विकार-संस्कार जल गये हैं और शुद्ध सच्चिदानन्द शेष रह गया है।

ऊपर कुछ सुगम एवं सर्वोपरि ध्यान बताते गए हैं। यह सरल हैं और प्रतिबन्ध रहित। इनके लिए किन्हीं विशेष नियमों के पालन की आवश्यकता नहीं होती। शुद्ध होकर साधना के समय उनका करना उत्तम है। वैसे अवकाश में अन्य समयों में भी जब चित्त शान्त हो तो, इन ध्यानों में से, अपनी रुचि के अनुकूल ध्यान किया जा सकता है। इन ध्यानों में मन को संयत, एकाग्र करने की बड़ी शक्ति है। साथ ही उपासना का आध्यात्मिक लाभ भी मिलने से यह ध्यान दुहरा हित साधन करते हैं।

त्राटक

त्राटक भी ध्यान का एक अंग है। अथवा यों कहिए कि त्राटक का ही एक अंग ध्यान है। आन्तर-त्राटक और बाह्य-त्राटक दोनों का उद्देश्य मन को एकाग्र करना है। नेत्र बन्द करके किसी एक वस्तु पर भावना को जमाने और उसे आन्तरिक नेत्रों से देखते रहने की क्रिया आन्तर-त्राटक कहलाती है। पीछे जो दस ध्यान लिखे गये हैं, वे सभी आन्तर-त्राटक हैं। मैस्मरेजम के ढंग से जो लोग अन्तर-त्राटक करते हैं वे केवल प्रकाश बिन्दु पर ध्यान करते हैं। इससे एकांगी लाभ होता है। प्रकाश बिन्दु पर ध्यान करने से मन तो एकाग्र होता है, पर उपासना का आत्म-लाभ नहीं मिल पाता। इसलिए भारतीय योगी सदा ही आन्तर-त्राटक का इष्ट ध्यान के रूप में प्रयोग करते रहे हैं।

बाह्य त्राटक का उद्देश्य बाह्य-साधकों के आधार पर मन को वश में करना एवं चित्त प्रवृत्तियों का एकीकरण करना है। मन की शक्ति प्रधानतया नेत्रों द्वारा बाहर आती है। दृष्टि को किसी विशेष वस्तु पर

जमाकर उसमें मन को तन्मयतापूर्वक प्रवेश कराने से नेत्रों द्वारा विकीर्ण होने वाला मन:तेज एवं विद्युत प्रवाह एक स्थान पर केन्द्रीभूत होने लगता है। इससे एक तो एकाग्रता बढ़ती हुई दूसरे नेत्रों का प्रवाह-चुम्बकत्व बढ़ जाता है। ऐसी बढ़ी हुई आकर्षण शक्ति वाली दृष्टि को बेधक-दृष्टि' कहते हैं।

बेधक दृष्टि से देखकर किसी व्यक्ति को प्रभावित किया जा सकता है। मैस्मरेजम करने वाले अपने नेत्रों में त्राटक द्वारा ही इतना विद्युत प्रवाह उत्पन्न कर लेते हैं कि उसे जिस किसी शरीर में प्रवेश कर दिया जाय, वह तुरन्त बेहोश एवं वशवर्ती हो जाता है। उस बेहोश या अर्द्धनिद्रित व्यक्ति के मस्तिष्क पर बेधक दृष्टि वाले व्यक्ति का कब्जा हो जाता है और उसमें जो चाहे वह काम ले सकता है। मैस्मरेजम करने वाले किसी व्यक्ति को अपनी त्राटक शक्ति से पूर्णनिद्रित या अर्द्धनिद्रित करके उसे नाना प्रकार के नाच नचाते हैं।

मैस्मरेजम द्वारा सत्संकल्प, दान, रोग निवारण, मानसिक त्रुटियों का परिमार्जन आदि लाभ हो सकते हैं और उससे ऊँची अवस्था में जाकर अज्ञात वस्तुओं का पता लगाना, अप्रकट बातों को मालूम करना आदि कार्य भी हो सकते हैं। दुष्ट प्रकृति के बेधक दृष्टि वाले अपने दुष्ट तेज से कहीं स्त्री-पुरुषों के मस्तिष्क पर अपना अधिकार करके उन्हें भ्रमग्रस्त कर देते हैं और उनका सतीत्व तथा धन लूटते हैं। कई बेधक दृष्टि से खेल-तमाशे करके पैसा कमाते हैं यह इस महत्वपूर्ण शक्ति का दुरुपयोग है।

बेधक दृष्टि द्वारा किसी के अन्त:करण में भीतर तक प्रवेश करके उसकी सारी मन:स्थिति को, मनोगत भावनाओं को जाना जा सकता है। बेधक दृष्टि फेंक कर दूसरों को प्रभावित किया जा सकता है। नेत्रों में ऐसा चुम्बकत्व त्राटक द्वारा पैदा हो सकता है। मन की एकाग्रता, चूँकि त्राटक के अभ्यास में अनिवार्य रूप से करनी पड़ती है, इसलिए उसका साधन साथ-साथ होते चलने से मन पर बहुत कुछ काबू हो सकता है।

१- एक हाथ लम्बा एक हाथ चौड़ा, चौकोर कागज का पुट्टा लेकर उसके बीच में रुपये के बराबर एक काला गोल निशान बना लो। स्याही एक-सी हो, कहीं कम ज्यादा न हो। इसके बीच में सरसों के बराबर निशान छोड़ दो और उसमें पीला रंग भर दो और तुम उससे चार फीट दूरी पर इस प्रकार बैठो कि वह काला गोला तुम्हारी आँखों के सामने, सीध में रहे।

साधना एक कमरा ऐसा होना चाहिए कि जिसमें न अधिक प्रकाश रहे न अँधेरा। न अधिक सर्दी हो, न गर्मी। पालथी मारकर, मेरुदण्ड सीधा रखते हुए बैठो और काले गोले के बीच में जो पीला निशान हो उस पर दृष्टि जमाओ। चित्त की सारी भावनायें एकत्रित करके, उस बिन्दु को इस प्रकार देखो, मानो तुम अपनी सारी शक्ति नेत्रों द्वारा उसमें प्रवेश कर देना चाहते हो। ऐसा सोचते रहो कि मेरी तीक्ष्ण दृष्टि से इस बिन्दु में छेद हुआ जा रहा है, कुछ देर इस प्रकार देखने से आँखों में दर्द होने लगेगा और पानी बहने लगेगा, तब अभ्यास बन्द कर दो।

अभ्यास के लिए प्रात:काल का समय ठीक है। पहले दिन देखो कि कितनी देर में आँखें थक जाती हैं और पानी आ जाता है। पहले दिन जितनी देर अभ्यास किया है प्रतिदिन उससे एक या आधी मिनट बढ़ते जाओ।

दृष्टि को स्थिर करने पर देखेंगे कि उस काले गोले में तरह-तरह की आकृतियाँ पैदा होती हैं। कभी वह सफेद रंग का हो जायेगा तो कभी सुनहरा। कभी छोटा मालूम पड़ेगा, कभी चिन्गारियाँ-सी उड़ती दीखेंगी, कभी बादल से छाये हुए प्रतीत होंगे। इस प्रकार यह गोला अपनी आकृति बदलता रहेगा, किन्तु जैसे-जैसे दृष्टि स्थिर होना शुरू हो जायेगी उसमें दीखने वाली विभिन्न आकृतियाँ बन्द हो जायेंगी और बहुत देर तक देखते रहने पर भी गोला ज्यों का ज्यों बना रहेगा।

२- एक फुट लम्बे-चौड़े दर्पण के बीच चाँदी की चवन्नी के बराबर काले रंग के कागज का एक गोल टुकड़ा काटकर, चिपका दिया जाता है। उस कागज के मध्य में सरसों के बराबर पीला बिन्दु बनाते हैं। इस बिन्दु पर दृष्टि स्थिर करते हैं। इस अभ्यास को एक-एक मिनट बढ़ाते जाते हैं। जब इस तरह की दृष्टि स्थिर हो जाती है, तब और भी आगे का अभ्यास शुरू हो जाता है। दर्पण पर चुपके हुए कागज को छुड़ा देते हैं और उसमें अपना मुँह देखते हुए अपनी बाईं आँख की पुतली पर दृष्टि जमा कर लेते हैं और उस पुतली में ध्यानपूर्वक अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं।

३- गो घृत का दीपक जलाकर नेत्रों की सीध में चार फुट की दूरी पर रखिए। दीपक की लौ आध इन्च से कम उठी हुई न हो इसलिए मोटी बत्ती डालना और पिघला हुआ घृत भरना आवश्यक है। बिना पलक

झपकाये इस अग्नि-शिखा पर दृष्टिपात कीजिए और भावना कीजिए कि आपके नेत्रों की ज्योति दीपक की लौ से टकराकर उसी में घुली जा रही है।

४- प्रात:काल के सुनहरे सूर्य पर या रात्रि को चन्द्रमा पर भी त्राटक किया जाता है। सूर्य या चन्द्रमा जब मध्य आकाश में होंगे तब त्राटक नहीं हो सकता। कारण कि उस समय तो शिर ऊपर को करना पड़ेगा या लेटकर ऊपर को आँखें करनी पड़ेंगी, यह दोनों ही स्थितियाँ हानिकारक हैं। इसलिए उदय होता सूर्य या चन्द्रमा ही त्राटक के लिए उपयुक्त माना जाता है।

५- त्राटक के अभ्यास के लिए स्वस्थ नेत्रों का होना आवश्यक है। जिनके नेत्र कमजोर हों या कोई रोग हो, उन्हें बाह्य-त्राटक की अपेक्षा आन्तर-त्राटक उपयुक्त है, जो कि ध्यान प्रकरण में लिखा जा चुका है। आन्तर-त्राटक को पाश्चात्य योगी इस प्रकार करते हैं कि दीपक की अग्नि-शिखा, सूर्य-चन्द्रमा आदि कोई चमकता प्रकाश पन्द्रह सैकण्ड खुले नेत्रों से देखा, फिर आँखें बन्द कर लीं और ध्यान किया कि वह प्रकाश मेरे सामने मौजूद है। एकटक दृष्टि से मैं उसे घूर रहा हूँ तथा अपनी सारी इच्छा शक्ति को तेज नोंकदार कील की तरह उसमें घुसाकर आर-पार कर रहा हूँ।

अपनी सुविधा स्थिति या रुचि के अनुरूप इन त्राटकों में से किसी को चुन लेना चाहिए और उसे नियत समय पर नियमपूर्वक करते रहना चाहिए ।इससे मन एकाग्र होता है और दृष्टि में बेधकता, पारदर्शिता एवं प्रभावोत्पादकता की अभिवृद्धि होती है।

त्राटक पर से उठने के पश्चात् गुलाब जल से आँखों को धो डालना चाहिए। गुलाब जल न मिले तो स्वच्छ छना हुआ ताजा पानी भी काम में लाया जा सकता है। आँख धोने के लिए छोटी काँच की प्यालियाँ अँग्रेजी दवा बेचने वालों की दुकान पर मिलती हैं, वह सुविधाजनक होती हैं। न मिलने पर कटोरी में पानी भरके उसमें आँख खोलकर डुबाने और पलक हिलाने से आँख धुल जाती हैं। इस प्रकार के नेत्र स्नान से त्राटक के कारण उत्पन्न हुई आँखों उष्णता शान्त हो जाती है। त्राटक का अभ्यास समाप्त करने के उपरान्त साधना के कारण बढ़ी हुई मानसिक गर्मी के समाधान के लिए दूध, दही, लस्सी, मक्खन, मिश्री, फल, शर्बत, ठण्डाई आदि कोई ठण्डी पौष्टिक चीजें, ऋतु का ध्यान रखते हुए सेवन करनी चाहिए। जाड़े के दिनों में बादाम का हलुआ, च्वयनप्राश अवलेह आदि वस्तुएँ भी उपयोगी होती हैं।

त्राटक-साधन से एकाग्रता शक्ति का अभिवर्द्धन

समस्त सिद्धियों, विभूतियों का उपार्जन एकाग्रता शक्ति द्वारा ही सम्भव होता है। चित्त-निरोध इससे भी आगे की स्थिति है। और वह कैवल्य-साधन के लिए आधार बनता है। साधना की प्रारम्भिक अवस्था से लेकर सिद्धियों के विभिन्न सोपानों तक की यात्रा एकाग्रता की शक्ति द्वारा ही सम्भव होती है यानी एक ही दिशा धारा में चित्त को नियोजित किये रखने की अन्त:शक्ति। भौतिक सिद्धियाँ भी एकाग्रता-शक्ति से ही उपलब्ध होती हैं। दार्शनिक, वैज्ञानिक, लेखक, कवि, कलाकार, बुद्धता संगठक सभी अपनी एकाग्रता शक्ति के कारण ही अपने क्षेत्र में सफलता प्राप्त करते हैं। मेधावी छात्रों में एकाग्रता की ही विशेषता होती है। जिन्हें बुद्धू या मन्द-बुद्धि छात्र कहा जाता है, उनकी मस्तिष्कीय क्षमता प्राय: मेधावियों जैसी ही होती है। परन्तु वे अध्ययन के प्रति उदासीन या अन्यमनस्क होते हैं, बस इसीलिए कक्षा में भौंदू बने रहते हैं। योग्यता और क्षमता लगभग सभी में एक जैसी स्तर की होती है। जो थोड़ा-सा अंतर रहता है। वह भी प्रयत्न पूर्वक दूर किया जा सकता है। किन्तु एकाग्रता के अभ्यासी एक दिशा में निरन्तर बढ़ते चले जाते हैं और एकाग्रताशक्ति से शून्य लोग अपनी ही जगह भटकते, चक्कर लगाते रहते हैं। प्रवीणता, पारंगतता सफलता जैसी अनेकों विभूतियाँ एकाग्रता की ही उपलब्धियाँ होती हैं। एकाग्रता के साथ जो भी काम किया जाएगा उसमें प्रवीणता प्राप्त होती जाएगी।

एकाग्रता मन-मस्तिष्क की व्यवस्थित चिन्तन विधि है। वह मस्तिष्क की अस्त व्यस्तता तथा बिखराव पर नियन्त्रण पाने की एक कला है।

एकाग्रता एक विषय में स्थितिशीलता है। अर्थात् सहज ही एक विषय में लगे हुए रहना। इस एकाग्रता शक्ति के उत्पादन संवर्धन की साधना विधियों में से त्राटक-साधना अन्यतम है। संकल्प शक्ति का लक्ष्य विशेष पर नियोजन न हो, तो सफलता सम्भव नहीं। नियोजन की यह क्षमता एकाग्रता शक्ति है। साधना-विधान में एकाग्रता शक्ति का प्रयोग मस्तिष्क-संस्थान को विकसित करने के लिए किया जाता है।

त्राटक के स्वरूप का वर्णन करते हुए "हठयोग-प्रदीपिका" में कहा गया है

निरीक्षेन्नश्चलदृशा सूक्ष्म लक्ष्यं समाहितः ।
अश्रु-सम्पात् पर्यन्तं आचार्ये स्त्राटक स्मृतम् ।।

अर्थात् एकाग्रचित्त होकर निश्च्चल दृष्टि द्वारा सूक्ष्म लक्ष्य को तब तक देखता रहे, जब तक आँखों में से आँसू न आ जायें। इस साधना को आचार्यगण त्राटक कहते हैं।

प्राचीनकाल में योग साधकों की नेत्र शक्ति बहुत प्रबल होती थी। इसीलिए उन पर अश्रुपात पर्यन्त देखते रहने का कोई विशेष बुरा प्रभाव नहीं पड़ता था। इसलिए वैसा करने का निर्देश दिया गया था। आज की स्थिति में नेत्र शक्ति दुर्बल रहने से वैसा न करने की बात कही गई है। तो भी एकाग्रता दृष्टि के उद्देश्य की पूर्ति प्राचीन और अर्वाचीन दोनों ही मान्यताओं के अनुसार आवश्यक है।

एकाग्रता के अभाव मन:शक्तियों का बिखराव ही उस मनोबल के उत्पन्न होने में सबसे बड़ी बाधा है, जिस पर साधनाओं की सफलता की सफलता निर्भर है। सभी जानते हैं कि बिखरी भाप, बारूद, धूप आदि से सामान्य प्रयोजन ही सधते हैं, पर जब उनमें केन्द्रीकरण होता है तो चमत्कार देखे जा सकते हैं। लक्ष्य बेध जैसी एकाग्रता उत्पन्न की जा सके तो भौतिक एवं आत्मिक सभी प्रयोजनों में सफलता मिलती है। त्राटक से इसी उपलब्धि का अभ्यास होता है।

"यथा धन्वी स्वकं लक्ष्यं वेधयत्य चलेक्षण ।
तथैव त्राटकाभ्यासं कुर्यदिकाग्रमानसः ।।

(योग रसायनम्)

अर्थात्- जैसे धनुर्धर मात्र अपने लक्ष्य को ही लक्ष्य बेध के क्षण में देखता है वैसे ही त्राटक का अभ्यास एकाग्र मन से करना चाहिये।

त्राटक का प्रतिफल समयानुसार समाधि के रूप में सामने आता है। कहा गया है-

त्राटकाभ्याम तश्चापि कालेन क्रमयोगतः ।
राजयोग समाधिः स्यात् तत्प्रकारोऽधुनोच्यते ।।

(योग रसायनम्)

अर्थात्-त्राटक के अभ्यास से भी समयानुसार राजयोग की समाधि का लाभ सम्भव है। इसकी प्रक्रिया को समझना चाहिए। क्योंकि एक ही प्रत्ययों का निरन्तर लय और उदय ही एकाग्रता है। 'मन' में जो एक प्रत्यय उदित हुआ वह अगले क्षण जब लय होगा, तब उसके तुरन्त बाद जो प्रत्यय उदित होगा वह भी पूर्व प्रत्यय जैसा ही होगा। जबकि सामान्य स्थिति इससे भिन्न होती है अभी मन सूर्य पर गया, अभी गंगा के प्रवाह पर अगले क्षण मन्दिर में गया, फिर उसकी प्रतिमा पर या उसकी भव्यता पर या वहाँ चल रहे क्रिया-कलाप पर। या अभी गंगा की धारा देखी, फिर उसकी बालुका राशि पर मन गया, फिर वहाँ बैठी गायों पर विचार करने लगे और फिर गायों की भिन्न-भिन्न नस्लों पर मन गया। तंदुपरान्त प्राणियों की नस्लें कई होती हैं, यह सोचते-सोचते मनुष्य की नस्लों पर सोचने लगे। मन की ऐसी उछल-कूद दिन-रात जारी रहती है। उसकी वृत्तियों की दिशा-धारा स्वरूप थोड़ी-थोड़ी देर में बदलता रहता है। एकाग्रता में ऐसा नहीं होता। उसमें वृत्ति प्रवाह एक जैसा होता है। वृत्ति की इस सदृश-प्रवाहिता को ही योग-दर्शन में एकाग्रता-परिणाम कहा गया है।

ततः पुन शान्तोदितो तुल्य प्रत्ययौ
चित्तस्यैक ग्रता परिणामः ।।

(योगसूत्र ३।१२)

अर्थात्-शान्त नवोदित्त दोनों ही प्रत्यय जब एक से होते हैं, तब प्रत्ययों के लयोदय की इस सदृश-प्रवाहित का नाम एकाग्रता-परिणाम है।

एकाग्रता का यह उदय और नैरन्तर्य ही समाधि का कारण बनता है। अतः एकाग्रता का संस्कार समाधि का आधार तैयार करता है। इस दृष्टि से एकाग्रता संस्कार प्रबल बनाने वाली त्राटक साधना का साधना-विज्ञान में विशेष स्थान है। गायत्री-साधना में भी त्राटक की यह एकाग्रता-वर्धिनी सिद्धि महत्व रखती है।

पंचमुखी गायत्री के तीसरे मुख मनोमय कोश-का रहस्य जानने के लिए त्राटक साधना से प्रारम्भ किया जाता है। किन्तु त्राटक साधना के लिए स्वस्थ नेत्र अतीव आवश्यक हैं। जिनकी नेत्र शक्ति दुर्बल हो, उन्हें त्राटक साधना के स्थान पर भिन्न साधन क्रम ही अपनाना चाहिए। इसी प्रकार जिनमें इच्छा शक्ति से अधिक प्रबल भाव शक्ति है, उनके लिए भी त्राटक साधना के स्थान पर मार्गदर्शक गुरु भिन्न साधना विधान का निर्देशन करते हैं।

त्राटक के दो प्रधान वर्ग हैं अन्तःत्राटक एव बाह्य त्राटक। प्रारम्भ में बाह्य त्राटक का अभ्यास लाभकारी होता है। इसमें बाह्य साधनों के आधार पर एकाग्रता का

अभ्यास कर मन को वशवर्ती बनाया जाता है। अन्त: त्राटक में बाह्य उपकरणों की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु सचेत भावना की सजगता की अन्त:त्राटक में अधिक आवश्यकता होती है। जिनका मन:स्तर इतना भी विकसित नहीं होता, कि वे सजगता बनाए रख सकें, उन्हें अन्त:त्राटक के लिए कुछ देर बैठने पर नींद आने लगेगी या दिवास्वप्न दिखने लगेंगे और मन का बिखराव ज्यों का त्यों रहेगा। इसलिए प्रारम्भ में बाह्य त्राटक का अभ्यास आरम्भिक साधकों के लिए आवश्यक है। प्रत्यक्ष लक्ष्य के द्वारा ही वे एकाग्रता का अभ्यास कर सकते हैं।

सम्मोहन वशीकरण से लेकर विभिन्न तन्त्रोपचार तक, सभी में त्राटक साधना के ही भिन्न-भिन्न रूपों का प्रयोग होता है। ये प्रयोग चमत्कारिक दिखने पर भी आध्यात्मिक दृष्टि से मात्र स्थूल ही कहे जाते हैं। आध्यात्मिक स्तर इनसे सूक्ष्म है। त्राटक अभ्यास से अभिवर्धित एकाग्रता-शक्ति का प्रयोग ब्रह्मांडीय चेतना से तादात्म्य के लिए करना ही आध्यात्मिक साधना है। भौतिक प्रयोजनों के लिए इस शक्ति को बढ़ाना भौतिक साधना ही कहा जाएगा।

मनोमय कोश और आज्ञा चक्र

मस्तिष्कीय क्षमता से चमत्कार सामान्य लोक व्यवहार में पग-पग पर दृष्टिगोचर होते हैं। सूझ-बूझ वाले बुद्धिमान मनुष्य हर क्षेत्र में आगे बढ़ते और सफलता पाते हैं। इसके विपरीत मूढ़ मति और मन्द बुद्धि लोग अनुकूल परिस्थितियाँ रहने पर भी पिछड़ी स्थिति में ही पड़े रहते है। जीवन की गहन समस्याओं को सुलझाने में, आत्मोत्कर्ष का लाभ प्राप्त करने में भी मन:स्थिति की प्रखरता ही लाभ देती है।

ज्ञान तन्तुओं के माध्यम से यह विकार तत्व समस्त शरीर में फैला हुआ है। मस्तिष्क उसका केन्द्रीय कार्यालय है। यह सुविस्तृत ज्ञान-विस्तार आध्यात्म की भाषा में मनोमय कोश कहलाता है। बौद्धिक प्रगति के लिए सामान्यतया प्रशिक्षण के स्कूली तथा दूसरी तरह के उपाय काम लाये जाते हैं। मन चेतना के आध्यात्मिक उपचार साधनात्मक हैं। उनके माध्यम से मन:शक्ति विकसित और परिष्कृत की जाती है। मन:क्षेत्र में प्रवेश का द्वार आज्ञा चक्र माना गया है। इस संस्थान को जाग्रत करने से चेतना की उन गहरी परतों से सक्रियता उत्पन्न होती है, जो व्यक्तित्व के समग्र विकास की भूमिका बनती है। आज्ञा चक्र का जागरण प्रकारान्तर से मस्तिष्कीय संस्थान की चेतन और अचेतन दोनों ही परतों को प्रभावित करता है। उन्हें इस योग्य बनाता है कि भौतिक सफलताओं और आत्मिक विभूतियों के उपलब्ध होने की सम्भावना बन सके। मनोमय कोश को परिपुष्ट बनाने के लिए आज्ञा चक्र की साधना का विधान आत्म विज्ञान के मनीषियों ने बताया है।

दोनों भवों के मध्य एक तीसरा नेत्र है। जिसे दिव्य दृष्टि का केन्द्र माना जाता है। योग शास्त्र में इसे आज्ञा चक्र एवं दिव्य नेत्र कहा गया है। पौराणिक अलंकारिक चित्रण में इसे तृतीय नेत्र चित्रित किया गया है। शिव तथा दुर्गा की आकृतियों में उनके तीन नेत्र दिखाये जाते हैं। यह तीसरा नेत्र दोनों भवों के बीच है। यह तिरछा न होकर सीधा है। दोनों आँखें तो दाँये बाँये चौड़ाई में होती हैं, पर यह तीसरा नेत्र ऊपर से नीचे की ओर ऊँचे से नीचे की दिशा में है। इसे दीपक की लौ के सदृश दर्शाया गया है।

आज्ञा चक्र को दूरदर्शन के उपयुक्त 'टेलीविजन' स्तर का सूक्ष्म यन्त्र कह सकते हैं। महाभारत के सारे दृश्य संजय ने इसी माध्यम से देखे और धृतराष्ट्र को सुनाये थे। चित्र लेखा द्वारा प्रद्युम्न प्रणय इस दिव्य दर्शन शक्ति के माध्यम से ही सम्भव हुआ था। ऐसे और भी कितने ही कथानक बिना नेत्रों की सहायता देखे जाने के सम्बन्ध में कथा पुराणों में भरे पड़े हैं। यह तीसरा नेत्र न केवल दूरदर्शन को वरन् अदृश्य एवं अप्रत्यक्ष को भी देख सकने में पूरी तरह समर्थ है। जिस प्रकार 'एक्सरेज' ठोस पदार्थों में होकर पार चली जाती है और आँखों से न दीख पड़ने वाली वस्तुओं के भी चित्र खींचती है उसी प्रकार आज्ञा चक्र के कैमरे का शक्तिशाली लेंस अदृश्य को देख और अविज्ञात को जान सकता है। न केवल पदार्थ की स्थिति वरन् जीवधारियों की मन:स्थिति को भी देख जान सकना इस यन्त्र के माध्यम से सम्भव हो सकता है। मैस्मरेजम, हिप्नोटिज्म में जिस बेधक दृष्टि से दूसरों को प्रभावित किया जाता है वह स्थूल नेत्रों की नहीं वरन् आज्ञा चक्र की- सूक्ष्म नेत्र की ही क्षमता होती है।

मस्तिष्कीय चेतना में यों अन्य कितने ही शक्तिशाली केन्द्र संस्थानों का अस्तित्व विद्यमान है पर उनमें अधिक सरलतापूर्वक जगाया जा सकने वाला और अति महत्वपूर्ण जानकारियाँ देने वाला केन्द्र आज्ञा चक्र ही है। इसमें पाई जाने वाली दिव्य दृष्टि-क्षमता के सम्बन्ध

का कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों में विवेचन हुआ है। टीन लोवसग रम्पा की "थर्ड आई" सुग्न अल जहीर की "दि आकल्ट जर्नी" डेनियल वारे की- "दि मैका आफ हैवनली ट्राउजस" पुस्तकों में आज्ञा चक्र की दिव्य क्षमता की विस्तृत विवेचना है। उनमें अनेक उदाहरणों का उल्लेख है जिनसे सिद्ध होता है कि इन दिव्य संस्थानों की सहायता से ऐसी महत्वपूर्ण जानकारियाँ प्राप्त हो सकती हैं जो सर्वसाधारण के लिए तो अज्ञात ही रहती हैं, पर जो उनका आभास प्राप्त कर लेते हैं वे अपना तथा दूसरों का बहुत हित साधन कर सकते हैं।

नव ग्रहों और उपग्रहों के केन्द्र सूर्य हैं। पृथ्वी का केन्द्र ध्रुव प्रदेश है। परमाणु का शक्ति केन्द्र उसका मध्यवर्ती केन्द्र 'नाभिक' न्यूक्लियस कहलाता है। मस्तिष्क मानवी चेतना का केन्द्र है और उसका मध्य बिन्दु 'आज्ञा चक्र' कहलाता है। इस तनिक से केन्द्र को मस्तिष्क रूपी ताले की ताली कह सकते हैं। उसे जीवन दुर्ग का प्रवेश द्वारा कह सकते हैं।

भ्रूमध्य-जहाँ आज्ञा चक्र की स्थिति मानी जाती है, उसी सीध में कपाल के अन्दर एक अस्थि का नुकीला-सा भाग है, इसे 'ग्लेबिला' कहते हैं। इसका कुछ स्पष्ट उद्देश्य स्थूल क्रिया-कलापों के अन्तर्गत नहीं मिलता है, किन्तु उस स्थान विशेष पर एक विशेष आकार की स्थिति कुछ सोचने समझने को बाध्य करती है। विज्ञान का नियम है कि नुकीले स्थल विद्युत चुम्बकीय सूक्ष्म तरंगों के संचारण एवं संग्रहण के लिए उपयोगी होते हैं। रेडियो संकेतों के लिए एरियल-एन्टीना और आकाशीय विद्युत से विशाल भवनों की रक्षा के लिए 'तड़ित चालक' (लाइटनिंग कन्टक्टर) इसी सिद्धान्त पर बनाये जाते हैं। इस दृष्टि से नुकीले अस्थि भाग की उपस्थिति उस स्थल में शक्ति संचरण संग्रहण की क्षमता होने का स्पष्ट संकेत करती है।

उसी सीध में दृष्टि संस्थान का एक महत्वपूर्ण घटक आता है। जिसे 'आप्टिक चियाज्मा' कहते हैं। आँख से दृष्टि संकेतों का संवहन करने वाले विशेष रज्जु (ट्रैक्ट) इसी स्थल पर एक दूसरे का क्रास करके, मुड़कर मस्तिष्क के दृष्टि केन्द्रों की ओर बढ़ जाते हैं। दो भिन्न-भिन्न नेत्र गोलकों में अंकित भिन्न-भिन्न दृश्यों को एक सन्तुलित प्रामाणिक स्वरूप में बदलने में इस स्थल की प्रत्यक्ष भूमिका रहती है। यह स्थल दृष्टि संस्थान का एक सूक्ष्म नियंत्रक कहला सकता है।

इसी 'आप्टिक चियाज्मा' से लगी हुई ही एक अति महत्वपूर्ण ग्रन्थि 'पिट्यूटरी' होती है। अब तक जो खोजें हुई हैं उनके अनुसार इस ग्रन्थि को अति महत्वपूर्ण ग्रन्थि माना जाता है। किन्तु वैज्ञानिकों का मत है कि इसके सम्बन्ध में जैसे-जैसे जाना जा सकेगा, इस ग्रन्थि की महत्ता अब की अपेक्षा अनेक गुनी अधिक सिद्ध होगी। इसमें चमत्कारी सम्भावनायें सन्निहित हैं।

मनोवैज्ञानिक आधार पर शरीर विज्ञान का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पिट्यूटरी ग्रन्थि को प्रभावित करके कामेन्द्रियों की सक्रियता को समाप्त प्राय किया जा सकता है। यह निष्कर्ष शिव के तृतीय नेत्र खोलने से कामदहन के उपाख्यान के सर्वथा अनुरूप है। जाग्रत आज्ञा चक्र से कामवासना का शमन-दमन सर्वथा सम्भव है।

इस केन्द्र का महत्व प्रदर्शित करने वाला एक और तथ्य शरीर विज्ञाम के अर्न्गत मिलता है। मस्तिष्क के महत्वपूर्ण भागों के चारों ओर तथा मेरुदण्ड (स्पाइनल कार्ड) के अन्दर तथा बाहर एक विशेष द्रव भरा रहता है। इसे 'सैरिबो स्पाइनल फ्ल्यूड' कहते हैं। वैज्ञानिक मान्यता है कि यह द्रव इस सारे संस्थान के संरक्षण एवं पोषण का कार्य करता है। इस द्रव की संचार प्रणाली का एक ध्रुव ठीक भ्रूमध्य की सीध में स्थित है।

मोटी दृष्टि से अन्न भी शरीर को पोषण मात्र देता है किन्तु थोड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो अन्न के सूक्ष्म संस्कारों का सीध प्रभाव शरीर पर पड़ने की बात भी स्पष्ट रूप से सामने आती है। इस मस्तिष्कीय द्रव में भी मस्तिष्क एवं मेरुदण्ड संस्थान को पोषण देने की क्षमता के साथ-साथ सूक्ष्म संस्कार एवं शक्तियों के संचरण की क्षमता का होना इस दृष्टि से नितान्त स्वाभाविक है फ्राँसिस ल्यूकेल ने अपनी पुस्तक 'इन्ट्रोडक्शन टू साइकोलॉजिकल फिजियालॉजी' में यह स्वीकार किया है कि मस्तिष्क के 'हाइपोथैलेमस' जैसे महत्वपूर्ण भाग की सक्रियता पर इस द्रव की आन्तरिक स्थिति का उल्लेखनीय प्रभाव पड़ता है।

स्पष्ट है कि यदि इस पोषक द्रव्य को किन्हीं शक्तियों से प्रभावित किया जा सके तो मस्तिष्क एवं सारे स्नायु संस्थान को संस्कार विशेष प्रदान किए जा सकते हैं। भ्रूमध्य तक उपर्युक्त द्रव की नलिका को पहुँचाने के पीछे प्रकृति का सुनिश्चित उद्देश्य अवश्य है।

पिनिपल ग्रन्थि में दृश्यांकन क्षमता है, स्थूल प्रकाश उस तक नहीं जा सकता। किन्तु एक्स. रे जैसी सूक्ष्म किरणें तो उस तक सीधी पहुँच ही सकती हैं तथा वह ग्रन्थि उनके प्रति सम्वेदनशील होने से उनके आधार पर स्थूल आँख से न दीखने वाले तथ्यों का भी बोध करा सकती है।

चर्म चक्षुओं से बहुत ही मोटी वस्तुएँ देखी जा सकती हैं। जीवाणुओं एवं परमाणुओं तक को उनके द्वारा देखा नहीं जाता। उसके लिए माइक्रोस्कोप का प्रयोग करना पड़ता है। दूरी की दृष्टि से भी सीमित परिधि को वस्तुएँ ही दिखाई देती हैं। दूरवर्ती वस्तुएँ देखने के लिए दुर्बीनों के बिना काम नहीं चलता। जब प्रत्यक्ष पदार्थों के सामने होने पर भी इन आँखों से देखा जा सकना सम्भव नहीं होता तब सूक्ष्म जगत की परोक्ष हलचलों की जानकारी दे सकने में इन नेत्र गोलकों के सहारे कैसे काम चल सकता है। विशेषतया आत्मिक-चेतनात्मक तत्वों की जानकारी तो इनसे मिल ही नहीं सकती। आत्म साक्षात्कार ब्रह्म दर्शन जैसे प्रयोजनों के लिए तो अतिरिक्त दृष्टि ही चाहिए। सूक्ष्म दृष्टि इसी को कहते हैं यह दिव्य चक्षु में ही सन्निहित रहती है।

भगवान कृष्ण ने अर्जुन को अपना विराट् रूप इन्हीं दिव्य चक्षुओं से दिव्य दृष्टि द्वारा दिखाया था। उनने स्पष्ट कहा है- चर्म चक्षुओं से यह प्रयोजन पूरा नहीं हो सकता। इसके लिए जिन दिव्य चक्षुओं की आवश्यकता है, उन्हें तुम्हें देते हैं-

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य में योगमैश्वरम् ।।

-गीता ११।८

"परन्तु मुझको तू अपने इन प्राकृत नेत्रों द्वारा देखने में निःसन्देह समर्थ नहीं है इसी से मैं तुझे दिव्य-अलौकिक चक्षु देता हूँ, उससे तू मेरी ईश्वरीय योगशक्ति को देख।"

शिव गीता में भी ऐसा ही वर्णन आता है। भगवान शिव अपना दर्शन कराने के लिए साधक को दिव्य चक्षुओं में सन्निहित इसी दिव्य का अनुग्रह प्रदान करते हैं-

दिव्यं चक्षुः प्रदास्यामि तुभ्यं दशरथात्मज ।
तेन पश्य भयं त्यक्त्वा मत्ते जोमण्डलं ध्रुवम् ।।

इस कारण उसके देखने को मैं तुम्हें दिव्य नेत्र देता हूँ उन नेत्रों से भय त्याग कर तुम मेरा दिव्य स्वरूप देखो।

न चर्मचक्षुषा द्रष्टुं शक्यते मामकं महः ।
नरेण वा सुरेणापि तन्ममानुग्रहं बिना ।।

नरेन्द्र वा देवता इस मेरे तेज स्वरूप को मेरे अनुग्रह बिना चर्म चक्षु से नहीं देख सकते।

दिव्य दृष्टि के केन्द्र यह दिव्य चक्षु भ्रूमध्य भाग में अवस्थित है। इस संस्थान को आज्ञा चक्र कहते हैं। इस तथ्य का प्रतिपादन साधना शास्त्र में स्थान-स्थान पर हुआ है। यथा-

आज्ञाचक्रे तदूर्ध्वे च आत्मनाधिष्ठितं परम् ।
आज्ञासंक्रमणं तत्र गुरोराज्ञेति कीर्तितम् ।।

-रुद्रयामल २७।८

"तालू के ऊर्ध्व में आज्ञा चक्र है। वही आत्मा का अधिष्ठान है। इस स्थान में गुरुदेव की आज्ञा संक्रमित होती है।

भ्रुवोर्मध्ये ललाटे तु नासिकायास्तु मूलतः ।
जानीयादमतं स्थानं तद्ब्रह्मायतनं महत् ।।

-ध्यानबिन्दु

लालट में भ्रू युगल और नासामूल का संयोग स्थल ही अमृत स्थान है। वही विश्व का आधार है। इस स्थान मन संयोग होने पर जगत् के सब विषयों का ज्ञान हो जाता है।

भ्रूमध्यनिलयो बिन्दुः शुद्धस्फटिकसंनिभः ।
महाविष्णोश्च देवस्य तत्सूक्ष्मं रूपमुच्यते ।।

-योग० शि० ३।३४

समाधिक अभ्यास करते समय भ्रूयुगल के मध्य में ललाट के अभ्यान्तर जो शून्य बिन्दु देखा जाता है, वही महाविष्णु का सूक्ष्म रूप है।

मानुषं बिन्दुतीर्थं च कालीकुण्डं कलात्मकम् ।
आज्ञाचक्रं सदा ध्यात्वा स्नाति निर्वाजसिद्धये ।।

-रुप्रयामके

मोक्ष का इच्छुक साधक, मनुष्य के शरीर रूपी तीर्थ में स्थित आज्ञा चक्र के ध्यानरूपी काली कुण्ड का स्नान नित्य करता है।

आज्ञा चक्र में दिव्य दृष्टि की अवस्थिति मानी गई है। शिव और दुर्गा के चित्रों में इस स्थान पर तीसरा नेत्र दिखाया गया है जो दाँये-बाँये नहीं-ऊपर नीचे की ओर बना हुआ है। इस नेत्र का एक प्रयोजन उस कथा में बताया गया है जिसमें कामदेव पर कुपित होकर शिवजी ने तीसरा नेत्र खोला था और उससे निकलने वाली ज्वाला में उनका शत्रु कामदेव देखते-देखते जलकर भस्म

हो गया था। दमयन्ती के कोप से व्याध के जल मरने की कथा में भी ऐसा ही वर्णन है। इससे प्रतीत होता है कि शाप देने जैसी- नष्ट करने के लिए उपयुक्त कोई विशेष शक्ति इस स्थान पर विद्यमान है।

यह एकागीं वर्णन हुआ। दिव्य दृष्टि में वरदान की भी क्षमता है। वह विनाश और सृजन दोनों ही प्रयोजनों में सामान्य विद्युत शक्ति की तरह काम आती है। तृतीय नेत्र को सामान्य जीवन में दूरदर्शिता का केन्द्र माना जा सकता है। अदूरदर्शी व्यक्ति तात्कालिक लाभ भर को देखते सोचते हैं, उस कदम की भावी प्रतिक्रिया क्या होगी यह उन्हें सूझ ही नहीं पड़ता। असंयमी, आलसी, अपव्ययी, अनाचारी, उच्छ्रंखल प्रकृति के व्यक्ति मानसिक दृष्टि से परखे जाने पर 'अदूरर्शिता' मनोरोग से ग्रसित माने जायेंगे। भविष्य की कल्पना न कर सकने अथवा उसे महत्व न दे पाने के कारण ही लोग ऐसे काम करते हैं जिनमें तत्काल तो थोड़ा लाभ दीखता है पर अन्ततः पश्चात्ताप करते रहने के अतिरिक्त और कुछ पल्ले नहीं पड़ता।

आयरलैण्ड के प्रौ० वैरेट इस बात के लिए प्रसिद्ध थे कि वे भूमिगत जल स्रोतों तथा धातु खदानों का पता अपनी अन्तःचेतना से देख कर बता देते थे। विकली पहाड़ी क्षेत्र में दूर-दूर तक कहीं पानी का नाम भी नहीं था। जमीन कड़ी और पथरीली थी। उत्खलन विशेषज्ञों के सामने कई घण्टे वे उस क्षेत्र में घूमे अन्ततः वे एक स्थान पर रुके और कहा- मात्र १४ फुट गहराई पर यहाँ एक अच्छा जल स्रोत है। खोदने पर १५ फुट नीचे पानी का जोरदार स्रोत निकला उसने उस समूचे क्षेत्र की जल आवश्यकता को पूरा कर दिया।

फौज के साथ टैलिस्कोप रहते हैं और शत्रु की गतिविधियों को उसी के सहारे ऊँचे चढ़ कर देखा जाता है। ग्रह नक्षत्रों की चाल देखने के लिए खगोल विज्ञानी भी ऐसी ही दुरबीन रखते हैं। जहाजों पर भी यह यन्त्र लगा रहता है अन्य महत्वपूर्ण कार्यों में भी दूरदर्शन के उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार जीवन समस्याओं के समाधान में भी दूरदर्शिता के आधार पर हल निकालने और समाधान खोजने की आवश्यकता पड़ती है। भ्रूमध्य भाग में अवस्थिति आज्ञा चक्र को इसी विशेष क्षमता का केन्द्र माना गया है।

आज्ञा चक्र को सूर्य भी कहा गया है। प्रकाश का केन्द्र सूर्य है। संसार में जितना भी प्रकाश है वह विभिन्न मार्गों से सूर्य देवता द्वारा ही धरती पर अवतरित होता है। मनुष्य के नेत्र प्रकाश में ही कुछ देख पाते हैं अन्धकार रहने पर तो पलक खुले रहने पर भी वे असहाय ही सिद्ध होते हैं। नेत्रों की ज्योति प्रकारान्तर से सूर्य की ज्योति से प्रभावित और परिचालित है। सूक्ष्म शरीर का तृतीय नेत्र ज्योतिर्मय होने पर प्रत्यक्ष और परोक्ष क्षेत्र को अपनी दिव्य दृष्टि से सुखी समुन्नत बनाता है।

स्थूल नेत्रों की दृष्टि सीमित है। बढ़ी-चढ़ी क्षमता वाले यन्त्रों की सहायता से दूरवर्ती वस्तुओं को बिना किसी कठिनाई के देखा जाना सम्भव है। राडार यन्त्र से आकाश में उड़ने वाले वायुयानों की हलचलों का ठीक तरह पता चलता रहता है। रेडियो-दुरबीनें, आकाशीय, ग्रह नक्षत्रों की चाल तथा स्थिति की सही जानकारी देती हैं। वेधशालाएँ अपना काम इन्हीं यन्त्रों के सहारे चलाती हैं।

दिव्य दृष्टि को जगा सकना- दिव्य चक्षु को खोल सकना मानव जीवन का बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। आज्ञा चक्र साधना में व्यावहारिक जीवन में काम आने वाली दूरदर्शिता और सूक्ष्म जगत के अन्तर्गत हो रही हलचलों को समझ सकना उसी उपलब्धि के सहारे सम्भव होता है। इतना ही नहीं उस जाग्रत दिव्य क्षमता से व्यक्तियों को- पदार्थों को- परिस्थितियों को प्रभावित कर सकना भी सम्भव होता है। मनोमय कोश से सम्बद्ध आज्ञा चक्र को जाग्रत कर लेना एक बहुत बड़ी उपलब्धि है।

त्राटक साधना से दिव्य दृष्टि की जागृति

चित्रों में शिव पार्वती के मस्तिष्क में तीन-तीन नेत्र देखे जाते हैं। दो नेत्र तो मनुष्य समेत सभी प्राणियों के होते हैं पर यह तीसरा दिव्य नेत्र विशिष्ट और वरिष्ठ योगाभ्यासी जनों में ही होता है। दोनों भौंहों के बीच इसकी स्थिति है। सामान्यतया तो इस क्षेत्र में तोड़कर देखने पर एक बेर की गुठली जैसी आप्टिक चिआज्मा की गाँठ ही होती है पर इसे प्रयत्नपूर्वक जगा लेने से यह तीसरे नेत्र का काम देने लगती है। और इसके द्वारा वह देखा जा सकता है जो मस्तक में जड़े हुए दो चर्म चक्षुओं की सामर्थ्य से बाहर है। दिव्य दृष्टि इसी में रहती है। ज्ञान चक्षु इसी को कहते हैं।

रामायण में कथा आती है कि कामदेव के उपद्रव करने पर शिवजी ने इसी तीसरे नेत्र को खोला और उस उदण्ड को जलाकर खाक कर दिया था। एकाकी

दमयन्ती को वन प्रदेश में पाकर जब व्याध उसके साथ बलात्कार का प्रयत्न करने लगा तो दमयन्ती ने उसे बेधक दृष्टि से देखकर जला कर भस्म कर दिया था। इससे प्रकट है कि कृपित होने पर इस जाग्रत तृतीय नेत्र के सहारे किसी को शाप दिया जा सकता है और नीचा दिखाया जा सकता है।

इसमें वरदान की सामर्थ्य भी है। गान्धारी ने दुर्योधन का अनुरोध स्वीकार करके उसके शरीर पर दृष्टिपात किया था, इतने भर से उसका शरीर वज्र जैसा हो गया था। लज्जावश लंगोट पहने रहने के कारण उतना ही हिस्सा उसकी दृष्टि से बचा था फलतः वही कच्चा रह गया। कृष्ण के संकेत पर भीम ने उसी स्थान पर गदा मारी और उसे धराशायी बना दिया। यह चर्म चक्षुओं का नहीं तीसरे दिव्य नेत्र से बरसाई गई अनुकम्पा का ही प्रतिफल था।

दिव्य दृष्टि से वह सब भी देखा जा सकता है जो चर्म चक्षुओं के लिए देख पाना असम्भव है। संजय ने धृतराष्ट्र को घर बैठे ही महाभारत का पूरा घटनाक्रम सुनाया था। वे यह सब अपनी दिव्य दृष्टि से देखते और मुख से कहते रहे थे।

अर्जुन कृष्ण से हठकर रहा था कि आप तो मेरे सखा मित्र हैं। आपके ईश्वर स्वरूप को मैं देखना चाहता हूँ। कृष्ण ने समझाया कि सर्वव्यापी निराकार परब्रह्म को चर्म चक्षुओं से देख सकना सम्भव नहीं । न किसी ने अब तक इस प्रकार उसे देखा है और न भविष्य में कोई देख सकेगा। फिर भी अर्जुन हठ करता ही रहा तो भगवान ने उसे "दिव्य चक्षु" दिये और उनके सहारे उसने विराट ब्रह्म के रूप में इस समस्त विश्व को ही विराट रूप में देखा और समझा कि यह दृश्य संसार ही भगवान का विराट रूप है। यही घटना इसी रूप में यशोदा कौशल्या और काकभुशुण्डि के साथ घटी थी। उनने भी तृतीय दिव्य नेत्र से संसार को इसी प्रकार भगवान के विराट रूप में देखा था।

अन्य योगी तपस्वियों को भी अपने-अपने इष्ट देवों के दर्शन होते रहे हैं। वे चर्म चक्षुओं से नहीं इसी दिव्य नेत्र से संभव हुए हैं।

मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि से यह दूरदर्शी विवेकशीलता का आवतरण है जो वर्तमान के कार्यों का भावी प्रतिफल समझ लेती है। मूर्ख तात्कालिक लाभ देखते और मछली, चिड़िया की तरह जाल में फँस कर अपने प्राण खो बैठते हैं। चींटी भी आँख मूँद कर चासनी पर कूद पड़ती है। पर पंख लिपट जाने पर तड़प-तड़प कर मरती है। यह अदूरदर्शिता हुई चर्म चक्षुओं का अनुमान, निष्कर्ष, निर्णय। किन्तु दूरदर्शी लोग बीज बोने में, विद्या पढ़ने में, व्यायाम करने में, कारखाना लगाने में पूँजी फँसाने की बुद्धिमत्ता अपनाते हैं और समयानुसार उस घाटे की अनेक गुनी क्षति पूर्ति का लाभ उठाते हैं। यह दूरदर्शी विवेकशीलता का सुझाव और निर्णय है। तीसरा नेत्र इस प्रकार की बुद्धिमत्ता को भी समझा जा सकता है।

अध्यात्म प्रयोगों में आदि से अन्त तक इसी विवेकशीलता का प्रयोग होता है। संयम सदाचार अपनाने में, तपश्चर्या एवं योगाभ्यास करने में पुण्य परमार्थ में आरंभिक घाटा ही घाटा है किन्तु समयानुसार जब यह कल्पवृक्ष फलता है तो साधक को हर दृष्टि से निहाल कर देता है।

त्राटक का वास्तविक उद्देश्य दिव्य दृष्टि को ज्योतिर्मय बनाना है। उसके आधार पर सूक्ष्म जगत की झाँकी की जा सकती है। अन्तःक्षेत्र में दबी हुई रत्न राशि को खोजा और पाया जा सकता है। देश, काल, पात्र, की स्थूल सीमाओं को लाँघकर अविज्ञात और अदृश्य का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। आँखों के इशारे से तो मोटी जानकारी भर दी जा सकती है, पर दिव्य दृष्टि से तो किसी अन्तःक्षेत्र की गहराई में प्रवेश करके वहाँ ऐसा परिवर्तन किया जा सकता है जिससे जीवन का स्तर एवं स्वरूप ही बदल जाये। इस प्रकार त्राटक की साधना की अन्तःचेतना के विकसित होने का असाधारण लाभ मिलता है, साथ ही जिस प्राणी या पदार्थ पर इस दिव्य-दृष्टि का प्रभाव डाला जाये तो उसे भी विकासोन्मुख करके लाभान्वित किया जा सकता है।

जप साधना

मनोमय कोश स्थिति एवं एकाग्रता के लिए जप का साधन बड़ा ही उपयोगी है। इसकी उपयोगिता इससे निर्विवाद है कि सभी धर्म, मजहब, सम्प्रदाय इसकी आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। जप करने से मन की प्रवृत्तियों को एक ही दिशा में लगा देना सरल हो जाता है।

कहते हैं कि एक बार एक मनुष्य ने किसी भूत को सिद्ध कर लिया। भूत बड़ा बलवान था उसने कहा-मैं तुम्हारे वश में आ गया, ठीक है, जो आज्ञा होगी सो

करूँगा, मुझसे बेकार नहीं बैठा जाता है। यदि बेकार रहा तो आपको ही खा जाऊँगा। यह मेरी शर्त अच्छी तरह समझ लीजिए। उस आदमी ने भूत को बहुत काम बताये, उसने थोड़ी-थोड़ी देर में सब काम कर दिये। भूत की बेकारी से उत्पन्न होने वाला संकट उस सिद्ध को बेतरह परेशान कर रहा था। तब वह दुःखी होकर अपने गुरु के पास गया। गुरु ने सिद्ध को बताया कि आँगन में एक बाँस गाढ़ दिया जाय और भूत से कह दो कि जब तक दूसरा काम न बताया जाया करे, तब तक उस बाँस पर बार-बार चढ़े और बार-बार उतरे। यह काम मिल जाने पर भूत से काम लेते रहने की भी सुविधा हो गई और सिद्ध के आगे उपस्थिति रहने वाला संकट हट गया।

मन ऐसा ही भूत है, जो जब भी निरर्थक बैठता है, तभी कुछ-न-कुछ खुराफात करता है। इसलिए यह जब भी काम से छुट्टी पावे तभी इसे जप पर लगा देना चाहिए। जप केवल समय काटने के लिए ही नहीं है, वरन् वह एक बड़ा ही उत्पादक एवं निर्माणात्मक, मनोवैज्ञानिक श्रम है। निरन्तर पुनरावृत्ति करते रहने से मन में उस प्रकार का अभ्यास एवं संस्कार बन जाता है, जिससे वह स्वभावतः उसी ओर चलने लगता है।

पत्थर को बार-बार रस्सी की रगड़ लगने से उसमें गड्ढा पड़ जाता है। पिंजड़े में रहने वाला कबूतर बाहर निकाल देने पर भी लौटकर उसी में वापस आ जाता है। गाय को जंगल में छोड़ दिया जाय, तो भी वह रात को स्वयमेव लौट आती है। निरन्तर अभ्यास से मन भी ऐसा अभ्यस्त हो जाता है कि अपने दीर्घकाल तक सेवन किए गये कार्यक्रम में अनायास ही प्रवृत्त हो जाता है।

अनेक निरर्थक कल्पना-प्रपंचों में उछलते कूदते फिरने की अपेक्षा आध्यात्मिक भावना की एक सीमित परिधि में भ्रमण करने के लिए जप का अभ्यास करने से मन का एक ही दिशा में प्रवृत्त होने लगता है। आत्मिक क्षेत्र में मन लगा रहना, उस दिशा में एक दिन पूर्ण सफलता प्राप्त होने का सुनिश्चित लक्षण है। मन रूपी भूत बड़ा बलवान है। यह सांसारिक कार्यों को भी बड़ी सफलतापूर्वक करता है और जब आत्मिक क्षेत्र में जुट जाता है, तो भगवान के सिंहासन को हिला देने में भी नहीं चूकता। मन की उत्पादक, रचनात्मक एवं प्रेरक शक्ति इतनी विलक्षण है कि उसके लिए संसार की कोई वस्तु असम्भव नहीं। भगवान को प्राप्त करना भी उसके लिए बिलकुल सरल है। कठिनाई केवल एक नियत क्षेत्र में जमने की है, सो जप के व्यवस्थित विधान से वह भी दूर हो जाती है।

हमारा मन कैसी ही उच्छृंखल क्यों न हो, पर जब उसको बार-बार किसी भावना पर केन्द्रित किया जाता रहेगा, तो कोई कारण नहीं कि कालान्तर में उसी प्रकार का न बनने लगे। लगातार प्रयत्न करने से सरकस में खेल दिखाने वाले बन्दर, सिंह, बाघ, रीक्ष जैसे उद्‌दण्ड जानवर मालिक की मर्जी पर काम करने लगते हैं, उसके इशारे पर नाचते हैं तो कोई कारण नहीं कि चंचल और कुमार्गगामी मन को वश में करके इच्छानुवर्ती न बनाया जा सके। पहलवान लोग नित्यप्रति अपनी नियत मार्यादा में दण्ड-बैठक आदि करते हैं, उनकी इस क्रिया पद्धति से उनका शरीर दिन-दिन हृष्ट-पुष्ट होता जाता है और एक दिन वे अच्छे पहलवान बन जाते हैं। नित्य का जप एक आध्यात्मिक व्यायाम है जिससे आध्यात्मिक स्वास्थ्य को सुदृढ़ और सूक्ष्म शरीर को बलवान बनाने में महत्वपूर्ण सहायता मिलती है।

एक-एक बूँद जमा करने से घड़ा भर जाता है। चींटी एक-एक दाना ले जाकर अपने बिलों में मनों अनाज जमा कर लेती है। एक-एक अक्षर पढ़ने से थोड़े दिनों में विद्वान बना जा सकता है। एक-एक कदम चलने से लम्बी मंजिल पार हो सकती है, एक-एक पैसा जोड़ने से खजाने जमा हो जाते हैं, एक-एक तिनका मिलने से मजबूत रस्सी बन जाती है। जप में भी वही होता है। माला का एक-एक दाना फेरने से बहुत जमा हो जाता है। इसलिए योग ग्रन्थों में जप को, यज्ञ बताया गया है। उसकी बड़ी महिमा गाई है और आत्म-मार्ग पर चलने की इच्छा करने वाले पथिक के लिए जप करने का कर्तव्य आवश्यक रूप से निर्धारित किया गया है।

गीता के अध्याय १० श्लोक २५ में कहा गया है कि 'यज्ञों में जप-यज्ञ श्रेष्ठ हैं।' मनुस्मृति में, अध्याय २ श्लोक ८६ में बताया गया कि होम, बलिकर्म, श्राद्ध, अतिथि-सेवा, पाकयज्ञ, विधियज्ञ, दर्शपौर्ण-मासादि यज्ञ, सब मिलकर भी जप-यज्ञ के सोलहवें भाग के बराबर नहीं होते। महर्षि भारद्वाज ने गायत्री व्याख्या में कहा है कि "समस्त यज्ञों में जप-यज्ञ अधिक श्रेष्ठ है। अन्य यज्ञों में हिंसा होती है, पर जप-यज्ञ में नहीं होती। जितने कर्म, यज्ञ, दान तप हैं, सब जप-यज्ञ की सोलहवीं कला के समान भी नहीं होते। समस्त पुण्य साधना में जप-यज्ञ सर्वश्रेष्ठ हैं।" इस प्रकार की अगणित प्रमाण शास्त्रों में उपलब्ध है। उन शास्त्र वचनों में, जप-यज्ञ की

उपयोगिता एवं महत्ता को बहुत जोर देकर प्रतिपादन किया गया है। कारण यह है कि जप, मन को वश में करने का रामवाण अस्त्र है और यह सर्वविदित तथ्य है कि मन को वश में करना इतनी बड़ी सफलता है कि उसकी प्राप्ति होने पर जीवन को धन्य माना जा सकता है। समस्त आत्मिक और भौतिक सम्पदायें, संयत मन से ही तो उपलब्ध की जाती हैं।

जप-यज्ञ के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक जानकारियाँ नीचे दी जाती हैं-

१- जप के लिए प्रात:काल एवं ब्रह्म-मुहूर्त सर्वोत्तम काल है। दो घण्टे रात में रहने से सूर्योदय तक ब्रह्म-मुहूर्त कहलाता है। सूर्योदय से दो घण्टे दिन चढ़े तक प्रात:काल होता है। प्रात:काल से भी ब्रह्म-मुहूर्त अधिक श्रेष्ठ है।

२- जप के लिए पवित्र, एकान्त स्थान चुनना चाहिए। मन्दिर तीर्थ, बगीचा, जलाशय आदि एकान्त के शुद्ध स्थान जप के लिए अधिक उपयुक्त हैं। घर में यह करना हो, तो भी ऐसी जगह चुननी चाहिए, जहाँ अधिक खटपट न हो।

३- सन्ध्या को जप करना हो, तो सूर्य अस्त से एक घण्टा उपरान्त तक जप समाप्त कर लेना चाहिए। प्रात:काल के दो घण्टे और सायंकाल का एक घण्टा इन तीनों घण्टों को छोड़कर रात्रि के अन्य भागों में गायत्री मन्त्र नहीं जपा जाता है।

४- जप के लिए शुद्ध शरीर और शुद्ध वस्त्रों से बैठना चाहिये। साधारणत: स्नान द्वारा ही शरीर की शुद्धि होती है पर किसी विवशता, ऋतु प्रतिकूलता या अस्वस्थता की दशा में हाथ मुँह धोकर या गीले कपड़ों से शरीर पोंछकर भी काम चलाया जा सकता है, नित्य धुले वस्त्रों की व्यवस्था न हो सके तो रेशमी या ऊनी वस्त्रों से काम लेना चाहिए।

५-जप के लिए बिना बिछाये न बैठना चाहिये। कुश का आसन, चटाई आदि घास के बने आसन अधिक उपयुक्त हैं। पशुओं के चमड़े, मृगछाला आदि आजकल उनकी हिंसा से प्राप्त होते हैं, इसलिए वे निषिद्ध हैं।

६- पद्मासन में पालती मारकर मेरुदण्ड को सीधा रखते हुए जप के लिए बैठना चाहिए। मुँह प्रात: पूर्व की ओर सायंकाल पश्चिम की ओर रहे।

७- माला तुलसी या चन्दन की लेनी चाहिए। कम-से-कम एक माला नित्य जपनी चाहिये। माला पर जहाँ बहुत आदमियों की दृष्टि पड़ती हो वहाँ हाथ कपड़े से या गौ मुखी से ढक लेना चाहिए।

८- माला जपते समय सुमेरु (माला के प्रारम्भ का सबसे बड़ा केन्द्रीय दाना) का उल्लंघन न करना चाहिए। एक माला पूरी करके उसे मस्तिष्क तथा नेत्रों से लगाकर पीछे की तरफ उल्टा ही वापिस कर लेना चाहिये। इस प्रकार माला पूरी होने पर हर बार उलट कर ही नया आरम्भ करना चाहिए।

९- लम्बे सफर में, स्वयं रोगी हो जाने पर, किसी रोगी की सेवा में संलग्न होने पर, जन्म-मृत्यु का सूतक लग जाने पर स्नान आदि पवित्रताओं की सुविधा नहीं रहती है। ऐसी दशा में मानसिक जप चालू रखना चाहिये। मानसिक जप बिस्तर पर पड़े-पड़े, रास्ता या किसी भी पवित्र, अपवित्र दशा में किया जा सकता है।

१०- जप नियत समय पर, नियत संख्या में, नियत स्थान पर, शान्त चित्त एवं एकाग्र मन से करना चाहिये। पास में जलाशय या जल से भरा पात्र होना चाहिये। आचमन के पश्चात् जप आरम्भ करना चाहिए। किसी दिन अनिवार्य कारण से जप स्थगित करना पड़े तो दूसरे दिन प्रायश्चित स्वरूप एक माला अधिक जपनी चाहिए।

११- जप इस प्रकार करना चाहिए कि कण्ठ से ध्वनि होती रहे, होठ हिलते रहें परन्तु समीप बैठा हुआ मनुष्य भी स्पष्ट रूप से मन्त्र को न सुन सके। मल-मूत्र त्याग या किसी अनिवार्य कार्य के लिये साधना के बीच में ही उठना पड़े तो शुद्ध जल से साफ होकर तब दुबारा बैठना चाहिये। जपकाल में यथासम्भव मौन रहना उचित है। कोई बात कहना आवश्यक हो तो इशारे से कह देनी चाहिये।

१२- जप के समय मस्तिष्क के मध्य भाग में इष्टदेव को, प्रकाश ज्योति का ध्यान करते रहना चाहिए। साधक का आहार तथा व्यवहार सात्विक होना चाहिये। शारीरिक एवं मानसिक दोषों से बचने का यथासम्भव पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

१३- जप के लिये गायत्री मन्त्र सर्वश्रेष्ठ है। गुरु द्वारा ग्रहण किया हुआ मन्त्र ही सफल होता है। स्वेच्छापूर्वक मनचाही विधि से मनचाहा मन्त्र जपने से विशेष लाभ नहीं होता। इसलिए अपनी स्थिति के अनुकूल आवश्यक विधान, किसी अनुभवी पथ प्रदर्शक से मालूम कर लेना चाहिये।

उपर्युक्त नियमों के आधार पर किया हुआ गायत्री जप मन को वश में करने एवं मनोमय कोश को सुविकसित करने में बड़ा महत्वपूर्ण सिद्ध होता है।

पंच तन्मात्राओं की साधनाएँ तथा सिद्धियाँ

यह बात प्रकट है कि हमारा शरीर एवं समस्त संचारतन्त्र पंचतत्वों का बना हुआ है। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश इन पाँच तत्वों की मात्रा में अन्तर होने के कारण विविध आकार प्रकार और गुणधर्म की वस्तुएँ बन जाती हैं।

इन पाँच तत्वों की जो सूक्ष्म शक्तियाँ हैं, इनकी इन्द्रियजन्य अनुभूति को 'तन्मात्रा' कहते हैं। शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। यह पाँच तत्वों से बने हुए पदार्थों के संसर्ग में आने पर जैसा अनुभव करती हैं, उस अनुभव को 'तन्मात्रा' नाम से पुकारते हैं। शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये पाँच तन्मात्राएँ हैं।

पंच तन्मात्राओं का पंच ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्ध

आकाश की तंन्मात्रा 'शब्द' है। वह कान द्वारा हमें अनुभव होता है। कान भी आकाश तत्व की प्रधानता वाली इन्द्रिय हैं।

अग्नि तत्व की तन्मात्रा 'रूप' है। यह अग्नि-प्रधान इन्द्रिय नेत्र द्वारा अनुभव किया जाता है। रूप को आँखों ही देखती हैं। जल तत्व की तन्मात्रा 'रस' है। रस का जल-प्रधान इन्द्रिय जिह्वा द्वारा अनुभव होता है, षट्रसों का खट्टे, मीठे, खारी, तीखे, कडुवे, कसैले का स्वाद जीभ पहचानती है। पृथ्वी तत्व की तमन्मात्रा 'गन्ध' को पृथ्वी गुण प्रधान नासिका इन्द्रिय मालूम करती है। इसी प्रकार वायु की तन्मात्रा 'स्पर्श' का ज्ञान त्वचा को होता है। त्वचा में फैले हुए ज्ञान तन्तु दूसरी वस्तुओं का ताप, भार, घनत्व एवं उसके स्पर्श की प्रतिक्रिया का अनुभव कराते हैं।

इन्द्रियों में तन्मात्राओं का अनुभव कराने की शक्ति न हो तो संसार का और शरीर का सम्बन्ध ही टूट जाय। जीव को संसार में जीवन-यापन की सुविधा भले ही हो पर किसी प्रकार का आनन्द शेष न रहेगा। संसार के विविध पदार्थों में जो हमें मनमोहक आकर्षण प्रतीत होते हैं उनका एकमात्र कारण 'तन्मात्र' शक्ति है। कल्पना कीजिये कि हम संसार के किसी पदार्थ के रूप में को न देख सकें तो सर्वत्र मौन एवं नीरवता ही रहेगी। स्वाद न चख सकें तो खाने में कोई अन्तर न रहेगा। गंध का अनुभव न हो तो हानिकारक सड़ाँध और उपयोगी उपवन में क्या फर्क किया जा सकेगा। त्वचा की शक्ति न हो तो सर्दी, गर्मी, स्नान, वायु-सेवन, कोमल शैय्या के सेवन आदि से कोई प्रयोजन न रह जायेगा।

परमात्मा ने पंच तत्वों में तन्मात्रायें उत्पन्न कर और उनके अनुभव के लिये शरीर में ज्ञानेन्द्रियाँ बनाकर, शरीर और संसार को आपस में घनिष्ठ आकर्षण के साथ सम्बद्ध कर दिया है। यदि पंचतत्व केवल स्थूल ही होते, उनमें तन्मात्रायें न होतीं तो इन्द्रियों को संसार के किसी पदार्थ में कुछ आनन्द न आता। सब कुछ नीरस निरर्थक और बेकार-सा दीख पड़ता। यदि तत्वों में तन्मात्रायें होती पर शरीर में ज्ञानेन्द्रियाँ न होतीं तो जैसे वायु में फिरते रहने वाले कीटाणु केवल जीवन धारण ही करते हैं उन्हें संसार में किसी प्रकार की रसानुभूति नहीं होती, इसी प्रकार मानव-जीवन भी नीरस हो जाता है। इन्द्रियों की सम्वेदना-शक्ति और तत्वों की तन्मात्रायें मिलकर प्राणी को ऐसे अनेक शारीरिक और मानसिक रस अनुभव कराती हैं जिनके लोभ से वह जीवन धारण किये रहता है। इस संसार को छोड़ना नहीं चाहता। उसकी यह चाहना ही जन्म-मरण के चक्र में भव-बन्धन में बँधे रहने के लिए बाध्य करती है।

आत्मा की ओर न मुड़कर, आत्म-कल्याण में प्रवृत्त न होकर सांसारिक वस्तुओं को संग्रह करने की, उनका स्वामी बनने की, उनके सम्पर्क की रसानुभूति को चखते रहने की लालसा में मनुष्य डूबा रहता है। रंग-बिरंगे खिलौने से खेलने में जैसे बच्चे बेतरह तन्मय हो जाते हैं और खाना-पीना सभी भूलकर खेल में लगे रहते हैं, उसी प्रकार तन्मात्राओं के खिलौने मन में ऐसे बस जाते हैं, इतने सुहावने लगते हैं कि उनसे खेलना छोड़ने की इच्छा नहीं होती, कई दृष्टियों से कष्टकर जीवन व्यतीत करते हुए भी लोग मरने को तैयार नहीं होते, मृत्यु का नाम सुनते ही काँपते हैं, इसका एकमात्र कारण यही है कि सांसारिक पदार्थों की तन्मात्राओं में जो मोहक आकर्षण हैं, वह कष्ट और अभाव की तुलना में मोहक और सरल है। कष्ट सहते हुए भी प्राणी उन्हें छोड़ने को तैयार नहीं होता।

पाँच इन्द्रियों के खूँटे से, पाँच तन्मात्राओं के रस्सों से जीव बँधा हुआ है। यह रस्से बड़े ही आकर्षक हैं, इन रस्सों में चमकीला रंगीन रेशम और सुनहरी कलावत्तू लगा हुआ है। खूँटे चाँदी सोने के बने हुए हैं, उनमें हीरे जवाहरात जगमगा रहे हैं। जीवरूपी घोड़ा इन रस्सों से बँधा है। वह बन्धन के दुःख को भूल जाता है और रस्सों तथा खूँटों की सुन्दरता को देखकर छुटकारे की इच्छा तक करना छोड़ देता है। उसे वह बन्धन भी अच्छा लगता है। दिन भर गाड़ी में जुतने और चाबुक खाने के कष्टों को भी इन चमकीले रस्सों और खूँटों की तुलना में कुछ नहीं समझता। इसी बुद्धि की अदूरदर्शिता की, वास्तविकता न समझने को शास्त्रों में अविद्या माया, भ्रान्ति आदि नियमों को पुकारा गया है और इस भूल से बचने के लिए अनेक प्रकार की धार्मिक कथा, गाथाओं, उपासनाओं एवं साधनाओं का विधान किया गया है।

इन्द्रिय तथा तन्मात्राओं के मिश्रण से खुजली उत्पन्न होती है, उसे खुजाने के लिए मनुष्य के विविध विचार और कार्य होते हैं, वह दिन रात इसी खाज को खुजाने के लिए गोरखधन्धे में लगा रहता है, मन को वश में करने एवं एकाग्र करने में बड़ी बाधा यह खुजली है जो दूसरी और चित्त को जाने ही नहीं देती। खुजाने में जो मजा आता है, उसकी तुलना में और सब बातें हल्की मालूम होती हैं। इसलिए एकाग्रता की साधना पर से मन अक्सर उचट जाता है

तन्मात्राओं की रसानुभूति घोड़े की रस्सी अथवा खुजली के समान है। यह बहुत ही हल्की, छोटी और महत्वहीन वस्तु है। यह भावना अन्त:भूति में जमाने के लिए, मनोमय कोश की सुव्यवस्था के लिए तन्मात्राओं की साधना के अभ्यास बताये गये हैं। इन साधनाओं से अन्तःकरण यह अनुभव कर लेता है कि "तन्मात्रायें अनात्म वस्तु हैं।" यह जड़ पंच-तत्वों की सूक्ष्म प्रक्रिया मात्र है। यह मनोमय कोश में खुजली की तरह चिपट जाती है और एक निरर्थक से झमेले गोरखधन्धे में हमें फँसा कर लक्ष्य प्राप्ति से वंचित कर देती है। इसलिए इनकी वास्तविकता, व्यर्थता एवं तुच्छता को भली प्रकार समझ लेना चाहिए।

आगे चलकर पाँचों तन्मात्राओं की छोटी-छोटी सरल साधनायें बताई जायेंगी, जिनकी साधना करने से बुद्धि यह अनुभव कर लेती है कि शब्द रूप रस, गंध, स्पर्श का जीवन को चलाने में केवल उतना ही उपयोग है, जितना मशीन के पुर्जों में तेल का। इनमें आसक्त होने की आवश्यक नहीं है।

दूसरी बात यह भी है कि मन स्वयं एक इन्द्रिय है। उसका लगाव सदा तन्मात्राओं की ओर रहता है। मन का विषय ही रसानुभूति है। साधनात्मक रसानुभूति में उसे लगा दिया जाय तो वह अपने विषय में भी लगता है और जो सूक्ष्म परिश्रम करना पड़ता है उसके कारण अति सूक्ष्म मनःशक्तियों का जागरण होने से अनेक प्रकार के मानसिक लाभ भी होते हैं। पंच तन्मात्राओं की साधनायें इस प्रकार हैं-

शब्द साधना

एकान्त स्थान में जाइये जहाँ किसी प्रकार शब्द या कोलाहल न होते हों। बाहर के शब्द भी न सुनाई पड़ते हों। रात्रि को जब चारों ओर शांति हो जाती हो तब इस साधना के लिए बड़ा अच्छा अवसर मिलता है। दिन में करना हो तो कमरे के किवाड़ बन्द कर लेना चाहिए, ताकि बाहर से शब्द भीतर न आवें।

१- शांत चित्त से पद्मासन लगाकर बैठिये। नेत्र बन्द कर लीजिए। एक छोटी घड़ी कान के पास ले जाइये और उसक टिक-टिक की ध्यानपूर्वक सुनिये। अब धीरे-धीरे घड़ी को कान से दूर हटाते जाइये और ध्यान देकर उसकी टिक-टिक को सुनने का प्रयत्न कीजिए। घड़ी और कान की दूरी को बढ़ाते जाइये। धीरे-धीरे अभ्यास से घड़ी बहुत दूर रखी होने पर भी टिक-टिक कान में आती रहेगी। बीच में जब ध्वनि प्रभाव शिथिल हो जाय, तो घड़ी को कान के पास लगाकर कुछ देर तक उस ध्वनि को अच्छी तरह सुन लेना चाहिए और फिर दूर हटा कर सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय से उस शब्द प्रवाह को सुनने का प्रयत्न करना चाहिए।

२- घड़ियाल में एक चोट मारकर, उसकी आवाज को बहुत देर तक सुनते रहना और फिर बहुत देर तक उसे सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय से सुनने का प्रयत्न करना। जब पूर्व ध्यान शिथिल हो जाय तो फिर घड़ियाल में हथौड़ी मारकर, फिर उस ध्यान को ताजा कर लेना, इसी साधना का 'मुष्टि योग' नाम से योग ग्रन्थों में वर्णन है।

किसी झरने के निकट या नहर की झील के निकट जाइये जहाँ प्रपात का शब्द हो रहा हो। शान्त चित्त से इस शब्द-प्रवाह को कुछ देर सुनते रहिए। फिर कानों को उँगली डालकर बन्द कर लीजिए और सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय

द्वारा उस ध्वनि को सुनिये। बीच में जब शब्द शिथिल हो जाय तो उँगली ढीली करके उसे सुनिये और कान बन्द करके फिर उसी प्रकार ध्यान द्वारा ध्वनि ग्रहण कीजिए।

इन शब्द साधनाओं में लगे रहने से मन एकाग्र होता है। साथ ही सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय जाग्रत होती है, जिनके कारण दूर बैठकर बात करने वाले लोगों के शब्द सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय में आ जाते हैं। सुदूर हो रही गुप्त वार्ताओं का अभ्यास हो जाता है। देश-विदेश में हो रहे नृत्य, गीत, वाद्य आदि की ध्वनि तरगें कानों में आकर चित्त को उल्लास-आनन्द से भर देती हैं। आगे चलकर यही साधना 'कर्ण पिशाचिनी' सिद्धि के रूप में प्रकट होती है। कहाँ क्या हो रहा है, किसके मन में क्या विचार उठ रहा है, किसकी वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति और परा वाणियाँ क्या-क्या कर रही हैं, भविष्य में क्या होने वाला है ? आदि बातों को कोई शक्ति सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय में आकर इस प्रकार कह जाती है मानो कोई अदृश्य प्राणी कान पर मुँह रखकर सारी बात कह रहा है। इस सफलता को 'कर्ण पिशाचिनी सिद्धि' कहते हैं।

रूप साधना

१- वेदमाता गायत्री का या सरस्वती, दुर्गा, लक्ष्मी, राम, कृष्ण, आदि इष्टदेव का जो सबसे सुन्दर चित्र या प्रतिमा मिले, उसे लीजिए। एकान्त स्थान में ऐसी जगह बैठिये जहाँ पर्याप्त प्रकाश हो, इस चित्र या प्रतिमा के अंग-प्रत्यंगों को मनोयोगपूर्वक देखिये, इसके सौन्दर्य एवं विशेषताओं को खूब बारीकी के साथ देखिये, एक मिनट इस प्रकार देखने के बाद नेत्रों को बन्द कर लीजिये, अब उस चित्र के रूप का ध्यान कीजिए और जो बारीकियाँ, विशेषताएँ अथवा सुन्दरताएँ चित्र में देखीं थीं उन सबको कल्पनाशक्ति द्वारा ध्यान के चित्र में आरोपित कीजिए। फिर नेत्र खोल लीजिए और उस छवि को देखिए ध्यान के साथ-साथ ॐ मन्त्र जपते रहिए। इस प्रकार बार-बार करने से वह रूप मन में बस जायेगा। उसका दिव्य नेत्रों से दर्शन करते हुए बड़ा आनन्द आवेगा। धीरे-धीरे इस चित्र की मुखाकृति बदलती मालूम देगी, हँसती मुस्कराती, नाराज होती, उपेक्षा करती हुई भावभंगी दिखाई देगी। यह प्रतिमा स्वप्न में अथवा जागृति अवस्था में, नेत्रों के सामने आवेगी और कभी ऐसा अवसर आ सकता है, जिसे प्रत्यक्ष साक्षात्कार कहा जा सके आरम्भ में यह साक्षात्कार धुंधला होता है। फिर धीरे-धीरे ध्यान सिद्ध होने से वह छवि अधिक स्पष्ट होने लगती है। पहले दिव्य दर्शन ध्यान क्षेत्र में ही रहता है, फिर प्रत्यक्ष परिलक्षित होने लगता है।

२- किसी मनुष्य के रूप का ध्यान, जिन भावनाओं के साथ, प्रबल मनोयोगपूर्वक किया जायेगा, उन भावनाओं के अनुरूप उस व्यक्ति पर प्रभाव पड़ेगा। किसी के विचारों को बदलने, द्वेष मिटाने मधुर सम्बन्ध उत्पन्न करने, बुरी आदतें छुड़ाने, आशीर्वाद या शाप से लाभ हानि पहुँचाने आदि के प्रयोग इस साधना के आधार पर होते हैं। तान्त्रिक लोग विशेष कर्मकाण्डों एवं मन्त्रों द्वारा किसी मनुष्य का रूप आकर्षण करके उसे रोगी, पागल एवं वशवर्ती करते देखे गये हैं।

३- छाया पुरुष की सिद्धि भी रूप-साधना का एक अंग है। शुद्ध शरीर और शुद्ध वस्त्रों से बिना भोजन किये मनुष्य की लम्बाई के दर्पण के सामने खड़े होकर अपनी आकृति ध्यानपूर्वक देखिये थोड़ी देर बाद नेत्र बन्द कर लीजिए और उस दर्पण की आकृति का ध्यान कीजिए अपनी छवि आपको दृष्टिगोचर होने लगेगी। कई व्यक्ति दर्पण की अपेक्षा स्वच्छ पानी में, तिली के तेल या पिघले हुए घृत में अपनी छवि को देखकर उसका ध्यान करते हैं। दर्पण की साधना-शांन्तिदायक तेल की संहारक और घृत की उत्पादक होती है। सूर्य और चन्द्रमा जब मध्य आकाश में ऐसे स्थान पर हों कि उनके प्रकाश में खड़े होने पर अपनी छाया ३.५ हाथ रहे उस समय अपनी छाया पर भी उस प्रकार साधन कल्याणकारक माना गया है।

दर्पण, जल, तेल, घृत आदि में मुखाकृति स्पष्ट दीखती है और नेत्र बन्द करके वैसा ही ध्यान हो जाता है। सूर्य-चन्द्र की ओर पीठ करके खड़े होने से अपनी छाया सामने आती है। उसे खुले नेत्रों से भली प्रकार देखने के उपरान्त आँखें बन्द करके उसकी छाया का ध्यान करते हैं। कुछ दिनों के नियमित अभ्यास से उस छाया में अपनी आकृति भी दिखाई देने लगती है।

कुछ काल निरन्तर इस छाया-साधना को करते रहा जाय तो अपनी आकृति की एक अलग सत्ता बन जाती है और उसमें अपने संकल्प एवं प्राण का सम्मिश्रण होते जाने से वह एक स्वतंत्र चेतना का प्राणी बन जाता है। उसके अस्तित्व को 'अपना जीवित भूत' कह सकते हैं। आरम्भिक अवस्था में यह आकाश में उड़ता या अपने आस-पास फिरता दिखाई देता है। फिर उस पर जब

अपना नियंत्रण हो जाता है तो आज्ञानुसार प्रकट होता तथा आचरण करता है। जिनका प्राण निर्बल है उनका यह मानस-पुत्र, (छाया पुरुष) भी निर्बल होगा और अपना रूप दिखाने के अतिरिक्त और कुछ विशेष कार्य न कर सकेगा। पर जिनका प्राण प्रबल होता है उनका छाया पुरुष, दूसरे अदृश्य शरीर की भाँति कार्य करता है। एक स्थूल और दूसरी सूक्ष्म देह दो प्रकट देहें पाकर साधक बहुत से महत्वपूर्ण लाभ प्राप्त कर लेता है। साथ ही रूप-साधना द्वारा मन का वश में होना तथा एकाग्र होना तो प्रत्यक्ष लाभ ही हैं।

छाया पुरुष-हमारा समर्थ सूक्ष्म शरीर

मरणोत्तर जीवन के उपरान्त कितनी ही आत्माएँ प्रेत या पितर के रूप में अपने, अस्तित्व का परिचय देती रहती हैं। पर अन्वेषकों ने ऐसा भी पाया है कि जीवित व्यक्ति भी अपने "ईथरीक प्रबल" का परिचय प्राप्त करते हैं। इसे पुरातन ग्रन्थों में छाया पुरुष कहा गया है। दर्पण की सहायता से अपनी काया को एक अन्य काया के रूप में अनुभव करने से कुछ समय उपरान्त यह छाया पुरुष न केवल पृथक में दृष्टिगोचर होने लगता है, वरन् कई बार एक सहायक की तरह हाथ बटाने सहयोग देने में उसकी सत्ता काम करती हुई दिखाई पड़ती है।

यह छाया पुरुष अपना ही सूक्ष्म शरीर है जो जीवन काल में आमतौर से काया के साथ गुँथा रहता है और उसका परिचय यदा-कदा ही मिलता है। कई बार ऐसे स्वप्न आते हैं कि हम कहीं गये हैं या कोई हमारे पास आया है। उनमें जो वार्तालाप हुआ है वह सर्वथा सार्थक था। बताई या देखी हुई घटनाएँ सर्वथा सही निकलीं।

मृतात्माओं से सम्बन्ध बनाना, उनसे वार्त्तालाप करना या सहयोग लेना पूर्णतया अपने हाथ में होता। इसमें उन आत्माओं का सहयोग भी चाहिए। वे अन्यत्र जन्म ले चुकी हों या सहयोग न करना चाहें तो वे प्रयोग सफल नहीं होते। पर अपने ही छाया पुरुष को साधने का अभ्यास किया जाय तो उनकी सत्ता का परिचय तो मिलने ही लगता है। वह क्या सहयोग कर सकता है, यह इस बात पर निर्भर रहता है कि उसके पीछे आत्मबल का कितना अनुपात है।

ऐसी घटनाएँ तो पूर्वकाल में भी घटित होती थीं पर उन्हें मति विभ्रम (इल्युजन) या दिवा स्वप्न कह कर टाल दिया जाता था। पर अब चूँकि इस विषय पर व्यापक खोज-बीन होने लगी है और परा मनोविज्ञानियों ने ऐसे घटनाक्रम का संकलन और पर्यवेक्षण करना आरम्भ किया है तो प्रतीत हुआ कि यह भी अन्तराल की एक विशेष क्षमता है। कितने ही व्यक्ति अदृश्य दर्शन, भविष्य कथन आदि की क्षमताएँ विशेष प्रयत्नपूर्वक अर्जित करते है पर कितने ही ऐसे भी होते हैं जिनमें ऐसी अद्भुत क्षमताएँ अनायास ही उभर आती हैं। भारतीय मान्यताओं के आधार पर यह किसी पुरातन अभ्यास का प्रतिफल होना चाहिए। जो पुनर्जन्म पर विश्वास नहीं करते, वे भी मनुष्य को अति मानवी-अतीन्द्रिय क्षमताओं को अनेक प्रमाणों के आधार पर मान्यता देते हैं। उनका विचार है कि कुछ व्यक्तियों में ऐसा उभार अनायास भी हो सकता है। भले ही उसका कारण कुछ भी क्यों न हो ?

योग साधना में अन्य देवी-देवताओं या आत्माओं को सिद्ध करने की अपेक्षा अपने ही छाया पुरुष को सिद्ध कर लेना अधिक सरल है। भले ही उसकी सामर्थ्य प्रत्यक्ष शरीर के अनुरूप प्रकृति की सीमा में या स्वल्प ही क्यों न हो।

जर्मनी के महान् विद्वान जॉन गेटे ने अपने व्यक्तिगत अनुभव का उल्लेख किया है कि वह अपने मित्र फ्रेडरिक से मिलने गया। भावनापूर्ण विदाई के उपरान्त वह वापस लौटा तो उसे बादल में ही वैसे ही घोड़े पर सवार अपनी ही छाया चलती दीखी। उसकी पोशाक दूसरे प्रकार की थी। कुछ वर्ष बाद यह उस मित्र से फिर मिलने गया तो उसे ठीक वैसी ही पोशाक पहनने का अनायास सुयोग बन गया जैसा कि उसने पूर्व आगमन के समय अपने छाया पुरुष को पहने देखा था।

परामनोविज्ञानियों ने और भी कितनी ही घटनाएँ इस सन्दर्भ में नोट की हैं। इनमें एक प० जर्मनी की कुमारी फ्रेलिक की है जो अपने सूक्ष्म शरीर को आसमान में उड़ते देखती थी और कहाँ क्या हो रहा है यह देखती थी। साथ ही स्थूल शरीर को वे पीछे सड़क पर चलते हुए भी देखती थीं। उड़ते हुए उनने जहाँ जो देखा था, पीछे पता लगाने पर वह दृश्य सही पाया गया।

ब्रिटेन की परामनोविज्ञान क्षेत्र की शोधकर्त्री श्रीमती रोजा ने इस विषय पर जो घटनाएँ घटित होते पाईं उनका वर्णन अपनी पुस्तक "ई० एस० पी०, ए० पर्सनल मैनुएल" में विस्तारपूर्वक लिखा है। उनका कथन है कि इसमें कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है। सही

एवं गलत कामों में से एक का चुनाव करते समय जो अन्तर्द्वन्द्व काम करता है उसमें हमारे दो व्यक्तियों का परिचय मिलता है। इसी प्रकार सही सिद्ध होने वाले स्वप्नों में भी प्राय: अपने ही सूक्ष्म शरीर की क्षमता काम करती है।

इस पतन की गवाहियों में श्रीमती हेवुड का सुविस्तृत वर्णन है जिससे उनका छाया पुरुष उनके देखते-देखते अनेक इच्छित काम कर दिया करता था।

इसी सन्दर्भ में एक पुस्तक लिखी है- एडमण्ड गर्नी ने जिसका नाम है "फैन्टेमप्र आफ दि लिविंग" इनमें उनने ऐसे घटनाक्रमों का उल्लेख किया है कि एक ही व्यक्ति एक समय में दो जगह दो प्रकार के काम करता हुआ देखा गया।

नार्वे में ऐसे अनेक जन श्रुतियों प्रचलित हैं जिनमें छाया पुरुषों के कारण सम्पन्न हुए क्रिया-कलापों का मनोरंजक वर्णन है। वहाँ इन्हें पूर्णसत्य न सही अर्द्ध सत्य तो माना ही जाता है इसी प्रकार योरोप के कई देशों में ऐसी गाथाओं की पुष्टि कई प्रामाणिक व्यक्ति भी करते देखे गये हैं जो मरणोत्तर जीवन में न सही जीवन काल में मनुष्य के दुहरे व्यक्तित्व की साक्षी देते हैं।

इंगलैण्ड के पादरी चार्ल्स इवीडल ने अपनी पुस्तक "मेन्स सर्वाइवल आफ्टर डेथ" में जहाँ मरणोत्तर जीवन के उपरान्त चेतना का अस्तित्व बना रहने सम्बन्धी प्रमाणों का उल्लेख किया है। वहाँ उनमें सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म शरीर की विवेचना भी की है। वे कहते हैं जीवित रहने वाले लोग सूक्ष्म शरीर पर ध्यान नहीं देते अन्यथा उसे भी एक अभिन्न मित्र की तरह विकसित किया और काम में लाया जा सकता है। इस सन्दर्भ में उनने अपनी जानकारी की अनेकों घटनाओं का विवरण भी दिया है जिससे सिद्ध होता है कि जीवन काल में भी सूक्ष्म शरीर की सत्ता बराबर काम करती रहती है। यह मनुष्यों के प्रयत्नों पर निर्भर है कि उसे प्रसुप्त स्थिति में पड़ा रहने दे या प्रयत्नपूर्वक विकसित करके अपने लिए एक अतिरिक्त सहायक उत्पन्न करने का लाभ उठायें।

विश्वविख्यात लेखक मोपासा को तो जीवन के अन्तिम दिनों छाया पुरुष के साथ इतना अधिक तन्मय देखा गया कि वे स्थूल शरीर का मोह त्यागकर सूक्ष्म चेतना और सूक्ष्म जगत को ही अपना कार्य क्षेत्र बनाने का निश्चय कर चुके थे और इसके उपरान्त वे कम दिन ही जीवित रहे।

भारतीय योग विद्या के अन्तर्गत अनेक ऋद्धि-सिद्धियों का वर्णन आता है। उनमें से जो विशुद्ध भावात्मक हैं उन्हें छोड़कर जो अलौकिकताएँ उपलब्ध होती हैं उनका निमित्त कारण सुविकसित सूक्ष्म शरीर ही है। उसी के माध्यम से अमिमा, लघिमा, महिमा, परकाया प्रवेश, आदि की शक्तियों को प्राप्त कर सकना सम्भव होता है। जिन्हें अतीन्द्रिय क्षमता कहा जाता है और अचेतन मन की विशिष्टता बताया जाता है वह भी प्रकारान्तर से ऐसे सूक्ष्म शरीर के क्रिया-कलापो ही हैं, जो एक ही सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत दो व्यक्तित्व रह सकने की बात को प्रामाणिक करते थे। छाया पुरुष साधना इसी योग परिकर का एक छोटा प्रयोग है जिसे कोई चाहे तो सरलतापूर्वक विकसित कर सकता है और उसके सहज उपलब्ध सहयोग का लाभ उठा सकता है।

रस साधना

जो फल आपको सबसे स्वादिष्ट लगता हो उसे इस साधना के लिए लीजिए। जैसे आपको कलमी आम अधिक रुचिकर है, तो उसके छोटे-छोटे पाँच टुकड़े कीजिए। एक टुकड़ा जिह्वा के अग्रभाग पर एक मिनट तक रखा रहने दें और उसके स्वाद का स्मरण इस प्रकार करें कि बिना आम के भी आम का स्वाद जिह्वा को होता रहे। दो मिनट में वह अनुभव शिथिल होने लगेगा, फिर दूसरा टुकड़ा जीभ पर रखिये और पूर्ववत् उसे फेंक कर आम के स्वाद का अनुभव कीजिए। इस प्रकार पाँच बार करने में पन्द्रह मिनट लगते हैं।

धीरे-धीरे जिह्वा पर कोई वस्तु रखने का समय कम करना चाहिए और बिना किसी वस्तु के रस के अनुभव करने का समय बढ़ाना चाहिए। कुछ समय पश्चात् बिना किसी वस्तु को जीभ पर रखे भी केवल भावना मात्र से इच्छित वस्तु का पर्याप्त समय तक रसास्वादन किया जा सकता।

शरीर के लिए जिन रसों की आवश्यकता है, वे पर्याप्त मात्रा में आकाश में भ्रमण करते रहते हैं। संसार में जितने पदार्थ हैं उनका कुछ अंश वायु रूप में, कुछ तरल रूप में और कुछ ठोस आकृति में रहता है। अन्न को हम ठोस आकृति में ही देखते हैं। भूमि में, जल में वह परमाणु रूप से रहता है और आकाश में अन्न का वायु अंश उड़ता रहता है। साधना की सिद्धि हो जाने पर आकाश में उड़ते फिरने वाले अन्नों को मनोबल द्वारा, संकल्प-शक्ति के

आकर्षण द्वारा खींचकर उदरस्थ किया जा सकता है। प्राचीनकाल में ऋषि लोग दीर्घकाल तक बिना अन्न जल के तपस्यायें करते थे। वे इस सिद्धि द्वारा आकश में से ही अभीष्ट आहार प्राप्त कर लेते थे, इसलिए बिना अन्न जल के भी उनका काम चलता था। इस साधना का साधक बहुमूल्य पौष्टिक पदार्थ, औषधियों एवं स्वादिष्ट रसों का उपभोग अपने साधन बल द्वारा ही कर सकता है तथा दूसरों के लिए वह वस्तुयें आकाश में उत्पन्न करके इस तरह दे सकता है, मानो किसी के द्वारा कहीं से मँगाकर दी हों।

गन्ध साधना

नासिक के अग्र भाग पर त्राटक रचना इस साधना में आवश्यक है। दोनों नेत्रों से एक साथ नासिका के अग्र भाग पर त्राटक नहीं हो सकता इसलिए एक मिनट दाहिनी ओर तथा एक मिनट बाई ओर करना उचित है। दाहिने नेत्र को प्रधानता देकर उससे नाक के दाहिने हिस्से को और फिर बाएँ नेत्र को प्रधानता देकर बाएँ हिस्से को गम्भीर दृष्टि से देखना चाहिए। आरम्भ में एक-एक मिनट से करके अन्त में पाँच-पाँच मिनट तक बढ़ाया जा सकता है। इस त्राटक में नासिका की सूक्ष्म शक्तियाँ जाग्रत होती हैं।

इस त्राटक के बाद कोई सुगन्धित तथा सुन्दर पुष्प लीजिए। उसे नासिका के समीप ले जाकर कर एक मिनट तक धीरे-धीरे सूँघिये और उसी गन्ध का भली प्रकार स्मरण कीजिए। इसके बाद फूल को फेंक दीजिए और बिना फूल के ही उस गन्ध का दो मिनट तक स्मरण कीजिए इसके बाद दूसरा फूल लेकर फिर इसी क्रम की पुनरावृत्ति कीजिए। पाँच फूलों पर पन्द्रह मिनट प्रयोग करना चाहिए। स्मरण रहे कम-से-कम एक सप्ताह तक एक ही फूल का प्रयोग होना चाहिए। इसी प्रकार रस साधना में एक फल का एक सप्ताह तक प्रयोग होना चाहिए।

कोई भी सुन्दर पुष्प गन्ध-साधना के लिए लिया जा सकता है। भिन्न पुष्पों के भिन्न गुण हैं। गुलाब-प्रेमोत्पादक, चमेली- बुद्धिवर्धक, गेंदा-उत्साह बढ़ाने वाला, चम्पा-सौन्दर्यदायक, मोगरा-सन्तानवर्धक, केतकी-रोग नाशक, कदम्ब-शान्तिदायक, कन्नेर-उष्ण, सूर्यमुखी-ओजवर्धक है। प्रत्येक पुष्प में कुछ सूक्ष्म गुण होते हैं। जिस पुष्प को सामने रखकर उसका ध्यान किया जायेगा उसी सूक्ष्म गुण अपने में बढ़ेंगे।

हवन, गन्ध-योग से सम्बन्धित है। किन्हीं पदार्थों की सूक्ष्म प्राण शक्ति को प्राप्त करने के लिए उनसे विधिपूर्वक हवन किया जाता है। जिससे उनका स्थूल रूप तो जल जाता है, पर सूक्ष्म रूप से वायु के साथ चारों ओर फैलकर निकटस्थ लोगों की प्राण-शक्ति में अभिवृद्धि करता है। सुगन्धित वातावरण में अनुकूल प्राण की मात्रा अधिक होती है इससे उसे नासिका द्वारा प्राप्त करते हुए अन्तःकरण प्रसन्न होता है।

गन्ध-साधना से मन की एकाग्रता के अतिरिक्त भविष्य का आभास प्राप्त करने की शक्ति बढ़ती है। सूर्य स्वर (बायाँ) और चन्द्र स्वर (दायाँ) सिद्ध हो जाने पर साधक अच्छा भविष्य-ज्ञाता हो सकता है। नासिका द्वारा साधा जाने वाला स्वर-योग भी गन्ध-साधना की एक शाखा है।

स्पर्श-साधना

१- बर्फ या कोई अन्य शीतल वस्तु शरीर पर एक मिनट लगा कर फिर उसे उठावें और दो मिनट तक अनुभव करें कि वह ठण्डक मिल रही है। सह्य उष्णता का गरम किया हुआ पत्थर का टुकड़ा शरीर से स्पर्श कराकर उसकी अनुभूति कायम रहने की भावना करनी चाहिए। पंखा झलकर हवा करना, चिकना काँच का ध्यान रखना भी इस प्रकार का अभ्यास है । ब्रुश से रगड़ना, लोहे का गोला उठाना, जैसे अभ्यासों से इसी प्रकार की ध्यान भावना की जा सकती है।

२- किसी समतल भूमि पर एक बहुत ही मुलायम गद्दा बिछाकर उस पर चित्त लेटे रहिये, कुछ देर तक उसकी कोमलता का स्पर्श सुख अनुभव करते रहिये, इसके बाद बिना गद्दा की कठोर जमीन या तख्त पर लेट जाइये। कठोर भूमि पर पड़े रहकर कोमल गद्दे के स्पर्श की भावना कीजिए, फिर पलटकर गद्दे पर आ जाइये और कठोर भूमि की कल्पना कीजिए। इस प्रकार भिन्न परिस्थिति में भिन्न वातावरण की भावना से तितिक्षा की सिद्धि मिलती है। स्पर्श-साधना की सफलता से शारीरिक कष्टों को हँसते-हँसते सहने की शक्ति पैदा होती है।

स्पर्श-साधना से तितिक्षा की सिद्धि मिलती है। सर्दी, गर्मी, वर्षा, चोट, फोड़ा, दर्द आदि से जो शरीर को कष्ट

होते हैं। उनका कारण त्वचा में जल की तरह फैले हुए ज्ञान-तन्तु ही हैं यह ज्ञान तन्तु छोटे से आघात, कष्ट या अनुभव को मस्तिष्क तक पहुँचाते हैं, तद्नुसार मस्तिष्क को पीड़ा का भान होने लगता है। कोकीन का इन्जेक्शन लगाकर इन ज्ञान तन्तुओं को शिथिल कर दिया जाय तो ऑपरेशन करने में भी उस स्थान पर पीड़ा नहीं होती। कोकीन इन्जेक्शन तो शरीर को पीछे से हानि भी पहुँचाता है पर स्पर्श साधना द्वारा प्राप्त हुई ज्ञान-तन्तु नियन्त्रण शक्ति किसी प्रकार की हानि पहुँचाना तो दूर उल्टी नाड़ी संस्थान के अनेक विकारों को दूर करने में सफल होती है, साथ ही शारीरिक पीड़ाओं का भान भी नहीं होने देती।

भीष्म पितामह उत्तरायण सूर्य आने की प्रतीक्षा में कई महीने वाणों से छिदे हुए पड़े रहे थे। तिल-तिल शरीर में बाण लगे थे फिर भी कष्ट से चिल्लाना तो दूर वे उपस्थित लोगों को बड़े ही गूढ़ विषयों का उपदेश देते रहे। ऐसा करना उनके लिए तभी सम्भव हो सका जब उन्हें तितिक्षा की सिद्धि थी अन्यथा हजारों बाणों में छिदा होना तो दूर एक सुई या काँटा लग जाने पर लोग होश हवास भूल जाते हैं

स्पर्श-साधना से चित्त की वृत्तियाँ एकाग्र होती हैं मन को वश में करने से जो लाभ मिलते हैं उनके अतिरिक्त तितिक्षा की सिद्धि भी साथ में हो जाती है जिससे कर्मयोग एवं प्रकृति प्रवाह से शरीर को होने वाले कष्टों को भोगने से साधक बच जाता है।

मन को आज्ञानुवर्ती नियन्त्रित अनुशासित बनाना जीवन को सफल बनाने की अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या है। अपना दृष्टिकोण चाहे आध्यात्मिक हो, चाहे भौतिक, चाहे अपनी प्रवृत्तियाँ परमार्थ की ओर हों या स्वार्थ की ओर, मन का नियन्त्रण हर स्थिति में आवश्यक है। उच्छृंखल चंचल या अव्यवस्थित मन से न लोक न परलोक, कुछ भी नहीं मिल सकता। मनोनिग्रह प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है।

मानसिक अव्यवस्था दूर करके मनोबल प्राप्त करने के लिए इस प्रकार जो साधनायें बताई गई हैं, वे बड़ी उपयोगी सरल एवं सर्व-सुलभ हैं। ध्यान त्राटक जप एवं तन्मात्रा साधना से मन की चंचलता दूर होती है साथ ही चमत्कारी सिद्धियाँ भी मिलती हैं। इस प्रकार पाश्चात्य योगियों की मैस्मरेजम के तरीके से की गई मन साधनाओं की अपेक्षा भारतीय विधि की योग पद्धति से की गई साधना, द्विगुणित लाभदायक होती है।

वश में किया हुआ मन सबसे बड़ा मित्र है वह सांसारिक और आत्मिक दोनों ही प्रकार के अनेक ऐसे अद्भुत उपहार निरन्तर प्रदान करता रहता है जिन्हें पाकर मानव-जीवन धन्य हो जाता है। सुरलोक में ऐसा कल्पवृक्ष बताया जाता है जिसके नीचे बैठकर मनचाही कामनायें पूरी हो जाती हैं। मृत्युलोक में, वश में किया हुआ मन ही कल्पवृक्ष है। यह परम सौभाग्य जिसे प्राप्त हो गया उसे अनन्त ऐश्वर्य का आधिपत्य ही प्राप्त हो गया समझिये।

अनियन्त्रित मन अनेक विपत्तियों की जड़ है। अग्नि जहाँ रखी जायेगी उसी स्थान को जलावेगी। जिस देह में असंयत मन रहेगा उसमें नित नई विपत्तियाँ, कठिनाइयाँ, आपदायें, बुराइयाँ बरसती रहेंगी। इसलिए अध्यात्म विद्या के विद्वानों ने मन को वश में करने की साधना को बहुत ही महत्वपूर्ण माना है। गायत्री का तृतीय मुख मनोमय कोश है। इस कोश को सुव्यवस्थित कर लेना मानो तीसरे बन्धन को खोल लेना है, आत्मोन्नति की तीसरी कक्षा पार कर लेना है।

स्पर्श योग के साधक साधक को चाहिए कि वह साधना के कमरे में एक तख्ते पर अच्छा कोमल गद्दा लगा लं और दूसरे तख्ते को नंगा रहने दे। पहले कोमल गद्दे पर एकान्त में चित्त लेट रहें। सारे ध्यान को गद्दे के स्पर्श कर एकत्र कर दे। चाहें तो किसी भी मन्त्र का जप कर सकता है। बिना हिले गद्दे पर उतनी देर पड़ा रहे जितनी देर में शरीर करवट बदलने के लिए आकुल हो उठे। उस समय गद्दे का स्पर्श अप्रिय प्रतीत होगा। वहाँ से उठकर तख्ते पर जाकर लेट रहे और संकल्प के द्वारा अनुभव करने का प्रयत्न करें कि तख्ते का स्पर्श भी गद्दे के समान कोमल है। तख्ते से थकने पर पुनः गद्दे पर आ जाना चाहिये और उसमें तख्ते की कठोरता की भावना करनी चाहिए। धीरे-धीरे इस अभ्यास को बढ़ाना चाहिये।

थोड़े दिनों में अभ्यास हो जाने पर गद्दे और तख्ते के स्पर्श का अनुभव इच्छानुसार विनियमित हो जाया करेगा। जब ऐसा ही हो जावे तो गद्दे के ऊपर अच्छी धुनी हुई रुई या पुष्प बिछालों और तख्ते को हटाकर पृथ्वी पर छोटी-छोटी कंकड़िया डाल लो। पूर्वोक्त रीति से दोनों में एक-दूसरे के स्पर्श का अनुभव करने का प्रयत्न करो। इसका परिणाम यह होगा कि साधक के लिये पुष्पों पर या काँटों पर शयन करना समान हो जावेगा।

स्पर्श योग के साधक को फाल्गुन के महीने से केवल कौपीन धारण कर लेना चाहिए। दूसरा कोई वस्त्र न रखे। वृक्षों के नीचे ही रात्रि दिन रहे। गर्मी में धूप और वर्षा में जल का सहन करे। ऐसा करने से जाड़े में शीत का भी सहन हो जायेगा। रहने के लिए गुफा, कुटी, छप्पर कुछ न बनावे। शरीर में तेल न लगावे। केश कटावे नहीं। मिट्टी मलकर स्वच्छ कर लिया करे। स्पर्श योग का साधन तपस्या है। शीतोष्ण एवं मृदु कठिन सब प्रकार के विषय स्पर्शों को बदलते हुए त्वक् पर विजय प्राप्त करना है निरन्तर अभ्यास से जब त्वगेन्द्रिय पर विजय हो जायेगी तो कोई भी स्पर्श ज्ञात न होगा। इच्छा करने पर शीत भी उष्ण एवं उष्ण भी शीत का अनुभव देगा। इस तितिक्षा और भावना के फल स्वरूप अद्‌भुव एवं दिव्य स्पर्शों की जागृति होगी। अकस्मात् सुखकर स्पर्शों का अनुभव होने लगेगा। साधक को प्रलुब्ध होकर उन्हीं में स्थित रहने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। निरपेक्ष रहकर अपनी तितिक्षा को प्रबल करते जाना चाहिए। फलत: मन की शक्ति क्षीण हो जायेगी और साधक को अन्त:स्पर्श प्राप्त होगा। यहाँ वह परमानन्द का अनुभव करेगा।

विज्ञानमय कोश का जागरण

अन्नमय, प्राणमय और मनोमय इन तीनों कोशों के उपरान्त आत्मा का चौथा आवरण, गायत्री का चौथा मुख विज्ञानमय कोश है। आत्मोन्नति की चतुर्थ भूमिका में विज्ञानमय कोश की साधना की जाती है।

विज्ञान का अर्थ है विशेष ज्ञान। साधारण ज्ञान के द्वारा हम लोक-व्यवहार को, अपनी शारीरिक, व्यापारिक, सामाजिक, कलात्मक, धार्मिक समस्याओं को समझते हैं। स्थूल में इसी साधारण ज्ञान की शिक्षा मिलती है। राजनीति, अर्थशास्त्र, शिल्प, रसायन, चिकित्सा, संगीत, वक्तृत्व, लेखन, व्यवसाय, कृषि, निर्माण, उत्पादन आदि विविध बातों की जानकारी विविध प्रकार से की जाती है। इन जानकारियों के आधार पर शरीर से सम्बन्ध रखने वाला सांसारिक जीवन चलता है। जिसके पास यह जानकारियाँ जितनी अधिक होंगी, जो लोक व्यवहार में जितना अधिक प्रवीण होगा, उतना ही उसका साँसारिक जीवन उन्नत, यशस्वी, प्रतिष्ठित, सम्पन्न एवं ऐश्वर्यवान् होगा।

किन्तु इस साधारण ज्ञान का परिणाम स्थूल शरीर तक ही सीमित है। आत्मा का उससे कुछ हित सम्पादन नहीं हो सकता। देखा जाता है कि कई व्यक्ति धनवान् प्रतिष्ठित, नेता और गुणवान् होते हुए भी आत्मिक दृष्टि से पिछड़े हुए होते हैं। कई-कई मनुष्य आत्मा परमात्मा के बारे में बहुत बातें करते हैं। ईश्वर, जीव, प्रकृति, वेदान्त योग आदि के बारे में बहुत सी बातें पढ़-सुनकर अपनी जानकारी बढ़ा लेते हैं, और बड़ी-बड़ी बातें बढ़-चढ़कर करते हैं तथा साथियों पर अपनी विशेषता की छाप जमाते हैं। इतना करते हुए भी वस्तुतः उनकी आत्मिक धारणायें बड़ी निर्बल होती हैं। श्रद्धा और विश्वास की दृष्टि से उनकी स्थिति साधारण लोगों से कुछ अच्छी नहीं होती ।

गीता, उपनिषद्, रामायाण, वेदशास्त्र आदि सद्ग्रन्थों के पढ़ने एवं सत्पुरुषों के प्रवचन सुनने से आत्मिक विषयों की जानकारी बढ़ती है। जो उस क्षेत्र में प्रवेश करने वाले जिज्ञासुओं के लिए आवश्यक भी है। परन्तु इन विषयों की विस्तृत जानकारी प्राप्त होने पर भी यह आवश्यक नहीं कि उस व्यक्ति को आत्मज्ञान हो ही जांय।

इसमें तो सन्देह नहीं कि शिक्षा प्राप्त करना, भाषा ज्ञान, शास्त्राध्ययन, आदि जीवन के विकास के लिए आवश्यक हैं और इनके द्वारा आध्यात्मिक प्रगति में भी सहायता मिलती है। प्रत्येक व्यक्ति कबीर, रैदास और तुकाराम की तरह सामान्य प्रेरणा पाकर ही आत्मज्ञानी नहीं बन सकता पर वर्तमान सयम में लोगों ने भौतिक जीवन को इतना अधिक महत्व दे दिया है, धनोपार्जन को वे इतना सर्वोपरि गुण मानते हैं कि अध्यात्म की ओर उनकी दृष्टि ही नहीं जाती, उल्टा वे उसे अनावश्यक समझने लग जाते हैं।

प्रस्तुत खण्ड के आरम्भ में वरुण और भृगु की कथा दी गई है, भृगु पूर्ण विद्वान थे, वेद-वेदान्तों के पूरे ज्ञाता थे। फिर भी वे जानते थे कि मुझे आत्मज्ञान, ब्रह्म-ज्ञान, विज्ञान प्राप्त नहीं हैं। इसलिए वरुण के पास जाकर उन्होंने प्रार्थना की कि हे भगवान्! मुझे ब्रह्मज्ञान का उपदेश दीजिए।' वरुण ने भृगु को कोई पुस्तक नहीं पढ़ाई और न कोई लम्बा-चौड़ा प्रवचन ही सुनाया। वरन् उन्होंने आदेश दिया कि-'तप करो'। तप करने से एक- एक कोश को पार करते हुए क्रमशः उन्होंने ब्रह्म को प्राप्त किया। ऐसी ही अनेक कथायें हैं। उद्दालक ने श्वेतकेतु को, ब्रह्मा ने इन्द्र को, अंगिरा ने विविस्वान को इसी प्रकार तप करके ब्रह्म को जानने का आदेश किया था।

ज्ञान का अभिप्राय है जानकारी। विज्ञान का अभिप्राय है श्रद्धा धारणा, मान्यता, अनुभूति । आत्मविद्या के सभी जिज्ञासु यह जानते हैं, कि "आत्मा अमर है, शरीर से भिन्न है. ईश्वर का अंश है, सच्चिदानन्द स्वरूप है" परन्तु इस जानकारी का एक कण भी अनुभूति भूमिका में नहीं होता। स्वयं को तथा दूसरों को मरते देखकर हृदय विचलित हो जाता है। शरीर के लाभ के

लिए आत्मा के लाभों की उपेक्षा प्रति क्षण होती रहती है। दीनता, अभाव, तृष्णा, लालसा हर घड़ी सताती रहती हैं। तब कैसे कहा जाय कि आत्मा की अमरता शरीर की भिन्नता तथा ईश्वर के अंश होने की मान्यता पर हमें श्रद्धा है, आस्था, विश्वास है।

अपने सम्बन्ध में तात्विक मान्यता स्थिर करना और उसका पूर्णतया अनुभव करना यही विज्ञान का उद्देश्य है। आमतौर से लोग अपने शरीर को मानते हैं, स्थूल शरीर से जैसे कुछ हम हैं, वही उसकी आत्म मान्यता है। जाति, वंश, प्रदेश, सम्प्रदाय, व्यवसाय, पद, विद्या, धन, आयु, स्थिति, लिंग आदि के आधार पर यह मान्यता बनाई जाती है कि मैं कौन हूँ ? यह प्रश्न पूछने पर कि 'आप कौन हैं' लोग इन्हीं बातों के आधार पर अपना परिचय देते हैं। अपने को समझते भी वे यही हैं। इस मान्यता के आधार पर ही अपने स्वार्थों का निर्धारण होता है। जिस स्थिति में स्वयं हैं उसी स्थिति का अहंकार अपने में जागृत होता है और स्थिति तथा अहंकार की पूर्ति, तुष्टि तथा सन्तुष्टि जिस प्रकार होनी सम्भव दिखाई पड़ती है वही जीवन की अन्तरंग नीति बन जाती है।

बाहर के लोग धर्म और सदाचार की, सिद्धान्तों और आदर्शों की बातें करते रहते हैं, पर उनका अन्तःकरण उसी दिशा में काम करता है, जिस ओर उनकी अन्तरंग जीवन नीति प्रेरणा देती है। जब अपने को शरीर मान लिया गया है तो शरीर का सुख ही अभीष्ट होना चाहिए। इन्द्रिय भोगों की, मौज मजे की, मान बढ़ाई की, ऐश आराम की प्राप्ति ही शरीर का सुख है। इन सुखों के लिए धन की आवश्यकता है। अस्तु धन को अधिक से अधिक जुटाना और भोग-ऐश्वर्य में निमग्न रहना यही प्रधान कार्यक्रम हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो किया जाता है वह तो एक प्रकार की तफरीह के लिए, विनोद के लिए होता है। ऐसे लोग कभी-कभी धर्म-चर्चा या पूजा पाठ भी करते देखे जाते हैं। यह उनका मन बहलाव मात्र है। स्थिर लक्ष्य तो उनका वही रहेगा जो आत्म मान्यता के आधार पर निर्धारित किया गया है। आमतौर से आज यही भौतिक दृष्टि सर्वत्र दृष्टिगोचर है। धन और भोग की छीना-झपटी में लोग एक दूसरे से बाजी मारने में इसी दृष्टिकोण के कारण जी-जान से जुटे हुऐ हैं। परिणामस्वरूप जिन कलह क्लेशों का सामना करना पड़ रहा है वह सामने हैं।

विज्ञान इस अज्ञान रूपी अन्धकार से हमें बचाता है। जिस मनोभूमि में पहुँचकर जीव यह अनुभव करता है, कि मैं शरीर नहीं वस्तुतः "आत्मा ही हूँ" उस मनोभूमि को विज्ञानमय कोश कहते हैं। अन्नमय कोश में जब तक जीव की स्थिति रहती है तब तक वह अपने को स्त्री-पुरुष, मनुष्य, पशु, मोटा-पतला, पहलवान, काला, गोरा आदि शरीर सम्बन्धी भेदों से पहचानता है। जब प्राणमय कोश में जीव की स्थिति होती है, तो गुणों के आधार पर अपनत्व का बोध होता है। शिल्पी, संगीतज्ञ, वैज्ञानिक, मूर्ख कायर, शूरवीर, लेखक, वक्ता, धनी, गरीब आदि की मान्यता से प्राण भूमिकायें होती हैं। मनोमय कोश की स्थिति में पहुँचने पर अपने मन की मान्यता स्वभाव के आधार पर होती है। लोभी, दम्भी, चोर, उदार, विषयी, संयमी, नास्तिक, आस्तिक, स्वार्थी, परमार्थी, दयालु, निष्ठुर आदि कर्तव्य और धर्म की औचित्य-अनौचित्य सम्बन्धी मान्यतायें जब अपने सम्बन्ध में बनती हों, उन्हीं पर विशेष ध्यान रहता हो, तो समझना चाहिए कि जीव मनोमय भूमिका में, तीसरी कक्षा में पहुँचा हुआ है। इससे चौथी कक्षा विज्ञान भूमिका है, जिसमें पहुँचकर जीव अपने को यह अनुभव करने लगता है कि मैं शरीर से, गुणों से, स्वभाव से ऊपर हूँ, मैं ईश्वर का राजकुमार, अविनाशी आत्मा हूँ।

जीभ से अपने को आत्मा कहने वाले असंख्य लोग हैं, उन्हें आत्मज्ञानी नहीं कह सकते। आत्माज्ञानी वह है जो दृढ़ विश्वास और पूर्ण श्रद्धा के साथ अपने भीतर यह अनुभव करता है कि "मैं विशुद्ध आत्मा हूँ, आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं।" शरीर मेरा वाहन है। प्राण मेरा अस्त्र है। मन मेरा सेवक है। मैं इन सबसे ऊपर, इन सबसे अलग, इन सबका स्वामी आत्मा हूँ। मेरे स्वार्थ इन से अलग हैं, मेरे लाभ और स्थूल शरीर के लाभों में, स्वार्थों में भारी अन्तर है। इस अन्तर को समझकर जीव अपने लाभ, स्वार्थ, हित और कल्याण के लिए कटिबद्ध होता है, आत्मोन्नति के लिए अग्रसर होता है तो उसे अपना स्वरूप और भी स्पष्ट दिखाई देने लगता है।

विज्ञानमय कोश की चतुर्थ भूमिका में पहुँचे हुए जीव का दृष्टिकोण सांसारिक जीवों से भिन्न होता है। गीता में योगी का लक्षण बताया गया है कि जब सब जीव सोते हैं, तब योगी जागता है और जब सब जीव जागते हैं, तब योगी सो जाता है। इन अलंकारिक शब्दों में रात को जागने और दिन में सोने का विधान नहीं है। वरन् यह

बताया गया है कि जिन चीजों के लिए साधारण लोग बेहद इच्छुक, प्यासे, लालायित, सतृष्ण और आकांक्षी रहते हैं, योगी का मन इधर से फिर जाता है क्योंकि वह देखता है कि कामिनी और कञ्चन की माया शरीर को गुदगुदाती है पर आत्मा को ले बैठती है। इससे क्षणिक सुख के लिए स्थिर आनन्द का नाश करना उचित नहीं है। जिस धन-सन्तान, कुटुम्ब-कबीला, शत्रु, मित्र, हानि, लाभ, आगा-पीछा, निन्दा-स्तुति आदि की समस्याओं में साधारण लोग बेतरह फँसे रहते हैं, ये बातें योगी के लिए अबोध बच्चों की 'बालक्रीड़ा' से अधिक कुछ भी महत्व की दिखाई नहीं देती। इसलिये वे उनकी ओर से उदास हो जाते हैं। वे इस झमेले को बहुत कम महत्व देते हैं। फलस्वरूप यह समस्यायें उनके लिए अपने आप सुलझ जाती हैं या समाप्त हो जाती हैं।

जिन कार्यों में, विचारों में, कामी लोग, मायाग्रस्त व्यक्ति अत्यन्त मोहग्रस्त होकर चिपके रहते हैं, उनकी ओर से योगी मुँह फेर लेते हैं। इस प्रकार वह वहाँ सोया हुआ माना जाता है जहाँ कि अन्य जीव जागते हैं। इसी प्रकार जिन कार्यों की ओर संयम, त्याग, परमार्थ आत्मलाभ की ओर सांसारिक जीवों का बिलकुल ध्यान नहीं होता उनमें योगी दत्तचित्त होकर संलग्न रहता है। इस स्थिति के बारे में ही गीता में कहा गया है कि जब जीव सोते हैं तब योगी जागता है।

शरीर यात्रा के लिए प्रातः सभी मनुष्यों को मिलता-जुलता कार्यक्रम रखना पड़ता है, पर योगी और भोगी के जीवन तथा रीति में भारी अन्तर होता है। प्रायः सभी लोग तड़के, नित्य कर्म से निवृत होते और भोजन करके काम में लगते हैं। शाम तक जो श्रम करना पड़ता है उसमें से अधिकांश समय, अन्न, वस्त्र, जीवन आश्रितों की व्यवस्था में लग जाता है। शाम को फिर नित्य कर्म भोजन और रात को सो जाना। इस धुरी पर सब का जीवन घूमता है परन्तु अन्तःस्थिति में जमीन आसमान का भेद है। एक मनुष्य अपने शरीर सुख के लिए धन और भोग इकट्ठे करने की योजना सामने रखकर अपने हर विचार और कार्य को करता है, जबकि दूसरा अपने आत्मा को समझकर आत्म-कल्याण की नीति पर चलता है, तो ये विभिन्न दृष्टिकोण ही एक के कामों को पुण्य एवं यज्ञ बना देते हैं और दूसरे के काम पाप एवं बन्धन बन जाते हैं।

विज्ञानमय कोश के जागरण का अर्थ है- आत्म-ज्ञान, आत्म-साक्षात्कार, आत्म-लाभ, आत्म-प्राप्ति, आत्म-दर्शन, आत्म-कल्याण इसी को तो जीवन-लक्ष्य माना गया है। यह लक्ष्य तभी पूरा होता है, जब हमारी अन्तःचेतना अपने बारे में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास-भावना के साथ यह अनुभव करे कि मैं वस्तुतः परब्रह्म परमात्मा का अविच्छिन्न अंश, अविनाशी-आत्मा हूँ। इस भावना की पूर्णता, परिपक्वता एवं सफलता का नाम ही आत्म साक्षात्कार है।

विज्ञानमय कोश- सूक्ष्म सिद्धियों का केन्द्र

कुछ समय पहले आस्थाएँ, आकांक्षाएँ एवं सम्वेदनाओं का प्रथक् अस्तित्व नहीं माना जाता था। उसे विचार पद्धति का ही एक रूप कहा गया था। अचेतन मन के पुराने अभ्यासों का उभार भर मनोविज्ञानी उसे मानते थे। पर अब उसका स्वतन्त्र अस्तित्व मान लिया गया है। संवेदनाएँ एवं आस्थाएँ मात्र वातावरण में व्यक्तियों से प्रभावित नहीं होती वरन् उनका सम्बन्ध जीव चेतना की मूल सत्ता से है। परिष्कृत अन्तःकरण को देखकर ही आत्मा की उच्च स्थिति मानी जाती है। जीवात्मा के तीन गुण अध्यात्म शास्त्र के अनुसार गिनाये गये हैं। (१) सत् (२) शिव (३) सुन्दर। जीवन तत्व की व्याख्या। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के रूप में की गई है। विज्ञान की भाषा में- सत् को उत्कृष्टता के प्रति आस्था-श्रद्धा कहा गया है। शिव का तात्पर्य है विवेक युक्त दूरदर्शी दृष्टिकोण तदनुरूप आकांक्षाओं का प्रवाह। सुन्दरम् सौन्दर्य बोध, कलात्मकता, सम्वेदना। आत्मभाव का जिस पर भी आरोपण होता है, वह सुन्दर लगने लगता है। कला दृष्टि से सौन्दर्य बनकर प्रतिविम्बित होती है अन्यथा इस जड़ जगत के पदार्थों में सौन्दर्य जैसा कुछ दीखता नहीं।

आस्था, उमंग और सरसता के समन्वय को अन्तःकरण या अन्तरात्मा कहा जा सकता है। पुरानी परिभाषा में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को अन्तःकरण चतुष्ट्य कहा जाता रहा है। अस्तु यदि वस्तुस्थिति समझने में उस नामकरण में भ्रम उत्पन्न होता हो तो अन्तःकरण के स्थान पर अन्तरात्मा शब्द प्रयुक्त हो सकता है। मनःशास्त्र के अनुसार इसे चेतना की अत्यन्त परिष्कृत स्थिति कह सकते हैं। इसमें भौतिक तत्वों का कम और आत्मिक उत्कृष्टता का समावेश अधिक है।

भौतिकता प्रधान मन पर वासना, तृष्णा अहंता ही छाई रहती है, उसमें स्वार्थ सिद्धि ही प्रधान आधार होती है। अन्तरात्मा का स्वार्थ विकसित होकर परमार्थ बन जाता है। उसकी आत्मीयता शरीर परिवार तक सीमित न रह कर सार्वजनिक बन जाती है। आस्थाएँ वातावरण से सम्पर्क में नहीं- आदर्शों से प्रभावित होती हैं। आकांक्षाएँ लाभ को दृष्टि में रखकर नहीं, उत्कृष्टता के समर्थन पर केन्द्रित होती रहती हैं। लाभ की दृष्टि से सौन्दर्य का आरोपण नहीं होता, वरन् पदार्थों के अन्तराल में थिरकने वाली कला का सूक्ष्म दर्शन ही अन्तरात्मा में हुलास-उल्लास उत्पन्न करता है। संक्षेप में चेतना की वह उच्चस्तरीय परत जो आत्मा के अति समीप है, जो वातावरण से प्रभावित कम होती है और उस पर अपनी मौलिकता का प्रभाव अधिक छोड़ती है- अन्तरात्मा कही जायेगी। किसी को आपत्ति न हो तो इसी को अन्त:करण शब्द में भी सम्बोधित किया जा सकता है।

इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति चेतना त्रिवेणी के ही त्रिविध प्रवाह हैं। इनका उद्गम स्रोत अन्तरात्मा है। वहाँ की उमंगे ही इच्छा को दिशा देती हैं, उसका संकेत पाकर मस्तिष्कीय ताना वाना बुना जाता है। वहाँ के निर्देशों का पालन बिना ननुनच किए शरीर स्वामिभक्त सेवक की तरह करता रहता है। इन तथ्यों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा और संसार का सम्पर्क सूत्र इसी केन्द्र से जुड़ता है। जीवन का स्वरूप यहीं बनता है और उसका प्रवाह यहीं से निसृत होता है। मनोविज्ञान की भाषा में इसे 'सुपरचेतन' कह सकते हैं। दार्शिनिकों ने इसे अतिमानस माना है। यों अरविन्द, नीत्से आदि ने अतिमानस की व्याख्याएँ परस्पर विरोधी की हैं। तो भी उनका तात्पर्य चेतना के उस स्तर से है जिसे व्यक्तित्व का उद्गम अथवा मर्मस्थल कहा जा सके। प्रत्येक सूक्ष्मदर्शी व्यक्ति के अस्तित्व में मूल-भूत सत्ता इस अन्तरात्मा की ही काम करती पाई है और उसी की सर्वोपरि गरिमा स्वीकार की है।

साधना विज्ञान में इसी अन्तरात्मा को 'विज्ञानमय कोश' कहा है। उसके परिष्कृत प्रयासों को योगाभ्यास में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। आस्थाओं का परिमार्जन होने से जीवन के बहिरंग स्वरूप में कायाकल्प होते देर नहीं लगती। वाल्मीकि, अंगुलिमाल, अम्बपाल, अजामिल, सूर, तुलसी आदि के जीवन परिवर्तन को एक प्रकार से आध्यात्मिक कायाकल्प ही कह सकते हैं। सामान्य स्थिति के मनुष्य असामान्य स्तर के महामानव बने हैं। इसमें भी आस्थाओं का उन्नयन ही प्रधान भूमिका निवाहता दृष्टिगोचर होता है। कबीर, दादू, रैदास, रामदास, रामकृष्ण, विवेकानन्द, शंकराचार्य, दयानन्द आदि महामानव परिस्थितियों के हिसाब से कुछ अच्छी स्थिति में नहीं जन्मे थे। लिंकन, वाशिंगटन आदि की प्रगति में उनकी परिस्थिति की नहीं मन:स्थिति की ही प्रधान भूमिका रही है। ध्रुव, प्रह्लाद, बुद्ध, महावीर आदि जन्मे तो राज परिवारों में थे, पर व्यक्तित्व को उच्चस्तरीय बनाने का कोई वातावरण उपलब्ध नहीं था। नारद आदि की प्रेरणा से अथवा स्व सम्वेदनाओं से प्रभावित होकर उन्होंने अपनी आस्थाओं में परिवर्तन किया और उतने ऊँचे जा पहुँचे जितने की सामान्यतया कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। यह अन्त:करण के परिवर्तन एवं परिष्कार का ही चमत्कार है। यह विज्ञानमय कोश किस प्रकार परिष्कृत होता है इसके कितने ही मार्ग एवं उपाय हो सकते हैं। अनायास संयोग, दैवी, अनुग्रह आदि अन्य कारण भी इस क्षेत्र के विकास परिष्कार के कारण हो सकते हैं, पर प्रयत्न पुरुषार्थ पर क्रमिक गति से अन्त:करण का स्तर ऊँचा उठाने की प्रक्रिया विज्ञानमय कोश की साधना ही मानी गई है।

विज्ञानमय कोश का यह बहिरंग जीवन पक्ष हुआ। उसकी एक दिशा धारा सूक्ष्म जगत की ओर भी प्रवाहित होती है। हिमालय की दो प्रधान धाराएँ गंगा और यमुना के रूप में प्रवाहित होती हैं। अन्त:करण को हिमालय माना जाय तो उसकी एक प्रक्रिया सामान्य मनुष्य को महानआत्मा, देवात्मा, परमात्मा स्तर तक ऊँचा उठा ले जाने वाली कही जा सकती है। दूसरी वह है जो सूक्ष्म जगत के साथ जीव-सत्ता का सम्पर्क जोड़ती है। दोनों के बीच महत्वपूर्ण आदान-प्रदान सम्भव करती है।

हम जिस दुनिया के सम्पर्क में हैं, वह स्थूल जगत है। यह इन्द्रिय गम्य है। इसके भीतर प्रकृति की वह सत्ता है जो पदार्थ की तरह प्रत्यक्ष नहीं-शक्ति के रूप में विद्यमान है और बुद्धिगम्य है। इस स्थूल जगत का परिचय, इन्द्रियों से, बुद्धि से यन्त्र उपकरणों से मिलता है। पदार्थों और प्रकृति शक्तियों का लाभ उठा सकना भी उपरोक्त स्थूल साधनों से सम्भव हो जाता है। इससे आगे सूक्ष्म जगत का अस्तित्व आरम्भ होता है, जो इन्द्रियगम्य न होने से अतीन्द्रिय या इन्द्रियातीत कहा जाता है। प्रयोगशाला में उसे प्रमाणित नहीं किया जा सकता और

बुद्धि ही उनका आधार एवं कारण समझ सकने में समर्थ होती है। इतने पर भी उस सूक्ष्म जगत का आधार अपने स्थान पर चट्टान की तरह अडिग है। उसका अस्तित्व स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं।

जहाँ तक मानवी बुद्धि का सम्बन्ध है वहाँ अतीन्द्रिय कही जाने वाली ऐसी हलचलों का पता लगता है जो विदित आधारों से सर्वथा भिन्न हैं। मनुष्य, मनुष्यों के बीच चलने वाले विचार, संचार को टैलीपैथी कहते हैं। दूरवर्ती घटनाओं का अनायास आभास मिलने के असंख्य प्रमाण मिलते हैं। इसे दूरदर्शन कह सकते हैं। भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं का पूर्वाभास मिलना ऐसा तथ्य है जिसे झुटलाया नहीं जा सकता। ऐसे घटनाक्रम यों सर्वदा सब पर प्रकट नहीं होते- फिर भी जब भी जिन्हें भी ऐसी अनुभूतियाँ हुई हैं, वे ऐसी हैं जिनके आधार पर किसी अविज्ञात सूक्ष्म जगत का परिचय मिलता है और विदित होता है कि उसमें भी अपनी ही दुनिया की तरह कुछ न कुछ हलचलें होती अवश्य हैं। मरणोत्तर जीवन को प्रमाणित करने में भूत प्रेतों के अस्तित्व और पुनर्जन्म के विवरण एक समस्या के रूप में सामने आते हैं। जीवन के उपरान्त जीवात्मा की सत्ता कहाँ रहती है ? वहाँ उसका निवास-निर्वाह कैसे होता है ? इन प्रश्नों का समाधान सूक्ष्म जगत का अस्तित्व स्वीकार किये बिना और किसी तरह हो ही नहीं सकता। किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों में विचित्र प्रकार की अति मानवी क्षमताएँ देखी गई हैं। इन्हें चमत्कारी सिद्धियाँ कहा जाता है। शाप, वरदान से लेकर आश्चर्यजनक कृत्य उपस्थित कर देने तक की विचित्रिताएँ कैसे, कहाँ से, उत्पन्न होती हैं इसका उत्तर सूक्ष्म जगत की सत्ता स्वीकार किये बिना और किस प्रकार दिया जा सकता है ?

जन्म जात रूप से किन्हीं बालकों में ऐसी विशेषताएँ पाई जाती हैं, जिनकी सामान्य विकास क्रम के साथ कोई संगति नहीं बैठती। किन्हीं की स्मृति, सूझ-बूझ ऐसी होती है जिसे विलक्षण कहा जा सकता है। भूमिगत जल स्रोतों को बना कर जल समस्या के समाधान के चमत्कार कितने ही सिद्ध पुरुषों ने दिखाये हैं। बिना अन्न जल के निर्वाह शरीर विज्ञान की दृष्टि से असम्भव है पर पोहारी बाबा जैसे व्यक्तियों ने उस असम्भव का सम्भव होना सिद्ध किया है। पंजाब महाराजा रणजीत सिंह की निगरानी में हरिदास नामक साधु ने कई महीने की लम्बी भूमि समाधि ली थी। ऐसे चमत्कार अन्यत्र भी दृष्टिगोचर होते रहते हैं। देवताओं का अनुग्रह-मृतात्मा के सहयोग-मन्त्र साधना के प्रतिफल आदि ऐसे अनेकों तथ्य हैं जिन्हें अन्ध-विश्वास कह कर टाला नहीं जा सकता। मिस्र के पिरामिडों की खोज वीन करने वाले शोधकर्त्ताओं पर विपत्तियों के पहाड़ टूटते रहे हैं, उन्हें संयोग मात्र कहने से काम नहीं चल सकता। योगियों में पाई जाने वाली कई तरह की विचित्रताएँ अकारण नहीं हो सकतीं। ईश्वर भक्तों को जो विशिष्टताएँ उपलब्ध होती रहीं हैं, वे मूढ़ मान्यताएँ भर नहीं हैं, दन्त कथाएँ उनसे जुड़ी तो हो सकती हैं पर वह पूरे का पूरा अन्ध-विश्वास भर है यह कह देना तथ्यों से आँखें मीच लेने जैसा होगा। बुद्धि की समझ में जो न आये वही अप्रमाणिक, वही अविश्वस्त यह दुराग्रह कुछ समय पहले तक तो प्रबल था, पर अब विचारशीलता ने सन्तुलन साधा है और यह गम्भीरता-पूर्वक सूक्ष्म जगत के अस्तित्व की शोध की जा रही है।

सूक्ष्म जगत की एक भौतिकवादी सत्ता ही ऐसी सामने आ खड़ी हुई है जो अध्यात्मवादियों के द्वारा प्रतिपादित सूक्ष्म जगत से भी विचित्र और सशक्त है। यह मान्यता प्रति पदार्थ की-प्रति विश्व की है। एन्टीमैटर-ऐन्टी यूनिवर्स-के तथ्य इस प्रकार सामने आये हैं कि उनके आधार पर एक अपने साथ सटे हुए विलक्षण विश्व का अस्तित्व जुड़ा देख कर हतप्रभ रह जाना पड़ता है।

तन्त्र विज्ञान में 'छाया पुरुष' साधना का उल्लेख है। कहा गया है कि मनुष्य की सूक्ष्म सत्ता का प्रतिनिधित्व करने वाला एक जीवित प्रेत होता है और वह साथ ही रहता है- इसकी देवता या भूत-प्रेत जैसी साधना करके उसे आज्ञानुवर्ती बनाया जा सकता है। स्थूल शरीर- स्थूल कार्य करता है और सूक्ष्म शरीर- सूक्ष्म स्तर के काम कर सकता है। छाया पुरुष की सिद्धि में अपना ही एक और शरीर अपने हाथ आ जाता है, और इन दोनों शरीरों से दो प्रकार के काम एक साथ करना सम्भव हो जाता है। इस प्रतिपादन में एक 'प्रति मनुष्य का-छाया पुरुष का अस्तित्व और क्रिया-कलाप बताया गया है। देखा जाता है कि प्रकाश में अपनी ही एक और छाया उत्पन्न हो जाती है और वह साथ-साथ रहती है। सूक्ष्म शरीरधारी छाया पुरुष की स्थिति सजीव छाया जैसी समझी जा सकती है। यह नामकरण इसी आधार पर किया गया है।

मूर्धन्य वैज्ञानिकों के सामने ऐन्टी-एटम-एन्टी मैटर-एन्टी युनिवर्स का अस्तित्व एक चुनौती के रूप में

खड़ा है। उसे उसे अस्वीकार करते नहीं बनता। यदि उस अस्तित्व के तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं और उस प्रति-विश्व की गति-विधियों से मनुष्य का सम्बन्ध जुड़ जाता है तो निश्चित रूप से एक जादुई दैत्य युग में हम सब जा खड़े होंगे। प्रति परमाणु की शक्ति अपने जाने माने परमाणु की तुलना में अत्यधिक है। अपने परिचित संसार की तुलना में अपरिचित 'एन्टी युनिवर्स' की सम्पदा-क्षमता एवं विशालता बहुत बड़ी है। उसके सन्तुलन में अन्तर पड़ जाय तो देखते-देखते 'ऐन्टी युनिवर्स' का महादैत्य अपने प्रत्यक्ष संसार को निगल कर हजम कर सकता है, और हिरण्याक्ष की उस पौराणिक कथा का एक प्रत्यक्ष दृश्य उपस्थित हो सकता है जिसमें वह महादैत्य, उस पृथ्वी को बगल में दबा कर पाताल लोक को भाग गया था।

छाया पुरुष और 'प्रतिविश्व' की चर्चा यहाँ यह समझने के लिए की गई है कि सूक्ष्म जगत के समतुल्य अपने ही इर्द गिर्द बिखरे हुए एक सूक्ष्म जगत के अस्तित्व को समझने में सुविधा है। इन्द्रियों की पकड़ न आने वाली यह दुनिया इतनी विलक्षण है कि उसकी हलचलों का दृश्य संसार पर भारी प्रभाव पड़ता है। पदार्थों, प्राणियों और परिस्थितियों पर उस सूक्ष्म जगत की हलचलें आश्चर्यजनक प्रतिक्रिया उत्पन्न करती हैं। प्रयत्न और पुरुषार्थ के महत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता, पर यह भी एक तथ्य है कि अदृश्य जगत का अतिघनिष्ठ और अति प्रभावशाली सम्पर्क दृश्य जगत से है।

जीवधारी की चेतना ब्रह्माण्ड व्यापी महा चेतना का एक अंश है। अंश और अंशी के गुण, धर्म, समान होते हैं। अन्तर विस्तार के अनुरूप क्षमता का होता है हम सब चेतना के महासमुद्र में छोटी बड़ी मछलियों की तरह जीवन-यापन करते हैं। महाप्राण -ब्रह्म की सत्ता में ही अल्पप्राण जीव-अनुप्राणित होता है।

मैटर का-सूक्ष्मतम स्वरूप अब परमाणु नहीं रहा। उसके भीतर भी अनेक घटक स्वतन्त्र इकाइयों के रूप में काम करते हैं। वे इलेक्ट्रोन आदि के भीतर भी सूक्ष्म तत्व हैं। पदार्थ अन्तत: तरंगे न रह कर 'ऊर्जा' मात्र रह जाता है। यह ऊर्जा 'इकालाजी' विज्ञान के अनुसार जड़ नहीं, विवेक युक्त चेतन है। विज्ञान में पदार्थ का सूक्ष्मतम स्वरूप इन दिनों 'क्वान्टा' के रूप में निर्धारित किया है इसे चेतन और जड़ का सम्मिश्रित रूप कह सकते हैं। उसकी व्याख्या विचारशील ऊर्जा के रूप में की जाती है। अध्यात्म की भाषा में इसे अर्ध नारी नरेश्वर कह सकते हैं- प्रकृति पुरुष का सम्मिश्रण इस क्वान्टा को कह सकते हैं। अनुमान है कि अगली पीढ़ी के वैज्ञानिक इस 'क्वान्टा' का विश्लेषण करते करते शुद्ध ब्रह्म तक जा पहुँचेंगे, और वेदान्त की तरह स्वीकार करेंगे कि सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म संव्याप्त है। चेतना का महासमुद्र ही सर्वत्र लहलहा सकता है। जड़ पदार्थ- दृश्य जगत तो उसकी हिलोरें मात्र हैं।

जीव और ब्रह्म के मध्य आदान-प्रदान के सुदृढ़ सूत्र विद्यमान हैं। उनमें अवरोध आत्मा पर चढ़े हुए कषाय कल्मषों के कारण उत्पन्न होता है। इन्हें हटाया जा सके तो ब्रह्माण्डीय चेतना और जीव चेतना के मध्य महत्वपूर्ण आदान-प्रदान चल पड़ते हैं। भौतिक अंश का भार बढ़ जाने से जीव प्रकृति परक हो जाता है उसकी प्रवृत्ति भौतिक आकांक्षाओं और उपलब्धियों में ही सीमित हो जाती है। फलत: वह स्वल्प, सीमित और दरिद्र दिखाई पड़ता है। यदि जीव सत्ता को निर्मल रखा जा सके तो उसकी सूक्ष्मता- ब्रह्म-तत्व से, सूक्ष्म जगत से अपना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर सकती है। यह आदान-प्रदान जिसके लिए भी सम्भव हुआ है वह देवोपम स्तर की स्थिति बना सका है। ऐसे लोगों को स्थूल जगत की अपेक्षा सूक्ष्म जगत से अधिक महत्वपूर्ण अनुदान अधिक मात्रा में मिलने लगते हैं। वह सम्पदा व्यक्ति को सच्चे अर्थों में समुन्नत बनाती है। इस उपलब्धि के सहारे वह अपने सम्पर्क क्षेत्रों के असंख्यों का तथा समूचे संसार का महत्वपूर्ण हित साधन कर सकता है।

सूक्ष्म जगत का अस्तित्व स्वीकार न करने की बात कुछ शताब्दियों पूर्व अनास्थावादियों की आग्रह पूर्वक कह सकने की स्थिति थी। तब विज्ञान और बुद्धि वाद का इतना विकास नहीं हुआ था। आज की स्थिति भिन्न्न है। एक के बाद एक तथ्य उभरता हुआ सामने आया है। और उसने सूक्ष्म जगत का- विश्व चेतना का प्रतिपादन किया है। तत्वदर्शी मनीषियों ने तो उसे दृश्य जगत की तरह ही प्रत्यक्ष माना था और उसके साथ सम्पर्क बनाने का विशालकाय अध्यात्मवादी ढाँचा खड़ा किया था। लगता है वह दिन दूर नहीं जब अध्यात्म और विज्ञान सूक्ष्मता के क्षेत्र में मिल जुलकर प्रवेश करेंगे और जड़ चेतन के क्षेत्र को एकाकार करके सर्वतोमुखी प्रगति का पथ-प्रशस्त करेंगे।

छाया पुरुष साधना की तरह हम स्थूल के साथ-साथ सूक्ष्म जगत का भी, ज्ञान वृद्धि एवं सुविधा सम्पदा के लिए उपयोग कर सकते हैं। दृश्य प्राणियों की तरह अदृश्य जगत में विद्यमान अशरीरी समर्थ आत्माओं के साथ सम्पर्क साध सकते हैं। जमीन पर लड़ी जाने वाली लड़ाई की तुलना में वायु सैना द्वारा लड़े जाने वाले युद्ध के परिणाम अधिक दूरगामी होते हैं। श्रम से ज्ञान का महत्व अधिक है। परमाणु के दृश्य अस्तित्व का मूल्य नगण्य है किन्तु उसके विस्फोट से उत्पन्न ऊर्जा का मूल्य अत्यधिक ही आँका जायेगा। दृश्य शरीर से अदृश्य आत्मा का महत्व कितना है- यह सर्वविदित है। स्थूल जगत को प्रभावित करने वाले सूक्ष्म जगत से सम्पर्क साध सकने की जो क्षमता विज्ञानमय कोश की साधना से मिलती है, उसे महत्वहीन नहीं कहा जा सकता।

विज्ञानमय कोश की प्रसुप्त स्थिति को हटा कर उसमें जागृति उत्पन्न कर देने पर मनुष्य सामान्य न रह कर असामान्य बन जाता है। उसे अनेक प्रकार की असाधारण विशेषताएँ प्राप्त कर सकने का अवसर मिलता है। सूक्ष्म जगत का उपयोग कर सकने की सफलताओं को सिद्धियाँ कहा गया है। साधना से सिद्धि की प्रचलित उक्ति को विज्ञानमय कोश की सफलता कहा जाये तो कुछ अनुचित न होगा।

सिद्धियों का वर्णन साधना शास्त्र में स्थान-स्थान पर मिल सकता है। इस प्रकार की सफलता प्राप्त करने के लिए विज्ञानमय कोश के जागरण का प्रयत्न करना पड़ता है। इस सन्दर्भ में कुछ संकेत इस प्रकार मिलते हैं-

वपुषः कान्तिरुत्कृष्टा जठराग्निविवर्धनम् ।
आरोग्यं च पटुत्वं च सर्वज्ञत्वं च जायते ।।
भूतं भव्यं भविष्यच्च वेत्ति सर्वं सकारणम् ।
अश्रुतान्यपि शास्त्राणि सरहस्यं वदेद् ध्रुवम् ।।
वक्त्रे सरस्वती देवी सदा नृत्यति निर्भरम् ।
मन्त्र सिद्धिर्भवेत्तस्य जपादेव न संशयः ।।

-शिव संहिता ८७-८८-८९

आत्म साधना से शरीर में उत्तम कान्ति उत्पन्न होती है। जठराग्नि बढ़ती है, शरीर निरोग होता है, पटुता और सर्वज्ञता प्राप्त होती है तथा सब वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है।

भूत, भविष्य और वर्तमान काल की सब वस्तुओं के कारण का ज्ञान होता है। जो शास्त्र सुने नहीं जाते उनके रहस्य जानने तथा व्याख्या करने की शक्ति प्राप्त होती है।

उस योग साधक की जिह्वा पर सरस्वती नृत्य करती और मन्त्र आदि सरलता पूर्वक सिद्ध होते हैं

यथा वा चित्तसामार्थ्य जायते योगिनो ध्रुवम् ।
दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः अणाद्दूरागमस्तथा ।।
वाक्सिद्धिः कामरूपत्वमदृश्यकरणी तथा ।

-योग तत्वोपनिषद्

जैसे-जैसे चित्त की सामर्थ्य बढ़ती है, वैसे ही वैसे दूर श्रवण, दूर दर्शन, वाक् सिद्धि, कामना पूर्ति, आदि अनेकों दिव्य सिद्धियाँ मिलती चली जाती हैं।

आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण सर्वदा ।।
धारणाभिर्मनोधैर्यं ध्यानादैश्वर्यमुत्तमम् ।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्तकर्मशुभाशुभः ।।

-वशिष्ठ संहिता

आसन से रोग, प्राणायाम से पातक, प्रत्याहार से मनोविकार दूर होते हैं और धारण से धैर्य, ध्यान से ऐश्वर्य और समाधि से मोक्ष प्राप्त होता है। कर्म बंधन कटते हैं।

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःख विघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः ।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेःपूर्वोऽङ्कुशलस्त्रिविधः ।।

-सा० का० ५९

ऊह, शब्द, अध्ययन, सुहृद प्राप्ति, दान, आध्यात्मिक दुःख हीन, आधिदैविक दुःख हीन यह आठ सिद्धियाँ हैं।

(१) ऊह सिद्धि अर्थात् पूर्व जन्म के स्वरूप का ज्ञान।(२) शब्द सिद्धि अर्थात्-शब्दों का ठीक तात्पर्य समझना(३) अध्ययन सिद्धि-अध्ययन में अभिरुचि और उससे प्रकाश ग्रहण करने की क्षमता (४) सुहृत्प्राप्ति अर्थात् भावनाशील मित्र की प्राप्ति (५) दान सिद्धि-उदार स्वाभाव एवं परमार्थ परायण प्रवृत्ति (६) आध्यात्मिक दुःखों का नाश (७) आधिदैविक दुःखों का नाश (८) आधि भौतिक दुःखों का नाश जिससे हो सके ऐसी विवेक दृष्टि की प्राप्ति।

करामलकवद्विश्वं तेन योगी प्रपश्यति ।
दूरतो दर्शनं दूरश्रवणं चापि जायते ।।
भूतं भव्यं भविष्यं च वेत्ति सर्व सकारणम् ।
ध्यानमात्रेण सर्वेषां भूतानां च मनोगतम् ।।
अंतर्लीनमना योगी जगत्सर्व प्रपश्यति ।
सर्वगुप्तपदार्थानां प्रत्यक्षत्वं च जायते ।।

-योग रसायन

योगी को अदृश्य जगत द्रश्यवत् दीखता है। उसे दूर दर्शन, दूर श्रवण आदि की सिद्धियाँ उपलब्ध रहती हैं। ध्यान मात्र से योगी भूत, भविष्य, वर्तमान तथा प्राणियों के मनोगत भाव जान लेता है।

चेतना के चतुर्थ आयाम विज्ञानमय कोश की मूर्छता यदि दूर की जा सके तो सूक्ष्म जगत के साथ सम्बन्ध जुड़ सकता है और उस क्षेत्र में बिखरी पड़ी ऐसी विभूतियों का लाभ मिल सकता है जो सर्व साधारण के लिये सामान्यतय: उपलब्ध नहीं हैं।

विज्ञानमय कोश का केन्द्र संस्थान हृदयचक्र

विज्ञानमयकोश आस्थाओं, आकांक्षाओं और संवेदनाओं का केन्द्र माना गया है। व्यक्तित्व वहीं बढ़ता और ढलता है। जीवन प्रवाह की दिशा धारा उसी उद्‌गम स्रोत से निर्धारित, नियंत्रित होती है। अस्तु उत्कृष्टता के अनुपात से उसे अन्नमय कोश से -प्राणमय कोश से- मनोमय कोश से ऊपर स्थान दिया गया है। इस स्तर की साधना करने से स्थूल और सूक्ष्म जगत पर समान रूप से अधिकार मिलता है। भौतिक और आत्मिक सिद्धियों का दिव्य संस्थान इस विज्ञानमय कोश को ही माना गया है।

अन्य कोशों की तरह विज्ञानमय कोश की सत्ता भी समूचे कार्य कलेवर में संव्याप्त है। किन्तु उसका प्रवेश द्वार हृदय संस्थान माना गया है। इसी को ब्रह्मचक्र कहते हैं।

थोड़ी गहराई से देखने पर शरीर विज्ञान के अनुसार भी हृदय केन्द्र की महत्वपूर्ण स्थिति सिद्ध हो जाती है। यह केन्द्र हृदय के दायें भाग में स्थित पेस मेकर कहा जा सकता है। यह स्थूल हृदय के दायें भाग में अवस्थित है। अत: वक्ष के मध्य में ही इसका स्थान आ पड़ता है। पेस मेकर क्या है? इसे समझने के लिए हृदय की रचना तथा कार्य पद्धति पर थोड़ा सा ध्यान केन्द्रित करना होगा।

मान्यता यह है कि रक्त संचार हृदय से होता है, और उसके कारण शरीर का अस्तित्व बना रहता है। हृदय के आकुञ्चन एवं प्रसारण की क्रिया के कारण उसके द्वारा सारे शरीर में रक्त पम्प किया जाना सम्भव होता है। सामान्य भाषा में इस क्रिया को हृदय की धड़कन कहते हैं। हृदय की धड़कनों एवं रक्त को संचारित करते रहने के लिए २० वाट विद्युत शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। यह विद्युत शक्ति हृदय में ही पैदा होती है, तथा यही हृदय की धड़कन का कारण बनती है। विद्युत स्पन्दन (इलैक्ट्रिक इम्पल्स) हृदय के जिस भाग से पैदा होता है वह हिस्सा ही हृदय का मुख्य पेस मेकर कहलाता है।

पेस मेकर हृदय के दायें एवं ऊपरी प्रकोष्ठ के मध्य में होता है। इसमें से जैसे ही विद्युत स्पन्दन पैदा होता है उसे संचरित करने वाले विशेष तन्तु उसे हृदय में संचरित करते हैं। पूरे हृदय में उस स्पन्दन को संचरित होने में औसतन ०.८ सैकिंड का समय लगता है। इतने ही समय में हृदय की एक धड़कन पूरी होती है। अस्तु मनुष्य के जीवन का मुख्य आधार हृदय की धड़कन नहीं उसे पैदा करने वाला यह विद्युत स्पन्दन कहा जा सकता है। इसे ही कारण शरीर का अथवा विज्ञानमय कोश का केन्द्र कहा जा सकता है। शास्त्रीय परिभाषाओं की अनेक संगतियाँ इसके साथ बैठ जाती हैं।

कारण शरीर के केन्द्र के रूप में इसकी व्याख्या के अन्तर्गत कहा गया है कि वह अंगुष्ठ मात्र आकार वाला प्रकाशमान अंग है। इसी प्रकार विज्ञान मय कोश के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह ब्रह्माण्ड व्यापी चेतना से जुड़ा है तथा उससे सीधा आदान-प्रदान करने में समर्थ है। यह दोनों संगतियाँ भी इस केन्द्र के साथ ठीक बैठ जाती हैं।

योगियों ने 'कारण शरीर' को हृदय स्थित प्रकाशमान अंगुष्ठमात्र देह भी कहा है। स्वप्रकाशित वस्तु में से प्रकाश तरंगे नियमित रूप से विकीरित होती रहती हैं। प्रकाशमान का अर्थ यहाँ रोशनी देने वाला नहीं है। कारण शरीर से 'जैवीय विद्युत स्पन्दन' पैदा होकर सारे शरीर में जीवन संचार करते रहते हैं, यही उसके प्रकाशमान कहलाने का कारण है। योगियों ने जीवन स्पन्दनों के मुख्य 'कारण' को जब अपनी योग दृष्टि से खोजा होगा तो उन्हें मुख्य पेस मेकर के स्व स्पन्दित क्षेत्र का बोध हुआ होगा। वैज्ञानिक मान्यतानुसार भी वह क्षेत्र आकार में ५ मि. मी. x २० मि. मी. का है। इसे अँगूठे के बराबर कहना सर्वथा उचित है। 'अंगुष्ठ मात्र' प्रकाशमान शरीर की घोषणा योगियों ने इस स्वस्पन्दित क्षेत्र को देखकर ही की होगी।

यह केन्द्र किसी सूक्ष्म चेतना से संचालित है यह तथ्य वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। पेस मेकर में विद्युत स्पंदन कैसे, कहाँ से उत्पन्न होते हैं यह वैज्ञानिकों को

पता नहीं। इसे वे विश्व नियन्त्रक सत्ता के ही स्पन्दन मानते हैं। पेस मेकर में विद्युत स्पन्दन जिन विशेष तन्तुओं द्वारा हृदय में फैलते हैं वह प्रारम्भ में एक समूह (बण्डल) के रूप में निकलते हैं। वैज्ञानिकों ने इस तन्तु समूह का नाम 'बण्डल आफ हिज' रखा है। इसका अर्थ होता है 'उसके' तन्तु समूह। उल्लेखनीय यह है कि इस नाम में 'हिज' (अँग्रजी में) जब 'हिज' कैपिटल अक्षरों से लिखा जाय तो उसे ईश्वर के लिए किया गया सम्बोधन माना जाता है। पेस मेकर के विद्युत स्पन्दन को लेकर चलने वाले तन्तु समूह को ईश्वर के तन्तु समूह कहने का सीधा अर्थ यही होता है कि इस केन्द्र को महत-चेतना द्वारा संचालित स्वीकार कर लिया गया है।

यह विद्युत स्पन्दन पैदा करने वाली सत्ता, उस स्थल को बनाने वाले स्थूल तन्तुओं से भिन्न है यह तथ्य भी चिकित्सा विज्ञान के अन्तर्गत प्रमाणित हो जाता है। यदि उस स्थल विशेष के तन्तुओं का यह सहज गुण होता तो या तो स्पन्दन वहीं से ही पैदा होते अथवा एकदम समाप्त हो जाते। लेकिन देखा यह जाता है कि कई बार स्पन्दन पैदा होने का केन्द्र बदल जाता है। जब मुख्य पेस मेकर के तन्तु पैदा करने में किसी कारण अक्षम हो जाते हैं तो वह संचालक शक्ति उसी के सहयोगी निकटतम तन्तु समूह के किसी भाग से उन स्पन्दनों का संचरण करने लगती है। मुख्य पेस मेकर में व्यवधान आ जाने पर उसके थोड़े नीचे अवस्थित सहायक पेस मेकर अथवा 'बण्डल आफ हिज' के किसी भाग से यह कार्य लिया जाने लगता है। चिकित्सा शास्त्री इस प्रक्रिया को 'ट्रास्फर आफ पेस मेकर एक्टिविटी' (पेस मेकर प्रक्रिया का स्थानान्तरण) कहते हैं। इसे यों भी समझा जा सकता है कि यदि किसी विद्युत मोटर का स्टार्टर खराब हो जाय तो कुशल मिस्त्री उसे छोड़कर लाइन के तार मेन स्विच से सीधे मोटर के तारों से जोड़ देता है। और भी मोटा उदाहरण लिया जाय तो यदि साइकिल की सीट टूट जाय तो कुशल चालक पीछे या आगे डन्डे पर बैठ कर भी साइकिल को गतिशील बनाये रखता है। दोनों ही स्थितियों में काम तो किसी प्रकार चलता रहता है किन्तु सन्तुलन बिगड़ने का भय हमेशा बना रहता है। किसी भिन्न स्थान से जब हृदय के स्पन्दन संचरित होने लगते हैं तो दिल की गति में गड़बड़ी पैदा होने लगती है।

चिकित्सा की दृष्टि से वह स्थिति क्या होती है यह बात भिन्न है। परन्तु उपयुक्त दोनों तथ्यों से यह सिद्ध हो जाता है कि हृदय में विद्युत स्पन्दन पैदा करने वाली चेतनसत्ता उसके स्थूल घटकों से भिन्न है जो कुशल आपरेटर की तरह उनका उपयोग करती रहती है। उसके संकेत पर ही स्थूल शरीर के उपकरण जीर्ण शीर्ण हो जाने पर भी हृदय स्पन्दित होता रहता है। दूसरी ओर शरीर के सारे अवयव ठीक रहने पर भी जब वह चेतना अपना कार्यालय समेट लेती है तो शरीर निष्प्राण हो जाता है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अदृश्य चेतना द्वारा संचालित यह विद्युत स्पन्दन शरीर में रक्त परिभ्रमण संस्थान से परे भी अस्तित्व रखते हैं। कहा गया है कि हृदय विज्ञानमय कोश का केन्द्र तो है किन्तु उसकी सत्ता, उसका अस्तित्व सारे शरीर में फैला है। पेस मेकर द्वारा संचारित विद्युत स्पन्दन हृदय में धड़कन तो पैदा करता ही है, किन्तु उसके अस्तित्व के प्रमाण सारे शरीर में भी मिलते हैं। शरीर रचना की दृष्टि से तो उस विद्युत स्पन्दन के संवाहक तन्तु केवल हृदय में ही फैले हैं, उसके बाहर शरीर में वे नहीं हैं। किन्तु हृदय रोगों का अंकन करने वाले यन्त्र ई.सी. जी. पर कायिक विद्युत का जो बोल्टेज हृदय के आस-पास अंकित होता है वही कंधों, हाथ की कलाइयों तथा पैर के टखनों तक पर भी अंकित होता है। स्पष्ट है कि हृदय केन्द्र में उस महत् सत्ता से सीधे संपर्क रखने की क्षमता तो है ही, उससे प्राप्त संकेतो-स्पन्दनों को सारे शरीर में संचरित करने की क्षमता तथा उसके लिए व्यवस्थित तन्त्र भी अवश्य है।

यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि स्थूल विज्ञान के आधारों पर यौगिक सूक्ष्म सिद्धान्तों की शत प्रतिशत व्याख्या नहीं की जा सकती। चूँकि सूक्ष्म सीधा हमारे पकड़ में नहीं आता इसलिए उसे स्थूल के माध्यम से प्राथमिक स्तर पर समझने समझाने का प्रयास भर किया जा सकता है। विज्ञानमय कोश की अतीन्द्रिय क्षमताओं तथा इसके केन्द्र की अद्भुत महत्ता की झलकमात्र-स्थूल विज्ञान के आधार पर पायी जा सकती है। चिकित्सा विज्ञान ने तो केवल रोगों के कारण और निवारण का लक्ष्य रखकर ही अध्ययन एवं शोध क्रम आगे बढ़ाया है, फिर उसके आधार पर हृदय केन्द्र में विशिष्ट क्षमताओं तथा उससे सम्बद्ध शरीर व्यापी एक तन्त्र का होना तो सिद्ध हो ही जाता है ईश्वर प्रदत्त इस सुविधा का लाभ कैसे उठाया जाय, इस क्षमता को किस सीमा तक बढ़ाया जा सकता है। उसका परिमार्जन आदि कैसे किया जा

सकता है, यह सब विषय अभी स्थूल विज्ञान के कार्य क्षेत्र के बाहर हैं। योगियों ने इन प्रकरणों में पर्याप्त गहराई से खोज एवं उलब्धियाँ की हैं। विज्ञानमय कोश को अतिशय सक्रिय करने से लेकर समाधिस्थिति में उसे एकदम शान्त बना देने तक की सफलताएँ वे पा सके हैं। इस सफलता के साथ वे उपलब्धियाँ जुड़ी हुई हैं जिन्हें साधना की सिद्धि के रूप में जाना जाता है।

हृदय चक्र को गुफा या गुहा कहा गया है। जिस प्रकार योगीजन विशिष्ट साधनाओं के लिए गुफा में प्रवेश करके सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार इस हृदय गुफा में प्रवेश करके दिव्य उपलब्धियाँ प्राप्त की जाती हैं। बोलचाल की भाषा में हृदय शब्द का उपयोग सवेदनाओं के लिए किया जाता है। सहृदय, का अर्थ कोमल भावनाओं वाला। हृदयहीन अर्थ निष्ठुर। यह रक्त फेंकने वाली थैली के गुण नहीं वरन् उस सचेतन हृदय तत्व के गुण हैं जिसे अध्यात्म की भाषा में हृदय चक्र, ब्रह्म चक्र कहा जाता है। यह विज्ञानमय कोश का प्रवेश द्वार है। इसी केन्द्र को ध्यान धारणा के सहारे जागृत करके अति मानस जगाया जाता है। अतीन्द्रिय क्षमता की दिव्य सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए साधना की आधारशिला यही है। अन्तःकरण एवं अन्तरात्मा का केन्द्र संस्थान भी यही माना गया है। दिव्य प्रेरणाएँ हृदय देश से ही उभरती हैं। ईश्वरीय सन्देश वहीं मिलते हैं और वहीं से अविज्ञात प्रकृति रहस्यों की जानकारियाँ हस्तगत होती हैं। जिन वैज्ञानिकों ने अद्भुत आविष्कार किये हैं उनसे पूछा गया कि ऐसा अनौखा विचार आपको कैसे हस्तगत हुआ तो उनमें से प्रत्येक ने यही कहा कि "यह भीतर से उभरा।" भीतर के शब्द से उनका तात्पर्य मस्तिष्क से नहीं, वरन् अन्तराल में उभरने से है।

यही वह क्षेत्र है, जहाँ अतीन्द्रिय शक्तियों का भण्डार है। बुद्धि क्षेत्र से बाहर की कितनी ही बातें कभी-कभी ऐसी सूझ पड़ती हैं जो विलक्षण प्रतीत होती हैं। पर परीक्षा की कसौटी पर वे सही उतरती हैं। ऋद्धि- सिद्धियों का क्षेत्र यही माना गया है। जिस किसी का विज्ञानमय कोश जाग पड़ता है उसे अविज्ञात भी- भूत और भविष्य भी इसी प्रकार प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है मानो उसकी प्रत्यक्ष जानकारी उन्हें पहले से ही हो रही है।

मनोविज्ञानी जिसे "सुपर चेतन" कहते हैं और जिसकी संगति अलौकिक आभासों के साथ जोड़ते हैं, वह मस्तिष्क का नहीं वरन् विज्ञानमय कोश का क्षेत्र है। मानसिक संरचना में चेतन और अचेतन के दो ही पक्ष हैं। मस्तिष्कीय संरचना का दो भागों में ही विभाजन हुआ है। अस्तु उसका कार्यक्षेत्र ज्ञानवान सचेतन और स्वसंचालित अचेतन के साथ ही जुड़ता है। जिसे अविज्ञात कहा गया है, जिसे सुपर चेतन भी कहते हैं, वह वस्तुतः विज्ञानमय कोश ही है।

इसे किन्हीं ग्रन्थों में सूर्य चक्र भी कहा गया है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश उदय होने पर अन्धकार तिरोहित हो जाता है और प्रत्येक वस्तु प्रत्यक्ष दीख पड़ती है। उसी प्रकार विज्ञानमय कोश में प्रकाशित दिव्य ज्योति की छत्र छाया में व्यक्ति अपना स्वरूप लक्ष्य और कर्त्तव्य भी देख सकता है। उसे अपने सुसंस्कार और कुसंस्कार भी दीख पड़ते हैं। जबकि साधारण लोग इस सम्बन्ध में भ्रम भरी स्थिति में ही रहते हैं, उन्हें अपने में केवल गुण ही गुण दीख पड़ते हैं। दोषारोपण वे दूसरों पर करते रहते हैं। पर इससे किसी समस्या का समाधान नहीं होता। जिन दोषों को अपने भीतर ढूँढ़ना और सुधारना चाहिए उन्हें यदि दूसरों से दोषी ठहराने के आत्म प्रवंचना की जायेगी तो समाधान किस प्रकार बन पड़ेगा ? विग्रह खड़ा होगा और गुत्थी उलझेगी।

आत्म-सत्ता में समाहित यथार्थता को यदि जाना जा सके तो व्यक्ति आत्म-कल्याण का मार्ग भी सरलता पूर्वक जान सकता है। अन्यथा भटकाव की स्थिति में हाथ कुछ नहीं लगता और खीज, थकान एवं निराशा ही पल्ले पड़ती हैं।

आत्मा को परमात्मा से मिलने की इच्छा रहती है। इस विलगाव के कारण ही सर्वदा असन्तोष छाया रहता है और समाधान ढँढ़ने के लिए जिस-तिस वस्तु को निरखा, परखा जाता है, किन्तु निर्जीव जड़ पदार्थों में वह साधन कहाँ मिले जो चेतन स्तर का हो। व्यक्तियों का परिचय भी शरीर रूप में हो पाता है। वे कभी रुष्ट या पृथक भी हो सकते हैं, होते रहते हैं। ऐसी दशा में आन्तरिक शान्ति हस्तगत नहीं हो पाती और न जिनकी तलाश है, वह परमात्मा ही मिल पाता है।

तत्वदर्शियों ने इस समस्या को सुलझाया है और कहा है कि ईश्वर सर्वव्यापी होते हुए भी उसे ऐसे स्थान पर नहीं पाया जा सकता जहाँ मिलना सम्भव हो सके। ऐसा स्थान केवल अपना हृदय है। यही विज्ञानमय कोश है। कस्तूरी की तरह यह मृग की नाभि में ही सुगन्ध के भण्डार रूप में होता है पर वह उसे जहाँ-तहाँ ढूँढ़ता

फिरता है। इस भ्रम का निवारण शास्त्रकारों ने इस प्रकार किया है।

योगवाशिष्ठ का कथन है-

संत्यज्य हृदर्गुहशानं देवमन्यं प्रयान्तिये ।
ते रत्नमभिवाँछन्ति त्यक्त हस्तस्थ कौस्तुभा ।।

अर्थात- जो हृदय रूपी गुफा में निवास करने वाले भगवान को छोड़कर अन्यत्र ढूँढ़ता फिरता है वह हाथ की कौस्तुभमणि छोड़कर काँच ढूँढ़ते फिरने वाले मूर्ख के समान है।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म कलिकस्यमध्ये विश्वस्य स्रष्टा रमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैक परिवेष्टितारं ज्ञात्वाशिवं शान्ति मत्यन्तमेति ।।

-श्वेताम्श्रतरोपनिषद्

जो सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म, हृदय गुहा रूप गुह्य स्थान के भीतर स्थित सम्पूर्ण विश्व की रचना करने वाला, अनेक रूप धारण करने वाला तथा समस्त जगत को सब ओर से घेरे रखने वाला है,उस एक अद्वितीय करुणास्वरूप महेश्वर को जानकर मनुष्य सदा रहने वाली शान्ति को प्राप्त होता है।

ऐष देवो विश्वकर्म्मा महात्मा
सदा जनाना हृदये सन्निविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाभिल्कृप्तो
य एतद्दिदुरमृतास्ते भवन्ति ।।

-श्रैताश्रतर ४।१७

यह देवता विश्व के बनाने वाले और महात्मा हैं, सदा लोगों के हृदय में सन्निविष्ट हैं। हृदय, बुद्धि, और मन के द्वारा पहिचाने जाते हैं जो इसे जानते हैं वे अमृत होते हैं।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमेन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ।

-तैत्ररीय

जो हृदय गुहा में अवस्थित, ज्ञानस्वरूप व्यापक परमेश्वर को जानता है वह ब्रह्म के साथ ही सब भोगों का उपभोग करता है।

निहितं गुहायाममृतं विभ्राजमानमानन्दं तं
पश्यन्ति विद्वांसस्तेन लयेन पश्यन्ति ।।

-सुवालोपनिषद

परब्रह्म हृदय रूपी गुफा में रहने वाला है, वह अविनाशी और प्रकाश स्वरूप है 'ज्ञानी' उसे 'आनन्द रूप में अनुभव करते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं।

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थि विकिरतीह सोम्य ।।

-मुण्डकोपनिषद्

महर्षि अंगिरा ने कहा कि हे प्यारे शौनक! क्रिया, ज्ञान और नित्य वेद तथा सारा जगत् उसी परब्रह्म के आधार से ठहरा हुआ है। बस जो मनुष्य उस ब्रह्म को अपनी हृदय-रूपी गुहा में स्थित जानता है वह अज्ञान की गाँठ को काट देता है, अर्थात् मुक्त हो जाता है।

न पाताल न च विवरं गिरीणां
नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम् ।
गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं
बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते ।।

-व्यास भाष्य

जिस गुफा में ब्रह्म का निवास है वह न तो पाताल है, न पर्वतों की कन्दरा, न अन्धकार है, न समुद्र की खाड़ी। चेतन से अभिन्न जो चित्त वृत्ति है, ज्ञानवान लोग उसे ही 'ब्रह्म गुहा' कहते हैं।

ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया ।।
तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत ।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।

-गीता १८।६१,६२

ईश्वर सब प्राणियों के हृद देश में रहता है। वह अपने कौशल से सब प्राणियों को चलाता है। सर्व प्रकार से उसी की उपासना करो। उसकी कृपा से परम शान्ति, परम पद मिलता है।

हृदय चक्र की उपमा कमल पुष्प से दी गई है। इसे हृदय कमल भी कहते हैं। कमल का तात्पर्य यहाँ आकृति से कम और संवेदना से अधिक है। कमल-कोमलता का, सौन्दर्य का, सुगन्ध का, सात्विकता का प्रतीक है। उसे पुष्पों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। अस्तु चक्र को कमल की संज्ञा दी गई है।

आविः संनिहितं गुहाचरन्नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम् ।

-मुण्डकोपनिषद्

वह ज्ञानियों के हृदय रूपी गुफा में प्रकट है, सदा सब के समीप रहता है, ज्ञानियों की बुद्धि में वर्तमान रहता है, वह सबसे बड़ा परम धाम है।

हृदिस्था देवता: सर्वा हृदि प्राणा: प्रतिष्ठिता: ।
हृदि ज्योतीषि भूयश्र् हृदि सर्व प्रतिष्ठितम् ।।

–शंख संहिता

हृदय में सब देवताओं का, सब प्राणों का निवास है। हृदय में ही परम ज्योति है। सब कुछ उसी में विद्यमान है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता: ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवात्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।।

–कठोपनिषद्

जब मनुष्य के हृदय में सारी कल्पनाऐं नष्ट हो जाती हैं तब यह मरणधर्मा मनुष्य मुक्त हो जाता है और मुक्ति दशा में ब्रह्म को प्राप्त करता है।

दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ।।

–मुण्डकोपनिषद्

वह दूर से भी दूर है तो भी वह बहुत पास है, ज्ञानी योगियों के लिए वह यहीं हृदय गुफा में विराजमान है।

अंगुष्ठमात्र: पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सत एतद्वै तत ।।

–कठोपनिषद्

वह सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मा शरीर के हृदय स्थान में भी जहाँ अंगुष्ठमात्र स्थान में लिंग शरीर सहित आत्मा रहता है। योगी जन उसकी प्राप्ति के लिए इसी स्थान पर ध्यान लगाते हैं। वह ईश्वर भूत और भविष्य सबका स्वामी है, जो मनुष्य उसको वहाँ जान लेता है वह फिर ग्लानि को प्राप्त नहीं होता।

हृत्पभ्दकर्णिकामध्ये स्थिरदीपनिभाकृतिम् ।
अंगुष्ठमात्र मचलं ध्यायेदोंकारमीश्वरम् ।।

–विन्दूपनिषद्

अर्थात् 'हृदयकमल की कणिका में जो स्थिर दीप-शिखा के समान ज़्योर्तिमान अंगुष्ठमात्र आकार वाला ओंकार रूप ईश्वर है, उसका ध्यान करें।

हृदय चक्र में ध्यान करते समय अंगुष्ठ आकार की प्रकाश ज्योति का दर्शन साधकों को होता है। दीप शिखा जैसी जलती प्रतीत होती है। इस दिव्य दर्शन को आत्म साक्षात्कार एवं ब्रह्म दर्शन का प्रतीक माना गया है। चक्रों की स्थिति सामान्यतया नदी में पड़ने वाले भँवरों की तरह है। ग्रीष्म ऋतु में उठने वाले भँवरों- चक्रवातों के समतुल्य भी उन्हें माना जाता है। इस स्थिति को कमल पुष्पवत् चित्रित करने में भी कोई विसंगति नहीं है। विज्ञानमय कोश के आधार केन्द्र ब्रह्म चक्र-हृदय चक्र के सम्बन्ध में साधना शास्त्र में कहीं कमल पुष्प तुल्य और कहीं अंगुष्ठ आकार की प्रकाश ज्योति के सूक्ष्म दर्शन का उल्लेख है। कहा गया है-

अंगुष्ठमात्र पुरुषो ज्योतिरिवाधूमक: ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य उश्व: एतद्वै तत् ।।

–कठोपनिषद्

हृदय स्थान में विशेष रूप से जानने के योग्य वह व्यापक आत्मा धूम रहित प्रकाश के समान निर्मल हैं। वही भूत, भाविष्यत् का स्वामी है, वही आज मालिक है वही कल रहेगा, यही वह ब्रह्म है जिसकी जिज्ञासा तूने की थी।

विश्वरूपस्यदेवस्य रूप यत्किंचिदेव हि ।
स्थवीय: सूक्ष्ममन्यद्‌वा पश्यन्हृदयपंकजे ।।
ध्यायतो योगिनो यस्तु साक्षादेव प्रकाशते ।

–शिवस्वरोदय

विश्वरूप देव का जो कुछ भी सूक्ष्म रूप मान कर अपने हृदय कमल में ध्यान करने वाला, साधक उन्हीं देव स्वरूप जैसा दिखाई पड़ता है।

हृत्पुंडरीकमध्ये तु भावयेत् परमेश्वरम् ।
साक्षिणं बुद्धिनृत्तस्य परम प्रेय गोचरम् ।।

–मैत्रैयुपनिषद

हृदय कमल पर विराजमान परमेश्वर को साक्षी बुद्धि के सहारे भाव पूर्वक ध्यान धारणा करें।

अंगुष्ठमात्र: पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्ट: ।
त स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीका धैर्येण ।।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ।।

–श्वेताश्ररोपनिषद्

हृदय के अंगुष्ठ मात्र स्थानों में रहने वाला जीवात्मा है। योगी को चाहिए कि प्रयाण काल में धैर्य के साथ उसे अपने शरीर से ऐसे निकाले जैसे मूँज के पूले मे से सींक खींची जाती है। उस आत्मा को शुद्ध पवित्र और अमृत जानें।

तस्ये मध्यं महानर्चिर्विश्वर्चिर्विश्वतोमुखम्।
तस्य मध्ये वह्नि शिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता
तस्या: शिखाया मध्ये पुरुष: परमात्मा व्यवस्थित:
स ब्रह्मा स ईशान: सेन्द्र: सोऽक्षर: परम: स्वराट् ।।

–महोपनिषद १।१३,१४

उस हृदय के मध्य में ही एक ज्वाला प्रदीप्त है। वही ज्वाला दीप शिखा के समान दसों दिशाओं में प्रकाश को बाँट कर विश्व को प्रकाशित करती है। उसी ज्वाला के मध्य में कुछ ऊपर उठी हुई एक क्षीण वह्नि शिखा है। उसी कक्षा में परमात्मा निवास करते हैं। वही परमात्मा ब्रह्मा, ईशान, इन्द्र है तथा वे अविनाशी एवम् परम स्वराट् हैं।

अंगुष्ठ मात्र मात्मानमेधूम ज्योति रूपकम् ।
प्रकाशयन्तमन्तस्थ ध्यायेत्कूटस्थ भव्ययेम् ।।

-योग कुण्डल्युपनिषद्

धूम्र रहित शुभ्र प्रकाश ज्योति अंगुष्ठ आकार की हृदय में दीप्तिमान है। उसी का ध्यान करना चाहिए।

हृदयकुहरमध्ये केवल ब्रह्ममात्रं ।
ह्यहंमहमिति साक्षादात्मरूपेण भाति ।।
हृदि विश मनसा स्वं चिन्वता मज्जता वा ।
पवन चलन रोधादात्मनिष्ठो भव त्वम् ।।

-श्रीरमणगीता

"हृदय की गुफा के भीतर केवल मात्र ब्रह्म ही है, जो 'अहम्' इस साक्षात् आत्म रूप से प्रकाशित होता हैं। इस हृदय में मन में प्रवेश करो, अपने आपको ढूँढ़ो या गहरे में गोता लगाओ या प्राण निरोध करके आत्मा में स्थित हो जाओ।"

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्क सदाशुचिः ।
सतु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ।।

-कठ

विज्ञान साधना सम्पन्न सदा पवित्र रहता है। मनस्वी बनता है। उसे परम पद मिलता है। पुर्नजन्म नहीं होता।

तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुष विध एव।

-तैतरीयोपनिषद्

मनोमय कोश के पश्चात् विज्ञानमय कोश है। उसी में पूर्ण पुरुष का निवास है।

स यो विज्ञान ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स लोकाञ्ज्ञानवतोऽभिसिद्धयति यावद्विज्ञानस्य गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति यो विज्ञान ब्रह्मेत्युपास्ते।

-छान्दोग्योपनिषद

जो जन विज्ञानमय कोश को महान् जान कर उपासना करता है, वह विज्ञान वाले और ज्ञान वाले लोकों को सिद्ध कर लेता है।

हृदय चक्र के विकसित परिष्कृत होने का प्रत्यक्ष प्रति फल सहृयता संवर्धन के रूप में सामने आता है। यह कोमलता दया, करुणा, ममता, श्रद्धा, सद्भावना, उदारता के रूप में उभरती और सम्पर्क क्षेत्र पर बरसती देखी जा सकती है। इस अमृत वर्षा से शुष्क मरुस्थल हरे भरे होते हैं। साथियों को स्नेह-सद्भाव और सहयोग का लाभ मिलने से वे उच्चस्तरीय अनुदान पाने का आनन्द लेते हैं और उस आधार पर अपनी सवंतोमुखी प्रगति का पथ प्रशस्त करते हैं। यह सद्भाव सम्पदा बाँटने वाला स्वयं अपने आप में उत्कृष्ट कलाकारिता का गर्व गौरव और सन्तोष अनुभव करता है। सहृदयता को देवत्व का पर्यायवाची ही मानना चाहिए। सज्जनता और शालीनता इसी अन्तः स्थिति की परिचायक है। महामानवों में यही विशेषता उभरी होती है।

हृदय की परिपुष्टि उच्चस्तरीय आदर्शों में अगाध आस्था के रूप में दृष्टिगोचर होती है। क्षणिक उत्साही तो पानी के बबूले की तरह कई ऊँची कल्पनाऐं करते हैं, किन्तु अन्तः परिपक्वता के अभाव में झाग की तरह उनके बैठ जाने में भी देर नहीं लगती । हृदय चक्र को जागृत किया जा सके तो आदर्शवादी उमंगें चिरस्थायी बन सकती हैं और उस प्रेरणा के सहारे उत्कर्ष के पथ पर अनवरत गति से बढ़ते चलना सम्भव हो सकता है।

भगवान् हृदय में विराजते हैं। "दिल के आईने में है तस्वीरे यार" के अनुसार हृदयवान व्यक्ति अपने ही मन मन्दिर में हर घड़ी भगवान के दर्शन करते हैं और उनके अजस्र अनुदान अपने ऊपर बरसने का अनुभव करते आनन्द लेते हैं।

विज्ञानमय कोश और जीवन साधना

विज्ञानमय कोश आत्म-चेतना का वह गहन अन्तराल है जिसका सीधा सम्बन्ध ब्रह्माण्डीय चेतना के साथ बनता है। अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोश व्यक्ति चेतना की परिधि में बँधे रहते हैं। उनके विकास का लाभ मनुष्य के निजी उत्कर्ष में दृष्टिगोचर होता है। सम्पर्क क्षेत्र के व्यक्ति उससे लाभ उठाते हैं। बलिष्ठ शरीर, प्रखर प्रतिभा और विद्या बुद्धि के सहारे कितने ही महत्वपूर्ण कार्य सधते हैं। व्यक्तित्व निखरता और क्षमता सम्पन्न बनता है। प्रगति के आरम्भिक चरण यही हैं। क्रमिक उन्नति करते हुए इसी मार्ग से चरम लक्ष्य तक पहुँचना सम्भव होता है।

ज्ञान, सामान्य लौकिक जानकारी को कहते हैं। दूसरे शब्दों में इसे शिक्षा भी कहा जा सकता है। विज्ञान का तात्पर्य है- विशेष ज्ञान। अध्यात्म प्रयोजनों में यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त है, यों व्यवहार में विज्ञान का तात्पर्य 'साइन्स' समझा जाता है। उसे पदार्थ विज्ञान का संक्षेप माना गया है। पर अध्यात्म में वैसा नहीं है। सामान्य अर्थात् काम काजी, लौकिक, भौतिक, व्यावहारिक विशेष अर्थात् आन्तरिक, अन्तरंग, सूक्ष्म, चेतन, आध्यात्मिक। विशेष ज्ञान अर्थात् विज्ञान। सामान्य बुद्धि-लौकिक कुशलता सम्पन्न होती है। असामान्य बुद्धि-ऋतम्भरा प्रज्ञा कहलाती है। उसके द्वारा आन्तरिक प्रगति और आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति का साधन जुटाया जाता है। विज्ञान मय कोश चेतना की वह परत है, जो अपने भीतर उच्चस्तरीय विभूतियों को छिपाये रहती है। कोश भण्डार को भी कहते हैं। विशेष अलौकिक जानकारी, विशेष शक्ति, अन्तःकरण की उच्चस्थिति इस संस्थान की उत्पत्ति एवं उपलब्धि है। इस सामर्थ्य के सूत्र यों रहते तो अपने ही अन्तःकरण में है, पर वस्तुतः उनका सम्बन्ध सूक्ष्म जगत में संव्याप्त ब्रह्माण्डीय चेतना से जुड़ा रहता है।

छोटे बैंक बड़े बैकों से सम्बद्ध हों तो आवश्यकतानुसार उनके बीच आदान-प्रदान होता रहता है। जरूरत के समय छोटे बैंक बड़े संस्थानों से संरक्षण और सहयोग प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म जगत की हलचलों की जानकारी और उपयोगी विभूतियों को उपलब्ध कर सकना उनके लिए सम्भव हो जाता है जिनका विज्ञानमय कोश समुन्नत स्तर का बन चुका है। प्रसुप्ति तो मरण के समतुल्य होती है। सोता हुआ मनुष्य अचेत पड़ा रहता है,उसके लिए दूसरों के निमित्त कुछ कर सकना तो दूर अपने वस्त्र सम्भाल सकना तक कठिन हो जाता है। भौतिक जगत के पाँच तत्वों की ही तरह आत्मिक जगत की चेतन सत्ता पाँच प्राणों में विभक्त है। साधना विज्ञान के अनुसार उन्हें पाँच कोश कहा जाता है। यदि वे जागृत हों तो सामान्य काया भी देवोपम विशिष्टताओं का परिचय देगी, किन्तु यदि सुषुप्ति छाई हुई हो तो फिर निर्जीव निस्तब्धता के अतिरिक्त और कुछ भी दृष्टिगोचर न होगा।

विज्ञानमय कोश की विशिष्ट साधनाएँ हैं उनके माध्यम से प्रयत्नपूर्वक उस केन्द्र में सन्निहित क्षमताओं का अभिवर्धन किया जा सकता है। साधना के अनेक प्रकार हैं, उनमें से कुछ योगाभ्यास एवं तपश्चर्या स्तर के हैं। कुछ ऐसे हैं जिनमें चरित्र निष्ठा एवं समाज निष्ठा में संलग्न रह कर चेतना के अन्तराल को परिष्कृत किया जाता है। आत्म-निर्माण एवं लोक-निर्माण में आदर्शवादी श्रद्धा सद्भावना को अपनाते हुए तत्पर रहा जाय तो वे क्रिया-कलाप भी उच्चस्तरीय साधना का प्रयोजन पूरा करते हैं। चरित्र को स्वर्ण की तरह तपा लेना संयम की अग्नि में अपने कषाय-कल्मषों को जला डालना विशुद्ध तप साधना ही है। अपने स्वार्थों को परमार्थ में जोड़ देना-व्यष्टि को समष्टि में विलय कर देना- इसे योग ही कहा जायेगा। कितने ही महामानव अपनी जीवन प्रक्रिया को उत्कृष्ट आदर्शवादिता में ढाल कर एक प्रकार से सन्त ही बने रहे हैं, भले ही उन्होंने वैसी वेषभूषा धारण न की हो। ऐसे लोगों को भी विज्ञानमय कोश की साधना का परिपूर्ण लाभ मिलता रहा है।

साधना इस प्रकार से की गई या उस तरह, इसका कोई विशेष महत्व नहीं है। बात कर्मकाण्डों के विधि-विधानों की नहीं,अन्तराल में आदर्शवादी उत्कृष्टता को प्रतिष्ठापित करने की है। उसे जिस भी प्रकार बो लिया जाय, अंकुर उगेगा और समयानुसार विशाल वृक्ष बनकर पल्लवित और फलित होगा।

उच्चस्तरीय साधना प्रक्रिया के अन्तर्गत जो उपासनात्मक विधि-विधान बताये जाते हैं, उन बीजांकुरों में भी खाद पानी तो चरित्र निष्ठा और समाज निष्ठा का ही देना पड़ेगा। कोई साधन विधि कितनी ही शास्त्र सम्मत एवं अनुभूत क्यों न हो अन्तःकरण का स्तर निकृष्ट बने रहने पर विकसित न हो सकेगी। मरुस्थल में लगाये हुए बहुमूल्य पौधे भी उद्यान कब बन पाते हैं ? ताप तापों की जलन साधना को भी उसी तरह जला देती है जैसे कि तप्त बालू में लगाये गये पौधे मुरझाते और नष्ट होते हैं।

जपयोग, लययोग, ध्यानयोग, हठयोग, राजयोग प्राणयोग, ऋजयोग, विभुयोग आदि की तरह ही एक योग साधन जीवन साधना भी है। इसे अन्य किसी योगीभ्यास से कम न माना जाय। व्यायामों के कला कौशल सीखकर दंगल पछाड़ने वाले पहलवान बनते हैं, सरकस में भी उनकी प्रशंसा होती है। किन्तु ऐसे भी अनेक व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने व्यायामशाला में प्रवेश नहीं किया और उन विशिष्ट कला-कौशलों को नहीं सीखा जिन्हें वहाँ बताया और अभ्यास कराया जाता है। फिर भी उन्होंने आहार-

विहार के संयम-नियम दिनचर्या, प्रकृति, अनुसरण प्रसन्न सन्तुष्ट स्वभाव, उच्च दृष्टिकोण जैसे आधार अपनाकर निरोग, बलिष्ठ, दीर्घ जीवन प्राप्त किया। व्यायामशाला में लगने वाला समय और श्रम उन्होंने अन्य अधिक महत्वपूर्ण कामों में लगाया। यह नीति भी दूरदर्शिता पूर्ण है। इसमें व्यायाम अभ्यास से कम बुद्धिमत्ता नहीं हैं अन्यान्य योगाभ्यासों की तुलना में जीवन परिष्कार की योग साधना किसी भी प्रकार कम महत्वपूर्ण और कम फलप्रद नहीं है। उत्कष्ट चिन्तन, आदर्श कर्तृत्व एवं परमार्थ प्रयोजनों में सघन तत्परता रखने वाले उदात्त महामानव भी अपने ढंग के सिद्ध पुरुष ही बनते हैं। उनका यश एवं वर्चस्व योगी, तपस्वियों से किसी भी प्रकार कम नहीं रहता, आत्म-कल्याण और विश्व कल्याण में उनकी भूमिका आत्मिक प्रगति के उच्च शिखर पर पहुँचे हुए लोगों के समतुल्य ही होती है।

साधना से सिद्धि के तात्पर्य यदि चमत्कारी कौतुक कोतूहलों का प्रदर्शन और उस आधार पर कीर्ति सम्पादन हो तो उस उपलब्धि को ओछे स्तर की विडम्बना मात्र ही कहा जायेगा। इसीलिए लोक प्रचलन की यह मान्यता गलत ही कही जायेगी कि साधन की सफलता सिद्धि से आँकी जानी चाहिए। कितने ही महामानव लौकिक सफलता की दृष्टि से नितान्त असफल रहे हैं। फिर भी उनकी सिद्ध स्थिति पर उँगली उठाये जाने का कोई कारण नहीं बना।

महा प्रभु ईसा मसीह के जीवन में मात्र तेरह उनके शिष्य बने थे और वे भी परीक्षा की घड़ियों में दुर्बल सिद्धि हुए। ईसा को फाँसी लगी। यह प्रत्यक्ष असफलता ही है, फिर भी उनकी महानता में इससे कोई अन्तर नहीं आया। दधीचि के अस्थिदान से लेकर सुकरात के विष पान तक का लम्बा इतिहास उनका है, जिन्होंने कष्ट उठाये और घाटे सहे। सीता से लेकर लक्ष्मीबाईरानी तक की कथा-गाथाओं में असफलताओं का ही समावेश है। गुरुगोविन्द सिंह से लेकर भगतसिंह तक की परम्परा अपनाने वाले को न सफल कहा जा सकता है न सिद्ध। अस्तु साधना से सिद्धि का तात्पर्य यदि लौकिक सफलता, चमत्कार या ख्याति के रूप में देखा जायेगा तो उस परख प्रक्रिया को खोटी कहना पड़ेगा। हाँ आदर्शों की स्थापना में सफलता की बात कही जाय तो उसे तथ्यपूर्ण माना जायेगा। कितने ही महामानव ऐसे हुए हैं, जो जीवन भर कष्ट सहते रहे, घाटे में रहे, ठगे गये, पग-पग पर असफल हुए, तिरस्कृत एवं उपहासास्पद बने, फिर भी उन्होंने ऐसे आदर्शों की स्थापना की, जिनके पद चिन्हों पर चलकर असंख्यों ने प्रकाश पाया अपना जीवन धन्य बनाया। उच्चस्तरीय आध्यात्मिक साधना की यही सच्ची सिद्धि है कि उन कठिनाइयों की अग्नि परीक्षा में साधक खरा उतरे। प्रलोभन और भय उसे विचलित न कर सकें। दूसरों के लिए ऐसी परम्परा छोड़ें जिसका अनुकरण करने वाले मनुष्य जन्म को सार्थक बना सके। राजा हरिश्चन्द्र का नाटक बचपन में गाँधी जी ने देखा और वे उससे इतने प्रभावित हुए कि दूसरे हरिश्चन्द्र ही बनकर रहे। महामानव साथियों के लिए-अगली पीढ़ियों के लिए -ऐसे ही अनुकरणीय उदाहरण छोड़कर जाते हैं। यही उनके स्मरणीय और सराहनीय अनुदान होते हैं। सच्चे अर्थों में साधना की सिद्धि यही है। जीवन साधना का योगाभ्यास उसी प्रकार की सिद्धियों से भरा पूरा होता है।

संसार के महामानवों में से अधिकांश विपन्न परिस्थितियों और दरिद्र परिवारों में जन्मे। उन्हें न तो बड़े लोगों का परिचय सहयोग प्राप्त था और न साधनों का-परिस्थितियों का ही ऐसा सुयोग प्राप्त था। जिसके सहारे प्रगति की सम्भावना सोची जा सके। सामान्य लोग उस स्थिति में किसी प्रकार जिन्दगी की लाश ही ढोते हैं। किन्तु जिनके व्यक्तित्व में सदगुणों की सम्पदा भरी होती है, वे अपने साथियों का हृदय जीतते हैं, सहयोग खींचते हैं। साधन उनके पास दौड़ते चले आते हैं और प्रगति की सम्भावनाएँ विकसित होती चली जाती हैं। कुछ उदाहरण गिना देने की आवश्यकता नहीं । व्यक्तित्व की महानता उत्कृष्ट चरित्र, उदात्त व्यवहार एवं परिष्कृत दृष्टिकोण के कारण ही उनकी चुम्बकीय शक्ति, प्रखर बनी है। उसी ने उन्हें ऐतिहासिक महामानवों की पंक्ति में खड़ा किया है। उनके व्यक्तिगत उत्कर्ष और समाज को दिये अनुदानों का मूल्यांकन करने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने साधना से सिद्धि का सिद्धान्त पूरी तरह प्रमाणित कर दिया। जीवन साधना का योगाभ्यास ऐसा है जिसकी सिद्धि बाजीगरी कौतुक जैसी चमक दिखा कर समाप्त नहीं होती, वरन् अद्भुत सफलताओं के रूप में- लोक-श्रद्धा के रूप में- इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर अंकित अमिट अक्षरों के रूप में- सदा सर्वदा जीवन्त बनी रहती है। ऐसे महामानवों की नामावली, जीवन चरित्रों का पर्व तो जितना साहित्य उलट कर हम जीवन भर तैयार करते रह सकते हैं।

कौतूहलों की बात ही यदि 'सिद्धि' मानी जाय तो सज्जनता से प्रभावित होकर दिव्य शक्तियों द्वारा अनुग्रह बरसाने की कथा-गाथाओं पुराणों के पन्ने-पन्ने पर पढ़ी जा सकती हैं। हनुमान को राम का, अर्जुन को कृष्ण का अनुग्रह अकारण ही नहीं मिला था। अपनी पात्रता सिद्ध करके ही वे भगवान के प्रिय पात्र और शक्ति सम्पन्न बने थे। सुकन्या, सावित्री, अनुसूया, दमयन्ती, गान्धारी आदि महिलाओं में दिव्य सामर्थ्य होने की कथाऐं बताती हैं कि उन्होंने कोई विशेष योगाभ्यास नहीं किये थे, वरन् उच्च चरित्र के आधार पर ही वे वैसे चमत्कार दिखाने में समर्थ हुईं जो उनके चरित्रों में बताये जाते हैं। शबरी, सुदामा, कर्ण, अम्बरीष, रैदास, कबीर, नानक, सूर, तुलसी, एकनाथ, रामदास, विवेकानन्द, गान्धी आदि की जीवन गाथाओं में योगाभ्यास का कम और लोक साधना का स्थान प्रमुख रहा है। फिर भी उन्हें दैवी अनुग्रह का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। यहाँ तक कि जटायु जैसे पक्षी और सेतुबन्ध के समय पुरुषार्थ करने वाली गिलहरी तक को भगवान का प्यार प्राप्त हुआ था।

आत्मा अनन्त शक्तियों का भाण्डागार है। उसमें अपने उद्गम केन्द्र परमेश्वर की समस्त शक्तियाँ बीज रूप में सन्निहित हैं। उन्हें उगाने और बढ़ाने के लिए चरित्र निष्ठा की खाद और उदार सेवा साधना का पानी लगाना पड़ता है। इस नीति को अपना कर कोई भी साधक बुद्धिमान माली की तरह अपने अन्त:क्षेत्र में ऋद्धि- सिद्धियों से भरा पूरा उद्यान खड़ा कर सकता है। इसके लिए बाहर से कुछ ढूँढ़ने, लाने या पाने की आवश्यकता नहीं है। मात्र कषाय-कल्मषों की परतों को हटा देने भर का साहस सँजो लेना पर्याप्त है। आत्म शोधन और आत्म-परिष्कार ही विभिन्न साधनाओं का वास्तविक उद्देश्य है। अंगारे पर चढ़ी राख की परत ही उसे धूमिल और निस्तेज बना देती है। यह परत हटते ही अंगारा फिर अपनी गर्मी और चमक का परिचय देने लगता है। निकृष्ट चिन्तन और घृणित कर्तृत्व से यदि हाथ खींच लिया जाय तो फिर आत्मिक प्रखरता के कारण उपलब्ध होने वाली असंख्य ऋद्धि-सिद्धियों के मार्ग में और कोई बड़ा व्यवधान शेष नहीं रह जाता।

विज्ञान मय कोश दो प्रयोजन पूरे करता है। प्रथम है- अन्त:करण की चित्त तथा अहंकार परतों का अनावरण, उन्नयन, परिष्कार। सुसंस्कारों की जड़ें इसी में प्रवेश करती और फैलती हैं। जीवन को कल्प-वृक्ष स्तर का बना सकने के उपयुक्त क्षेत्र यही है। उस कोश को समुन्नत बनाने के लिए किये गये प्रयास चाहे इस प्रकार के हों चाहे उस प्रकार के- व्यक्तित्व में प्रखरता उत्पन्न करते हैं, और उसके सहारे सर्वतोमुखी प्रगति के पथ पर बढ़ चलना सम्भव होता है।

विज्ञानमय कोश का दूसरा प्रयोजन है अन्त:चेतना की उन गहरी परतों को सजग करना जो सूक्ष्म जगत के साथ अपना सम्बन्ध बनाने और अधिकार जताने में समर्थ हैं। अतीन्द्रिय क्षमताओं का भण्डार यहीं है। उन्हें जगा लेने पर सीमा-बन्धन की दीवारें टूटती हैं। असीम के साथ सम्बन्ध जुड़ता है। विज्ञानमय कोश वह द्वार है जिसे खोलकर हम बन्धन मुक्त- जीवन युक्त होते हैं। उसी द्वार में प्रवेश करके वह प्राप्त किया जा सकता है जिसे पाने की आकांक्षा से अन्तरात्मा को सदा उद्विग्न और अशान्त रहना पड़ता है।

विज्ञानमय कोश का जागरण

गायत्री की उच्चस्तरीय पन्चकोशी उपासना में विज्ञानमय कोश के अनावरण का महत्व बहुत अधिक है। अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, आनन्दमय कोशों की मिलकर जितनी शक्ति बनती है उतनी अकेले विज्ञानमय कोश की होती है। क्योंकि भजन और भाव दोनों की तोल समान है। भजन के द्वारा जितनी आध्यात्मिक प्रगति होती है। उतनी ही भाव से भी होती है। इन दोनों पहियों के ठीक रहने पर ही साधना का रथ अग्रगामी बनता है। भावना का स्तर निकृष्ट रहने पर भजन में किया गया भारी परिश्रम भी निष्फल चला जाता है। विज्ञानमय कोश में सद्भावनाओं की जागृति की साधना करनी पड़ती है जो अन्य किसी भी साधना से कम महत्वपूर्ण नहीं है।

विज्ञानमय कोश का विकास सद्भावनाओं की अभिवृद्धि में होता है। अन्य कोशों का अनावरण करने के लिए विभिन्न प्रकार के नियम साधन बताये गये हैं, पर विज्ञानमय कोश का जागरण तभी होता है जब अन्त:करण में सद्भावनाएँ बढ़े। साधक का एक अत्यन्त आवश्यक गुण यह है कि उसका हृदय उदारता, प्रेम, संयम और परमार्थ की भावनाओं से ओत-प्रोत रहे। निष्ठुर, स्वार्थी, नीरस, अनुदार, क्रोधी, व्यसनी एवं क्षुद्र प्रकृति के मनुष्य कितना ही जप, तप करें उनकी निकृष्ट जीवन स्थिति एक कदम भी प्रगति पथ पर बढ़ने न देगी। नाव को रस्सी के सहारे नदी तट के किसी पेड़ में बाँध दिया जाय

तो फिर पतवार चलाने का परिश्रम क्यों न करता रहा जाय नाव जरा भी आगे न बढ़ सकेगी। इसी प्रकार मानवीय सद्गुणों का अधिकाधिक विकास किये बिना किसी भी अध्यात्म साधक के लिए यह संभव नहीं हो सकता कि वह केवल जप, तप के सहारे लक्ष को प्राप्त कर सके।

भजन भाव का जोड़ा है। बोल-चाल में कहते भी हैं- 'आजकल भजन भाव में मन लगने लगा है या नहीं लगता' भगवान भाव के भूखे हैं, वे साधक की नीयत, प्रवृत्ति और अन्तरात्मा को परखते हैं। जिसमें उदारता नहीं और न सज्जनता है ऐसे साधक को भगवान का न तो आशीर्वाद ही मिल सकेगा और न अनुग्रह ही। इसलिए अध्यात्म मार्ग के पथिकों को इस बात का बहुत अधिक ध्यान रखना पड़ता है कि उनके गुण, कर्म, स्वभाव में सात्विकता का अंश निरन्तर बढ़ता चले। देव स्वभाव का निर्माण किये बिना किसी के लिए भी यह संभव न हो सकता कि वह भगवान के दरवार में प्रवेश कर सके। इसलिए इस तथ्य को हृदयंगम करना ही होता है कि हमारे भजन विधान में आवश्यक प्रगति के साथ-साथ स्वभावगत सज्जनता, सात्विकता एवं सद्भावना की भी निरन्तर वृद्धि होती चले।

विज्ञानमय कोश का परिमार्जन आत्मा पर चढ़े हुए मल आवरण एवं विक्षेपों को हटाने से होता है। इस प्रकार विज्ञानमय कोष का गायत्री द्वारा जब परिष्कार कर लिया जाता है तो आत्मा के दिव्य प्रकाश का स्पष्ट अनुभव होने लगता है। गायत्री से अजपा जाप का 'सोऽहम्' मन्त्र अपने आप सिद्ध होता है। आत्म-चिन्तन, आत्म-अनुभव, आत्म-दर्शन, आत्म-विकास एवं आत्म-प्राप्ति के द्वार इसी कोष में खुलते हैं। स्वरयोग की इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गाँधरी, जिह्वा, पूषा, याशस्विनी, अलंबुषा, कुहू, शंखनी यह छहों नाडियाँ क्रियाशील हो जाती हैं और साधक की पहुँच लोक-लोकान्तरों तक हो जाती है। रुद्रग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि तथा ब्रह्म ग्रन्थि खुलने से सत, रज, तम तीनों गुणों पर अधिकार प्राप्त हो जाता है। वासना, तृष्णा अहंता एवं काम-क्रोध एवं मोह पर विजय प्राप्त हो जाती है।

आत्म-साक्षात्कार की चार साधनायें नीचे दी जाती हैं, १-सोऽहं साधना, २- आत्मानुभूति, ३- स्वर संयम, ४- ग्रन्थि-भेद। यह चारों ही विज्ञानमय कोश को प्रबुद्ध करने वाली हैं।

सोऽहं साधना

आत्मा के सूक्ष्म अन्तराल में अपने आप के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान मौजूद है। वह अपनी स्थिति की घोषणा प्रत्येक क्षण करती रहती है ताकि बुद्धि भ्रमित न हो और अपने स्वरूप को न भूले। थोड़ा- सा ध्यान देने पर आत्मा की इस घोषणा को हम स्पष्ट रूप से सुन सकते हैं। उस ध्वनि पर निरन्तर ध्यान दिया जाय तो उस घोषणा के करने वाले अमृत भण्डार आत्मा तक भी पहुँचा जा सकता है।

जब एक साँस लेते हैं तो वायु प्रवेश के साथ-साथ एक सूक्ष्म ध्वनि होती है जिसका शब्द "सो ो ो ो . . . " जैसा होता है। जितनी देर साँस भीतर ठहरती है अर्थात स्वाभाविक कुंभक होता है उतनी देर आधे "ऽऽऽऽ" की सी विराम ध्वनि होती है और जब साँस बाहर निकलती है तो " हं ...." जैसी ध्वनि निकलती है। इन तीनों ध्वनियों पर ध्यान केन्द्रित करने से, अजपा-जाप की "सोऽहं" साधना होने लगती है।

प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व नित्यकर्म से निबट कर पूर्व को मुख करके किसी शान्त स्थान पर बैठिये। मेरुदण्ड सीधा रहे। दोनों हाथों को समेट कर गोदी में रख लीजिए, नेत्र बन्द कर रखिये। जब नासिका द्वारा वायु भीतर प्रवेश करने लगे, तो सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय को सजग करके ध्यानपूर्वक अवलोकन कीजिए कि वायु के साथ-साथ 'सो' की सूक्ष्म ध्वनि हो रही है। इसी प्रकार जितनी देर सांस रुके 'अ' और वायु निकलते समय 'हं' की ध्वनि पर ध्यान केन्द्रित कीजिये। साथ ही हृदय स्थिति सूर्य-चक्र के प्रकाश बिन्दु में आत्मा के तेजोमय स्फुल्लिंग की श्रद्धा कीजिए। जब साँस भीतर जा रही हो और 'सो' की ध्वनि हो रही हो तब अनुभव कीजिए कि यह तेज बिन्दु परमात्मा का प्रकाश है 'स' अर्थात् परमात्मा 'ऽहम्' अर्थात्-मैं । जब वायु बाहर निकलने और 'हं' की ध्वनि हो तब उसी प्रकाश बिन्दु में भावना कीजिए कि 'यह मैं हूँ।'

इस तरह श्वाँस लेते समय 'सो' ध्वनि का और छोड़ते समय 'हम' ध्यान के प्रवाह को सूक्ष्म श्रवण शक्ति के सहारे अन्तः भूमिका में अनुभव करना, यही है संक्षेप में 'सोऽहम्' साधना।

वायु जब छोटे छिद्र में होकर वेगपूर्वक निकलती है तो घर्षण के कारण ध्वनि प्रवाह उत्पन्न होता है, बाँसुरी से स्वर लहरी निकलने का यही आधार है। जंगलों

में जहाँ बाँस बहुत उगे होते हैं वहाँ अक्सर बाँसुरी जैसी ध्वनियाँ सुनने को मिलती हैं। कारण कि बाँसों में कहीं-कहीं कीड़े छेद कर देते हैं और उस छेदों से जब हवा वेगपूर्वक टकराती है तो उसमें उत्पन्न स्वर प्रवाह सुनने को मिलता है। वृक्षों से टकराकर जब द्रुतगति से हवा चलती है तब सन-सनाहट सुनाई पड़ती है, यह वायु के घर्षण की ही प्रतिक्रिया है।

नासिका छिद्र भी बाँसुरी के छिद्रों की तरह हैं, उनकी सीमित परिधि में होकर जब वायु भीतर प्रवेश करेगी तो वहाँ स्वभावत: ध्वनि उत्पन्न होगी। साधारण श्वाँस-प्रश्वाँस के समय भी वह उत्पन्न होता है, पर इतनी धीमी रहती है कि कानों के छिद्र उन्हें सरलतापूर्वक नहीं सुन सकते। प्राणयोग की साधना में गहरे श्वाँसोच्छ्वास लेने पड़ते हैं। प्राणायाम का मूल स्वरूप ही यह है कि श्वाँस जितनी अधिक गहरी, जितनी मन्दगति से ली जा सके लेनी चाहिए और फिर कुछ समय भीतर रोककर धीरे-धीरे उस वायु को पूरी तरह खाली कर देना चाहिए। गहरी और पूरी साँस लेने में स्वभावत: नासिका छिद्रों से टकराकर उत्पन्न होने वाला ध्वनि प्रवाह और भी अधिक तीव्र हो जाता है। इतने पर भी वह ऐसा नहीं बन पाता कि खुले कानों से उसे सुना जा सके। कर्णेन्द्रियों की सूक्ष्म चेतना में ही उसे अनुभव किया जा सकता है।

चित्त को श्वसन क्रिया पर एकाग्र करना चाहिए और भावना को इस स्तर की बनाना चाहिए कि उसे श्वाँस लेते समय 'सो' शब्द के ध्वनि प्रवाह की मन्द अनुभूति होने लगे। उसी प्रकार जब साँस छोड़ना पड़े तो यह मान्यता परिपक्व करनी चाहिए कि 'हम्' ध्वनि प्रवाह विनिर्मित हो रहा है। आरम्भ में कुछ समय यह अनुभूति उतनी स्पष्ट नहीं होती किन्तु क्रम और प्रयास जारी रखने पर कुछ ही समय उपरान्त इस प्रकार का ध्वनि प्रवाह अनुभव में आने लगता है और उसे सुनने में न केवल चित्त ही एकाग्र होता है, वरन् आनन्द का अनुभव होता है।

'सो' का तात्पर्य परमात्मा और हम् का जीव चेतना समझा जाना चाहिए। निखिल विश्व ब्रह्माण्ड में संव्याप्त महाप्राण नासिका द्वारा हमारे शरीर में प्रवेश करता है और अंग-प्रत्यंग में जीवकोश तथा नाड़ी तन्त्र में प्रवेश करके उसको अपने सम्पर्क संसर्ग का लाभ प्रदान करता है। यह अनुभूति 'सो' शब्द ध्वनि के साथ अनुभूति भूमिका में उतरनी चाहिए और 'हम' शब्द के साथ जीव भाव द्वारा इस काय-कलेवर पर से अपना कब्जा छोड़कर चले जाने की मान्यता प्रगाढ़ की जानी चाहिए।

प्रकारान्तर से परमात्म सत्ता का अपने शरीर और मन:क्षेत्र पर आधिपत्य स्थापित हो जाने की ही यह धारणा है। जीव भाव अर्थात् स्वार्थवादी संकीर्णता, काम, क्रोध, लोभ, मोह भरी मद मत्सरता अपने को शरीर या मन के रूप में अनुभव करते रहने वाली आत्मा की दिग्भ्रान्त स्थिति का नाम ही जीव भूमिका है। इस भ्रम-जंजाल भरे जीव-भाव को हटा दिया जाये तो फिर अपना विशुद्ध अस्तित्व ईश्वर के अविनाशी अंश आत्मा के रूप में ही शेष रह जाता है। काय कलेवर के कण-कण पर परमात्मा के शासन की स्थापना और जीव धारण की बेदखली यही है सोहम् साधना का तत्वज्ञान। श्वाँस-प्रश्वाँस क्रिया के माध्यम से सो और हम ध्वनि के सहारे इसी भाव-चेतना को जागृत किया जाता है कि अपना स्वरूप ही बदल रहा है। अब शरीर और मन पर से लोभ-मोह का, वासना-तृष्णा का आधिपत्य समाप्त हो रहा है और उसके स्थान पर उत्कृष्ट चिंतन एवं आदर्श कर्तृत्व के रूप में ब्रह्मसत्ता की स्थापना हो रही है। शासन परिवर्तन जैसी यह भाव भूमिका है, जिसमें अनाधिकारी-अनाचारी शासनसत्ता का तख्ता उलटकर उस स्थान पर सत्य, न्याय और प्रेम के संविधान वाली धर्मसत्ता का राज्याभिषेक किया जाता है। सोहम् साधना इसी अनुभूति स्तर को क्रमश प्रगाढ़ करती चली जाती है, और अन्त:करण यह अनुभव करने लगता है कि अब उस पर असुरता का नियंत्रण नहीं रहा, उसका समग्र संचालन देव सत्ता द्वारा किया जा सकता है।

श्वाँस ध्वनि ग्रहण करते समय 'सो' और निकालते समय 'हम' की धारणा में लगना चाहिए। प्रयत्न करना चाहिए कि इन शब्दों के आरम्भ में अति मन्द स्तर की होने वाली अनुभूति में क्रमश: प्रखरता आती चली जाये। चिंतन का स्वरूप यह होना चाहिए कि साँस में घुले हुए भगवान अपनी समस्त विभूतियों और विशेषताओं के साथ काय-कलेवर में भीतर प्रवेश कर रहे हैं। यह प्रवेश मात्र आवागमन नहीं है वरन् प्रत्येक अवयव पर सघन आधिपत्य बन रहा है। एक-एक करके शरीर के भीतरी प्रमुख अंगों के चित्र की कल्पना करनी चाहिए और अनुभव करना चाहिए कि उसमें भगवान की सत्ता चिरस्थाई रूप से समाविष्ट हो गई। हृदय, फुफ्फुस

आमाशय, आँतें, गुर्दे, जिगर, तिल्ली आदि में भगवान का प्रवेश हो गया। रक्त के साथ प्रत्येक नस-नाड़ी और कोशिकाओं पर भगवान ने अपना शासन स्थापित कर लिया।

बाह्य अंगों ने, पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों ने भगवान के अनुशासन में रहना और उनका निर्देश पालन करना स्वीकार कर लिया। जीभ वही बोलेगी जो ईश्वरीय प्रयोजनों की पूर्ति में सहायक हो। देखना, सुनना, बोलना, चलना आदि इन्द्रियजन्य गतिविधियाँ दिव्य निर्देशों का ही अनुगमन करेंगी। ज्ञानेन्द्रिय का उपयोग वासना के लिए नहीं मात्र ईश्वरीय प्रयोजनों के लिए अनिवार्य आवश्यकता का धर्म संकट सामने आ खड़ा होने पर ही किया जायेगा। हाथ-पाँव मानवोचित कर्तव्य पालन के अतिरिक्त ऐसा कुछ न करेंगे जो ईश्वरीय सत्ता को कलंकित करता हो। मस्तिष्क ऐसा कुछ न सोचेगा जिसे उच्च आदर्शों के प्रतिकूल ठहराया जा सके। बुद्धि कोई अनुचित न्याय विरुद्ध एवं अदूरदर्शी-अविवेक भरा निर्णय न करेगी। चित्त में अवांछनीय एवं निकृष्ट स्तरीय आकांक्षायें न जमने पायेंगी। अहंता का स्तर नर कीटक जैसा नर-नारायण जैसा होगा।

यही हैं वे भावनायें जो शरीर और मन पर भगवान का शासन स्थापित होने के तथ्य को यथार्थ सिद्ध कर सकती हैं। यह सब उथली कल्पनाओं की तरह मनोविनोद भर नहीं रह जाना चाहिए वरन् उसकी आस्था इतनी प्रगाढ़ होनी चाहिए कि इस भाव परिवर्तन को क्रिया रूप में परिणत हुए बिना चैन ही न पड़े। सार्थकता उन्हीं विचारों की है जो क्रिया रूप में परिणत होने की प्रखरता से भरे हों। सोहम् साधना के पूर्वार्द्ध में अपने काय-कलेवर पर श्वसन क्रिया के साथ प्रविष्ट हुए महाप्राण की, परब्रह्म की सत्ता स्थापना का इतना गहन चिंतन करना पड़ता है कि यह कल्पना स्तर की बात न रहकर एक व्यवहारिक यथार्थता के, प्रत्यक्ष तथ्य के रूप में प्रस्तुत-दृष्टिगोचर होने लगे।

इस साधना का उत्तरार्द्ध पाप निष्कासन का है। शरीर में से अवांछनीय इन्द्रिय लिप्साओं का, आलस्य-प्रमाद जैसी दुष्प्रवृत्तियों का, मन से लोभ-मोह जैसी तृष्णाओं का, अन्तःस्थल से जीवभावी अहन्ता का निवारण-निराकरण हो रहा है। ऐसी भावनाएँ अत्यन्त प्रगाढ़ होनी चाहिए। दुर्भावनाएँ और दुष्कृतियाँ, निकृष्टताएँ और दुष्टताएँ और हीनताएँ सभी निरस्त हो रही हैं, सभी पालयन कर रही हैं- यह तथ्य हर घड़ी सामने दीखना चाहिए। अनुपयुक्तताओं के निरस्त होने के उपरान्त जो हलकापन, जो सन्तोष, जो उल्लास स्वभावतः होता है और निरन्तर बना रहता है, उसी का प्रत्यक्ष अनुभव होना चाहिए। तभी यह कहा जा सकेगा कि सोहम् साधना का उत्तरार्द्ध भी एक तथ्य बन गया।

सोहम् साधना के पूर्व भाग में श्वाँस लेते समय 'सो' ध्वनि के साथ जीवन सत्ता पर उस परब्रह्म परमात्मा का शासन-आधिपत्य स्थापित होने की स्वीकृति है। उत्तरार्द्ध में 'हम' को, अहंता को विसर्जित करने का भाव है। साँस निकलने के साथ-साथ अहम् भाव का भी निष्कासन हुआ। अहंता ही लोभ और मोह की जननी है। शरीराभ्यास में जीव उसी की प्रबलता के कारण डूबता है। माया अज्ञान, अन्धकार, बन्धन आदि की भ्रान्तियाँ एवं विपत्तियाँ इस अहंता के कारण ही उत्पन्न होती हैं। इसे विसर्जित कर देने पर ही भगवान का अन्तःक्षेत्र में प्रवेश करना, निवास करना सम्भव होता है।

इस छोटे से मानवी अन्तःकरण में दो के निवास की गुञ्जायश नहीं पूरी तरह एक ही रह सकता है, दोनों रहे तो लड़ते-झगड़ते रहते हैं और अन्तर्द्वन्द की खींचतान चलती रहती है। भगवान को बहिष्कृत करके पूरी तरह 'अहमन्यता' को प्रबल बना लिया जाय तो मनुष्य दुष्ट-दुर्बुद्धि, क्रूरकर्मा, असुर बनता है। अपनी कामनाएँ, भौतिक महत्वाकांक्षाएँ, ऐषणाएँ समाप्त करके ईश्वरीय निर्देशों पर चलने का संकल्प ही आत्म-समर्पण है। यही शरणागति है, यही ब्राह्मी स्थिति है। इसे प्राप्त होते ही मनुष्य में देवत्व का उदय होता है, तब ईश्वरीय अनुभूतियाँ चिंतन में उत्कृष्टता और व्यवहार में आदर्शवादिता भर देती है। ऐसे ही व्यक्ति महामानव, ऋषि, देवता एवं अवतार के नाम से पुकारे जाते हैं। 'सो' में भगवान का शासन आत्मसत्ता पर स्थापित करने और 'हम' में अहंता का विसर्जन करने का भाव है। प्रकारान्तर से इसे महान् परिवर्तन का, आंतरिक कायाकल्प का बीजारोपण कह सकते हैं। सोहम् साधना का यही है भावनात्मक एवं व्यावहारिक स्वरूप।

सोहम् साधना में 'अ' की विराम भावना परिवर्तन के अवकाश का प्रतीक है। आरम्भ में उस हृदय-चक्र स्थिति बिन्दु को 'सो' ध्वनि के समय ब्रह्म माना जाता है और पीछे उसी की 'हं' धारणा में जीव भावना हो जाती हैं। बस भाव परिवर्तन के लिए 'अ' का अवकाश काल

रखा गया है इसी प्रकार जब 'हं' समाप्त हो जाय, वायु बाहर निकल जाय और नया वायु प्रवेश करे उस समय भी दीन-भाव हटाकर उस तेज बिन्दु में ब्रह्म भाव बदलने का अवकाश मिल जाता है। वह दोनों ही अवकाश 'अ ऽ ऽ ऽ' के समान हैं, इनकी ध्वनि सुनाई नहीं देती। शब्द तो सो 'ऽहं' का ही होता है।

'सो' ब्रह्म का ही प्रतिबिम्ब है। 'ऽ' प्रकृति का प्रतिनिधि है। 'हं' जीव का प्रतीक हैं। ब्रह्म, प्रकृति और जीव का सम्मिलन इस अजपा-जाप में होता है। सोऽहं-साधना में तीनों महाकारण एकत्रित हो जाते हैं, जिनके कारण आत्म-जागरण का स्वर्ण सुयोग एक साथ ही उपलब्ध होने लगता है।

'सोऽहं' साधना की उन्नति जैसे-जैसे होती जाती है वैसे ही वैसे विज्ञानमय कोश का परिष्कार होता जाता है। आत्म-ज्ञान बढ़ता है और धीरे-धीरे आत्म साक्षात्कार की स्थिति निकट आती चलती है। आगे चलकर साँस पर ध्यान जमाना छूट जाता है और केवल मात्र हृदय स्थित सूर्य-चक्र में विशुद्ध ब्रह्म तेज के ही दर्शन होते हैं। उस समय समाधि की सी अवस्था हो जाती है। हंस योग की परिपक्वता से साधक ब्राह्मी स्थिति का अधिकारी हो जाता है।

स्वामी विवेकानन्द ने विज्ञानमय कोश की साधना के लिए "आत्मानुभूति" की विधि बताई है। उनके अमेरिकन शिष्य रामाचरक ने इस विधि को 'मेण्टल डेवलपमेण्ट' नामक पुस्तक में विस्तारपूर्वक लिखा है।

आत्मानुभूति-योग

१- किसी शान्त या एकान्त स्थान में जाइये। निर्जन, कोलाहल रहित स्थान इस साधना के लिए चुनना चाहिए। इस प्रकार का एक स्थान घर का स्वच्छ हवादार कमरा भी हो सकता है और नदी तट अथवा उपवन भी। हाथ मुँह धोकर साधना के लिए बैठना चाहिए। आराम कुर्सी पर अथवा दीवार, वृक्ष या मसनद के सहारे बैठकर भी यह साधना भली प्रकार होती है।

सुविधापूर्वक बैठ जाइये तीन लम्बे-लम्बे श्वाँस लीजिए। पेट में भरी हुई वायु को पूर्ण रूप से बाहर निकालना और फैफड़ों में पूरी हवा भरना एक पूरा श्वाँस कहलाता है। तीन पूरे श्वाँस लेने से हृदय और फुफ्फुस की भी उसी प्रकार एक धार्मिक शुद्धि होती है। जै स्नान करने, हाथ पाँव धोकर बैठने से शरीर की शुद्धि होती है

तीन पूरे साँस लेने के बाद शरीर को शिथिल कीजिए और हर अंग में से खिंचकर प्राणशक्ति हृदय में एकत्रित हो रही है, ऐसा ध्यान कीजिए। हाथ, पाँव आदि सभी अंग प्रत्यंग शिथिल, ढीले, निर्जीव, निष्प्राण हो गये हैं ऐसी भावना करनी चाहिए। "मस्तिष्क से जब विचार-धारायें और कल्पनायें शान्त हो गयी हैं और समस्त शरीर के अन्दर एक शान्त नीला आकाश व्याप्त हो रहा है।" ऐसी शान्त, शिथिल अवस्था को प्राप्त करने के लिए कुछ दिन लगातार प्रयत्न करना पड़ता है। अभ्यास से कुछ दिन में अधिक शिथिलता एवं शान्ति अनुभव होती जाती है।

शरीर भली प्रकार शिथिल हो जाने पर हृदय स्थान में एकत्रित अँगूठे के बराबर, शुभ्र श्वेत ज्योति-स्वरूप, प्राण शक्ति का ध्यान करना चाहिए। "अजर, अमर, शुद्ध, बुद्ध, चेतन, पवित्र ईश्वरीय अंश आत्मा मैं हूँ। मेरा वास्तविक स्वरूप यही है, मैं सत्, चित्त, आनन्द-स्वरूप आत्मा हूँ।" उस ज्योति के कल्पना नेत्रों से दर्शन करते हुए उपरोक्त भावनायें मन में रखनी चाहिए।

२- उपरोक्त शिथिलासन के साथ आत्म दर्शन करने की साधना इस योग में प्रथक साधना है। जब यह साधना भली प्रकार अभ्यास में आ जाय तो आगे की सीढ़ी पर पैर रखना चाहिए। दूसरी भूमिका में साधना का अभ्यास नीचे दिया जाता है।

३- ऊपर लिखी हुई शिथिलावस्था में अखिल आकाश में नील वर्ण आकाश का ध्यान कीजिए। उस आकाश में बहुत ऊपर सूर्य के समान ज्योति-स्वरूप आत्मा को अवस्थित देखिये। "मैं ही यह प्रकाशवान आत्मा हूँ"- ऐसा निश्चय संकल्प कीजिए। अपने शरीर को नीचे भूतल पर निस्पन्द अवस्था में पड़ा हुआ देखिये, उसके अंग-प्रत्यंगों का निरीक्षण एवं परीक्षण कीजिए। यह हर एक कल पुर्जा मेरा औजार है, मेरा वस्त्र है। यह यन्त्र मेरी इच्छानुसार क्रिया करने के लिये प्राप्त हुआ है। इस बात को बार-बार मन में दुहराइये। इस निस्पन्द शरीर में खोपड़ी का ढक्कन उठाकर ध्यानावस्था से मन और बुद्धि को दो सेवक शक्तियों के रूप में देखिये। वे दोनों हाथ बाँधे आपकी इच्छानुसार कार्य करने के लिए नतमस्तक खड़े हैं। बस शरीर और मन बुद्धि को देखकर प्रसन्न हूजिए कि इच्छानुसार कार्य करने के लिये यह मुझे प्राप्त हुए हैं। मैं उनका उपयोग सच्चे आत्म-स्वार्थ के लिए ही

करूँगा, यह भावनायें बराबर उस ध्यानावस्था में आपके मन में गूँजती रहनी चाहिए।

४- जब दूसरी भूमिका का ध्यान भली प्रकार होने लगे तो तीसरी भूमिका का ध्यान कीजिए।

अपने को सूर्य की स्थिति में ऊपर आकाश में अवस्थित देखिये "मैं समस्त भूमण्डल पर अपनी प्रकाश किरणें फेंक रहा हूँ। संसार मेरा कर्म-क्षेत्र और लीलाभूमि है, भूतल की वस्तुओं और शक्तियों को मैं इच्छित प्रयोजनों के लिये काम में लाता हूँ पर वे मेरे ऊपर प्रभाव नहीं डाल सकतीं। पञ्चभूतों की गतिविधि के कारण जो हलचलें संसार में हर घड़ी होती हैं वे मेरे लिए एक विनोद और मनोरंजक दृश्य मात्र हैं, मैं किसी भी सांसारिक हानि-लाभ से प्रभावित नहीं होता। मैं शुद्ध, चैतन्य, सत्यस्वरूप, पवित्र, निर्लेप, अविनाशी आत्मा हूँ। मैं आत्मा हूँ, महान् आत्मा हूँ, । महान् परमात्मा का विशुद्ध स्फुलिंग हूँ।" यह मन्त्र मन ही मन जपिये।

तीसरी भूमिका का ध्यान जब अभ्यास के कारण पूर्ण रूप से पुष्ट हो जाय और हर घड़ी वह भावना रोम-रोम में प्रतिभासित होने लगे तो समझना चाहिए कि इस साधना की सिद्धावस्था प्राप्त हो गई, यह जागृत समाधि या जीवन-मुक्त अवस्था कहलाती हैं।

आत्मदर्शन की समर्थ साधना

आत्म कल्याण के पथ पर अग्रसर करने वाले इस अध्यात्म विधि विज्ञान की दो धारायें हैं- आत्मदर्शन और विश्वदर्शन। इन्हें आत्मबोध एवं तत्वबोध भी कहते हैं। ब्रह्मविद्या का समग्र ढाँचा इन्हीं दो धाराओं की सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विधिव्यवस्था समझाने के लिये खड़ा हुआ हैं। आत्मबोध के अन्तर्गत आत्म सत्ता के स्वरूप, लक्ष्य, धर्म, चिन्तन एवं कर्तव्य की वस्तुस्थिति समझाई जाती है और तत्वबोध में शरीर एवं मन के साथ आत्मा के पारस्परिक सम्बन्धों और कर्तव्यों का निरूपण किया जाता है। शरीर के साथ सम्बन्ध बनाते हुए परिवार एवं समाज के साथ उपयुक्त व्यवहार का पुन:र्निधारण किया जाता है। अब तक जो ढर्रे का अव्यवस्थित एवं अस्तव्यस्त जीवनक्रम चल रहा था, उसे दूरदर्शी विवेक के आधार पर सुव्यवस्थित सुसंचालित किया जाता है। अध्यात्म जगत की यही दो धारायें-पवित्र गंगा-यमुना कही जाती हैं। इन्हीं का संगम तीर्थराज प्रयाग है- जिसमें स्नान करने से परम पुरुषार्थ का पुण्य फल प्राप्त होता है।

उच्चस्तरीय गायत्री साधना में साधक को आत्मबोध और 'तत्वबोध' की इन्हीं दोनों साधनाओं का समन्वय करना पड़ता है। इन दोनों का लक्ष्य एक ही है। दोनों अन्योन्याश्रित एवं परस्पर पूरक हैं। इसके लिए ध्यानमुद्रा में बैठ कर सामने एक बड़े दर्पण में वक्षस्थल से ऊपर का अपना शरीर ध्यानपूर्वक देखा जाना ही आत्मबोध की प्रत्यक्ष विद्या है। अधिक बड़े साइज का दर्पण उपलब्ध हो तो पूरे शरीर को भी देखा जा सकता है। पर अपनी छवि लगभग उतनी ही बड़ी दीखनी चाहिए जितनी कि वह माप में होती है। छोटे दर्पण को दूर रखकर यों पूरा शरीर भी देखा जा सकता है, पर उसमें आकृति बहुत छोटी हो जायेगी। इससे काम नहीं चलेगा, इसीलिए सामान्यतया ऐसा ही करना पड़ता है कि डेढ़ फुट ऊँचा दर्पण किसी छोटी मेज पर इस तरह रख लिया जाय कि वह सामने लगभग ढाई फुट की दूरी पर रहे। इस दर्पण में अपने स्वरूप को देखना होता है साथ ही उसका दार्शनिक विवेचन-विश्लेषण गंभीर मन:स्थिति में करना होता है।

दर्पण में अपना स्वरूप देखते हुए आत्मबोध करने वाला साधक अपनी इस दयनीय स्थिति पर विचार करता और करुणा व्यक्त करता है कि वह ईश्वर का अविनाशी अंश एवं उसका वरिष्ठ राजकुमार होते हुए भी किस तरह भवबंधनों से बँधा हुआ- दुर्भावनाओं और दुष्प्रवृत्तियों का सताया हुआ रुदन-क्रन्दन करता हुआ संक्षोभों की आग में जलता हुआ जी रहा है। जबकि वह इस धरती पर प्रसन्नतापूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए ईश्वरीय प्रयोजन पूरे करने के लिए पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए आया था। पर वह सब तो एक प्रकार से सर्वथा विस्मरण ही हो गया। पैर उस जंजाल में फँस गया जिसे आटे के लोभ में गला फँसाने वाली मछली अथवा जाल में तड़पने वाले पक्षी के समतुल्य दुर्दशाग्रस्त स्थिति कहा जा सकता है। वह चाहता तो ईश्वरीय निर्देश और अध्यात्म कर्तव्य का पालन करते हुए पूर्णता के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता था और अपूर्णता से पूर्णता का वरण कर सकता था। पर वैसा न करके पशुता एवं पैशाचिकता की दुष्प्रवृत्तियों में उलझ पड़ा और फिर से चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने का दीर्घकालीन दुसह दु:ख सहने-कोल्हू में पेले जाने तथा चक्की में पीसे जाने की स्थिति आँखों के सामने आ खड़ी हुई।

तदुपरान्त दर्पण के सामने बैठकर अपनी छवि शीशे में देखते हुए आत्म विश्लेषण किया जाता है। ईश्वर का अविनाशी अंशधर विश्व में सुरम्य परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए नियुक्त किया गया विशेष प्रतिनिधि पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त कर सकने के सुअवसर से सम्पन्न सौभाग्यशाली-यह है जो दर्पण में बैठा हुआ है। इसके काय-कलेवर में ईश्वर की समस्त दिव्य शक्तियाँ और विभूतियाँ भरी पड़ी हैं। इसका एक-एक कण ऐसी विशेषताओं से सँजोया गया है कि चाहे तो सहज ही महामानवों की, देवदूतों की पंक्ति में बैठ सकता है।

सूक्ष्म रूप में मानव शरीर में समस्त देवताओं की-ऋषियों की दिव्य सत्ता विद्यमान रहती है। उसे थोड़ा भी पोषण मिले तो यह बीज विशालकाय वटवृक्ष में परिणत होकर अपने को धन्य और विश्वमानव को सुसम्पन्न बना सकता है। इसमें महामानव, देवमानव बनने एवं बुद्ध, ईसा, राम, कृष्ण जैसे अवतार चेतना से सुसम्पन्न बन सकने की परिपूर्ण संभावनायें विद्यमान हैं। इतना सब कुछ होते हुए भी अवांछनीय गतिविधियाँ अपनाने के कारण यह दर्पण में बैठा हुआ महामानव किसी दयनीय दुर्दशा से ग्रसित ही रहा है, यह कैसे आश्चर्य और दुर्भाग्य की बात है। लोभ और मोह के, वासना और तृष्णा के, स्वार्थ और संकीर्णता के बन्धनों ने किस बुरी तरह से जकड़ रखा है। इन्द्रिय लिप्सा का गुलाम बन कर इसने अपने शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को किस बुरी तरह चौपट कर डाला। परिवार के उचित उत्तरदायित्वों को निबाहना और परिजनों को सुसंस्कृत बनाना तो कर्तव्य था, पर मात्र इसी छोटे समुदाय के लिए अपनी समस्त क्षमताओं को नियोजित कर देना कहाँ की समझदारी थी। कुत्साओं और कुंठाओं से ग्रसित जीवन का क्रम और स्वरूप बना लेने की उसी की पूरी जिम्मेदारी है जो इस दर्पण में बैठा है। मकड़ी जैसा जाला उसी ने बुना है और उसमें फँसा है। वह चाहे तो समेट सकता है और स्वच्छन्द विचरण की जीवन मुक्ति की स्थिति प्राप्त कर सकने में पूर्ण सफल हो सकता है।

इस प्रकार दर्पण में दृष्टिगोचर प्रतिबिम्ब के सहारे आत्म विश्लेषण की अधिक गहराई में प्रवेश किया जा सकता है और पतन से ऊँचे उठकर उत्थान के उच्च शिखर पर पहुँच सकने का पथ निर्धारण किया जा सकता है, भविष्य के लिए तो ऐसी सुसन्तुलित गतिविधियों का निर्धारण किया जा सकता है जिसमें भौतिक और आत्मिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह की संतुलित गुंजायश बनी रहे।

दर्पण में दीख पड़ने वाले अपने परम आत्मीय छाया पुरुष से यही सब पूछना चाहिए। उसके उत्तर न देने पर भी अपनी तीव्र दृष्टि से यह परखना चाहिए कि इन प्रश्नों का साकारात्मक उत्तर इसके पास है या नहीं? यदि नहीं तो उसे परम प्रिय होने के नाते इस हितैषिता की शिक्षा देनी चाहिए कि मृत्यु का कोई ठिकाना नहीं। बिस्तर कसी भी समय गोल करना पड़ सकता है। ऐसी दशा में यही उचित है कि जो बीत गया, उसमें हुई भूलों के लिए पश्चात्ताप करते हुए जो शेष है, उसे श्रेष्ठतम बनाने के लिए इसी क्षण से मुड़ पड़ा जाय समय को आलस्य प्रमोद में न बिताया जाय। यह वर्तमान ही है, जिसमें दिशा बदलने का काम अविलम्ब आरम्भ किया जा सकता है, और तेजी से कदम बढ़ाते हुए निर्धारित लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है।

माता बच्चे को गोद में उठाने से पहिले उसके शरीर से लिपटी हुई गन्दगी को साफ कर लेती है। कीचड़ से, मल मूत्र से सने हुए व्यक्ति को कोई प्रसन्नतापूर्वक पास नहीं बैठने देता। उससे वार्त्तालाप, व्यवहार करने से पूर्व यह चाहता है कि वह शुद्ध हो कर आये। स्वच्छ घर, स्वच्छ पात्र, स्वच्छ परिधान, स्वच्छ शरीर सभी को सुहाता है, भगवान को भी। इसलिए प्रथम दृष्टि यही डाली जानी चाहिए कि गुण, कर्म, स्वाभाव में कहाँ-कहाँ ऐसी दुष्प्रवृत्तियों का समावेश हो रहा है, जो मानवी गरिमा के अनुरूप नहीं है। इन्हें खोजने के लिए तनिक भी पक्षपात नहीं बरतना चाहिए। निष्पक्ष न्यायाधीश की तरह स्वयं ही अपने छाया पुरुष की समीक्षा करनी चाहिए और उसका अतिशय शुभ चिन्तक परम प्रिय होने के नाते हित कामना से इतना दवाब देना चाहिए कि वह परामर्श मात्र सुनकर इस कान से सुने उस कान से निकाल दे वरन् अभ्युदय की महत्ता समझते हुए अपने सुधार परिवर्तन के लिए सुनिश्चित सकंल्प और सुदृढ़ संकल्प करे। यह प्रयास निरन्तर जारी रखा जाय, तो उसका प्रतिफल आश्चर्यजनक होता है। बाल्मीकि, अंगुलिमाल, बिल्व मंगल, जैसे अपने में आमूल-चूल परिवर्त्तन कर सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि दर्पण में विराजमान अपना अभिन्न आत्म परिष्कार के द्वारा उज्जवल भविष्य के निर्माण में निरत न हो सके।

वस्तुतः दर्पण आत्मबोध का एक माध्यम है। प्रायः हम बाह्य जगत में इतने घुले और व्यस्त रहते हैं कि अपने को एक प्रकार से भूल ही बैठे होते हैं। याद तो शरीर और मन की क्षुधा, तृष्णा ही रहती है। आत्मा या परमात्मा भी कोई होता है ? हम भी आत्मा हैं, आत्मा के कुछ अपने स्वार्थ और कर्तव्य भी हैं क्या ? यह बात पढ़ी-सुनी तो कई बार होती है, पर उसने तथ्य के रूप में कभी हृदय की गहराई तक प्रवेश नहीं किया होता। यदि आत्मबोध की यथार्थता अन्तःकरण में सजग हुई होती तो निश्चित रूप से भौतिक सुख-सुविधायें प्राप्त करने की तरह आत्मोत्कर्ष के लिए भी कुछ करने की प्रेरणा उठी होती और उस दिशा में भी कुछ तो बना ही होता।

अकेला दर्पण आत्मबोध, आत्मदर्शन करा दे, यह किसी भी प्रकार संभव नहीं। पूजा उपासना के पीछे जो प्रेरणायें भरी पड़ी हैं उनसे प्रभावित होकर उपयुक्त चिन्तन और कर्तृत्व अपनाते हुए दिव्यजीवन की रीति-नीति अपनायी जा सके तो ही इन पूजा परक कर्मकाण्डों का महत्व है। आत्मबोध की विचारधाराओं से अन्तःकरण को भरने में सहायता करना ही दर्पण उपरकण का उद्देश्य है। उसी प्रकार पूजा का उपयोग यही है कि वह जीवन निर्माण की प्रेरणाओं को उभारे और उन्हें सक्रिय बनाये। लकीर पीटने जैसी चिन्ह पूजा से न तो आत्मकल्याण हो सकता है और न दर्पण की मनुहार करने से आत्मलाभ का प्रयोजन पूरा हो सकता है।

आत्मबोध की आत्मविश्लेषण की, आत्मदर्शन की साधना दर्पण के सहारे की जाती है। इस साधना के द्वारा प्रायः संबन्धित सभी समस्याओं पर प्रकाश पड़ जाता है। आत्मबोध, आत्मनिरीक्षण, आत्मसुधार और आत्म विकास की पृष्ठिभूमि क्या हो सकती है ? आस्थाओं में आकांक्षाओं में क्या हेर फेर होना चाहिए ? गतिविधियों में रीति-नीति में एवम् कार्यपद्धति में क्या उलट-पलट की जानी चाहिए, इसकी एक प्रभु प्रेरित सुविस्तृत रूपरेखा सामने आती है।

यदि प्रस्तुत दिव्य संदेशों को अन्तःकरण की गहन भूमिका में प्रतिष्ठापित किया जा सका और उन्हें क्रिया रूप में परिणत करने का प्रबल पराक्रम भरा आत्मबल उत्पन्न हो सका, तो समझना चाहिए कि दर्पण के माध्यम से की जाने वाली आत्मबोध की साधना एक दैवी वरदान बनकर सामने आ गयी। आत्मोत्कर्ष के महान प्रयोजन की आवश्यकता पूरी हुई और अणु से विभु नर से नारायण बनने का लक्ष्य हस्तगत हुआ।

आत्म-चिन्तन की साधना

रात को सब कार्यों से निवृत्त होकर जब सोने का समय हो तो सीधे चित्त लेट जाइये। पैर सीधे फैला दीजिए, हाथों को मोड़कर पेट पर रख लीजिए। सिर सीधा रहे। पास में दीपक जल रहा हो तो बुझा दीजिए या मन्द कर दीजिए। नेत्रों को अधखुला रखिए।

अनुभव कीजिए कि आपका आज का एक दिन एक जीवन था। अब जबकि एक दिन समाप्त हो रहा है तो एक जीवन की इतिश्री हो रही है। निद्रा एक मृत्यु है। अब इस घड़ी में एक दैनिक जीवन को समाप्त करके मृत्यु की गोद में जा रहा हूँ।

आज के जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि से समालोचना कीजिए। प्रातःकाल से लेकर सोते समय तक के कार्यों पर दृष्टिपात कीजिए। मुझ आत्मा के लिए वह कार्य उचित था या अनुचित ? यह उचित था तो जितनी सावधानी एवं शक्ति के साथ उसे करना चाहिए था उसके अनुसार किया या नहीं ? बहुमूल्य समय का कितना भाग उचित रीति से, कितना अनुचित रीति से, कितना निरर्थक रीति से व्यतीत किया ? वह दैनिक जीवन सफल रहा या असफल? आत्मिक पूँजी में लाभ हुआ या घाटा ? सद्वृत्तियाँ प्रधान रहीं या असद्वृत्तियाँ ? इस प्रकार के प्रश्नों के साथ दिनभर के कार्यों का भी निरीक्षण कीजिए।

जितना अनुचित हुआ हो उसके लिए आत्म-देव के सम्मुख पश्चाताप है। जो उचित हुआ हो उसके लिए परमात्मा को धन्यवाद दीजिए और प्रार्थना कीजिए कि आगामी जीवन में, कल के जीवन में, उस दिशा में विशेष रूप से अग्रसर करें। इसके पश्चात् शुभ्र वर्ण आत्म-ज्योति का ध्यान करते हुए निद्रा देवी की गोद में सुखपूर्वक चले जाइये।

दूसरी साधना

प्रातःकाल जब नींद पूरी तरह खुल जाय तो अँगड़ाई लीजिए। तीन पूरे लम्बे साँस खींचकर सचेत हो जाइये।

भावना कीजिए कि आज नया जीवन ग्रहण कर रहा हूँ। नया जन्म धारण करता हूँ। इस जन्म को इस प्रकार खर्च करूँगा कि आत्मिक पूँजी में अभिवृद्धि हो। कल के दिन-पिछले दिन जो भूलें हुई थीं, आत्म-देव के सामने जो पश्चाताप किया था, उसका ध्यान रखता हुआ आज के दिन का अधिक उत्तमत्ता के साथ उपयोग करूँगा।

दिन भर के कार्यक्रम की योजना बनाइये। इन कार्यों में जो खतरा सामने आने को है उसे विचारिये और उससे बचने के लिए सावधान हो जाइये। उन कार्यों से जो आत्म-लाभ होने वाला है वह अधिक हो, इसके लिए और तैयारी कीजिए। यह जन्म, यह दिन, पिछले की अपेक्षा अधिक सफल हो, यह चुनौती अपने आपको दीजिए और उसे साहसपूर्वक स्वीकार कर लीजिए।

परमात्मा का ध्यान कीजिए और प्रसन्न मुद्रा में एक चैतन्य ताजगी, उत्साह, आशा एवं आत्म विश्वास की भावनाओं के साथ उठकर शैय्या का परित्याग कीजिए। शैय्या के नीचे पैर रखना मानो आज के नव जीवन में प्रवेश करना है।

इस आत्म-चिन्तन की साधना से दिन-दिन शरीराभ्यास घटने लगता है। शरीर को लक्ष्य करके किए जाने वाले विचार और कार्य शिथिल होने लगते हैं तथा विचाराधारा एवं कार्य प्रणाली समुन्नत होती हैं, जिसके द्वारा आत्म-लाभ के लिए अनेक प्रकार के पुण्य आयोजन होते हैं।

स्वर योग

विज्ञानमय कोश, वायु प्रधान कोश होने के कारण उसकी स्थिति में वायु संस्थान विशेष रूप से सजग रहता है। इस वायु तत्व पर यदि अधिकार प्राप्त कर लिया जाय तो अनेक प्रकार से अपना हित सम्पादन किया जा सकता है।

स्वर शास्त्र के अनुसार श्वाँस-प्रश्वाँस के मार्गों को नाडी कहते हैं। शरीर में ऐसी नाड़ियों की संख्या ७२०० है। इनको नसें न समझना चाहिए, स्पष्टत: यह प्राण-वायु आवागमन के मार्ग हैं। नाभि में इसी प्रकार की एक नाड़ी कुण्डली के आकार में है। जिसमें से १- इड़ा, २-पिंगला, ३-सुषुम्ना, ४-गंधारी, ५-हस्त-जिह्वा, ६-पूषा, ७-यशश्विनी, ८-अलंबुषा, ९- कुहू तथा १०- शंखिनी नामक दस नाड़ियाँ निकली हैं और यह शरीर के विभिन्न भागों की ओर चली जाती हैं। इनमें से पहली तीन प्रधान हैं। इड़ा को 'चन्द्र' कहते हैं जो बाँये नथुने में है। पिंगला को 'सूर्य' कहते हैं, यह दाहिने नथुने में है। सुषुम्ना को वायु कहते हैं जो दोनों नथुनों के मध्य में है। जिस प्रकार संसार में सूर्य और चन्द्र नियमित रूप से अपना-अपना काम करते हैं उसी प्रकार इड़ा, पिंगला भी इस जीवन में अपना-अपना कार्य नियमित रूप से करती हैं। इन तीनों के अतिरिक्त अन्य सात प्रमुख नाड़ियों के स्थान इस प्रकार हैं-गंधारी नाक में, हस्त-जिह्वा दाहिनी आँख में, पूषा दाहिने कान में, यशश्विनी बाँये कान में, अलम्बुषा मुख में, कुहू लिंग देश में और शंखिनी गुदा में। इस प्रकार शरीर के दस द्वारों में दस नाड़ियाँ हैं।

हठयोग में नाभिकन्द अर्थात् कुण्डलिनी स्थान गुदा द्वार से लिंग देश की ओर दो अँगुल हटकर मूलाधार चक्र माना गया है। स्वर योग से वह स्थिति माननीय न होगी। स्वर योग शरीर शास्त्र से सम्बन्ध रखता है और शरीर की नाभि या मध्य केन्द्र गुदा-मूल में नहीं वरन् उदर की टुण्डी में ही हो सकता है। इसलिए यहाँ नाभि देश का तात्पर्य उदर की टुण्डी मानना ही ठीक है। श्वाँस क्रिया का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उदर से ही है। इसलिए प्राणायाम द्वारा उदर घर्षण संस्थान तक प्राण वायु को ले जाकर नाभि केन्द्र से इस प्रकार घर्षण किया जाता है वहाँ की सुप्त शक्तियों का जागरण हो सके।

चन्द्र और सूर्य की अदृश्य रश्मियों का प्रभाव स्वरों पर पड़ता है। सब जानते हैं कि चन्द्रमा का गुण शीतल और सूर्य का ऊष्ण है। शीतलता से स्थिरता, गम्भीरता, विवेक, प्रभृति गुण उत्पन्न होते हैं और उष्णता से तेज, शौर्य, चञ्चलता, उत्साह, क्रियाशीलता, बल आदि गुणों का आविर्भाव होता है। मनुष्य को सांसारिक जीवन में शान्तिपूर्ण और अशान्तिपूर्ण दोनों ही तरह से काम पड़ते हैं। किसी भी काम का अन्तिम परिणाम उसके आरम्भ पर निर्भर है। इसलिए विवेकी पुरुष अपने कर्मों को आरम्भ करते समय यह देख लेते हैं कि हमारे शरीर और मन की स्वाभाविक स्थिति इस प्रकार काम करने के अनुकूल है कि नहीं ? एक विद्यार्थी को रात में उस समय पाठ याद करने के लिए दिया जाय जब कि उसकी स्वाभाविक स्थिति निद्रा चाहती है, तो वह पाठ को अच्छी तरह याद न कर सकेगा। यदि यही पाठ उसे प्रात:काल की अनुकूल स्थिति में दिया जाय तो आसानी से सफलता मिल जायेगी। ध्यान, भजन-पूजा, मनन, चिन्तन के लिए एकान्त की आवश्यकता है, किन्तु उत्साह भरने और युद्ध के लिए कोलाहलपूर्ण वातावरण की, बाजों की घोर ध्वनि की आवश्यकता होती है। ऐसी उचित स्थितियों में किये कार्य अवश्य ही फलीभूत होते हैं। दृष्टिकोण के आधार पर स्वर-योगियों ने आदेश किया है कि विवेकपूर्ण और स्थायी कार्य चन्द्र स्वर में किए जाने चाहिए जैसे-विवाह, दान, मन्दिर, कुआँ, तालाब बनाना, नवीन वस्त्र धारण

करना, घर बनाना, आभूषण बनबाना, शान्ति के काम, पुष्टि के काम, शफाखाना, ओषधि देना, रसायन बनाना मैत्री व्यापार, बीज बोना, दूर की यात्रा, विद्यारम्भ धर्म, यज्ञ, दीक्षा, मन्त्र , विद्याभ्यास, क्रिया, आदि। यह सब कार्य ऐसे हैं जिनमें अधिक गम्भीरता और बुद्धिपूर्वक कार्य करने की आवश्यकता है, इसलिए इनका आरम्भ भी ऐसे ही समय में होना चाहिए, जब शरीर के सूक्ष्म कोश चन्द्रमा की शीतलता को ग्रहण कर रहे हों।

आत्मानुभूति योग

उत्तेजना, आवेश एवं जोश के साथ करने पर जो कार्य ठीक होते हैं उनके लिए सूर्य-स्वर उत्तम कहा गया है। जैसे क्रूर कार्य स्त्री-भोग, भ्रष्ट कार्य, युद्ध करना, देश का ध्वंश करना, विष खिलाना, मद्यपीना, हत्या करना, खेलना, काठ पत्थर, पृथ्वी रत्न को तोड़ना, तंत्र विद्या, जुआ, चोरी, व्यायाम, नदी पार करना आदि यहाँ उपरोक्त कठोर कर्मों का समर्थन या निषेध नहीं है। शास्त्रकार ने तो वैज्ञानिक की तरह विश्लेषण कर दिया है कि ऐसे कार्य उस वक्त अच्छे होंगे जब सूर्य की उष्णता के प्रभाव से जीवन तत्व उत्तेजित हो रहा हो। शान्तिपूर्ण मस्तिष्क से भली प्रकार ऐसे कार्यों को कोई व्यक्ति कैसे कर सकेगा ? इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि सूर्य स्वर में अच्छे कार्य नहीं होते। संघर्ष और युद्ध आदि कार्य देश, समाज अथवा आश्रित की रक्षार्थ भी हो सकते हैं और उनको सब कोई प्रशंसनीय बतलाता है। इसी प्रकार विशेष परिश्रम के कार्यों का सम्पादन भी समाज और परिवार के लिए अनिवार्य होता है। वे भी सूर्य-स्वर में उत्तमतायुक्त होते हैं।

कुछ क्षण के लिए जब दोनों नाड़ी इड़ा, पिंगला रुककर, सुषुम्ना चलती हैं तब प्रायः शरीर संधि अवस्था में होता है। वह संध्याकाल है। दिन के उदय और अस्त को संध्याकाल कहते हैं। इस समय जन्म या मरण काल के समान पारलौकिक भावनायें मनुष्य में जागृत होती हैं, और संसार की ओर से विरक्त, उदासीनता एवं अरुचि होने लगती है। स्वर की संध्या से भी मनुष्य का चित्त सांसारिक कार्यों से कुछ उदासीन हो जाता है और अपने वर्तमान अनुचित कार्यों पर पश्चाताप स्वरूप खिन्नता प्रकट करता हुआ, कुछ आत्म-चिन्तन की ओर झुकता है। वह क्रिया बहुत ही सूक्ष्म होती है, अल्पकाल के लिए आती है, इसलिए हम अच्छी तरह पहचान भी नहीं पाते। यदि इस समय परमार्थ चिन्तन और ईश्वराधना का अभ्यास किया जाय तो निस्सन्देह उसमें बहुत उन्नति हो सकती है, किन्तु सांसारिक कार्यों के लिए यह स्थिति उपयुक्त नहीं है। इसलिए सुषुम्ना स्वर में आरम्भ होने वाले कार्यों का परिणाम अच्छा नहीं होता, वे अक्सर अधूरे या असफल रह जाते हैं। सुषुम्ना की दिशा में मानसिक विकार दब जाते हैं, और गहरे आत्मिक भाव का थोड़ा बहुत उदय होता है, इसलिए इस समय में दिये हुए शाप या वरदान अधिकांश फलीभूत होते हैं क्योंकि इन भावनाओं के साथ आत्म-तत्व का बहुत कुछ सम्मिश्रण होता है। इड़ा शीत ऋतु है तो पिंगला ग्रीष्म ऋतु। जिस प्रकार शीत ऋतु के महीनों में शीत की प्रधानता रहती है, उसी प्रकार चन्द्र नाड़ी शीतल होती है और ग्रीष्म ऋतु के महीनों में जिस प्रकार गर्मी की प्रधानता रहती है, उसी प्रकार सूर्य नाड़ी में उष्णता एवं उत्तेजना का प्राधान्य होता है।

स्वर बदलना

कुछ विशेष कार्यों के सम्बन्ध में स्वर शास्त्रज्ञों के जो अनुभव हैं उनकी जानकारी सर्वसाधारण के लिए बहुत ही सुविधाजनक होगी। बताया गया है कि प्रस्थान करते समय चलित स्वर के शरीर भाग को हाथ से स्पर्श करके उस चलित स्वर वाले कदम को आगे बढ़ाकर (यदि चन्द्र नाड़ी चलती है तो ४ बार और सूर्य-स्वर है तो ५ बार उसी पैर को जमीन पर पटक कर) प्रस्थान करना चाहिए। यदि किसी क्रोधी पुरुष के पास जाना है तो अचलित स्वर (जो स्वर न चल रहा हो) के पैर को पहले आगे बढ़ाकर प्रस्थान करना चाहिए और अचलित स्वर की ओर उस पुरुष को करके बातचीत करनी चाहिए। इसी रीति से उसकी बढ़ी हुई उष्णता को अपना अचलित स्वर की ओर का शान्त भाग अपनी आकर्षण विद्युत को खींचकर शान्त बना देगा और मनोरथ में सिद्धि प्राप्त होगी। गुरु, मित्र, अफसर, राजदरबार से जबकि बाम स्वर चलित हो तब वार्तालाप या कार्यारम्भ करना ठीक है।

कई बार ऐसे अवसर आते हैं जब कार्य अत्यन्त ही आवश्यक हो सकता है किन्तु उस समय स्वर विपरीत चलता है। तब क्या उस कार्य के किए बिना ही बैठा रहना चाहिए ? नहीं ऐसा करने की जरूरत नहीं है। जिस प्रकार जब रात को निद्रा आती है किन्तु उस समय

कुछ कार्य करना आवश्यक होता है तब चाय आदि किसी उत्तेजक पदार्थ की सहायता से शरीर को चैतन्य करते हैं, उसी प्रकार हम कुछ उपायों द्वारा स्वर को बदल भी सकते हैं। नीचे कुछ ऐसे नियम लिखे जाते हैं।

१- जो स्वर नही चल रहा उसे अँगूठे से दबायें और जिस नथुने से साँस चलती है उससे हवा खीचें, फिर जिससे श्वाँस खींची है उसे दबाकर पहले नथुने से यानी जिस स्वर को चलाना है, उससे श्वाँस छोड़ें। इस प्रकार कुछ देर तक बार-बार करें। श्वाँस की चाल बदल जायेगी।

२- जिस नथुने से श्वाँस चल रहा हो, उसी करवट से लेट जावें, तो स्वर बदल जावेगा। इस प्रयोग के साथ पहला प्रयोग करने से स्वर और भी शीघ्र बदलता है।

३- जिस तरफ का स्वर चल रहा हो, उस ओर की काँख (बगल) में कोई सख्त चीज कुछ देर दबाकर रखो तो स्वर बदल जाता है। पहले और दूसरे प्रयोग के साथ यह प्रयोग भी करने से शीघ्रता होती है।

४- घी खाने से बाम स्वर और शहद खाने से दक्षिण स्वर चलना कहा जाता है।

५- चलित स्वर में पुरानी स्वच्छ रुई का फाया रखने से स्वर बदलता है।

बहुधा जिस प्रकार बीमारी की दशा में शरीर को रोग-मुक्त करने के लिए चिकित्सा की जाती है उसी प्रकार स्वर को ठीक अवस्था में लाने के लिए इन उपायों को काम में लाना चाहिए।

स्वर-संयम से दीर्घ जीवन

प्रत्येक प्राणी का पूर्ण आयु प्राप्त करना, दीर्घ जीवी होना उसकी श्वाँस क्रिया पर अवलम्बित है। पूर्व कर्मों के अनुसार जीवित रहने के लिए परमात्मा एक नियत संख्या में श्वाँस प्रदान करता है, वह श्वाँस समाप्त होने पर प्राणान्त हो जाता है। इस खजाने को जो प्राणी जितनी होशियारी से खर्च करेगा, वह उतने ही अधिक काल तक जीवित रह सकेगा और जो जितना व्यर्थ गँवायेगा उतनी ही शीघ्र उसकी मृत्यु हो जायेगी। सामान्यत: हर एक मनुष्य दिन रात में २१६०० श्वाँस लेता है। इससे कम श्वाँस लेने वाला दीर्घजीवी होता है क्योंकि अपने धन का जितना कम व्यय होगा, उतने ही अधिक काल तक वह सञ्चित रहेगा। हमारे श्वाँस की पूँजी की भी यही दशा है विश्व के समस्त प्राणियों में जो जीव जितनी कम श्वाँस लेता है वह उतने ही अधिक काल तक जीवित रहता है। नीचे की तालिका से इसका स्पष्टीकरण हो जाता हैं।

नाम प्राणी	श्वाँस की गति प्रति मिनट	पूर्ण आयु
खरगोश	३८ बार	८ वर्ष
बन्दर	३२ बार	१० वर्ष
कुत्ता	२९ बार	११ वर्ष
घोड़ा	१९ बार	३५ वर्ष
मनुष्य	१३ बार	१२० वर्ष
साँप	८ बार	१००० वर्ष
कछुआ	५ बार	२००० वर्ष

साधारण काम-काज करने में १२ बार, दौड़ धूप करने में १८ बार और मैथुन करते समय २६ बार प्रति मिनट के हिसाब से श्वाँस चलती है, इसलिए विषयी और लम्पट मनुष्य की आयु घट जाती है और प्राणायाम करने वाले योगाभ्यासी दीर्घकाल तक जीवित रहते हैं। यहाँ यह न सोचना चाहिए कि चुपचाप बैठे रहने से कम साँस चलती है इसलिए निष्क्रिय बैठे रहने से आयु बढ जायेगी, ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि निकम्मे बैठे रहने से शरीर के अन्य अंग निर्बल, अशक्त और बीमार हो जायेंगे, तदनुसार उनकी साँस का वेग बहुत ही बढ़ जायेगा। इसलिए शारीरिक अंगों को स्वस्थ रखने के लिए परिश्रम करना आवश्यक है। किन्तु शक्ति के बाहर परिश्रम भी नहीं करना चाहिए।

साँस सदा पूरी और गहरी लेनी चाहिए तथा झुककर कभी न बैठना चाहिए। नाभि तक पूरी साँस लेने पर एक प्रकार से कुम्भक हो जाता है श्वाँसों की संख्या कम हो जाती है। मेरुदण्ड के भीतर एक प्रकार का तरल जीवन तत्व प्रवाहित होता रहता है जो सुषुम्ना को बलवान् बनाये रखता है तदनुसार मस्तिष्क की पुष्टि होती रहती है। यदि मेरुदण्ड को झुका हुआ रखा जाय तो उस तरल तत्व का प्रवाह रुक जाता है और निर्बल सुषुम्ना मस्तिष्क का पौषण करने से वञ्चित रह जाती है।

सोते समय चित्त होकर लेटना चाहिए, इससे सुषुम्ना स्वर चलकर विघ्न पैदा होने की सम्भावना रहती है। ऐसी दशा में अशुभ तथा भयानक स्वप्न दिखाई पड़ते हैं। इसलिए भोजनोपरान्त प्रथम बाँये फिर दाहिने

करवट लेना चाहिए। भोजन के बाद कम से कम १५ मिनट आराम किए बिना यात्रा करना भी उचित नहीं है।

शीतलता से अग्नि मन्द पड़ जाती है और उष्णता से तीव्र होती है। यह प्रभाव हमारी जठराग्नि पर भी पड़ता है। सूर्य-स्वर में पाचन शक्ति की वृद्धि रहती है, अतएव इसी स्वर में भोजन करना उत्तम है। इस नियम को सब लोग जानते हैं कि भोजन उपरान्त बाँये करवट से लेटे रहना चाहिए। उद्देश्य यही है कि बाँये करवट लेटने से दक्षिण स्वर चलता रहता है जिससे पाचन-शक्ति प्रदीप्त होती है

इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना की गति-विधि पर ध्यान रखने से वायु-तत्व पर अपना अधिकार होता है। वायु के माध्यम से कितनी ही ऐसी बातें जानी जा सकती हैं जिन्हें साधारण लोग नहीं जानते। मकड़ी को वर्षा से बहुत पहले पता लग जाता है कि मेह बरसने वाला है तदनुसार वह अपनी रक्षा का प्रबन्ध पहले से ही कर लेती है। कारण यह है कि वायु के साथ वर्षा का सूक्ष्म संयोग मिला रहता है, उसे मनुष्य समझ नहीं पाता, पर मकड़ी अपनी चेतना से यह अनुभव कर लेती है कि इतने समय बाद इतने वेग से पानी बरसने वाला है। मकड़ी में जैसी सूक्ष्म वायु परीक्षण चेतना होती है उससे भी अधिक प्रबुद्ध चेतना स्वर-योगी को मिल जाती है। वह वर्षा, गर्मी को ही नहीं वरन् उससे भी सूक्ष्म बातें, भविष्य की सम्भावनायें, दुर्घटनायें, परिवर्तनशीलतायें, विलक्षणतायें अपनी दिव्य दृष्टि से जान लेता है।

कई स्वर-ज्ञाता ज्योतिषियों की भाँति इस विद्या द्वारा भविष्यवक्ताओं जैसा व्यवसाय करते हैं। स्वर के आधार पर ही मूक प्रश्न, तेजी-मन्दी, खोई वस्तु का पता, शुभ-अशुभ मुहूर्त आदि बातें बताते हैं। असफल होने की आशंका वाले, दुस्साहसपूर्ण कार्य करने वाले लोग भी स्वर का आश्रय लेकर अपना काम करते हैं। चोर, डाकू, आदि इस सम्बन्ध में विशेष ध्यान रखते हैं, व्यापार, राजद्वार, चिकित्सा आदि जोखिम और जिम्मेदारी के कामों में भी स्वर विद्या के नियमों का ध्यान रखा जाता है। इस सम्बन्ध में अखण्ड-ज्योति पत्रिका में समय-समय पर तद्विषयक जानकारी प्रकाशित होती रहती है। उस सुविस्तृत ज्ञान का विवेचन यहाँ नहीं हो सकता। इस समय तो हमें केवल यह विचार करना है कि स्वर साधन से विज्ञानमय कोश की सुव्यवस्था में हमें किस प्रकार सहायता मिल सकती है।

विज्ञानमय-कोश की वायु साधना

१- शान्त वातावरण में मेरुदण्ड सीधा करके बैठ जाइये और नाभि-चक्र में शुभ ज्योति-मण्डल का ध्यान कीजिए। उस ज्योति केन्द्र में समुद्र के ज्वार-भाटे की तरह हिलोरें उठती हुई परिलक्षित होंगी।

२-यदि बाँया स्वर चल रहा होगा तो उस ज्योति-केन्द्र का वर्ण चन्द्रमा के समान पीला होगा और उसके बाँये भाग से निकलने वाली इड़ा नाड़ी में होकर श्वाँस-प्रवाह का आगमन होगा। नाभि के नीचे की और मूलाधार चक्र (गुदा और लिंग का मध्यवर्ती भाग) में होती हुई मेरुदण्ड में होकर मस्तिष्क के ऊपर भाग की परिक्रमा करती हुई नासिका के बाँये नथुने तक इड़ा नाड़ी जाती है। नाभि-केन्द्र के बाम भाग की क्रियाशीलता के कारण यह नाड़ी का काम करती है और बाँया स्वर चलता है। इस तथ्य को भावना के दिव्य नेत्रों द्वारा भली-भाँति चित्र वत् पर्यवेक्षण कीजिए।

३- यदि दाहिना स्वर चल रहा होगा तो नाभि केन्द्र का ज्योति मण्डल सूर्य के समान तनिक लालिमा लिए हुए श्वेत वर्ण का होगा और उसके दाहिने भाग में से निकलने वाली पिंगला नाड़ी में होकर श्वाँस-प्रश्वाँस क्रिया होगी। नाभि के नीचे मूलाधार में होकर मेरुदण्ड तथा मस्तिष्क में होती हुई दाहिने नथुने तक पिंगला नाड़ी गई है और नाभि चक्र के दाहिने भाग में चैतन्यता होती है और दाहिना स्वर चलता है, इस सूक्ष्म क्रिया की ध्वनि-शक्ति द्वारा मनोयोगपूर्वक निरीक्षण करना चाहिए कि वस्तुस्थिति ध्यान क्षेत्र में चित्र के समान स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगे।

४- जब स्वर सन्धि होती है तो नाभि चक्र स्थिर हो जाता है, उसमें कोई हलचल नहीं होती और न उतनी देर तक वायु का आवागमन होता है। इस सन्धिकाल में तीसरी नाड़ी मेरुदण्ड में अत्यन्त द्रुत वेग से बिजली के समान कौंधती है, साधारणतः एक क्षण के सौवें भाग में यह कौंध जाती है, इसे ही सुषुम्ना कहते हैं।

५- सुषुम्ना का जो विद्युत प्रवाह है वही आत्मा की चञ्चल झाँकी है। आरम्भ में यह झाँकी एक हलके झपट्टे के समान किंचित प्रकाश की मन्द किरण जैसी होती है। साधना से यह चमक अधिक प्रकाशवान और अधिक देर

ठहरने वाली होती है। कुछ दिनों में वर्षा काल में बादलों के मध्य चमकने वाली बिजली के समान उसका प्रकाश और विस्तार होने लगता है। सुषुम्ना ज्योति में कहीं रंगों की आभा होना, उसका सीधा, टेढ़ा, तिरछा या बर्तुलाकर होना आत्मिक स्थिति का परिचायक है। तीन गुण, पाँच तत्व, संस्कार एवं अन्तःकरण की जैसी स्थिति होती है, उसी के अनुरूप सुषुम्ना का रूप ध्यानावस्था में दृष्टिगोचर होता है।

६- इड़ा पिंगला की क्रियायें जब स्पष्ट दीखने लगें तब उनका साक्षी रूप से अवलोकन किया कीजिए। नाभि चक्र के जिस भाग में ज्वार-भाटा आ रहा होगा, वही स्वर चल रहा होगा और केन्द्र में इसी आधार पर सूर्य या चन्द्रमा का रंग होगा। यह क्रिया जैसे-जैसे हो रही है उसको स्वाभाविक रीति से होते हुए देखते रहना चाहिए। एक साँस के भीतर पूरा प्रवेश होने पर जब लौटती है तो उसे "अभ्यन्तर सन्धि" और जब साँस पूरी तरह बाहर निकलकर नई साँस भीतर जाना आरम्भ करती है तब उसे 'बाह्य सन्धि' कहते हैं। इन कुम्भक कालों में सुषुम्ना की द्रुत गतिगामिनी विद्युत आभा का अत्यन्त चपल प्रकाश विशेष सजगतापूर्वक दिव्य नेत्रों से देखना चाहिए।

७- जब इड़ा बदलकर पिंगला में या पिंगला बदलकर इड़ा में जाती है अर्थात् एक स्वर जब दूसरे में परिवर्तित होता है तो सुषुम्ना की सन्धि बेला आती है। अपने आप स्वर बदलने के अवसर पर स्वाभाविक सुषुम्ना का प्राप्त होना प्रायः कठिन होता है। इसलिए स्वर विद्या के साधक पिछले पृष्ठों में बताऐ गए स्वर बदलने के उपायों से वह परिवर्तन करते हैं, और तब सुषुम्ना की सन्धि आने पर आत्मा-ज्योति का दर्शन करते हैं। यह ज्योति आरम्भ में चञ्चल और विविध आकृतियों की होती है और अन्त में स्थिर एवं मण्डलाकर हो जाती है। यह स्थिरता ही विज्ञानमय कोश की सफलता है। उसी स्थिति में आत्म-साक्षात्कार होता है।

सुषुम्ना में अवस्थित होना वायु पर अपना अधिकार कर लेना है। इस सफलता के द्वारा लोक-लोकान्तरों तक अपनी पहुँच हो जाती है और विश्व ब्रह्माण्ड पर अपना प्रभुत्व अनुभव होता है। प्राचीन समय में स्वर-शक्ति द्वारा अणिमा, महिमा, लघिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती थीं। आज के युग-प्रवाह में वैसा तो नहीं होता पर ऐसे अनुभव होते हैं जिनसे मनुष्य शरीर रहते हुए भी मानसिक आवरण में देव-तत्वों की प्रचुरता हो जाती है। विज्ञानमय कोश के विजयी को भूसुर, भूदेव या नर-तनुधारी दिव्य आत्मा कहते हैं।

त्रिविधि बंधन और उनसे मुक्ति

कैदी तीन जगह से बँधा होता है। हाथों में हथकड़ी, पैरों में बेड़ी, गले में तौक या कमर में रस्सा। इस प्रकार सभी प्रमुख क्रिया अंग जकड़ जाने से वह उन बन्धनों को छुड़ाकर भागने की स्थिति में नहीं रहता। किन्तु जो प्रयत्नशील होते हैं, मुकदमा लड़ते या भूल का प्रायश्चित करते हैं उनकी सजा समय से पहले भी छूट जाती है और बन्धनों से छूट मिल जाती है।

ठीक इस प्रकार मनुष्य के सूक्ष्म शरीर में कई जगहों पर बँधन बँधे हुए हैं। उन्हें खोलने, काटने एवं छूटने का प्रयत्न मनुष्य को करना होता है। इसी को बन्धन मुक्ति कहते हैं।

बन्धन तीन हैं- वासना, तृष्णा, और अहंता। इन्हीं के कारण निरन्तर खिन्न उद्विग्न रहना पड़ता है। इन तीन के अतिरिक्त मानव जीवन में अशान्ति छाई रहने का और काई कारण नहीं। इन्हीं को काम, क्रोध लोभ कहा गया है। इन्हीं तीनों सम्मिश्रण से अनेकों प्रकार के मनोविकार उठते हैं और उन्हीं की प्रेरणा से अनेकानेक पाप कर्म बन पड़ते हैं। इन तीनों बन्धनों को खोला काटा जा सके तो समझना चाहिए बन्धन मुक्ति का सौभाग्य बन गया। साधना विज्ञान में इन तीनों बन्धनों के खुलने पर तीन दिव्य शक्तियों के दर्शन एवं अनुग्रह का लाभ मिलने की बात कही गई है। बन्धन की स्थिति ही कष्ट कारक है। इनके खुलने पर तो आनन्द है। अन्तरंग की दिव्य सम्पदाओं अलौकिक सिद्धि भण्डार पर यही तीन ताले जड़े हुए हैं। उनके खुलने पर वह सब कुछ उपलब्ध होता है जो परम पिता ने अपने राजकुमार को जीवन यात्रा पर भेजते समय आवश्यक साधनों के रूप में साथ ही बाँध कर रख दिया है। यह पाथेय गुम जाने के कारण ही अभावों विक्षोभों और संकटों से भरा जीवन जीना पड़ता है। इन्हें खोज निकालने-तिजोरी खोल कर उपयोग में ला सकने का अवसर प्राप्त करना ही ग्रन्थि भेद की साधना है।

बन्धनों को अध्यात्म की भाषा में ग्रन्थि बेध कहते हैं। ग्रन्थियाँ तीन बताई गई हैं (१) ब्रह्म ग्रन्थि (२) विष्णु ग्रन्थि (३) रुद्रग्रन्थि। इनके स्थान (१) हृदय स्थान (२) नाभिस्थान (३)मस्तक प्रदेश हैं। इसलिए

षट्चक्रों के बेधन एवं पंचकोशों के जागरण की तरह- ग्रन्थि बेध साधना का भी अपना महत्व एवं विधान है।

तीन शरीर माने गये हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण। यही ब्रह्मा, विष्णु, महेश हैं। इन्हें तीन लोक भी कहा गया है। गायत्री त्रिपदा है। यज्ञोपवीत में तीन लड़ें और तीन ग्रन्थियाँ होती हैं। यह सब भी ग्रन्थि विज्ञान की ओर ध्यान दिलाने के लिए हैं। यज्ञोपवीत कंधे पर धारण किया जाता है। उसका एक तात्पर्य यह भी है मनुष्य पर देव-ऋण, ऋषि ऋण, और पितर ऋण तीन लदे हुए हैं। उन्हें चुकाकर संसार से प्रयाण करना चाहिए। अन्यथा ऋणी की जो दुर्गति होती है वह अपनी भी होगी। कहीं अन्यथा चला जाय और वहाँ से पकड़ा जाता है। घर परिवार कुर्क हो जाता है। इन बातों का स्मरण दिलाने के लिए ग्रन्थिबेध विज्ञान में बहुत कुछ तत्वदर्शन सन्निहित है।

साधना विज्ञान के तत्व दर्शी वैज्ञानिकों ने तीन ग्रन्थियों का विस्तृत विवेचन एवं निरूपण किया है। उन्हें खोलने के साधन एवं विधि विधान बनाये हैं। उनके नाम है ब्रह्म ग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि और रुद्र ग्रन्थि। रूद्र ग्रन्थि का स्थान नाभि स्थान माना गया है। इसे अग्नि चक्र भी कहते हैं। माता के शरीर से बालक के शरीर में जो रस रक्त प्रवेश करता है। उसका स्थान यह नाभि स्थान ही है। प्रसव के उपरान्त नाल काटने पर ही माता और सन्तान के शरीरों का सम्बन्ध विच्छेद होता है। इस नाभि चक्र द्वारा ही विश्व ब्रह्माण्ड की वह अग्नि प्राप्त होती रहती है जिसके कारण शरीर को तापमान मिलता और जीवन बना रहता है। स्थूल शरीर को प्रभावित करने वाली प्राण क्षमता का केन्द्र यही है। शरीर शास्त्र के अनुसार नहीं अध्यात्म शास्त्र के सूक्ष्म विज्ञान के अनुरूप प्राण धारण का केन्द्र यही है। कुण्डलिनी शक्ति इसी नाभि चक्र के पीछे अधो भाग में अवस्थिति है। मूला धार चक्र का मुख द्वार नाभिस्थान में है और अधो भाग में मल मूत्र छिद्रों के मध्य केन्द्र में। इस केन्द्र के जागरण अनावरण का जो विज्ञान विधान है वह त्रिपदा गायत्री के प्रथम चरण का क्षेत्र समझा जा सकता है।

दूसरी ग्रन्थि है। विष्णु ग्रन्थि यह मस्तिष्क मध्य ब्रह्मरन्ध्र में है। आज्ञा चक्र, द्वितीय नेत्र इसी को कहते हैं। पिट्यूटरी ओर पीनियल हारमोन ग्रन्थियों का शक्ति चक्र यही बनता है।

मस्तिष्क के खोखले को विष्णु लोक भी कहा गया है। इसमें भरे हुए भूरे पदार्थ को क्षीर सागर की उपमा दी गई है। सहस्रार चक्र को हजार फन वाला शेषसर्प कहा गया है। जिस पर विष्णु भगवान सोये हुए हैं। ब्रह्मरन्ध्र की तुलना पृथ्वी के ध्रुव प्रदेश से की गई है। अनन्त अन्तरिक्ष में अन्तग्रही प्रचण्ड शक्तियों की वर्षा निरन्तर होती रहती है। ध्रुवों में रहने वाला चुम्बकत्व इस अन्तग्रही शक्ति वर्षा में से अपने लिए आवश्यक सम्पदायें खींचता रहता है। पृथ्वी के वैभव की जड़ें इसी ध्रुव प्रदेश में हैं, वहां से उसे आवश्यक पोषण निखिल ब्रह्माण्ड की सम्पदा में से उपलब्ध होता रहता है। ठीक इसी प्रकार मानवी काया एक स्वतन्त्र पृथ्वी है। उसे अपनी अति महत्व पूर्ण आवश्यकताओं को पूरा करने का अवसर इसी ब्रह्मरन्ध्र के माध्यम द्वारा उपलब्ध होता है। यह ध्रुव प्रदेश अवरुद्ध रहने से, मूर्छित स्थिति में पड़े रहने से सूक्ष्म जगत के अभीष्ट अनुदान मिल नहीं पाते और पिछड़ेपन की आत्मिक दरिद्रता छाई रहती है। विष्णु ग्रन्थि के जाग्रत होने पर वह द्वार खुलता है। जिससे दिव्य अनुदानों की अभीष्ट मात्रा आकर्षित और उपलब्ध की जा सके।

मस्तिष्क का बहुत थोड़ा अंश प्रायः सात प्रतिशत ही जाग्रत होता है। उसी से तथा कथित विद्वता बुद्धिमानी आदि की ज्ञान सम्पदा से जिन्दगी की गाड़ी घसीटी जाती है। शेष ९३ प्रतिशत ज्ञान संस्थान प्रसुप्त स्थिति में पड़ा है। उसी को विष्णु भगवान का शेष शैय्या शयन कहा गया है। इस क्षेत्र के बन्द कपाट खोले जा सकें और उस अँधेरी कोठरी में प्रकाश पहुँच सके तो वहाँ की रत्न राशि टटोली और काम में लाई जा सकती है, अतिन्द्रिय ज्ञान का केन्द्र उसी प्रसुप्त संस्थान में छिपा पड़ा है। दूर दर्शन, दूर श्रवण, भविष्य ज्ञान, विचार संचालन, प्राण प्रहार आदि अनेक योग और तन्त्र में वर्णित शक्तियों का निवास इसी क्षेत्र में है। सिद्धियों की चौसठ योगिनियाँ यहीं समाधिस्थ बनकर लेटी हुई हैं। उन्हें यदि जगाया जा सके तो मनुष्य सहज ही सिद्धि पुरुष बन सकता है उनकी अविज्ञात क्षमता विकसित होकर देवतुल्य समर्थता का लाभ दे सकती है।

बुद्धिमत्ता प्राप्त करने के लौकिक उपाय शिक्षा, स्वाध्याय, अनुभव अभ्यास परामर्श आदि हैं। यह साधन जिसे जितनी मात्रा में मिल जाते हैं। वह उतना ही बुद्धिमान विद्वान बन जाता है। यह सर्व विदित उपाय

हुए। सूक्ष्म विज्ञान के अनुसार रहस्य मय उपाय मस्तिष्कीय क्षेत्र की ध्यान धारणा तथा दूसरे साधनात्मक उपाय उपचारों से विशाल क्षेत्र की ढूंढ़ खोज की जा सकती है। और उस अन्वेषण का असाधारण लाभ उठाया जा सकता है। कोलम्बस ने अमेरिका महाद्वीप खोज निकाला तो योरोप निवासियों ने उसका पूरा पूरा लाभ उठाया, वैज्ञानिक शोधों का लाभ समस्त जाति उठा रही है मन संस्थान की सुनिश्चित संपदाओं को खोजना नहीं पड़ता उन्हें जगाने, उठाने भर की मेहनत करनी पड़ती है। इसी प्रयास को विष्णु ग्रन्थि खोलने की साधना कहते हैं।

भ्रान्तियों का जंजाल ही माया बन्धन है। तरह तरह के कुसंस्कार भ्रम कुविचार ही मन को भटकाते और कुमार्ग पर चलने के लिए बहकाते हैं। मृग तृष्णा में भटकने और कस्तूरी की खोजने मारे मारे फिरने वाले हिरन जैसी ही मूर्खता अपना मन भी करता रहता है। जाल में फॅसने वाले पक्षी, कांटे में गला फँसाने वाली मछली की तरह मन भी सस्ते प्रलोभन में आतुरता पूर्वक टूट पड़ता है और भारी विपत्ति में फँसता है। सारा शहद एक साथ खजाने के लिए व्याकुल मक्खी अपने पंखों को फँसा बैठती है और सस्ते लाभ के बदले प्राण घातक संकट उठाती है। ऐसी ही दुर्गति भ्रम ग्रसित मन की होती है। यदि जीवन का स्वरूप और लक्ष्य समझने में भूल न हो तो सामान्य स्थिति का मनुष्य भी महामानवों के स्तर तक पहुँच सकता है। भ्रम ही है जो मनुष्य को पथ भ्रष्ट करता और उसके अनुपम सौभाग्य को व्यर्थ की बर्बादी में नष्ट करता है। इस विपत्ति से छुटकारा मिल सकने के साधनात्मक उपाय को, विष्णु ग्रन्थि को खोलना कहते हैं। यह द्वार खुल जाने पर अनन्त आकाश में बिखरी पड़ी बहुमूल्य ज्ञान सम्पदा को बटोर लेना भी सहज संभव हो सकता है। सामान्य शिक्षा से जितना जिस स्तर का ज्ञान सम्पादन किया जाता है, उसकी तुलना में कहीं ऊँचा कहीं अधिक सुविस्तृत, परिष्कृत ज्ञान जागृत मनः संस्थान अनायास ही उपलब्ध किया जा सकता है। विष्णु ग्रन्थि के जागरण से मिलने वाली सफलता के अनुपात से इस प्रकार के अनेकों दिव्य ज्ञान साधना प्रयोगों द्वारा सहज ही उपलब्ध होने लगते हैं। त्रिपदा गायत्री का दूसरा चरण विष्णु ग्रन्थि खुलने से सम्बधित है।

त्रिपदा का तीसरा चरण ब्रह्म ग्रन्थि से सम्बधित है। इसका स्थान हृदय चक्र माना गया है। इसे ब्रह्म चक्र भी कहते हैं ब्रह्म परमात्मा को कहते हैं। भावश्रद्धा सम्वेदना एवं आकांक्षाओं का क्षेत्र यही है। शरीर शास्त्र के अनुसार भी यहाँ रक्त का संचार एवं संशोधन करने वाला केन्द्र यही है। इस धड़कन को ही पेण्डूलम की खट खट की तरह शरीर रूपी घड़ी का चलना माना जाता है। अध्यात्म शास्त्र की मान्यता इससे आगे की है उसके अनुसार हृदय की गुहा में प्रकाश ज्योति की तरह यहाँ आत्मा का निवास है। परमात्मा भाव रूप में ही अपना परिचय मनुष्य को देते हैं। श्रद्धा और भक्ति के शिंकजे में ही परमात्मा को पकड़ा जाता है। यह सारा मर्म स्थल यही है। किसी तथ्य का हृदयंगम होना किसी प्रियजन का हृदय में बस जाना जैसी उक्तियों से यह प्रतीत होता है कि आत्मा का स्थान निरूपण इसी क्षेत्र में किया गया है। उर्दू का प्रसिद्ध शेर है। "दिल के आइने में है तस्वीरे यार की, जब जरा गरदन उठाई देखली।

हृदय चक्र ब्रह्म ग्रन्थि है। वहां से भावनाओं का-आकांक्षा अभिरुचि का परिवर्तन होता है। जीवन की दिशा धारा बदलती है। बाल्मीकि, अंगुलिमाल, अम्बपाली, विल्वमंगल अजामिल आदि का प्रत्यावर्तन-हृदय परिवर्तन ही उन्हें कुछ से कुछ बना देने में समर्थ हुआ। जीवन का समग्र शासन सूत्र यहीं से संचालित होता है। आकांक्षाएँ विचारों को निर्देश देती हैं। और मनः संस्थान को अपनी मर्जी पर चलाती हैं। मन के अनुसार शरीर चलता है। शरीर कर्म करता है कर्म के अनुरूप परिणाम और परिस्थितियाँ सामने आती हैं। परिस्थितियों में सुधार करना हो तो कर्म ठीक करने होंगे। शरीर पर नियंत्रण मस्तिष्क का और मस्तिष्क का अधिपति हृदय है। प्रियतम को हृदयेश्वर और हृदयेश्वरी कहा जाता है। मानवी सत्ता का स्वामित्व हृदय का ही है।

इस स्थान पर जो शक्ति चक्र काम करते हैं। उन्हीं के कारण सूक्ष्म जगत से महत्व पूर्ण अनुदान प्राप्त करने का अवसर मिलता है और यहां से अन्तर्जगत की कुरेद बीन का सिलसिला चलता है। यह हृदय ग्रन्थि जागृत होने पर महान जागरण की सर्वतोमुखी प्रक्रिया सम्पन्न होती है।

तेज प्रवाह में बहती हुई नदी के मध्य जो भँवर पड़ते हैं उनकी शक्ति सामान्य प्रवाह की तुलना में सैकड़ों गुनी अधिक होती है सुदृढ़ नावों जहाज और मल्लाहों को भँवर में फॅस कर डूबते देखा गया है। हवा गरम होने पर चक्र बात उठते हैं। उनकी तूफानी शक्ति देखते ही बनती है। मजबूत छत, छप्पर पेड़ और मकानों को वे उठाकर कहीं से कहीं पटक देते हैं। रेत को आसमान में छोड़ते हैं ओर

आंधी तूफान के बवंडर उठकर अपने प्रभाव क्षेत्र को बुरी तरह अस्त-व्यस्त कर देते हैं। ऐसे ही कुछ चक्रवात केन्द्र-भंवर चक्र अपने शरीर में भी है उनकी गणना षट्चक्रों के नवचक्रों के रूप में की जाती है । छोटे चक्र और भी हैं। जिनकी गणना १०८ तक की गई हैं। इन सब में तीन प्रधान हैं। इन्हें रुद्र ग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि और ब्रह्म ग्रन्थि कहा गया है वे तीनों शरीर को परस्पर भी जोड़े हुए हैं और सूक्ष्म जगत के साथ आदान प्रदान का सिलसिला भी बनाये हुए हैं। स्थूल शरीर नाभि चक्र के नियंत्रण में हैं। सूक्ष्म शरीर पर आज्ञाचक्र का, कारण शरीर पर हृदय चक्र का आधिपत्य है। ताले खोलने को चावी डालने के छिद्र यही तीन हैं। योगाभ्यास से इन्हीं की साधना को रुद्र विष्णु और ब्रह्मा की साधना माना गया है। इसी समूचे सत्ता क्षेत्र को त्रिपदा गायत्री की परिधि कहा गया है।

गुणों की दृष्टि से त्रिपदा को निष्ठा प्रज्ञा और श्रद्धा कहा गया है। निष्ठा का अर्थ है तत्परता दृढ़ता। प्रज्ञा कहते हैं- विवेकशीलता दूर दर्शिता को, श्रद्धा कहते हैं आदर्श वादिता और उत्कृष्टता को । कर्म के रूप में निष्ठा -गुण के रूप में प्रज्ञा और स्वाभाव के रूप में श्रद्धा की सर्वोपरि गरिमा है स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीरों के परिष्कार का परिचय इन्हीं तीनों के आधार पर मिलता है। गुण, कर्म, स्वभाव ही किसी व्यक्तित्व की उत्कृष्टता निकृष्टता के परिचायक होते हैं।

ग्रन्थि बेध का आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक पक्ष यह है कि वासना, तृष्णा और अहन्ता में छिपी हुई दुष्प्रवृत्तियों का जितना अंश जिस रूप में भी छिपा पड़ा हो उसे ढूँढ़ निकाला जाय, उन पर कड़ी नजर रखी जाय, और घटाने हटाने का प्रयत्न निरन्तर जारी रखा जाय इनमें से वासनाओं की स्वामिनी जननेन्द्रिय है वह यौनाचार से ही तृप्त नहीं होती वरन् चिन्तन क्षेत्र में भी कामुकता के रूप में समय कुसमय छाई रहती और कल्पना चित्र बनाती रहती है। मनुष्य इसी से बन्धन में बँधता है। विवाह करता है। उसके साथ ही सन्तानोत्पादन का सिलसिला चल पड़ता है। स्त्री, बच्चों की जिम्मेदारी साधारण नहीं होती। पूरा जीवन इसी प्रयोजन के लिए खपा देने पर भी उसमें कमी ही रह जाती है, और मरते समय तक मनुष्य इन्हीं की चिन्ता करता रहता है। इस पूरे प्रपंच को ऐसा बन्धन समझना चाहिए जिसे बाँधता तो मनुष्य हँसी-खुशी से है पर फिर उसी के बोझ से इतना लद जाता है कि अन्य कोई महत्वपूर्ण काम नहीं कर पाता।

दूसरी विष्णु ग्रन्थि का स्थान उदर क्षेत्र है। इसमें तृष्णा रहती है। यह तृष्णा पशु पक्षियों में तो पेट भरने तक सीमित है। इन्हें इतना ही उपार्जन करना पड़ता है। किन्तु मनुष्य का पेट तो समुद्र जितना बड़ा है। जिसमें आहार नहीं वैभव भी चाहिए। आज के लिए ही नहीं जन्म भर के लिए, औलाद के लिए, संग्रह और व्यसनों के लिए भी चाहिए। यही तृष्णा है जो प्रचुर परिमाण में धन वैभव कमाने पर भी शान्त नहीं होती। इसके लिए उचित अनुचित सब कुछ करना पड़ता है। मनुष्य अनीति और पाप उत्पादन करने में भी नहीं चूकता।

तीसरी ग्रन्थि रुद्र ग्रन्थि है। रुद्र को विक्षोभ का देवता माना गया है। वे जब ताण्डव नृत्य करते हैं तो प्रलय उपस्थित हो जाती है। मनुष्य जीवन में अहन्ता का भी वही स्थान है। दूसरों को तुच्छ और अपने को महान सिद्ध करने के लिए जो विक्षोभ मन में उत्पन्न होते रहते हैं उनकी गणना अहन्ता में गिनी जाती है। इसी हेतु दूसरों पर अपने बड़प्पन की छाप डालने के लिए आत्म विज्ञापन करता है। ठाट-वाट बनाता है। अपव्यय का मार्ग अपनाकर अपनी अमीरी की धाक जमाता है। संस्थाओं में, शासन में, समाज में बड़ा पद पाने के लिए इतना आतुर रहता है कि आये दिन साथियों से झगड़ना पड़ता है और उन्हें समता करने से रोकना होता है। दर्प के कारण रावण, कंस, हिरण्यकश्यपु, वृत्रासुर, दुर्योधन आदि न जाने कितनों को नीचा देखना और संकटों में फँसना पड़ा।

वासना के सम्बन्ध में दृष्टिकोण परिष्कृत करने का तरीका यह है कि जननेन्द्रिय को मूत्रेन्द्रिय मात्र माना जाय। मल द्वार की तरह मूत्र मार्ग को भी उसी काम तक सीमित रखा जाय। सभी वासनाग्रस्त प्राणी जब अपनी शक्ति सामर्थ्य से कहीं अधिक प्रजनन में जुटे हुए हैं तो कुछेक आदर्श वादी व्यक्ति परिवार में इतने लोगों के बीच रहकर अपना गुजारा बिना किसी कठिनाई के कर सकते हैं। विवाह करना ही हो तो जय प्रकाश नारायण एवं जापान के गान्धी जैसा स्तर अपनाया जा सकता है। दो मित्रों की तरह लक्ष्य की ओर बढ़ने में मिलजुल कर काम करते रहा जा सकता है।

तृष्णा का नियमन एक सिद्धान्त अपनाने भर से हो सकता है। औसत भारतीय स्तर का जीवन जिया जाय।

उन लिप्साओं को निरस्त किया जाय जो लोभ, लालच, संग्रह एवं अपव्यय के लिए दौलत जमा करने की हवस भड़काती रहती है। परिवार भावना अपनाने पर यह ललक सहज मिल जाती है। विश्व परिवार की भावना रखी जा सके तो अपने लिए अधिक और दूसरों के लिए कम का अनौचित्य मन से हट सकता है और न्यायपूर्वक श्रमपूर्वक कमाई से भी भली प्रकार गुजारा हो सकता है।

अहन्ता से छुटकारा पाने के लिए शिष्टता, नम्रता, विनयशीलता, सज्जनता अपनाने पर जो आत्मसन्तोष और लोक सम्मान का लाभ मिलता है उस पर विचार करना चाहिए। उद्वत आचरणों में दूसरों पर छाप डालने के लिए जितना दम्भ अपनाना पड़ता है उसको बचकानापन समझा जा सके तो अहंकारी को अपने ऊपर आप हँसी आती है और शालीनता अपनाकर दूसरों को सम्मान देने का मार्ग चुना जा सके तो अहंकार का दुर्गुण सहज शान्त हो सकता है। शरीर सत्ता को मलमूत्र की गठरी मानने वाला, मृत्यु के मुख में ग्रास की तरह अटका हुआ तुच्छ प्राणी किस बात का अहंकार करे ?

"सादा जीवन उच्च विचार" के सूत्र संकेत में बँधन मुक्ति के सभी सिद्धान्तों' का समावेश है। इस सूत्र को तीनों क्षेत्रों पर लागू किया जा सकता है। तीनों ग्रन्थियों को हम विवेक दृष्टि से वस्तुस्थिति का पर्यविक्षण करते हुए सहज ही बन्धन मुक्त हो सकते हैं।

ग्रन्थि-बेध

विज्ञानमय कोश की चतुर्थ भूमिका में पहुँचने पर जीव को प्रतीत होता है, कि तीन सूक्ष्म बन्धन भी मुझे बाँधे हुए हैं। पंच-तत्वों से शरीर बना है, उस शरीर में पाँच कोश हैं। गायत्री के यह पाँच कोश ही पाँच मुख हैं इन पाँच बन्धनों को खोलने के लिए कोशों की अलग-अलग साधनायें बताई गई हैं, विज्ञानमय कोश के अन्तर्गत तीन बन्धन हैं जो पञ्च भौतिक शरीर पर न रहने पर भी देव, गन्धर्व, यक्ष, भूत, पिशाच आदि योनियों में भी वैसे ही बन्धन बाँधे रहते हैं जैसा कि शरीरधारी का होता है।

यह तीन बन्धन-ग्रन्थियाँ, रुद्र ग्रन्थि, विष्णु-ग्रन्थि, ब्रह्म-ग्रन्थि के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हें तीन गुण भी कह सकते हैं। रुद्र ग्रन्थि अर्थात् तम, विष्णु ग्रन्थि अर्थात् रज, ब्रह्म ग्रन्थि अर्थात् सत्। इन तीनों गुणों से अतीत हो जाने पर, ऊँचा उठ जाने पर ही आत्मा शान्ति और आनन्द का अधिकारी होता है।

इन तीन ग्रन्थियों को खोलने के महत्त्वपूर्ण कार्य को ध्यान में रखने के लिए कन्धे पर तीन तार का यज्ञोपवीत धारण किया जाता है, इसका तात्पर्य यह है कि तम, रज, सत् के तीन गुणों द्वारा स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर बने हुए हैं। यज्ञोपवीत के अन्तिम भाग में तीन ग्रन्थियाँ लगाई जाती हैं इसका तात्पर्य यह है कि रुद्र ग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि तथा ब्रह्म ग्रन्थि से जीव बँधा पड़ा है। इन तीनों को खोलने की जिम्मेदारी का नाम ही पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण, देव-ऋण है। तम को प्रकृति, रज को जीव, सत को आत्मा कहते हैं।

व्यावहारिक जगत में तम को सांसारिक जीवन, रज को व्यक्तिगत जीवन, सत को आध्यात्मिक जीवन कह सकते हैं। जैसे हमारे पूर्ववर्ती लोगों ने, पूर्वजों ने- अनेक प्रकार के उपकारों, सहयोगों द्वारा निर्बल दशा से ऊँचा उठाकर हमें बल, विद्या, बुद्धि सम्पन्न किया है वैसे ही हमारा भी कर्तव्य है कि संसार में अपनी अपेक्षा किसी भी दृष्टि से जो लोग पिछड़े हुए हैं उन्हें सहयोग देकर ऊँचा उठायें। सामाजिक जीवन को मधुर बनायें। देश, जाति और समाज के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करें, यही पितृ-ऋण से, पूर्ववर्ती लोगों के उपकारों से उऋण होने का मार्ग है। व्यक्तिगत जीवन को शारीरिक, बौद्धिक और आर्थिक शक्तियों से सुसम्पन्न बनाना अपने को मनुष्य जाति का सदस्य बनाना ऋषि ऋण से छूटना है। स्वाध्याय, सत्संग, मनन, चिन्तन, निदिध्यासन आदि आकस्मिक साधनाओं द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर आदि अपवित्रताओं को हटाकर आत्मा को परम निर्मल-देवतुल्य बनाना यह देव-ऋण से उऋण होना है।

दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर तम का अर्थ होता है- शक्ति, रज का अर्थ होता है- साधन, सत का अर्थ होता है- ज्ञान। इन तीनों की न्यूनता एवं विकृत अवस्था, बन्धन कारक अनेक उलझनों, कठिनाइयों और बुराइयों को उत्पन्न करने वाली होती है। इसलिए जब तीनों की स्थिति सन्तोषजनक होतीं हैं तब त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त होती है। हमको भली प्रकार यह समझ लेना चाहिए कि परमात्मा की सृष्टि में कोई भी शक्ति या पदार्थ दूषित अथवा भ्रष्ट नहीं है। यदि उसका सदुपयोग किया जाय तो वह कल्याणकारी सिद्ध होगा।

आत्मिक क्षेत्र में सूक्ष्म अन्वेषण करने वाले ऋषियों ने यह पाया है कि तीन गुण, तीन शरीरों, तीन क्षेत्रों का व्यवस्थित या अव्यवस्थित होना अदृश्य केन्द्रों पर निर्भर रहता है, सभी दशाओं को उत्तम बनाने से यह केन्द्र उन्नत अवस्था में पहुँच सकते हैं, दूसरा उपाय यह भी कि अदृश्य केन्द्रों को आत्मिक साधना विधि से उन्नत अवस्था में ले जाया जाय तो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर को ऐसी स्थिति पर पहुँचाया जा सकता है कि जहाँ उनके लिए कोई बन्धन या उलझन शेष न रहे।

साधक जब विज्ञानमय कोश की स्थिति में होता है तो उसे ऐसा अनुभव होता है मानो उसके भीतर तीन कठोर, गठीली, चमकदार हलचल करती हुई हलकी गाँठें हैं। इनमें से एक गाँठ मूत्राशय के समीप, दूसरी आमाशय के ऊर्ध्व भाग में और तीसरी मस्तिष्क के मध्य केन्द्र में विदित होती है। इन गाँठों में से मूत्राशय वाली ग्रन्थि को रुद्र ग्रन्थि, आमाशय वाली को विष्णु ग्रन्थि और सिर वाली को ब्रह्म ग्रन्थि कहते हैं। इन्हीं तीनों को दूसरे शब्दों में महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती भी कहते हैं।

इन तीन महाग्रन्थियों की दो सहायक ग्रन्थियाँ भी होती हैं जो मेरुदण्ड स्थित सुषुम्ना नाड़ी के मध्य में रहने वाली ब्रह्मनाड़ी के भीतर रहती हैं। इन्हें ही चक्र भी कहते हैं। रुद्ग्रन्थि की शाखा ग्रन्थियाँ मूलाधार चक्र और स्वाधिष्ठान कहलाती है। विष्णु ग्रन्थि की दो शाखायें मणिपूर चक्र और अनाहत चक्र हैं। मस्तिष्क में निवास करने वाली ब्रह्मग्रन्थि के सहायक ग्रन्थि चक्रों को विशुद्धि चक्र और आज्ञा चक्र कहा जाता है। हठयोग की विधि से षट् चक्रों का बेधन किया जाता है। इन षट् चक्र बेधन की विधि के सम्बन्ध में अलग से प्रकाश डाला जायेगा। यह हठयोग के अंतर्गत आती है। जिन्हें हठयोग की अपेक्षा गायत्री की पंचमुखी साधना के अन्तर्गत विज्ञानमय कोश में ग्रन्थिबेध करना है उन्हीं के लिए आवश्यक जानकारी देने का यहाँ प्रयत्न किया जायेगा।

रुद्र -ग्रन्थि का आकार बेर के समान ऊपर को नुकीला, नीचे को भारी, पैंदे में गड्ढा लिए होता है, इसका वर्ण कालापन मिला हुआ लाल होता है। इस ग्रन्थि के दो भाग हैं। दक्षिण भाग को रुद्र और वाम भाग को काली कहते हैं। दक्षिण भाग के अन्तरंग गह्वर में प्रवेश करके जब उसकी झाँकी की जाती है तो ऊर्ध्व भाग में श्वेत रंग की छोटी-सी नाड़ी हल्का- सा श्वेत रस प्रवाहित करती है, एक तन्तु तिरछा पीत वर्ण की ज्योति-सा चमकता है। मध्य भाग में एक काले वर्ण की नाड़ी साँप की तरह मूलाधार से लिपटी हुई है। प्राण वायु का जब उस भाग से सम्पर्क होता है तो डिम-डिम जैसी ध्वनि उसमें से निकलती है। रुद्रग्रन्थि की आन्तरिक स्थिति की झाँकी करके ऋषियों ने रुद्र का सुन्दर चित्र अंकित किया है। मस्तक पर गंगा की धारा, जटा में चन्द्रमा, गले में सर्प, डमरू की डिम-डिम ध्वनि, ऊर्ध्व भाग में त्रिशूल के रूप में अंकित करके भगवान शंकर का ध्यान करने लायक एक सुन्दर चित्र बना दिया। उस चित्र में अलंकारिक रूप से रुद्रग्रन्थि की वास्तविकताएँ ही भरी गई हैं। उस ग्रन्थि का वाम भाग जिस स्थिति में है उसी के अनुरूप काली का सुन्दर चित्र सूक्ष्मदर्शी आध्यात्मिक चित्रकारों ने अंकित कर दिया है।

विष्णु ग्रन्थि किस वर्ण की, किस गुण की, किस आकार की, किस आन्तरिक स्थिति की, किस ध्वनि की, किस आकृति की है, यह सब हमें विष्णु के चित्र से सहज ही प्रतीत हो जाता है। नील वर्ण, गोल आकार, शंख ध्वनि, कौस्तुभ मणि, बनमाला यह चित्र उस मध्य-ग्रन्थि का सहज प्रतिबिम्ब है।

जैसे मनुष्य को मुख की ओर से देखा जाय तो उसकी झाँकी दूसरे प्रकार की होती है ओर पीठ की ओर से देखा जाय तब यह आकृति दूसरे ही प्रकार की होती है। एक ही मनुष्य के दो पहलू दो प्रकार के होते हैं। उसी प्रकार एक ही ग्रन्थि दक्षिण भाग से देखने में पुरुषत्व प्रधान आकार की और बाँई ओर से देखने पर स्त्रीत्व प्रधान आकार की होती है। एक ही ग्रन्थि को रुद्र या शक्ति ग्रन्थि कहा जा सकता है। विष्णु, लक्ष्मी, ब्रह्मा और सरस्वती का संयोग भी इसी प्रकार है।

ब्रह्म ग्रन्थि मध्य मस्तिष्क में है। इससे ऊपर सह-सार शतदल कमल है, यह ग्रन्थि ऊपर से चतुष्कोण और नीचे से फैली हुई है, इसका नीचे का एक तन्तु ब्रह्म-रन्ध्र से जुड़ा हुआ है। इसी को सहस्रमुख वाले शेष नाग की शैय्या पर लेटे हुए भगवान की नाभि कमल से उत्पन्न चार मुख वाला ब्रह्मा चित्रित किया गया है। वाम भाग में यही ग्रन्थि चतुर्भुजी सरस्वती है। वीणा झंकार से ओंकार ध्वनि का यहाँ निरन्तर गुञ्जार होता है।

यह तीनों ग्रन्थियाँ जब तक सुप्त अवस्था में रहती हैं, बँधी हुई रहती हैं, तब तक जीव साधारण दीन-हीन दशा में पड़ा रहता है, अशक्ति अभाव और अज्ञात उसे

नाना प्रकार से दुःख देते रहते हैं। पर जब इनका खुलना आरम्भ होता है तो उनका वैभव बिखर पड़ता है। मुँह बन्द कली में न रूप है, न सौन्दर्य, न गन्ध है, न आकर्षण। पर जब वह कली खिल पड़ती है और पुष्प के रूप में प्रकट होती है तो एक सुन्दर दृश्य उपस्थित हो जाता है। जब तक खजाने का ताला लगा हुआ है, थैली का मुँह बन्द है, तब तक दरिद्रता दूर नहीं हो सकती, पर जैसे ही रत्न राशि का भण्डार खुल जाता है वैसे ही अतुलित वैभव का स्वामित्व प्राप्त हो जाता है।

रात को कमल का फूल बन्द होता है तो भौंरा भी उसमें बन्द हो जाता है, पर प्रातःकाल वह फूल फिर खिलता है तो भौंरा बंधन-मुक्त हो जाता है। यह तीन कलियाँ, तीन तीन ग्रन्थियाँ, जीव को बाँधे हुए हैं। जब यह खुल जाती हैं तो मुक्ति का अधिकार स्वयंमेव ही प्राप्त हो जाता है। इन रत्न-राशियों का ताला खुलते ही शक्ति सम्पन्नता और प्रज्ञा का अटूट भण्डार हस्तगत हो जाता है।

चिड़िया अपनी छाती की गर्मी से अण्डों को पकाती हैं, चूल्हे की गर्मी से भोजन पकता है, सूर्य की गर्मी से वृक्षों वनस्पतियों और फलों का परिपाक होता है। माता नौ महीने तक बालक को पेट में पकाकर उसको इस स्थिति में लाती है कि वह जीवन धारण कर सके। विज्ञानमयकोश की यह तीन-ग्रन्थियाँ भी तप की गर्मी से पकती हैं तप द्वारा ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सरस्वती, लक्ष्मी, काली सभी का परिपाक हो जाता है। यह शक्तियाँ समदर्शी हैं, न उन्हें किसी से प्रेम है न द्वेष। रावण जैसे असुरों ने भी शंकरजी से वरदान पाये थे, और अनेक सुर भी कोई सफलता नहीं प्राप्त कर पाये। इसमें साधक का पुरुषार्थ ही प्रधान है। श्रम और प्रयत्न ही परिपक्व होकर सफलता बन जाते हैं

रुद्र, विष्णु और ब्रह्म ग्रन्थियों को खोलने के लिए ग्रन्थि के मूल भाग में निवास करने वाली बीज शक्तियों का संचार करना पड़ता है। रुद्र ग्रन्थि के अधोभाग में बेर के डण्ठल की तरफ एक सूक्ष्म प्राण अभिप्रेत होता है उसे 'क्लीं' बीज कहते हैं। विष्णु ग्रन्थि के मूल में 'श्रीं' का निवास है और ब्रह्म ग्रन्थि के नीचे 'ह्रीं' तत्व का अवस्थान है। मूलबन्धन बाँधते हुए एक ओर से अपान और दूसरी ओर से कूर्मप्राण को चिमटे की तरह बनाकर रुद्र ग्रन्थि को पकड़कर रेचक प्राणायाम द्वारा दबाते हैं। इस दबाव की गर्मी से क्लीं बीज जागृत हो जाता है। वह नोंकदार डण्ठल आकृति का बीज अपनी ध्वनि और रक्त वर्ण प्रकाश-ज्योति के साथ स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगता है।

इस जागृत क्लीं बीज के अग्रिम नोंक से कुंचुकि-क्रिया की जाती है। जैसे किसी वस्तु में छेद करने के लिए नोंकदार कील कोंची जाती है, इस प्रकार वेधन-साधना को कुंचुकी क्रिया कहते हैं। रुद्र ग्रन्थि के मूल केन्द्र में क्लीं बीज की अग्र शिखा से जब निरन्तर कुंचुकी होती है तो प्रस्तुत कलिका में भीतर ही भीतर एक विशेष प्रकार के लहलहाते हुए तड़ित प्रवाह उठाने पड़ते हैं इनकी आकृति एवं गति सर्प जैसी होती है। इन तड़ित प्रवाहों को ही शंभु के गले में फुफकारने वाले सर्प बताया है, जिस प्रकार ज्वालामुखी पर्वत के उच्च शिखर पर धूम्र मिश्रित अग्नि निकलती है उसी प्रकार रुद्र ग्रन्थि के ऊपरी भाग में पहले क्लीं बीज की अग्नि जिह्वा प्रकट होती है। इसी का काली की बाहर निकली हुई जीभ माना गया है। इसी को शंभु का तीसरा नेत्र भी कहते हैं।

मूल-बन्ध अपान और कूर्म प्राण के आघात से जाग्रत हुई क्लीं बीज की कुंचुकी क्रिया से धीरे-धीरे रुद्र ग्रन्थि शिथिल होकर वैसे ही खुलने लगती है, जैसे कली धीरे-धीरे खिलकर फूल बन जाती है। इस कमल पुष्प के खिलने को पद्मासन कहा गया है। त्रिदेव के कमलासन पर विराजमान होने के चित्रों का तात्पर्य यही है कि वे विकसित रूप से परिलक्षित हो रहे हैं।

साधक के प्रयत्न के अनुरूप खुली हुई रुद्र ग्रन्थि का तीसरा भाग जब प्रकटित होता है तब साक्षात रुद्र का, काली का अथवा रक्त वर्ण सर्प के समान लहलहाती हुई, क्लीं-घोष करती हुई अग्नि शिखा का साक्षात्कार होता है। यह रुद्र जागरण साधक में अनेक प्रकार की गुप्त प्रकट शक्तियाँ भर देता है। संसार की सब शक्तियों का मूल केन्द्र रुद्र ग्रन्थि ही है। उसे रुद्र लोक या कैलाश भी कहते हैं। प्रलय काल में संसार संचालिनी शक्ति व्यय होते-होते पूर्ण शिथल होकर जब सुषुप्त अवस्था को चली जाती है तब रुद्र का ताण्डव नृत्य होता है। उस महामंथन से इतनी शक्ति फिर उत्पन्न हो जाती है जिससे आगामी प्रलय तक काम चलता रहे। घड़ी में चाबी भरने के समान रुद्र का प्रलय ताण्डव होता है। रुद्र शक्ति की शिथिलता से जीवों की तथा पदार्थों की मृत्यु हो जाती है। इसलिए रुद्र की मृत्यु का देखना मना है।

विष्णु ग्रन्थि को जागृत करने के लिए जालन्धर बन्ध बाँधकर 'समान' और 'उदान' प्राणों द्वारा दबाया जाता है तो उसके मूल भाग का 'श्रीं' बीज जागृत होता है। यह गोल गेंद की तरह है और इसकी अपनी धुरी पर द्रुत गति से घूमने की क्रिया होती है। इस घूर्णन क्रिया के साथ-साथ एक ऐसी सनसनाती हुई सूक्ष्म ध्वनि होती है जिसको दिव्य श्रोतों से 'श्रीं' जैसे सुना जाता है।

श्रीं बीज को विष्णु ग्रन्थि की वाह्य परिधि में भ्रामरी क्रिया के अनुसार घुमाया जाता है। जैसे पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है उसी प्रकार परिभ्रमण करने को भ्रामरी कहते हैं। विवाह में वर-वधू की भाँवरि या फेरे पड़ना, देव-मन्दिरों तथा यज्ञ की परिक्रमा या प्रदक्षिणा होना, भ्रामरी क्रिया का ही रूप है। विष्णु की उँगली पर घूमता हुआ चक्र सुदर्शन चित्रित करके योगियों ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से अनुभव किये गये इसी रहस्य को प्रकट किया है, 'श्री' बीज विष्णु ग्रन्थि की भ्रामरी गति से परिक्रमा करने लगता है तब उस महा-तत्व का जागरण होता है।

पूरक प्राणायाम की प्रेरणा देकर समान और उदान द्वारा जागृत किये गये श्री बीज से जब विष्णु ग्रन्थि के वाह्य आवरण की मध्य परिधि में भ्रामरी क्रिया की जाती है तो उसके गुञ्जन से उसका भीतरी भाग चैतन्य होने लगता है। इस चेतना की विद्युत तरगें इस प्रकार उठती हैं जैसे पक्षी के पंख दोनों बाजुओं में हिलते हैं। उसी गति के आधार पर विष्णु का वाहन गरुड़ निर्धारित किया गया है।

इस साधना से विष्णु ग्रन्थि खुलती है और साधक की मानसिक स्थिति के अनुरूप विष्णु, लक्ष्मी या पीत वर्ण की अग्नि-शिखा की लपटों के समान ज्योति पुञ्ज का साक्षात्कार होता है। विष्णु का पीताम्बर इस पीत ज्योति पुञ्ज का प्रतीक है। इस ग्रन्थि का खुलना ही बैकुण्ठ स्वर्ग एवं विष्णु लोक को प्राप्त करना है। बैकुण्ठ या स्वर्ग को अनन्त ऐश्वर्य का केन्द्र माना जाता है। वहाँ सर्वोत्कृष्ट सुख साधन जो सम्भव हो सकते हैं वे प्रस्तुत हैं। विष्णु ग्रन्थि वैभव की केन्द्र है, जो उसे खोल लेता है उसे विश्व के ऐश्वर्य पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है।

ब्रह्म-ग्रन्थि मस्तिष्क के मध्य भाग में सह-सदल कमल की छाया में अवस्थित है। उसे अमृत कलश कहते हैं। बताया गया है कि सुरलोक में अमृत कलश की रक्षा सहस्र फनों वाले शेषनाग करते हैं। इसका अभिप्राय इसी ब्रह्म-ग्रन्थि से है।

उड्डियान बन्ध लगाकर ध्यान और धनञ्जय प्राणों द्वारा ब्रह्म-ग्रन्थि को पकाया जाता है। पकाने से उसके मूलाधार में वास करने वाली हीं शक्ति जागृत होती है। इसकी गति को प्लावनी कहते हैं जैसे जल में लहरें उत्पन्न होती हैं और निरन्तर आगे को ही लहराती हुई चलती हैं उसी प्रकार हीं बीज की प्लावनी गति से ब्रह्म-ग्रन्थि को दक्षिणायन से उत्तर की ओर प्रेरित करते हैं। चतुष्कोण ग्रन्थि के ऊर्ध्व भाग में यही हीं तत्व रुक- रुककर गाँठें-सी बनाता हुआ आगे की ओर चलता है और अन्त में परिक्रमा करके अपने मूल संस्थान को लौट आता है।

गाँठ बाँधते चलने की नीची ऊँची गति के आधार पर माला के दाने बनाये गये हैं। १०८ दचके लगाकर तब एक परिधि पूरी होती है, इसलिए माला के १०८ दाने होते हैं। इस हीं तत्व की तरगें मन्थर गति से इस प्रकार चलती हैं जैसे हंस चलता है। ब्रह्मा या सरस्वती का वाहन हंस इसीलिए माना गया है। वीणा के तारों की झंकार से मिलती-जुलती 'हीं' ध्वनि सरस्वती की वीणा का परिचय देती है।

कुम्भक-प्राणायाम की प्रेरणा से हीं बीज की प्लावनी क्रिया प्रारम्भ होती है। यह क्रिया निरन्तर होते रहने पर ब्रह्म-ग्रन्थि खुल जाती है। तब उस ब्रह्म के रूप में, सरस्वती के रूप में अथव श्वेत वर्ण प्रकम्पित शुभ ज्योति शिखा के समान साक्षात्कार होता है। यह स्थिति आत्म-ज्ञान, ब्रह्म प्राप्ति, ब्राह्मी स्थिति की है। ब्रह्मलोक एवं गोलोक भी इसे कहते हैं। इस स्थिति को उपलब्ध कराने वाला साधक ज्ञान बल से परिपूर्ण हो जाता है। इसकी आत्मिक शक्तियाँ जागृत होकर परमेश्वर के समीप पहुँचा देती है, अपने पिता का उत्तराधिकार उसे मिलता है और जीवनमुक्त होकर ब्रह्मी-स्थिति का आनन्द ब्रह्मानन्द उपलब्ध करता है।

षट्-चक्र का हठयोग-समस्त विधान अथवा सहयोग का यह ग्रन्थि भेद, दोनों ही समान स्थिति के हैं। साधक अपनी स्थिति के अनुसार उन्हें अपनाते हैं, दोनों से ही विज्ञानमय कोश का परिष्कार होता है।

आनन्दमय कोश का अनावरण

गायत्री का पाँचवाँ मुख आनन्दमय कोश है। जिस आवरण में पहुँचने पर आत्मा को आनन्द मिलता है, जहाँ उसे शान्ति, सुविधा, स्थिरता, निश्चिन्तता एवं अनुकूलता की स्थिति प्राप्त होती है, वही आनन्दमय कोश है। गीता के दूसरे अध्याय में 'स्थित प्रज्ञ' की जो परिभाषा की गई है और 'समाधिस्थ' के जो लक्षण बताये गये हैं, वे ही गुण, कर्म, स्वभाव आनन्दमयी स्थिति में हो जाते हैं। आत्मिक परमार्थों की साधना में मनोयोग पूर्वक संलग्न होने के कारण साँसारिक आवश्यकताएँ बहुत सीमित रह जाती हैं। उनकी पूर्ति में इसलिए बाधा नहीं आती कि साधक अपनी शारीरिक और मानसिक स्वस्थता के द्वारा जीवनोपयोगी वस्तुओं को उचित मात्रा में आसानी से कमा सकता है।

प्रकृति के परिवर्तन, विश्वव्यापी उतार-चढ़ाव, कर्मों की गहन गति, प्रारब्ध भोग, वस्तुओं की नश्वरता, वैभव की चञ्चल चपलता आदि कारणों से जो उलझन भरी परिस्थितियाँ सामने आकर परेशान किया करती हैं, उन्हें देखकर वह हँस देता है। सोचता है प्रभु ने इस संसार में कैसी धूप-छाँव का, आँख मिचौनी का खेल खड़ा कर दिया है। अभी खुशी तो अभी रञ्ज, अभी वैभव तो अभी निर्धनता, अभी जवानी तो अभी बुढ़ापा, अभी जन्म तो अभी मृत्यु, अभी नमकीन तो अभी मिठाई यह दुरंगी दुनिया कैसी विलक्षण है। दिन निकलते देर नहीं हुई कि रात की तैयारी होने लगी। रात को आये जरा-सी देर हुई कि नवप्रभाव का आयोजन होने लगा। वह तो यहाँ का आदि खेल है, बादल की छाया की तरह पल-पल में धूप-छाँव आती है। मैं इन तितलियों के पीछे कहाँ दौड़ूँ। मैं इन क्षण-क्षण पर उठने वाली लहरों को कहाँ तक गिनूँ, पल में रोने पल में हँसने की बाल क्रीड़ा मैं क्यों करूँ?

आनन्दमय कोश में पहुँचा हुआ जीव अपने पिछले चार शरीरों अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोश को भली प्रकार समझ लेता है, उनकी अपूर्णता और संसार की परिवर्तनशीलता दोनों के मिलन में ही एक विषैली गैस बन जाती है, जो जीवों को पाप-तापों के काले धूँए से कलुषित कर देती है। यदि इन दोनों पक्षों के गुण दोषों को समझकर उन्हें अलग-अलग रखा जाय, बारूद और अग्नि को इकट्ठा न होने दिया जाय, तो विस्फोट की कोई सम्भावना नहीं है। यह समझकर वह अपने दृष्टिकोण में दार्शनिकता, सात्विकता, वास्तविकता, सूक्ष्मदर्शिता को प्रधानता देता है। तदनुसार उसे सांसारिक समस्याएँ बहुत हल्की महत्त्वहीन मालूम पड़ती हैं। जिन बातों को लेकर साधारण मनुष्य बेतरह दु:खी रहते हैं, उन स्थितियों को वह हल्के विनोद की तरह समझकर उपेक्षा में उड़ा देता है और आत्मिक भूमिका में अपना दृढ़ स्थान बनाकर सन्तोष और शान्ति का अनुभव करता है।

गीता के दूसरे अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने बताया है कि स्थिति प्रज्ञ मनुष्य अपने भीतर की आत्म-स्थिति में रमण करता है। सुख-दुख में समान रहता है, न प्रिय से राग करता है, न अप्रिय से द्वेष करता है। इन्द्रियों को इन्द्रियों तक ही सीमित रहने देता है, उसका प्रभाव आत्मा पर नहीं होने देता और कछुआ जैसे अपने अंगों को समेटकर अपने भीतर कर लेता है, वैसे ही वह अपनी कामनाओं और लालसाओं को संसार में न फैलाकर अपनी अन्त: भूमिका में ही समेट लेता है, जिसकी मानसिक स्थिति ऐसी होती है, उसे योगी, ब्रह्मभूत जीवन-मुक्त या समाधिस्थ कहते हैं।

आनन्दमय कोश जीवात्मा पर चढ़ा अन्तिम आवरण है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय के उपरान्त इसी एक की साधना करनी शेष रह जाती है। इस आवरण के हटते ही आत्मा को परमात्मा रूप में परिष्कृत होने का अवसर मिल जाता है। तब उसकी स्थिति वैसी हो जाती है, जैसी कि वेदान्त में 'अयमात्मा ब्रह्म' 'तत्व मसि' सोहमस्मि, सच्चिदानन्दो हम्, शिवोहम् आदि उद्घोषों के अन्तर्गत प्रतिपादित की गई है।

शिर विवर को दो दिव्य सत्ताओं का निवास-दुर्ग माना गया है। उसका चेतन-अचेतन, मन:संस्थान

मनोमय कोश कहलाता है। इसका सूत्र-संचालन भूमध्य भाग में अवस्थित आज्ञाचक्र से होता है। दूसरा चेतना का सर्वोच्च आनन्दमय कोश है। मस्तिष्क में जानकारियों और आदतों का समन्वय है, इसलिए उसे इन्द्रिय वर्ग में गिना जाता है और भौतिक तत्वों से घिरा माना जाता है। तात्विक विवेचना में मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय माना गया है। इन्द्रियाँ अपने-अपने छोटे क्षेत्रों को सँभालती हैं। मन उन पर मानीटर जैसा अनुशासन बनाये रखने में सहायता करता है। यों है उसकी भी गणना छात्र वर्ग में ही। मनोमय कोश की साधना से इसी मस्तिष्कीय क्षमता की मनोविज्ञान और परा मनोविज्ञान क्षमताओं की चर्चा विवेचना होती है। आनन्दमय कोश की स्थिति भिन्न है, उसमें जीव और ब्रह्म के मिलने का सम्पर्क साधने वाले अति उच्चस्तरीय सूत्र हैं। शरीर-क्षेत्र में ईश्वर का निवास कहाँ है ? इसका उत्तर साधारणतया समूची सत्ता में संव्याप्त कहा जा सकता है, पर यदि उसका अन्य कोशों जैसा प्रवेश द्वार या केन्द्र संस्थान पूछना हो तो उसे ब्रह्म रंध्र में अवस्थित सहस्रार चक्र कहना पड़ेगा।

ब्रह्मरंध्र मस्तिष्क का मध्य भाग है। परमाणु के मध्य भाग को 'नाभिक' या 'न्यूक्लियस' कहते हैं। अणु सत्ता का उद्गम केन्द्र वही है। शेष भाग में तो उसका सहायक संरक्षक सरजाम भरा पड़ा है। जीवाणु से लेकर ग्रह-नक्षत्रों तक में यह न्यूक्लियस ही सार भाग और शक्ति स्रोत होता है। मस्तिष्कीय राष्ट्र की राजधानी इस मध्य केन्द्र ब्रह्मरंध्र में है। ब्रह्मसत्ता का अवतरण इसी स्थान पर होता है। वायुयान हवाई अड्डे पर ही उतरते हैं। मन:संस्थान का सारा नियन्त्रण संचालन मस्तिष्कीय विद्युत के माध्यम से होता है। यह विद्युत संकेत नाड़ी संस्थान द्वारा विभिन्न अंगों तक भेजे जाते हैं। यह विलग-विलग केन्द्र भी परस्पर जुड़े हुए हैं। उनमें भी परस्पर आदान-प्रदान होता है। जैसे आँख के सामने स्वादिष्ट वस्तु आई तो आँख का नियन्त्रक केन्द्र तुरन्त जीभ के केन्द्र को सूचना दे देता है। और वह जीभ 'लार' प्रवाहित करने लगती है।

मस्तिष्कीय संचार-सूत्रों का भी एक मध्य केन्द्र है। वहीं से अगणित धारा प्रवाह उठते हैं और उनके द्वारा अनेक विद्युत उन्मेष सक्रिय होते देखे जाते हैं। उन्हीं के द्वारा विभिन्न महत्त्वपूर्ण मस्तिष्कीय केन्द्रों को उत्तेजना मिलती है। सक्रियता इसी उत्तेजना से उत्पन्न होती है।

यदि मस्तिष्क की इस प्रक्रिया को सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो मस्तिष्क के मध्य भाग से सहस्रों विद्युत स्पन्दन सतत प्रस्फुटित होते दीख सकते हैं। इसी को आलंकारिक रूप से सहस्र धारों वाले चक्र अथवा सहस्र पंखुड़ियों वाले कमल के नाम से सम्बोन्धित किया जाता है।

स्थूल विज्ञान चूँकि स्थूल की सीमा में ही सारे हल खोजना चाहता है इसलिए उसकी गति यहाँ आकर रुक जाती है। मस्तिष्क के मध्य में यह विद्युत स्पन्दन कैसे उत्पन्न होते ? कैसे इन्हें बढ़ाया या नियन्त्रित किया जा सकता है, यह सब वर्तमान वैज्ञानिकों के लिए रहस्य ही है। फिर भी उन्होंने इस विद्युत उन्मेषों को 'रैटिकुल एक्टिवेटिंग सिस्टम' 'स्पैसिफिक थैलैमिक प्रोजैक्शन सिस्टम' डिफ्यूज थैलीमिक प्रोजैक्शन सिस्टम जैसे नाम दिये हैं। यह भी स्वीकार किया है, कि इन स्पन्दनों को इच्छानुकूल नियन्त्रित किया जा सके, तो उसके प्रभाव से मस्तिष्क के किसी भी नियन्त्रण केन्द्र को इच्छानुरूप सक्रियता अथवा शिथिलता की स्थिति में लाना तथा असम्भव जैसी उपलब्धियों को भी सम्भव बनाया जा सकता है।

योग-विज्ञान सहस्रार चक्र के सम्बन्ध में विशिष्ट साधनाओं को आवश्यक मानता है। उसके जागरण का अर्थ केवल उसकी तीक्ष्णता तथा सक्रियता को बढ़ा देना नहीं है, उसे व्यवस्थित, सुनियन्त्रित तथा सुनियोजित भी करना आवश्यक है। वर्तमान वैज्ञानिक उसके विधेयात्मक पक्ष को भले ही न समझ सके हों, किन्तु निषेधात्मक पक्ष का अध्ययन रोगों के अन्तर्गत अवश्य कर सकें हैं। हिस्टीरिया तथा इपीलिप्सी जैसे विभिन्न प्रकार के रोगों की तह में मस्तिष्कीय विद्युत का ही खेल पाया जाता है। जब कोई भाग अस्वाभाविक अथवा अवांछनीय रूप से विद्युत स्पन्दन छोड़ने लगता है, तो वह किन्हीं केन्द्रों की स्वाभाविक संचार-व्यवस्था में व्यतिक्रम ला देता है। उसी के फलस्वरूप तरह-तरह के मानसिक तथा शारीरिक रोग पैदा हो जाते हैं। कहाँ क्या गड़बड़ी है ? इसका अन्दाज वैज्ञानिक लोग ई० सी० जी० नामक यन्त्र द्वारा विभिन्न स्थानों पर मिलने वाले विद्युतीय कंपनों को नाप कर ही लगाते हैं। इससे भी निषेधात्मक पक्ष में ही सही यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि इन विद्युतीय धाराओं द्वारा असाधारण शारीरिक एवं मानसिक क्रियाएँ- प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करना-कराना सम्भव है।

मन:संस्थान के केन्द्र-बिन्दु विद्युतीय भाण्डागार को अध्यात्म की भाषा में सहस्रार चक्र या सहस्र दल कमल कहा गया है। उस तक पहुँच मानसिक उपचारों की नहीं है, किन्तु योग विद्या के अन्तर्गत ध्यान-धारणा द्वारा उसे अभीष्ट दिशा में मोड़ा, सुधारा एवं अभ्यस्त किया जा सकता है। इस प्रकार व्यक्तित्व के सर्वोच्च शक्ति-केन्द्र पर अधिकार प्राप्त करके मनुष्य अभीष्ट आत्म-निर्माण में सफल हो सकता है। कहना न होगा कि यह आत्म-विजय अपने लिए तो विश्व विजय के समान ही लाभदायक सिद्ध हो सकती है।

ब्रह्मरंध्र की रासायनिक संरचना को देखते हुए उसे कमल-पुष्प की आकृति से मिलता-जुलता देखा जाता है। शरीर शास्त्र के अनुसार भी उस स्थान पर एक अणु गुच्छक पाया जाता है। सूक्ष्म दृष्टि से, सूक्ष्म शरीर में उसकी स्थिति और भी अधिक स्पष्ट होती है। वहाँ कमल-पुष्प की आकृति में प्राय: हजार या हजारों पखुरियाँ बिखरी दीखतीं हैं, साथ ही प्रकाश-ज्योति का आभास भी होता है। इस स्थान में उठने वाली भाव-सम्वेदना को कमल-पुष्प और ज्ञान-प्रखरता को प्रकाश-ज्योति नाम दिया गया है। इस स्थिति का चित्रण कमल पुष्प के दीपक में जलने वाली प्रकाश-ज्योति के रूप में किया गया है। इस ब्राह्मी स्थिति की प्रतीक-प्रतिमा अखण्ड-ज्योति के रूप में की गई है। निरन्तर जलने वाला घृत-दीप इस ब्रह्मरंध्र का- ब्रह्मलोक का प्रतीक-प्रतिनिधि मानकर पूजा उपचार में प्रतिष्ठापित किया जाता है।

देव सम्प्रदायों ने इस केन्द्र का चित्रण अपने-अपने ढंग से किया है। विष्णु उपासकों की ब्रह्मलोक व्याख्या में विस्तृत क्षीर सागर-सहस्र फन वाले शेषनाग की शैय्या उस पर भगवान विष्णु को शयन का वर्णन है। क्षीर सागर मस्तिष्क गह्वर में विद्यमान मज्जा पदार्थ-ग्रेमैटर है। सहस्रार कमल सहस्रार चक्र है। उस पर अवस्थित ब्रह्म-चेतना भगवान विष्णु हैं। साधारणतया यह सारा क्षेत्र प्रसुप्त स्थिति में निष्क्रिय पड़ा रहता है, इसलिए विष्णु भगवान सोते हुए दर्शाये गये हैं। शिव-भक्तों ने इसी ब्रह्मरंध्र को शिवलोक कहा है। मानसरोवर मध्य में कैलाश, उस पर समाधिस्थ शिव-गले में महा सर्प यह चित्रण में प्रकारान्तर से विष्णु व्याख्या के समतुल्य ही है। ग्रेमैटर, मानसरोवर, सहस्रार-कैलाश। प्रकाश ज्योति शिव। सिर पर चन्द्र प्रकाश किरणें। गले में सर्प-शेषनागवत्। शिव के मस्तिष्क में गंगा का उद्गम, ब्रह्मज्ञान का अवतरण। विष्णु के चरणों में से गंगा निकलती हैं शिव के मस्तक में से, दोनों ही स्थिति में उस केन्द्र को दिव्य ज्ञान का गोमुख कहा जा सकता है।

गुरु-भक्तों ने सहस्रार कमल पर गुरु तत्व की स्थापना करके अपनी ध्यान आवश्यकता के अनुरूप प्रतीक प्रतिष्ठा की है। शक्ति-उपासक इसी सहस्रार कमल को अपनी-अपनी इष्ट देवियों के साथ जोड़ते हैं। लक्ष्मी कमलासन पर विराजमान हैं। ब्रह्माजी की भाँति ही गायत्री भी कमलासन पर विराजती हैं। सरस्वती, दुर्गा आदि अन्य देवियों में से किसी के हाथ में, किसी के गले में कमल पुष्प जोड़ने की चेष्टा की गई है।

सहस्रार चक्र कनपटियों की सीध में भ्रू-मध्य भाग के पीछे मस्तिष्क के मध्य केन्द्रों में माना गया है। तन्त्र ग्रन्थों में इसे 'महाविवर' की संज्ञा दी गई है। यही लययोग का ब्रह्मरंध्र है। निराकार उपासना में इसे दशम द्वार माना गया है। नौ द्वार तो इन्द्रिय छिद्र है ही। उन्हें दो नथुने, दो कान, दो आँखें, एक मुख, दो मल-मूत्र छिद्र इस प्रकार उनकी गणना सर्वविदित है। दशवाँ द्वार यह ब्रह्मरंध्र है, इसी झरोखे में होकर आत्मा और परमात्मा की मिलन झाँकी, प्रणय-केलि एवं समर्पण पाणिग्रहण का सरस शृंगारिक वर्णन मिलता है। योगी लोग इसी केन्द्र में प्राण को अवस्थित करके ब्रह्माण्ड का विचरण एवं नियन्त्रण करने जैसी सफलताऐं प्राप्त करते हैं। शरीर त्याग के समय प्राण इस दशम द्वार से निकलें, तो प्राणी को पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त हुआ समझा जाता है।

सहस्रार की स्थिति का वर्णन अनेक ग्रन्थों में हुआ है। उनका स्वरूप और विवरण प्राय: एक दूसरे से मिलता-जुलता ही है। उल्लेख इस प्रकार मिलते हैं-

स्व मूर्धनि सहस्रार पंकजा सीन मव्ययम् ।
शुद्ध स्फटित संकाश शरच्चन्द्र निभाननम् ।

-शक्ति बीज

अपनी मूर्धा में सहस्रार कमल के मध्य शुद्ध स्फटिक वत् शरतचन्द्र जैसे प्रकाश का ध्यान करना चाहिए।

ब्रह्मज्योतिर्वसुधा मा ब्रह्मास्थानीय उच्यते ।
ततो य: पावको नाम्ना य: सभ्दिर्योग उच्यते ।।

-मत्स्य पुराण

ब्रह्म-ज्योति अग्नि ब्रह्मरंध्र स्थान में निवास करती है। यह साधकों को पवित्र करने वाली है। यही योगाग्नि है।

सहस्त्र दल पंकजां सकल शीतरस्मि प्रभां ।
वराभय कराम्बुजां वितुल गन्ध पुष्पाम्बराम् ।।

-विश्वामित्र कल्प

गायत्री महाशक्ति का चित्रण सहस्त्र दल कमल पर विराजमान हाथ में कमल, गले में कमलमाला धारण किये हुए रूप का ध्यान करने का विश्वामित्र कल्प में निर्देश हैं।

सहस्त्र दल मध्यस्थ मन्तरात्मान मुतपम् ।
तस्योपरि नादविन्दोर्मध्ये सिंहासनो ज्वलम् ।
तास्मिन् निज गुरुं नित्य शुद्ध बुद्ध अवस्थितम् ।

-कंकाल भवगती तन्त्र

सहस्त्र दल कमल में स्थित अन्तरात्मा के ऊपर नाद विद के बीच में नित्य शुद्ध-बुद्ध सद्गुरु (शिव) अवस्थित हैं।

शिरः पद्मे महादेवस्तथैव परमोगुरुः ।
तत्समो नास्ति देवेशः पूज्यो हि भुवनत्रये ।

-निर्वाण तन्त्र

शिर पद्म (सहस्त्र कमल) में परम गुरु महान देव अवस्थित है। उसके समान तीनों लोकों में और कोई पूज्य नहीं।

शिरःपद्मे शुक्ल दश शत दले केसर गते ।
ततः त्रीण कल्पे परम शिव रूपं निभगुरुम् ।

-निर्वाण तन्त्र

सहस्त्र दल शिर पद्म के बीच शिव रूप परम गुरु का निवास है।

अत ऊर्ध्व दिव्य रूपं सहस्त्रारं सरोरुहम् ।
ब्रह्माण्डारव्यस्य देहस्य बाह्मे तिष्ठति मुक्तिदम् ।
कैलाशो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति ।

-शिव संहिता ५।१८६।१८७

(तालु के) ऊपरी भाग रूपी सरोवर में दिव्य स्वरूप वाला सहस्त्रावार है, यह इस ब्रह्माण्ड रूपी देह के बाहर विद्यमान रहता है। इसी सहस्त्रार स्थान का नाम कैलाश हैं। महेश यहीं निवास करते हैं।

शिरः कपाल विवरे ध्यायेद् दुग्ध महोदधिम् ।
तत्र स्थित्वा सहस्त्रारे पद्मे चन्द्र विचित्त येत् ।

-शिव संहिता

सिर के कपाल-विवर में क्षीर सागर भरा हुआ है। उस पर सहस्त्रार कमल चन्द्रमा की तरह प्रकाशवान होने का ध्यान करें।

श्रुति में इस परम पुरुष को 'सहस्त्र शीर्षा पुरुष' कहा गया है। उसे सहस्त्र आँख, पाँव, भुजा वाला बताया गया है। परब्रह्म को सहस्त्र संख्या के साथ सम्बन्धित किया गया है। यह सहस्त्रार चक्र की ओर ही अँगुल निर्देश है-

येन देवाः पवित्रेण आत्मानं पुनते सदा ।
तेन सहस्त्र धारेण पावमान्यः पुनन्तु मा ।।

प्राण-शक्ति की जिस प्रवित्रता से देवगण अपनी आत्मा को सदा पवित्र करते रहते हैं, वही पावमान प्राण हजार धाराओं से मुझे शुद्ध करे।

अंग्ने सहस्त्राक्ष शतमूर्धञ्छतं ते प्राणः सहस्त्रं व्याना। त्वं साहस्त्रस्य राय ईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा।।

-वा० य० १७।७१

हे सहस्त्र नेत्र वाले अग्ने ! तेरे सैकड़ों प्राण, सैकड़ों उदान और सहस्त्र व्यान हैं। सहस्त्रों धनों पर तेरा प्रभुत्व है। इसलिए शक्ति के लिए हम तेरी प्रशंसा करते हैं।

पुरुषो वै सहस्त्रस्य प्रतिमा ।

-शत ७।५।२।१७

यह पुरुष सहस्त्र (चक्र) की प्रतिमा है।

सहस्त्रार साधना का प्रतिफल उस आत्म-ज्ञान की ब्रह्मबोध की उपलब्धि बताया है, जिसे प्राप्त करने के उपरान्त समस्त सांसारिक क्लेशों से छुटकारा मिलता है और अन्तःक्षेत्र के भव-बन्धनों से मुक्ति मिलती है। मोक्ष की प्राप्ति, ब्रह्म-प्राप्ति, दिव्य-समाधि, जीवन-मुक्ति जैसी परम सिद्धि इस सहस्त्रार महाकेन्द्र से ही उपलब्ध होती है। यथा-

स्थाने परं हंस निवास भूतै कैलाशनाम्नी ह निविष्टचेताः । योगी हृतव्याधिरधः कृताधि र्वायुश्चिरं जीवति मृत्युमुक्तः ।।

-शिव स० ५।१८९

अर्थ-इस कैलाश नामक स्थान में परमहंस का निवास है, जो साधक सहस्त्र दल कमल में मन को स्थिर करता है, उसकी सकल व्याधि नाश हो जाती है और मृत्यु से छूट कर अमर हो जाता है।

आनन्दमय कोश का तात्पर्य है- आनन्द का भण्डार। सहस्त्रार कमल उसका केन्द्र संस्थान है। इसे अमृत-कलश भी कहते हैं। यह जाग्रत स्थिति में हो तो उससे अपने को आनन्दित रखने वाला और दूसरों में पुलकन उत्पन्न करने वाला प्रवाह निसृत होता रहेगा।

यह ज्ञानमय है। आत्म-बोध एवं तत्व-बोध की ज्ञान धारा जीवन के हर क्षेत्र का सिंचन करती और उसे हरितिमा, शोभा, सुषमा-युक्त बनाती है। इस आनन्द को, आत्म-विस्तार को सरसता के रूप में अनुभव किया जाता है। परमेश्वर की विवेचना 'रसो वै सः' के रूप में की गई है। यह 'रस' इन्द्रिय उत्तेजना से मिलने वाले उन्माद जैसा नहीं, वरन् 'प्रेम' जैसा सौम्य एवं सात्विक है। इसे भक्ति-रस भी कहा जा सकता है। व्यवहार में इसे आत्म-भाव का विस्तार कह सकते हैं। दया, करुणा, ममता, उदारता, सेवा आदि सुकुमार सम्वेदनाऐं इसी आत्म-विस्तार वृत्ति के सहारे उठती, उमँगती और पनपती हैं। इस सरसता को अध्यात्म शास्त्रों में 'सोम-रस' के नाम से पुकारा गया है। देवताओं का अमृत पान यही है, इसका रसास्वादन ब्रह्मानन्द कहलाता है। इसी विशेषता के कारण परमात्मा को 'सच्चिदानन्द' कहा जाता है।

सहस्रार कमल में परिपूर्ण अमृत-कलश से उपलब्ध होने वाले सुधारस, सोमरस की चर्चा इस प्रकार मिलती है-

तन्निर्गतामृतरसै रभिपिच्य गात्र -
मार्गेण तेन विलयं पुनरण्य वाप्ता ।
येषा हृदि स्फूरति जातु न ते भवेयु-
र्म्मातर्महेश्वर कुटुम्बिनि गर्भभाजः ।।

-तन्त्र सार

हे माता ! तुम सहस्र दल कमल से निकलते हुए सुधारस से देह को अभिषिक्त करती हुई सुषुम्ना के मार्ग में जाकर लीन हो जाती हो। जिस मनुष्य के हृदय पद्म में तुम्हारा उदय नहीं होता, वह मनुष्य बारम्बार गर्भ धारण का दुःख उठाता है।

व्योम पंकजानिष्यन्द सुधापानरतो भवेत् ।
मद्यापानमिद प्रोक्तमितरे मद्यपायिनः ।।

ब्रह्मरंध्र में स्थित सहस्रार कमल से जो रस टपकता है, वही मद्य-पान है। नशा पीने वाले तो शराबी मात्र हैं।

नूनव्य से नवीन से सूक्ताय साधया पथः ।
प्रत्नवद्रोचया रुचः ।।
पवमान महिश्रवो गामश्वं रासि वीरवत् ।
सना मेधां सना स्वः ।।

-ऋ० ९।९।८-९

यह सोम जिसके अन्तःकरण में प्रतिष्ठित होता है, उसे आत्म-विकार और सुख-समुन्नति की अलौकिक प्रेरणाऐं अन्तःकरण से स्वतः प्रस्फुटित होती हैं।

पुमन सोम नः तमांसि योध्या ।
तानि पुनान जंघनः ।।

-ऋ० ९।९।७

यह सोम पाप और अन्धकार से लड़ने की प्रेरणा देते हैं और अपने साधक को वीर बनाते हैं।

सोमेन पूर्ण कलशं विभर्षि ।

-अथर्व ९।४।६

सोम से भरा शीर्ष कलश इसी शरीर में है।

दिवः पीयूषमुत्तमं सोमं ।

-अथर्व १४।१।१

यह सोम द्युलोक में रहता है। **प्रत आश्विनीः पवमान धीजुवो दिव्या ।**
असृग्रन् पयसा धरीमणि । प्रान्तत्रृषयः ।
स्थावरी रसृक्षत येत्वा मृजन्त्य षिषाण वेधसः ।

-ऋग्वेद ९।८६।४

हे सोम ! तेरी दिव्य धाराऐं मस्तिष्क में दिव्य रस को प्रवाहित करती हैं। ऋषित्व को प्रदान करती हैं। जो उसे अपने में धारण कर लेता है, वह निरन्तर भाव-प्रवाहों से भरा होता है।

शिर एवास्य हविर्धान वैष्णवं देवतयाथ यदस्मिन् सोमो भवति हविर्वै देवानां सोमस्तस्माद्ध-विर्धानं नाम ।

-शतपथ ३।५।३।२

यह मस्तिष्क ही देवलोक है। जहाँ इन्द्रिय-संचालक केन्द्रों के रूप में देवता विराजते हैं। यहीं सोम को हवि दी जाती है। यहीं देवता सोमपान करते हैं।

स्पष्ट है कि यह सारे संकेत सहस्रार चक्र स्थित अमृत-कलश की ओर ही है। वहाँ से निकलने वाली ज्ञान गंगा जीवात्मा को पवित्र और परितृप्त करती है। आत्मिक आनन्द इसी स्थिति में मिलता है। आनन्दमय कोश की सार्थकता इसी -अमृत की अधिकाधिक मात्रा में वर्षा कर सकने में है।

आनन्दमय कोश- शिव शक्ति का संगम

आत्मसत्ता का मूल स्वरूप सत्य, शिव, सुन्दर कहा गया है। परमात्मसत्ता की व्याख्या सत्-चित्, आनन्द रूप में होती है। दोनों ही स्थितियाँ परम सुखद हैं। स्वभाविक है जीवन को सुखद, सन्तोषजनक और आनन्दमय होना चाहिए।

बहिरंग जगत में चारों ओर सौन्दर्य बिखरा पड़ा है। प्रकृति की आकृति और प्राणियों की प्रकृति की गहराई में यदि प्रवेश किया जा सके, तो वहाँ अन्तरात्मा को पुलकित कर देने वाली शोभा दिखाई पड़ेगी। वस्तुओं की उपयोगिता को सिद्ध करने में ही तो सारा विज्ञान-क्षेत्र लगा हुआ है। प्रकृति कामधेनु है, उसमें से एक से एक बढ़े-चढ़े अनुदान प्राप्त किये जा सकते हैं।

अन्तरंग जगत पर दृष्टि डालते है, तो उसकी संरचना का कण-कण आनन्द की निर्झरिणी बहाता दीखता है। इन्द्रियों की सम्वेदना इतनी सुखद है कि उनका उपभोग करने में कई बार तो मनुष्य स्वास्थ्य, यश, धन, परलोक आदि की बाजी लगाकर भी किसी भी मूल्य पर अपनी ललक-लिप्साऐं पूरी करने में आतुरता दिखाता है। मस्तिष्क अपना इच्छित कल्पना-लोक इतना सुन्दर गढ़ सकता है, कि उसे वास्तविक जगत से किसी भी प्रकार कम प्रेरणाप्रद नहीं कह सकते। भगवान का बनाया अपना संसार जितना अपने सृष्टा के लिए वास्तविक है, मनुष्य द्वारा अपनी भावना और आस्था के सहारे जैसा भी संसार गढ़ लिया है, वहीं उसकी अनुभूतियों का केन्द्र है। मकड़ी अपना जाला स्वयं बुनती और स्वेच्छा से उसमें निवास करती है। मनुष्य अपने लिए, अपनी आस्थाओं के सहारे अपनी एक नई दुनियां बनाता है और उसमें स्वतन्त्रता-पूर्वक निवास करता है। अपनी दुनियां भली बनाये या बुरी, स्वर्ग रचे या नरक, यह उसकी इच्छा और क्रिया पर अवलम्बित है। तथ्य जहाँ का तहाँ है। शरीर अपनी तत्परता के, कर्मनिष्ठा के सहारे हमारे मनोरथ पूरे कराने में कल्प-वृक्ष का काम करता है तो मन:शरीर को कामधेनु कह सकते हैं।हमारी विचारणा, भावना यदि उत्कृष्टता का अवलम्बन पकड़े रहे, तो इसका प्रतिफल यह है कि मनुष्य इस धरती पर निवास करते हुए भी स्वर्ग सम्वेदनाओं के रसास्वादन का लाभ हर घड़ी लेता रह सकता है।

कारण शरीर की भाव-अभिव्यंजना का तो अन्त ही नहीं। करुणा-आत्मीयता जैसी दिव्य सम्वेदनाऐं यदि उमँगती रहे तो फिर मनुष्य अपने उसी आत्म-अनुदान की प्रक्रिया से हर घड़ी भाव-विभोर स्थिति में रह सकता है। आत्म-बोध एवं आत्म-जागृति की स्थिति इतनी उच्चस्तरीय है कि मनुष्य अपनी गरिमा को देवात्मा स्तर की, परमात्मा स्तर की अनुभव कर सकता है। उतना ही गौरवान्वित रह सकता है, जितना कि देवसत्ता एवं परमात्मसत्ता अपने को अनुभव करती होगी। यह अध्यात्म दृष्टिकोण ही अमृत है। इसे प्राप्त करने पर अजरता, अमरता, प्रौढ़ता, सुन्दरता, प्रखरता की दिव्य विभूतियाँ हर घड़ी अपने अमृतत्व का मिठास देती रहती हैं।

जीव साधारणतया सीमाबद्ध रहता है। उसकी ज्ञानेन्द्रिय सीमित रसास्वादन दे पाती है और कर्मेन्द्रियों द्वारा सीमित सम्पदा का उपार्जन हो सकता है। किन्तु मनुष्य के अन्तराल में बीज रूप में इतनी सम्भावनाऐं भरी पड़ी हैं, जितनी कि इस ब्रह्माण्ड में गुप्त या प्रकट रूप में विद्यमान हैं। स्थूल जगत कलेवर है, सूक्ष्म जगत उसका प्राण है। कलेवर से प्राण की क्षमता अधिक ही होती है। दृश्यमान पदार्थों की तुलना में ताप, ध्वनि, विद्युत ईथर आदि की अदृश्य शक्तियाँ अधिक प्रबल हैं। इस अदृश्य प्रकृति से भी सूक्ष्म जगत की समर्थता असंख्य गुनी बढ़ी-चढ़ी है। उसके साथ सम्बन्ध बना लेने, उस क्षेत्र में प्रवेश पा लेने की सामर्थ्य प्राप्त कर सकने के पश्चात् सीमा-बन्धन समाप्त हो जाते हैं, और असीम सामर्थ्य का उदय होता है। अतीन्द्रिय सम्भावनाऐं ही अभी अपने सामने हैं। उनके कुछ कौतुक ही कभी-कभी देखने को मिलते और चकित करते रहते हैं। यदि सचमुच उस क्षेत्र में कुछ अधिक प्रवेश मिल सके, दिव्य विभूतियों का उपार्जन एवं उपयोग जाना जा सके तो उसकी विलक्षणता सिद्ध पुरुषों जैसी हो सकती है। तब मनुष्य में देवत्व का उदय और नर में नारायण का दर्शन हो सकता है। यह परमआनन्द की स्थिति ही होगी।

उपरोक्त कथन का तात्पर्य यह है कि बाह्य जगत और अन्तर्जगत के दोनों ही क्षेत्र असीम दिव्य सम्वेदनाओं से भरे पड़े हैं। उनकी सुखद सम्वेदनाओं का अन्त नहीं। वस्तु स्थिति यही है। अपनी भ्रान्तियों में उलझ कर उपलब्धियों का लाभ नहीं लिया यह दूसरी बात है। कस्तूरी का मृग नाभि में सुगन्ध के भण्डार को समझ नहीं पाता वह उसे बाहर ढूँढ़ता है और प्राप्त करने के प्रयास में जितनी ही भाग-दौड़ करता है, उतना ही थकता और निराश होता है। इस दुर्भाग्य पर दाता को दोष नहीं दिया जा सकता। उसने तो कस्तूरी प्रचुर मात्रा में निकटतम स्थान नाभि में ही भर दी करतलगत उपलब्धियों का लाभ लेने में भी बुद्धि समर्थ न हो सके तो कोई क्या करे ? मृग-तृष्णा के भटकाव में प्रकृति का नही कुछ का कुछ देखने और समझाने वाले का ही दोष है।

परमेश्वर ने अपने जेष्ठ पुत्र राजकुमार मनुष्य को अपने इस दिव्य उद्यान में, संसार में आनन्द लेने के लिए भेजा है। यहाँ आनन्द की सभी सम्भावनाऐं एवं सुविधाऐं मौजूद हैं। दुःख तो हमारे विकृत दृष्टिकोण और निकृष्ट क्रिया-कलाप की प्रतिक्रिया मात्र है। यहाँ सुख स्वाभाविक और दुख कृत्रिम है। परमात्मा ने मनुष्य को अपने इस सुरम्य उद्यान में दुःख भोगने के लिए नहीं, आनन्द पाने और आनन्द बखेरने के लिए भेजा है। इस संसार को अधिक सुन्दर, समुन्नत, समृद्ध एवं सुसंस्कृत बनाने के प्रयास में संलग्न रहकर वह अपने ईश्वर प्रदत्त आनन्द को, अपने उपार्जन को जोड़कर अधिकाधिक सुखी, आनन्दित रह सकता है। इसके लिए कोई बड़ा कदम नहीं उठाना पड़ता। इसके लिए मात्र अपनी दुर्बुद्धि का निराकरण और दुष्प्रवृत्ति का निवारण पर्याप्त होता है। आनन्द मनुष्य की पैतृक सम्पत्ति है। वह उसे उत्तराधिकार में, प्रचुर परिमाण में मिली है। उपलब्धियों का स्वरूप समझना और उनका सदुपयोग करना जानना चाहिए। जिनसे इतना भी नहीं बन पड़ता उन्हें दुर्बुद्धिजन्य दयनीय दुर्दशा में ही पड़ा हुआ माना जायगा।

परमात्मा आनन्द स्वरूप है। जीवसत्ता के कण-कण में आनन्द का स्रोत है। प्रकृति में सौन्दर्य और सुविधा प्रदान करने की आनन्दमयी विशेषता भरी पड़ी है। यहाँ सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। इसी से जीवन को 'आनंदमय' कहा गया है। यह कोश उसे असीम मात्रा में, सहज-सुखद रूप से उपलब्ध है। हम आनन्दमय लोक में रह रहे हैं।

दुर्भाग्य लगभग वैसा ही है, जैसा कि कबीर की एक उलट वाँसी में व्यक्त किया गया है। वे कहते हैं-

पानी बिच मीन पियासी।
मोहि सुनि-सुनि आवे हाँसी॥

कोई व्यक्ति अपने घर का ताला बन्द करके कहीं चला जाय। लौटने पर ताली गुम हो जाने से बाहर बैठा ठण्ड में सुकड़े और दुःख भोगे। ठीक ऐसी ही स्थिति हमारी है। तिजोरी की ताली गुम हो जाने से दैनिक खर्च में कठिनाई पड़ रही है और भूखा-नंगा रहना पड़ रहा है। आनन्दमय कोश अपने भीतर भरा पड़ा है, किन्तु रहना पड़ रहा है निरानन्द स्थिति में। कैसी विचित्र स्थिति है ? कैसी विडम्बना है ? यह अपने ही साथ अपना कितना विलक्षण उपहास है।

आनन्दमय कोश की साधना इसी दुःखद दुर्भाग्य का अन्त करने के लिए है। उसके आधार पर उस ताले को खोला जा सकता है, जिसमें उल्लास का अजस्र भाण्डागार भरा पड़ा है। यह कार्य आत्मा और परमात्मा के मिलन की विधि-व्यवस्था बनाकर, रीति-नीति अपनाकर ही सम्भव हो सकता है। पंचकोशों की साधना के उच्चस्तर पर पहुँच कर इसी ताली को ढूँढ़ना पड़ता है और ताले को खोलने की व्यवस्था बनानी पड़ती है। जो उसे कर सका उसे फिर यह नहीं कहना पड़ा कि हम निरानन्द नीरस जीवन जीते हैं। दुःख और दुर्भाग्य से ग्रसित हैं।

आनन्दमय कोश की साधना का स्वरूप ईश्वर और जीव की मिलन व्यवस्था है। साधारणतया हम ईश्वर के नाम भर से परिचित हैं, उसका नाम जब तब लेते भी हैं और भजन-पूजन का उपक्रम भी चलाते हैं, पर यह प्रयत्न होता ही नहीं कि ईश्वर को अपने में- और अपने को ईश्वर में-समाहित करने का प्रयत्न करें। इस समन्वय का कितना सुखद परिणाम हो सकता है, इसकी कभी कल्पना भी तो नहीं आती। आमतौर से ईश्वर एक ऐसा व्यक्ति माना जाता है, जो थोड़े से स्तवन-पूजन से प्रसन्न किया जा सकता है और जिससे तुर्त-फुर्त मनोवांछित वरदान मिल सकते हैं। इसी प्रलोभन में पूजा-उपचार की सारी विडम्बनाऐं चलती हैं। ऐसे भगवत-भक्त कहाँ हैं, जो अपने ऊपर ईश्वरीय अनुशासन की स्थापना करते हैं। अपना समग्र समर्पण उसके चरणों में प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः भक्ति का यही स्वरूप है। यह जहाँ भी अपने वास्तविक स्वरूप में होगी, वहाँ निश्चित रूप से अमृत की वर्षा हो रही होगी। स्वर्गीय परिस्थितियाँ बनी होंगी। उल्लास बिखरा पड़ा होगा, सन्तोष की शान्ति रह रही होगी। आत्मा और परमात्मा का यथार्थ मिलन रसास्वादन कैसे सम्भव हो सकता है ? इसकी पृष्ठभूमि क्या है ? यह जानने के लिए हमें आनन्दमय कोश की विवेचना एवं साधना की गहराई में उतरना होगा।

श्रेष्ठ तत्वों का मिलन कितना सुखद होता है, इसकी जानकारी सभी को है। पृथ्वी को सन्तुलित सूर्य सम्पर्क मिला और यहाँ जीवन की उत्पत्ति हुई। जिन ग्रह-पिण्डों को यह सुयोग नहीं मिला, वे निर्जीव-निस्तब्ध पड़े हैं। गंगा-यमुना के मिलन में संगम बना और तीर्थराज प्रयाग का महत्व बढ़ा। लौह-पारस के स्पर्श से सोना बनने वाली बात प्रख्यात है। दो गैसें मिलकर पानी बनाती हैं। जड़ और चेतन के मिलने से गतिशील

शरीर बनते हैं। नर और नारी का मिलन एक नया गृहस्थ बनाता है। ऋण और धन विद्युत के मिलन से शक्तिधारा प्रवाहित होती है। जिधर भी आँख उठा कर देखा जाय, श्रेष्ठता के साथ सम्पर्क से लाभ ही लाभ है। इस मिलन-प्रक्रिया को अपना कर तो दुष्ट, दुरात्मा भी अपनी दुरभि-संधियाँ तक पूरी करते रहते हैं। ब्रह्म और जीव का, आत्मा और परमात्मा का मिलन कितना भाव-विभोर कर देने वाला, समर्थता और सम्पन्नता से भर देने वाला-आनन्द के समुद्र में डुबो देने वाला है। इसे शब्दों में नहीं बताया जा सकता, यह तो विशुद्ध रूप से अनुभूति का विषय है। भगवत् भक्तों की गरिमा पर जब दृष्टिपात करते हैं, तो लगता है इसी में जीवन की सच्ची सार्थकता है।

श्रद्धा और भक्ति का युग्म है। श्रद्धा कहते हैं, श्रेष्ठता के प्रति असीम निष्ठा एवं आस्था को अन्त:करण की गहराई में स्थापित करना। भक्ति कहते हैं, प्रेम सम्वेदना को- आत्मीयता की अनुभूति को। ईश्वर की उपासना श्रद्धा और भक्ति के आधार पर ही सम्भव होती है। पूजा उपचार तो उन सम्वेदनाओं को उभारने वाले प्रयोग अभ्यास भर हैं। ईश्वर परायणता की परख, श्रद्धा और भक्ति की कसौटी पर ही होती है।

ईश्वर व्यक्ति नहीं, शक्ति है। उसे मनुष्यों की तरह मनुहार उपहार के सहारे प्रसन्न नहीं किये जा सकता। बिजली का समुचित लाभ उठाने के लिए उसके उपयोग की मर्यादाओं को अपनाना पड़ता है। ईश्वर की प्रसन्नता इन तथ्यों पर अवलम्बित है, जिन्हें उत्कृष्टता के नाम से जाना जाता है। जिसे भावना-क्षेत्र में आस्तिकता, चिन्तन क्षेत्र में आध्यात्मिकता और कर्मक्षेत्र में धार्मिकता के रूप में प्रयुक्त किया जाता है।

उपासना का स्वरूप है, समन्वय। भक्ति का चरम लक्ष्य है, समन्वय-एकीकरण-समर्पण। द्वैत को मिटा कर अद्वैत की स्थापना। यह नाले का नदी में समर्पण हुआ। इसे कठपुतली का बाजीगर की उँगलियों के साथ गठ-बन्धन कहा जा सकता है, इसे पत्नी का पति को वरण समझा जा सकता है, अनुशासन की स्थापना यही है। अपनी स्वतन्त्र इच्छा आकांक्षाऐं समाप्त करके ईश्वरीय अनुशासन को अपने ऊपर स्थापित कर लेना, समर्पण यही है। इसी आत्म-समर्पण की गीता में भगवान ने भक्त से माँग की है। ईंधन अपने को अग्नि में डालकर अग्निमय हो जाता है। पानी दूध में मिलकर एक रूप बन जाता है। ईश्वर को मनोकामना पूर्ति का 'टूल' नहीं बनाया जाना चाहिए, वरन् उसकी गरिमा में अपने आपको आत्मसात् कर देना चाहिए। इसी स्थिति को ब्रह्म- निर्वाह,ईश्वर-दर्शन या भगवत प्राप्ति कहा गया है। यही ब्रह्मविद्या की अद्वैत साधना है। इसी आधार पर नर को नारायण, पुरुष को पुरुषोत्तम, जीव को ब्रह्म, आत्मा को परमात्मा बनने का अवसर मिलता है।

प्रेम में आकर्षण है, चुम्बकत्व है। प्रेमी की समीपता सुहाती है, उसी के लिए अधीरता रहती है। ईश्वर भक्ति का, भवगत् प्रेम का स्वरूप यही है कि बीच की दूरी को समाप्त किया जाय। दोनों के बीच गहन समस्वरता दिखाई दे। इस स्थिति में या तो ईश्वर को जीव की इच्छानुसार काम करना पड़ेगा या जीव को ईश्वर का अनुवर्ती बनना पड़ेगा। स्पष्ट है कि नदी नाले में नहीं मिल सकती, उसकी गहराई, चौड़ाई इतनी नहीं है, जिसमें नदी समा सके। नाले का ही नदी में मिलना सम्भव है। जीव का इच्छानुवर्ती ईश्वर नहीं हो सकता। यह भ्रान्ति छोड़ देनी चाहिए। भक्त को ही भगवान् का अनुवर्ती होना चाहिए। यह कार्य भौतिक महत्त्वाकांक्षाओं को समाप्त करके, ईश्वर के अनुवर्ती बनने से ही सम्भव होता है। श्रद्धा और भक्ति का स्वरूप यही है। इसी आधार पर ईश्वर-प्राप्ति का आनन्द लिया जा सकता है।

ईश्वर प्रेम सीमाबद्ध नहीं रह सकता। हिमालय के हृदय से निकली हुई गंगा, कहीं अवरुद्ध नहीं बैठी रहती, वरन् सूखे भू-खण्डों और प्यासे प्राणियों की प्यास बुझाती हुई अपनी क्षुद्रता को समुद्र की विशालता में समर्पित करती है। भक्ति का अर्थ है, प्रेम, सम्वेदना की प्रतिक्रिया है, आत्मीयता, करुणा-उदारता, सेवा, सद्भावना। यह श्रेष्ठ सम्वेदनाऐं कल्पना और भावना क्षेत्र में आगे बढ़कर जब व्यवहार बनकर विकसित होती हैं तो उसका स्वरूप आत्म-निर्माण और लोक-निर्माण के विविध क्रिया प्रयोजनों में ही परिलक्षित होता है। अपने को और दूसरों को ईश्वर की शरण में ले जाने की, श्रद्धा और भक्ति का अवलम्बन, आश्रय दिलाने की ही आकांक्षा प्रबल रहती है। निरन्तर इसी दिशा में सोचा जाता है और ऐसे ही कृत्य करने का ताना-बाना बुना जाता है।

यही है वह स्थिति, जिसे आनन्दमय कोश की जागृति कह सकते हैं। पंचकोशी गायत्री उपासना की यही सर्वोच्च स्थिति है। इसमें निरन्तर ईश्वर-दर्शन की अनुभूति होती है। भगवान सूक्ष्म है, उसका साक्षात्कार

भावानुभूति के रूप में ही होता है। आँखों से खिलौने की तरह ईश्वर को देखने की इच्छा करना बाल-बुद्धि के अतिरिक्त और कुछ नहीं। जब हवा, सर्दी, मैत्री, क्रोध, सुख, दुख जैसे प्रत्यक्ष आँख से नहीं देखे जा सकते तो ईश्वर जैसे अचिन्त्य, अप्रमेय को इन चर्म-चक्षुओं से देखा जा सकना कैसे सम्भव हो सकता है ? जिन्हें ऐसे दृश्य दीखते भी हैं, वे उनकी ध्यान चेतना की, प्रागढ़ता का परिचय मात्र देते हैं। उन्हें दिवा-स्वप्न के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। ईश्वर दर्शन तो अन्त:करण में दिव्यता की झाँकी करने के रूप में ही होते हैं। उसके लिए श्रद्धा और भक्ति के दो पैरों के सहारे लम्बी यात्रा पूरी करनी पड़ती है।

आनन्दमय कोश, श्रद्धा और भक्ति का उद्‌गम केन्द्र है। वहाँ ईश्वर मिलन की अनुभूति होती है। मूलाधार में अवस्थित जीव-चेतना कुण्डलिनी को सहस्रार स्थित ब्रह्म चेतना में मिलाया जाता है। शक्ति शिव से मिलती है। अग्नि कुण्ड में दग्ध हुई सती को फिर नये शरीर से शिव को वरण करने का अवसर मिलता है। अस्तु, ईश्वर-मिलन का लक्ष्य पूरा करने के लिए गायत्री की उच्चस्तरीय पंचकोशी साधना में, कुण्डलिनी-जागरण की विधि-व्यवस्था बनी है। भावनात्मक क्षेत्र में इस दिव्य मिलन की प्रतिक्रिया आनन्द और उल्लास के रूप में दृष्टिगोचर होती है। संसार के श्रेष्ठ देवपक्ष को देखते हुए प्रसन्न होना- आनन्द है और निकृष्ट-दैत्यपक्ष को निरस्त करने के लिए उमंगते हुए शौर्य, साहस का नाम है- उल्लास। धर्म की स्थापना और अधर्म के नाश के लिए ईश्वर का अवतार होने की प्रतिज्ञा को साधक अपने ही भीतर पूरी होते देखता है। उसे लगता है कि भगवान का अवतार आनन्द और उल्लास के,-श्रद्धा और भक्ति के, कुण्डलिनी जागरण के रूप में अपने ही भीतर हो रहा है। आनन्दमय कोश का यह भाव पक्ष है।

कुण्डलिनी जागरण को आनन्दमय कोश का शक्ति पक्ष कहा गया है। ईश्वर भाव-सम्वेदना भी है और समृद्धि सामर्थ्य का भण्डार भी। श्रद्धा और भक्ति के आधार पर की गई सोऽहम साधना, खेचरी मुद्रा जैसी उपासनाऐं भाव पक्ष को समुन्नत करती हैं। कुण्डलिनी-जागरण से शक्ति पक्ष उभरता है। उससे मानवी अस्तित्व में ईश्वरीय वर्चस्व की प्रचण्डता प्रकट होती है। आनन्दमय कोश की साधना में भक्ति और शक्ति दोनों का समन्वय है।

आनन्दमय कोश की तीन उपलब्धियाँ समाधि, स्वर्ग और मुक्ति

आनन्द जीवात्मा का लक्ष्य है। उसे प्यास इसी की है। कस्तूरी का हिरन जिस प्रकार सुगन्ध की खोज में चारों ओर मारा-मारा फिरता है, उसी प्रकार जीव आनन्द की खोज में विविध कल्पनाऐं करता- विभिन्न योजनाऐं बनाता और अगणित प्रयत्न करता है, पर हर सफलता अपर्याप्त और असमाधान कारक ही बनी रहती है। हिरन की नाभि में कस्तूरी होती है और आनन्द का अक्षय भण्डार अन्त:करण की गहरी परत आनन्दमय कोश में भरा रहता है। जो वस्तु जहाँ है, उसे वहाँ तलाश न करके अन्यत्र ढूँढ़ा जाय तो उससे भटकाव और थकान के अतिरिक्त मिलता कुछ नहीं।

आनन्द का मिठास अत्यधिक गहरा है। उसकी प्रतिच्छाया वासना, तृष्णा, अहंता में परिलक्षित होती है और उसकी कल्पना मात्र से पुलकन उठती है। प्रतिध्वनि में जब इतनी मधुरता है तो ध्वनि में कितनी अधिक, उत्कृष्टता होगी ? आनन्दमय कोश में प्रवेश करके ही जीवात्मा को परम तृप्ति का सन्तोष मिल सकता है। यही जीवन का लक्ष्य है। इसी की आशा पर प्राणी जीवित है। इसी के लिए वह शरीर-बन्धन में बँधने को तैयार हुआ है। कहा गया है-

'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।'

-बृहदारण्यक ४।३।३२

इस आनन्द के प्राप्त होने की आशा से ही समस्त प्राणी जीवित रहते हैं।

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनंदाद्धचेव खाल्विमानि भूतानि जायंते। आनंदेन जातानि जीवंति। आनंद प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

-तैत्तरीयोपनिषद्

आनन्द से सब प्राणी पैदा होते हैं और आनन्द में ही वे जीवित रहते हैं। अन्त में आनन्द में ही वे जय को प्राप्त होते हैं।

आनंदानुभवस्तत्र जायते योगिनो महान्।
स एव तं विजानाति मया वक्तुं न शक्यते॥

-योग रसायनम् ११४

उस समय योगी को महान् आनन्द का अनुभव होता है, जिसे वही जानता है, मैं वर्णन नहीं कर सकता।

मुच्यमानेषु सत्वेषु ये तो प्रापोयसागराः ।
तैरेवननुपर्याप्तं मोक्षेणा रसिकेन किम् ।।

-बोधिचर्यावतार ८।१०८

जीव जब दुःख-बन्धन से मुक्त होते हैं, तब उससे बोधिसत्व के हृदय में जो आनन्द का समुद्र उमड़ पड़ता है, उतना ही तो पर्याप्त है। रस-हीन शुष्क मोक्ष से क्या प्रयोजन ?

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ।
को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् ? यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति ।।

-केन २।७

भगवान् रसमय या रस-स्वरूप है। उसी रस को पाकर मनुष्य आनन्द का अनुभव करता है। यदि वह आकाश की भाँति सर्वत्र ओत-प्रोत आनन्दमय मूलतत्व न होता, तो कौन अपान और प्राण-रूप क्रियाओं से युक्त जीवन-मात्र में आनन्द का अनुभव करता। वास्तव में वही तत्व प्रत्येक प्राणी के आनन्द का मूल स्रोत है।

परमेश्वर को रस कहा गया है। यह रस भौतिक नहीं आत्मिक है। उसे उल्लास, सन्तोष, तृप्ति, शान्ति जैसी दिव्य सम्वेदनाओं में अनुभव किया जाता है। इसकी उपलब्धि आन्तरिक उत्कृष्टता के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। अंतरात्मा जितना पवित्र और उदात्त बनता जाता है, उसी अनुपात से यह आनन्द बढ़ता है। यह उत्कृष्ट दृष्टिकोण तथा उच्चस्तरीय कर्म-परायणता पर निर्भर है। निकृष्ट चिन्तन और भ्रष्ट क्रिया-कलाप के रहते अन्य किसी उपाय से इस आनन्द का दर्शन हो नहीं सकता। आनन्द की आकांक्षा करने वाले हर व्यक्ति को आनन्दमय कोश की गहराई में उतर कर उस उद्गम स्रोत तक पहुँचना पड़ता है, जहाँ से दिव्य आनन्द की प्रकाश-किरणें फूटती हैं।

आनन्द का स्वरूप, आधार और स्थान विदित हो जाने पर मान्यता स्थिर होती है। क्या करने से क्या मिलता है ? यह निश्चित हो जाना ही भ्रान्ति का निवारण है, वस्तु स्थिति का ज्ञान ही तत्वज्ञान है। आत्मिक समस्याऐं ही सबसे बड़ी समस्याऐं हैं। उन्हीं के समाधान से वास्तविक समाधान होता है। अस्तु, अन्तरात्मा की उलझनों को सुलझा देने वाले ज्ञान को ही ब्रह्मज्ञान, तत्वज्ञान, आत्म-ज्ञान, सद्ज्ञान आदि के नाम से पुकारते हैं। आनन्द प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम इसी आन्तरिक समाधान और दिशा निर्धारण का प्रयत्न करना पड़ता है। समाधि इसी स्थिति का नाम है। आनन्द की उपलब्धि में सर्वप्रथम इसी का प्रयत्न किया जाता है। समाधि से मतलब मूर्च्छित हो जाना माना जाता है। हठयोग के अन्तर्गत ऐसे प्रयोग भी हैं जिनमें श्वास क्रिया रुकती और हृदय की धड़कन घटती है। वैसी दशा में चेतना निःचेष्ट होकर बहुत समय तक पड़ी रहती है। चेतन और अचेतन की गहरी निद्रा में सुला कर पूर्वाग्रहों एवं पूर्व संस्कारों की उत्तेजना शान्त करना इसका उद्येश्य माना जाता है। ऐसा समय हर किसी के लिए सरल नहीं है। उसके लिए नाड़ी-शोधन, चक्र-वेधन, प्राण-साधना जैसी अनेक कठिन मंजिलें पार करनी पड़ती हैं। वह विशेष लोगों का विशेष कृत्य है। सर्व साधारण की समाधि वह है, जिसमें जीवन की दिशा-धारा अस्त-व्यस्त न रहने देकर एक सुनिश्चित मार्ग पर प्रवाहित की जाती है। वर्षा का पानी मारा-मारा फिरे तो उससे हानि ही होगी। नदी-नाले के माध्यम से उसके बहने में ही लाभ है। चिन्तन की दिशा-निर्धारण हो जाना और आकांक्षाओं एवं विचारणाओं का उत्कृष्टता की दिशा में बहने लगना ही समाधि है। समाधि का अभ्यास होने पर बिखराव-भटकाव समाप्त होता है और चिन्तन तथा कर्म का समुचित लाभ मिल सकने की स्थिति बन जाती है, इसलिए आनन्दमय कोश की साधना के प्रथम चरण में 'समाधि' परक प्रयोग किये जाते हैं। यह जाग्रत समाधि है। इसमें मूर्छित होने की आवश्यकता नहीं पड़ती, वरन् प्रलोभन एवं भय की उत्तेजनाओं को शान्त करना पड़ता है। ऐषणाओं के आवेश ठण्डे पड़ने पर मनुष्य अपना लक्ष्य देख पाता है। निर्धारित दिशा में चल पड़ने की बात इससे पूर्व बन ही नहीं पड़ती। आनन्दमय कोश के साधकों को जिस एकाग्रता की आवश्यकता बताई गई है, वह एक केन्द्र पर सोचते रहने की मानसिक विधि नहीं, वरन् लक्ष्य का सुनिश्चित निर्धारण और अभिगमन है। ऐसी मनःस्थिति को 'समाधिस्थ' कहा गया है।

'सम्यगाधीयत एकाग्री क्रियते
विक्षेपान्परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः।'

-भोज

जिसमें मन को विक्षेपों से हटाकर यथार्थ में एकाग्र किया जाता है, वह स्थिति समाधि है।

त्यक्त्वां विषयभोगांश्च मनोनिश्चलतां गतम् ।
आत्मशक्तिस्वरूपेण समाधिः परिकीर्तितः ।।

-दक्षस्मृति ७।२१

विषय-भोगों की चंचलता त्याग कर जिसने स्थिर मनः स्थिति प्राप्त करली, आत्म-बल प्राप्त कर लिया, उसकी स्थिति 'समाधि' की ही है।

सलिलै सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ।
तथाऽऽत्ममनसोरैक्यं समाधिरभि धीयते ।।

-हठ० प्र० ४।५

अर्थ- जैसे लवण जल में मिलने से जल के ही रूप को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही आत्मा एवं मन का एक रूप होना समाधि कहलाता है।

तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।
प्रनष्टसर्वसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ।।

-योग संख्या

जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों की एकरूपता को ही समता कहते हैं और उस समय नष्ट हुए हैं सम्पूर्ण सकंल्प, जिसमें उसको समाधि कहते हैं।

समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः ।
संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः ।।

-याज्ञल्क्य

जीवात्मा और परमात्मा की इच्छा एवं दिशा जब एक जैसी होती है, वे वियोग से हटकर एकत्व स्थापित करते हैं, तो उस स्थिति को समाधि कहते हैं।

यत्समत्वं तयोरत्र जीवात्मा परमात्मनोः ।
समस्त नष्ट संकल्पः समाधिरभिधीयते ।।
स्वयमुच्चलिते देहे देही नित्य समाधिना ।
निश्चलं तं विजानीयात् समाधिरभिधीयते ।।

-सौभाग्य० उपनिषद्

ललक और लिप्साओं की आकांक्षाऐं नष्ट होने पर जब जीव और ब्रह्म के बीच एक दिशा का, एकता का निर्धारण होता है तो उस स्थिति को समाधि कहते हैं। प्रलोभनों की चंचलता शिथिल होने पर जो आत्म-स्थिरता प्राप्त होती है, वही समाधि है।

आन्तरिक दिव्य क्षमताओं का विनाश तो तृष्णा जन्य चंचलता से होता है। यदि वह उद्विग्नता न रहे, लक्ष्य की ओर चलने का निश्चित संकल्प बन जाय तो अपव्यय रुकने से आत्म-शक्ति का संग्रह और अभिवर्धन होता चलता है। फलतः कितनी प्रकार की दिव्य क्षमताऐं उभरती चली जाती हैं। इन विभूतियों का परिचय कितने ही रूपों में मिलता रहता है। यथा-

समाध्यभ्यासतो नित्यं जायतेऽन्तर्मनोलयः ।
अंतर्दृष्टिप्रकाशश्च तस्य संजायते क्रमात् ।।

-योग रसायन

समाधि के नित्य अभ्यास से क्रमशः मन अन्तर्लीन हो जाता है और अन्तर्दृष्टि प्रकाशित होती है।

स्वप्नदष्टपदार्थोघो मृषा भवति निश्चितम् ।
समाधि त्वमृषा सर्व वस्तु कार्यकरं तथा ।।

-योग रसायनम्

स्वप्न में देखे गये पदार्थ मिथ्या होते हैं, जबकि समाधिस्थिति में अनुभूत बातें सत्य होती हैं तथा उनके द्वारा समाधि के उपरान्त भी वास्तविक लाभ होता है।

समाधि की आन्तरिक स्थिरता प्राप्त होने पर साधक का दृष्टिकोण परिष्कृत होता है। वह विधेयात्मक और रचनात्मक गुणग्राही चिन्तन-पद्धति का अभ्यास करता है। अपने सद्गुणों को बढ़ाता है और दूसरों का सद्गुण प्रधान पक्ष खोजता है। सृष्टि में यों कुरूपता भी विद्यमान है और मनुष्य में तामसिंकता के अंश भी मौजूद हैं, बदलने और सुधारने के लिए रचनात्मक प्रवृत्ति की आवश्यकता है। असहयोग, विरोध और दण्ड जैसे कटुकृत्यों का निषेध नहीं है, पर वे द्वेष और घृणा से प्रेरित नहीं, सुधार की हित कामना से होने चाहिए। इस प्रकार संसार के अशुभ पक्ष से निपटते हुए भी आन्तरिक उत्कृष्टता स्थिर रखी जा सकती है। श्रेष्ठता का पक्ष तो अधिक मात्रा में है ही अन्धकार से प्रकाश इस संसार में अधिक है। दुष्टता की तुलना में श्रेष्ठता कम नहीं है। उसी को खोजा, अपनाया जाय, सम्पर्क-सम्बन्ध उसी से साधा जाय और उसी के अभिवर्धन-परिपोषण में निरत रहा जाय तो मस्तिष्क में निरन्तर सात्विक छाया रहेगा। सौन्दर्य दृष्टि से विकसित होने पर विश्व-व्यापी सौन्दर्य का दर्शन होने लगेगा। पदार्थों और प्राणियों में पाई जाने वाली श्रेष्ठता के सम्पर्क में आने से शिवत्व की झाँकी मिलती है। इस विश्व के मूल में ब्रह्म-सत्ता ही आलोकित है, यह समझने वालों को 'सत्य' की प्राप्ति होती है। परिष्कृत दृष्टिकोण वालों को **सत्यं शिवं सुन्दरम्** का दर्शन हर घड़ी होता है और सर्वत्र स्वर्ग की उपस्थिति प्रतीत होती है।

संत इमर्सन कहा करते थे कि "मुझे" नरक में भेज दो मैं अपने लिए स्वर्ग बना लूँगा। इस कथन में परिपूर्ण तथ्य भरा पड़ा है। परिष्कृत दृष्टि से समीपवर्ती वातावरण में भी बहुत कुछ सुधारात्मक अनुकूलता प्रतिक्रिया उत्पन्न की जा सकती है, किन्तु स्थिति से अनुकूल प्रतिक्रिया उपलब्ध कर सकना तो पूर्णतया अपने हाथ की बात है। स्वर्ग इस दिव्य दर्शन का, उत्कृष्ट चिन्तन का नाम है।

उसे कोई स्थान-विशेष नहीं माना जाना चाहिए, वह वस्तुत: एक दृष्टिकोण भर है। नरक और स्वर्ग को निकृष्ट और उत्कष्ट चिन्तन की अशुभ एवं शुभ प्रतिक्रिया ही समझा जाना चाहिए। हर व्यक्ति इमर्सन की तरह ही अपने लिए सुखद स्वर्ग का सृजन, दृष्टिकोण को परिष्कृत करके सहज ही कर सकता है। समाधि से स्वर्ग की अनुभूति और प्राप्ति होना सुनिश्चित है। इसी का उल्लेख इस प्रकार मिलता है -

वाक् शौचं कर्म शौचं च यंच शौचं जलात्मकम् ।
त्रिभि: शौचेरुपेतो य: स स्वर्गो नात्र संशय: ।।

-महाभारत वन०

वाणी की पवित्रता, कर्मों की पवित्रता, जलात्मक पवित्रता, जो स्थान या अवस्था इन तीन पवित्रताओं से मुक्त हो। वही स्वर्ग है, इसमें संशय नहीं है।

स्वर्गिणोऽप्येतमिच्छन्ति लोकं निरयिणस्तथा ।
साधकं ज्ञानभक्तिभ्यामुभयं तदसाधनम् ।।

-योग संध्या

स्वर्ग के रहने वाले देवता भी इस मनुष्य देह में जन्म की अभिलाषा करते हैं, क्योंकि वह मनुष्यलोक ज्ञान, भक्ति द्वारा मोक्ष का साधन होने से श्रेष्ठ है।

किंचन द्वेष्टि तथा न किंचिदपि काङ्क्षति ।
भुङ्क्तेय: प्रकृतान् भोगान् स जीवन्मुक्त उच्यते ।।

-महोपनिषद २।६०

जो केवल प्राप्त भोगों का उपभोग करने वाला आकांक्षाओं से रहित तथा किसी के प्रति ईर्ष्या-द्वेष नहीं करता वह जीवन-मुक्त है।

भूमौयावद्यस्य कीर्तिस्तावत्स्वर्गे स तिष्ठति ।
अकीर्तिरिवनरको नान्योस्ति नरको दिवि ।।

-शुक्रनीति

जिसकी कीर्ति जब तक भूमि में टिकती है तब तक वह स्वर्ग में रहता है, अपकीर्ति ही नरक है। दूसरा नरक परलोक में नहीं है।

पराङ्विवैस्वर्गो लोक: ।

-शत० १३।१।३।३

स्वर्ग कहीं अन्यत्र नहीं, अपने ही भीतर है।

समाधि और स्वर्ग के उपरान्त आनन्दमय कोश की तीसरी उपलब्धि है- मोक्ष। मोक्ष अर्थात् बन्धन मुक्ति। बन्धन अर्थात् पिछड़ेपन के कुसंस्कार कषाय-कल्मष। जीव को बाँध सकने वाली संसार की और कोई शक्ति नहीं है। उसकी निज की दुर्बलताएँ और निकृष्टताएँ ही प्रगति के पथ पर बढ़ चलने से रोकने वाली सबसे बड़ी बाधाएँ हैं। मकड़ी अपना जाल आप बुनती और उसी में फँसी रहती है। रेशम के कीड़े भी अपना बन्दीगृह आप बनाते हैं। मनुष्य के भव-बन्धन उसी ने अपने हाथों विनिर्मित किये हैं और स्वयं ने ही उन्हें हथकड़ी बेड़ी की तरह धारण किया है। भेड़ों के झुण्ड में पले सिंह, शावक की तरह ओछेपन का आवरण अपने ही अज्ञान से हमने ओढ़ा है, बन्धनों का कितना कष्ट होता है। इसे पशु-पक्षी तक जानते हैं। जो विवशता में तनिक भी कमी आने पर बेतरह भाग खड़े होते हैं, भले ही उन्हें कितने ही अभावों और संकटों का सामना क्यों न करना पड़े ?

मनुष्य ईश्वर का सबसे बड़ा राजकुमार है। उसकी सम्भावनाऐं असीम है। उपलब्ध साधनों का सदुपयोग करके वह इसी जीवन में उतनी उच्चस्थिति में पहुँच सकता है, जिसे देवात्मा-परमात्मा के समतुल्य कहा जा सके। इस प्रगति में परिस्थिति की नहीं, मन: स्थिति की ही प्रधान बाधा है, यदि जीवन की सार्थकता के लिए जो करना है, उसे समझ और अपना लिया जाय तो फिर वह स्थिति बन जायेगी जिसे ईश्वर की समीपता कहते हैं। मोक्ष इसी का नाम है।

मोक्ष के सम्बन्ध में विचित्र मान्यताऐं प्रचलित हैं। कोई उसे जन्म-मरण से आवागमन से छुटकारा बताता है कोई इस संसार को छोड़कर किसी अन्य लोक में चले जाने की कल्पना करता है। किसी को काम न करने की बैठे ठाले हर इच्छा पूरी होते रहने की स्थिति मोक्ष प्रतीत होती है। किन्हीं -किन्हीं की उड़ान विचित्र है, वे भगवान् का कोई विशेष नगर, ग्राम, लोक मानते हैं और उनके पास दरवारियों की तरह जा विराजने की कल्पना करते हैं। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्म यह चार स्थिति मुक्ति में मिलने की बात बताई जाती है। सालोक्य का मतलब है, भगवान के लोक में अपने लिए भी एक फ्लैट बन जाना। सामीप्य का मतलब है, उनके दरबारी कर्मचारियों में नियुक्ति होना। सारूप्य का अर्थ है, भगवान जी की डमी कापी बनकर रहना। सुरक्षा के लिए डिक्टेटर लोग प्राय: अपनी ही शक्ल-सूरत का एक दूसरा आदमी रखते भी थे, जिसे खतरे के स्थान पर भेजकर वे स्वयं सुरक्षित रह सकें। सायुज्म का तात्पर्य है साझीदारी। उनकी सम्पत्ति अथवा सत्ता में अपनी घुसपैंठ बन पड़ना, यह सायुज्म मुक्ति कही जायेगी। यह सभी उपाहासास्पद बाल कल्पनाऐं हैं। इन्हें आलंकारिक वर्णन के रूप में प्रस्तुत किया गया है, पर उदाहरणों को तथ्य मान लेने की भूल अपना ली गई।

मोक्ष का तात्पर्य है, आत्मसत्ता को भौतिक न मानकर विशुद्ध चेतन तत्व के रूप में अनुभव करने लगना। सुखानुभूति, प्रसन्नता एवं सफलता भौतिक साधनों से मिलने के स्थान पर आन्तरिक परिष्कार के आधार पर उपलब्ध होने के तथ्य पर विश्वास करना। पशु-प्रवृत्तियों की कुसंस्कारिता से छुटकारा मानवी दैवी संस्कृति को व्यवहार में उतारना। उत्कृष्टता ही ईश्वर है। ईश्वर की समीपता अथवा प्राप्ति का मतलब है, अपनी आकांक्षाओं, चेष्टाओं, दिशा-धाराओं को उत्कृष्टता के साथ अविच्छिन्न। रूप से जोड़ देना। लोक-मानस लोक-प्रवाह जिस स्वार्थ एवं पतन की दिशा में बहता चला जा रहा है, उस विवशता से अपने को मुक्त कर लेना, मछली की तरह धार को चीरते हुए उलटे प्रवाह में तैर सकना। यह अन्त:स्थिति जिसे भी प्राप्त हो उसे बन्धन मुक्त कह सकते हैं। मोक्ष अथवा मुक्ति को जीवन का परम फल बताया गया है। उसका स्वरूप यही है।

मरने के बाद स्वर्ग या मुक्ति का लाभ मिल सकता है, ऐसा सोचना व्यर्थ है। यह उपलब्धियाँ इसी जीवन की हैं। इनका आनन्द इसी जीवन में, आज ही मिलना चाहिए। यह सब कुछ दृष्टिकोण के- आन्तरिक स्तर के-परिवर्तन पर निर्भर है। 'मुक्ति' जीवित रहने पर ही मिलती है। मरने के बाद जो कुछ होता है, वह जीवित स्थिति की प्रतिक्रिया भर कही जा सकती है। अस्तु, आत्मिक प्रबल पुरुषार्थ की सुखद उपलब्धि इसी जीवन में मिलने की बात सोचनी चाहिए। जीवित रहते ही यह स्थिति मिलती है इसलिए उसे 'जीवन्मुक्ति' भी कहा जाता है। मुक्ति-जीवन मुक्ति का ही संक्षेप है। निष्कृष्टता से-ओछेपन से छुटकारा पाने वाला कोई भी व्यक्ति इसी जीवन में मुक्ति का आनन्द ले सकता है, इस सन्दर्भ में शास्त्रकारों का अभिमत इस प्रकार है-

उद्वे गारन्दरहित: समया: स्वच्छया धिया ।
न शोचते न चोदेति स जीवन्मुक्त उच्यते ।।

-महोपनिषद २।५७

जो उद्वेग और आनन्द से रहित, शोक अथवा हर्षोत्साह से ममत्व एवं स्वच्छ बुद्धि वाला है, वह जीवन मुक्त है।

घृणा शंका भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पंचमी कुलं शीलं च शक्तिश्चाष्टौ पाशा: प्रकीर्तिता: पाशबद्ध: पशु: प्रोक्तो पाशमुक्त: सदा शिव: ।

-तन्त्र कौस्तुभ

घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा कुल, शील, शक्ति यह आठ पाश हैं। जो इनमें बँधा है, सो पशु है और जो मुक्त है सो शिव है।

मौनवान् निरहभावो निर्मानो मुक्त मत्सर: ।
य: करोति गतोद्वेग: स जीवन्मुक्त उच्यते ।।

-महोपनिषद २।५०

जिसने अहंकार के भाव का परित्याग कर दिया है, मान-मत्सर के विकार से मुक्त हो गया है, जो उद्वेग रहित होकर कर्म में रत है, उसे ही ज्ञानीजन जीव- मुक्त कहते हैं।

य: समस्तार्थ जालेषु व्यवहार्यपि निस्पृह: ।
परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते ।।

-महोपनिषद २।६२

विश्व के सभी अर्थ-जालों के मध्य स्थिर होकर भी पराये धन से निस्पृह रहने वाले धर्मात्मा के समान जो पुरुष निस्पृह रहता है, वह आत्मा में ही पूर्णता का अनुभव करने वाला महात्मा जीवन्मुक्त है।

द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममति ममेति च ।
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते ।।

-महोपनिषद् ४।७२

बन्धन और मोक्ष में केवल दो पद का अन्तर है। मेरा है यही बन्धन है। मेरा नहीं है, यही मुक्ति है।

जरा मरणम् पच्च राज्यं दारिद्यमेव च ।
रम्यमित्येव यो भुङ् क्ते स जीवन्मुक्त उच्यते ।।

-महोपनिषद २।५५

जो वृद्धावस्था, मृत्यु, विपत्ति,ऐश्वर्य-भोग एवं दारिद्र्य में समभाव रखता हुआ सब स्थितियों में सन्तुष्ट रहता है, वह जीवन मुक्त है।

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गति: ।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते शाश्वती गति: ।।

-योग वशिष्ठ

जैसे पक्षी आकाश में दोनों पंखों से उड़ते हैं; इसी प्रकार ज्ञान और कर्म से मुक्ति प्राप्त होती है।

मोक्षस्य नहि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा ।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृत: ।

-योग संध्या

किसी स्थान-विशेष में या लोकान्तर में निवास करने का नाम मोक्ष नहीं। अज्ञान रूपी हृदय ग्रन्थि का नाश ही मोक्ष है।

समाहितो ब्रह्मपरोऽप्रमादी
शुचिस्तथैकान्तरतिर्यतेन्द्रिय: ।

समाप्नुयाद्योगमिमं महात्मा
विमुक्तिमाप्नोति ततः स्वयोगतः ।।

-मार्कण्डेय पुराण

अप्रमादी, पवित्रात्मा, इन्द्रियजयी, सम्यक् बुद्धि, ब्रह्म परायण व्यक्ति अपने ही पुरुषार्थ से जीवन मुक्त बनते हैं।

नमोक्षो नभसः पृष्टे न पाताले न भूतले ।
सर्वाशा संक्षये चेतः क्षयो मोक्ष इतीर्यते ।।

-योग वशिष्ठ

मोक्ष का स्थान आकाश, पाताल या भूतल नहीं है। भ्रान्तियों और संशयों का नष्ट हो जाना ही मोक्ष है।

यस्तु शान्त्यादि युक्तः सन्मात्मत्वेन पश्यति ।
स जायते परं ज्योतिरद्वैतं ब्रह्म केवलम् ।
आत्म स्वरूपावस्थानं मुक्ति रित्यभिधीयते ।।

-शिव गीता

जब अन्तरात्मा का समाधान हो जाता है, शान्ति और समता रहती है तो अपने भीतर आत्म-ज्योति का दर्शन होता है। इसी अन्त स्थिति को मुक्ति कहते हैं।

दुःखाजन्मप्रकृत्ति दोष मिथ्या ज्ञानानः
मुत्तरोत्तरापाये तदननतरा प्रायादयवर्गः

-न्याय सूत्र

दुःख जन्य प्रवृत्ति, दोष, मिथ्या ज्ञान आदि अवरोधों से छुटकारा पाना ही मोक्ष है।

नित्याऽनित्य विचाराऽनित्य संसार सुख दुःख
विषय समस्त क्षेत्र ममता बन्धक्षपो मोक्षः ।

-निरात्ववोपनिषद

ममता, शाश्वत और नाशवान का -सुख और दुःख का, गलत-सही निर्धारण ही बन्धन और मोक्ष का कारण है।

आनन्दमय कोश अन्तरात्मा का उच्चतम स्तर है। उसमें पवित्रता एवं उत्कृष्टता की मात्रा बढ़ने से समाधि, स्वर्ग और मुक्ति का दिव्य रसास्वादन सम्भव होता है। इस ब्रह्मानन्द को ही परमानन्द कहा गया है। सच्चिदानन्द प्रभु की उपलब्धि अपने ही अन्तःकरण में इसी आन्तरिक प्रगति के आधार पर सम्भव होती है। आनन्द का वास्तविक स्वरूप यही है। आनन्दमय कोश की साधना से इसी चरम उपलब्धि की दिशा में बढ़ चलना सम्भव होता है।

आनन्दमय कोष की साधना अन्तिम है। इसी में २७ प्रकार की समाधियाँ लगती हैं। शब्द ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, अनहद ध्वनि से दैवी सन्देश सुनाई पड़ते हैं। बिन्दु साधना से ऋण और धन विद्युत कणों की गतिविधि पर नियन्त्रण करने की सामर्थ्य पैदा होती है। आप्ति और व्याप्ति कला के अभ्यास से ओजस् और तेजम् तत्वों पर अधिकार हो जाता है। तुरीयावस्था में जो सच्चिदानन्द का अनुभव होता है, उसके बारे में तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा है कि-'यदि कोई मनुष्य पूर्ण स्वस्थ, सुशिक्षित, गुणवान्, सामर्थ्यवान्, सौभाग्यवान् एवं समस्त संसार की धन-सम्पत्ति का स्वामी हो, तो उसे जो आनन्द हो सकता है, उसे एक मानुषी आनन्द कहेंगे। ऐसे करोड़ों गुने आनन्द को तुरीयावस्था का ब्रह्मानन्द कहते हैं। इस सुख का आस्वादन करके मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है।

इन पंच कोषों को पार करना और पार करने की इस यात्रा के समय में प्राप्त होने वाले सुखों एवं चमत्कारों का प्रत्यक्ष करना गायत्री साधना द्वारा ही होता है। अन्य अभ्यासों में साधना में बहुत समय तथा श्रम लगाना पड़ता है, फिर भी पूर्ण सफलता नहीं मिलती। योगीजनों को कष्टसाध्य लम्बा मार्ग गायत्री द्वारा बहुत सरल हो जाता है और घर में रहते हुए गृहस्थ व्यक्ति, वनवासी, तपस्वियों जैसी सफलता प्राप्त कर लेता है। पाँचों बन्धनों से छुटकारा पाकर परम लक्ष्य को प्राप्त करना जितना इस मार्ग से सरल है, उतना और किसी मार्ग से सम्भव नहीं।

२७ समाधियों में सर्वोत्तम सहज समाधि

आनन्दमय कोश की स्थिति पञ्च भूमिका है। इसे समाधि अवस्था भी कहते हैं। समाधि अनेक प्रकार की हैं। काष्ठ या जड-समाधि, भाव-समाधि, ध्यान-समाधि, प्राण-समाधि, सहज-समाधि आदि २७ समाधियाँ बताई गई हैं। मूर्छा, नशा एवं क्लोरोफॉर्म आदि सूंघने से आई हुई समाधि को काष्ठ-समाधि कहते हैं। किसी भावना का इतना अतिरेक हो कि मनुष्य की शारीरिक चेष्टा संज्ञाशून्य हो जायें उसे भाव-समाधि कहते हैं। ध्यान में इतनी तन्मयता आ जाय कि उसे अदृश्य एवं निराकार सत्ता साकार दिखाई पड़ने लगे, उन्हें ध्यान समाधि कहते हैं, इष्ट देव के दर्शन जिन्हें होते हैं, ध्यान-समाधि की अवस्था में ऐसी चेतना आ जाती है कि वह अन्तर उन्हें विदित होने पाता है कि हम दिव्य नेत्रों से ध्यान कर रहे हैं या आँखों से स्पष्ट रूप से अमुक प्रतिमा को देख रहे हैं। प्राण-समाधि ब्रह्मरन्ध्र में प्राणों को एकत्रित करके की जाती है। हठयोगी इसी समाधि द्वारा शरीर को

बहुत समय तक मृत बनाकर भी जीवित रहते हैं। अपने आपको ब्रह्म में लीन होने का जिस अवस्था में बोध होता है उसे ब्रह्म समाधि कहते हैं।

इस प्रकार २७ समाधियों में से वर्तमान देशकाल पात्र की स्थिति में सहज समाधि सुलभ और सुख साध्य है। महात्मा कबीर ने सहज समाधि पर बड़ा बल दिया है। अपने अनुभव से उन्हें सहज समाधि को सर्व सुलभ देखकर अपने अनुयायियों को इसी साधना के लिए प्रेरित किया है।

महात्मा कबीर का वचन है-

साधो ! सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप भयो जा दिन ते सुरति न अनत चली।।
आँख न मूँदूँ कान न रूँदूँ काया कष्ट न धारूँ।
खुले नयन से हँस-हँस देखूँ सुन्दर रूप निहारूँ।।
कहूँ सोईनाम, सुनूँ सोई सुमिरन खाऊँ सोई पूजा।
गृह उद्यान एक सम लेखूँ भाव मिटाऊँ दूजा।।
जहाँ-जहाँ जाऊँ सोई परिक्रमा जो कुछ करूँ सो सेवा।
जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत पूजूँ और न देवा।।
शब्द निरन्तर मनुआ राता मलिन वासना त्यागी।
बैठत उठत कबहूँ ना विसरें, ऐसी ताड़ी लागी।।
कहैं 'कबीर' वह अन्मनि रहती सोई प्रकट कर गाई।
दुख सुख के एक परे परम सुख, तेहि सुख रहा समाई।।

उपरोक्त पद में सद्गुरु कबीर ने सहज की समाधि की स्थिति का स्पष्टीकरण किया है। यह समाधि सहज है, सर्व सुलभ है, सर्व साधारण की साधना शक्ति के भीतर है इसलिए उसे सहज समाधि का नाम दिया गया है। हठ- साधनायें कठिन हैं। उनका अभ्यास करते हुए समाधि की स्थिति तक पहुँचना असाधारण कष्ट-साध्य है। चिरकालीन तपश्चर्या षट्कर्मों की श्रम-साध्य साधना सब किसी के लिए सुलभ नहीं है। अनुभवी गुरु के सम्मुख रहकर विशेष सावधानी के साथ वे क्रियायें साधनी हैं, फिर यदि उनकी साधना खण्डित हो जाती है तो संकट भी सामने आ सकते हैं। जो योग-भ्रष्ट लोगों के समान कभी भयंकर रूप से आ खड़े होते हैं। कबीरजी सहज् योग को प्रधानता देते हैं, सहज योग का तात्पर्य है, सिद्धान्तमय जीवन कर्त्तव्यपूर्ण कार्यक्रम। क्योंकि इन्द्रिय भोगों, पाशविक वृत्तियों एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह की तुच्छ इच्छाओं से प्रेरित होकर आमतौर से लोग अपना कार्यक्रम निर्धारित करते हैं और इसी कारण भाँति-भाँति के कष्टों का अनुभव करते हैं।

सहज समाधि असंख्य प्रकार की योग-साधनाओं में से एक है। इसकी विशेषता यह है कि साधारण रीति के सांसारिक कार्य करते हुए भी साधना-क्रम चलता है। इसी बात को ही यों कहना चाहिए कि ऐसा व्यक्ति जीवन के सामान्य सांसारिक कार्य, कर्त्तव्य, यज्ञ, कर्म, ईश्वरीय आज्ञा-पालन की दृष्टि से करता है। भोजन करने में उसकी भावना रहती है कि प्रभु की एक पवित्र धरोहर शरीर को यथावत रखने के लिए भोजन किया जा रहा है। खाद्य पदार्थों का चुनाव करते समय शरीर की स्वस्थता उसका ध्येय रहती है। स्वादों के चटोरेपन के बारे में वह सोचता तक नहीं, कुटुम्ब का पालन-पोषण करते समय वह परमात्मा की एक सुरम्य वाटिका के माली की भाँति सिंचन, सम्बर्धन का ध्यान रखता है, ईश्वरप्रदत्त आवश्यकताओं की पूर्ति का एक पुनीत साधनामात्र समझता है। अमीर बनने के लिए जैसे भी बने वैसे धन-संग्रह करने की तृष्णा उसे नहीं होती हैं। बातचीत करना, फिरना, खाना-पीना, सोना-जागना, जीविकोपार्जन, प्रेम, द्वेष आदि सभी कार्यों को करने से पूर्व परमार्थ को, कर्तव्य को, प्रधानता देते हुए करने से वे समस्त साधारण काम-काज भी यज्ञ-रूप हो जाते हैं।

जब हर काम के मूल में कर्तव्य भावना की प्रधानता रहेगी तो उन कार्यों में पुण्य प्रमुख रहेगा। सद्बुद्धि से सद्भाव से किये हुए कार्यों द्वारा अपने आपको और दूसरों को सुख-शान्ति ही प्राप्त होती है। ऐसे सत्कार्य मुक्तिप्रद होते हैं, बन्धन नहीं करते। सात्विकता, सद्भावना और लोक-सेवा की पवित्र आकांक्षा के साथ जीवन-संचालन करने पर कुछ दिन में वह नीति एवं कार्य-प्रणाली पूर्णतया अभ्यस्त हो जाती है और जो चीज अभ्यास में आती है, वह प्रिय लगने लगती है, उसमें रस आने लगता है। बुरे स्वाद की, खर्चीली, प्रत्यज्ञ हानिकारक, दुष्पाच्य, नशीली चीजें, मदिरा, अफीम, तम्बाकू आदि जब कुछ दिन के बाद प्रिय लगने लगती हैं, और उन्हें बहुत कष्ट उठाते हुए भी छोड़ने नहीं बनता, जब तामसी तत्व कालान्तर के अभ्यास से इतने प्राणप्रिय हो जाते हैं, तो कोई कारण नहीं कि सात्विक तत्व उससे अधिक प्रिय न हो सकें।

सात्विक सिद्धान्त को जीवन-आधार बना लेने से उन्हीं के अनुरूप सार-विचार और कार्य करने से आत्मा को सत्-तत्व में रमण करने का अभ्यास पड़ जाता है यह अभ्यास जैसे-जैसे परिपक्व होता है, वैसे-वैसे सह

योग का रसास्वादन होने लगता है, उसमें आनन्द आने लगता है। जब अधिक दृढ़ता, श्रद्धा, विश्वास, उत्साह एवं साहस के साथ सत्परायणता में, सिद्धान्त संचालित जीवन में, संलग्न रहता है तो वह उसकी स्थायी वृत्ति बन जाती है। उसे उसी में तन्मयता रहती है, एक दिव्य आवेश सा छाया रहता है, उसकी मस्ती, प्रसन्नता, सन्तुष्टि असाधारण होती है। इस स्थिति को सहज-योग की समाधि या "सहज समाधि" कहा जाता है।

कबीर ने उसी समाधि का उपरोक्त पद में उल्लेख किया है, कहते हैं- हे साधुओं! सहज समाधि श्रेष्ठ है जिस दिन से गुरु की कृपा हुई और वह स्थिति प्राप्त हुई है, उस दिन से सूरत दूसरी जगह नहीं गई, चित्त डावाँडोल नहीं हुआ, मैं आँख मूँदकर, कान मूँदकर कोई हठयोगी की तरह काया में कष्टदायिनी साधना नहीं करता। मैं तो आँख खोले रहता हूँ और हँस-हँसकर परमात्मा की पुनीत कृति का सुन्दर रूप देखता हूँ । जो कहता हूँ सो नाम जप है, जो सुनाता हूँ सो सुमिरन है, जो खाता-पीता हूँ सो पूजा है। घर और जंगल एक -सा देखता हूँ, और अद्वैत का अभाव मिटाता हूँ, जहाँ-जहाँ जाता हूँ, सोई परिक्रमा है, जो कुछ करता हूँ, सोई-सोई सेवा है। जब सोता हूँ तो वह मेरी दण्डवत् है। मैं एक को छोड़कर अन्य देव को नहीं पूजता। मन की मलिन वासना छोड़कर निरन्तर शब्द में, अन्तःकरण की ईश्वरीय वाणी सुनने में रत रहता हूँ। ऐसी ताली लगी है, निष्ठा जमी है कि उठते-उठते वह कभी नहीं बिसरती। कबीर कहते हैं कि "मेरी यह उनमनि-हर्ष शोक से रहित स्थिति है, जिसे प्रकट करके गाया है। दुख-सुख से परे जो एक परम सुख है, मैं उसी में समाया रहता हूँ।"

यह सहज समाधि उन्हें प्राप्त होती है 'जो शब्द में रत' रहते हैं। भोग एवं तृष्णा की क्षुद्र वृत्तियों का परित्याग करके जो अन्तःकरण में प्रतिक्षिण ध्वनित होने वाले ईश्वरीय शब्दों को सुनते हैं, सत् की दिशा में चलने की ओर दैवी संकेतों को देखते हैं और उन्हीं को जीवन-नीति बनाते हैं वे 'शब्द रत' सहसज योगी उस परम आनन्द की सहज समाधि में सुख को प्राप्त होते हैं। चूँकि उनका उद्देश्य ऊँचा रहता है, दैवी प्रेरणा पर निर्भर रहता है, इसलिए उनके समस्त कार्य पुण्य रूप बन जाते हैं। जैसे खाँड़ से बने खिलौने आकृति में कैसे ही क्यों न हों, होंगे मीठे ही, इसी प्रकार सद्भावना और उद्देश्य परायणता के साथ किए हुए काम बाह्य आकृति में कैसे ही क्यों न दिखाई देते हों, होंगे वे यज्ञ रूप ही, इसी प्रकार पुण्यमय ही। सत्य परायण व्यक्तियों के सम्पूर्ण कार्य, छोटे से छोटे कार्य, जहाँ तक कि चलना, सोना, देखना तक ईश्वर-आराधना बन जाते हैं।

स्वल्प प्रयास में समाधि का शाश्वत सुख उपलब्ध करने की इच्छा रखने वाले अध्यात्म मार्ग के पथिकों को चाहिए कि वे जीव का दृष्टिकोण उच्च उद्देश्यों पर अवलम्बित करें, दैनिक कार्यक्रम का सैद्धान्तिक दृष्टि से निर्णय करें। भोग से उठकर योग में आस्था का आरोपण करें। इस दिशा में जो जितनी प्रगति करेगा, उसे उतने ही अंशों में समाधि के लोकोत्तर सुख का रसास्वादन होता चलेगा।

आनन्दमय कोश की साधना में आनन्द का रसास्वादन होता है। इस प्रकार की आनन्दमयी साधनाओं में से कुछ प्रमुख साधनाऐं नीचे दी जाती हैं। सहज समाधि की भाँति यह कुछ महासाधनाऐं भी बड़ी महत्वपूर्ण हैं, साथ ही उनकी सुगमता भी असंदिग्ध है।

आनन्दमय कोश का अनावरण

आनन्दमय कोश के अनावरण में प्रेम और तन्मयता की वृद्धि करनी पड़ती है। एकाग्रता की साधना से बिखरी हुई शक्ति एकत्रित होती है और उसका चमत्कारी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार प्रेम' आत्मा की दिव्य अवभूति होने के कारण आनन्द की उत्पत्ति का अमोध साधन सिद्ध होता है। जिस हृदय में प्रेम की धारा बहेगी, वह अमृत के सरोवर में स्नान करने जैसा उल्लास हर घड़ी अनुभव करेगा। प्रेम जिससे होता है, वह जड़ पदार्थ भी आनन्दायक लगता है। जिस मनुष्य से प्रेम हो जाता है, वह अनुपयुक्त और गुणहीन होने पर भी प्राणप्रिय लगता है । ईश्वर की प्राप्ति का उपाय तो प्रेम ही है। भगवान भक्ति के वश में रहते हैं। जहाँ भक्ति-भावना की आवश्यक मात्रा मौजूद है, वहाँ भगवान दौड़े चले आते हैं। प्रेम से अधिक प्रिय भगवान को और कुछ नहीं। हम प्रेमी बन कर ही भगवान को प्राप्त कर सकते हैं।

संसार में आनन्द का जीवन व्यतीत करने के लिए, सर्वत्र सुख-शान्ति का वातावरण बनाये रहने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य का अन्तःकरण प्रेम भावनाओं से भरा रहे। परमात्मा की प्रतिमूर्ति प्राणी मात्र को समझने की मान्यता यदि अपने भीतर जम जाय तो

फिर किसी के साथ दुर्व्यवहार कर सकना संभव नहीं हो सकेगा। अपनी ओर से सद्भावना रहेगी और उसकी प्रतिक्रिया भी प्रेमपूर्ण ही होगी। और फिर आनन्द का स्वर्गिक वातावरण ही चारों ओर बिखरा रहने लगेगा।

लोक-व्यवहार में प्राणी मात्र के साथ प्रेम एवं आत्मीयता भरा व्यवहार और साधना-विधान में परमात्मा के साथ अनन्य प्रेम-भावना के साथ तन्मयता, यही आनन्दमय कोश के अनावरण की साधना का विधान है। व्यावहारिक जीवन में अपने परिवार तथा समाज के साथ प्रेम, उदारता, सेवा-मधुरता और आत्मीयता का व्यवहार करना दैनिक कार्यक्रम का अंश बना लेना चाहिए और साधना में बहते हुए इस प्रकार ध्यान किया जाय कि परमात्मा के साथ एकाग्रता और तन्मयतापूर्वक प्रेम-विभोर समीपता का अनुभव होता रहे। आनन्दमय कोश का अनावरण इसी विधान को अपनाने से होता है ।

आनन्दमय कोश की साधना में साधकों को सर्व-प्रथम गायत्री जप करते हुए अपने को एक वर्ष के बालक के रूप में निर्मल, निष्काम मानना चाहिए, और गायत्री माता को अपनी सगी जननी मानकर उसके साथ क्रीड़ा-विनोद करते हुए पयपान एवं स्नेहपान की ध्यान-धारणा करते रहना चाहिए।

इस ध्यान के साथ जप में मन भी लगता है और आनन्द में वृद्धि होती है। मन प्रेम का गुलाम है। जो भी वस्तु प्यारी लगती है, मन भाग-भाग कर वहीं जाता है। सूखे नीरस, व्यर्थ और उपेक्षणीय समझे जाने वाले कार्य में ही मन नहीं लगता है। यदि गायत्री माता के प्रति सचमुच ही अपनी आत्मीयता, एवं भक्ति भावना हो तो उसके चरण छोड़कर मन अन्यत्र जाना ही न चाहेगा। जप के साथ, प्रेम-भावना के साथ एकाग्रतापूर्वक माता का ध्यान करने से साधक का चित्त स्थिर रहने लगता है, और साधना में आत्म-विभोर कर देने वाला रस मिलने लगता है।

साधना के द्वितीय चरण में 'सूर्य प्रकाश के मध्य में गायत्री माता के सुन्दर मुख मण्डल मात्र का ध्यान करना चाहिए और उनके दाहिने नेत्र की पुतली में जो काला बिन्दु होता है, उस पर मन को एकाग्र करना चाहिए। यह तिल आरम्भ में काला ही दृष्टिगोचर होगा, पीछे वह श्वेत प्रकाश के रूप में बढ़ने और बिखरने लगेगा, ऐसा अनुभव होने लगेगा कि दाहिने नेत्र की पुतली में भरा हुआ प्रकाश सुविस्तृत होकर अपने चारों ओर ज्योतिर्मय आभा उत्पन्न कर रहा है और उस प्रकाश से स्फुल्लिंग छिटक-छिटक पर अपने अन्तःकरण में प्रवेश कर रहे हैं।"

जप के साथ इस प्रकार की भावनाऐं करते रहने से चित्त में निरन्तर उल्लास उमड़ता रहता है और साधना बहुत ही सरल बन जाती है। प्रथम और द्वितीय चरण की यह दोनों ही साधनाऐं अभ्यास में लाने योग्य हैं। जिसने भी इन विधियों को अपनाते हुए ध्यान भावनाओं के साथ साधना की है, उसने बहुत कुछ पाया है, पर जिसने उपेक्षा की है, किसी तरह केवल चिन्ह पूजा की तरह माला ही फेरते रहे हैं, उन्हें न तो मन की चञ्चलता से छुटकारा मिला है, न एकाग्रता ही प्राप्त हुई है और न वह रस ही अनुभव हुआ है, जो आनन्दमय कोश के विकास होने पर स्वयमेव उपलब्ध होने लगता है। इसलिए उपरोक्त दोनों ही ध्यानों का अभ्यास करना अनिवार्य है।

तीसरे चरण में पंचकोशी गायत्री साधनों के साधकों को अन्तःत्राटक द्वारा ज्योति पुंज का ध्यान करते हुए उसमें लय होने का अभ्यास करना चाहिए। इसका विधान इस प्रकार है।

इस साधना के लिए रात्रि का वह समय नियत कीजिए, जब आपके घर में शान्ति रहती हो। एकान्त स्थान ही इसके लिए उपयुक्त है। घर छोटा हो और वैसी सुविधा न मिले तो बाहर में ऐसा स्थान तलाश किया जा सकता है। पालथी मारकर सीधे बैठिये। कमर झुकी न रहे। दोनों हाथ गोदी में रख लेने चाहिए। अपने शरीर से तीन फुट आगे, तेल के कनस्टर जितनी कोई ऊँची वस्तु रख लीजिए और उस पर घी का दीपक जलाकर रखिए। प्रयत्न करना चाहिए कि दीपक रखने की वस्तु काले रंग से रंगी हो, ताकि दृष्टि इधर-उधर न जावे और प्रकाश अधिक स्पष्ट दृष्टिगोचर हो।

लगभग १० सैकिण्ड खुली आँख से दीपक की लौ को देखिए और फिर बीस सैकिण्ड के लिए आँखें बन्द कर लीजिए। बन्द नेत्रों से उस दीपक के प्रकाश का ध्यान कीजिए। फिर नेत्र खोलिए दस सैकिण्ड लौ को फिर देखिए और नेत्र बन्द करके बीस सैकिण्ड फिर उस लौ का ध्यान कीजिए। इस प्रकार दीपक के माध्यम से प्रकश का ध्यान करने का अभ्यास दो-तीन महीने में परिपक्व हो जाता है, फिर दीपक की जरूरत नहीं रहती । ध्यान पर बैठते ही प्रकाश की सामने उपस्थिति अनुभव होने

लगती है। दस और बीस सैकिण्ड की बात दस-पाँच दिन घड़ी का सहारा लेने से अभ्यास में आ जाती है। फिर घड़ी की जरूरत नहीं रहती। अन्दाज से ही सब क्रम चलने लगता है। इसमें समय न्यूनाधिक हो जाय, तो भी कुछ हर्जा नहीं है।

जब नेत्र बन्द करने पर प्रकाश ठीक तरह सामने दृष्टि गोचर होने लगे, तो धारणा करनी चाहिए कि यह प्रकाश परब्रह्म परमात्मा का, गायत्री माता का प्रतीक है। उसमें अपनी आत्मा को मिलाना एवं लय करना है। भावना कीजिए कि आपकी जीवात्मा आपके हृदय-स्थल में से पतंगे की तरह बाहर निकलती हैं और उस प्रकाश पर अपना आत्म समर्पण कर देती है। उसका सारा कलेवर जलकर नष्ट हो जाता है और आत्मा की ज्योति परमात्मा-स्वरूप उस महा प्रकाश में लय हो जाती है। दूसरा ध्यान यह भी हो सकता है "कि ध्यान में प्रस्तुत प्रकाश यज्ञ की ज्वलन्त अग्नि के रूप के सामने विद्यमान हैं और हमारा जीवात्मा घृत के रूप में आहुति प्रदान कर रहा है। अग्नि में पड़ने के बाद घृत का अपना स्वरूप और अस्तित्व समाप्त हो जाता है और उसकी परिणति ज्योति का स्वरूप बढ़ने के रूप में ही दिखाई देती है। हमने अपनी आत्मा उस प्रकाश में होम दिया, तो अपना आपा समाप्त हुआ और वह उस पूर्व प्रकाश में लय होकर ब्रह्म-भाव में बदल गया।"

यह ध्यान पन्द्रह मिनट से बढ़ाते हुए आधा घण्टे तक पहुँचा देना चाहिए। अन्य अवकाश के समयों में भी प्रकाश, ज्योति और उसके साथ आत्म आहुति का ध्यान करते रहना चाहिए। आनन्दमय कोश के अनावरण में इस ध्यान से आशाजनक सहायता मिलेगी।

उपासना के तीन प्रकार हैं- १-त्रैत २-द्वैत ३-अद्वैत। त्रैत पूजा वह कहलाती है, जिसमें उपासक, उपास्य और उपकरण की तीनों आवश्यकताऐं रहती हैं। मूर्ति-पूजा, देव-पूजा जो वस्तुओं और उपकरणों के माध्यम से की जाती है, त्रैत है। धूप, दीप, नैवेद्य, अक्षत, चन्दन, रोली, जल, शंख, घड़ियाल, आरती आदि पूजा उपकरण प्रकृति के प्रतीक हैं। उपासक जीव-इनमें से अलग हैं। ब्रह्म तो अलग था ही, उसी को प्राप्त करने के लिए जो उपासना का विधान एकत्रित किया था, यह त्रैत साधना हुई।

द्वैत साधना में पूजा उपकरणों की आवश्यकता नहीं रहती। जीव और ब्रह्म दोनों का ध्यान द्वारा सन्निध्य-समागम होता रहता है। किसी पूजा उपकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। गायत्री माता की प्रतिमा का पूजन साधना की प्रारम्भिक अवस्था है। चित्र या मूर्ति का षोडशोपचार पूजा सामिग्री से पूजन करना, माला, हवन, ब्रह्मभोज, तर्पण, मार्जन आदि कर्मकाण्ड गायत्री की त्रैत साधना के अन्तर्गत आते हैं। संसार भर में केवल गायत्री माता की ही स्थिति अनुभव करना और उसकी गोदी में छोटे बालक की तरह क्रीड़ा-विनोद करना द्वैत-साधना कहलायेगी। जीव और ब्रह्म की स्थिति, प्रकृति की समाप्ति को ही द्वैत कहते हैं। अब द्वैत को हटाकर अद्वैत साधना में प्रवेश किया जाता है, परब्रह्म परमात्मा का प्रकाश रूप में ध्यान करते हुए आत्म-समर्पण करना, 'अहम्' को उसी में लीन कर देना, दोनों को मिटाते हुए एक की स्थिति शेष रहने देना अद्वैत उपासना है।

अब चौथे चरण में विश्वात्म-दर्शन का अभ्यास हमें आनंदमय कोश के अनावरण के लिए करना चाहिए। अर्जुन को कृष्ण ने गीता सुनाते समय अपना विराट् स्वरूप दिखाया था। यशोदा द्वारा माटी खाते हुए धमकाये जाने पर भी भगवान ने अपना वही रूप उन्हें दर्शाया, कौशिल्या ने राम को पालने में खिलाते हुए भी वही रूप देखा था और काकभुशुण्डिजी ने भगवान राम के मुख में प्रवेश करके भी उसी स्वरूप की झाँकी की थी। यह विश्व ब्रह्माण्ड ही परमात्मा का स्वरूप है। संसार के कण-कण में, प्रत्येक जीव में भगवान की झाँकी करना और तदनुरूप प्रत्येक के साथ सद्-व्यवहार करना विश्वात्मा की सच्ची आराधना है। अपने में सबकी और सब में अपने को समाया हुआ दीखने का अभ्यास करना चाहिए।

प्राथमिक अवस्था में प्रतिमाओं के आधार पर भगवान की स्थापना की जाती है और चंदन,अक्षत, धूप-दीप से उसक पूजन होता है। पीछे ऊँची स्थिति में पहुँचने पर इस विराट् विश्व को ही परमात्मा का साक्षात् स्वरूप मानना पड़ता है और उसके चरणों पर अपने शरीर, मन, वचन, कर्म और धन को समर्पित करना पड़ता है। भगवान पत्र-पुष्पों के बदले नहीं, भावनाओं के बदले प्राप्त किये जाते हैं। और वे भावनाऐं, आवेश उन्माद या कल्पना जैसी नहीं वरन् सच्चाई की कसौटी पर खरी उतरने वाली होनी चाहिए। उनकी सच्चाई परीक्षा मनुष्य के त्याग, बलिदान, संयम, सदाचार एवं व्यवहार से होती है। भक्ति भावना को इसी कसौटी पर परखा जाता है और यदि वह खरी होती है, तो उसके

बदले में आनन्दमय परमात्मा अवश्य मिलता है। सच्चिदानन्द की प्राप्ति निश्चित रूप से होती है।

गायत्री की पंचकोशी साधना में पाँचवा कोश आनंदमय कोश है। उसके अनावरण से वह सच्चिदानन्द स्थिति प्राप्त होती है, जिसे आत्मज्ञान की मस्ती कहते हैं। वास्तविक आनन्द यही है। अपने आप की पवित्रता और महानता का अनुभव करते हुए शान्ति सन्तोष उल्लास और आनन्द में निमग्न रहने की स्थिति ही जीवनमुक्ति कहलाती है। उस अवस्था को प्राप्त करने के पश्चात् और कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता।

नाद साधना

'शब्द' को ब्रह्म कहा है क्योंकि ईश्वर और जीव को एक शृंखला में बाँधने का काम शब्द के द्वारा ही होता है। सृष्टि की उत्पत्ति का प्रारम्भ भी शब्द से हुआ है। पंच तत्वों में सबसे पहले आकाश बना, आकाश की तन्मात्रा शब्द है। अन्य समस्त पदार्थों की भाँति शब्द भी दो प्रकार का है, सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म शब्द को विचार कहते हैं और स्थूल शब्द को नाद।

ब्रह्म लोक से हमारे लिए ईश्वरीय शब्द प्रवाह सदैव प्रवाहित होता है। ईश्वर हमारे साथ वार्तालाप करना चाहता है, पर हममें से बहुत कम लोग ऐसे हैं, जो उसे सुनना चाहते हैं या सुनने की इच्छा करते हैं, ईश्वरीय शब्द निरन्तर एक ऐसी विचारधारा प्रेरित करते हैं जो हमारे लिए अतीव कल्याणकारी होती हैं, उसको यदि सुना और समझा जा सके तथा उसके अनुसार मार्ग निर्धारित किया जा सके तो निस्सन्देह जीवनोद्देश्य की ओर द्रुत गति से अग्रसर हुआ जा सकता है। यह विचारधारा हमारी आत्मा से टकराती है।

हमारा अन्त:करण एक रेडियो है, जिसकी ओर यदि अभिमुख हुआ जाय, अपनी-वृत्तियों को अन्तर्मुख बनाकर आत्मा में प्रस्फुटित होने वाली दिव्य विचार-लहरियों को सुना जाय, तो ईश्वरीय वाणी हमें प्रत्यक्ष में सुनाई पड़ सकती हैं, इसी को आकाशवाणी कहते हैं। हमें क्या करना चाहिए, क्या नहीं? हमारे लिए क्या उचित है, क्या अनुचित? इसका प्रत्यक्ष सन्देश ईश्वर की ओर से प्राप्त होता है। अन्त:करण की पुकार, आत्मा का आदेश, ईश्वरीय सन्देश, आकाशवाणी विज्ञान आदि नामों से इसी विचारधारा को पुकारते हैं। अपनी आत्मा के यन्त्र को स्वच्छ करके जो इस दिव्य सन्देश को सुनने में सफलता प्राप्त कर लेते हैं, वे आत्मदर्शी एवं ईश्वर-परायण कहलाते हैं।

ईश्वर उनके लिए बिलकुल समीप होता है, जो ईश्वर की बातें सुनते हैं और अपनी उससे कहते हैं। इस दिव्य मिलन के लिए हाड़-माँस के स्थूल नेत्र या कानों का उपयोग करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। आत्मा की समीपता में बैठा हुआ अन्त:करण अपनी दिव्य इन्द्रियों की सहायता से इस कार्य को आसानी से पूरा कर लेता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म ब्रह्म शब्द, विचार तब तक धुँधले रूप में दिखाई पड़ता है, जब तक कषायकल्मष आत्मा में बने रहते हैं। जितनी आन्तरिक पवित्रता बढ़ती जाती है, उतने ही दिव्य सन्देश बिलकुल स्पष्ट रूप से सामने आते हैं। आरम्भ में अपने लिए कर्तव्य का बोध होता है, पाप-पुण्य का संकेत होता है, बुरा कर्म करते समय अन्तर में भय, घृणा, लज्जा, संकोच आदि का होना तथा उत्तम कार्य करते समय आत्म:सन्तोष, प्रसन्नता, उत्साह होना इसी स्थिति का बोधक है।

यह दिव्य सन्देश आगे चलकर भूत, भविष्य, वर्तमान की सभी घटनाओं को प्रकट करता है। किसके लिए क्या मन्तव्य बन रहा है और भविष्य में किसके लिए क्या घटना घटित होने वाली है ? यह सब कुछ उससे प्रकट हो जाता है और ऊँची स्थिति पर पहुँचने पर उसके लिए सृष्टि के सब रहस्य खुल जाते हैं, कोई ऐसी बात नहीं है, जो उससे छिपी हो, परन्तु जैसे ही इतना बड़ा ज्ञान उसे मिलता है, वैसे ही वह उसका उपयोग करने में अत्यन्त सावधान हो जाता है। बाल-बुद्धि के लोगों के हाथों में यह दिव्य ज्ञान पड़ जाय, तो वे उसे बाजीगरी के खिलवाड़ करने में ही नष्ट कर दें, पर अधिकारी पुरुष अपनी इस शक्ति का किसी को परिचय तक नहीं होने देते और उसे भौतिक बखेड़ों से पूर्णतया बचाकर अपनी तथा दूसरों की आत्मोन्नति में लगाते हैं।

शब्द-ब्रह्म का दूसरा रूप जो विचार सन्देश की अपेक्षा कुछ सूक्ष्म है, वह नाद है। प्रकृति के अन्तराल में एक ध्वनि प्रतिक्षण उठती रहती है, जिसकी प्रेरणा से आघातों द्वारा परमाणुओं में गति उत्पन्न हुई है और सृष्टि का समस्त क्रिया-कलाप चलता है। यह प्रारम्भिक शब्द 'ॐ' है, यह 'ॐ' ध्वनि जैसे-जैसे अन्य तत्वों के क्षेत्र में होकर गुजरती है, वैसे ही वैसे उसकी ध्वनि में अन्तर आता है। बंशी के छिद्रों में हवा फेंकते हैं, तो उसमें एक ध्वनि उत्पन्न होती है। पर आगे के छिद्रों में से जिस

छिद्र से जितनी हवा निकाली जाती है, उसी के अनुसार भिन्न-भिन्न स्वरों की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार ॐ ध्वनि भी विभिन्न तत्वों के सम्पर्क में आकर विविध प्रकार की स्वर लहरियों में परिणत हो जाती हैं। इन स्वर लहरियों का सुनना ही नाद योग है।

पञ्च-तत्वों की प्रतिध्वनित हुई ॐकार की, स्वर लहरियों को सुनने की, नाद-योग साधना कई दृष्टियों से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। प्रथम तो इस दिव्य संगीत के सुनने में इतना आनन्द आता है, जितना किसी मधुर से मधुर वाद्य या गायन सुनने में नहीं आता। दूसरे इस नाद श्रवण से मानसिक तन्तुओं का प्रस्फुटन होता है। सर्प जब संगीत सुनता है, तो उसकी नाड़ी में एक विद्युत लहर प्रवाहित हो उठती है, मृग का मस्तिष्क मधुर संगीत सुनकर इतना उत्साहित हो जाता है कि उसे तन बदन का होश नहीं रहता। योरोप में गायें दुहते समय मधुर बाजे बजाये जाते हैं, जिससे उनका स्नायु समूह उत्तेजित होकर अधिक मात्रा में दूध उत्पन्न करता है। नाद का दिव्य संगीत सुनकर मानव-मस्तिष्क में भी ऐसी स्फुरणा होती है, जिसके कारण अनेक गुप्त मानसिक शक्तियाँ विकसित होती हैं, इस प्रकार भौतिक और आत्मिक दोनों ही दिशाओं में गति होती है।

तीसरा लाभ एकाग्रता है। एक वस्तु पर, नाद पर ध्यान एकाग्र होने से मन की बिखरी हुई शक्तियाँ एकत्रित होती हैं और इस प्रकार मन को वश में करने तथा निश्चित कार्य पर उसे पूरी तरह लगा देने की साधना सफल हो जाती है। यह सफलता कितनी शानदार है, इसे प्रत्येक अध्यात्म मार्ग का जिज्ञासु भली प्रकार जानता है। आतिशी काँच द्वारा एक दो इन्च जगह की सूर्य-किरणें एक बिन्दु पर एकत्रित कर देने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है। मानव-प्राणी अपने सुविस्तृत शरीर में बिखरी हुई अनन्त दिव्य शक्तियों का एकीकरण कर ऐसी महान् शक्ति उत्पन्न कर सकता है, जिसके द्वारा इस संसार को हिलाया जा सकता है और अपने लिए आकाश में मार्ग बनाया जा सकता है।

नाद की स्वर लहरियों को पकड़ते-पकड़ते साधक ऊँची रस्सी को पकड़ता हुआ उस उद्गम ब्रह्म तक पहुँच जाता है, जो आत्मा का अभीष्ट स्थान है। ब्रह्मलोक की प्राप्ति, दूसरे शब्दों में मुक्ति, निर्वाण परमपद आदि नामों से पुकारी जाती है। नाद के आधार पर मनोलय करता हुआ साधक योग की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचता है, और अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। नाद का अभ्यास किस प्रकार करना चाहिए, अब इस पर कुछ प्रकाश डालते हैं-

अभ्यास के लिए ऐसा स्थान प्राप्त कीजिए, जो एकान्त हो और जहाँ बाहर की अधिक आवाज न आती हो। तीक्ष्ण प्रकाश इस अभ्यास में बाधक है। इसलिए कोई अँधेरी कोठरी ढूँढ़नी चाहिए। एक पहर रात हो जाने के बाद से लेकर सूर्योदय से पूर्व तक का समय इसके लिए बहुत ही अच्छा है। यदि इस समय की व्यवस्था न हो सके तो प्रात:९बजे से और शाम को दिन छिपे बाद का कोई समय नियत किया जा सकता है। नितय-नियमित समय पर अभ्यास करना चाहिए, अपने नियत कमरे में एक आसन या आराम कुर्सी बिछाकर बैठो, आसन पर बैठो तो पीठ पीछे कोई मसन्द या कपड़े की गठरी आदि रख लो, यह भी न हो तो अपना आसन एक कोने में लगाओ। जिस प्रकार शरीर को आराम मिले, उस तरह बैठ जाओ और अपने शरीर को ढीला छोड़ने का प्रयत्न करो।

भावना करो कि मेरा शरीर रुई का ढेर मात्र है और मैं इस समय इसे पूरी तरह स्वतन्त्र छोड़ रहा हूँ। थोड़ी देर में शरीर बिलकुल ढीला हो जायेगा और अपना भार अपने आप न सहकर इधर-उधर को ढुलने लगेगा। आराम कुर्सी, मसन्द या दीवार का सहारा ले लेने से शरीर ठीक प्रकार अपने स्थान पर बना रहेगा। साफ रुई की मुलायम सी दो डाटें बनाकर उन्हें कानों में लगाओ कि बाहर की कोई आवाज भीतर प्रवेश न कर सके। उँगलियों से कान के छेद बन्द करके भी काम चल सकता है। अब बाहर की कोई आवाज तुम्हें सुनाई न पड़ेगी, यदि पड़े भी तो उस ओर से ध्यान हटाकर अपने मूर्धा-स्थान पर ले जाओ और वहाँ जो शब्द हो रहे हैं, उन्हें ध्यानपूर्वक सुनने का प्रयत्न करो।

आरम्भ में शायद कुछ भी सुनाई न पड़े, पर दो-चार दिन प्रयत्न करने के बाद जैसे-जैसे सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय निर्मल होती जायेगी, वैसे ही वैसे शब्दों की स्पष्टता बढ़ती जायेगी। पहले-पहिले कई शब्द सुनाई देते हैं शरीर में जो रक्त प्रवाह हो रहा है, उसकी आवाज रेल की तरह धक्-धक्, धक्-धक् सुनाई पड़ती है। वायु के आने जाने की आवाज बादल गरजने जैसी होती है, रसों के पकने और उनके आगे की ओर गति करने की आवाज

चटकने की सी होती है। यह तीन प्रकार के शब्द शरीर की क्रियाओं द्वारा उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार दो प्रकार के शब्द मानसिक क्रियाओं के हैं। मन में चञ्चलता की लहरें उठती हैं वे मानस-तन्तुओं पर टकरोकर ऐसे शब्द करती हैं, मानों टीन के ऊपर मेह बरस रहा हो और जब मस्तिष्क वाह्य ज्ञान को ग्रहण करके अपने में धारण करता है, तो ऐसा मालूम होता है मानो कोई प्राणी साँस ले रहा हो। यह पाँचों शब्द शरीर और मन के हैं। कुछ ही दिन के अभ्यास से साधारणत: दो तीन सप्ताह के प्रयत्न से यह शब्द स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ते हैं। इन शब्दों के सुनने से सूक्ष्म इन्द्रियाँ निर्मल होती जाती हैं और गुप्त शक्तियों को ग्रहण करने की उनकी योग्यता बढ़ती जाती है।

जब नाद श्रवण करने की योग्यता बढ़ जाती है, तो बंशी या सीटी से मिलती-जुलती अनेक प्रकार की शब्दावलियाँ सुनाई पड़ती हैं यह सूक्ष्म लोक में होने वाली क्रियाओं का परिचायक है। बहुत दिनों से बिछुड़े हुए बच्चे को यदि उसकी माता की गोद में पहुँचाया जाता है, तो वह आनन्द से विभोर हो जाता है ऐसा ही आनन्द सुनने वाले को आता है।

जिन सूक्ष्म शब्द ध्वनियों को आज वह सुन रहा है, वास्तव में यह उसी तत्व के निकट से आ रही है, जहाँ से कि आत्मा और परमात्मा का विलगाव हुआ है और जहाँ पहुँच कर दोनों फिर एक हो सकते हैं। धीरे-धीरे यह शब्द स्पष्ट होने लगते हैं और अभ्यासी को उनके सुनने में अद्भुत आनन्द आने लगता है। कभी-कभी तो वह उन शब्दों में मस्त होकर आनन्द से विह्वल हो जाता है और अपने तन-मन की सुध भूल जाता है। अन्तिम शब्द ॐ है, यह बहुत ही सूक्ष्म है। इसकी ध्वनि घण्टा ध्वनि के समान रहती है। घड़ियाल में हथौड़ी मार देने पर जैसे वह कुछ देर तक झनझनाती रहती है, उसी प्रकार ॐ का घण्टा शब्द सुनाई पड़ता है।

ॐकार ध्वनि जब सुनाई पड़ने लगती है, तो निद्रा तन्द्रा या बेहोशी जैसी दशा उत्पन्न होने लगती है। साधक तन-मन की सुध भूल जाता है और समाधि सुख का, तृतीय अवस्था का आनन्द लेने लगता है। उसी स्थिति के ऊपर बढ़ने वाली आत्मा, परमात्मा में प्रवेश करती जाती है और अन्तत: पूर्णतया परमात्मा अवस्था प्राप्त कर लेती है।

अनहद नाद का शुरू रूप है अनाहत नाद। 'आहत' नाद वे होते हैं, जो किसी प्रेरणा या आघात से उत्पन्न होते हैं। वाणी के आकाश तत्व से टकराने अथवा किन्हीं दो वस्तुओं के टकराने वाले शब्द 'आहत' कहे जाते हैं, बिना किसी आघात के दिव्य प्रकृति के अन्तराल से जो ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें "अनाहत या अनहद" कहते हैं। वे अनाहत या अनहद शब्द प्रमुखत: दस होते हैं, जिनके नाम १- संहारक, २-पालक, ३-सृजक, ४-सहस्रदल, ५-आनन्द मण्डल, ६-चिदानन्द, ७-सच्चिदानन्द, ८-अखण्ड, ९-अगम, १०-अलख हैं। इनकी ध्वनियाँ क्रमश: पायजेब की झंकार की-सी सागर की लहर की, नफीरी की, बुलबुल की-सी होती हैं।

जैसे अनेक रेडियो स्टेशनों से एक ही समय में अनेक प्रोग्राम ब्राडकास्ट होते रहते हैं, वैसे ही अनेक प्रकार के अनाहत शब्द भी प्रस्फुटित होते रहते हैं, उनके कारण, उपयोग और रहस्य अमुक प्रकार के हैं। चौंसठ अनाहत अब तक गिने गये हैं, पर उन्हें सुनना हर किसी के लिए सम्भव नहीं। जिसकी आत्मिक शक्ति जितनी ऊँची होगी, वे उतने ही सूक्ष्म शब्दों को सुनेगें, पर उपरोक्त दस शब्द सामान्य आत्मबल वाले भी आसानी से सुन सकते हैं।

यह अनहद सूक्ष्म लोगों की दिव्य भावना है। सूक्ष्म जगत में किसी स्थान पर क्या हो रहा है, किसी प्रायोजन के लिए, कहाँ क्या आयोजन हो रहा है, इस प्रकार के गुप्त रहस्य इन शब्दों द्वारा जाने जा सकते हैं, कौन साधक किस ध्वनि को अधिक स्पष्ट और किस ध्वनि को मन्द सुनेगा यह उसकी अपनी मनोभूमि की विशेषता पर निर्भर है।

अनहद नाद एक बिना तार की दैवी सन्देश प्रणाली है। साधक इसे जानकर सब कुछ जान सकता है।

नाद साधना का क्रमिक अभ्यास

नादयोग की साधना के दो रूप हैं। एक तो अन्तरिक्ष-सूक्ष्म जगत से आने वाली दिव्य ध्वनियों का श्रवण, दूसरा अपने अन्तरंग के शब्द ब्रह्म का जागरण और उसका अभीष्ट क्षेत्र में अभीष्ट उद्देश्य के लिए परिप्रेषण, यह शब्द उत्थान एवं परिप्रेषण ओउम्कार साधना के माध्यम से ही बन पड़ता है।

साधारण रेडियो यन्त्र-मात्र ग्रहण करते हैं, वे मूल्य की दृष्टि से सस्ते और संरचना की दृष्टि से सरल भी होते हैं, किन्तु परिप्रेषण यन्त्र, ब्राडकास्ट, ट्रांसमीटर

मँहगे भी होते हैं और उनकी संचरना भी जटिल होती है। उनके प्रयोग करने की जानकारी भी श्रम साध्य होती है।

जबकि साधारण रेडियो का बजाना बच्चे भी जानते हैं। रेडियो की संचार प्रणाली तभी पूर्ण होती है, जब दोनों पक्षों का सुयोग बन जाये। यदि ब्राडकास्ट की व्यवस्था न हो तो सुनने का साधन कहाँ से बन पड़ेगा ? जिस क्षेत्र में रेडियो का लाभ जाना है, वहाँ आवाज को ग्रहण करने की ही नहीं, आवाज को पहुँचाने की व्यवस्था होनी चाहिए।

नादयोग की पूर्णता दोनों ही प्रयोग प्रयोजनों से सम्बद्ध है। कानों के छिद्र बन्द करके दिव्यलोक से आने वाले ध्वनि-प्रवाहों को सुनने के साथ-साथ यह साधन भी रहना चाहिए कि साधक अपने अन्त:क्षेत्र से शब्द शक्ति का उत्थान कर सके। इसी अभ्यास के सहारे अन्यान्य मन्त्रों की शक्ति सुदूर क्षेत्रों तक पहुँचाई जा सकती है। वातावरण को प्रभावित करने, परिस्थितियाँ बदलने एवं व्यक्तियों को सहायता पहुँचाने के लिए मन्त्र शक्ति का प्रयोग परावाणी से होता है। चमड़े की जीभ से निकलने वाली बेखरी ध्वनि तो जानकारियों का आदान-प्रदान भर कर सकती है। मन्त्र की क्षमता तो परा और पश्यन्ति वाणियों के सहारे प्रचण्ड बनती और लक्ष्य तक पहुँचती हैं। परावाक् का जागरण ओ३म्कार साधना से सम्भव होता है। कुण्डलिनी अग्नि के प्रज्ज्वलन में भी ओ३म्कार को ईंधन की तरह प्रयुक्त किया जाता है-

अन्तरंगसमुद्रस्य रोधे वेलायतेऽपि च ।
ब्रह्मप्रणवसंलग्ननादी ज्योतिर्मयात्मक: ।।
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णो: परमं पदम् ।।

-नादविन्दूपनिषद् ४६-४७

नाद के प्रणव में संलग्न होने पर वह ज्योतिर्मय हो जाता है, उस स्थिति में मन का लय हो जाता है। उसी को श्री भगवान विष्णु का परमपद कहा जाता है

योग साधना में चित्तवृत्तियों का निरोध और प्राण शक्ति की प्रखरता, ये दो ही तत्व प्रधान हैं। इन दोनों ही प्रयोजनों के लिए ओ३म्कार की शब्द साधना से अभीष्ट उद्देश्य सरलतापूर्वक सिद्ध होता है-

ओंकारोच्चारण सान्तशब्दतत्वानु भावनात् ।
सुषुप्ते संविदो जाते प्राणस्पन्दो निरुध्यते ।।

-योगवाशिष्ठ

ऊँचे स्वर से ओ३म्कार का जप करने पर शान्त में जो शेष तुर्यमात्रा रूप शब्द, शब्द तत्व की अनुभूति होती है, उनके अनुसंधान से बाह्य चित्तवृत्तियों का जब बिलकुल उपराम हो जाता है, तब प्राणवायु का निरोध हो जाता है।

नादयोग की साधना में प्रगति पथ पर दोनों ही चरण उठने चाहिए, यहाँ नाद श्रवण के साथ-साथ नाद उत्थान को भी साधना क्रम में सम्मिलित रखना चाहिए। कुण्डलिनी जागरण साधना में नाद श्रवण में ओ३म्कार की ध्वनि पकड़ने तक पहुँचना पड़ता है। अन्य शब्द तो मार्ग के मील पत्थर मात्र हैं। अनाहत ध्वनि को 'सुरति' तुर्यावस्था समाधि आदि को पूर्णता-बोधक आस्थाओं के समतुल्य माना गया है और अनाहत ध्वनि 'ओ३म्कार' की श्रवण अनुभूति ही है। ओ३म्कार ध्वनि का नादयोग में इसीलिए उच्च स्थान है।

नव शब्द परित्यज्य ओ३म्कारन्तु समाश्रयेत् ।
सर्वे तत्र लयं यान्ति ब्रह्मप्रणवनादके ।।

-महायोग विज्ञान

नौ शब्द नादों की उपेक्षा करके ओ३म्कार नाद का आश्रय लेना चाहिए, समस्त नाद प्रणव में लीन होते हैं। ओ३म्कार की ध्वनि का, नाद का आश्रय लेने वाला साधक सत्यलोक को प्राप्त करता है।

शब्द ब्रह्म के, ओ३म्कार के उत्थान की साधना में हृदय आकाश से ओ३म्कार ध्वनि का उद्भव करना होता है। जिहवा से मुख ओ३म्कार के उच्चारण का आरम्भिक अभ्यास किया जाता है। पीछे उस उद्भव में परा और पश्यन्ति वाणियाँ ही प्रयुक्त होती हैं और ध्वनि से हृदयाकाश को गुञ्जित किया जाता है।

हृद्यविच्छिन्नमोंकारं घण्टानादं बिसोर्णवत् ।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुन: संवेशयेत् स्वरम् ।।
ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मन: ।
संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्यानक्रियाभ्रम: ।।

-भागवत ११।१४।३४,४६

हृदय में घण्टा की तरह ओंकार का अविच्छिन्न पद्म नालवत् अखण्ड उच्चारण करना चाहिए। प्राणवायु के सहयोग से पुन:-पुन: 'ओ३म्' का जप करके बारम्बार हृदय में गिराना चाहिए। इस तीव्र ध्यान विधि से योगाभ्यास करने वाले का मन शीघ्र ही शान्त हो जाता है और सारे सांसारिक भ्रमों का निवारण हो जाता है।

नादारंभे भवेत्सर्वगात्राणां भंजनं तत: ।
शिरस: कंपनं पश्चात् सर्वदेहस्य कंपनम् ।।

-योग रसायनम् २५४

नाद के अभ्यास के दृढ़ होने पर आरम्भ में पूरे शरीर में हलचल-सी मचती है, फिर सिर में कम्पन होता है, इसके पश्चात् सम्पूर्ण देह में कम्पन होता है।

क्रमेणाभ्यासतश्चैवं श्रूयतेऽनाहती ध्वनिः ।
पृथग्विमिश्रितश्चापि मनस्तत्र नियोजयेत् ।।

-योग रसायनम् २५३

क्रमशः अभ्यास करते रहने पर ही अनाहत ध्वनि पहले मिश्रित तथा बाद में पृथक स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ती है। मन को वहीं पर नियोजित करना चाहिए।

नाद-श्रवण से सफलता मिलने लगे तो भी शब्द ब्रह्म की उपलब्धि नहीं माननी चाहिए। नाद-ब्रह्म तो भीतर से अनाहत रूप से उठता है और उसे ओ३म्कार के सूक्ष्म उच्चारण अभ्यास द्वारा प्रयत्न पूर्वक उठाना पड़ता है।

बाहरी शब्द वाद्य यन्त्रों आदि के रूप में सुने जाते हैं, पर ओ३म्कार का नाद प्रयत्नपूर्वक भीतर से उत्पन्न करना पड़ता है-

नादः संजायते तस्य क्रमेणाभ्यासतश्च सः ।।

-शिव संहिता

अर्थात्-अभ्यास करने से नाद की उत्पत्ति होती है, यह शीघ्र फलदाता है।

अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते ।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यान्तर्गतं मनः ।।
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमंपदम् ।।

-हठयोग प्रदीपिक ४ ।१००

अनाहत ध्वनि सुनाई पड़ती है, उस ध्वनि के भीतर स्वप्रकाश चैतन्य रहता है और उस ज्ञेय के भीतर मन रहता है और मन जिस स्थान में लय को प्राप्त होता है, उसी को विष्णु का परमधाम कहते हैं।

नादयोग की महिमा बताते हुए कहा गया है कि उसके आधार पर दृष्टि की, चित्त की स्थिरता अनायास ही हो जाती है। आत्मकल्याण का परम अवलम्बन यह नादब्रह्म ही है।

दृष्टिः स्थिरा यस्य विना सदृश्यैः,
वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम् ।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बनम्,
स ब्रह्म तारान्तरनादरूपम् ।।

जिससे बिना दृश्य के दृष्टि स्थिर हो जाती है, जिससे बिना प्रयत्न के प्राणवायु स्थिर हो जाती है, जिससे बिना अवलम्बन के चित्त का नियमन हो जाता है, वह अन्तर नादरूपी ब्रह्म ही है।

नाद क्रिया के दो भाग हैं- बाह्य और अन्तर । बाह्य नाद में बाहर की दिव्य आवाजें सुनी जाती हैं और बाह्य जगत की हलचलों की जानकारियाँ प्राप्त की जाती हैं, और ब्रह्माण्डीय शक्तिधाराओं को आकर्षित करके अपने में धारण किया जाता है। अन्तःनाद में भीतर से शब्द उत्पन्न करके भीतर ही भीतर परिपक्व करके और परिपुष्ट होने पर उसे किसी लक्ष्य विशेष पर, किसी व्यक्ति के अथवा क्षेत्र के लिए फेंका जाता है और उससे अभीष्ट प्रयोजन की पूर्ति की जाती है, इसे धनुष-वाण चलाने के समतुल्य समझा जा सकता है।

अन्तःनाद के लिए भी बैठना तो ब्रह्मनाद की तरह ही होता है, पर अन्तर ग्रहण एवं प्रेषण का होता है। मुखासन से मेरुदण्ड को सीधा रखते हहुए षट्मुखी मुद्रा में बैठने का विधान है। षट्मुखी मुद्रा का अर्थ है- दोनों अँगूठों से दोनों कानों के छेद बन्द करना, दोनों हाथों की तर्जनी टौर मध्यमा उंगलियों से दोनों आँखें बन्द करना। दोनों अनामिका कन्ष्ठिभाओं से दोनों नथुनों पर दबाव डालना, नथुनों पर इतना दबाव नहीं डाला जाता कि साँस का आवागमन ही रुक जाये।

होठ बन्द, जीभ बन्द, मात्र भीतर ही परा-पश्यन्ति वाणियों से ओ३म्कार का गुञ्जार-प्रयास यही है- अन्तःनाद उत्थान। इसमें कण्ठ से मन्द ध्वनि होती रहती है, अपने आपको उसका अनुभव होता है और अन्तःचेतना उसे सुनती है। ध्यान रहे यह ओ३म्कार का जप या उच्चारण नहीं गुञ्जार है। गुञ्जार का तात्पर्य है- शंख जैसी ध्वनि धारा एवं घड़ियाल जैसी थरथराहट का सम्मिश्रण। इसका स्वरूप लिखकर ठीक तरह नहीं समझा और समझाया जा सकता । इसे अनुभवी साधकों से सुना और अनुकरण करके सीखा जा सकता है।

साधना आरम्भ करने के दिनों में दस-दस सैकण्ड के तीन गुञ्जार बीच-बीच में पाँच-पाँच सैकण्ड रुकते हुए करने चाहिए। इस प्रकार चालीस सैकण्ड का एक शब्द उत्थान हो जायेगा। इतना करके उच्चारण बन्द और उसकी प्रतिध्वनि सुनने का प्रयत्न करना चाहिए। जिस प्रकार गुम्बजों में, पक्के कुओं में, विशाल भवनों में, पहाड़ों की घाटियों में जोर से शब्द करने पर उसकी प्रतिध्वनि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार अपने अन्तःक्षेत्र में ओउम्कार गुञ्जार के छोड़े हुए शब्द प्रवाह की प्रतिध्वनि उत्पन्न हुई अनुभव करनी चाहिए, और पूरी तरह ध्यान एकाग्र करके इस सूक्ष्म प्रतिध्वनि का आभास होता है।

आरम्भ में बहुत प्रयत्न से, बहुत थोड़ी-सी अतीव मन्द रुककर सुनाई पड़ती है, किन्तु धीरे-धीरे उसका उभार बढ़ता चलता है और ओउम्कार की प्रतिध्वनि अपने ही अन्तराल में अधिक स्पष्ट एवं अधिक समय तक सुनाई पड़ने लगती है, स्पष्टता एवं देरी को इस साधना की सफलता का चिन्ह माना जा सकता है।

ओ३म्कार की उठती हुई प्रतिध्वनि अन्त:क्षेत्र के प्रत्येक विभाग को, क्षेत्र को प्रखर बनाती है। उन संस्थानों की प्रसुप्त शक्ति जगाती है, उससे आत्मबल बढ़ता है और छिपी हुई दिव्य शक्तियाँ प्रकट होती एवं परिपुष्ट होती हैं।

समयानुसार इसका उपयोग शब्दबेधी वाण की तरह, प्रक्षेपशास्त्र की तरह हो सकता है। भौतिक एवं आत्मिक हित साधना के लिए इस शक्ति को समीपवर्ती अथवा दूरवर्ती व्यक्तियों तक भेजा जा सकता है और उनको कष्टों से उबारने तथा प्रगति पथ पर अग्रसर करने के लिए उसका उपयोग किया जा सकता है। वरदान देने की क्षमता, परिस्थितियों में परिवर्तन कर सकने जितनी समर्थता जिस शब्द ब्रह्म के माध्यम से सम्भव होती है, उसे ओ३म्कार गुञ्जार के आधार पर भी उत्पन्न एवं परिपुष्ट किया जाता है।

पुरानी परिपाटी में षट्मुखी मुद्रा का उल्लेख है। मध्यकाल में उसकी आवश्यकता नहीं समझी गई और कान को कपड़े में बँधे मोम की पोटली से कर्ण छिद्रों को बन्द कर लेना पर्याप्त समझा गया। इससे दोनों हाथों को गोदी में रखने और नेत्र अर्धोन्मीलित रखने की ध्यान मुद्रा ठीक तरह सधती और सुविधा रहती थी। अब अनेक आधुनिक अनुभवी शवासन शिथिलीकरण मुद्रा में अधिक अच्छी तरह ध्यान लगने का लाभ देखते हैं। आराम कुर्सी का सहारा लेकर शरीर को ढीला छोड़ते हुए नादानुसन्धान में अधिक सुविधा अनुभव करते हैं। कान बन्द करने के लिए ठीक नाप के शीशियों वाले कार्क का प्रयोग कर लिया जाता है। इनमें से किससे, किसे, कितनी सरलता एवं सफलता मिली ? यह तुलनात्मक अभ्यास करके जाना जा सकता है। इनमें से जिसे जो प्रयोग अनुकूल पड़े वह उसे अपना सकता है। सभी उपयोगी एवं फलदायक हैं।

नादयोग- दिव्य सत्ता के साथ आदान प्रदान

नाद ब्रह्म अथवा शब्द ब्रह्म का अभिप्राय उस अनाहत ध्वनि से है जो प्रकृति और पुरुष के संयोग स्थल से निरन्तर प्रसृत और निनादित होती रहती है। ॐ कार वही स्वयं भू ब्रह्मनाद है। उससे सप्त स्वर प्रस्फुटित हुए। श्रुति शास्त्र में प्रयुक्त होने वाले उदात्त अनुदान स्वरूप उसी के आरोह अवरोह हैं। संगीत शास्त्र में आगे चलकर वे ही सा रे ग म प ध नि के स्वर सप्तक बन गये। सूर्य रथ के सप्त अश्व उसके प्रभा किरणों में सन्निहित रंग हैं। उसी प्रकार ब्रह्मनाद का ध्वनि गुंजन सप्तधा स्वर लहरी में निनादित होता है।

यों सुनने में सप्त स्वर और उनके आरोह-अवरोह मात्र शब्द ध्वनि का उतार चढ़ाव प्रतीत होते हैं और उनका उपयोग वाद्य-गायन में प्रयुक्त होना भर लगता है। पर वस्तुत: उसकी सीमा इतनी स्वल्प नहीं है। मनुष्य कृत स्वर-लहरी के अतिरिक्त प्रकृति गत स्वर प्रवाह जीवधारियों द्वारा विविध विधि उच्चारण भी कम महत्व के नहीं हैं। मेघ गर्जन, समुद्र, तर्जन, विद्युत कड़क, वायु सनसनाहट, निर्जन की साँय साँय, अग्नि शिखा की धू धू, निर्झर निनाद, प्रकृति गत ध्वनियाँ हमें समय-समय पर सुनने को मिलती रहती हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न पुश, पक्षी,आवश्यकतानुसार अपनी-अपनी बोलियाँ बोलते हैं। रात्रि की नीरवता में झिल्ली की झंकार सुनते ही बनती है। सूर्योदय के समय पक्षियों के कंठ कितने प्रकार की कितनी मधुर स्वर लहरियाँ प्रस्तुत करते हैं, उन्हें सुनकर मुग्ध हो जाना पड़ता है। लगता है स्वर ब्रह्म अपने अगणित ध्वनि प्रवाहों में न जाने कितने भाव भरे संकेतों और संदेशों को इस विश्व ब्रह्माण्ड में भरता बहाता रहता है।

यह सब आहत ध्वनियाँ हैं जो कानों से सुनी जा सकती है। विज्ञान की पकड़ में वे ध्वनियाँ भी आ गई हैं जो मनुष्य के कानों से सुनी जा सकने वाली मर्यादा से या तो ऊँची हैं या नीची। हमारे खुले कान उन्हें सुन नहीं सकते फिर भी साधना उपकरणों द्वारा उन्हें उसी प्रकार सुना जा सकता है, जैसे खुली आँख से न दीखने वाले लघुकाय जीवाणु माइक्रोस्कोप जैसे सूक्ष्म दर्शक यन्त्रों से भली प्रकार देखे जा सकते हैं। यह प्रकृतिगत ध्वनियाँ हैं। कान की पकड से बाहर होने के कारण ही इन्हें सूक्ष्म कहा जाता है अन्यथा वस्तुत: ग्रह स्थूल ही है, क्योंकि यन्त्रों के माध्यम से उन्हें हमारे कान भी सुन समझ सकते हैं।

इसमें ऊँचे स्तर की ध्वनियाँ वे ही हैं, जिन्हें जड़ जगत के अण्ड परमाणुओं द्वारा स्पन्दित नहीं कहा जा

सकता है। उनका सम्बन्ध चेतन जगत के जीवन-प्रवाह से है। उन्हें एक प्रकार से अतीन्द्रिय भी कह सकते हैं। उन्हें एक प्रकार से अतीन्द्रिय भी कह सकते हैं। उनका मूल स्रोत चेतना तत्व है। इसलिए उन्हें ब्रह्म-वाणी भी कहते हैं। इन्हीं ध्वनियों का आलकांरिक वर्णन शिव के डमरू घोष, सरस्वती के वीणा-वादन एवं कृष्ण के बंशी दुर्गा के निनाद, ताल-नृत्य एवं भैरव नाद जैसे सरस उपाख्यानों और घटनाक्रमों के रूप में किया गया है।

यह दिव्य ध्वनियाँ अनन्त अन्तरिक्ष में बिना किसी प्रकृतिगत हलचल का आश्रय लिय स्वयमेव विनिसृत होती रहती हैं। यह चेतन हैं दिव्य हैं, अलौकिक, अभौतिक और अतीन्द्रिय हैं। इसलिए उन्हें देववाणी भी कहते हैं। उन्हें ध्यान-योग के माध्यम से हमारा चेतन अन्तःकरण सुन सकता है। श्रवण का सम्बन्ध कर्णेन्द्रिय से है, अस्तु सूक्ष्म एवं चेतन-श्रवण भी शब्द-संस्थान के इसी प्रतिनिधि केन्द्र का सहारा लेकर सुना जाता है। प्रत्येक इन्द्रिय की तन्मात्राऐं स्थूल से सूक्ष्म का सम्बन्ध बनाती हैं। शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श शरीर की पाँच ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से पाँच तत्व के सान्निध्य से उत्पन्न होने वाली अनुभूतियों से ही हमें अवगत कराती हैं। यह स्थूल का सूक्ष्म की ओर गति का एक चरण हुआ। उसके अगले चरण विशुद्ध चेतन एवं अभौतिक हो जाते हैं। जिन दिव्य ध्वनि-प्रवाहों की चर्चा इन पंक्तियों में ही रही है, वह उसी चेतन जगत के उच्चस्तर से संबन्धित हैं। ब्रह्मवाणी-देवध्वनि को इसी रूप में समझा जाय।

नादयोग का केन्द्र बिन्दु उपरोक्त पंक्तियों के आधार पर सरलता पूर्वक जाना जा सकता है पंचकोश अनावरण की साधना में एक महत्त्वपूर्ण धारा नादयोग की भी है। कानों को उँगलियों से, शीशी वाले कार्क से, कपड़े की गोली से, इस प्रकार बन्द किया जाता है कि बाहर की वायु या स्थूल आवाजें भीतर प्रवेश न कर सकें। इस स्थिति में कानों को बाहरी ध्वनि आधार से विलग किया जाता है और ध्यान को एकाग्र करके यह प्रयत्न किया जाता है कि अतीन्द्रिय जगत से आने वाले शब्द प्रवाह को अन्तःचेतना द्वारा सुना जा सके। यों इसमें भी कर्णेन्द्रिय का-उसकी शब्द तन्मात्रा का योगदान तो रहता है पर वह श्रवण है, वस्तुतः उच्चस्तरीय चेतन जगत की ध्वनि लहरी सुनने के लिए, कर्णेन्द्रिय और अन्तःकरण का इसे संयुक्त प्रयास भी कह सकते हैं।

कृष्ण द्वारा रात्रि की नीरवता में बंशी बजाये जाने और गोपियों के घर-बार छोड़कर उस रास आह्वान के लिए निकल पड़ने का सविस्तार वर्णन भागवत आदि पुराणों में वर्णित है। यह व्यावहारिक, सामाजिक भौतिक व्यवस्था के सर्वथा प्रतिकूल होते हुए भी अध्यात्म परम्परा के पूर्णतया अनुकूल भी है। वस्तुतः कथा-गाथाओं में रहस्यमय पहेली की तरह गूढ़ आध्यात्मिक रहस्यों का ही उद्घाटन किया गया है। रास-लीला के पीछे नादयोग की व्याख्या विवेचना ही सन्निहित है। भगवान बंशी बजाते हैं- मधुर रस चखाने का आह्वान करते हैं। गोपियाँ समस्त सांसारिक बंधनों को तोड़कर उस ओर दौड़ पड़ती हैं। संकेत आह्वान का स्वागत करती हैं, और उसी के लिए आकुल-व्याकुल होकर अपना समर्पण कर देती हैं। अपना आपा खोकर दिव्य ध्वनि के साथ थिरकन, नाचना आरम्भ कर देती हैं। यही तो रासलीला है। कृष्ण अर्थात् परमात्मा -बंशी ध्वनि अर्थात् ईश्वरीय प्रयोजनों के लिए चल पड़ने का संकेत-गोपियाँ अर्थात् आत्मा की भौतिक एवं आत्मिक सम्पदायें-रास नृत्य अर्थात् दिव्य संकेतों के अनुरूप कठपुतली जैसे भाव-विभोर आचरण हैं।

रासलीला में सम्मिलित गोपियों के आनन्द मुग्ध होने का तथ्य सर्वविदित है। उसी का स्थूल रूप देखने-दिखाने के लिए जहाँ-जहाँ रासलीला के अभिनय किये जाते हैं। ये एक पुरुष के साथ इतनी नारियों का कामुक नृत्य न तो अभिनन्दनीय ही हो सकता है और न अभिनीय। फिर भी आत्मा और परमात्मा के बीच आदान-प्रदान का जो भाव भरा अलंकारिक चित्रण रासलीला में किया गया है वह पहेली जैसा लगते हुए भी अर्थपूर्ण और तथ्यपूर्ण ही कहा जायेगा। रास की प्रधान नायिका राधा है और अन्य सभी सखियाँ-सहेलियाँ उनके साथ पूर्ण स्नेह -सहयोग के साथ सहनृत्य में तल्लीन होती हैं।

राधा अर्थात् आत्मा, उनकी सहयोगिनी सखियाँ-अन्तरंग की सत्प्रवृत्तियाँ- बौद्धिक विभूतियाँ और सांसारिक सम्पदाऐं-क्षमताऐं, प्रतिभाऐं- यह सभी आत्मा की आकांक्षा में स्नेहित सहयोग देती हैं। कोई अवरोध उत्पन्न नहीं करती अर्थात् आत्मा के परमात्मा से मिलने के सदुद्देश्य सत्प्रयत्नों को सफल बनाने के लिए अपना पूर्ण समर्पण-समग्र नियोजन प्रस्तुत कर देती हैं। आत्मा का दिव्य आकांक्षा की पूर्ति के लिए उनका पूरा-पूरा समर्थन मिलता है। यह स्थिति प्राप्त हो सके, तो हर आत्मा का,

हर राधा को, रासलीला का दिव्य आनन्द मिल सकता है। आत्मा और परमात्मा के मिलन का ब्रह्मानन्द उपलब्ध हो सकता है।

नादयोग में कान को सूक्ष्म चेतना की दिव्य ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। कई बार ये अतिमन्द होती हैं। कई बार कुछ प्रखर। इनमें प्राय: कृष्ण की बंशी जैसी, सर्प पकड़ने में काम आनेवाले बीन जैसी ध्वनियाँ रहती हैं। रास में प्रयुक्त वेणुनाद की चर्चा ऊपर की चुकी है। कुमार्गगामी-भौतिक तृष्णा और वासना का विष पिण्ड मन-एक प्रकार से विषधर सर्प है। उसे भी आनन्द उल्लास की, दिव्य प्रेरणाओं के अनुगमन के रूप में लहराने का अवसर इस वेणु की ध्वनि सुनने से मिल सकता है। सपेरा विषधर सर्पों को पकड़ने को बीन बजाता है। जब वह लहराने लगता है, तो उसे चुपके से पकड़कर पिटारे में बन्द कर लेता है। मन के निग्रह में, प्राणों के निरोध में, नादयोग का ध्वनि प्रवाह बहुत सफल रहता है। दिव्य ध्वनि श्रवण के साथ-साथ उपरोक्त दो विचार धाराओं का अदल-बदल कर समन्वय करना चाहिए। भगवान के वेणुनाद पर राधा और उसकी सखियों का रासनृत्य करना और मन सर्प का इस दिव्यनाद में तन्मय होकर अपना आत्म-समर्पण कर बैठना, यही है नादयोग की विधि साधना के साथ जुड़ा हुआ अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व दर्शन।

बंशी और बीन के अतिरिक्त और भी कई प्रकार की ध्वनियाँ नादयोग के साधकों को सुनाई पड़ती है। इनकी संगति इस प्रकार बिठाई जा सकती है, भगवती सरस्वती अपनी वीणा झंकृत करते हुए ऋतम्भरा प्रज्ञा और अनासक्त भूमा के मृदुल मनोरम तारों को झनझना रही है और अपनी अन्त:चेतना में वही दिव्य तत्व उभर रहे हैं और भगवान शंकर का डमरू बज रहा है। उससे प्रलय के-मरण के संकेत आ रहे हैं और सुझाया जा रहा है कि इस नश्वर काया का अन्त करने वाला ताण्डव किसी भी क्षण सम्मुख आ सकता है, इसलिए प्रमाद से न उलझा जाय, लक्ष्य की प्राप्ति में आलस्य एवं उपेक्षाभाव न बरता जाय। मायामोह छोड़कर यथार्थ को समझा जाय। शंखनाद की ध्वनि को महाभारत के पाँच जन्य का महाकाल के भैरवनाद का उद्घोष माना जाय और अनुभव किया जाय कि अब महाप्रयाण का ऐसा समय आ पहुँचा जिसमें आनाकानी या सोच-विचार करने की गुंजायश नहीं है। युग की कर्तव्य की पुकार गूँज रही है और उभार रही है कि अविलम्ब जीवनोद्देश्य की दिशा में कदम बढ़ाया जाय। बिजली की कड़क-दावानल मल धू-धू की बादलों की गर्जन, समुद्र का तर्जन इस संकेत को लेकर आते हैं कि अपनी गतिविधियों का कायाकल्प होना ही चाहिए। पशु स्तर को निरस्त करके दिव्य स्तर अपनाया ही जाना चाहिए और उस उलट-पुलट में जो उफान-तूफान प्रस्तुत होते हैं उनका समाना किया ही जाना चाहिए। कभी झिल्ली की झंकार कभी चिड़ियों की चहचहाहट के शब्द सुनाई पड़ते हैं, इन्हें छोटे जीवों द्वारा मानवी प्रमाद को हिला देने वाला उद्बोधन समझा जाय। जब इतने छोटे जीव अपने नियत- नियमित आनन्द बिखेरने वाले क्रिया-कलाप में निरत रहते हैं, तो मनुष्य के लिए यह कैसे शोभनीय होगा कि वह जीवनोद्देश्य के साथ जुड़े हुए अपने महान कर्त्तव्य का परित्याग करके मात्र, पेट और प्रजनन के लिए जीवन सम्पदा को कौड़ी मोल गँवा देने की मूर्खता अपनाये ?

नादयोग में कितने प्रकार की ध्वनियाँ सुनाई पड़ सकती हैं, इनकी कोई सीमा नहीं। प्राय: परिचित ध्वनियाँ ही सुनाई पड़ती हैं, सो सूक्ष्मदर्शी साधक उनके जीछे उच्च संकेतों को विवेक-बुद्धि के द्वारा सहज संगति बिठा सकते हैं। कोयल की कूकन, मुर्गे की बाँग, मयूर की पीक, सिंह की दहाड़, हाथी की चिघांड़, शब्द सुनाई पड़े तो उनमें इन प्राणियों को उच्चारण समय की मन-स्थिति की कल्पना करते हुए अपने लिए प्रेरक संकेतों का ताल-मेल बिठाया जा सकता है। कई बार रुदन, क्रन्दन, हर्षोल्लास, अट्टहास, उच्छ्रास जैसी ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं, उसे अपनी अन्तरात्मा का सन्तोष-असन्तोष समझा जा सकता है। कुमार्गगामी गतिविधियों से असन्तोष और सत्प्रवृत्तियों का सन्तोष स्पष्ट है। आत्म निरीक्षण करते हुए आत्मा को समय-समय पर अपनी भली-बुरी गतिविधियों पर संतोष-असन्तोष प्रकट करने के अवसर आते हैं, इन्हीं की प्रतिध्वनि, हर्ष क्षोभ व्यक्त करने वाले स्वरों में सुनाई पड़ती रहती है। किस ध्वनि के पीछे क्या संकेत, संदेश, तथ्य हो सकता है, उसे नादयोगी की सहज बुद्धि ही समयानुसार निर्णय करती चलती है। उसकी विस्तृत चर्चा यहाँ अभीष्ट नहीं। तथ्य इतना भर हैं कि इन दिव्य ध्वनियों में किसी न किसी स्तर की उच्च प्रेरणाऐं होती हैं और उन सब का प्रयोजन एक ही रहता है, कि हमें आत्मा की स्थिति से ऊपर उठकर उच्च भूमिका के लिए द्रुतगति से अग्रसर होना चाहिए, साहस पूर्ण कदम बढ़ाना चाहिए।

कानों के छिद्र बन्द करके अन्तर्जगत की दिव्य ध्वनियाँ सुनने की साधना जब परिपक्व होने लगती है तो भावोत्कर्ष क्षेत्र से आगे बढ़कर सुविस्तृत अन्तरिक्ष में संव्याप्त हलचलों की समझने का अवसर मिलता है। इस संसार को प्रभावित करने वाली अगणित ब्रह्म प्रेरणाओं के प्रवाह बहते रहते हैं। उनके स्पन्दन हमारी कर्णेन्द्रिय से शब्दरूप में टकराते हैं। उन्हें पहचानने और पकड़ने की सफलता, साधना में परिपक्वता आने के साथ-साथ सहज ही बढ़ने लगती है और यह प्रतीत होने लगता है कि सूक्ष्म जगत में क्या हो रहा है और क्या होने जा रहा है किसी व्यक्ति विशेष क्षेत्र, देश अथवा लोक के संबन्ध में इस प्रकार की सही स्थिति का पूर्वाभास होने लगता है। अविज्ञात को ज्ञात स्तर पर उतारने में नादयोग की साधना बहुत ही उपयोगी एवं प्रभावशाली होती है। यों शब्द, रूप, रस, गन्ध स्पर्श, की किसी भी प्रक्रिया के आधार पर बनी हुई साधना पद्धति से भी वही प्रयोजन सिद्ध हो सकता है। पर नादयोग का इसी प्रयोजन के लिए अपना अत्यधिक महत्व है।

नाद संकेत वे सूत्र हैं, जिनके सहारे परमात्मा के विभिन्न शक्ति-स्रोतों के साथ हमारे आदान-प्रदान संभव हो सकते हैं। टेलीग्राम, टेलीफोन, वायरलैस, टेलीविजन पद्धतियों का आश्रय लेकर हम दूरवर्ती व्यक्तियों के साथ अनुभूतियों का आदान-प्रदान करते हैं।

ठीक इसी प्रकार ईश्वर के विभिन्न शक्ति-केन्द्रों के साथ इन विभिन्न ध्वनियों के माध्यम से सम्बन्ध मिला सकते हैं और इस स्थिति पर पहुँच सकते हैं, कि अपनी बात ईश्वर तक पहुँच सके और उसके उत्तर प्राप्त कर सकें। इतना ही नहीं, यह ध्वनि प्रवाह सड़कों का, भार वाहनों का भी काम करते हैं। व्यक्ति की व्यथाऐं लादकर परमात्मा तक पहुँचाना और परमात्मा के अनुदान-वरदान लाद कर व्यक्ति तक पहुँचाना भी इन ध्वनियों के माध्यम से संभव हो सकता है। सिद्ध पुरुष प्रायः ऐसे ही साधना माध्यमों के आधार पर अपने को परमेश्वर के साथ जोड़ कर अभीष्ट आदान-प्रदान को लाभ प्राप्त करते हैं।

आनन्दमय कोश का जागरण होने पर मनुष्य सब प्रकार के दुःखों से छूट जाता है। हमारा दृष्टि दोष ही समस्त दुःखों का तात्विक कारण है। अज्ञान, मोह एवं स्वार्थरूपी अन्धकार में जीव भटकता और ठोकरें खाता है। प्रकाश उदय होने पर किसी को अँधेरे के कारण उत्पन्न होने वाली असुविधाओं एवं कठिनाइयों से सामना नहीं करना पड़ता उसी प्रकार दृष्टिकोण परिष्कृत होते जाने पर दुःख, कष्ट, अभाव, क्षोभ, व्यथा, वेदना, शोक, सन्ताप, क्लेश, कलह एवं अन्तर्द्वन्दों का सामना नहीं करना पड़ता। इसी निरामय स्थिति को ब्राह्मी स्थिति कहते हैं, इस भूमिका में जाग्रत हुआ व्यक्ति दिव्य दृष्टि प्राप्त करके निरन्तर सर्वत्र भगवान का दर्शन करता है और हर घड़ी आनन्द विभोर रहता है।

इस स्थिति में पहुँचा हुआ व्यक्ति मनुष्य-आकृति में रहता हुआ भी ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है। अवतारी आत्माऐं इसी स्थिति में रहा करती हैं। उनकी सामर्थ्य का कोई वारापार नहीं रहता। वे ईश्वर का कार्य करते हैं और परमेश्वर के अनन्त ऐश्वर्य का उपयोग एवं उपभोग करने में समर्थ रहते हैं।

बिन्दु साधना

बिन्दु-साधना का एक अर्थ ब्रह्मचर्य भी है। इस बिन्दु का अर्थ 'वीर्य' अन्नमय कोश के प्रकरण में किया गया है। आनन्दमय कोश की साधना में बिन्दु का अर्थ होगा, परमाणु। सूक्ष्म से सूक्ष्म जो अणु हैं, वहाँ तक अपनी गति हो जाने पर भी ब्रह्म की समीपता तक पहुँचा जा सकता है और सामीप्य सुख का अनुभव किया जा सकता है।

किसी वस्तु को कूटकर यदि चूर्ण बना लें और चूर्ण को खुर्दबीन से देखें तो छोटे-छोटे टुकड़ों का एक ढेर दिखाई पड़ेगा, यह टुकड़े कई और टुकड़ों से मिलकर बने होते हैं। इन्हें भी वैज्ञानिक यन्त्रों की सहायता से कूटा जाय तो अन्त में जो न टूटने वाले न कुटने वाले टुकड़े रह जायेंगे, उन्हें परमाणु कहेंगे। इन परमाणुओं की लगभग १०० जातियाँ अब तक पहिचानी जा चुकी हैं, जिन्हें अणुतत्व कहा जाता है।

अणुओं के दो भाग हैं, एक सजीव दूसरे निर्जीव। दोनों ही एक पिण्ड या ग्रह के रूप में मालूम पड़ते हैं, पर वस्तुतः उनके भीतर भी और टुकड़े हैं। प्रत्येक अणु अपनी धुरी पर बड़े वेग से परिभ्रमण करता है। पृथ्वी भी सूर्य की परिक्रमा के लिए प्रति सैकिण्ड १८.५ मील की चाल से चलती है, पर इन १०० परमाणुओं की गति चार हजार मील प्रति सैकिण्ड मानी जाती हैं।

यह परमाणु भी अनेक विद्युत-कणों से मिलकर बने हैं, जिनकी दो जातियाँ हैं,१- ऋण कण, २- धन कण।

धन कणों के चारों ओर ऋण-कण प्रति सैकिण्ड एक लाख अस्सी हजार मील की गति से परिभ्रमण करते हैं। उधर धन-कण, ऋण-कण की परिक्रमा के केन्द्र होते हुए भी शान्त नहीं बैठते। जैसे पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा लगाती हैं और सूर्य अपने सौर-मण्डल को लेकर 'कृतिका' नक्षत्र की परिक्रमा करता है, वैसे ही धन कण भी परमाणु की अन्तरगति का कारण होते हैं। ऋण-कण जो कि द्रुतगति से निरन्तर परिक्रमा में संलग्न हैं अपनी शक्ति सूर्य से अथवा विश्व-व्यापी अग्नि तत्व से प्राप्त करते हैं।

वैज्ञानिकों का कथन है कि यदि एक परमाणु के अन्दर का शक्ति-पुञ्ज फूट पड़े तो क्षण भर में लन्दन जैसे तीन नगरों को भस्म कर सकता है। इस परमाणु के विस्फोट की विधि मालूम करके ही 'एटमबम' का अविष्कार हुआ है। एक परमाणु के फोड़ देने से जो भयंकर विस्फोट होता है, उसका परिचय गत महायुद्ध से मिल चुका है। इसकी और भी भयंकरता का पूर्ण प्रकाश होना अभी बाकी है, जिसके लिए वैज्ञानिक लगे हुए हैं।

यह तो परमाणु की शक्ति की बात रही, अभी उनके अंग ऋण-कण और धन-कणों के सूक्ष्म भागों का पता चला है। वे भी अपने से अनेक गुने सूक्ष्म परमाणुओं से बने हुए हैं, जो ऋण-कणों के भीतर एक लाख, छियासी हजार, तीन सौ तीस मील प्रति सैकिण्ड की गति से परिभ्रमण करते हैं। अभी उनके भी अन्तर्गत कर्षाणुओं की खोज हो रही हैं और विश्वास किया जाता है कि उन कर्षाणुओं के भीतर भी सर्गाणु हैं। परमाणुओं की अपेक्षा ऋण कण तथा धन कणों की गति तथा शक्ति अनेकों गुनी है। उसी अनुपात से इन सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम अणुओं की गति तथा शक्ति होगी। जब परमाणुओं के विस्फोट की शक्ति लन्दन जैसे तीन शहरों को जला देने की है तो सर्गाणु की शक्ति एवं गति की कल्पना करना भी हमारे लिए कठिन होगा। उसके अन्तिम सूक्ष्म केन्द्र को अप्रितम, अप्रमेय अचिन्त्य ही कह सकते हैं

देखने में पृथ्वी चपटी मालूम पड़ती है पर वस्तुत: वह लट्टू की तरह अपनी धुरी पर घूमती रहती है। चौबीस घण्टे में उसका एक चक्कर पूरा हो जाता है। पृथ्वी की दूसरी चाल भी है वह सूर्य की परिक्रमा करती है। इस चक्कर में उसे एक वर्ष लग जाता है। तीसरी चाल पृथ्वी की यह है कि सूर्य अपने ग्रह-उपग्रहों को साथ लेकर बड़े वेग से अभिजित् नक्षत्र की ओर जा रहा है। अनुमान है वह कृतिका नक्षत्र की परिक्रमा करता है। इसमें पृथ्वी भी साथ है। लट्टू जब अपनी कीली पर घूमता है तो वह इधर-उधर उठता भी रहता है इसे मँडलाने की चाल कहते हैं, जिसका एक चक्कर करीब २६ हजार वर्ष में पूरा होता है। कृतिका नक्षत्र भी सौरमण्डल आदि अपने उपग्रहों को लेकर ध्रुव की परिक्रमा करता है। उस दशा में पृथ्वी की गति पाँचवी हो जाती है।

सूक्ष्म परमाणु के सूक्ष्मतम भाग सर्गाणु अर्थात् फोटान, मेसान, नियान आदि तक भी मानव बुद्धि पहुँच गयी है और बड़े से बड़े महा-अणुओं के रूप में पाँच गति तो पृथ्वी की विदित हुई। आकाश के असंख्य ग्रह-नक्षत्रों का पारस्परिक सम्बन्ध न जाने कितने बड़े महा अणु के रूप में पूरा होता होगा, उस महानता की कल्पना भी बुद्धि को थका देती है। उसे भी अप्रतिम, अप्रमेय और अचिन्त्य ही कहा जायेगा।

सूक्ष्म से सूक्ष्म और महत से महत केन्द्रों पर जाकर बुद्धि थक जाती है और उससे छोटे या बड़े की कल्पना नहीं हो सकती, उस केन्द्र को 'बिन्दु' कहते हैं।

अणु को योग की भाषा में अण्ड भी कहते हैं। वीर्य का एक कण 'अण्ड' है। वह इतना छोटा होता है कि बारीक खुर्दबीन से भी मुश्किल से ही दिखाई देता है, पर जब वह विकसित होकर स्थूल रूप में आता है, तो वही बड़ा अण्डा हो जाता है। उस अण्डे के भीतर जो पक्षी रहता है, उसके अनेक अंग-प्रत्यंग विभाग होते हैं, उन विभागों में असंख्य सूक्ष्म विभाग और उनमें भी अगणित कोषांड रहते हैं। इस प्रकार शरीर भी एक अणु है, इसी को अण्ड या पिण्ड कहते हैं। अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड में अगणित सौर मण्डल, आकाश-गंगा और ध्रुव-चक्र हैं।

इन ग्रहों की दूरी और विस्तार का कुछ ठिकाना नहीं। पृथ्वी बहुत बड़ा पिण्ड है, पर सूर्य तो पृथ्वी से भी तेरह लाख गुना बड़ा है। सूर्य से भी करोड़ों गुने ग्रह आकाश में मौजूद हैं। इनकी दूरी का अनुमान इससे लगाया जाता है कि प्रकाश की गति प्रति सैकिण्ड पौने दो लाख मील है और उन ग्रहों का प्रकाश पृथ्वी तक आने में ३० लाख वर्ष लगते हैं। यदि कोई ग्रह आज नष्ट हो जाय तो उसका अस्तित्व न रहने पर भी उसकी प्रकाश किरणें आगामी तीस लाख वर्ष तक यहाँ आती रहेंगी। जिस नक्षत्र का प्रकाश पृथ्वी पर आता है, उसके अतिरिक्त ऐसे ग्रह बहुत अधिक हैं जो अत्यधिक दूरी के कारण पृथ्वी पर

दुर्बीनों से भी दिखाई नहीं देते। इतने बड़े और दूरस्थ ग्रह जब अपनी परिक्रमा करते होंगे, अपने ग्रहमण्डल को साथ लेकर परिभ्रमण को निकलते होंगे, तो वे अपने कितने अधिक विस्तृत शून्य में घूम जाते होंगे, उस शून्य के विस्तार की कल्पना कर लेना मानव-मस्तिष्क के लिए बहुत कठिन है।

इतना बड़ा ब्रह्माण्ड भी एक अणु या अण्ड है। इसलिए उसे ब्रह्म-अण्ड-ब्रह्माण्ड कहते हैं, पुराणों में वर्णन है कि जो ब्रह्माण्ड हमारी जानकारी में है, उसके अतिरिक्त भी ऐसे ही और अगणित ब्रह्माण्ड हैं और उन सबका समूह एक महा अण्ड है, उस महाअण्ड की तुलना में पृथ्वी उससे छोटी बैठती है, जितना कि परमाणु की तुलना में सर्गाणु छोटा होता है।

इस लघु से लघु और महान से महान अण्ड में जो शक्ति व्यापक हैं, जो इन सबको गतिशील, विकसित, परिवर्तित, चैतन्य रखती है, उस सत्ता को 'बिन्दु' कहा गया है। यह बिन्दु ही परमात्मा है। उसी को छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा कहा जाता है। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' कहकर उपनिषदों ने उस परब्रह्म का परिचय दिया है।

इस बिन्दु का चिन्तन करने से आनन्दमय कोश की स्थिति जीव की उस परब्रह्म की रूप की कुछ झाँकी होती हैं और उसे प्रतीत होता है कि परब्रह्म की, महा-अण्ड की तुलना में मेरा अस्तित्व, मेरा पिण्ड कितना तुच्छ है। इस तुच्छता का भान होने से अहंकार और गर्व विगलित हो जाते हैं। दूसरी ओर जब सर्गाणु से अपने पिण्ड की, शरीर की तुलना करते हैं, तो प्रतीत होता है कि अटूट शक्ति के अक्षय भंण्डार सर्गाणु की इतनी अटूट संख्या और शक्ति जब हमारे भीतर हैं तो हमें अपने को अशक्त समझने का कोई कारण नहीं है। उस शक्ति का उपयोग जान लिया जाय, तो संसार में होने वाली कोई भी बात हमारे लिये असम्भव नहीं हो सकती।

जैसे महा अण्ड की तुलना में हमारा शरीर अत्यन्त क्षुद्र है और हमारी तुलना में उसका विस्तार अनुपमेय है, इसी प्रकार सर्गाणुओं की दृष्टि में हमारा पिण्ड (शरीर) एक महाब्रह्माण्ड जैसा विशाल होगा, इसमें जो स्थिति समझ में आती है, वह प्रकृति के अण्ड से भिन्न एक दिव्य शक्ति के रूप में विदित होती है। लगता है कि मैं मध्य बिन्दु हूँ, केन्द्र हूँ, सूक्ष्म से सूक्ष्म, स्थूल से स्थूल मेरी व्यापकता है।

लघुता-महत्ता का एकान्त चिन्तन ही बिन्दु साधना कहलाता है। इस साधना के साधक को सांसारिक जीवन की वास्तविकता और तुच्छता का भली प्रकार बोध हो जाता है कि मैं अनन्त का उद्गम होने के कारण इस सृष्टि का महत्त्वपूर्ण केन्द्र हूँ। उसे जापान पर फटा हुआ परमाणु ही ऐतिहासिक 'एटम बम' के रूप में चिरस्मरणीय रहेगा, वैसे ही जब अपने शक्ति-पुञ्ज का सदुपयोग किया जाता है तो उसके द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से संसार का भारी परिवर्तन करना असम्भव हो जाता है।

विश्वामित्र ने राजा हरिश्चन्द्र के पिण्ड को एटम बम बनाकर 'असत्य के सम्राज्य पर इस प्रकार विस्फोट किया था कि लाखों वर्ष बीत जाने पर भी उसकी ऐक्टिव' किरणें अभी समाप्त नहीं हुई हैं और अपने प्रभाव से असंख्यों को बराबर प्रभावित करती चली आ रही हैं। महात्मा गाँधी ने बचपन में राजा हरिश्चन्द्र का लेख पढ़ा था उन्होंने अपने आत्म-चरित्रों में लिखा है कि मैं उसे पढ़कर इतना प्रभावित हुआ कि स्वयं भी हरिश्चन्द्र बनने की ठान ली, अपने संकल्प के द्वारा वे सचमुच हरिश्चन्द्र बने गये। राजा हरिश्चन्द्र आज नहीं हैं पर उनकी आत्मा अब भी उसी प्रकार अपना महान् कार्य कर रही हैं। न जाने कितने अप्रकट गाँधी उसके द्वारा निर्मित होते रहते होंगे, गीताकार आज नहीं हैं, पर आप उसकी गीता कितनों को अमृत पिला रही है ? यह पिण्ड का सूक्ष्म प्रभाव ही है, जो प्रकट या अप्रकट रूप से स्व, पर कल्याण का महान् आयोजन प्रस्तुत करता है।

कार्लमार्क्स के सूक्ष्म शक्ति केन्द्र से प्रस्फुटित हुई चेतना आज आधी दुनिया को कम्युनिस्ट बना चुकी है। पूर्वकाल में महात्मा ईसा, मुहम्मद, बुद्ध, कृष्ण आदि अनेक महापुरुष ऐसे हुए हैं, जिन्होंने संसार पर बड़े महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाले हैं। इन प्रकट महापुरुषों के अतिरिक्त ऐसी अनेक अप्रकट आत्मायें भी हैं, जिन्होंने संसार की सेवा में, जीवों के कल्याण में गुप्त रूप से बड़ा भारी काम किया है। हमारे देश में योगी अरविन्द, महर्षि रमण, रामकृष्ण परमहंस, समर्थ गुरु रामदास आदि द्वारा जो कार्य हुआ तथा आज भी अनेक महापुरुष जो कार्य कर रहे हैं, उसको स्थूल दृष्टि से नहीं समझा जा सकता है। युग परिवर्तन निकट है, उसके लिए रचनात्मक और ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों का सूक्ष्म जगत् में जो महान् आयोजन हो रहा है, उस महाकार्य को हमारे चर्म-चक्षु देख पावें, तो जानें कि कैसा अनुमप एवं अभूतपूर्व परिवर्तन चक्र प्रस्तुत

हो रहा है और वह चक्र निकट भविष्य में कैसे-कैसे विलक्षण परिवर्तन करके मानव जाति को एक नये प्रकाश की ओर ले जा रहा है ?

विषयान्तर चर्चा करना हमारा प्रयोजन नहीं है, यहाँ तो हमें यह बताना है कि लघुता और महत्ता के चिन्तन की बिन्दु-साधना से आत्मा का भौतिक अभियान और लोभ विगलित होता है, साथ ही उस आन्तरिक शक्ति का विकास होता है, जो स्व-पर कल्याण के लिए अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है।

बिन्दु-साधक की आत्म-स्थिति उज्ज्वल होती है, उसके विकार मिट जाते हैं। फलस्वरूप उसे उस अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है, जिसे प्राप्त करना जीवन-धारण का प्रधान उद्देश्य है।

बिन्दुभेद की साधना-विधि

दोनों कानों के छिद्रों को यदि एक लकीर सीधी मस्तक के भीतर से खींचकर मिलाया जाये और भ्रू मध्य से पीछे को एक लकीर खींची जाये तो मस्तक के भीतर जहाँ दोनों लकीर एक दूसरे को काटेंगी, वहीं चेतन बिन्दु का स्थान है। यह बिन्दु शरीरिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण है। अष्टांग योग में इसी स्थान को त्रिकुटी कहते हैं। दृष्टा, दर्शन और दृश्य का मूल यही है। इससे ऊपर सहस्रार की ओर बढ़ने पर प्रकृति छूट जाती है। कुण्डलिनी योग में इस स्थान को शिव-लिंग का स्थान मानते हैं। व्यापक पुरुष प्रकृति के आधार पर यहीं चिह्न रूप में निवास करता है। सीधे शब्दों में यह कारण शरीर जो कि अहंकारात्मक है, उसी का केन्द्र है। इसी से सूक्ष्म और स्थूल दोनों संचालित होते हैं और यह स्वयं हृदयस्थ चेतन से शक्ति लेकर कार्यशील होता है। हृदय में ध्यान सबके लिए सुगम नहीं और यहाँ चमत्कार शीघ्र दृष्टि पड़ते हैं। अत: साधक के लिए यह सरल पड़ता है।

इसी बिन्दु पर दृष्टि स्थिर करके मेस्मेराइजर किसी को निद्रित करता है। निद्रावस्था में सोते व्यक्ति के भ्रू मध्य पर दृष्टि जमाकर दी हुई आज्ञा अपना कुछ न कुछ प्रभाव प्रकट करके ही रहती है। अत: ठीक समय पर नियम पूर्वक इस बिन्दु पर ध्यान करते हुए दृढ़ संकल्प का उपयोग करने से मन को अभीष्ट दिशा में ले जाया जा सकता है।

इतना स्मरण रखना चाहिए कि जहाँ इस बिन्दु से महान लाभ उठाया जा सकता है, वहीं बहुत बड़ी हानि भी होती है। भ्रू मध्य में ध्यान करते समय जो साधक विषयों का या संसार का चिन्तन करेगा, उस की वासनाऐं और दृढ़मूल होती जावेंगी। वह अत्यधिक आसक्त और विषयी हो जावेगा। अतएव जब तक भ्रू मध्य में ध्यान किया जाये, कोई विषय, अशुभ वासना मन में न आने पाये ! बल पूर्वक मन को लक्ष्य में अथवा शुभ संकल्पों में लगा रखना चाहिए। यदि मन अत्यधिक चंचल हो रहा हो और न मानता हो तो उस समय ध्यान करना बन्द कर देना चाहिये, अथवा खुली दृष्टि से नाक की नोक पर त्राटक करना चाहिये।

बहुधा इस बिन्दु पर ध्यान करने वालों को नाना प्रकार के दृश्य दिखाई पड़ते हैं। शब्द सुनाई देते हैं। वे उनके देखने और सुनने में तल्लीन हो जाते हैं। वे समझते हैं कि उनकी उन्नति हो रही है। लेकिन परिणामत: रूप और शब्द में उनकी आसक्ति बढ़ती जाती है। वे संसार में अत्यधिक आसक्त होते जाते हैं। साधक को सावधानी पूर्वक उन शब्द और दृश्यों से ध्यान हटा रखना चाहिये। उसे अपने मन्त्र के जप और चेतन बिन्दु पर स्थिर रहना चाहिए। ये सब दृश्य चाहे वे कुछ भी हों (हंस, शिव,कृष्णादि) केवल मानसिक हैं, मनकी कल्पना हैं। भगवान का विशुद्ध रूप वासनाओं से परे होने पर ही प्राप्त हो सकता है।

निशीथ की नीरवता में अथवा ब्रह्ममुहूर्त में जब आप ध्यान करने बैठते हैं, नेत्रों को बन्द करके मन को चेतन बिन्दु पर एकत्र कीजिये। प्रणव, गायत्री या सोऽहं का जप कीजिये। दृढ़ धारणा कीजिये कि आपके मन से संसाराशक्ति दूर रही है। संसार में अपकी कोई आसक्ति नहीं । दो-चार मिनट वैराग्य प्रधान विचारों का चिन्तन कीजिए। फिर ध्यान कीजिये कि आपका मन चंचलता छोड़कर शान्त हो रहा है। मैं शान्त हूँ। मुझमें चंचलता का लेश नहीं। कोई भी विचार, मुझे अपनी ओर नहीं खींच सकता। मुझमें कोई विचार नहीं है।' इन भावनाओं की बार-बार आवृत्ति कीजिये।

थोड़े दिन के अभ्यास के पश्चात् ज्योतिर्मय चेतन बिन्दु दृष्टि पड़ेगा। यदि कोई और दृश्य भी सामने आये तो मन को उधर से हटाकर केवल बिन्दु पर स्थिर करें। केवल बिन्दु पर एकाग्र हों। कोई विचार न उठे तो अच्छा । मन न माने तो वैराग्य, तत्व विचार या भक्ति

के पवित्र विचार ही उठने देना चाहिए। मंत्र का जप यदि ध्यान की एकाग्रता के कारण छूट जाये तो उसकी कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए। उसे छूट जाने दीजिए।

प्रथम दिखाई पड़ने के पश्चात् बिन्दु कभी बढ़ेगा, कभी घटेगा, कभी हिलता जान पड़ेगा, कभी लुप्त हो जायेगा, कभी बहुत से बिन्दु दृष्टि पड़ेंगे आप इन सब परिवर्तनों पर ध्यान न देकर केवल बिन्दु का तटस्थ निरीक्षण कीजिये। लगातार ऐसा करने से कुछ काल में बिन्दु अपनी समस्त विकृतियों को छोड़कर स्थिर एवं उज्ज्वल हो जायेगा। मन को उसी प्रकार पूर्णत: एकाग्र कर दीजिये। इस पूर्ण एकाग्रता में आप देखेंगे कि बिन्दु फट गया है। उसके भीतर छिद्र हो गया है। इसी को बिन्दु-वेध कहते हैं। बिन्दु के मध्य का वही छिद्र सहस्रार के भीतर जाने का मार्ग हैं बिन्दु वेध होते ही स्वयं सहस्रार का आकर्षण उस मार्ग से आपको उत्थित कर लेगा और परमाभीष्ट अनिर्वचनीय स्थिति आपको प्राप्त होगी।

बिन्दुयोग की प्रारम्भिक साधना प्रकाशदीप के माध्यम से होती है। बार-बार दीप-शिखा देखने, आँखें बन्द करने और भ्रू मध्य भाग में ध्यान जमाने की आवश्यकता पड़ती है। जब वह भूमिका परिपक्व हो जाती है तो प्रकाश स्वत: दृष्टिगोचर होता है और दीपक की आवश्यकता नहीं रहती।

कला-साधना

'कला का अर्थ है-किरण।' प्रकाश यों तो अत्यन्त सूक्ष्म हैं, उस पर सूक्ष्मता का ऐसा समूह, जो हमें एक निश्चित प्रकार का अनुभव कराये 'कला' कहलाता है। सूर्य से निकलकर अत्यन्त सूक्ष्म प्रकाश तरंगें भूतल पर आती हैं, उनका एक समूह ही इस योग्य बन पाता है कि नेत्रों से उसका अनुभव किया जा सके। सूर्य किरणों के सात रंग प्रसिद्ध हैं, परमाणुओं के अन्तर्गत जो 'प्रमाणु' होते हैं उनकी विद्युत तरंगें जब हमारे नेत्रों से टकराती है, तभी किसी रंग रूप का ज्ञान हमें होता है। रूप को प्रकाशवान् बनाकर प्रकट करने का काम कला द्वारा ही होता है।

कलाएँ दो प्रकार की होती हैं। १- आप्ति, २-व्याप्ति। आप्ति किरणें वे हैं, जो प्रकृति के अणुओं से प्रस्फुटित होती हैं। व्याप्ति वे है, जो पुरुष के अन्तराल से आविर्भूत होती हैं, इन्हें 'तिजस्' भी कहते हैं। वस्तुएँ पञ्च तत्वों से बनी हुई होती हैं इसलिए परमाणु से निकलने वाली किरणें अपने प्रधान तत्व की विशेषता भी साथ लिए होती हैं, वह विशेषता रंग द्वारा पहचानी जाती हैं। किसी वस्तु का प्राकृतिक रंग देखकर यह बताया जा सकता है कि इन पञ्च-तत्वों में कौन सा तत्व किस मात्रा में विद्यमान है ?

व्याप्ति कला, किसी मनुष्य के 'तेजस्' में परिलक्षित होती हैं, यह तेजस् मुख के आस-पास प्रकाश मण्डल की तरह विशेष रूप से फैला होता है, यों तो यह सारे शरीर के आस-पास प्रकाशित रहता है। इसे अँग्रजी में 'ओरा' और संस्कृत में 'तेजोवलय' कहते हैं। देवताओं के चित्र में उनके मुख के आस-पास एक प्रकाश का गोला सा चित्रित होता है, यह उनकी कला का ही चिन्ह है। अवतारों के सम्बन्ध में उनकी शक्ति का माप उनकी कथित कलाओं से किया जाता है। परशुराम जी में तीन, रामचन्द्र जी में बारह, कृष्ण में सोलह कलाएँ बताई गई हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उनमें साधारण मात्र से इतनी गुनी आत्मिक शक्ति थी।

सूक्ष्मदर्शी लोग किसी व्यक्ति या वस्तु की आन्तरिक स्थिति का पता उनके तेजोवलय और रंग, रूप, चमक और चैतन्यता को देखकर मालूम कर लेते हैं। 'कला' विद्या की जिसे जानकारी है, वह भूमि के अन्गर्तत छिपे हुए पदार्थों को, वस्तुओं के अन्तर्गत छिपे हुए गुण, प्रभाव एवं महत्वों को आसानी से जान लेता है। किस मनुष्य में कितनी कलाएँ हैं, उसमें क्या-क्या शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक विशेषताएँ हैं तथा किन-किन गुण, दोष, योग्यताओं, सामर्थ्यों की उनमें कितनी न्यूनाधिकता है ? यह सहज ही पता चल जाता है। इस जानकारी के होने से किसी व्यक्ति से समुचित सम्बन्ध रखना सरल हो जाता है।

कला-विज्ञान का ज्ञाता अपने शरीर की सात्विक न्यूनाधिकता का पता लगाकर इसे आत्म-बल से ही सुधार सकता है और अपनी कलाओं में समुचित संशोधन-परिमार्जन एवं विकास कर सकता है। कला ही सामर्थ्य है। अपनी आत्मिक सामर्थ्य का, आत्मिक उन्नति का माप कलाओं की परीक्षा करके प्रकट हो जाता है और साधक यह निश्चित कर सकता है कि उन्नति हो रही है या नहीं ? उसे सन्तोषजनक सफलता मिल रही है या नहीं।

सब ओर से चित्त हटाकर नेत्र बन्द करके भृकुटी के मध्य भाग में ध्यान एकत्रित करने से मस्तिष्क में तथा

उसके आस-पास रंग-बिरंगी धज्जियाँ, चिन्दियाँ तथा तितलियाँ-सी उड़ती दिखाई पड़ती हैं। इनके रंगों का आधार तत्वों पर निर्भर होता है। पृथ्वी तत्व का रंग पीला, जल का श्वेत, अग्नि का लाल, वायु का हरा, आकाश का नीला होता है। जिस रंग की झिलमिल होती है, उसी के आधार पर यह जाना जा सकता है कि इस समय हममें किन तत्वों की अधिकता और किनकी न्यूनता है।

प्रत्येक रंग में अपनी-अपनी विशेषता होती है। पीले रंग में क्षमा, गम्भीरता, उत्पादन, स्थिरता, वैभव, मजबूती, संजीदगी, भारीपन। श्वेत रंग में शान्ति, रसिकता, कोमलता, शीघ्र प्रभावित होना, तृप्ति, शीलता, सुन्दरता, बुद्धि, प्रेम। लाल रंग में गर्मी, उष्णता, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, अनिष्ठ, शूरता, सामर्थ्य, उत्तेजना, कठोरता, कामुकता, तेज, प्रभावशीलता, चमक, स्फूर्ति। हरे रंग में चंचलता, कल्पना, स्वपनशीलता, जकड़ना, दर्द, अपहरण, धूर्तता, गतिशीलता, विनोद, प्रगतिशीलता, प्राण, पोषण, परिवर्तन। नीले रंग में- विचारशीलता, बुद्धि सूक्ष्मता, विस्तार, सात्विकता, प्रेरणा, व्यापकता, संशोधन, सम्वर्धन, सिंचन, आकर्षण आदि गुण होते हैं।

जड़ या चेतन किसी भी पदार्थ के रंग एवं उससे निकलने वाली सूक्ष्म प्रकाश-ज्योति से यह जाना जा सकता है, कि इस वस्तु या प्राणी का गुण, स्वभाव एवं प्रभाव कैसा हो सकता है ? साधारणत: यह पाँच तत्वों की कला हैं, जिनके द्वारा यह कार्य हो सकता है- १- व्यक्तियों तथा पदार्थों की आन्तरिक स्थिति को समझना, २- अपने शारीरिक तथा मानसिक क्षेत्र में असन्तुलित किसी गुण-दोष को सन्तुलित करना, ३- दूसरों के शारीरिक तथा मन की विकृतियों का संशोधन करके सुव्यवस्था स्थापित करना, ४- तत्वों के मूल आधार पर पहुँचकर तत्वों की गति-विधि तथा क्रिया-पद्धति को जानना, ५- तत्वों पर अधिकार करके सांसारिक पदार्थों का निर्माण, पोषण तथा विनाश करना।

यह उपरोक्त पाँच लाभ ऐसे हैं, जिनकी व्यवस्था की जाय तो वे ऋद्धि-सिद्धियों के समान आश्चर्यजनक प्रतीत होंगे। यह पाँच भौतिक कलाएँ हैं, जिनका उपयोग राजयोगी, हठयोगी, मन्त्रयोगी तथा तांत्रिक अपने-अपने ढंग से करते हैं और इस तान्त्रिक शक्ति का अपने-अपने ढंग से सदुपयोग-दुरुपयोग करके भले-बुरे परिणाम उपस्थित करते हैं। कला द्वारा सांसारिक भोग, वैभव भी मिल सकता है, आत्म-कल्याण भी हो सकता है और किसी को शापित, अभिचारिता एवं दुख शोक सन्तृप्त भी बनाया जा सकता है। पञ्च तत्वों की कलाएँ ऐसी ही प्रभावपूर्ण होती हैं।

आत्मिक कलाएँ तीन होती हैं-सत, रज, तम। तमोगुणी कलाओं का माध्यम केन्द्र शिव है। रावण, हिरण्यकश्यपु, भस्मासुर, कुम्भकरण, मेघनाद आदि असुर इन्हीं तामसिक कलाओं के सिद्ध पुरुष थे। रजोगुणी कलाएँ विष्णु से आती हैं। इन्द्र, कुबेर, वरुण, वृहस्पति, ध्रुव, अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर, कर्ण आदि में इन राजसिक कलाओं की विशेषता थी। सतोगुणी सिद्धियाँ ब्रह्म से आविर्भूत होती हैं। व्यास, वशिष्ठ, अत्रि, बुद्ध, महावीर, ईसा, गाँधी, आदि ने सात्विकता के केन्द्र से ही शक्ति प्राप्त की थी।

आत्मिक कलाओं की साधना गायत्री-योग के अन्तर्गत ग्रन्थि-भेद द्वारा होती है। रुद्र ग्रन्थि, विष्णु ग्रन्थि और ब्रह्म ग्रन्थि के खुलने से इन तीनों ही कलाओं का साक्षात्कार साधक को होता है। पूर्वकाल में लोगों के शरीर में आकाश तत्व अधिक था। इसलिए इन्हें उन्हीं साधनाओं से अत्यधिक आश्चर्यमयी सामर्थ्य प्राप्त हो जाती थी, पर आज के युग में जन-समुदाय के शरीर में पृथ्वी-तत्व प्रधान हैं इसलिए अणिमा, महिमा आदि तो नहीं पर सत्, रज, तम की शक्तियों की अधिकता से अब भी आश्चर्यजनक हित-साधना हो सकती है।

पाँच कलाओं द्वारा तात्विक साधना

पृथ्वी तत्व- इस तत्व का स्थान मूलाधार चक्र अर्थात् गुदा से दो अंगुल अंडकोश की ओर हटकर सीवन में स्थित है। सुषुम्ना का आरम्भ इसी स्थान से होता है। प्रत्येक चक्र का आधार कमल के पुष्प जैसा है। यह 'भूलोक' का प्रतिनिधि है। पृथ्वी तत्व का ध्यान इसी मूलाधार चक्र में किया जाता है।

पृथ्वी तत्व की आकृति चतुष्कोण, रंग पीला, गुण गन्ध है। इसलिए इसको जानने की इन्द्रिय नासिका तथा कर्मेन्द्रिय गुदा है। शरीर में पीलिया, कमलवाय आदि रोग इसी तत्व की विकृति से पैदा होते हैं। भय आदि मानसिक विकारों में इसकी प्रधानता होती है। इस तत्व के विकार मूलाधार चक्र में ध्यान स्थित करने से अपने आप शान्त हो जाते हैं।

साधन विधि- सबेरे जब एक पहर अँधेरा रहे, तब किसी शान्त स्थान और पवित्र आसन पर दोनों पैरों को पीछे की ओर मोड़कर उन पर बैठें । दोनों हाथ उल्टे करके घुटनों पर इस प्रकार रखो, जिससे उँगलियों के छोर पेट की ओर रहें। फिर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखते हुए मूलाधार चक्र में 'ल' बीज वाली चौकोर पीले रंग की पृथ्वी पर ध्यान करें। इस प्रकार करने से नासिका सुगन्धि से भर जाती है और शरीर उज्ज्वल कान्ति वाला हो जाता है। ध्यान करते समय ऊपर कहे पृथ्वी तत्व के समस्त गुणों को अच्छी तरह ध्यान में लाने का प्रयत्न करना चाहिए और 'ल' इस बीज मन्त्र का मन ही मन (शब्द रूप से नहीं, वरन् ध्यान रूप से) जप करते जाना चाहिए।

जल तत्व- पेढ़ू के नीचे जननेन्द्रिय के ऊपर मूल भाग में स्वाधिष्ठान चक्र में जल तत्व का स्थान है। यह चक्र 'भव' लोक का प्रतिनिधि है, रंग श्वेत, आकृति अर्धचन्द्राकार और गुण रस है। कटु, अम्ल, तिक्त मधुर आदि सब रसों का स्वाद इसी तत्व के कारण आता है। इसकी ज्ञानेन्द्रिय जिह्वा और कर्मेन्द्रिय लिंग है। मोहादि विकार इसी तत्व की विकृति से होते हैं।

साधन विधि- पृथ्वी तत्व का ध्यान करने के लिए बताई हुई विधि से आसन पर बैठकर 'ब' बीज वाले अर्धचन्द्राकार चन्द्रमा की तरह कान्ति वाले जल तत्व का स्वाधिष्ठान चक्र में ध्यान करना चाहिए। इनसे भूख-प्यास मिटती है और सहन-शक्ति उत्पन्न होती है।

अग्नि तत्व- नाभि स्थान में स्थिति मणिपूरक चक्र में अग्नि तत्व का निवास है। यह 'स्व' लोक का प्रतिनिधि है। इस तत्व की आकृति त्रिकोण, लाल गुण रूप है। ज्ञानेन्द्रिय नेत्र और कर्मेन्द्रिय पाँव हैं। क्रोधादि मानसिक विकार तथा सृजन आदि शारीरिक विकार इस तत्व की गड़बड़ी से होते हैं, इसके सिद्ध हो जाने पर मन्दाग्नि, अजीर्ण आदि पेट के विकार दूर हो जाते हैं और कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत होने में सहायता मिलती है।

साधन विधि- नियत समय पर बैठकर 'र' बीज मन्त्र वाले त्रिकोण आकृति के और अग्नि के समान लाल प्रभा वाले अग्नि-तत्व का मणि पूरक चक्र में ध्यान करें। इस तत्व के सिद्ध हो जाने पर सहन करने की शक्ति बढ़ जाती है।

वायु तत्व- यह तत्व हृदय देश में स्थिति अनाहत चक्र में है एवं 'महलोक' का प्रतिनिधि है। रंग हरा, आकृति षट्कोण तथा गोल दोनों तरह की है, गुण-स्पर्श, ज्ञानेन्द्रिय-त्वचा और कर्मेन्द्रिय-हाथ हैं। वात-व्याधि, दमा आदि रोग इसी की विकृति से होते हैं।

साधन विधि-नियत विधि से स्थित होकर 'य' बीज वाले गोलाकर, हरी आभा वाले वायु-तत्व का अनाहत चक्र में ध्यान करें। इससे शरीर और मन में हल्कापन आता है।

आकाश तत्व-शरीर में इसका निवास विशुद्ध चक्र में है। यह चक्र कण्ठ स्थान 'जनलोक' का प्रतिनिधि है। इसका रंग नीला, आकृति अण्डे की तरह लम्बी, गोल, गुण शब्द, ज्ञानेन्द्रिय-कान तथा कर्मेन्द्रिय वाणी है।

साधन विधि- पूर्वोक्त आसन पर 'ह' बीज मन्त्र का जाप करते हुए चित्र-विचित्र रंग वाले आकाश-तत्व का विशुद्ध चक्र में ध्यान करना चाहिए। इससे तीनों कालों का ज्ञान, ऐश्वर्य तथा अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

नित्य प्रति पाँच तत्वों का छः मास तक अभ्यास करते रहने से तत्व सिद्ध हो जाते हैं, फिर तत्व को पहचानना और उसे घटाना-बढ़ाना सरल हो जाता है। तत्व की सामर्थ्य तथा कलाएँ बढ़ने से साधक कलाधारी बन जाता है। उसकी कलाएँ अपना चमत्कार प्रकट करती रहती हैं।

तुरीय अवस्था

मन को पूर्णतया संकल्प-रहित कर देने से रिक्त मानस की निर्विषय स्थिति होती है, उसे तुरीयावस्था कहते हैं। जब मन में किसी भी प्रकार का एक भी संकल्प न रहे। ध्यान, भाव, विचार, संकल्प, इच्छा, कामना का पूर्णतया बहिष्कार कर दिया जाय और भाव रहित होकर केवल आत्मा के एक केन्द्र से अपने अन्तःकरण को पूर्णतया समाविष्ट कर दिया जाय, तो साधक तुरीयवस्था में पहुँच जाता है, इस स्थिति में इतना आनन्द आता है कि उस आनन्द के अतिरेक में अपनेपन की सारी सुधि-बुधि छूट जाती हैं और पूर्ण मनोयोग होने से बिखरा हुआ आनन्द एकीभूत होकर साधक को आनन्द से परितृप्त कर देता है, इसी स्थिति को समाधि कहते हैं।

समाधि काल में अपना संकल्प ही एक सजीव एवं अनन्त शक्तिशाली देव बन जाता है और उसकी झाँकी दृश्य जगत् से भी अधिक स्पष्ट होती है। नेत्रों के दोष और चंचलता से कोई वस्तुऐं हमें धुँधली दिखाई पड़ती है

और उनकी बारीकियाँ नहीं सूझ पड़ती। परन्तु समाधि अवस्था में परिपूर्ण दिव्य इन्द्रियों और चित्त वृत्तियों का एकीकरण जिस संकल्प पर होता है, वह संकल्प सब प्रकार मूर्तिमान एवं सक्रिय परिलक्षित होता है। जिस किसी को जब कभी भी ईश्वर का मूर्तिमान साक्षात्कार होता है तथा समाधि अवस्था में उसका संकल्प ही मूर्तिमान हुआ होता है।

भावावेश में भी क्षणिक समाधि हो जाती हैं। भूत, प्रेत, आवेश, देवोन्माद, हर्ष, शोक की मूर्छा, नृत्य, वाद्य में लहरा जाना, आवेग में अपनी या दूसरे की हत्या आदि भयंकर कृत्य कर डालना, क्रोध का व्यतिरेक, बिछुड़ों से मिलन का प्रेमावेश, कीर्तन आदि के समय भाव विह्वलता, अश्रुपात: चीत्कार, आर्तनाद करुण-क्रन्दन, हूक आदि में आंशिक समाधि होती है। संकल्प में, भावना में आवेश की जितनी अधिक मात्रा होगी, उतनी ही गहरी समाधि होगी और उसका फल भी सुख या दुख के रूप में उतना ही अधिक होगा। भय का व्यतिरेक या आवेश होने पर डर के मारे भावना मात्र से लोगों की मृत्यु तक होती देखी गई है। कई व्यक्ति फाँसी पर चढ़ने से पूर्व ही डर के मारे प्राण त्याग देते हैं।

आवेश की दशा में अन्तरंग शक्तियों और वृत्तियों का एकीकरण हो जाने से एक प्रचण्ड भावोद्वेग होता है। यह उद्वेग भिन्न-भिन्न दशाओं में मूर्छा, उन्माद, आवेश आदि नामों से पुकारा जाता है। पर जब वह दिव्य भूमिका में आत्म तन्मयता के साथ होता है तो उसे समाधि कहते हैं। पूर्ण समाधि में पूर्ण तन्मयता के कारण पूर्णानन्द का अनुभव होता है। आरम्भ स्वप्न मात्रा की आंशिक समाधि के साथ होता है। दैवी भावनाओं से एकाग्रता एवं तन्मयतापूर्ण भावावेश जब होता है तो आँखें झपक जाती हैं, सुस्ती तन्द्रा या मूर्छा भी आने लगती है, माला हाथ से छूट जाती है, जप करते-करते जिह्वा रुक जाती है। अपने इष्ट की हल्की सी झाँकी होती है और एक ऐसे आनन्द की क्षणिक अनुभूति होती है, जैसा कि संसार के किसी पदार्थ में नहीं मिलता। यह स्थिति आरम्भ में स्वल्प मात्रा में ही होती है पर धीरे-धीरे उसका विकास होकर परिपूर्ण तुरीयावस्था की ओर चलने लगती है और अन्त में सिद्धि मिल जाती है।

आनन्दमय कोश के चार अंग प्रधान हैं। १- नाद, २-बिन्दु, ३-कला और ४-तुरीया। इन साधनों द्वारा साधक अपनी पंचम भूमिका को उत्तीर्ण कर लेता है। गायत्री के इस पाँचवें मुख को खोल देने वाला साधक जब एक-एक करके पाँच मुखों से माता का आशीर्वाद प्राप्त कर लेता है, तो उसे और प्राप्त करना कुछ शेष नहीं रह जाता।

सविता की ध्यान-धारणा द्वारा पंचकोशों की जागृति

साधना की क्रम-व्यवस्था

पञ्चकोश अनावरण एवं कुण्डलिनी जागरण साधनाओं को अति विशिष्ट एवं दु:साध्य साधनाएँ माना जाता रहा है। किसी हद तक यह उक्ति ठीक भी है। किन्तु अपना प्रयास सदैव यही रहा है कि हर उपयोगी प्रक्रिया को यथासाध्य जनोपयोगी बनाया जाय। प्रभु कृपा से इस प्रकार के कार्यों में अब तक आशातीत सफलता भी मिली है। अत्यन्त गूढ़ एवं कठिन समझी जाने वाली गायत्री साधना का जनोपयोगी बन जाना इसका प्रमाण है। देश-विदेश में करोड़ों व्यक्ति गायत्री साधना की सुगम विधि को अपनाकर वेदमाता की कृपा के अधिकारी बने हैं- बन रहे हैं। ब्रह्म वर्चस् साधना के अन्तर्गत पञ्चकोशी एवं कुण्डलिनी साधनाओं को भी उसी भाव से इस रूप में विकसित-प्रस्तुत किया गया है कि हर स्थिति का व्यक्ति थोड़ी-सी तत्परता बरत कर इन उच्चस्तरीय योगसाधनाओं का पर्याप्त लाभ प्राप्त कर सके।

ब्रह्म वर्चस् साधना के अन्तर्गत दोनों ही साधनाओं का प्रमुख आधार ध्यान धारणा को माना गया है। यही उचित भी है। मनुष्य के अन्दर दो दुवर्ष शक्तियाँ हैं। संकल्प एवं भाव सम्वेदना। इनमें शरीर के स्थूल अंगों से लेकर सूक्ष्म संस्थान तक हर पक्ष को प्रभावित करने की सामर्थ्य है। ध्यान धारणा में इन्हीं को प्रखर बनाकर सुनिश्चित दिशा में नियोजित किया जाता है। इसीलिए पञ्चकोश जागरण एवं कुण्डलिनी योग जैसी ही साधनाओं के लिए मुख्य आधार ध्यान धारणा को ही बनाया गया है। यों हर साधना के साथ पाँच-पाँच सहायक साधनाएँ भी रखी गई हैं। उनका अभ्यास साधक अलग से क्रमश: बढ़ाता रहता है। जैसे-जैसे उनमें गति बढ़ती है, वैसे ही वैसे साधकों की ध्यान धारणा अधिकाधिक प्रखर प्रगाढ़ होती चली जाती है। इस अध्याय में साधना की मुख्य धारा-ध्यान धारणा की ही क्रम-व्यवस्था समझायी गई है।

उच्चस्तरीय साधना में अन्त:शक्तियों को विशेष दिशा में एवं धारा से प्रवाहित किया जाता है। उसके लिए संकल्प एवं भाव सम्वेदनाओं द्वारा उन्हें ठेला ढकेला जाता है। शक्ति-धाराओं को किसी विशेष दिशा में लगाना असाधारण पुरुषार्थ का कार्य है। साधक अपनी शक्ति उसके लिए लगाता ही है, किन्तु साथ ही दिव्य-शक्तियों का सहयोग भी माँगता है। गायत्री मन्त्र के अन्त में 'प्रचोदयात्' कहकर अपनी चेतना को श्रेष्ठ मार्ग पर ठेल कर बढ़ा देने की ही प्रार्थना की गई है। उच्चस्तरीय योगसाधना में इस धारणा को सामान्य प्रार्थना स्तर से ऊपर प्रखर संकल्प, व्याकुलता भरे आग्रह, प्रखर निर्देश में बदलना पड़ता है। तभी साधना प्राणवान बनती है।

पञ्चकोशीय साधना एवं कुण्डलिनी योग दोनों के लिए संकल्प एवं भाव-सम्वेदना को दिशा देने के लिए निर्धारित व्यवस्थित संकेत बना दिये गये हैं। इसी क्रम से ध्यान प्रयोग किया जाना चाहिए। हर संकेत के बाद थोड़ा समय दिया जाता है ताकि अन्त:चेतना उसे आत्मसात् कर सके, क्रियान्वित कर सके। प्रस्तुत निर्देशों के आधार पर ध्यान धारणा में औसतन ४५ मिनट का समय लगता है।

संकेतों को ध्यान में रखकर स्वत: ही उस क्रम से ध्यान करना बहुत कठिन है। संकेतों को भली प्रकार आत्मसात् कर लेने पर ही वैसा सम्भव हो सकता है। स्मृति पर जोर डालते ही ध्यान में लगने वाली मानसिक शक्ति बिखर जाती है और ध्यान की प्रखरता घट जाती है। अत: अच्छा यह है कि कुछ लोग सामूहिक रूप से ध्यान करने बैठें तथा एक व्यक्ति व्यवस्थित क्रम से संकेत बोलता रहे। इसके लिए टैप रिकार्डर का भी प्रयोग किया जा सकता है।

विशिष्ट साधना-क्रम का अभ्यास शान्ति-कुञ्ज हरिद्वार में चलने वाले 'ब्रह्म वर्चस्' सत्रों में कराया जाता है। उपयुक्त वातावरण, प्रत्यक्ष मार्ग-दर्शन एवं समर्थ

संरक्षण में की गई साधना का महत्व हर साधक जानता है। अस्तु प्रयास यही करना चाहिए कि साधना का प्रारम्भ किसी सत्र में उसे विधिवत् सीख कर ही किया जाय। जब तक यह सम्भव न हो तब तक ध्यान धारणं का अभ्यास अपने-अपने स्थान पर भी किया जा सकता है, किन्तु क्रिया साधनाओं को तो भली प्रकार समझे-सीखे बिना नहीं ही करना चाहिए। सहयोगी साधनाएँ भिन्न-भिन्न मनोभूमि के व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न ढंग से करनी होती हैं। उन्हें भली प्रकार समझ कर करना ही उचित है। एक बार सीख कर उन्हें व्यक्तिगत रूप से ही क्रमशः आगे बढ़ाते रहना भी सम्भव है। ध्यान धारणा तो सामूहिक रूप से ही करना उचित है।

ध्यान धारणा का अभ्यास क्रम अपने-अपने स्थानों पर सप्ताह में एक बार ही किया जाना चाहिए। सहयोगी साधनाओं का अभ्यास, अपनी स्थिति के अनुरूप प्रतिदिन भी किया जा सकता है। ध्यान धारणा के लिए कोई कोलाहल हीन शान्त, स्थल चुनना चाहिए। प्रातःकाल ब्रह्म-मुहूर्त इसके लिए उपयुक्त समय है। सभी साधक स्वच्छतापूर्वक व्यवस्थित रूप से वहाँ बैठें। टेप अथवा किसी व्यक्ति द्वारा संकेतों को दुहराया जाय। संकेतों के आधार पर साधक ध्यान धारण का प्रयोग चालू रखे।

ध्यान धारणा की प्रखरता एवं लाभ इस बात पर निर्भर है साधक ने उसके दर्शन को उसके मर्म को कितनी गहराई से समझा-अपनाया है। संकेत तो सबके कानों में समान रूप से कम्पन उत्पन्न करेंगे, किन्तु अपनी-अपनी अन्तरंग तैयारी के आधार पर हर साधक के ध्यान की प्रगाढ़ता एवं उसके प्रभाव में भारी अन्तर होना सम्भव है। इसीलिए सप्ताह भर संकेतों के मर्म का अध्ययन मनन तथा एक बार उन्हें क्रियान्वित करने का ध्यान प्रयोग चलाने की बात कही गई है। साधक अपनी रुचि एवं मनःस्थिति के अनुरूप किसी एक ध्यान को ही हर सप्ताह करते रह सकते हैं। यदि दोनों को चलाना चाहें तो क्रमशः एक बार पञ्चकोशी तथा एक बार कुण्डलिनी जागरण का ध्यान प्रयोग किया जाना उचित है। यहाँ प्रारम्भ में ध्यान के संकेत दिये गये हैं तथा फिर उनके दर्शन तत्व ज्ञान एवं स्वरूप का उल्लेख किया जा रहा है। ध्यान के किस निर्देश के साथ किस अनुभूति के लिए प्रयास किया जाय, इसके लिए हर स्थल पर भिन्न टाइप में एक-एक पैराग्राफ जोड़ा गया है।

यहाँ ध्यान रहे कि साधना मार्ग पर क्रमशः ही बढ़ा जा सकता है। उतावली में सामान्य लाभ भी हाथ से निकल जाते हैं। गायत्री के उच्चस्तरीय साधना क्रम में प्रवेश करने वाले हर साधक को पहले सामान्य गायत्री साधना द्वारा अपने अन्तःकरण को इतना सबल बना लेना चाहिए कि उच्चस्तरीय प्रयोगों को वह सँभाल सके, चला सके। शान्ति-कुञ्ज के सत्रों में तो नये साधकों से भी समर्थ संरक्षण में, साधना प्रारम्भ करा दी जाती है। किन्तु बाहर तो क्रमिक रूप से ही बढ़ना उचित है। प्रस्तुत ध्यान धारणा की समग्र प्रक्रिया को तीन चरणों में विभक्त किया जा सकता है-

(१) ध्यान भूमिका में प्रवेश- यह प्रक्रिया ध्यान मुद्रा से प्रारम्भ होकर सविता शक्ति से एकत्व अद्वैत की अनुभूति तक चलती है। यह चरण पञ्चकोश एवं कुण्डलिनी दोनों ही ध्यानों में समान रूप से समाविष्ट है।

(२) विशिष्ट ध्यान प्रयोग- इसके अन्तर्गत ध्यान धारणा द्वारा अन्तरंग की शक्ति-धाराओं को पञ्चकोशी अथवा कुण्डलिनी साधना के अनुरूप सञ्चालित, सञ्चारित किया जाता है। इसके लिए दोनों प्रक्रियाओं में भिन्न-भिन्न क्रम निर्धारित हैं।

(३) समापन शान्ति-पाठ- यह प्रक्रिया विशिष्ट प्रयोग के बाद में की जाती है और दोनों प्रकार के ध्यान क्रमों में समान रूप से होती है। यह चरण असतो मा सद्गमय से प्रारम्भ होकर पञ्च ॐकार तक चलती है।

उपरोक्त आधार पर दोनों प्रकार के ध्यान के संकेत प्रारम्भ एवं अन्त में एक जैसे ही हैं, बीच में ही उनमें भिन्नता है। फिर भी सुविधा की दृष्टि से दोनों ही ध्यान प्रक्रियाओं के संकेत प्रारम्भ से अन्त तक अलग-अलग दिये गये हैं। किन्तु व्याख्याओं में पुनरोक्ति उचित नहीं है। अस्तु ध्यान भूमिका में प्रवेश संकेतों की व्याख्या केवल पञ्चकोशी ध्यान की व्याख्या के साथ की गई है। बाद में कुण्डलिनी जागरण के विशिष्ट ध्यान प्रयोग की ही व्याख्या की गई है। अन्त में समापन शान्ति-पाठ खंड की व्याख्या की गई है।

उच्चस्तरीय गायत्री साधना

पञ्चकोश जागरण की ध्यान धारणा

१. ध्यान भूमिका में प्रवेश-

(क) सावधान- कमर सीधी, दोनों हाथ गोद में, आँखें बन्द स्थिर शरीर, शान्त चित्त, ध्यान मुद्रा।

(ख) दिव्य साधना लोक- गंगा की गोद, हिमालय की छाया, सप्त ऋषियों का तप स्थान- शान्ति -कुञ्ज, ब्रह्म वर्चस गायत्री तीर्थ, अखंण्ड दीप, नित्य यज्ञ, नियमित जप, ब्रह्म संदोह, दिव्य-वातावरण, तीन दिव्यसत्ताओं का संरक्षण, दिव्य-साधना लोक।

(ग) प्रेरणा सद्गुरु देव की-भावानुभूति अपनी, संगम गंगा-यमुना का, संगम आत्मा-चेतना, ब्रह्म-चेतना का।

(घ) भाव समाधि वासना शान्त, तृष्णा शान्त, अहन्ता शान्त, उद्विग्नता शान्त।

(ङ) दिव्य-दर्शन-प्रातःकाल, पूर्व दिशा, स्वर्णिम सूर्योदय, स्वर्णिम सूर्य, सविता गायत्री का प्राण-सविता।

(च) सविता-इष्ट, लक्ष्य, उपास्य। सविता-प्रकाश, ज्ञान, प्रज्ञा। सविता-अग्नि, ऊर्जा ब्रह्म-शक्ति, सविता-ब्रह्म सविता-वर्चस्, सविता-ब्रह्म वर्चस्, सविता उपास्य। ब्रह्म वर्चस् उपास्य।

(छ) एकत्व- अद्वैत्व-साधक का सविता को समर्पण। समर्पण-विसर्जन, विलय, साधक सविता एक, भक्त भगवान एक।

२. विशिष्ट ध्यान प्रयोग-

(क) पञ्चकोश- आत्मसत्ता के पाँच कलेवर, गायत्री के पाँच मुख, चेतना के पाँच प्राण, काय-कलेवर के पाँच तत्व, अन्तर्जगत के पाँच देव पञ्चकोश-पञ्चकोश जागरण।

(ख) प्रथम अन्नमय कोश- केन्द्र नाभि चक्र, अग्नि चक्र, शक्ति भँवर, समर्थ चक्रवात्।

(ग) सविता शक्ति का प्रवेश-नाभिचक्र से अन्नमय कोश में।

(घ) अन्नमय कोश में सविता अग्नि-अन्नमय कोश, सविता-मय, अग्निमय, अग्निपिण्ड, अग्निपुञ्ज।

(ङ) अग्नि-'ओजस्', कण-कण में ओजस्, नस-नस में ओजस्, रोम-रोम में ओजस्।

(च) ओजस्-स्फूर्ति, उत्साह, ओजस् का जागरण, अग्नि चक्र का जागरण, अन्नमय कोश का जागरण।

द्वितीय प्राणमय कोश-

(छ) केन्द्र मूलाधार चक्र, प्राण चक्र, शक्ति भँवर, समर्थ चक्रवात्।

(ज) सविता शक्ति का प्रवेश, मूलाधार चक्र से प्राणमय कोश में।

(झ) प्राणमय कोश में सविता- विद्युत, प्राण विद्युत सविता, प्राणमय कोश सवितामय, विद्युतमय, विद्युत-पिण्ड, विद्युत पुञ्ज।

(ञ) प्राण विद्युत-'तेजस्' कण-कण में तेजस्, नस-नस में तेजस्, रोम-रोम में तेजस्।

(ट) तेजस्-प्रतिभा, पराक्रम साहस। प्राण विद्युत का जागरण, मूलाधार चक्र का जागरण, प्राणमय कोश का जागरण।

तृतीय मनोमय कोश-

(ठ) केन्द्र- भ्रू मध्य, आज्ञा चक्र, तृतीय नेत्र, शक्ति भँवर, समर्थ चक्रवात।

(ड) सविता शक्ति का प्रवेश, आज्ञा चक्र से मनोमय कोश में।

(ढ) मनोमय कोश में सविता 'ज्योति'-मनोमय कोश सवितामय, ज्योतिमय, ज्योति-पिण्ड, ज्योति-पुञ्ज।

(ण) ज्योति- 'प्रज्ञा' कण-कण में प्रज्ञा ज्योति, नस नस में प्रज्ञा ज्योति, रोम-रोम में प्रज्ञा ज्योति।

(त) प्रज्ञा- सन्तुलन, विवेक, प्रज्ञा जागरण, आज्ञा चक्र का जागरण, मनोमय कोश का जागरण।

चतुर्थ विज्ञानमय कोश-

(थ) केन्द्र हृदय चक्र, ब्रह्म चक्र, शक्ति-भँवर, समर्थ, चक्रवात्।

(द) सविता शचि का प्रवेश, हृदय चक्र से-विज्ञानमय कोश में।

(ध) विज्ञानमय कोश में सविता- 'दीप्ति'-विज्ञानमय कोश में सवितामय, दीप्तिमय, दीप्ति-पिण्ड, दीप्ति-पुञ्ज।

(न) दीप्ति- श्रद्धा-भक्ति, दीप्ति दिव्य दृष्टि, अतीन्द्रिय क्षमता।

(प) कण-कण में दीप्ति, नस-नस में दीप्ति, रोम-रोम में दीप्ति, हृदय चक्र का जागरण, सहृदयता का जागरण, श्रद्धा-भक्ति का जागरण, विज्ञानमय कोश का जागरण।

पंचम आनन्दमय कोश-

(फ) केन्द्र- मस्तिष्क मध्य सहस्रार चक्र, ब्रह्मरन्ध्र, शक्ति-भँवर, समर्थ चक्रवात्।

(ब) सविता शक्ति का प्रवेश-सहस्रार से आनन्दमय कोश में-अन्तर्जगत का सूर्य, सहस्रार-स्वर्णिम सूर्य सहस्रार।

(भ) आनन्दमय कोश में सविता 'कान्ति'-आनन्दमय कोश सवितामय, कान्तिमय, कान्ति-पिण्ड, कान्ति-पुञ्ज, कान्ति-तृप्ति, तुष्टि, शान्ति।

(म) सहस्रार चक्र का जागरण, आत्म-ज्ञान का जागरण, ब्रह्म ज्ञान का जागरण, आनन्दमय कोश का जागरण, पञ्चकोशों का जागरण, पञ्चतत्वों का जागरण, पञ्च प्राणों का जागरण, पञ्चदेवों का जागरण।

समापन शान्ति-पाठ-

(क) ॐ तमसोमा ज्योतिर्गमय, असतोमासदगमय, मृत्योर्माअमृतम् गमय तमसोमा तमसोमा तमसोमा ज्योतिर्गमय ज्योतिर्गमय ज्योतिर्गमय तमसोमा ज्योतिर्गमय।

(ख) पञ्च ॐकार, ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

ध्यान धारणा का आधार और प्रतिफल

भूमि का उर्वर और रत्न गर्भा होना सर्वविदित है। आकाश से जल और जीवन बरसने की बात भी सभी जानते हैं। समुद्र के उत्पादनों, अनुदानों का कोई वारापार नहीं। मानवीसत्ता इन सबसे बढ़कर है। यदि व्यक्तिगत की गुप्त प्रकट परतों को ठीक तरह समझा और सँजोया जा सके तो इस हाड़-मांस की काया में देवताओं और अवतारों की झाँकी हो सकती है। पराक्रम और पुरुषार्थ के आधार पर ही सम्पदाएँ कमाई और सफलताएँ पाई जाती हैं।

काया का प्रत्येक अवयव अद्भुत है। उसकी संरचना और क्रिया शक्ति को जितना ही गहराई से देखा जाता है, उतना ही उसे रहस्यमय और आश्चर्यजनक पाया जाता है। इन सब अवयवों में मस्तिष्क सर्वोपरि है। उसके चेतन, अचेतन और उच्च चेतन की गतिविधियों को देखने से पता चलता है कि इसका अधिष्ठाता सूत्र संचालक जीवात्मा कितना महान होना चाहिए। लोक-व्यवहार की कुशलता, शिक्षा, अनुभव, कला, शिल्प आदि की अर्थ उपार्जन, यश सम्पादन, सुख-साधन जैसी क्षमताओं से सभी परिचित हैं। फलत: प्रत्येक विज्ञ व्यक्ति अपनी और अपने स्वजनों की बौद्धिक क्षमता विकसित करने के लिए समुचित प्रयत्न करता है। शरीर सभी के लगभग एक जैसे- मिलते-जुलते हैं। विशेषता मानसिक धरातल की है जो उसे विकसित कर लेते हैं, वे अनेकानेक सफलताएँ पाते हैं जो इस क्षेत्र में पिछड़े रह जाते हैं उन्हें अभावग्रस्त, कष्टसाध्य एवं घटिया स्तर पर गुजारा करना पड़ता है। जीवन की प्रगति अवगति का बहुत कुछ आधार मनुष्य के बौद्धिक स्तर पर निर्भर रहता है।

यह सचेतन मस्तिष्क की प्रक्रिया हुई। अचेतन के आधार पर अवयवों की आन्तरिक गतिविधियाँ चलती हैं। भली-बुरी आदतें उसी में जड़ें जमाये पड़ी रहती हैं। रुचियों एवं आकांक्षाओं की पटरी जिधर भी मुड़ती है, जीवन की रेल उसी भली-बुरी दिशा में दौड़ती चली जाती है। काय कलेवर का स्वरूप, आकर्षण, उसका पौरुष, कौशल बहुत करके अचेतन मस्तिष्क का निर्माण कौशल होता है। विधि का विधान और भाग्य निर्धारण किन्हीं अज्ञात शक्तियों द्वारा बना कहा जाता है। यह रहस्यमय अज्ञात-व्यक्तित्व का सृष्टा और कोई नहीं, मात्र अचेतन ही है जो मस्तिष्क की गहन कन्दराओं में बैठा जीवन की दिशा धाराओं का निर्धारण-सूत्र सञ्चालन करता रहता है। मस्तिष्क विज्ञान के ज्ञाता कहते हैं कि मन:संस्थान के रहस्यों का बहुत थोड़ा अंश अभी जाना जा सका है। ज्ञात की तुलना में अविज्ञात कहीं अधिक विस्तृत है। मस्तिष्कीय क्षमताओं का एक अति स्वल्प भाग ही काम में आता है, यदि उसकी मूर्च्छाग्रस्त परतें जगाई और काम में लाई जा सकें तो सामान्य दीखने वाली मानवी काया में दैत्याकार शक्ति-सत्ता के दर्शन हो सकते हैं। यदि अचेतन पर नियन्त्रण कर सकना सम्भव हो सके तो वह उक्ति अक्षरश: सत्य सिद्ध हो सकती है, जिसमें मनुष्य को अपने भाग्य का स्वयं निर्माता कहा गया है।

चेतन और अचेतन के ऊपर की परत उच्च चेतन (सुपर का शस) की है। यह ब्रह्माण्डीय चेतना के साथ अपना सम्पर्क साधती और आदान-प्रदान का द्वार खोलती है। सूक्ष्म-जगत में भरे हुए पदार्थ और चलते हुए प्रवाह अपने इस स्थूल जगत की तुलना में अत्यन्त उच्चकोटि के हैं। उनके साथ आदान-प्रदान का सिलसिला चल पड़े तो मनुष्य उन रहस्यमय जानकारियों से परिचित हो सकता है जो सर्वसाधारण को विदित नहीं । उन दिव्य सहायताओं को प्राप्त कर सकता है जो सर्वसाधारण को उपलब्ध नहीं। स्थूल शक्तियों के सहारे- स्थूल जगत के कुछ पदार्थ साधन ही उपलब्ध हो पाते हैं, पर सूक्ष्म शक्तियों के सहारे सूक्ष्म जगत से ऐसे अनुदान प्राप्त किये जा सकते हैं जिन्हें देव वरदान की संज्ञा दी जा सके। अतीन्द्रिय ज्ञान एवं आत्मबल के सहारे कितने ही चमत्कारी व्यक्तित्वों एवं घटना-क्रमों के विवरण देखने-सुनने में आते रहते हैं। यह अपने ही उच्च चेतन मन की विशिष्टता है जो सक्रिय होने पर अलौकिकता का परिचय देती है।

मस्तिष्कीय नियन्त्रण अति कठिन है। आत्मसत्ता सर्व समर्थ होते हुए भी असहायों, अनाथों, असमर्थों और अभावग्रस्तों जैसा जीवन-यापन करती है, इसका सर्व प्रमुख

कारण एक ही है आत्म-नियन्त्रण का अभाव। प्रवृत्तियाँ उच्छ्रृंखल घोड़े की तरह मनमानी उछल-कूद मचाती रहती हैं। जब मन: स्थिति पर ही नियन्त्रण नहीं तो परिस्थितियों पर काबू कैसे पाया जाय ? परिस्थितियों में सुधार तो हर कोई चाहता है, पर मन:स्थिति में हेर-फेर करना बन नहीं पड़ता, ऐसी दशा में सुख-शान्ति के मनोरथ अधूरे ही बने रहते हैं। तत्वदर्शी कहते रहे हैं जिसने 'आत्म-विजय कर ली उसने संसार जीत लिया।' इस उक्ति में इतनी सचाई तो है ही कि आत्म-नियन्त्रण कर सकने पर अपने व्यक्तिगत संसार को इच्छानुकूल ढालना-इच्छानुरूप बनाना-सम्भव हो जाता है। आत्म-नियन्त्रण का अर्थ है अपने चिन्तन तन्त्र पर अपना अधिकार-अपना नियन्त्रण स्थापित कर लेना। यह कार्य विचारों की अनियन्त्रित उछल-कूद को इच्छित दिशा धारा में लगा सकने के रूप में सम्पन्न होता है। इसका अभ्यास ध्यानयोग के द्वारा किया जाता है। मन के सामने कुछ स्वरूप कुछ विस्तार प्रस्तुत किये जाते हैं और उस पर दबाव डाला जाता है कि वह उसी केन्द्र तक अपनी गतिविधियाँ सीमित रखे। अनियन्त्रित उछल-कूद बन्द करे। यों यह कार्य अति कठिन है, पर सुदृढ़ संकल्प एवं सतत प्रयत्न से इसमें भी धीरे-धीरे सरलता होती और सफलता मिलती जाती है। मनोविग्रह की आदत कभी रहीं नहीं। मनके पीछे ही अपना व्यक्तित्व घिसटता रहा है। कुसंस्कारी मन आलस्य प्रमाद से लेकर दुर्व्यसनों, दुष्कर्मों और दुष्प्रवृत्तियों में रस लेने का अभ्यस्त रहा है। उसे रोका, सँभाला, साधा गया होता तो कब का सुसंस्कृत बन गया होता और अपनी सम्मान श्रद्धास्पद सज्जनों में हो चुकी होती। अजस्र सहयोग और सम्मान सब ओर से बरस रहा होता। मन का अनगढ़पन ही है, जिसने प्रवृत्तियों और गतिविधियों को हेय स्तर का बनाकर पिछड़ेपनकी वर्तमान दुर्दशा में पड़े रहने के लिए विवश कर दिया। परिस्थितियों में यदि चिरस्थायी सुधार करना हो तो मन:स्थिति में घुसी हुई विकृतियों का परिमार्जन करना होता है। इस परिमार्जन के लिए अपने ऊपर आप नियन्त्रण स्थापित करने की कला सीखनी होती है। ध्यानयोग का समूचा शास्त्र इसी उद्देश्य के लिए गढ़ा गया है।

ध्यान के कई उद्देश्य हैं- (१) अनगढ़ दिमागी उछल-कूद को नियन्त्रित करना (२) नियन्त्रित विचार शक्ति को अभीष्ट प्रयोजन में नियोजित कर सकना (३) एकाग्रता द्वारा बौद्धिक प्रखरता उत्पन्न करना (४) संकल्प-शक्ति को किसी भी केन्द्र पर केन्द्रित करके वहाँ चमत्कारी हलचलें उत्पन्न करना (५) चेतना की रहस्यमयी परतों को अपने ही मनोबल से उभारना, उछालना (६) अवांछनीय कुसंस्कारों का उन्मूलन (७) सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्धन (८) प्रतिकूलताओं के बीच भी सन्तुलन बनाये रहना (९) हर स्थिति में आनन्द और उल्लास भरी मनोभूमि बनाये रहना (१०) अपनी विचार विद्युत से सम्पर्क क्षेत्र को प्रभावित करना और वातावरण में सुख-शान्ति सम्वर्धक तत्वों को बढ़ा कर लोक-मंगल का पथ-प्रशस्त करना।

यह ध्यान धारणा के लौकिक-बौद्धिक प्रयोग हैं। यह लाभ थोड़ी-सी सावधानी एवं तन्मयता के सहारे कोई नास्तिक समझा जाने वाला व्यक्ति भी उठा सकता है। यह ध्यान प्रक्रिया के सामान्य एवं माध्यमिक स्तर का प्रयोग मात्र है,किन्तु आज के बुद्धि एवं तर्क प्रधान व्यक्ति भी इसकी उपयोगिता से इनकार नहीं कर सकते। यह लाभ सामान्य श्रद्धा सम्वेदना युक्त व्यक्ति भी प्राप्त कर सकता है।

इससे आगे ध्यान के उच्चस्तरीय लाभ हैं। उसके लिए विशिष्ट श्रद्धा एवं भाव-सम्वेदनाओं से सम्पन्न अन्त:करण की आवश्यकता पड़ती है। उसके अन्तर्गत साधक अपनी चेतना को महत् चेतना से जोड़ सकता है। गुरु एवं इष्ट की शक्तियों को आकर्षित करना, उन्हें धारण करना इसी स्तर के ध्यान प्रयोग से सम्भव होता है। आत्मतत्व को परमात्मा तत्व से एकाकार करना इसी के सहारे सम्भव होता है। यह बात ठीक है कि मनुष्य में स्वत: ही अद्भुत शक्तियों का भण्डार विद्यमान है और वह उन्हें अपने ही प्रयत्न पुरुषार्थ से जागृत भी कर सकता है। प्राथमिक, माध्यमिक स्तर का ध्यान प्रयोग इसीलिए है। किन्तु उच्चस्तरीय ध्यान प्रयोग में दिव्यात्माओं का प्रत्यक्ष संयोग पा सकना, मनुष्य की सीमित सत्ता से असीमसत्ता का योग-संयोग सम्भव है। ईश्वर प्राप्ति, जीवन-लक्ष्य प्राप्ति, आत्मा का परमात्मा से योग आदि ध्यान धारणा के उच्चस्तरीय उद्देश्य हैं।

जिस प्रकार शारीरिक, बौद्धिक, आर्थिक, सुसम्पन्नता के सम्वर्धन में अपने-अपने सम्पर्क क्षेत्र की ओर सार्वजनिक हित साधन की संगठना बढ़ती है, उसी प्रकार मन:संस्थान के परिष्कृत और प्रखर बनने से भी व्यक्ति और समाज के लिए कल्याणकारक परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। स्थूल जगत से हम अनेकों प्रकार के लाभ अपने

प्रत्यक्ष पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त करते रहते हैं। सूक्ष्म जगत की विभूतियाँ और भी बढ़ी-चढ़ी हैं। उन्हें आकर्षित कर सकना जिस प्रचण्ड मनोबल द्वारा सम्भव होता है उसे उत्पन्न करने के लिए ध्यान योग की प्रक्रिया अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध होती है। अनियन्त्रित वन्य पशु अपने लिए हानिकारक ही बने रहते हैं, पर जब उन्हें पालतू प्रशिक्षित कर लिया जाता है तो अनेक प्रकार के लाभ देने लगते हैं। ठीक इसी प्रकार अपनी अनेकों क्षमताओं को जब इच्छानुसार नियन्त्रित एवं नियोजित करने की कुशलता हस्तगत हो जाती है तो उतने भर से व्यक्तित्व असाधारण रूप से समर्थ एवं सुसंस्कृत दृष्टिगोचर होने लगता है। बिना किसी दूसरे की सहायता के अपनी ऐसी आन्तरिक प्रगति कर सकना मानवी जीवन की बहुत बड़ी सफलता है। इस उपलब्धि के सहारे कितने प्रकार की- कितनी अधिक मात्रा में सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं, इसे देखते हुए ध्यानयोग को किसी चमत्कारी देवता की सुनिश्चित आराधना करने के समतुल्य ही ठहराया जा सकता है।

ध्यान से भगवान प्राप्त होते हैं- आत्म-साक्षात्कार का अवसर मिलता है, निरोगता और बलिष्ठता का लाभ मिलता है, गुप्त शक्तियाँ जागृत होती हैं, ऋद्धि-सिद्धियों भरे वरदान प्राप्त होते हैं जैसे अनेकों लाभ साधना शास्त्र में गिनाये गये हैं। यह कथन यथार्थ है। चेतना की सामर्थ्य अनन्त है। उससे लाभान्वित होने में एक ही बाधा है कि मनोनिग्रह की कला हस्तगत नहीं होती। जिसने इस कौशल में प्रवीणता प्राप्त करली समझना चाहिए कि उसने अनेकों देव-दानव वशवर्ती कर लिए।

पञ्चकोशों की ध्यान धारणा से अपनी ही चेतना के पाँच प्राण- अपनी ही काया के पञ्च तत्व इतने प्रखर, परिष्कृत हो जाते हैं कि उन्हें दश दिक्पाली की-दश दिग्गजों की उपमा दी जा सके। गायत्री माता की पाँच मुखी प्रतिमाओं में अलंकारिक रूप से इन्हीं अन्तर्जगत के पाँच देवों की शक्तियाँ सन्निहित होने का संकेत है। इस ध्यान धारणा को यदि ठीक तरह किया जा सके तो उससे अन्तर्जगत का शासन हाथ में आता है और साथ ही सूक्ष्म जगत से महत्वपूर्ण आदान-प्रदान का लाभ मिलता है।

कुण्डलिनी जागरण की ध्यान साधना में-काय-कलेवर में-बीज रूप से समाहित असंख्य शक्तियों के उद्भव एवं उपयोग का द्वार खुलता है। कुण्डलिनी शरीरगत ऊर्जा है जिसके सहारे भौतिक जगत की अनेक शक्तियों को आकर्षित करके समर्थ शक्तिवान बना जा सकता है। पंचकोश अनावरण में चेतना शक्ति की रहस्यमय परतों को उभारा जाता है। आत्मसत्ता को पंचकोशों के और काय सत्ता को कुण्डलिनी के माध्यम से प्रखर बनाया जाता है। इस उभय-पक्षीय प्रयोजन की सिद्धि में अन्य साधनाओं को अतिरिक्त ध्यान धारणा का सर्वोपरि स्थान है।

ध्यान की मोटी जानकारी सामान्य लोगों को इतनी ही होती है कि उस समय कोई तस्वीर सामने खड़ी रहनी चाहिए और मन उसमें रमा रहना चाहिए। यह आंशिक सत्य है और ध्यान का यह भी एक उपाय है। यह स्थिति आती भी है। पर जिनकी मानसिक संरचना इस प्रकार के चित्र अपने संकल्प बल से उभारने की होती है, उन्हीं को ऐसे कल्पना चित्र आरम्भ में धुँधले पीछे अधिक स्पष्ट दीखते हैं। पर यह स्थिति हर किसी को प्राप्त नहीं हो सकती, यह मस्तिष्कीय विशिष्ट प्रकार की संरचना से ही सम्भव है। उनमें भी ऐसा अभी होता है जब वे अपनी समस्त भावना, कल्पना, श्रद्धा एवं एकाग्रता का समन्वय करके इष्टदेव के अथवा दूसरे प्रकार के चित्रों को उभारने की सतत् साधना जारी रखें।

ध्यान पर बैठते ही हर साधक को अभीष्ट दृश्य अनायास ही प्रकट होने लगेंगे और वे मजे-मजे में फिल्म की तरह उसे देखते रहा करेंगे, ऐसी मान्यता बना लेना नितान्त उपहासास्पद है और ऐसी है जिसका पूरा हो सकना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है। भाव चित्र आरम्भ में मूर्तियों या तस्वीरों के माध्यम से मस्तिष्क पर जमाये जाते हैं। उन्हें आँख खोलकर देखने और फिर आँखें बन्द करके उसी दृश्य को देखने के त्राटक प्रयोग की तरह अभ्यास में उतारा जाता है, तब कहीं धीरे-धीरे आधे अधूरे भाव चित्रों का निर्माण होता है और वह क्रमिक प्रगति आगे बढ़ती है।

हम मस्तिष्क की संरचना भाव चित्र उभारने, ध्यान में अभीष्ट दृश्य देखने की नहीं होती। अस्तु उनके लिए ध्यान को केन्द्रित करने के लिए दृश्योग का- बिन्दुयोग का- अभ्यास नहीं कराया जाता है। मूल उद्देश्य विचार प्रवाह के बिखराव को रोक कर एक सीमित प्रयोजन में केन्द्रित होने का अभ्यास कराया जाता है। यह पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से हो सकता है। कर्णेन्द्रिय के माध्यम से नादयोग-नासिका द्वारा गन्धयोग-जिह्वा द्वारा रसनायोग- त्वचा द्वारा स्पर्शयोग के अनेकों विधि-विधान हैं, जिनमें सूक्ष्म नेत्रों द्वारा दृश्यों को देखा जाता है।

आरम्भ के साधकों के लिए यह अधिक उपयुक्त है कि एक श्रेष्ठ विचारधारा के प्रवाह में बहने के लिए रास्ता बना दिया जाय। वैज्ञानिकों, साहित्यकारों, दार्शनिकों की ध्यान धारणा इसी प्रकार की होती है कि वे एक सीमित विचार-पद्धति को अपनाकर उसी दायरे में अपने चिन्तन क्रम को नियोजित किये रहते हैं और उसके आश्चर्यजनक सत्परिणाम उपलब्ध करते हैं। पञ्चकोशों और कुण्डलिनी जागरण की ध्यान धारणा में यही नीति अपनाई गई है। उसमें चिन्तन प्रवाह मुख्य है। उसी के अनुरूप मानचित्र जितने कुछ उभर सकें एक फिल्म कथानक की तरह उभरते रहने चाहिए। उसमें इष्टदेव दर्शन की तरह किसी चित्र विशेष का कोई साक्षात्कार होना आवश्यक नहीं है। किसी विशेष चिन्तन में सहज ही क्षण-क्षण में असंख्यों चित्र उभरते और लिप्त होते रहते हैं, इतने पर भी उसे ध्यान ही कहा जाता है। प्रस्तुत ध्यान धारणा का भी यही स्वरूप है। उसमें जो निर्देश-संकेत दिये गये हैं, उनको यदि समुचित महत्व दिया जाय और तद्नुरूप गहरा चिन्तन चलता रहे तो समझना चाहिए कि ध्यान धारणा का अभीष्ट प्रयोजन बिलकुल ठीक तरह पूरा हो रहा है और उसका सत्परिणाम निश्चित रूप से उपयुक्त ही होगा।

दिव्य-दर्शन का उपाय अभ्यास

आँखें खोलकर जो प्रत्यक्ष पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं उन्हें देखना या दर्शन कहते हैं। दर्शन प्रत्यक्ष है। भगवान् का दर्शन स्थूल रूप से प्रतिमाओं एवं चित्रों के रूप में किया जाता है। विराट् दर्शन के रूप में भी प्रक्रिया सम्पन्न हो सकती हैं। इस निखिल ब्रह्माण्ड को ईश्वर की साकार प्रतिमा माना जा सकता है। पूजा कक्ष में- देव मन्दिर में स्थापित प्रतिमाओं को भी भगवान के रूप में देखा जा सकता है। अवतारी महामानवों में- गुरुजनों में भी श्रद्धा का आरोपण करके उन्हें ईश्वर की चलती-बोलती प्रतिमा समझा जा सकता है। अभिनय के सहारे भी दिव्य प्रेरणाओं को आँखों के सहारे मस्तिष्क तक पहुँचाया जाता है। पुस्तकें पढ़ते हुए भी नेत्र सद्ज्ञान की सत्कल्पनाओं सहित मस्तिष्क में दिव्य स्थापनाएँ करते हैं। तीर्थों, नदियों, पर्वतों, वृक्षों, स्मारकों में भी ऐसी ही अनुभूतियाँ होती हैं। यह प्रत्यक्ष दर्शन हुआ। स्थूल पदार्थों के सहारे चेतना को प्रभावित करने का यही तरीका है।

इससे आगे सूक्ष्म जगत में प्रवेश करने का प्रसंग आता है। इसमें जो देखा जाता है वह पदार्थपरक नहीं भाव निर्मित होता है। देखने के लिए चर्म-चक्षुओं से नहीं, ज्ञान-चक्षुओं से काम लिया जाता है। यही ध्यान धारणा है। ध्यान में दिव्य-चक्षु ज्योतिर्मय करने पड़ते हैं। सामान्यतया वे धुँधले पड़े रहते हैं। कल्पना से जो देखा जाता है वह प्रायः वही होता है जो चर्म-चक्षुओं से रुचिपूर्वक देखा जाता रहा है। इसके अतिरिक्त जो देखा नहीं गया है या उपेक्षापूर्वक देखा गया है उसका ध्यान करने में विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। दिव्य चक्षुओं को जागृत करने का अभ्यास अन्तःत्राटक के माध्यम से होता है। अन्तःत्राटक में किसी आकर्षक वस्तु को पहले आँखें खोलकर प्रत्यक्ष रूप से विशेष रुचिपूर्वक देखा जाता है पीछे आँखें बन्द करके उस दृश्य को उसी स्थान पर उसी रूप में कल्पना द्वारा देखने की चेष्टा की जाती है। अभ्यास से कुछ समय में साधक का कल्पना तन्त्र ऐसा हो जाता है कि जिसका ध्यान करना है वह दिव्य-चक्षुओं से कल्पना क्षेत्र में अधिक स्पष्ट दिखाई देने लगे। आरम्भ में तो धुँधले एवं अस्थिर चित्र ही दृष्टिगोचर होते हैं। त्राटक देव प्रतिमाओं के माध्यम से किया जाता है। किसी मूर्ति या चित्र को पहले अधिक गम्भीरता के साथ रुचिपूर्वक आँखें खोलकर देखा जाता है। पीछे आँखें बन्द करके उसी प्रतिमा का ध्यान करते हैं तो भाव लोक में उसकी झाँकी होने लगती है। व्यक्ति विशेष के साथ घनिष्ट लगाव हो तो उसके ध्यान चित्र भी जागृति एवं सुषुप्ति में दृष्टिगोचर होते रहते हैं। वियोग आरम्भ होने पर अथवा संयोग की निकटता पर आतुरता बढ़ जाती है और प्रियजनों की छवि मस्तिष्क में परिभ्रमण करती रहती है। यह बिना प्रयत्न के सम्पन्न हुआ त्राटक है।

दीपक के सहारे त्राटक अभ्यास का प्रचलन अधिक है। दीपक को प्रायः तीन फुट दूरी पर कन्धों की ऊँचाई सीध पर रखा जाता है। उसे दस सैकिण्ड खुली आँखों से देखकर पलक बन्द कर लिए जाते हैं और फिर उसी स्थान पर दीपक का दिव्य चक्षुओं से ध्यान किया जाता है। अभ्यास परिपक्व होने पर बिना दीपक की सहायता के भी जब इच्छा हो उस ज्योति के दर्शन किये जा सकते हैं। चन्द्रमा, तारे, प्रातःकालीन सूर्य, बल्व जैसे प्रकाशवान अन्य पदार्थों को कुछ क्षण देखकर पीछे उनका ध्यान किया जा सकता है। पीछे कम प्रकाश की वस्तुएँ भी ध्यान के लिए चुनी जा सकती हैं। वृक्ष, जलाशय, मन्दिर, व्यक्ति विशेष आदि को भी इस अभ्यास के लिए चुना जा सकता है। मैस्मरेजम में सफेद कागज पर काली स्याही से गोला बनाकर भी घूरने की क्रिया की जाती है। यही प्रयोजित वस्तु को कुछ समय

देखने और उस छवि को मस्तिष्क में जमा लेने पर अभीष्ट ध्यान करने में सरलता हो सकती है। प्रकाश ज्योति का या इष्टदेव की छवि का प्रायः इसी प्रकार ध्यान किया जाता है।

ध्यान में प्रधानता रूप कल्पना ही प्रमुख रहती है। दिव्य चक्षुओं से कल्पना नेत्रों के सहारे भाव चित्रों को गढ़ा जाता है और उन्हें मन:लोक में देखा जाता है। यह ध्यान की अधिक प्रचलित प्रक्रिया है। अन्य ज्ञानेन्द्रियों के सहारे भी ध्यान हो सकता है। कर्णेन्द्रिय के सहारे शब्दों का ध्यान किया जाता है। शंख, घड़ियाल, घण्टी, झाँझ आदि बजाना और फिर उस ध्वनि का ध्यान करना यह स्थूल नादयोग है। सूक्ष्म जगत में अनाहत ध्वनियाँ विचरण करती हैं उन्हें सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय से विशेष एकाग्रता एवं तन्मयता की मन:स्थिति बनाकर सुना जाता है। इस प्रकार नाद श्रवण में कई प्रकार की दिव्य ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। अधिक प्रगति होने पर इस नाद साधना के सहारे सूक्ष्म जगत के दिव्य सन्देश सुने जा सकते हैं और अविज्ञात को विज्ञात की तरह जाना जा सकता है। नासिका से कोई तीव्र गन्ध सूँघना और उसे हटा कर ध्यान द्वारा उसी गन्ध की अनुभूति करना घ्राणेन्द्रिय द्वारा ध्यान साधना का अभ्यास है। जिह्वा से मिर्च, मिश्री, नमक, नीबू जैसे तीव्र स्वाद वाले पदार्थ चखना और पीछे वैसे ही स्वाद की अनुभूति करना रसना की ध्यान प्रक्रिया है। त्वचा से ठण्डी या गर्म वस्तुऐं छूना फिर उन्हें हटाकर उसी प्रकार की अनुभूति करना यह स्पर्श की ध्यान साधना है। ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से किसी केन्द्र बिन्दु पर ध्यान एकाग्र करना त्राटक कहलाता है। इससे चेतना का बिखराव घटता और केन्द्रीकरण का अभ्यास बढ़ता है। इस प्रकार केन्द्रित शक्ति को ध्यान धारणा या जिस भी लक्ष्य पर लगाया जाय उसी में सफलता मिलती है। योग की परिभाषा करते हुए महर्षि पातञ्जलि ने उसे 'चित्त-वृत्तियों' को निरोध कहा है। इसका तात्पर्य बिखराव के अपव्यय को रोक कर उस सञ्चय को उच्च उद्देश्य के लिए नियोजित करना ही है। ज्ञान चक्षुओं का, दिव्य चक्षुओं का उन्मीलन इसी प्रक्रिया के सहारे सम्पन्न होता है।

यह तो हुई दिव्य चक्षुओं को कल्पना चित्र बना सकने के लिए सक्षम बनाने की प्रक्रिया। अब कल्पना चित्र-भाव चित्र गढ़ने का दूसरा प्रकरण आरम्भ होता है। यह ध्यान धारणा का उत्तरार्ध है। पूर्वार्ध में चित्र कल्पना गढ़ सकने वाले दिव्य नेत्र संस्थान को प्रखर बनाना है। दूसरा चरण यह है कि जो कल्पनाऐं उभरनी हैं, उनके दृश्यों को पूरी गम्भीरता से सम्वेदना क्षेत्र में उतारा जाय। अनुभव किया जाय कि कल्पना नहीं, वरन् प्रत्यक्ष घटना है। सजगता, गम्भीरता और तत्परता के साथ कोई भी कल्पना की जाय, साकार बनकर मन:क्षेत्र में आ उपस्थित होगी। भूत का भय जब मस्तिष्क पर पूरी तरह आच्छादित हो जाता है तो कल्पना उस भूत की कल्पना ही नहीं गढ़ती, वरन् उसे साकार एवं सशक्त भी बना देती है। वह कल्पित भूत जो उत्पन्न करता है उसके लिए कई बार प्रत्यक्ष शत्रु से भी अधिक प्राणघातक सिद्ध होता है। पर यह भूत अन्यमनस्क कल्पना से उत्पन्न नहीं हो सकता। उसके लिए वास्तविक बन सकने वाली सघन मान्यता की आवश्यकता होती है। इससे कम में ध्यान के लिए आवश्यक कोई प्रतिमा, घटना या प्रक्रिया प्रत्यक्ष नहीं हो सकती।

निर्धारित ध्यान के समय पर ही अभीष्ट भाव चित्र उभारे जायँ तो समुचित सफलता नहीं मिलेगी। होना यह चाहिए कि अभिनय के रिहर्सल की तरह अवकाश के समय उसका अभ्यास करते रहा जाय। फिल्म को पर्दे पर दिखाने से पहले उसका शूटिंग होता है। इससे भी पहले पात्रों को उस अभिनय का अभ्यास रिहर्सल कई-कई बार करना होता है। जब वे वैसा कर सकने में अभ्यस्त हो जाते हैं तब फिल्म खींचने का क्रम चालू होता है। ठीक प्रक्रिया ध्यान के लिए जो दृश्य प्रत्यक्ष करना है उसका सुविधा के समय पूर्वाभ्यास करना आवश्यक है।

ब्रह्मवर्चस् ध्यान धारणा में किसी प्रतिमा विशेष पर चित्त को केन्द्रित करना नहीं सिखाया जाता, वरन् एक दिशा धारा के प्रवाह में बहना पड़ता है। आरम्भ कक्षा में गायत्री माता की छवि पर ध्यान केन्द्रित करना- उनके अंग-प्रत्यंगों को वस्त्र-आभूषण, वाहन, उपकरण आदि को भक्ति-भावनापूर्वक निहारते रहना पर्याप्त होता है। प्रथम वर्ग के साधकों के लिए गायत्री माता का ध्यान कराया जाता है। अबोध शिशु का माता से ही परिचय होता है। वही उसका लालन-पालन करती है। थोड़ा बड़ा होने पर पिता से परिचय होता है। वस्त्र, शिक्षा, विवाह, उद्योग आदि के लिए पिता के अनुदान की आवश्यकता पड़ती है- पर वह भी तब जब बच्चा कुछ बड़ा हो जाता है। आयु वृद्धि के साथ-साथ माता के दुलार की आवश्यकता घटती और पिता के अनुदान की बढ़ती जाती है। गायत्री माता और सविता पिता है। उच्चस्तरीय साधना में सविता की उपासना की जाती है। ध्यान धारणा में उसी की प्रमुखता रहती है। सो

भी मात्र प्रकाश पिण्ड को दिव्य चक्षुओं से देखने भर में काम नहीं चलता, वरन् उसके प्रेरणा प्रवाह को आत्मसत्ता के प्रत्येक क्षेत्र में ओत-प्रोत करना होता है। इसमें पूरा विचार प्रवाह बन जाता है। एक फिल्म जैसी बन जाती है।

ध्यान धारणा का उच्चस्तर है। केन्द्रित करना तो बिखराव की रोकथाम भर है। मात्र केन्द्रित करना ही लक्ष्य नहीं है। केन्द्रित शक्ति को किसी न किसी दिशा धारा में प्रयुक्त करने पर ही उसका कुछ सत्परिणाम निकल सकता है। मैस्मरेजम अभ्यास का आरम्भ काले गोरे का ध्यान एकाग्र करने से होता है। पीछे उस केन्द्रीकरण को चिकित्सा उपचार आदि में नियोजित करना पड़ता है। बाँध में पानी रोका जाता है पीछे उसे नहर रजवाहों में होकर खेत, बगीचों में भेज दिया जाता है। बन्दूक की नली में बारूद केन्द्रित की जाती है, पीछे उसे कोई निशाना बेधने के लिए दाग दिया जाता है। विचारों के बिखराव को केन्द्रित करना, ध्यान का प्रथम चरण और पीछे उसे वैज्ञानिक शोध, साहित्य सृजन जैसे भौतिक कार्यों में अथवा अध्यात्म तत्व दर्शन में- ब्रह्म सन्दोह में नियोजित कर दिया जाता है। ब्रह्म वर्चस् ध्यान साधना में सविता शक्ति को पाँच कोशों अथवा कुण्डलिनी शक्ति के साथ संयुक्त करके उसके उपयोगी फसल उगाने जैसे सत्परिणाम उत्पन्न करने होते हैं। इसलिए यह एकाग्रता मात्र की प्रक्रिया नहीं है, वरन् उसमें आत्मसत्ता के विभिन्न पक्षों को परिष्कृत करने के विशेष उद्देश्य सन्निहित रहने से भाव चित्रों का भी पूरा विस्तार है।

ध्यान धारणा के समय निर्दिष्ट भाव चित्र ठीक प्रकार उभरने लगें, अनुभूतियाँ उसी प्रकार होने लगें जैसा कि निर्देशन में बताई गई हैं। इसके लिए नियत समय के अतिरिक्त भी प्रयोग एवं अभ्यास करते रहना चाहिए। वह अभ्यास भी विधिवत् अभ्यास से थोड़ा बहुत ही कम रहता है, निरर्थक नहीं जाता और उत्साहवर्धक सत्परिणाम उत्पन्न करता है। आरम्भ में धुँधले, अधूरे चित्र रहें, चित्त पूरी तरह न जमे तो निराश नहीं होना चाहिए, वरन् प्रयत्नपूर्वक अभ्यास में लगे रहना चाहिए। धीरे-धीरे भाव चित्र अधिक स्पष्ट होने लगेंगे और बीच-बीच में जो श्रृंखला टूटती थी वह भी न टूटेगी। यह सब समय-साध्य है। अस्तु तत्काल ही सफलता न मिले तो भी श्रद्धा-विश्वासपूर्वक प्रयत्न रहना चाहिए देर-सबेर में ध्यान की परिपक्वावस्था अवश्य आवेगी।

कई बाल बुद्धि लोग भाव चित्रों को उभारने का प्रयत्न करते नहीं उलटे इस प्रकार की आशा करते हैं कि जिस प्रकार टेलीविजन के काँच पर तस्वीरें आती हैं वैसे ही कुछ चित्र-विचित्र दृश्य अपने आप ही दीखने लगेंगे। हमें तो मात्र दर्शक की तरह चुपचाप बैठे देखते भर रहना पड़ेगा। यह तो ऐसा ही उपहासास्पद है कि बगीचा लगाने का परिश्रम किये बिना ही उद्यान की प्रस्तावित भूमि पर आकाश से अनायास ही फल-फूलों की वर्षा होने लगेगी। ऐसा हो सकना असम्भव है। निर्देशन को सुन लेने, पढ़ लेने या मन में दुहरा लेरे भर से ध्यान धारणा के भाव चित्र अपने आप उभरने या दीखने लग जायेंगे यह सोचना तो ऐसा ही है कि बिना व्यायामशाला के अभ्यास का झंझट किये ही दंगल जीतने का पहलवानी यश तथा पुरस्कार मिल जायेगा। प्रतिफल तो प्रयत्नों का ही होता है जो इस तथ्य को जानते हैं वे धैर्यपूर्वक दिव्य-चक्षुओं को ज्योतिर्मय बनाने तथा भाव चित्रों को गढ़ सकने वाली उर्वर कल्पना शक्ति का विकास करते हैं। ऐसे लोगों को ब्रह्म वर्चस् ध्यान साधना सफलता के स्तर तक पहुँचाती हैं, वे पाँच कोशों के अनावरण में- रत्न राशि को खोद निकालने में सफल होकर ही रहते हैं।

१. ध्यान भूमिका में प्रवेश

(क) ध्यान मुद्रा-

ध्यान धारणा के लिए शरीर का स्थिर और मन का शान्त रहना आवश्यक है। शरीर में हलचल होती रहेगी, अंग हिलते-जुलते रहेंगे तो वह स्थिरता उत्पन्न न हो सकेगी जो ध्यान साधना में आवश्यक होती है। इसी प्रकार मन की घुड़दौड़ चलती रहेगी, विचारों और कल्पनाओं की भगदड़ मची रहेगी तो चित्त पर दिव्य-चेतना का आवरण और अभीष्ट भाव चित्रों का उद्भव बन नहीं पड़ेगा। दर्पण हिलता रहे तो उसमें ठीक तरह दीख न पड़ेगा। घोड़ा उछल-कूद कर रहा हो तो उस पर सवार होना कठिन है। मन के घोड़े पर सवारी करने के लिए आवश्यक है कि ध्यान के समय मस्तिष्क उत्तेजित न हो, शान्त रहे। इसी प्रकार शरीर से हलचल करते रहने से नाड़ी संस्थान में उत्तेजना उत्पन्न होती है और मन की चञ्चलता बढ़ जाती है। इसलिए ध्यान के समय शरीर को स्थिर, शिथिल एवं मन को शान्त रखना आवश्यक होता है।

ध्यान धारणा के लिए ध्यान मुद्रा बनाकर बैठना चाहिए। ध्यान मुद्रा के पाँच अंग हैं- (१) स्थिर शरीर (२) शान्त चित्त (३) कमर सीधी (४) दोनों हाथ गोदी में (बाँया नीचे, दाहिना ऊपर) (५) आँखें बन्द। पालथी सामान्य रीति से मारनी चाहिए। पद्मासन, सिद्धासन आदि पर पेंतालीस मिनट तक बिना दवाब अनुभव किये बैठे रहना कठिन है। पैरों पर तनाव-दवाब उत्पन्न हो तो ध्यान ठीक तरह लग नहीं सकेगा। इसलिए साधारण पालथी मार कर सुखासन से बैठना ही उचित है। प्रयत्न यह करना चाहिए कि पेंतालीस मिनट तक पैर न बदलने पड़ें, पर यदि घुटनों में दर्द, जकड़न आदि की शिकायत हो तो बदल भी सकते हैं। यह विवशता की बात हुई, चंचलतावश पैरों को शरीर के अन्य अवयवों को चलाते-मटकाते रहना निषिद्ध है। बीमारी की स्थिति में आराम कुर्सी पर भी बैठे जा सकता है और पैर फैलाने की छूट विवशता के कारण मिल सकती है।

ध्यान मुद्रा में बैठकर शरीर को ही नहीं बहिरंग वृत्तियों को भी शान्त करें। मस्तिष्क से हर अंग को शान्त स्थिर रहने के संकेत भेजें । वृत्ति अन्तमुर्खी होने पर शरीर में हलकापन लगने लगता है, बहुधा हृदय की धड़कन के स्पंदन सारे शरीर में सहज ही अनुभव होने लगते हैं। ध्यान को इसी हलकेपन अथवा स्पंदन पर केन्द्रित करें- इससे बाहरी चिन्तन की ओर मस्तिष्क नहीं जायेगा।

(ख) दिव्य वातावरण-

उपयुक्त स्थान एवं वातावरण होने पर सफलता की सम्भावना सुनिश्चित होती है। कृषक एवं माली यह जानते हैं कि किस धान्य या पौधे को किस प्रकार की जमीन में तथा किस ऋतु में बोया जाय। इसका ध्यान न रखा जाय तो बीज और श्रम उपयुक्त होने पर भी परिणाम की दृष्टि से घाटे में रहना पड़ता है। जल-वायु का स्वास्थ्य पर कैसा प्रभाव पड़ता है इसे सभी जानते हैं। साधना के लिए घर में एकान्त एवं स्वच्छ स्थान तलाश किया जाता है। भावनात्मक दृष्टि से भी अधिक पवित्र और प्रभाव वातावरण की आवश्यकता होती है। तीर्थों का जो पुष्प फल गाया गया है उसमें उन दिनों का वहाँ प्रभावी वातावरण ही मुख्य कारण था। उस तथ्य को ध्यान में रखते हुए ब्रह्म वर्चस् साधना के लिए सप्त ऋषियों के ऐतिहासिक तप स्थान की भूमि का चयन किया गया है। गंगा अपनी पवित्रता और हिमालय अपनी शान्ति-शीतलता के लिए प्रसिद्ध है। यह प्रभाव शरीर और मन दोनों पर पड़ता है, इसलिए भगवान् राम, भगवान कृष्ण से लेकर प्राय: सभी उच्चकोटि के अध्यात्म साधकों को गंगा की गोद और हिमालय की छाया का आश्रय लेना पड़ा है। वातावरण उपयुक्त गतिविधियों से बनता है।

साधकों को सहज स्थिरता एवं प्रेरणा मिलती रहे, प्रगति का प्रवाह अनायास ही चल पड़े इसके लिए शान्ति कुञ्ज के ब्रह्म वर्चस् आरण्यक को समर्थ गायत्री तीर्थ के रूप में विकसित किया गया है। अखण्ड-दीप, नित्य यज्ञ, नियमित जप तथा ब्रह्म अनुसन्धान के लिए स्वाध्यात्मक सत्संग का संदोह यहाँ निरन्तर विद्यमान रहता है। अन्यान्य अदृश्य एवं अविज्ञात शक्तियाँ भी इस क्षेत्र पर अपने अमृत भरे पोषक तत्वों की वर्षा करती रहती हैं। यही कारण है कि घटिया, अस्त-व्यस्त अथवा असामान्य वातावरण में की गई साधनाओं की तुलना में इस दिव्य वातावरण का प्रभाव, साधना की सफलता को असंख्य गुनी सुनिश्चित बनाता है। प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष संरक्षण यहाँ उपलब्ध ही रहता है। मुर्गी की छाती की गर्मी से जिस प्रकार अण्डे पकते हैं उसी प्रकार यहाँ की संरक्षण शक्तियाँ साधना को परिपक्व एवं फलित बनाती है।

जिनके लिए यहाँ रहकर साधना कर सकना सम्भव हो, वे इस अवसर का लाभ लें। इसके अतिरिक्त जब घर या अन्यत्र रहकर साधना करनी हो तो उस दिव्य वातावरण में अपनी स्थिति मानकर उस प्रक्रिया को पूरा करना चाहिए। पूजा, आचमन में चरणामृत की, स्नान जल में तीर्थ जल की, प्रतिमा में देवता की भावना करके पुण्य फल प्राप्त किया जाता है। पुण्य तीर्थ में रहकर साधना करने की भावना से भी मन को बहुत अंशों में उस प्रकार के प्रभावी वातावरण का लाभ मिल जाता है।

ध्यान धारणा के समय नेत्र बन्द करके पहले अपनी आत्मसत्ता को ब्रह्म वर्चस् के दिव्य वातावरण में पहुँचने तथा वहाँ के प्रभावों से लाभान्वित होने की भावना जमाने से बहुत कुछ साधन की सफलता का आधार बन जाता है संकल्प भरी मन:स्थिति से भी अभीष्ट परिस्थिति का लाभ मिल जाता है।

ध्यान मुद्रा में रहकर साधक यह अनुभव करें कि वे शान्ति कुञ्ज में ही बैठे हैं। उनके चारों ओर हवन की दिव्य सुगन्धि फ़ैली है। गंगा की शीतलता सर्वत्र व्याप्त है। ऋषियों, पवित्र आत्माओं के प्रभाव से वातावरण में दिव्य आलोक भरा है। अपने चारों ओर दिव्यसत्ताओं का तेजोबलय एक दिव्य कवच के रूप में घेरा डाले हुए है।

उन सबके संयुक्त प्रभाव से अन्दर से दिव्य भावों-आवेगों की हिलोरें सी उठ रही हैं।

(ग) गंगा-यमुना का संगम-

ब्रह्म वर्चस् साधना के अन्तर्गत की जाने वाली ध्यान धारणा के दो पक्ष हैं- (१) जिस दिव्य सत्ता की प्रेरणा एवं इच्छा योजना के आधार पर यह प्रक्रिया चलती है उसके द्वारा प्रेषित किये गये दिव्य अनुदान। (२) साधक के स्व-कल्पित भाव चित्र। इस प्रकार इस प्रयोजन में दो व्यक्तित्वों का समान, सहयोग एवं योगदान सिद्ध होता है।

छात्र अपने श्रम और मनोयोग से पढ़ता, अच्छे नम्बरों से पास होता, श्रेय प्राप्त करता और उसके सत्परिणामों से लाभान्वित होता है इतने पर भी सफलता के पीछे अभिभावकों द्वारा साधन, सुविधा जुटाने तथा कुशल अध्यापक द्वारा रुचिपूर्वक पढ़ाने का सहयोग भी अति महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करता है। यदि अभिभावक भोजन, वस्त्र, पुस्तक कापी, फीस, स्कूल का चयन, विषय निर्धारण आदि का मार्ग-दर्शन सहयोग न करें तो अपने बलबूते स्वावलम्बनपूर्वक साधन जुटाना और पढ़कर अच्छी सफलता पाना कठिन हो जायेगा। इसी प्रकार यदि अध्यापक का योगदान न मिले तो अपने आप पढ़ते रहने और पास होते रहने की स्थिति कष्टसाध्य और संदिग्ध रह जायेगी। कुछ विषय तो ऐसे होते हैं जिनमें अध्यापक के बिना कुछ सम्भव ही नहीं। शिल्प, संगीत, सर्जरी, इन्जीनियर आदि के छात्रों को यदि क्रियात्मक शिक्षण न मिले तो उनकी प्रगति अवरुद्ध ही पड़ी रहेगी।

ब्रह्म वर्चस् की ध्यान धारणा के साथ साधक द्वारा निर्देशित भाव चित्रों को अपने कल्पना लोक में जमाना और उभारना तो मुख्य एवं आवश्यक है ही, पर उसके साथ ही निर्देशकर्त्ता के मनोबल एवं प्रेरणा स्रोत का आत्मबल सम्पन्न अनुदान भी कम सहायक सिद्ध नहीं होता। जहाँ भी इस प्रकार के सुयोग बनते हैं वहाँ सफलता की सम्भावना अत्यधिक बढ़ जाती है। इसलिए इसे त्रिवेणी संगम की उपमा दी गई है।

यह ध्यान साधना, विशिष्ट आत्माओं को अपेक्षाकृत अधिक सुनियोजित रीति के लक्ष्य तक पहुँचा देने की योजना है। सञ्चित संस्कारवान व्यक्ति ही इसमें देर तक ठहर सकेंगे। अपरिपक्व मनोभूमि के चंचल चित्त एवं दुर्बल आस्था वाले इतना प्रकाश ग्रहण और धारण न कर सकेंगे। जो ठहरे उन्हें समुचित लाभ मिले इस लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए ब्रह्म वर्चस् साधना के छात्रों को अभिभावक और अध्यापक की भूमिका निभाने वाली विशिष्ट शक्तियों की सहायता सम्मिलित की गई है। एकाकी साधक गंगा है। उसका प्रयत्न मुख्य धारा कहा जा सकता है। इसमें यमुना, सरस्वती का सहयोग और मिल जाने से तीर्थराज प्रयाग बनता है और उस संगम का पुण्य फल अत्यधिक बढ़ जाता है। प्रस्तुत साधना का सत्परिणाम भी इसी स्तर का है।

दिव्य वातावरण के बीच प्रफुल्ल चित्त, उत्साहित साधक अनुभव करे कि वे अकेले नहीं हैं। उन्हें साधना मार्ग का लाभ देने के लिए एक विशेष शक्ति प्रवाह उमड़ रहा है। अपने अन्दर का उत्साह-साधना की ललक एक लहर के रूप में उमड़ कर उसके साथ एकाकार हो जाती है। इससे एक साधना क्षेत्र में बड़े से बड़ा कदम बढ़ाने का आत्म-विश्वास, साहस जाग जाता है।

(घ) भाव समाधि-

शान्ति और समाधान की दो स्थिति होती हैं- एक शरीरगत निद्रा, दूसरी मनोगत समाधि। मानसिक समाधान की शान्ति-स्थिरता, सन्तुलन को समत्व, साम्य, स्थिति-प्रज्ञता एवं समाधि कहते हैं। यह स्थिति प्राप्त होने पर उसमें साधना के बीजाकुंर भली प्रकार जमते एवं परिपुष्ट होते हैं। शरीर का समाधान निद्रा से होता है। सभी जानते हैं कि निद्रा की आवश्यकता आहार से कम नहीं होती।

योगनिद्रा का अर्थ है- शरीर की उद्विग्नता और तनाव की स्थिति को संकल्प के सहारे हटा दिया जाना। यों यह स्थिति गहरी नींद में ही प्राप्त होती है, पर शिथिलीकरण मुद्रा, श्वासन, शरीर निःचेष्ट होने के संकल्प द्वारा भी इसे प्राप्त किया जा सकता है। इस संकल्प तन्द्रा को योगनिद्रा कहते हैं। इसमें शरीर तो तनावहीन हो जाता है, किन्तु संकल्प जागृत रहता है। संकल्प भी शिथिल हो जाय तो वह स्थिति सामान्य निद्रा की हो जाती है। ध्यान धारणा में शारीरिक तनाव दूर करने के लिए यह स्थिति जितनी मात्रा में प्राप्त हो सके, उतनी ही उत्तम है। शरीर और मन को शिथिल करने का संकल्प जितना गहरा होगा उतनी ही यह स्थिति प्राप्त होगी और ध्यान का समुचित लाभ मिलेगा।

भाव क्षेत्र को- मानसिक सन्तुलन को उत्तेजित, उद्विग्न, अस्त-व्यस्त एवं भ्रष्ट करने वाली कुछ थोड़ी-सी दुष्प्रवृत्तियाँ हैं। उन्हें यदि संयत किया जा सके तो मस्तिष्क, दूरदर्शिता एवं विवेक शीलता से भरी पूरी स्थिति में रह

सकता है। असन्तुलित होने पर अत्यन्त हानि पहुँचाने वाली चार प्रवृत्तियाँ मुख्य हैं- (१) वासना (२) तृष्णा, (३) अहंता (४) उद्विग्नता। इन्हीं की विकृत स्थिति से दृष्टिकोण गर्हित बनता है और गतिविधियों में भ्रष्टता भर जाती है। ऐसे अशान्त मन से दैनिक जीवन के सामान्य काम-काज भी ठीक तरह नहीं हो पाते फिर साधना का तो सारा आधार ही शान्त एवं उत्कृष्ट मन:स्थिति पर खड़ा होता है। तूफान और भँवर में फँसकर नावें डूबती हैं। आन्तरिक अशान्ति से पूरा जीवन ही नारकीय एवं कुमार्ग-गामी बन जाता है।

ध्यान धारण के समय तक इन चारों का प्रकोप न हो, पीछे भी उनका आक्रमण न हो इस उद्देश्य से ब्रह्म वर्चस् ध्यान साधनाओं में इन शत्रुओं के खतरे से मन को सावधान किया जाता है और उनके प्रकोप से बचाये रहने वाली शान्त शालीनता का आह्वान किया जाता है। यह संकल्पित लक्ष्मण रेखा यदि सुस्थिर बनी रहे तो चित्त में समाधि जैसा समाधान प्रतीत होता है और लक्ष्य की दिशा में ध्यान की सही प्रगति होने लगती है।'

अनुभव करें कि दिव्य संगम से जागृत दिव्य उल्लास की लहरें, सारे शरीर एवं मन:संस्थान में तीव्रता से प्रवाहित हो रही हैं । अहंता आदि विकार उसकी ठोकर से धुँए-कालिमा के रूप में बाहर निकल रहे हैं। अन्त:करण में दिव्य शान्ति का आभास हो रहा है।

(ङ च, छ) दिव्य-दर्शन एकत्व-

दिव्य-दर्शन का अर्थ है- प्रकृति के पदार्थ साधनों के महत्व एवं आकर्षण से आगे की चेतनात्मक उत्कृष्टता की झाँकी। इसी को आत्म-दर्शन या ईश्वर दर्शन कहते हैं। आँख जड़ तत्वों से बनी है उनसे भौतिक पदार्थ ही दीख पड़ते हैं। आत्मा और उसका परिष्कृत रूप परमात्मा भी चेतन है। इसलिए उन्हें इन्द्रियों से नहीं देखा जाता है। मात्र भावानुभूति की जाती है। सीमित आत्मा से असीम परमात्मा को स्पष्ट करने पर जो अलौकिक अनुभूतियाँ होती हैं उन्हें ही दिव्य दर्शन कहा जाता है।

ध्यान एवं मस्तिष्कीय अनुभूतियों को जगाने के लिए दिव्यता के कुछ प्रतीक गढ़ने पड़ते हैं। इन्हें ही देव कहते हैं। देवत्व का सर्वोत्तम प्रतीक सविता है। सविता का कलेवर सूर्य है। सविता तेजस्वी ब्रह्म को कहते हैं। सूर्य उदीयमान अग्नि पिण्ड को। प्रात:कालीन सूर्य स्वर्णिम सौम्य होता है। स्वर्ण सबसे भारी, कोमल एवं बहुमूल्य धातु है। उस पर जंग नहीं चढ़ती। सुनहरेपन के विशिष्ट सौन्दर्य से तो सभी परिचित हैं। इन स्वर्ण विशेषताओं के कारण स्वर्णिम कान्ति वाले प्रात:कालीन सूर्य को सविता का प्रतीक माना गया है। ध्यान धारणा से वहीं सर्वोत्तम है। गायत्री का प्राण-देवता सविता है। उस महामन्त्र में सविता से ही सद्बुद्धि की याचना की गई है। सम्प्रदाय विशेष में तो अनेक आकृति-प्रकृति के देवी-देवताओं की मान्यता पूजा एवं ध्यान धारणा का विधान है किन्तु ब्रह्मसत्ता का प्रतीक प्रतिनिधि प्राय: सभी धर्मों में तेज पुञ्ज को, ज्योति को, प्रकाश को माना गया है। सूर्य उसका सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। अग्नि को भी उसी का प्रतीक मानकर धूप, दीप, अग्नि होत्र आदि के रूप में उसकी पूजा, प्रतिष्ठा की जाती है। प्रकाश ध्यान के अनेक विधानों को प्रकारान्तर से सूर्य पूजा ही समझा जा सकता है। ब्रह्म वर्चस् की ध्यान धारणा में- गायत्री की उच्चस्तरीय साधना में सविता को ही इष्टदेव माना गया है। उसी को लक्ष्य, उपास्य एवं आराध्य भी कहते हैं।

सविता को यों तो नियमितता, श्रम संलग्नता, प्रकाश वितरण, जीवन-दान, विकृति विनाश, जागरण, एकाकी विचरण, मार्ग-दर्शन आदि असंख्यों ऐसी विशेषताओं का पुञ्ज माना गया है जो मनुष्य के लिए गृहणीय एवं अनुकरणीय है। किन्तु सबसे बड़ी सर्वोपरि विशेषताएँ दो ही हैं- (१) प्रकाश (२) गर्मी । इनमें से प्रकाश को ज्ञान, प्रज्ञा विवेक का- और गर्मी को अग्नि-ऊर्जा एवं शक्ति का- प्रतीक माना गया है। इन्हीं दो आधारों को जीवन-लक्ष्य तक पहुँचाने वाली दो टांगें कहते सकते हैं। ज्ञान को, आत्मिक और बल को भौतिक शक्ति कह सकते हैं। ज्ञान को ब्रह्म और शक्ति को वर्चस् कहते हैं। इन दोनों का समन्वय ब्रह्म वर्चस् है। यह सविता का नाम है। ज्ञान की आध्यात्मिक और बल की भौतिक शक्ति का इसमें समन्वय है। सर्वतोमुखी प्रगति के लिए इन दोनों ही सामर्थ्यों को उपार्जित करना पड़ता है। सविता उपासना में इन दोनों ही उपलब्धियों के लिए प्रयत्नशील रहने का संकेत है। सूर्य को इष्टदेव मानने का अर्थ है- उसमें सन्निहित विभूतियों को उपलब्ध करने का लक्ष्य निर्धारित करना। इनकी उपासना, आराधना करना। उपासना, आराधना, अर्थात् आकांक्षा और चेष्टा। ब्रह्म वर्चस् की ध्यान धारणा में सविता की झाँकी दिव्य नेत्रों से की जाती है। साथ ही उसकी सत्ता को- विशेषता समूह को जीवन का लक्ष्य एवं इष्ट माना जाता है। साथ ही सन्निहित विभूतियों को उपास्य आराध्य घोषित करते हुए उस प्रयास में संलग्न होने का

साहस सँजोया जाता है। सविता का दिव्य-दर्शन-आँखें बन्द करके दिव्य नेत्रों से दर्शन करने की प्रक्रिया के पीछे इन्हीं आधारों का समावेश है।

दर्शन स्थापना है। उसकी पूर्णता घनिष्ठता को बढ़ाते-बढ़ाते एकता के स्तर तक पहुँचाने पर होती है। मन्दिरों में देव दर्शन करना यह प्रथम चरण है। देवताओं में साधन, श्रद्धा और गहन भक्ति-भावना से उस एकत्व एवं अद्वैत की स्थिति में विनिर्मित करता है जिसमें भक्त और भगवान् के बीच प्रत्यक्ष आदान-प्रदान चल पड़ते हैं। दो तालाबों को किसी नाली द्वारा परस्पर सम्बद्ध कर दिया जाए तो दोनों के पानी का लेविल समान हो जाता है। भक्त और भगवान् भी इसी सघन श्रद्धा-भक्ति के आधार पर एक होते हैं। दोनों ही आकांक्षा, दृष्टि एवं गतिविधियों में जितनी एकता-एकरूपता बनती जाती है उसी अनुपात से दोनों की सत्ता भी समान गुण, धर्म की बनती चली जाती है। ऐसे सच्चे भक्तों का स्तर भी प्राय: भगवान् के समतुल्य ही हो जाता है। उन्हें अवतार, ऋषि आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। आत्म सन्तोष एवं सृष्टि सन्तुलन की दृष्टि से भी उनकी स्थिति अत्यन्त उच्चस्तरीय होती है।

एकत्व वह स्थिति है जिसे ईश्वर प्राप्ति बन्धन मुक्ति आदि नामों से जाना जाता है। वेदान्त दर्शन में इस स्थिति को अद्वैत कहा गया है। इसमें द्वैत मिलता है, भिन्नता समाप्त होती है, अद्वैत बनता है। एकता की वह आकांक्षा पूर्ण होती है जिसके लिए गंगा रूपी अत्मा-परमात्मा रूपी समुद्र से मिलने के लिए आतुरतापूर्वक दौड़ती और उद्विग्न रहती है। गंगा सागर का संगम तीर्थ स्थान है। आत्मा और परमात्मा का मिलन जब अद्वैत स्थिति में बनता है तो जीव को ब्रह्म रूप में और ब्रह्म को जीव रूप में देखा जा सकता है। इसी स्थिति को शास्त्रकारों ने सोहम्, शिवोहम्, अयमात्मा ब्रह्म, तत्वमसि आदि शब्दों में व्यक्त किया है।

इस स्थिति को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय समर्पण है। इस स्थिति में साधक अपनी निजि आकांक्षाएँ त्यागता है और ईश्वरीय इच्छा को अपनी आकांक्षा मान लेता है। तब वासना, तृष्णा और अहंता में से एक की पूर्ति के लिए भी उद्विग्नता-आतुरता नहीं रहती। लोभ और मोह में से एक भी विचलित नहीं करता। संकीर्ण स्वार्थ परता का स्थान उदात्त परमार्थ ग्रहण कर लेता है। अपने को वंशरी मानकर बादक के होठों से चिपका देता है। कठपुतली की तरह अपने धागे बाजीगर की उँगलियों के साथ जोड़ देता है। यही आत्म-समर्पण है। इसी को विलय, विसर्जन, समन्वय, समापन कहा जाता है। नाला गंगा से मिलकर गंगा बन जाता है। बूँद की तुच्छ सत्ता इसी आधार पर समुद्र बनने का गौरव अनुभव करती है। ईंधन आग के साथ मिल कर अग्नि रूप बनता है। पतंगा दीपक की लौ में आत्मसाल् हो जाता है। इसी प्रकार भक्त भगवान् में अपने 'अहं' का विलय, विसर्जन करता है। शरणागति का तात्पर्य है आश्रय ग्रहण करना। आश्रय का अर्थ है यहाँ सुरक्षा नहीं, वरन् स्वामी की आकांक्षाओं के अनुशासन के आश्रित हो जाता है। लोहा चुम्बक से सटे रहने के उपरान्त अपने में भी चुम्बकीय विशेषता उत्पन्न कर लेता है। चन्दन के समीप उगे पौधे तक सुगन्धित हो जाते हैं। नमक पानी में घुलकर अपनी सत्ता का विसर्जन कर देता है और तद्रुप हो जाता है। भक्त में भगवान् भी विशेषताएँ, गरिमाएँ प्रकट होने लगें तो समझना चाहिए कि समर्पण का एकत्व प्रयोजन पूर्ण होने जा रहा है।

सविता के अनेकानेक सद्गुणों में से साधक के व्यक्तित्व में ओजस्, तेजस्, वर्चस्, जैसे जितने गुण प्रकट होते चलें उतने ही अंश में समपर्ण सार्थक हुआ समझना चाहिए।

(ङ) भावना करें कि हमारा मुख पूर्व दिशा को है। सामने प्रात:काल का स्वर्णिम सूर्य उदय हो रहा है। सविता का तेज, गायत्री का प्राण, स्वर्णिम आभा रूप में सारे ब्रह्माण्ड में—चारों ओर भर रहा है। हम स्वर्णिम प्रकाश के समुद्र के मध्य में किसी जल जीव की तरह स्थिर हैं।

(च) स्वर्णिम सविता के प्रति अपने सर्वाधिक प्रिय स्नेही- इष्ट का भाव बढ़ायें। वह हमारे परम कल्याण के लिए दिव्य ऊर्जा, ब्रह्म-शक्ति, ब्रह्म वर्चस् का विस्तार कर रहा है। अपनी दिव्य किरण रूपी बाँहों में हमें- हमारी आत्म-चेतना को गोद में उठा लेने को, आत्मसात् कर लेने को आतुर है।

(छ) हमारी आत्म-चेतना भी उसकी ओर लपकती है। जैसे पास-पास लाने पर दो दीपकों की ज्योति एकाकार हो जाती है। दीपक पतंगा की तरह, वायु गन्ध की तरह हम उससे लिपट कर एकाकार हो जाते हैं। आग ईंधन की तरह, बिन्दु-सिन्धु की तरह एक रूप हो रहे हैं। अद्भुत आनन्द की अनुभूति होती है।

२. (क) पंचकोशों का स्वरूप

पाँच कोशों को पाँच शरीर ही माना गया है- (१) अन्नमय कोश को फिजिकल बॉडी (२) प्राणमय कोश

को ईथरीक बॉडी (३) मनोमय कोश को एस्ट्रल बॉडी (४) विज्ञानमय कोश को कास्मिक बॉडी (५) आनन्दमय कोश को कॉजल बॉडी कहते हैं। अन्न मय कोश ऐसे पदार्थों का बना है, जो आँखों से देखे और हाथ से छुए जा सकते हैं, जिस पर शल्य क्रिया और चिकित्सा उपचार का प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त चार शरीर ऐसे सूक्ष्म तत्वों से बने हैं जो इन्द्रिय गम्य तो नहीं हैं, किन्तु बुद्धिगम्य अवश्य हैं। उनके अस्तित्व का परिचय उनकी गतिविधियों से उत्पन्न होने वाली प्रतिक्रियाओं को देखकर आसानी से जाना जा सकता है। जीवित मनुष्य में आँका जाने वाला विद्युत प्रवाह, तेजोबलय एवं मरने के बाद प्रेत सत्ता के रूप में अनुभव आने वाला कलेवर प्राणमय कोश कहा जाता है। मानसिक कल्पनाओं, बौद्धिक प्रखरताओं के फलस्वरूप जो विज्ञान, कला, साहित्य आदि के क्षेत्रों में चमत्कारी उपलब्धियाँ सामने आती हैं वे मनोमय कोश की विकृतियाँ कही जा सकती हैं।

यों प्राण को नाड़ी समूह में काम करने वाली और कोशिकाओं में उभरने वाली बिजली के रूप में आँका जा सकता है। मन को मस्तिष्क के अणुओं में लिपटा हुआ पाया जा सकता है। फिर भी यह प्राण और मन चेतना के स्वतंत्र स्तर हैं जो नाड़ी संस्थान और मस्तिष्क संस्थान के माध्यम से प्रकट होते हैं। यों तो आत्म का परिचय भी शरीर के माध्यम से ही मिलता है। फिर भी आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व शरीर से भिन्न है। विज्ञानमय कोश चेतना की तरह है जिसे अतीन्द्रय क्षमता एवं भाव सम्वेदना के रूप में जाना जाता है। आनन्दमय कोश वह है जिसके सजग होने पर आत्मबोध होता है। स्थिति प्रज्ञ की-जीवन मुक्त की-परमहंस की दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है।

सामान्यता चेतना की दिव्य परतें प्रसुप्त स्थिति में पड़ी रहती हैं। उनका बहुत थोड़ा अंश ही काम-काजी दैनिक जीवन में प्रयुक्त होता है। शेष सुरक्षित पूँजी की तरह जमा रहता है। साधनात्मक पात्रता सिद्ध करने पर ही उन प्रसुप्त विभूतियों को प्राप्त किया जा सकता है। पिता द्वारा उत्तराधिकार में छोड़ी गई सम्पत्ति का स्वामित्व तो बच्चों को हो जाता है। पर वे उसे स्वेच्छापूर्वक उपयोग तभी कर सकते हैं जब वे वयस्क हो जाते हैं। अल्प वयस्क रहने तक उस सम्पदा का स्वामित्व दूसरे संरक्षकों के हाथ में ही रहता है। बीज में विशाल वृक्ष की समग्र सम्भावनाएँ सन्निहित रहती हैं, किन्तु उसका विस्तार उगाने, सींचने की कृषि विद्या के सहारे ही होता है। जीवात्मा बीज है, उसमें कल्प-वृक्ष बनने की समस्त सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। उन सम्भावनाओं को साकार बनाने की सफलता साधना द्वारा ही उपलब्ध होती है।

पञ्चकोश जागरण का उद्देश्य यही है कि अन्तर्जगत की इन पाँचों प्रचण्ड धाराओं को मूर्च्छना की स्थिति से उवारा जाये और प्रखर प्रेरणा से-सिद्धि समर्थता के रूप में विकसित किया जाए। तीन शरीरों के अन्तर्गत ही पाँच कोश आते हैं। स्थूल शरीर और अन्नमयकोश एक ही बात है। सूक्ष्म शरीर में प्राणमय और मनोमय कोश आते हैं। कारण शरीर में विज्ञानमय और आनन्द मय कोशों की गणना की जाती है। विभाजन दोनों ही प्रकार किया जा सकता है। तीन शरीर एवं पाँच कोश यह ऐसी ही गणना है जैसा कि एक रुपया या चार चवन्नी में अन्तर दीखता है। बाहर मास या बावन सप्ताह मोटे तौर से भिन्न मालूम पड़ते हैं, पर वे वस्तुत: हैं एक ही। इसी प्रकार तीन शरीर एवं पाँच कोशों को वर्गीकरण की सुविधा ही कहा जा सकता है। शरीर को शिर, धड़, एवं पैरों के रूप में अथवा त्वचा रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा के रूप में वर्गीकृत किया जाए, शरीर की मूल सत्ता में कोई अन्तर नहीं आता।

तत्ववेत्ताओं के मतानुसार शरीरस्थ पाँचों कोश असाधारण क्षमता सम्पन्न हैं। जिस प्रकार प्रत्येक शुक्राणु में एक बालक उत्पन्न करने की क्षमता होती है, उसी प्रकार पाँच कोशों में से प्रत्येक को अपने ही स्तर का एक स्वतंत्र देव पुरुष गढ़ लेने की क्षमता होती है। अलादीन के चिराग के साथ पाँच 'जिन्न' कहे गये हैं जो इशारा पाते ही बड़े-बड़े काम कर दिखाते थे। विक्रमादित्य की कथाओं में उसके पाँच दिव्य शरीरधारी पाँच 'वीर' होने की बात कही जाती है। वे भी ऐसी ही काम कर दिखाते थे जो शरीरधारी मनुष्यों के बलबूते के नहीं थे। यह उत्पादन आत्मा सत्ता है। यह 'वीर', 'जिन्न' या देव पुरुष वस्तुत: अपनी ही चेतना द्वारा उत्पन्न की गई छाया को धूप में खड़े होकर अथवा दर्पण के सहारे सिद्ध कर लिया जाय तो वह शरीर रहित, शरीर धारी सेवक की तरह आज्ञा-पालन करती और बताये काम पूरे करती है। अपने ही स्तर का एक नया व्यक्तित्व उत्पन्न कर लेना छाया पुरुष कहलाता है। पाँच कोशों में पाँच छाया पुरुष जैसे- पाँच समर्थ व्यक्तित्व प्रकट, उत्पन्न, सिद्ध कर लेने की गुञ्जायश है। वे विश्वस्त एवं समर्थ सहयोगी मित्रों की तरह सहायता करने में निरन्तर जुटे रह सकते हैं।

प्रस्तुत साधना में इन कोशों को जागृत-सशक्त बनाने के लिए उनसे सम्बन्धित विशिष्ट, केन्द्रों, चक्रों में सविता शक्ति के प्रवेश एवं संचार का ध्यान प्रयोग किया गया है। हर कोश में एक विशेष चक्र का सम्बन्ध है। यह चक्र दो तरह की क्षमता रखते हैं, एक आकर्षक ग्रहण की, दूसरी सञ्चार-प्रसारण की। इसीलिए इनकी संगति भँवर एवं चक्रवात से बिठा ली जाती है। भँवर में जो चीज पड़ती है वह अन्दर खींच ली जाती है, यह ग्रहण की प्रक्रिया है। चक्रवात में पड़ कर हर वस्तु ऊपर उठती है, दूर तक फैल जाती है, यह सञ्चरण का प्रतीक है। सविता शक्ति के प्रभावों से केन्द्रों की यह दोनों क्षमताएँ और अधिक विकसित होती हैं। दिव्य अनुदानों को ग्रहण करना, आत्म-संस्थान में सञ्चरित करना, दूसरों की सम्वेदनाओं की अनुभूति, अपनी सम्वेदनाओं का फैलाव, विकारों का निष्कासन आदि इसी आधार पर सम्भव होता है। अत: कोशों के जागरण अनावरण क्रम में इन केन्द्रों की शक्ति एवं क्रिया-कलापों का भली प्रकार समावेश किया जाना आवश्यक है।

ध्यान करें सविता देवता के प्रकाश से अपने अन्तर्जगत में प्रभात जैसी स्थिति पैदा हुई है। हर अवयव हर कोश जाग रहा है, सविता शक्ति का पान करके सशक्त तेजस्वी बनने के लिए आतुर है। शरीर में अनेक तरह के दिव्य प्रवाह पैदा हो रहे हैं।

२. (ख) अन्नमय कोश

अन्नमय कोश-प्रत्यक्ष शरीर को- स्थूल शरीर को कहते हैं। क्योंकि यह अन्न अर्थात् आहार के ऊपर निर्भर है। आहार न मिले तो उसका मरण निश्चित है। अच्छा-बुरा अन्न मिलने से वह स्वस्थ- अस्वस्थ बनता है। यहाँ अन्न की परिधि में ठोस खाद्य-पदार्थ ही नहीं- जल और वायु भी आते हैं। तीनों मिलाकर ही शरीर की आवश्यकताएँ पूर्ण होती हैं इसीलिए वे तीनों ही अन्न हैं। अथवा तीनों से मिलकर अन्न बनता है। इन पर निर्भर रहने वाली काया को अन्नमय कोश कहा गया है।

आँखों से जो दिखाई पड़ता है वह अन्नमय कोश का सर्वविदित इन्द्रियगम्य स्वरूप है। इसे देखा जाना, समझा और औजारों से काटा बदला जा सकता है। इसके भीतर एक और सत्ता है जिसे जीवन कहते हैं। यह जीवन आत्मा और शरीर के सम्मिश्रण से बनता है। जब तक दोनों संयुक्त हैं तब तक प्राणी जीवित कहा जाता है, जब दोनों एक दूसरे से पृथक हो जाते हैं तो जीवन की समाप्ति हो जाती है। जीवित रहने की स्थिति तक आत्मा को जीवात्मा कहते हैं। यह स्थिति बदल जाने पर उसे मात्र आत्मा अथवा प्रेतात्मा आदि कहने लगते हैं। यह जीवन शरीर के कण-कण में संव्याप्त है। कोशिकाओं-तन्तुओं में यह जीवन अपना काम करता है। ब्रह्माण्ड क्षेत्र में काम करने वाली सत्ता अपने ढंग से अपना काम कर रही है। उसकी प्रेरणा से ग्रह-नक्षत्रों, निहारिकाओं की ज्ञात-अविज्ञात हलचलें होती रहती हैं और उत्पादन, अभिवर्धन, परिवर्तन का क्रम चलता रहता है। ठीक इसी प्रकार काया में मस्तिष्कीय नीहारिका की मूल सत्ता के साथ जुड़े हुए हृदय, फुफ्फुस, यकृत, आमाशय, गुर्दे आदि अवयव अपने-अपने क्षेत्रों का शासन सँभालते हैं। उनकी गतिविधियाँ और कार्य-पद्धति अपने-अपने ढंग की अनौखी है। उनका सृजन, अभिवर्धन,परिवर्तन अपने क्षेत्र में ऐसा है जिसे विलक्षण एवं परिपूर्ण कहा जा सकता है। इतने पर भी वे सभी अवयव और उनके साथ जुड़े हुए घटक अन्यान्य क्षेत्रों की आवश्यकता की पूर्ति में पूर्ण सहकारिता का परिचय देते हैं। जिस प्रकार सृष्टि की विभिन्न शक्तियाँ और गतिविधियाँ इस विराट् के साथ सन्तुलन मिला कर चलती हैं वही बात अपने शरीर में भी है। इकालॉजी-सन्तुलन विज्ञान के आधार पर जाना जा सकता है कि इस समूचे ब्रह्माण्ड की स्थिति किसी विराट् पुरुष के शरीर जैसी है और यहाँ जो कुछ है- जो कुछ हो रहा है वह एक दूसरे का पूरक है। ठीक इसी प्रकार इस शरीर के अवयव और परमाणु सभी अपने-अपने स्तर की स्वतन्त्र गतिविधियाँ चलाते हुए भी समग्र शरीर की सुव्यवस्था में पूर्ण रूप से सहयोगी हैं।

अनटॉमी शरीर रचना का एक शास्त्र है। इस संरचना के कौशल को देखकर चकित रह जाना पड़ता है किसी कलाकार ने कितनी कुशलता एवं दूरदर्शिता के साथ इसे सँजोया है और इसका प्रत्येक अंग कितने कार्य में कितना समर्थ एवं कितना कुशल है। इससे आगे का शास्त्र 'फिजयालॉजी' है। इसे अवयवों की आचार संहिता रीति-नीति एवं स्वाभाविक गुण धर्म कह सकते हैं। यह अवयवों का अध्यात्म एवं धर्म-शास्त्र है। फिजयालॉजी और अनाटॉमी दोनों का समन्वय ही शरीर-शास्त्र के सामान्य ज्ञान की आवश्यकता पूरी करता है।

शरीर का जितना परिचय यन्त्रों की सहायता से समझा जा सकता है, उससे अधिक वह भाग है जो बुद्धिगम्य है। इसे काया के तत्व ज्ञान कह सकते हैं। इस कायिक

तत्वज्ञान द्वारा जिस सत्ता की विवेचना होती है, उसे तत्व शरीर कह सकते हैं। काया को पाँच तत्वों से विनिर्मित कहा जाता है। यह तात्विक सम्मिश्रण भी प्रत्यक्ष नहीं परोक्ष है। स्थूल नहीं सूक्ष्म है।

इन सब रहस्यों पर विचार करने पर एक रहस्यमय काय सत्ता का अस्तित्व सामने आता है। इसे ही अन्नमय कोश कह सकते हैं। संक्षेप में अन्नमय कोश के दो भाग किये जा सकते हैं- एक प्रत्यक्ष-स्थूल। दूसरा परोक्ष-सूक्ष्म। दोनों को मिलाकर ही एक पूर्ण काया बनती है। शरीर-शास्त्र स्थूल है। अध्यात्म शास्त्र सूक्ष्म। साधना क्षेत्र में स्थूल का उपयोग परिशोधन एवं सन्तुलन भर के लिए होता है। यथा आसन, प्राणायाम, नेति, धोति, वस्ति, वज्रोली, कपाल भाति, ब्रह्मचर्य, व्रत, उपवास, स्नान आदि की क्रियाऐं अध्यात्म की परिधि में गिने जाने पर भी स्थूल शरीर के परिशोधन और सन्तुलन की आवश्यकता ही पूरी कर पाती है। इन क्रियाओं के पीछे जो दर्शन, प्रकाश एवं संकेत है सूक्ष्म अध्यात्म के साथ उतना भाग ही जुड़ता है। अध्यात्म शास्त्र की उच्च भूमिकाएँ वे हैं जो शरीर की अपेक्षा चेतना को अधिक प्रभावित करती हैं। पञ्चकोशों की चर्चा अध्यात्म शास्त्र के अन्तर्गत आती है। वे शरीर शास्त्र से भिन्न हैं। अस्तु अन्नमय कोश को काय-कलेवर के साथ जोड़ा तो जा सकता है किन्तु शरीर ही अन्नमय कोश है, ऐसा नहीं कह सकते हैं। अन्नमय कोश का स्थूल पक्ष यह शरीर भी है, इतना कहकर ही सन्तोष करना पड़ेगा।

पञ्चकोशों की ध्यान धारणा में जिस अन्नमय कोश का ऊहापोह किया गया है उसे जीवन शरीर कहना अधिक उपयुक्त होगा। जीवन सत्ता इन्द्रियगम्य, वही बुद्धिगम्य है। यही है वह गहन स्तर जिसके आधार पर काया की स्थिति बहुत कुछ निर्भर रहती है। कई बार आहार विहार की अनुकूलता रहने पर भी शरीर अस्वस्थ रहता है और उपयुक्त चिकित्सा करने पर भी दुर्बलता एवं रुग्णता से छूट नहीं पाता। इसका कारण इसी जीवन शरीर में विकृतियों का घुसा होना होता है। योगी लोगों का आहार-बिहार बहुत बार ऐसा देखा जाता है जिसे शरीर शास्त्र की दृष्टि से हानिकारक कहा जा सकता है फिर भी वे निरोग और दीर्घजीवी देखे जाते हैं, इसका कारण उनके जीवन शरीर का परिपुष्ट होना ही होता है। इतना परिपुष्ट जिसके ऊपर प्रकृति के विपरीत गतिविधियों का भी विशेष प्रभाव न पड़े। हिमाच्छादित प्रदेश में नंगे रहने पर सामान्य मनुष्य एक दिन में शीतग्रस्त हो जायेगा, किन्तु योगी लोग चिरकाल तक वहाँ नग्न स्थिति में बिना किसी कठिनाई के निवास करते रहते हैं, इसी प्रकार उदर पूर्ति ऐसे घास-पात से कर लेते हैं जो आहार शास्त्र की दृष्टि से अखाद्य एवं कुपोषण वर्ग का कहा जा सकता है, इस पर भी उनका निरोग तथा दीर्घजीवी बने रहना यह सिद्ध करता है कि उनका जीवन शरीर इतना परिपुष्ट है जिस पर इन प्रतिकूलताओं का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

वस्तुत: अध्यात्म शास्त्र में इसी जीवन शरीर को प्रधान माना गया है और अन्नमय कोश के नाम से इसी की चर्चा की गई है। यों प्रत्यक्ष शरीर को भी उसकी परिधि से बाहर नहीं किया जा सकता है। उपमा के रूप में इन दोनों को आत्मा और शरीर की तरह एक दूसरे का पूरक सहयोगी कहा जा सकता है।

अन्नमय कोश के इसी सूक्ष्म भाग को- जीवन शरीर को-जागृत, परिपुष्ट, प्रखर एवं परिष्कृत करने की विधि-व्यवस्था है। इस प्रयास में जितनी सफलता मिलती है उसी अनुपात से शरीर इस योग्य बना रहता है कि आत्मिक उद्देश्यों की पूर्ति भली-भाँति कर सके। अन्नमय कोश की साधना एवं ध्यान धारणा इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए की जाती है।

(ख) ध्यान करें स्थूल शरीर, छोटे-बड़े अंग, नसों, नाड़ियों, माँस-पेशियों का जाल। यह सभी छोटी-छोटी जीव-कोशिकाओं से बने हुए। हर कोशिका एक स्वतन्त्र इकाई। उनकी अपनी-अपनी सामर्थ्य, गुण, स्वभाव। हर इकाई को दिव्य सत्ता से प्रभावित करने का संकल्प युक्त तैयारी। इनका केन्द्र नाभि हर अंग का उससे सूक्ष्म सम्बन्ध। नाभि में दिव्य प्रकाश की भँवर जैसी शक्ति।

२. (ग से च) सविता अवतरण का ध्यान

अन्नमय कोश के जागरण में सविता शक्ति का उपयोग किया जाता है। पञ्चकोश साधना- गायत्री उपासना का ही उच्चस्तरीय योगाभ्यास है। गायत्री मन्त्र एवं उसका जपात्मक अनुष्ठान की परिधि को गायत्री माता कहते हैं। ज्ञान और विज्ञान के आधार वेद ज्ञान की जननी होने के कारण उसे वेदमाता भी कहा जाता है। गायत्री का प्राण सविता है। उच्चस्तरीय गायत्री साधना में सविता शक्ति का ही आश्रय लिया जाता है। पाँचों कोशों के जागरण में हर बार उसी के सहारे प्रगति होती है। अन्नमय कोश को

जागृत करने में भी सविता शक्ति का ही आह्वान अवतरण किया जाता है।

ध्यान के प्रारम्भिक भाग में सविता को इष्ट, लक्ष्य, उपास्य, आराध्य रूप में अन्त:करण में प्रतिष्ठित किया जाता है। एकत्व समर्पण में उसी के साथ घनिष्ठता, तन्मयता स्थापित की जाती है। अन्नमय कोश की साधना में ध्यान धारणा द्वारा काय-कलेवर में- जीवन शरीर में सविता के आह्वान अवतरण की भूमिका बनती है।

स्थूल शरीर का केन्द्र नाभि को माना गया है। गर्भस्थ बालक के शरीर में माता के अनुदान नाभि मार्ग से ही पहुँचते हैं, अस्तु वही प्रथम मुख है। प्रत्यक्ष शरीर में तो मस्तिष्क एवं हृदय को प्रधान अंग माना गया है किन्तु जीवन शरीर का मध्य केन्द्र नाभि है। आयुर्वेदीय नाड़ी परीक्षा में नाड़ी केन्द्र को शरीर की धुरी माना गया है। योग नाड़ियों का उद्‌गम भी वहीं से बताया गया है। नाभि को धुरी इसलिए कहा गया है कि वह स्थान शरीर के ठीक बीचों-बीच है। धुरी मध्य में ही रहती है।

शरीर के जीवित रहने का चिह्न उसमें पाई जाने वाली ऊष्मा है। मृतक का शरीर ठण्डा हो जाता है, पेट की जठराग्नि पर ही भोजन पचता है। रक्त की गर्मी ही उसके सञ्चार का कारण है। यह संव्याप्त अग्नि ही रोगों से लड़ती है। यही उत्साह एवं स्फूर्ति प्रदान करती है। ओजस् इसी को कहते हैं। पृथ्वी पर पाये जाने वाले अग्नि तत्व का केन्द्र सूर्य है। सूर्य यदि ठण्डा होने लगे तो यह पृथ्वी भी ठण्डी हो जायेगी। काय-कलेवर में चेहरे पर आकर्षण-आँखों में चमक एवं गतिविधियों में सक्रियता दिखाई पड़ती है, उसका मूल आधार यह जीवन अग्नि ही है, इसमें कमी पड़ जाने पर काया बलिष्ठ होते हुए भी निर्जीव जैसी बन जाती है। मुर्दनी और उदासी छाई रहती है। आलसी और प्रमादी लोगों में सब कुछ ठीक-ठाक होते हुए भी जब ऊर्जा की कमी रहती है तो वही पिछड़ेपन का-कायिक दुर्बलता का प्रधान कारण बन जाता है।

अन्नमय कोश की ध्यान-धारणा में सविता देव का प्रवेश नाभि मार्ग से होकर समस्त स्थूल शरीर और जीवन शरीर में होता है। श्रद्धा ही शक्ति बन जाती है। संकल्पों का चुम्बकत्व असाधारण है। ध्यान में यह श्रद्धा और संकल्प का सम्मिश्रण ही वह तत्व है जिसके बल पर भौतिक अनुकूलताओं से लेकर सूक्ष्म जगत की दिव्य शक्तियों तक को अपने निकट खींच बुलाया जाता है। ध्यान का स्तर यदि कल्पनाएँ मात्र हो तो उसका परिणाम भी शिथिल रहेगा, पर यदि उस भाव चित्र को सुनिश्चित तथ्य की तरह श्रद्धा, विश्वास के रूप में अपनाया जाय तो उसकी प्रतिक्रिया भी ऐसी ही होगी मानो साक्षात् सविता नाभिचक्र के- अग्निचक्र के- माध्यम से समस्त शरीर में प्रवेश कर रहे हों।

यह ध्यान जितना ही श्रद्धा सिक्त होता है उतनी ही तात्कालिक एवं दूरगामी प्रतिक्रिया सामने आती हैं। ध्यान के समय भी शरीर में गर्मी बढ़ती प्रतीत होती है, श्वांस की गति और रक्त-सञ्चार में तीव्रता का अनुभव होता है- तापमान बढ़ गया-सा लगता है। पीछे भी प्रतीत होता है कि पहले की अपेक्षा सक्रियता बढ़ गई है, उदासी दूर हुई है और उत्साह एवं स्फूर्ति में उभार आया है।

ध्यान के समय समस्त काया में सविता शक्ति का सञ्चार, जीवन शरीर में ओजस् का उभार, व्यक्तित्व में नव-जीवन का संचार करता है। अधिक काम करने के लिए उमंग उठती है और इच्छा होती है कि कामों का स्तर ऐसा हो जो प्रतिष्ठा एवं सन्तोष की अभिवृद्धि कर सके। काम भी गौरवान्वित हो और कर्त्ता को भी यश मिले, तभी क्रिया की सार्थकता है। इस प्रकार की स्थिति बनाने के लिए यों व्यवस्थापरक योजना भी बनती और सफल होती है। साथ ही यदि सूक्ष्म प्रेरणाएँ भी उसी स्तर की उठने लगें और अन्त:करण में भी उसी प्रकार का ताना-बाना बुना जाने लगे तो दुहरा लाभ होता है। बाहरी प्रयत्न तो कई बार भार-भूत भी लगते हैं और आन्तरिक उत्साह की कमी से वे शिथिल, असफल भी होते हैं किन्तु यदि अन्त:प्रेरणा उभरने लगे तो अनायास ही गतिविधियाँ प्रगति की दिशा में अदम्य-उत्साह के साथ दौड़ने लगती हैं। विकास-क्रम का प्रथम चरण यह आन्तरिक उत्साह ही है।

अन्नमय कोश में सविता देव का अग्नि रूप में प्रवृष्ट होने-समस्त शरीर का अग्नि पिण्ड, अग्नि पुञ्ज, अग्निमय, सवितामय बन जाने की ध्यान धारणा एक नई आत्मानुभूति प्रस्तुत करती है। यह मात्र आत्मा संकेत के आधार पर मिलने वाली अनुभूति या स्फुरणा नहीं है। इस धारणा के पीछे चिन्तन चुम्बकत्व द्वारा विश्वव्यापी सविता प्रवाह में से महत्वपूर्ण अंश अपने में धारण करते चलने का ऐसा लाभ भी है जिसे साधक क्रमशः आत्मसत्ता में अवतरित होते हुए प्रत्यक्ष देखता है।

(ग) सविता शक्ति नुकीले किरण पुञ्ज के रूप में, नाभि में प्रविष्ट होती है। उसके आघात से नाभिचक्र में तीव्र हलचल, तीव्र प्रकाश पैदा होता है। उसका संचार सारे शरीर में होता हुआ अनुभव करे।

(घ, ङ, च) सविता शक्ति शरीर को चलाने वाली जैवीय अग्नि-ऊर्जा के रूप में बदल रही है। प्रकाशित धाराओं के रूप में उसका संचार सारे शरीर में हो रहा है। शरीर अग्नि के गोले के रूप में अनुभव होता है। शरीर की हर इकाई दिव्य संस्कार से ओत-प्रोत होती है। अंग-प्रत्यंग में ओज, उत्साह, कर्मठता का उभार अनुभव करें।

२: (छ) प्राणमय कोश

प्राणमय कोश- सूक्ष्म शरीर का वह भाग है जिसे विद्युत भण्डारागार कह सकते हैं। शरीर भी एक मशीन है। मशीनों के चलने में कोयला, भाप, तेल, बिजली आदि के आधार पर उत्पन्न ऊर्जा काम करती है। मनुष्य या पशु के शरीर से ही आरम्भिक दिनों में यह शक्ति प्राप्त होती थी, इसलिए उसे अश्व शक्ति के नाम से नापा-तोला जाता था। मनुष्य शरीर के कलपुर्जे इतने अधिक हैं कि यदि उनकी छोटी इकाइयों को भी गिना जाय तो वे अरबों की संख्या में जा पहुँचेंगी। इन सभी का संयुक्त अस्तित्व तो अवयवों के रूप में है ही वे स्वतन्त्र घटक के रूप में भी अपने अद्भुत क्रिया-कलापों को चलाते हैं। इनकी गतिशीलता एक विशेष प्रकार की बिजली के आधार पर चलती है। विशेष प्रकार की इसलिए कि मशीनों को चलाने वाली स्थूल बिजली से बहुत अंशों में मिलती-जुलती होते हुए भी उसकी मौलिक विशेषताएँ और भिन्नताएँ भी हैं। इसलिए उसे प्राणि विद्युत कहा जाता है। अध्यात्म विज्ञान में इसे 'प्राण' कहा गया है। इसी सामर्थ्य के सहारे काया के समस्त अवयव और घटक अपना-अपना काम अनवरत रूप से चलाते रहने में समर्थ होते हैं।

कारखाने में काम करने वाली मशीनों का अपना विज्ञान है। उन्हें चलाने वाली बिजली भी मोटी दृष्टि से देखने में मशीनों के साथ अपना कार्य संयुक्त रूप करती दीखती है, फिर भी उसका स्वतन्त्र अस्तित्व और स्वतन्त्र विज्ञान है। मशीनों और बिजली मिल जुलकर काम जरूर करती हैं फिर भी दोनों को स्वतन्त्र सत्ता को भली प्रकार देखा, समझा जा सकता है। प्राण विद्युत के सहारे शरीर की समस्त इकाइयाँ काम करती हैं इसलिए उसे काय सत्ता में घुला-मिला समझा जा सकता है इतने पर भी यह प्राण विद्युत अपने आप में एक विशिष्ट क्षमता ही कही जायेगी। यह समस्त शरीर के अन्तराल में छाई रहती है और उसका प्रभाव, प्रकाश बाहर भी एक सीमा तक काम करता रहता है। पृथ्वी की आकर्षण शक्ति उसके भीतर भी काम करती रहती है और बहुत दूर तक उससे बाहर भी फैली रहती है। ग्रह-नक्षत्र परस्पर इसी आकर्षण शक्ति से बँधे रहते हैं और अनेक प्रकार के महत्वपूर्ण आदान-प्रदान उसी के आधार पर चलते रहते हैं। इस प्रकार प्राण विद्युत का कार्य क्षेत्र शरीर के भीतर ही नहीं बाहर भी है। शरीर के अन्तर और बाह्य क्षेत्र में फैली हुई इस जैव विद्युत की परिधि को 'प्राणमय कोश' कहा जाता है।

मस्तिष्कीय संरचना का जिन्हें ज्ञान है वे जानते हैं कि समस्त शरीर में मकड़ी के जाले की तरह फैले हुए ज्ञान तन्तुओं का सम्बन्ध मस्तिष्क से जुड़ा रहता है और वे टेलीफोन के तारों की तरह सञ्चार का कार्य करते हैं। शरीर में कहीं कुछ हलचल हो उसकी सूचना मस्तिष्क तक पहुँचती है और स्थिति के अनुरूप जो कुछ करना है उसका निर्णय विभिन्न अवयवों को भेजा जाता है। जैसे किसी स्थान पर चींटी काटे तो उसकी सूचना मस्तिष्क को पहुँचेगी और वहाँ से हाथ को उठने, उँगलियों को मुड़ने, चींटी हटाने और काटे स्थान को खुजला कर विष को हटा देने का आदेश मिलेगा। यह सब कुछ थोड़ी-सी सैकिण्डों में ही जो जाता है। इस कार्य को सम्पन्न करने में ज्ञान तन्तुओं से लेकर मस्तिष्क तन्त्र तक को जो शक्ति लगानी पड़ती है वह संव्याप्त प्राण विद्युत की ही होती है। सोचने, विचारने के लिए काम आने वाली मस्तिष्कीय भाग को सचेतन कहा जाता है। शरीर के भीतर अनवरत रूप से चलने वाले क्रिया-कलापों के पीछे अचेतन मस्तिष्क काम करता है। रक्त-सञ्चार, श्वास-प्रश्वास, आकुञ्चन-प्रकुञ्चन, निमेष-उन्मेष, पाचन, विसर्जन आदि के अनेकों क्रिया-कलापों को सम्पन्न करना अचेतन का काम है। सचेतन और अचेतन दोनों ही मस्तिष्कों को अपना काम करते रहने की सामर्थ्य प्राण विद्युत से ही मिलती है। न केवल मस्तिष्क वरन् शरीर के सभी अवयव और घटक इसी बिजली के सहारे गतिशील रहते हैं। मस्तिष्क में (ई० ई० जी०) के और हृदय में (ई० सी० जी०) के सहारे इस विद्युत प्रवाह की नाप-तौल की जाती है। सामान्यतः इसे ताप के रूप में अनुभव किया जाता है। गतिशीलता इसकी प्रतिक्रिया है।

प्राण विद्युत का अनुपात एवं सन्तुलन ठीक बना रहने से ही शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य ठीक रहता है। उसमें गड़बड़ी होने से अवयवों की गतिशीलता लड़खड़ाती है और कई प्रकार के रोग उठ खड़े होते हैं। औषधियाँ रासायनिक गड़बड़ियों को ठीक कर पाती हैं क्योंकि वे रासायनिक पदार्थों की बनी होती हैं और अपने क्षेत्र में ही काम करती हैं। प्राण विद्युत की गड़बड़ी से उत्पन्न रोगों पर औषधियों का प्रभाव अत्यन्त स्वल्प पड़ता है और उस तरह की बीमारियों को कष्टसाध्य या असाध्य कहकर औषधि विज्ञानी हार मान लेते हैं। यदि इन रोगों का प्राण उपचार सम्भव रहा होता है तो उनकी निवृत्ति आसानी से सम्भव रही होती। मैस्मरेजम वर्ग के कितने ही ऐसे उपचार अब प्रकाश में आने लगे हैं जो प्राण विद्युत को प्रभावित करके उस क्षेत्र में उत्पन्न व्याधियों का निराकरण करते हैं। मस्तिष्क रोग एवं नाड़ी संस्थान की व्याधियाँ तो प्रायः इस विद्युत क्षेत्र के असन्तुलन से ही उत्पन्न होती हैं।

शारीरिक स्फूर्ति और मानसिक उत्साह की विशेषता इसी प्राण विद्युत के स्तर और अनुपात पर निर्भर रहती है। बढ़ने पर मनुष्य उत्तेजित और चञ्चल दिखाई पड़ता है। घटने से आत्महीनता, संकोच, अन्यमनस्कता, उदासीनता, भीरुता, आशंका, आदि बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। चेहरे पर चमक, आँखों में तेज, मन में उमंग, स्वभाव में साहस, प्रवृत्तियों में पराक्रम इसी विद्युत प्रवाह का उपयुक्त मात्रा में प्रवाहित होना सिद्ध करता है। एक शब्द में इसे प्रतिभा कहा जा सकता है। अध्यात्म विज्ञान में इस तत्व को तेजस् कहा गया है। तेजस् और कुछ नहीं प्राण शक्ति की उपयुक्त मात्रा का प्रमाण भर है। शरीर के इर्द-गिर्द फैला हुआ विद्युत प्रकाश तेजोबलय कहलाता है। इसका बाहुल्य चेहरे के इर्द-गिर्द रहता है। देवताओं एवं महापुरुषों के चेहरे के इर्द-गिर्द सूर्य जैसा आभा-मण्डल चित्रित किया जाता है। यह इस तेजोबलय का ही प्रदर्शन है।

यह तो हुआ काय-कलेवर के भीतर काम करने वाली विद्युत प्रवाह का संक्षिप्त एवं आंशिक परिचय। अब काय से बाहर के क्षेत्र में इस शक्ति के क्रिया-कलापों की बात आती है। सम्पर्क और संगति की निकटता और घनिष्टता के भले-बुरे प्रतिफलों की बात सभी जानते हैं। इसका आधार सम्पर्क क्षेत्र के प्राणियों के बीच चलने पर यह विद्युतीय आदान-प्रदान ही होता है। आग अपने समीपवर्ती क्षेत्र पर प्रभाव डालती और उसे गरम करती है। बर्फ की ठण्डक भी अपने प्रभाव क्षेत्र को ठण्डा करती है। मनुष्य की प्राण विद्युत व्यक्ति की प्रखरता के अनुरूप एक छोटे या बड़े क्षेत्र में फैली रहती है और उस वातावरण के सम्पर्क में आने वाले लोग किसी न किसी प्रकार प्रभावित होते हैं। प्रतिभाशाली लोग प्रभाव शाली भी होते हैं, वे दूसरों पर अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ते है, ऋषियों के आश्रमों में सिंह, गाय साथ पानी पीते और बिना बैर-भाव के साथ-साथ रहते थे। मनुष्यों पर, मनुष्येतर अन्य प्राणियों पर, यहाँ तक कि स्थानों एवं पदार्थों पर भी प्रतिभाशाली व्यक्तित्वों का प्रभाव पड़ता है। तीर्थों की गरिमा का आधार यही है। वहाँ किसी समय कोई प्रखर व्यक्तित्व रहे हैं और उनके प्रभाव अभी तक दृष्टिगोचर होता है। समय बीतने के साथ-साथ यह झीना भी होता जाता है, पर जीवित व्यक्तित्वों का प्रभाव तो उनके समीपवर्ती क्षेत्र में बना ही रहता है। वेश्याओं का कामुक आकर्षण- आततायियों का आतंक-सज्जनों का सत्प्रभाव- बिना कुछ कहे-सुने ही मात्र समीपता के आधार पर काम करते देखा जाता है। इसे प्राण विद्युत का ही चमत्कार कहा जा सकता है।

अपनी सांस्कृतिक मान्यताओं में कितनी ही ऐसी हैं जो प्राचीन काल में इस प्राण विद्युत के बुरे प्रभाव से बचने एवं अच्छे प्रभाव से लाभान्वित होने की दृष्टि से ही बनाई गई थीं। तब वे उपयोगी भी थीं, पर आज तो वे मात्र रूढ़ियाँ रह गई हैं और अन्ध परम्परा के रूप में विकृत हो जाने पर निरर्थक ही नहीं हानिकारक भी बन गई हैं। छूत-अछूत का भेद किसी समय दुष्टता एवं पतनोन्मुख प्रभाव क्षेत्र से बचने के लिए था। भोजन पकाने और परोसने के सम्बन्ध में किन व्यक्तियों का सहयोग लिया जाय- किसका न लिया जाय इसका निर्णय भी इसी तथ्य को ध्यान में रखकर किया जाता था। विवाह में वर-वधू के व्यक्तित्वों की समता का महत्व भी इसी आधार पर था। शैयाशायी होने पर विद्युत प्रवाह परस्पर अति तीव्रता से दौड़ता है और घटिया स्तर के सम्पर्क में बढ़िया स्तर वाला अपनी जमा पूँजी गँवाता है। सत्संग, श्रेष्ठ व्यक्तियों के चरण-स्पर्श आदि में यह विद्युत प्रवाह ही प्रधान रूप से काम करता है।

प्राणवान्, तपस्वी एवं तेजस्वी व्यक्ति अपने जमाने का वातावरण ही बदल देते हैं। ग्रीष्म ऋतु में हर वस्तु का तापमान बढ़ जाता है- वर्षा के दिनों हवा में नमी भरी रहती है- सर्दियों में ठण्डक का दौर कहीं भी देखा जा सकता है। महामानव भी अपने समय में ऋतु प्रभाव की तरह काम करते हैं और लोक-मानस को-वातावरण को-प्रभावित करते हैं। सज्जनों की तरह दुर्जनों का भी दुष्ट प्राण होता

है और वह भी समीपवर्ती प्राणियों एवं पदार्थों को प्रभावित करता है। दुर्जनों और सज्जनों के छोड़े हुए प्राण बहुधा आकाश में टकराते रहते हैं। उस टकराव को ही देवासुर संग्राम कहा जाता है।

शरीर के पोषण, अभिवर्धन के लिए, उसकी आधि-व्याधियों का निवारण करने के लिए विविध उपाय, उपचार किये जाते हैं। प्राण शरीर का कार्य क्षेत्र प्रत्यक्ष शरीर से कहीं बड़ा है। उसका महत्व एवं प्रभाव भी अधिक है। दुर्बल और रुग्ण काया में भी समर्थ प्राण हो तो वह आद्य शंकराचार्य की तरह रुग्ण एवं अल्पजीवी होते हुए भी आश्चर्यचकित कर देने वाले कार्य कर सकता है। किन्तु यदि प्राण शक्ति दुर्बल रही हो तो फिर स्थूल काया प्राणी भी दीन-दरिद्रों की तरह अनाथ, असहायों की तरह दयनीय स्थिति में पड़ा हुआ किसी प्रकार जिन्दगी की लाश ढो रहा होगा।

प्राण ही जीवन है। उसके निकल जाने पर मृतक काया तत्काल सड़ने-गलने लग जाती है। विश्व प्राण के रूप में वह समस्त ब्रह्माण्ड में भरा पड़ा है। इसमें से अपनी पात्रता के अनुरूप जितना अभीष्ट हो उतना अपने लिए उपलब्ध कर सकते हैं। मरने के बाद प्रेत शरीर में प्राय: प्राणमय कोश ही अपना अस्तित्व बनाये और परिचय देते रहता है। प्राणमय कोश को महाप्राण का भाण्डागार बना देने की-प्राण विद्युत के चमत्कारी सत्परिणाम प्राप्त करने की- विद्या को प्राण विद्या कहते हैं। कठोपनिषद् में जिज्ञासु नचिकेता को प्राणाग्नि विद्या का प्रशिक्षण दिया और उसे धन्य बनाया था। यही प्राणमय कोश की साधना योगशास्त्र का महत्वपूर्ण अंग है। प्राणयोग के विभिन्न उपचारों से इसी की सिद्धि का प्रयास किया जाता है। ब्रह्म वर्चस् साधना में प्राणमय कोश की ध्यान धारणा से इसी दिशा में आशाजनक प्रगति कर सकने का का पथ-प्रशस्त होता है।

ध्यान करें शरीर में एक दिव्य विद्युत संचार व्यवस्था है, प्राण विद्युत का हर छोटी से छोटी इकाई में प्रवाह होता रहता है, शरीर भर में अगणित चमकीले प्रवाह अनुभव करें। इन प्रवाहों का शरीरस्थ केन्द्र मूलाधार चक्र। वहाँ दिव्य प्राण की स्व प्रकाशित भँवर। भँवर की गति के साथ उससे छूटती, फैलती प्राण धाराएँ सारे संस्थान में फैलती हुई परिलक्षित होती हैं।

२. (झ,ञ,ट) सविता अवतरण का ध्यान

बिजली यों मोटर के सभी तारों में दौड़ती है, पर उसका नियन्त्रण स्टार्टर या स्विच से होता है। ताला एक पूर्ण यन्त्र है, पर उसके खुलने, बन्द होने की क्रिया ताली के छिद्र से होती है। आहार का परिपाक एवं उपयोग पूरे शरीर में होता है, पर उसे ग्रहण मुख मार्ग से ही किया जाता है। इसी प्रकार प्राणमय कोश यों एक पूरा शरीर है किन्तु उसका नियन्त्रण केन्द्र मूलाधार चक्र है।

मूलाधार चक्र मल-मूत्र छिद्रों के मध्य भाग में माना गया है। यह त्वचा से सटा गुथा नहीं, वरन् गुदा गह्वर में प्राय: तीन अँगुल की गहराई पर होता है। इसे मेरुदण्ड के अन्तिम अस्थि भाग के समीप कहा जा सकता है। प्रत्यक्षत: तो यहाँ कुछ नाड़ी गुच्छक, प्लेसस, हारमोन ग्रन्थियों तथा योनिकन्द का अस्तित्व है। पर इनमें से एक को भी मूलाधार चक्र नहीं कहा जा सकता। चक्र सूक्ष्म हैं। वे परमाणु घटकों की तरह आँखों से नहीं देखे जा सकते, प्रतिक्रियाओं के आधार पर उनके अस्तित्व स्वरूप एवं क्रिया-कलाप का निर्धारण किया जा सकता है। जिस क्षेत्र में यह चक्र होते हैं वहाँ के सूक्ष्म अवयवों की क्रियाएँ मिलती-जुलती हो जाती हैं जैसे कि चन्दन की सुगन्ध से समीपवर्ती वातावरण भी वैसा ही सुगन्धमय हो जाता है। नाड़ी गुच्छक 'प्लेक्स' शरीर में मेरुदण्ड की इर्द-गिर्द पाये जाते हैं, कइयों ने उन्हें ही चक्र संज्ञा दी है, पर वस्तुत: वैसे हैं नहीं। वे सूक्ष्म शरीर के महत्वपूर्ण अवयव एवं शक्ति केन्द्र हैं। मूलाधार चक्र उन्हीं में से एक है।

प्राणमय शरीर का केन्द्र मूलाधार चक्र है। प्राणमय कोश का प्रवेश द्वार भी उसे कह सकते हैं। प्रवेश द्वार से तात्पर्य है व्यष्टि और समष्टि का सम्पर्क बिन्दु। जिस प्रकार गर्भस्थ बालक नाभि नाल के माध्यम से माता के साथ जुड़ा रहता है, उसी प्रकार इन प्रवेश द्वारों को व्यष्टि और समष्टि के बीच का समन्वय संस्थान इन चक्रों को कहा जा सकता है। जिस प्रकार परमाणु अपनी धुरी पर घूमता है उसी प्रकार यह चक्र भी नदी के भँवर की तरह निरन्तर गतिशील रहते हैं। जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में गरम हवा के प्रवाह की उलझन चक्रवात, साइक्लोन उत्पन्न करती है, उसी प्रकार इन चक्रों की स्थिति भी शक्ति भँवर एवं समर्थ चक्रवात जैसी होती है। इसी द्रुतगामी परिभ्रमण के कारण उनके मध्य वह सशक्तता उत्पन्न होती है, जिसके सहारे अनेक प्रकार के दिव्य एवं चमत्कारी प्रयोजन पूरे होते हैं।

प्राणमय कोश की ध्यान धारणा में भावना करनी पड़ती है कि सविता शक्ति मूलाधार चक्र के माध्यम से समस्त प्राणमय कोश में प्रवेश करते और संव्याप्त होते हैं। प्राण-चूँकि एक प्रकार की विद्युत शक्ति है। इसलिए सविता देव का स्वरूप भी प्राणमय कोश में विद्युत रूप में ही रहता है। भावना करते हैं कि सविता की विद्युत शक्ति काया में संव्याप्त बिजली के साथ मिलकर उसकी क्षमता को असंख्य गुना बढ़ा देती है। सारा प्राण शक्ति विद्युत से भरा जाता है और उसकी स्थिति विद्युत पुञ्ज एवं विद्युत पिण्ड जैसी बन जाती है। अध्यात्म शास्त्रों में प्राण विद्युत को तेजस् कहा गया है। साधक ध्यान करता है कि मेरे कण-कण में, नस-नस में, रोम-रोम में सविता से अवतरित विशिष्ट विद्युत शक्ति का प्रवाह गतिशील हो रहा है और आत्मसत्ता प्राण विद्युत से ओत-प्रोत एवं आलोकित हो रही है। यह दिव्य विद्युत प्रतिभा बनकर व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाती है। अपने पराक्रम और साहस का जागरण तथा दूसरों को उच्चस्तरीय सहयोग, प्रोत्साहन दे सकना इसी बढ़ी हुई प्राण विद्युत के सहारे सहज सम्भव हो जाता है।

प्राणमय कोश की ध्यान धारणा के समय अपने प्राण में सविता प्राण की प्रचुर मात्रा भरती और बढ़ती जाने की आस्था जमाई जाती है। यह कल्पना की उड़ान नहीं, वरन् एक सुनिश्चित यथार्थता है। यदि इस भावना के साथ श्रद्धा का समुचित समावेश हो तो साधन सहज ही अपने में प्राण तत्व को अभिवृद्धि का अनुभव करता जायगा।

धारणा का अन्तिम चरण 'जागृत' आत्म संकेत के साथ पूरा किया जाता है। निर्देश है-"प्राणमय कोश जागृत, मूलाधार चक्र जागृत, प्राण विद्युत जागृत, प्रतिभा जागृत, पराक्रम जागृत, साहस जागृत।" इन्हें शब्दों के रूप में ही दुहरा नहीं देना चाहिए, वरन् समग्र निष्ठा के साथ यह अनुभव करना चाहिए कि सचमुच ही वे सभी तत्व जागृत हो चलें जिनके सम्बन्ध में यह निर्देशन किये गये हैं।

ध्यान करें- शरीर विद्युत संचार का केन्द्र मूलाधार चक्र, सविता देवता का प्रकाश नुकीले किरण पुंज के रूप में प्रविष्ट होता है। प्रतिक्रिया दिव्य प्राण विद्युत की प्रचुर उत्पत्ति हो रही है, सारे शरीर में उसका संचार होता है, प्राण तेजस् कण-कण को संस्कारित कर रहा है। अन्त:करण में तेजस्विता, प्रतिभा साहस के उभार एवं संचार की अनुभूति होती है। आदर्शों के लिए कुछ भी कर-गुजरने के अनुपम साहस का स्पष्ट बोध होता है।

२.(ठ) मनोमय कोश

मनोमय कोश में अकेला मन नहीं, वरन् मन, बुद्धि और चित्त तीन का संगम है। अन्त:करण में इनके अतिरिक्त एक चौथा घटक 'अहंकार' भी आता है। यह विज्ञानमय कोश का भाग गिना गया है। यहाँ अहंकार का अर्थ घमण्ड नहीं, वरन् स्वानुभूति है- जिसे अँग्रजी में 'ईगो' कहते हैं।

मन कल्पना करता है बुद्धि विवेचना करती और निर्णय पर पहुँचती है। चित्त में अभ्यास के आधार पर वे आदतें बनती हैं जिन्हें संस्कार भी कहा जाता है। इन तीनों का मिला हुआ स्वरूप मनोमय कोश है। सामान्यतया मस्तिष्कीय संस्थान की चेतन-अचेतन प्रवृत्तियों के समन्वय को मनोमय कोश कहा जा सकता है। चेतना का यह सारा परिकर शिर की खोपड़ी के सुरक्षित दुर्ग में सृष्टा ने बहुत ही समझ-बूझ के साथ सँभाल कर रखा है।

इसका प्रवेश द्वार आज्ञाचक्र माना गया है। इसे दोनों भृकुटियों के मध्य भाग में माना गया है। इसे तृतीय नेत्र भी कहा गया है। शंकर एवं दुर्गा की प्रतिमाओं में तीसरे नेत्र का चित्रण इसी स्थान पर किया जाता है। तृतीय नेत्र से तात्पर्य दूरदर्शिता से है। प्राय: लोग अदूरदर्शी होते हैं। तनिक से प्रत्यक्ष लाभ के लिए परोक्ष की भारी हानि करते हैं। तत्कालिक तनिक से लाभ के लिए अवांछनीय कार्य करते और मर्यादाएँ तोड़ते हैं फलस्वरूप उसके चिरकाल तक कष्ट देने वाले दुष्परिणाम भुगतते हैं। दूरदर्शी मनुष्य को किसान, विद्यार्थी, माली, पहलवान, व्यापारी आदि के समान बुद्धिमान बनाती है जो आरम्भ में तो कष्ट सहते हैं, पर पीछे महत्वपूर्ण लाभ उठाते हैं। यह दूरदर्शिता यदि किसी को उपलब्ध हो सके तो वह जीवन सम्पदा का श्रेष्ठतम सदुपयोग करने की योजना बनायेगा और इस सुरदुर्लभ अवसर का समुचित लाभ उठाकर धन्य बनेगा।

शंकर जी के चित्रों में तीसरा नेत्र दिखाया जाता है। कथा है कि उन्हें काम-विकार ने पथ-भ्रष्ट करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने अपना तीसरा नेत्र खोला और उस विकार को जला कर भस्म कर दिया। इस अलंकार का भावार्थ इतना ही है कि अदूरदर्शित के कारण जो बात बड़ी आकर्षक लुभावनी लगती है वही विवेकशीलता की कसौटी पर कसने से विष तुल्य हानिकारक लग सकती है। जब किसी बात की- वस्तु की-हानि स्पष्ट हो जाय तो उसके प्रति घृणा का उभरना और परित्याग करना स्वाभाविक है।

जिस प्रकार शिव जी ने कामदेव को तृतीय नेत्र के सहारे जला कर अपने ऊपर बरसने वाली विपत्ति से छुटकारा पा लिया था, उसी प्रकार जिस किसी को भी यह दूरदर्शिता प्राप्त होगी वह वह अवांछनीय आकर्षणों से आत्म-रक्षा करके उज्जवल भविष्य की संरचना कर सकेगा। आमतौर से यह तृतीय नेत्र बन्द एवं प्रसुप्त रहता है उसका जागरण एवं उन्मीलन करना मनोमय कोश की ध्यान धारणा का उद्देश्य है। यह देखने में छोटी बात लगती है, पर वस्तुत: है इतनी बड़ी कि उसके सत्परिणाम को ध्यान में रखने से इसे दैवी सिद्धि से किसी भी प्रकार कम नहीं माना जा सकता हैं

आज्ञाचक्र की संगति-शरीर शास्त्री आप्टिक चियाज्मा, पिच्यूटरी एवं पीनियल ग्रन्थियों के साथ मिलाते हैं। यह ग्रन्थियाँ भ्रूमध्य भाग की सीध में थोड़ी गहराई में हैं इनसे स्रवित होने वाले हारमोन स्राव समस्त शरीर के अति महत्वपूर्ण मर्मस्थलों को प्रभावित करते हैं। अन्यान्य ग्रन्थियों के स्रावों पर भी नियन्त्रण करते हैं। इनकी विकसित एवं अविकसित स्थिति का पूरे व्यक्तित्व पर भला-बुरा प्रभाव पड़ता है। सामान्यतया इन रहस्यमयी ग्रंथियों और उनके उत्पादनों को अति महत्वपूर्ण मानते हुए भी मानवी नियन्त्रण के बाहर समझा जाता है। ऐसा कोई उपाय अभी हाथ नहीं लगा है कि इन ग्रंथियों की स्थिति को सँभाला, सुधारा जा सके। यदि वैसा उपाय हाथ लगा होता तो सचमुच ही मनुष्य को अपने हाथों अपना व्यक्तित्व, भाग्य और भविष्य बनाने की कुञ्जी हाथ लग जाती है।

आत्मसत्ता के विज्ञानवेत्ता- सूक्ष्मदर्शी योगीजनों ने यह जाना है कि मस्तिष्क ही नहीं, शरीर के किसी भी अवयव पर मन:संस्थान के किसी भी केन्द्र पर प्रभाव डाला जा सकता है और उसमें अभीष्ट परिवर्तन हो सकता है। यह कार्य केन्द्रित संकल्प शक्ति के प्रयोग एवं प्रहार की क्षमता उपलब्ध होने से सरल एवं सम्भव हो सकता है। इस प्रकार के नियन्त्रण एवं प्रयोग की क्षमता ध्यानयोग के अभ्यास से प्राप्त की जा सकती है। बिखरी विचार शक्ति, फैली हुई भाप, धूप एवं बारूद की तरह है, बिखराव की स्थिति में इन तीनों ही वस्तुओं का प्रभाव नगण्य होता है किन्तु जब इन्हें केन्द्रित करके एक लक्ष्य विशेष पर केन्द्रित किया जाता है तो उनकी सामर्थ्य असंख्य गुनी प्रचण्ड होती देखी गई है। भाप से रेल का इन्जन चलता है, प्रेसर कुकर जैसे छोटे-छोटे प्रयोग तो कितने ही होते रहते हैं। कुछ इन्च क्षेत्र में फैली हुई धूप को आतिशी शीशों पर केन्द्रित करने से आग जलने लगती है। तनिक-सी बारूद कारतूस में केन्द्रित होकर और बन्दूक की नली द्वारा दिशा विशेष में फेंकी जाने पर वज्रपात जैसा प्रहार करती तो निशाने को धराशायी बनाती देखी जाती है। ध्यानयोग द्वारा विचार-शक्ति को केन्द्रित करके जब किसी लक्ष्य विशेष पर प्रयुक्त किया जाता है तो उसके परिणाम भी वैसे ही होते हैं जैसे कि ध्यानयोग के महात्म्य में अध्यात्म शास्त्रवेत्ताओं ने विस्तारपूर्वक बताये हैं।

ध्यान योग की सहायता से केन्द्रीकृत संकल्प-शक्ति को अपने शरीर के किसी भी अवयव पर प्रयुक्त करके उसकी दुर्बलता एवं रुग्णता का निराकरण किया जा सकता है उसे अधिक बलिष्ठ एवं सक्षम बनाया जा सकता है। मनोमय कोश के क्षेत्र में ध्यान धारणा का प्रयोग करके समूचे मस्तिष्क क्षेत्र की बुद्धिमत्ता एवं प्रखरता विकसित की जा सकती है। उसके किसी केन्द्र विशेष में सन्निहित प्रसुप्त क्षमताओं को उभारा और बढ़ी हुई विकृतियों को शान्त किया जा सकता है। जिस प्रकार इन्जेक्शन की पतली एवं तीक्ष्ण सुई शरीर के किसी भी भाग में चुभाई जा सकती है उसी प्रकार ध्यानयोग द्वारा केन्द्रीकृत संकल्प शक्ति का इस प्रयोजन के लिए सफलतापूर्वक उपयोग हो सकता है जिसे आमतौर से मानवी नियंत्रण से बाहर माना जाता है। इस सफलता को दैवी एवं अति मानवी कहा जाता है क्योंकि इसके सहारे वे कार्य हो सकते हैं जिन्हें साधारणतया दैवी अनुग्रह से ही सम्भव माना जाता है।

मनोमय कोश पूरी विचारसत्ता का क्षेत्र है। इसमें चेतन, अचेतन एवं उच्च चेतन की तीनों ही परतों का समावेश है। विचार शक्ति का केन्द्र यों तो मस्तिष्क को ही माना गया है, पर वस्तुत: वह शरीर के प्रत्येक क्षेत्र में फैली हुई है। मस्तिष्क अपनी प्रेरणा से उसे ही उत्तेजित करता और विभिन्न प्रकार के काम लेता है। मस्तिष्कीय प्रेरणा और अवयवों में फैली चेतना के बीच जब उपयुक्त ताल-मेल होता है तो उस पारस्परिक सहयोग से मस्तिष्क की इच्छा आकांक्षा को अवयवों का अन्तराल सहज ही पूरा करने लगता है और मनोवांछाओं की पूर्ति का बहुत बड़ा आधार बन जाता है। किन्तु यदि असामंजस्य असहयोग रहा तो फिर इच्छा उठते और आकांक्षा रहते हुए भी अवयवों का सहयोग नहीं मिलता। अपना ही शरीर अपने काबू में न होने की कठिनाई हर किसी के सामने है। दूसरे कहना न मानें यह बात समझ में आती है, पर अपना शरीर तो मस्तिष्क का वशवर्ती है फिर उस पर अपना शासन क्यों

नहीं चलना चाहिए ? इस बिडम्बना का कारण पारस्परिक ताल मेल का अभाव है। नियन्त्रणकर्त्ता की दुर्बलता का अनुचित लाभ उठा कर कर्मचारी भी तो अनुशासनहीनता फैलाते हैं। ठीक यही स्थिति अपने शरीर और मन की होती है। इस स्वेच्छाचारी उच्छृंखलता को समाप्त करके सुव्यवस्थित अनुशासन स्थापित करने का कार्य मनोमय कोश की साधना द्वारा सम्पन्न होता है। आत्म-विजय को विश्व विजय के समतुल्य माना गया है। मनोनिग्रह को योग शक्ति की आत्मा कहा जाता है। इन्द्रिय निग्रह कर सकने वाले को चमत्कारी योग सिद्ध कहते हैं। भुजाओं के बल से अनेकों प्रकार के पराक्रम सधते और पुरुषार्थ बनते हैं। धन-बल से कितनी सुविधाएँ खरीदी जा सकती हैं। यह सभी जानते हैं। मनोबल के चमत्कार इन सबसे ऊँचे हैं। सर्वतोमुखी मनोबल मनोमय कोश की साधना से सम्पन्न होता है। मस्तिष्क के किसी केन्द्र विशेष को ही भौतिक प्रयोजनों के लिए प्रशिक्षित करना ही अभीष्ट हो तो बात दूसरी है। यह कार्य स्कूली प्रशिक्षण से या उस विषय के जानकारों से सीखे जा सकते हैं। किन्तु मन:सत्ता को उच्चस्तरीय प्रगति तक पहुँचाना मनोमय कोश की साधना जैसे सूक्ष्म प्रयोगों से ही सम्भव हो सकता है।

अन्नमय कोश का शरीर बल-प्राणमय कोश का प्रतिभा बल जीवन को सुखी, समुन्नत बनाने में कितना सहायक सिद्ध होता है इसे सभी जानते हैं। मनोमय कोश को परिष्कृत करके प्राप्त किया जाने वाला उच्चस्तरीय मनोबल का प्रभाव और अधिक बढ़ा-चढ़ा है। साधारणतय मनोबल- साहस के अर्थ में प्रयुक्त होता है, पर उसका वास्तविक स्वरूप समग्र काय-कलेवर में संव्याप्त मन:सत्ता को उत्कृष्ट एवं प्रखर बना देने के रूप में समझा जाना चाहिए। इस विकास को व्यक्तित्व के अन्तराल का ऐसा उभार कह सकते हैं जिसके कारण मनुष्य अपने आप में सुसंस्कृत और दूसरों की दृष्टि में दिव्य-चेतना सम्पन्न समझा जाता है। प्रत्यक्ष शरीर से अप्रत्यक्ष शरीरों का महत्व क्रमश: बढ़ता ही जाता है। अन्नमय-प्राणमय के आगे की सूक्ष्म काया मनोमय है उसकी साधना को शारीरिक समर्थता से भी अधिक महत्वपूर्ण समझा जाना चाहिए। शरीर को वाहन और मन को शासक होने की वस्तुस्थिति को जो समझते हैं उनके लिए मनोमय कोश की प्रगति और उसके लिए की जाने वाली ध्यान धारणा का महत्व भी अविदित नहीं होना चाहिए।

(ठ) शरीर की हर इकाई- हर कोशिका में व्याप्त मन:तत्व, आकांक्षा चिन्तन सूत्रों की अनुभूति करें। उनका सम्बन्ध मस्तिष्क से, भ्रू मध्य स्थित आज्ञाचक्र से। अनुभव करें कि वहाँ एक दिव्य भँवर जिससे उठती विचार तरंगें सारे संस्थान में दौड़ रही हैं।

२. (ड से त) सविता अवतरण का ध्यान

बिजली के यन्त्र संरचना की दृष्टि से पूर्ण होते हैं, पर उन्हें चलाने के लिए बाहर से आने वाली विद्युतधारा का समावेश अवश्य होता है। शरीर अपने आप में पूर्ण है, पर उसे चलाने के लिए बाह्य जगत से ठोस द्रव एवं वाष्पीय आहार का प्रबंन्ध करना पड़ता है। शरीर अपने आप में पूर्ण है, पर उसकी विशिष्ट क्षमताओं को उभारने के लिए बाह्य जगत के महत्वपूर्ण साधन जुटाने पड़ते हैं। बीज की अन्त:शक्ति खाद, पानी के सहारे ही उभरती है। व्यक्ति चेतना में उच्चस्तरीय प्रखरता उत्पन्न करने के लिए ब्रह्म चेतना के समावेश की आवश्यकता पड़ती है। विविध विधि योगसाधनों द्वारा इसी प्रयोजन की पूर्ति की जाती है। भक्त और भगवान् के बीच घनिष्टता उत्पन्न होने से आदान-प्रदान की अतीव कल्याणकारी पथ-प्रशस्त होता है। ब्रह्मसत्ता की उसी की विनिर्मित प्रतीक प्रतिमा सूर्य है। उसकी सचेतन स्थिति को सविता कहते हैं। उपासना की दृष्टि से जितना निर्दोष और प्रेरणाप्रद प्रतीक सूर्य है, उतना अन्य कोई चित्र या विग्रह हो नहीं सकता। इसमें सम्प्रदाय भेद भी आड़े नहीं आता। सार्वभौम-सर्वजनीन उपासना का आधार खड़ा करने में सविता से बढ़कर अधिक उपयुक्त माध्यम और कुछ मिल न सकेगा।

मनोमय कोश में सविता के प्रवेश की भावना- आज्ञाचक्र में होते हुए मस्तिष्क क्षेत्र में- सम्पूर्ण शरीर में संव्याप्त मनोमय कोश में फैल जाने के रूप में की जाती है। इस ध्यान धारणा के समय अनुभव किया जाता है कि आत्मसत्ता का चिन्तन समूचा चिन्तन क्षेत्र-मनोमय कोश सविता की ज्योति एवं ऊर्जा से भर गया। धूप में बैठने से शरीर गरम होता है और प्रसन्नता की परिस्थिति में मन में उल्लास उभरता है। यह अनुभूतियाँ प्रत्यक्ष होती हैं। इसी प्रकार मनोमय कोश में सविता देव के प्रवेश के कारण जो विशेषता उपलब्ध हुई, उसको स्पष्ट अनुभव करने का प्रयास करना चाहिए। यदि साधना में श्रद्धा होगी तो सविता शक्ति के वास्तविक प्रवेश को भाव क्षेत्र में प्रत्यक्ष अनुभूति

की तरह ही छाया हुआ देखा जा सकेगा। नशा पीने पर आने वाली मस्ती सभी ने देखी है। भूत आदि का उन्माद आवेश आने पर उसका प्रभाव कैसा होता है यह भी सर्वविदित है। सविता शक्ति के आत्मसत्ता में प्रवेश करने और मनोमय कोश में छा जाने की अनुभूति भी ऐसी ही गहरी-ऐसी ही भावमय एवं ऐसी ही स्पष्ट होनी चाहिए। यह सब अनायास ही नहीं हो जाता। साधक मूक दर्शक बना बैठा रहे और दिव्य शक्ति अपने आप अवतरित होती और अपना परिचय देती चली जाय ऐसा नहीं हो सकता। गंगावतरण के लिए भागीरथ को कठोर तप करना पड़ा था। हर साधक को अपनी भाव- सम्वेदनाओं को अभीष्ट स्तर तक विकसित करने के लिए घनघोर प्रयत्न करने पड़ते हैं। चित्र कला सीखने में आरम्भिक प्रयत्नों को उपहासास्पद और अनगढ़ ही कहा जा सकता है। सतत् अभ्यास से वह कला विकसित होती है और उच्चकोटि के चित्र बना सकने एवं चित्रकार के रूप में ख्याति पाने का अवसर मिलता है। भाव चित्र बनाने के सम्बन्ध में भी यही बात है। आरम्भ के दिन से ही कल्पना क्षेत्र में मनचाही फिल्म स्वयमेव दृष्टिगोचर होती चली जायेगी ऐसी अपेक्षा करना विशुद्ध रूप से बाल-बुद्धि है। वैसा हो नहीं सकेगा और ऐसी चाहना से मात्र निराशा ही हाथ लगेगी। भाव चित्र बनाने की विद्या को आध्यात्मिक तपश्चर्या मानना चाहिए। उसके लिए धैर्यपूर्वक सतत् प्रयत्नरत रहना चाहिए। आरम्भ में भाव पटल पर कुछ भी नहीं आता किन्तु धीरे-धीरे अभीष्ट चित्र आधे-अधूरे अस्पष्ट धुँधले दिखाई पड़ने लगते हैं। आधार को अपनाये रहने पर क्रमशः भाव चित्र अधिकाधिक स्पष्ट एवं प्रखर होते चले जाते हैं और वह स्थिति आती है जिसे बाल-बुद्धि के साधक आरम्भ के दिन ही बिना किसी प्रयत्न के देखने की अपेक्षा करते हैं।

मनोमय कोश में सविता शक्ति के प्रवेश की अनुभूति यह है कि वह समूचा क्षेत्र सविता शक्ति से भर रहा है। ज्योतिर्मय बन रहा है। आत्मसत्ता की स्थिति ज्योति पुंज एवं ज्योति पिण्ड बनने जैसी हो रही है। दृश्य में ज्योति का स्वरूप भावानुभूति में प्रज्ञा बन जाता है। ज्योति और प्रज्ञा एक ही तत्व है। उसका स्वरूप प्रकाश और गुण ज्ञान है। सविता के मनोमय कोश में प्रवेश करने का अर्थ है-चेतना का प्रज्ञावान बनना-ऋतम्भरा से- भूमा से आलोकित-ओत-प्रोत होना। यही है सविता का मनोमय कोश पर आच्छादन। इस स्थिति को विवेक एवं सन्तुलन का जागरण भी कह सकते हैं इन्हीं भावनाओं को मान्यता रूप में परिणत करना श्रद्धा, निष्ठा एवं आस्था की तरह अन्तःक्षेत्र में प्रतिष्ठापित करना यही है सविता शक्ति का मनोमय कोश में अवतरण। इस क्षेत्र की ध्यान धारणा का यही उद्देश्य है।

जागृत संकेतों को इस रूप में ग्रहण किया जाता है कि वह उपलब्धि हस्तगत हो रही है। हो चुकी, भूतकाल में भी नहीं होगी, भविष्य कालीन भी नहीं। जागरण का अनुभव वर्तमान काल से ही सम्बद्ध रहना चाहिए। मनोमय कोश जागृत, आज्ञाचक्र जागृत, तृतीय नेत्र जागृत, ज्ञान ज्योति जागृत, प्रज्ञा जागृत, विवेक जागृत, सन्तुलन जागृत। इन संकेतों के साथ-साथ ऐसी अनुभूति जुड़ी रहनी चाहिए कि यह जागरण ठीक इसी समय हो रहा है। आवश्यक नहीं कि पूर्ण जागरण ही हो और उसका पूर्ण प्रभाव तत्काल ही दीखे। यह आंशिक एवं क्रमिक भी हो सकता है। शुक्ल पक्ष में दौज का चन्द्रमा छोटा होता है और वह क्रमशः बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा को पूर्ण चन्द्र बनता है। ठीक इसी प्रकार अपने मनोमय कोश के जागरण का क्रम भी ध्यान धारणा के साथ आरम्भ होकर क्रमशः आगे-आगे बढ़ता चल सकता है।

सविता शक्ति नुकीले किरण पुञ्ज के रूप में आज्ञाचक्र में प्रविष्ट होती है। चक्र के भंवर में तीव्रता-दिव्य-ज्योति का आभास, ज्योति का प्रकाश, सारे मस्तिष्क में फैलता है। प्रज्ञा विवेक की चमक मस्तिष्क के हर कण में प्रविष्ट हो रही है, संकल्पों में दृढ़ता आ रही है, सशक्त विचार संकेत सारे शरीर में संचरित हो रहे हैं, शरीर व्यापी मनस्तत्व, विचार प्रणाली में निखार आ रहा है।

२. (थ) विज्ञानमय कोश

अन्नमय, प्राणमय और मनोमय यह तीन कोश प्रकृति-परक हैं। इनका सम्बन्ध काय-कलेवर से है। यों यह तीनों ही चेतन है, पर इनकी चेतना शरीर के साथ गुँथी हुई है, पंचभूतों के समन्वय से ही इनका अस्तित्व है। स्थूल पंच तत्वों की रासायनिक एवं आणविक प्रक्रिया के आधार पर चेतना का जो अंश गतिशील रहता है उसी की झाँकी इन तीन कोशों में मिलती है। यह पदार्थों की मात्रा तथा स्तर के आधार पर प्रभावित होते हैं। आहार न मिलने से अन्नमय कोश लड़खड़ा जाता है। उत्साहवर्धक अनुकूल परिस्थितियाँ न मिलने से प्राण शिथिल पड़ जाता है। मस्तिष्क संस्थान में नशा, मूर्छानस्य, क्लोरोफार्म आदि आघात एवं स्थानीय व्याधि खड़ी हो जाने से चिन्तन प्रक्रिया

ठप्प अथवा विकृत हो जाती है। उत्तम आहार से शरीर-प्रोत्साहन से प्राण एवं प्रशिक्षण से मन का विकास होता है। इससे स्पष्ट है कि यह तीनों ही शरीर सचेतन होते हुए भी तत्वगत प्रकृति पर निर्भर हैं। इन्द्रियाँ इन्हीं तीनों के साथ जुड़ी हुई हैं। वे पदार्थों एवं परिस्थितियों के अनुरूप सुख-दु:ख अनुभव करती हैं। सुविधा की दृष्टि से यदि इन्हें स्थूल संज्ञा दी जाय तो भी कोई हर्ज नहीं। मरने के बाद प्रेत शरीर प्राणमय कोश का बना हुआ होता है। इससे उच्चस्थिति की आत्माऐं जिन्हें पितर कहा जाता है, मनोमय कोश के आधार पर बनते हैं। प्रेत निम्नकोटि के-उद्धत प्रकृति के होते और अशांत रहते हैं जब कि पितर दया, करुणा, विवेक युक्त होते हैं और मैत्री उदारता एवं सहकारिता का परिचय देते हैं। इन तीनों ही शरीरों का परिचय यन्त्रों, इन्द्रियों के सहारे किसी न किसी प्रकार मिलता रहता है। पंच तत्वों से तो प्रत्यक्ष शरीर बनता है, पर उनकी सूक्ष्म तन्मात्राऐं प्राणमय और मनोमय शरीरों की संरचना करती हैं। इन्हीं कारणों से उपरोक्त तीनों शरीरों को प्रकृति परक माना गया है और उनकी चेतना को स्थूल वर्ग की गिना गया है।

सूक्ष्मवर्ग के दो शरीर हैं- विज्ञानमय और आनन्दमय। इनका सम्बन्ध सूक्ष्म जगत से और ब्रह्म- चेतना से है। विज्ञानमय कोश की संरचना सूक्ष्म जगत से आदान-प्रदान कर सकने के उपयुक्त है। उसमें भाव सम्वेदनाओं की प्रधानता है। प्रेम तत्व की रसानुभूति सर्वोपरि है। इतनी सरसता जीवन के अन्य किसी पक्ष में-संसार की अन्य किसी विभूति में नहीं है। इसी से प्रेम को परमेश्वर कहा गया है। यह प्रेम तत्व अनेक रूपों में प्रकट होता रहता है। घनिष्टता, आत्मीयता, एकता, ममता, वात्सल्य, करुणा, मैत्री, सेवा, उदारता आदि अनेकों रूप उसके हैं। व्यक्ति और परिस्थिति के अनुरूप उसके प्रवाह एवं स्वरूप कई प्रकार के देखने में आते हैं। पत्नी, पुत्र, भगिनी, जननी के प्रति प्रेम तत्व की मात्रा समान होने पर भी उसके व्यवहार में अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। सुखी के प्रति प्रसन्नता और दु:खी के प्रति करुणा व्यक्त करने में भी व्यवहार का अन्तर रहता है, मूलत: वह सहानुभूति की ही सम्वेदना होती है। प्रेम का स्थान हृदय माना गया है। सहृदयता, सज्जनता, की विवेचना करते हुए उसे हृदय से सम्बन्धित कहा जाता है। यही हृदय एवं भाव संस्थान अध्यात्म शास्त्र में विज्ञानमय कोश कहा गया है।

व्यक्ति से व्यक्ति का सम्बन्ध बाजारू स्तर पर तो स्वार्थों के आदान-प्रदान पर टिका होता है किन्तु घनिष्ट आत्मीयता आन्तरिक सम्वेदनाओं के आधार पर जुड़ती है। वेश्या की घनिष्टता अर्थ प्रधान है उसका आरम्भ, विकास एवं अन्त इसी आधार पर होता है किन्तु माता और सन्तान के बीच, पति और पत्नी के बीच जो सघनता है उसमें निस्वार्थ आत्मीयता का ही गहरा पुट रहता है। भाव सम्वेदना इसी का नाम है। लोक-व्यवहार में तथा स्वार्थ कौशल में जिस शिष्टाचार एवं चापलूसी का परिचय दिया जाता है वह तो व्यावहारिक चतुरता भर है आत्मीयता इससे कहीं गहरी वस्तु है। उसका उद्गम हृदय होता है। इसलिए उसे प्रेम की संज्ञा दी जाती है और परमेश्वर के समतुल्य पवित्र एवं उत्कृष्ट गिना जाता है।

यहाँ एक बात और ध्यान रखने की है कि 'हृदय' शब्द तात्पर्य अध्यात्म शास्त्र में 'रक्त-संचार' करने वाली थैली से नहीं, वरन् भाव संस्थान से है। चूँकि विज्ञानमय कोश का केन्द्र काया में हृदय स्थान के इर्द-गिर्द माना गया है इसलिए उसे 'हृदय' की संज्ञा दी गई है। 'प्रकाश' शब्द का भी अध्यात्म शास्त्र में 'ज्ञान' अर्थ होता है। रोशनी या चमक नहीं। अस्तु किसी को इन शब्दों के कारण भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए और न तो रक्त-संचार की थैली को भाव संस्थान-हृदय मानना चाहिए और न 'प्रकाश' को चमक। इन्हें अधिक से अधिक प्रतीक, प्रतिमा या प्रतिनिधि की संज्ञा दी जा सकती है।

विज्ञानमय कोश का स्थान हृदय चक्र माना गया है। इसका दूसरा नाम ब्रह्म-चक्र भी है। ब्राह्मी चेतना की ओर उसका प्रवाह रहने से ब्रह्म-चक्र नाम देना उपयुक्त ही है। भक्ति भाव से परमेश्वर को प्राप्त किया जाता है। जीव और ब्रह्म की एकता बढ़ाने में यह भक्ति ही प्रधान भूमिका बनाती है। भक्ति का प्रारम्भिक रूप श्रद्धा है। श्रद्धा को जड़ और भक्ति को तना कहा जा सकता है। श्रेष्ठता के प्रति असीम प्यार को श्रद्धा कहते हैं और करुणा, सेवा, उदारता जैसी कोमल भाव सम्वेदनाओं को भक्ति। यह भक्ति ईश्वर के प्रति भी हो सकती है और उन्कृष्ट आदर्शों के प्रति भी। जहाँ श्रद्धा तत्व के लिए उपयुक्त आधार हो वहाँ व्यक्तियों से अथवा पदार्थों से भी भक्ति हो सकती है। गुरुजनों, महामानवों के प्रति तीर्थ देव-प्रतिमा आदि के माध्यम से भक्ति भावना को विकसित करने का अभ्यास किया जा सकता है। ईश्वर भक्ति इसी प्रकार से आरम्भ होकर ब्रह्म परायणता तक विकसित होती चली जाती है।

श्रद्धा की स्थापना एवं दृढ़ता में विवेक सहायक होता है। पहले यह परख की जाती है कि अमुक व्यक्ति या पदार्थ श्रद्धा के उपयुक्त है या नहीं। परख की कसौटी पर जब उत्कृष्टता का विश्वास हो जाता है तो श्रद्धा जमती और परिपक्व होती है। बिना विचारे-भावावेश में, किसी के बहकावे में अथवा देखा-देखी जो लगाव उत्पन्न होता है उसमें स्थायित्व नहीं होता। प्रामाणिकता के अभाव में तो अन्ध श्रद्धा ही हो सकती है और उसमें चंचलता एवं अस्थिरता ही बनी रहती है। अन्ध श्रद्धा से व्यर्थ के अथवा अनर्थ मूलक काम तो हो सकते हैं किन्तु उच्चस्तरीय त्याग, बलिदान कर सकने के लिए प्रामाणिक एवं विवेक सम्मत श्रद्धा ही काम देती है।

प्रेम यों कामुकता और मोहग्रस्तता के आकर्षणों में भी समझा जाता है, पर वस्तुत: उनमें उसकी छाया मात्र होती है। विज्ञानमय कोश के साथ जिस उच्चस्तरीय भाव सम्वेदना की दिव्य शक्ति जुड़ी रहती है उसी का नाम पवित्र प्रेम है। उसी को परमेश्वर कहते हैं रस का समुद्र वही है। श्रद्धा और भक्ति के रूप में उसी का प्रत्यक्ष परिचय मिलता है। श्रद्धा और विश्वास की शक्ति का परिचय हम प्रत्यक्ष प्राप्त करते रहते हैं उसकी सामर्थ्य सत्य के ही समतुल्य हैं। रस्सी का साँप-झाड़ी का भूत जैसे भंयकर परिणाम विकृत श्रद्धा के ही हैं। प्रतिमा में देवता का प्रकटीकरण श्रद्धा का ही चमत्कार है। आस्था एवं निष्ठा भी श्रद्धा का ही वह भाग है जो व्यक्तित्व का स्वरूप निर्धारित करता है। गीताकार की वह उक्ति पूर्णतया सत्य है जिसमें कि यो यंच्छृद्धः स एवस' में यह कहा है कि जिसकी जैसी श्रद्धा है वस्तुत: वह वैसा ही है। व्यक्तित्व हाड़-मांस पर शिक्षा साधनों पर नहीं, अपने सम्बन्ध में, अपनी आकांक्षाओं एवं मान्यताओं के सम्बन्ध में बनाई गई आस्थाओं, निष्ठाओं एवं विश्वासों पर ही निर्भर रहता है। प्रकारान्तर से इस हृदय चक्र को-विज्ञानमय कोश को ही समूचे व्यक्ति का बीजकरण एवं मूल आधार कह सकते हैं। अन्नमय, प्राणमय और मनोमय तो उसके सज्जा साधन भर हैं।

परिष्कृत विज्ञान-चक्र में उत्पन्न चुम्बकत्व ही दैवी तत्वों को सूक्ष्म जगत से आकर्षित करने और आत्मसत्ता में भर लेने की प्रक्रियाऐं सम्पन्न करता है। भाव सम्वेदनाओं की शक्ति ही दैवी तत्वों को आकर्षित करती है। इसी से भक्ति एवं प्रेम को आत्मिक प्रगति का आधार माना गया है। प्रतिमा भक्ति से गुरु भक्ति से अभ्यास करते-करते ब्रह्म-भक्ति का लक्ष्य प्राप्त कर सकने की स्थिति बन जाती है। देव शक्तियों से लेकर ब्रह्म प्राप्ति की समस्त सफलताएँ विज्ञानमय कोश की भाव सम्वेदनाओं के चुम्बकत्व पर निर्भर रहती हैं। अनेक प्रकार की सिद्धियाँ एवं विभूतियाँ प्राप्त करने के लिए जो विविध-विधि अनुष्ठान, उपचार, तप, साधन किये जाते हैं उनका उद्देश्य साधक की श्रद्धा को परिपक्व करना है। वह जितनी ही प्रगाढ़ होती जाती है-दिव्य-लोक के अनेकानेक अनुदान, वरदान उसी आधार पर खिंचते, बरसते चले आते हैं। हृदय-चक्र की विज्ञानमय कोश की प्रखरता ही मनुष्य को- महामानव सिद्ध पुरुष ऋषि, देवात्मा एवं परमात्मा की स्थिति तक पहुँचाती है।

प्रत्यक्ष जगत की तरह ही-ठीक उसी के साथ सटा, घुला हुआ सूक्ष्म जगत है। स्थूल जगत की गतिविधियाँ-इस सूक्ष्म जगत की हलचलों पर निर्भर रहती हैं। बीज में पूरा वृक्ष-शुक्राणु में पूर्ण प्राणी छिपा रहता है, पर दीखता नहीं। ठीक इसी प्रकार स्थूल जगत का प्राण सूक्ष्म जगत है। आन्तरिक आकांक्षाओं के अनुरूप काय-कलेवर की गतिविधियाँ चलती हैं। ठीक इसी प्रकार सूक्ष्म जगत में इस विश्व का भूत और भविष्य विद्यमान रहता है। स्थूल जगत में ही वर्तमान का बहुत ही उथला इन्द्रियगम्य भाग भर दिखाई देता है। उसका भी अधिकांश भाग अप्रत्यक्ष ही रहता है। सूक्ष्म जगत एक विशाल समुद्र है। स्थूल जगत को तो उसकी कुछ सामयिक लहरें भर कह सकते हैं। सामान्यतया हमारी गतिविधियाँ तथा जानकारियाँ स्थूल जगत तक ही सीमित रहती हैं पर यदि विज्ञानमय कोश समर्थ हो तो सूक्ष्म जगत की समस्त हलचलों को देख, समझ सकते हैं तथा भूत एवं भविष्य की परिस्थितियों से अवगत रह सकते हैं। दूरवर्ती एवं अदृश्य को देख सकना भी हमारी दिव्य दृष्टि के लिए सम्भव हो जाता है। इसी विशिष्ट क्षमता को अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं। सिद्ध पुरुषों में उसी स्तर की अनेकों अलौकिक विशेषताएँ देखी जाती हैं। वे न केवल सूक्ष्म जगत की परिस्थितियों तथा सम्भावनाओं को जान ही लेते हैं, वरन् उन्हें प्रभावित करने में भी समर्थ होते हैं। शाप से प्रतिकूल और वरदान से अनुकूल परिस्थितियाँ सामने आती हैं। यह सिद्ध पुरुषों का अपना पुरुषार्थ है जो सूक्ष्म जगत से अपने प्रभाव पराक्रम के द्वारा उसने उपार्जित किया होता है।

अपने इस स्थूल जगत के आदान-प्रदान कितने सुखद होते हैं, उस सरसता के प्रति आकर्षित एवं मुग्ध होने के कारण ही जीवात्मा इस मल-मूत्र की गठरी में निर्वाह

करने के लिए सहमत हो सका है। मरते समय कोई भी इसे स्वेच्छा से नहीं त्यागना चाहता और मौत से डरता है यह जड़ जगत से सम्बन्धित पदार्थों और प्राणियों की सुखद प्रतिक्रिया ही है जिसमें रस लेने के लिए आत्मा ने जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण करते रहना स्वीकार किया है। सूक्ष्म जगत की उपलब्धियाँ और अनुभूतियाँ इससे असंख्यों गुनी बढ़ी-चढ़ी हैं। उससे जिनका सम्बन्ध है, जो उसे देखते, अनुभव करते हैं, वे स्वर्गलोक में रहने वाले देवताओं की तरह सुखी, सन्तुष्ट रहते हैं। उनके पास इतनी विभूतियाँ होती हैं कि अपनी आवश्यकता से अधिक देखकर उन्हें वे दूसरे जरूरत मन्दों पर बाँटते, बखेरते- महानतम दानवीरों की तरह स्वयं सुखी रहते और दूसरों को सुखी बनाते हैं।

विज्ञानमय कोश का केन्द्र हृदय-चक्र है। इस शक्ति भँवर में- समर्थ चक्रवात में निवास करने वाली आत्म-चेतना के लिए यह सरल पड़ता है कि वह ब्रह्म-चेतना के साथ अपनी विशेष स्थिति के कारण घनिष्टता स्थापित कर लें। इस सफलता के सहारे मिलने वाली उपलब्धियाँ इतनी गरिमामयी हैं कि उन्हें पाकर और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता है।

ध्यान करें शरीर सूक्ष्म तत्व से बना तेज पुञ्ज हृदय क्षेत्र में तेजोबलय जैसी घनी भँवर, उससे उठती तरंगें शरीर में तरंगित होती हैं और चारों ओर प्रकाश के समूह में अन्तरिक्ष में फैल जाती हैं।

२. (द से प) सविता अवतरण का ध्यान

विज्ञानमय कोश की ध्यान धारणा में हृदय चक्र के माध्यम से सविता देव के प्रवेश-समावेश की भावना की जाती है और अनुभव किया जाता है कि विज्ञानमय कोश सविता शक्ति से ओत-प्रोत हो रहा है, सविता को प्रकाश और शक्ति का केन्द्र माना गया है। जहाँ उनका प्रवेश होगा, वहाँ यह दोनों ही क्षमताऐं उभरी हुई अनुभव में आवेंगी। विज्ञानमय कोश प्रकाशवान हो रहा है और उसमें पहले की अपेक्षा अधिक सशक्तता उभर रही है ऐसा प्रतीत होगा। विज्ञानमय कोश को इस धारणा के समय इसी प्रकार प्रकाश एवं दिव्य-बल से भरा-पूरा अनुभव करना चाहिए।

विज्ञानमय कोश में सविता प्रकाश रूप 'दीप्ति' माना गया है। दीप्ति प्रकाश की वह दिव्य-धारा है जिसमें प्रेरणा एवं आगे बढ़ाने की शक्ति भी भरी रहती है। ऐसी क्षमता को 'वर्चस्' कहते हैं। ब्रह्म वर्चस् ब्रह्मबल को कहते हैं और आत्म-वर्चस् आत्मबल को। दीप्ति सविता वर्चस् है। जो प्रकाश युक्त होने के साथ-साथ धकेलने का काम भी करती है। साधारणतया इसे प्रेरणा कहा जा सकता है। यद्यपि वह प्रेरणा से ऊँची चीज है। प्रेरणा से दिशा प्रोत्साहन देने जैसा भाव टपकता है किन्तु वर्चस् में वह चमक है जो धकेलने, घसीटने, फेंकने, उछालने की भी सामर्थ्य रखती है। विज्ञानमय कोश को सविता पिण्ड, सविता पुञ्ज के रूप में अनुभव करने के अतिरिक्त नस-नस में, कण-कण में रोम-रोम में, दीप्ति का संचार होने की अनुभूति में हृदयंगम की जाती है।

दीप्ति का प्रभाव विज्ञानमय कोश में दो प्रकार का होता है- एक दिव्य भाव सम्वेदनाओं के रूप में, दूसरा अतीन्द्रिय ज्ञान के रूप में। अतीन्द्रिय ज्ञान को दिव्य दृष्टि और दिव्य भाव सम्वेदना को सहृदयता कह सकते हैं। दीप्ति की प्रेरणा से सद्भावनाओं का अभिवर्धन होता है और सहृदयता जैसी सत्प्रवृत्तियाँ उभर कर आती हैं, ऐसी आस्था अन्त:करण में सुदृढ़ की जानी चाहिए दूसरों के दु:ख में दु:खी- दूसरों के सुखी-होने की आत्मवत् सर्वभूतेषु की- सम्वेदनाएँ उभरने से 'सब हमारे-हम सबके' होने की मान्यता परिपुष्ट होती है। फलत: संकीर्ण स्वार्थपरता उदात्त परमार्थ परायणता में बदल जाती है। इस प्रकार की आस्था का सुदृढ़ होना आत्म-विकास एवं आत्म-विकास का प्रत्यक्ष प्रमाण माना जा सकता है।

ध्यान धारणा के अवसर पर यह मान्यता सुदृढ़ करनी चाहिए कि विज्ञानमय कोश वाली आत्मसत्ता सूक्ष्म जगत की नागरिक है। उस देश में उसे निवास करने, व्यापार चलाने एवं आदान-प्रदान का अधिकार प्राप्त है। हर देश के नागरिक अपने देश की स्थिति का लाभ उठाते और उसे सुविकसित बनाने में योगदान करते हैं। इसी प्रकार विज्ञानमय कोश के जागरण के अनुपात से सूक्ष्म जगत की नागरिकता का स्तर बढ़ता चला जाता है। उस प्रगति के आधार पर सूक्ष्म जगत में हलके अथवा भारी उठा सकने की स्थिति बनती चली जाती है। अतीन्द्रिय ज्ञान किन्हीं-किन्हीं को पूर्वजन्मों के संचित संस्कारों से अनायास ही बिना किसी प्रयत्न के भी जगता देखा गया है। ऐसे लोग भी देखे गये हैं जिनमें बिना विशेष साधना के भी अतीन्द्रिय क्षमता विकसित पाई गई है। यह अपवाद है। प्रयत्नपूर्वक कोई भी आत्म विकास की साधना करते हुए विज्ञानमय कोश को

दिव्य-शक्ति से- सविता शक्ति से- भरा-पूरा बना सकता है और मनुष्यों के बीच देवलोक के निवासियों की तरह अपनी विशेष स्थिति बनाये रह सकता है।

सविता शक्ति के किरण पुञ्ज का हृदय चक्र में प्रवेश, चक्र भँवर की आभा बढ़ती है। दिव्य सम्वेदनाओं का संचरण सारे अन्त:करण में होता है। सूक्ष्म जगत की तरंगों का हृदय चक्र से सीधा सम्पर्क-दोनों का आदान-प्रदान होता हुआ अनुभव करें। स्वयं को असीम सत्ता में व्याप्त, फैला हुआ अनुभव करें। सहृदयता, श्रद्धा, दिव्य-ज्ञान का विकास हो रहा है स्नेह, करुणा जैसी सम्वेदनाओं के रोमाञ्च का शरीर में बोध होता है।

२. (फ) आनन्दमय कोश

आनन्दमय कोश चेतना का वह स्तर है जिसमें उसे अपने वास्तविक स्वरूप की अनुभूति होती रहती है। अपने लोक का, अपने आधार का, अपने वैभव का, अपने अधिष्ठाता का भाव रहने से उसे प्रतीत होता है कि मैं पूर्ण में से उत्पन्न हुआ- पूर्ण ही हूँ। इस वस्तुस्थिति की चर्चा तो कथा, प्रवचनों में प्राय: सुनने को मिलती रहती है। लोग परस्पर इस ब्रह्मज्ञान की चर्चा भी करते हैं, पर यह मस्तिष्कीय जानकारी जिह्वा और कान का विषय बनकर रह जाती है। अन्त:करण में कभी वैसी गहन अनुभूति उठती नहीं। यदि कभी वैसा अनुभव करने की स्थिति बन पड़े तो समझना चाहिए कि आत्म-बोध का परम सौभाग्य उपलब्ध हो गया। इस सुयोग को आत्म-ज्ञान, आत्मानुभूति, आत्म-दर्शन, आत्म-साक्षात्कार, आत्म-निर्वाण आदि गौरवास्पद नामों से पुकारा जाता है।

आत्मबोध के दो पक्ष हैं- एक के अनुसार अपनी ब्राह्मी-चेतना, ब्रह्मसत्ता का भान होने से अयमात्मा ब्रह्म, चिदानन्दोहम्, शिवोहम् सच्चिदानन्दोहम् का अनुभव करते हुए आत्मसत्ता में संव्याप्त परमात्म-सत्ता का दर्शन होता है वहाँ दूसरी ओर संसार के प्राणियों और पदार्थों के साथ अपने वास्तविक सम्बन्ध का तत्व ज्ञान भी प्रकट हो जाता है। इस संसार का हर पदार्थ परिवर्तनशील, नाशवान् एवं निर्जीव है। उसमें जो सुखद अनुभूतियाँ होती हैं वे मात्र अपनी ही आस्था एवं आत्मीयता के आरोपण की प्रतिक्रिया मात्र होती हैं। इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व लेकर जन्मा है। परस्पर तो मात्र सामयिक कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों से ही बँधे हैं। न कोई अपना है और न पराया। सभी ईश्वर के खिलौने और परस्पर साथी सहचर की तरह निर्वाह कर रहे हैं। इस तत्व ज्ञान के अन्तरात्मा में प्रकट होते ही वस्तुओं का लोभ और प्राणियों का मोह तिरोहित हो जाता है। समस्त अटपटे, असंगत, अवांछनीय क्रिया-कलाप इसी मोहग्रस्तता के उन्माद में बन पड़ते हैं। दुर्भावनाऐं, दुश्चिचन्तन, दुष्कर्मों की काली घटाएँ इसी बौद्धिक नशे की स्थिति में उठती हैं। उन्हीं की प्रतिक्रियाऐं चित्र-विचित्र रोग-सन्तापों के रूप में प्रकट होती हैं और सुरदुर्लभ मानव जीवन को नारकीय निष्कृष्टता से भर देती है। खीज, असन्तोष, पतन इसी आन्तरिक पतन का दुर्भाग्यपूर्ण प्रतिफल है। जो इन तथ्यों को समझ लेता है उसके लिए ईश्वर के इस सुरम्य उद्यान में शोक-सन्ताप का कोई कारण शेष नहीं रह जाता है। अज्ञान का अन्धकार मिट जाने से सर्वत्र ब्रह्म का दिव्य प्रकाश ही छाया दीखता है। उसमें आनन्द के अतिरिक्त और कहीं कुछ भी ऐसा शेष नहीं रह जाता जो अन्त:करण को प्रभावित कर सके।

यह आत्मानुभूति ही आनन्दमय कोश की परिष्कृत स्थिति है। इसमें सदा एक आनन्द भरी मस्ती छाई रहती है। अपने भीतर ब्रह्म और ब्रह्म के गर्भ में अपना अस्तित्व अनुभव होता रहता है। ऐसी स्थिति में अन्तरात्मा को निरन्तर तृप्ति-तुष्टि-शान्ति की स्वर्गीय अनुभूतियों का रसास्वादन करते रहने का अनवरत अवसर मिलता रहता है। मनुष्य जीवन जैसा अनुपम उपहार और आत्म-ज्ञान जैसा दिव्य वरदान पाकर और कुछ पाना शेष नहीं रह जाता, उस स्थिति में सन्तोष की शान्ति छाई रहती है। इसी को तृप्ति-तुष्टि कहते हैं। अन्धकार चले जाने पर प्रकाश ही प्रकाश शेष रह जाता है। अज्ञान के साथ ही समस्त शोक-सन्ताप, भय एवं संकट जुड़े रहते हैं। उसके समाप्त हो जाने पर उल्लास की वह मस्ती छाई रहती है जिसे देवलोक का अमृत एवं सोमरस कहते हैं। इस स्थिति में रहने वाले परमहंस, स्थिति प्रज्ञ अवधूत, ब्रह्मज्ञानी आदि नामों से पुकारे जाते हैं। उन्हें जीवन-मुक्त भी कहते हैं। अवतार, देवदूत, युग पुरुष, तत्वदर्शी भी इसी स्तर के लोगों को कहा जाता है। उनके सामने न कोई व्यक्तिगत समस्या होती है और न आकांक्षा। ईश्वरीय इच्छाओं को ही अपनी इच्छा मानते हैं और समय की आवश्यकताओं को ही अपनी आवश्यकता समझ कर उसकी पूर्ति में प्रखर कर्त्तव्य-परायण किन्तु नितान्त वैरागी की तरह काम करते हैं सफलता-असफलता उन्हें प्रभावित नहीं करती, वे मात्र इतना ही सोचते हैं कि अपनी भावना एवं क्रिया का स्तर उच्चकोटि का रहा या नहीं। यही है आनन्दमय कोश के

परिष्कृत होने का चिह्न है। वे आनन्द के अमृत से भरे रहते हैं और जो भी सम्पर्क में आता है उसी पर यह अमृत छिड़कते रहते हैं। स्वय हँसते और दूसरों को हँसाते हैं। स्वयं खिलते और दूसरों को खिलाते हैं। स्वयं तरते और दूसरों को तराते हैं। चन्दन वृक्ष की तुलना ऐसे ही महामानवों से की जाती है। उनके निकट उगने वाले झाड़-झंखाड़ भी सुगन्धित होते हैं। पारस इसी प्रकार के व्यक्तित्वों का नाम है, उन्हें छूने वाले लौह खण्ड भी स्वर्ण सम्पदा बनते और सम्मानित होते हैं। कल्प-वृक्ष यही है जिनकी छाया में बैठ कर मनोविकारों की आग में जलने वाले लोग कामनाओं की पूर्ति से भी बड़ा सन्तोष कामना परिष्कार के रूप में पाते हैं। अमृत को जो भी रसास्वादन करता है, अमर बनता है। आनन्दमय कोश में जागृत चेतना भी अमृत है, उसका थोड़ा-सा अनुग्रह पाकर भी कितनों को ही उत्कृष्टता की गरिमा प्राप्त करने का अवसर मिलता है। सूर्य के प्रकाश से रात्रि के अन्धकार को दिन में परवर्तित होते देखा जाता है। आत्मानन्द के प्रकाश से प्रकाशवान् व्यक्तित्व अपने युग का अन्धकार निगलते हैं और प्रभातकालीन सूर्य की तरह सर्वत्र आशा और उमंग भरा उत्साह बखेरते हैं। वे स्वयं धन्य बनते हैं और अपने पीछे अनुकरणीय परम्परा छोड़कर युग को, क्षेत्र को, कुल को, इतिहास को धन्य बनाते हैं।

शरीर और आत्मा की भिन्नता का तत्वबोध होने पर वह शरीराध्यास घट जाता है, जिसके भव-बन्धन प्राणी को दुसह दु:ख पहुँचाते हैं। वासना, तृष्णा और अहंता उन्हें ही सताती है जो अपने को शरीर मानते और उसकी सुविधाओं को ही सर्वोपरि महत्व देते हैं। ऐसे ही लोग उद्विग्न, खिन्न, अशान्त, क्रुद्ध, रुष्ट, चिन्तित आतंकित पाये जाते हैं। अंसख्य कामनाऐं उन्हें ही सताती हैं और अभावों, असफलताओं के नाम पर सिर धुनते ऐसे ही लोगों को देखा जाता है। जब अन्त:करण यह तथ्यत: स्वीकार कर लेता है कि हम आत्मसत्ता हैं। शरीर तो एक निर्जीव वाहन, उपकरण मात्र है तो उसकी ललक, लिप्साएँ भी बाल-क्रीड़ा जैसी महत्वहीन लगने लगती हैं। इस स्थिति में सारा ध्यान आत्म-कल्याण के लिए महान् कार्य करने पर केन्द्रित रहता है। शरीर के लिए तो निर्वाह, व्यवस्था का प्रबन्ध करते रहना भर पर्याप्त लगता है। इस बदली हुई मन:स्थिति में जीवन का स्वरूप ही बदल जाता है। मोहग्रस्त-माया बन्धनों में बँधे हुए नर-पशु जिस प्रकार सोचते हैं उसकी तुलना में इन आत्मवेत्ताओं का दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न होता है। वे जो सोचते हैं-जो करते हैं- वह ऐसा होता है जिसके लिए अन्त:क्षेत्र में आत्म-सन्तोष की और बाह्य क्षेत्र में श्रद्धा, सहयोग की अजस्र वर्षा होती रहे। आनन्दमय कोश का जागरण ऐसी ही देवोपम मन:स्थिति और स्वर्गीय परिस्थिति को इसी जीवन में प्राप्त करने के लिए किया जाता है।

आनन्दमय कोश चेतना की वह उत्कृष्टतम स्थिति है जिसमें पहुँचा हुआ मनुष्य सामान्य स्थिति में निर्वाह करता हुआ भी ब्रह्मवेत्ता कहलाता है और अपने अनुदानों की समस्त मानव जाति पर सुधा वर्षा करता है। पंचकोशों के जागरण में आनन्दमय कोश की ध्यान धारणा से व्यक्तित्व में ऐसे परिवर्तन प्रारम्भ होते हैं जिनके सहारे क्रमिक गति से बढ़ते हुए धरती पर रहने वाले देवता के रूप में आदर्श जीवनयापन कर सकने का सौभाग्य मिलता है।

ध्यान करें- शरीर स्थूल पदार्थ नहीं तेज रूप है। मस्तिष्क मध्य में, सहस्रार चक्र में, विद्युत का एक फव्वारा जैसा चल रहा है। उसके स्फुल्लिंग, दिव्य उल्लास युक्त, दिव्य शक्ति युक्त, प्रेरणा युक्त हैं।

२. (ब, भ, म) सविता अवतरण का ध्यान

आनन्दमय कोश यों तो अपने स्थूल शरीर में ही समाया हुआ एक दिव्य शरीर है, पर उसे पकड़ना, प्रभावित करना हो तो उसके केन्द्र स्थान सहस्रार चक्र से सम्बन्ध मिलाना होगा। सहस्रार चक्र मस्तिष्क के मध्य भाग में माना गया है, उसे ब्रह्मरन्ध्र भी कहते हैं।

पृथ्वी के उत्तर ध्रुव पर अन्तर्ग्रही शक्तियों का अवतरण होता है। उसी अनुदान पर पृथ्वी अपनी महत्वपूर्ण आवश्यकताओं का एक बड़ा भाग पूरा करती है। मनुष्य भी पृथ्वी के समान ही एक पूरा ग्रह है। उसका मस्तिष्कीय मध्य केन्द्र ब्रह्मरन्ध्र उसी प्रकार है जैसे पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव प्रदेश का वह केन्द्र जिसे धुरी कहा जाता है और उसकी भ्रमणशीलता का सारा सन्तुलन बना हुआ है। मस्तिष्क का मध्य बिन्दु सहस्रार है। इसी स्थल के साथ ब्रह्मसत्ता के साथ उसका सम्बन्ध जुड़ता है। नाभिनाल से माता और भ्रूण का सम्बन्ध जुड़ता है, ठीक इसी प्रकार ब्रह्मसत्ता और आत्मसत्ता के बीच का आदान-प्रदान इसी ब्रह्मरन्ध्र के मध्यवर्ती सहस्रार घटक पर निर्भर रहता है।

पुराणों में ब्रह्मलोक, विष्णुलोक और रुद्रलोक का बड़ा आकर्षक एवं विचित्र वर्णन है। अनन्त जलराशि-सहस्र दल कमल पुष्प-उस पर ब्रह्माजी का स्थान-तप साधन-यही है ब्रह्मलोक। सहस्र फन वाला शेष सर्प की शैया-विष्णु भगवान् का शयन यही है विष्णुलोक। कैलाश पर्वत, मानसरोवर, सर्प मालाओं के धारण शिवलोक। इन तीनों देवताओं के लोकों का वर्णन मस्तिष्क मध्य के सहस्रार चक्र के साथ ठीक प्रकार बैठ जाता है। मस्तिष्क में भरी हुई मज्जा को जलराशि, समुद्र मानसरोवर समझा जाना चाहिए। सहस्र फन वाला सर्प- सहस्र दल-कमल -शंकर के गले का सर्प- महाकाल कुण्डलिनी का महासर्प-इन आसनों पर विराजमान ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सद्गुरु आदि यह सारा अलैकांरिक चित्रण मस्तिष्क के मध्य भरे हुए गीले पदार्थ का उसके मध्य सहस्रार बिन्दु का और उसके साथ जुड़े हुए ब्राह्मी आदान-प्रदान का परिचय देता है। सहस्रार स्थल पर गढ़ी हुई कीर्ति ध्वजा शिखा है। जिसे हिन्दू धर्म में साक्षात् देव प्रतिमा के तुल्य पवित्र माना जाता है और मुण्डन संस्कार के साथ समारोहपूर्वक प्रतिष्ठापित किया जाता है।

सविता शक्ति का आनन्दमय कोश में प्रवेश करने का मार्ग यही सहस्रार चक्र है। अन्य चक्रों की तरह इसका स्वरूप भी शक्ति भँवर-समर्थ चक्रवात जैसा है। विशेषता के अनुरूप उसे सहस्र दल कमल कहा जाता है। सूर्य की हजारों किरणें-समुद्र की हजारों लहरें- ब्रह्म की हजारों आँखें एवं भुजाएँ प्रख्यात हैं। इस केन्द्र से भी सहस्रों दिव्य धाराएँ विशिष्ट फुहारे की तरह छूटती हैं। इन सब तथ्यों का ध्यान रखते हुए उसे सहस्र दल कमल की संज्ञा दी गई है। सहस्रार का अर्थ है सहस्र आरे वाला। आरे में छोटे-छोटे दाँते होते हैं। इन्हें कमल-पुष्प की पंखुरियों के समतुल्य माना गया है। आतिशबाजी की फुलझड़ी में जिस प्रकार एक साथ सहस्रों चिनगारियाँ छूटती हैं उसी प्रकार इस सहस्रार से भी अगणित शक्ति प्रवाह छूटते हैं और आत्मसत्ता के विभिन्न केन्द्रों को विभिन्न प्रकार से लाभान्वित करते हैं।

आदनन्दमय कोश की ध्यान धारणा में सविता का सहस्रार मार्ग से प्रवेश करके समस्त कोश सत्ता पर छा जाने से ओत-प्रोत होने का ध्यान किया जाता है। यदि संकल्प में श्रद्धा, विश्वास की प्रखरता हो तो सहस्रार का चुम्बकत्व सविता शक्ति के प्रचुर परिमाण में आकर्षित करने और धारण करने में सफल हो जाता है। इसकी अनुभूति कान्ति रूप में होती है। कान्ति सामान्यतया सौन्दर्य मिश्रित प्रकाश को कहते हैं और किसी आकर्षण एवं प्रभावशाली चेहरे को कान्तिवान कहते हैं। पर यहाँ शरीर की नहीं आत्मा की कान्ति का प्रसंग है। इसलिए वह तृप्ति, तुष्टि एवं शान्ति के रूप में देखी जाती है। तृप्ति अर्थात् सन्तोष। तुष्टि अर्थात् प्रसन्नता। शान्ति अर्थात् उद्वेग रहित, सुस्थिर मन:स्थिर। यह तीनों वरदान, तीनों शरीरों में काम करने वाली चेतना के सुसंस्कृत उत्कृष्ट चिन्तन का परिचय देती हैं। स्थूल शरीर सन्तुष्ट तृप्त। सूक्ष्म शरीर प्रसन्न तुष्ट। कारण शरीर शान्त समाहित। यही वह स्थिति है जिसमें सहज मुसकान बनी रहती है। हलकी-सी मस्ती छाई रहती है। कबीर ने इसी को सहज समाधि कहा है।

सहस्रार को अन्तर्जगत का सविता माना गया है। प्रात:कालीन स्वर्णिम सूर्य को सविता कहा गया है। ब्रह्माण्ड का सूर्य आकाश में चमकता है। जीव पिण्ड का सविता सहस्रार है उसे भी उदीयमान स्वर्णिम सूर्य की संज्ञा दी गई है। ब्रह्माण्ड की अपनी सीमा में जो कार्य सविता करता है लगभग वैसा ही सहस्रार द्वारा आत्मसत्ता के पाँचों कोशों-छ:हों चक्रों तथा अन्य स्थूल सूक्ष्म अवयवों में सम्पन्न किया जाता है।

आनन्दमय कोश की जागृति में आत्मबोध, तत्वबोध, ब्रह्मबोध का त्रिविधि उद्बोधन समन्वित है। सविता का दिव्य प्रकाश इन त्रिविध अनुदानों से साधकों को लाभान्वित कर सके इसी के लिए यह ध्यान धारणा की जाती है।

सविता शक्ति का किरण पुञ्ज सहस्रार चक्र में प्रविष्ट, मस्तिष्क के मध्य में दिव्य आलोक की तरंगें, फुहारें अधिक स्पष्ट, अधिक प्रखर हो रही हैं। वही आलोक की तरंगें दूर-दूर तक फैल रही हैं। सर्वत्र आत्मतत्व सर्वत्र अपनी सत्ता की अनुभूति। अद्भुत शान्ति, तुष्टि, तृप्ति का बोध, पूर्ण काम, स्थित प्रज्ञ, अवधूत स्थिति का बोध। आत्मसत्ता एवं ब्रह्मसत्ता में अभेद का अनुभव।

ब्रह्म वर्चस् की प्रखर साधना प्रक्रिया

'ब्रह्म वर्चस्' साधना के तीन आधार हैं-

(१) स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर में छाई तन्द्रा का निवारण और जागृति की प्रखरता का अभिवर्धन (२) अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोशों का अनावरण करने वाली गायत्री की उच्चस्तरीय पंचमुखी-पंचकोशी

साधना (३) कुण्डलिनी जागरण की अन्त:ऊर्जा का उभार। ओजस्, तेजस् एवं वर्चस् का आत्मबल का प्रचण्ड उन्नयन। ब्रह्मवर्चस् की साधना प्रक्रिया में इन्हीं तीन तत्वों का सन्तुलित समावेश रखा गया है।

तीन शरीरों की प्रखरता का अभिवर्धन

स्थूल शरीर यह है जो आँखों से दीखता है। चलता-फिरता, सोता-खाता और काम करता है। इसकी सामान्य गतिविधियाँ सर्वविदित हैं। जीवन-यात्रा के नित्यकर्म ज्ञानेन्द्रियों द्वारा- विविध अनुभूतियों, क्रिया-कलाप द्वारा- अभीष्ट सफलताओं का उपार्जन- इन तीन कृत्यों में यह देह लगी रहती है। पेट की भूख और यौनाकर्षण की उमंग यह दो प्रेरणाएँ ऐसी हैं जिनके लिए शरीर की सामान्य गतिविधियाँ चलती रहती हैं। इस चक्र में परिभ्रमण करते हुए सामान्य मनुष्यों का जन्म बीतता है।

सूक्ष्म शरीर का केन्द्र मस्तिष्क है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार की विभिन्न गतिविधियाँ इसमें चलती रहती हैं। कल्पना, विचारणा, पक्ष-विपक्ष के तर्क-वितर्क, अनुभव, निष्कर्ष, निर्णय आदि का निर्धारण इसी क्षेत्र में होता है। मूर्खता चतुरता केन्द्र यही है। शिक्षा का प्रभाव इसी पर पड़ता है। आदतें यहीं जमी रहती हैं। ज्ञान की विभिन्न भूमिकाओं का संग्रह इसी में रहता है। स्वप्न यही देखता है। मरने के बाद भूत-प्रेत की योनि में आत्मा का यही कलेवर जीवित रहता है।

कारण शरीर में भावनाएँ, आस्थाएँ, आकांक्षाएँ, मान्यताएँ रहती हैं। व्यक्तित्व का उद्गम केन्द्र यही है। दिशा धाराएँ यहीं से उद्भुत होती हैं। विचारणाओं, क्रियाओं की हलचलें यहीं के निर्देश पर निर्धारित होती हैं। उत्कृष्टता और आदर्शवादिता की- पतन और पराभव की- भली-बुरी आस्थाएँ इसी में जड़ जमाए रहती हैं। आध्यात्मिक उत्कर्ष इसी परत का होता है। महानात्मा, देवात्मा एवं परमात्मा का स्तर मनुष्य इसी क्षेत्र को विकसित करने पर प्राप्ति करता है। वेदान्त में आत्मा को ही परमात्मा कहा गया है यह इसी स्तर की परिष्कृत स्थिति की व्याख्या है। स्वर्ग मुक्ति, सिद्धि, ईश्वर प्राप्ति जैसी दिव्य विभूतियों का भाण्डागार यही है और इसी केन्द्र से उन्हें उपलब्ध किया जाता है। सामान्य स्थिति में यह केन्द्र वासना, तृष्णा और अहंता के कषाय-कल्मषों से आच्छादित रहता है। प्राणी उन्हीं की मृग-तृष्णा में भटकता रहता है। उद्वेग और विक्षोभ यही उठते हैं यदि इस क्षेत्र को परिष्कृत कर लिया जाय तो तत्वदर्शी, स्थिति प्रज्ञ परमहंस एवं जीवन मुक्त की दिव्य स्थिति इसी जन्म में प्राप्त हो जाती है।

सामान्यतया यह तीनों शरीर सांसारिक माया-मोह के जंजाल में फँसे रहते हैं। व्यर्थ अनर्थ करते और शोक-सन्ताप सहते हैं। इन तीनों के भीतर एक से एक बढ़ी-चढ़ी दिव्य क्षमताऐं विद्यमान हैं। पर वे प्रसुप्त स्थिति में पड़ी रहती हैं। यदि उन्हें जगाया जा सके तो सत्प्रवृत्तियाँ, सद्विचारणाएँ और सद्भावनाएँ उभरती हैं। फलस्वरूप व्यक्तित्व देवोपम बनता चला जाता है। सामान्य परिस्थितियों में रहते हुए भी अन्त:चेतना परिष्कृत होने के कारण स्वर्गीय अनुभूतियों का आनन्द मिलने लगता है। गायत्री को त्रिवदा कहा गया है। तीन शरीरों की जागृति में वह तीन पाद या तीन चरण देखे जा सकते हैं। भू: र्भूव: स्व: की तीन व्याहृतियाँ भी तीनों शरीरों के परिष्कार की ओर इंगति करती हैं।

पाँच कोशों का अनावरण-

गायत्री के पाँच मुख भी चित्रित किये गये हैं। यह पाँच मुख अन्त:चेतना पर चढ़े हुए पाँच आवरण हैं जिन्हें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोश कहा जाता है। जमीन खोदने पर बहुमूल्य खनिज मिलते हैं। समुद्र में डुबकी लगाकर खोजने से मणि मुक्तकों की रत्न राशि मिलती है। जीवात्मा के साथ परमपिता ने बहुमूल्य खजाने संजोकर रखे हैं, वे उपरोक्त तिजोरियों में बन्द हैं। यदि इन्हें खोलना आ सके तो एक व्यक्ति अपने पाँचों स्तरों को पाँच देवताओं की तरह सहायता करते और सिद्धियाँ देते हुए अनुभव कर सकता है।

षट्चक्र बेधन से ऋद्धि-सिद्धियों के चमत्कारी प्रतिफल मिलने की फल श्रुति शास्त्रकारों ने बताई है। इसमें से एक चक्र 'मूलाधार' तो कुण्डलिनी शक्ति का उद्गम केन्द्र है। उसकी साधना स्वतन्त्र रखी गई है। शेष पाँच चक्रों को पाँच कोशों का केन्द्र कहा जाता है। इन कोशों का ध्यान पद्धति से 'अनावरण' ही हठयोग ग्रन्थ से हठयोग पद्धति में "चक्र बेधन" बताया गया है। अन्नमय कोश का केन्द्र 'स्वाधिष्ठान' चक्र- प्राणमय कोश का 'मणिपुर'- मनोमय कोश का 'अनाहत'- विज्ञानमय कोश का 'विशुद्धि' और आनन्दमय कोश का केन्द्र सहस्रार चक्र है। इनका अनावरण बेधन या जागरण होने पर वे दिव्य क्षमताएँ जागृत होती हैं। वह होती तो प्रत्येक मनुष्य में हैं, पर प्रसुप्त स्थिति में पड़े रहने के कारण वह अपने को

दीन-दरिद्र अनुभव करता रहता है। इस कोश अनावरण को ही 'आत्म जागृति' नाम दिया गया है। आत्मबोध होने पर इस जगत के सारे रहस्य खुल जाते हैं तदुपरान्त और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता।

कुण्डलिनी जागरण-

हठयोग के माध्यम से प्राय: कुण्डलिनी जागरण के प्रयोग चलते हैं। नेति, धोति, न्योलि, वस्ति, बज्रोली, कपाल भाँति क्रियाओं द्वारा नाड़ी शोधन और विशिष्ट प्राणायामों एवं बंध मुद्राओं द्वारा हठयोगी कुण्डलिनी जागरण करते हैं। मल-मूत्र छिद्रों के मध्य में मूलाधार चक्र अवस्थिति कुण्डलिनी शक्ति जब जगाती है, तब सर्पिणी की तरह फुफकारती हुई और अग्नि लपटों की तरह लपलपाती दीखती है। उसके आकस्मिक जागरण को सहन न कर पाने पर कई हठयोगी साधक खतरा भी उठाते हैं। अपनी ध्यानयोग पद्धति में सब कुछ सौम्य है। उसमें बाल-वृद्ध सभी के लिए समान रूप से सरलता एवं किसी प्रकार के विग्रह, उपद्रव की पूर्णतया सुरक्षा है।

मूलाधार चक्र को अग्नि कुण्ड माना गया है उसमें एक त्रिकोण अणु है, जिसे कूर्म रूप में चित्रित किया गया है। समुद्र मन्थन की कथा मूलाधार चक्र की स्थिति का ही अलंकारिक चित्रण है। पौराणिक कथा के अनुसार समुद्र मन्थल देव-दैत्य सहयोग से सम्भव हुआ था। कूर्म भगवान आधारशिला बने थे। मदिराचल पर्वत की मंथनी रई बनाई गई थी। वासुकि सर्प की रस्सी थी इस मन्थन के फलस्वरूप १४ दिव्य रत्न निकले थे। यह मूलाधार स्थिति अन्त:ऊर्जा-कुण्डलिनी शक्ति के जागरण विधान का संकेत है। मूलाधार का कुण्डलिनी कुण्ड समुद्र हुआ। उसका आधार त्रिकोण अणु-कूर्म कच्छप है। यह ब्रह्म सत्ता है। मदिराचल प्रकृति वैभव का प्रतीक। सर्प है जीव। ईश्वर प्रकृति और जीव का समन्वय सम्पर्क जिस केन्द्र में रहता है, जिसमें ऊर्जा और सम्पदा का भण्डार भरा पड़ा है वह उसी स्थान का सूक्ष्म समुद्र है। देव आत्मिक और दैत्य भौतिक शक्तियाँ हैं। भावनात्मक और क्रियात्मक प्रयोगों के सम्मिलित प्रयत्न में ही यह समुद्र मन्थन की कुण्डलिनी जागरण की क्रिया-प्रक्रिया सम्पन्न होती है। इसी प्रयास से सर्वतोमुखी प्रगति में सहायता करने वाली विभूतियाँ उपलब्ध होती हैं जैसी कि लक्ष्मी, अमृत-कलश कौस्तुभ मणि, धन्वन्तरि, सूर्य, चन्द्र आदि के रूप में पौराणिक कथाकारों ने अलंकारिक चित्रण किया है।

गायत्री मंत्र के वामपक्षी प्रयोगों में ब्रह्मास्त्र, ब्रह्मदण्ड ब्रह्मबल आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। यह कुण्डलिनी जागरण से उत्पन्न प्रचण्ड ऊर्जा के उस भाग का वर्णन है, जो जीवन और जगत् को प्रभावित करता है, जिसमें शाप-वरदान देने की सामर्थ्य मूलाधार में सन्निहित रहती हैं। सामान्यतया मनुष्य की सामर्थ्य मूलाधार में सनिहित क्रीड़ा कामुकता की लिप्सा लालसा में ही भटकती नष्ट होती रहती है। यह शक्ति का अध:पतन, वासनात्मक क्षरण है। वासना को कामना, अभिरुचि एवं आकांक्षा को अर्धगामी बनाना कुण्डलिनी जागरण है। मस्तिष्क को ब्रह्मलोक कहा गया है। पतनोन्मुख-लिप्सा निरत अन्त:ऊर्जा को सद्भावों के सोमरस तक- उत्कृष्ट चिन्तन तक- पहुँचा दिया जाय तो मनुष्य जीवन की सार्थकता के समस्त आधार बन जाते हैं। कुण्डलिनी जागरण साधना से आत्मा को ऊर्ध्वगामी बनाने वाली प्रबल प्रेरणा मिलती है। यदि इस उद्भव को चिरस्थायी बनाया जा सके और सदुपयोग हो सके तो समझना चाहिए कि साधना की सिद्धि मिलने का उद्देश्य प्रत्यक्ष रूप से पूर्ण हो गया।

सुगम किन्तु प्रभावशाली साधनाक्रम

यह तीनों धाराएँ सदैव से अति महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली मानी जाती रही हैं। इनके माध्यम से सत् रज् तम का सन्तुलन, कारण, सूक्ष्म, स्थूल का नियमन, ब्रह्म जीव प्रकृति का प्रत्यक्षीकरण अधिदैविक, आध्यात्मिक अधिभौतिक क्षमताओं का विकास, ब्रह्मवर्चस् तेज, ओजस् एवं विभूति ऋद्धि-सिद्धि आदि की प्राप्ति होती है। हाँ! उन्हें कठिन एवं दु:साध्य अवश्य कहा जाता रहा है। किन्तु जिस प्रकार जिस दिव्य सत्ता की स्फुरण तथा कृपा से गायत्री साधना जैसी दुरूह और गुह्यमानी जाने वाली प्रक्रिया को वर्तमान परिस्थितियों में भी अपनाया जाने योग्य व्यावहारिक, सुगम रूप दिया जा सका, उसी प्रकार इन साधनाओं को भी सर्वसुलभ बनाया गया है। उनका प्रभाव यथावत् बनाये रखकर भी उनकी साधना विधि का जन-साधारण द्वारा अपनाये जाने योग्य बनाया गया है। सीमित साधनों एवं सीमित समय में भी इन साधनाओं का उत्साही साधक कर सकते हैं तथा पर्याप्त लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

यह साधना क्रम शान्तिकुन्ज में चलने वाले सभी साधना एवं प्रशिक्षण सत्रों में जोड़ दिया गया है। क्षेत्रों में भी परिजन इसे प्रारम्भ कर सकते हैं। शान्तिकुन्ज में जप, तप, उपासना, हवन आदि के क्रम के साथ-साथ इन साधनाओं का भी अभ्यास कराया जाता है। प्रात: ४५ मि० ध्यान साधना एवं सायंकल क्रियायोग सहित साधना का प्रशिक्षणात्मक अभ्यास कराया जाता है। साधक दिये जाने वाले निर्देशों का अनुसरण करते हुए साधना का गहराइयों में उतरते और दिव्य अनुभूतियाँ प्राप्त करते हैं।

प्रात:कालीन ध्यान साधना के अन्तर्गत तीनों साधनों का आरम्भ में उपस्थित साधकों को निर्देश दिया जाता है कि वे कमर सीधी-हाथ को गोदी में-बांया हाथ नीचे- दाहिना ऊपर-शान्तचित्त-नेत्र बन्द की ध्यान मुद्रा में बैठें। मन को एकाग्र रखें। निर्धारित निर्देशों के अनुरूप कल्पना क्षेत्र में भाव चित्र बनायें। उन चित्रों से मन स्पष्ट और प्रखर करने का प्रयत्न करें। अनुभूतियाँ जो बताई गई हैं, उन्हें उभारने के लिए तन्मयता एवं श्रद्धा का परिपूर्ण समावेश करें।

चलना व्यष्टि से समष्टि की ओर है। इसलिए उपस्थित सभी साधकों को अपनी सत्ता पृथक रखने की अपेक्षा-सामूहिकतम एकता की समष्टि समग्रता की बनानी चाहिए। हम उपस्थित लोगों का मन एक है। संयुक्त मन ही हमारा वास्तविक मन है। ध्यान उसी सामूहिक चेतना के आधार पर किया जा रहा है। जिस प्रकार सूर्य एक और किरणें अनेक होती हैं जिस प्रकार समुद्र एक और लहरें अनेक होती हैं- उसी प्रकार हम सब की व्यक्ति-सत्ता अलग दीखते हुए भी, वस्तुत: हम सब एक-अभिन्न अविच्छिन्न हैं। संयुक्त अस्तित्व ही वास्तविकता है। हम विराट् के एक घटक हैं। विलगाव अवास्तविक और एकत्व यथार्थ है। पृथकता से विरत होकर हम एकता की ओर चल रहे हैं। साधना संयुक्त मन से सर्वजनीन लोक मंगल के लिए हो रही है। यह ध्यान आरम्भ से पूर्व की प्रथम भूमिका है जिसे कुछ समय शान्त चित्त से करना होता है। इससे अनेकता में एकता की अनुभूति होने लगती है।

साधना स्थल एवं वातावरण के सम्बन्ध में उच्चस्तरीय भावनाएँ लेकर चलना पड़ता है। तप की परम्परा में हिमालय पिता की गोद तथा गंगा माता के अंचल को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। उच्चस्तरीय आध्यात्मिक साधनाओं का इतिहास इसी भूखण्ड के साथ जुड़ा हुआ है। राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघन चारों भाई वृद्धावस्था में अयोध्या छोड़कर इसी भूमि में तप करने के लिए आये थे। भगवान कृष्ण ने रुक्मिणी सहित इसी भूमि में तप किया था। पाण्डव स्वर्गारोहण की साधना करने यहीं आये थे। सप्त ऋषियों का तप यहीं सम्पन्न हुआ था। भागीरथ ने गंगावतरण की और परशुराम ने शक्ति पुंज दिव्य परशु प्राप्त करने तथा सफलता प्राप्त करने की दिव्य साधनाएँ इसी भूमि पर तप करते हुए सम्पन्न की थीं। इस वातावरण में तपश्चर्या के उपयुक्त ऐसे दिव्य आधार मौजूद हैं, जिनके कारण अन्यत्र जन्म भर तप साधना करने की अपेक्षा यह प्रयोजन स्वल्पकाल में ही अधिक सरलता और सफलता के साथ सम्पन्न हो जाता है।

हिमालय की गोद और गंगा के अंचल में विनिर्मित शान्ति कुन्ज प्रस्तुत साधना के लिए अत्यन्त उपयोगी स्थान है। यहाँ अखण्ड दीपक, नित्य जप, नित्य हवन एवं साधनाओं का दिव्य वातावरण बना रहता है। यह केन्द्र वस्तुत: किसी महान अध्यात्म शक्ति के संरक्षण में चल रहा है। आचार्य दम्पत्ति जो उसका प्रबन्ध कार्यवाहक के रूप में करते हैं। इसलिए इस क्षेत्र में 'दिव्यता' अनायास ही छाई रहती है। फिर प्रत्यक्ष मार्ग-दर्शन और स्पष्ट अनुदान देने के लिए तथा स्नेह दुलार की दिव्य संवेदनाऐं उभारने के लिए दो प्रत्यक्ष प्रतिमाऐं भी यहाँ मौजूद हैं। गायत्री माता और यज्ञ पिता के प्रतीक यहाँ गायत्री मन्दिर एवं विनिर्मित यज्ञशाला की पूजा अर्चना एवं हवन-प्रक्रिया में ही नहीं- जीवान्त रूप से अनुभव की जा सकती है। इन सबको मिलाकर यह अनुभूति होती है कि यह साधना-स्थल दिव्य-लोक के रूप में है। दिव्य वातावरण और दिव्य संरक्षण की अद्‌भुत सुविधा यहाँ मौजूद है।

समष्टि मन दिव्य वातावरण की अनुभूतियों के साथ-साथ त्रिविध ध्यान आरम्भ करने से पहले योगनिद्रा और आत्म-जागृति की अनुभूति उभारनी पड़ती है। इससे मन: स्थिति ऐसी बन जाती है। जिसमें ध्यान के बीजारोंपड़ और अंकुर उगने का कार्य भली प्रकार सम्भव हो सके। योगनिद्रा का अर्थ है बहिरंग की सुषुप्ति शिथिलता एवं शान्ति। इसके लिए चिन्तन करना होता है कि शरीर अर्ध निद्रिंत जैसी स्थिति में शिथिल हो रहा है। मन ने भगदड़ बन्द कर दी और वह शान्ति, स्थिरता, तृप्ति एवं सरसता का अनुभव करते हुए अर्धतंद्रित बन रहा है। शरीर शिथिल-मन शान्त की स्थिति उत्पन्न कर लेना ध्यान साधना की पृष्ठभूमि बनाने के लिए आवश्यक है। वासना, तृष्णा और अहंता की उत्तेजनाएँ ही शरीर को

दुष्प्रवृत्तियों में, मन को कुकल्पनाओं में और अन्त:करण को दुर्भावनाओं में घसीटती रहती हैं। ध्यान के पूर्वाभ्यास में इन तीनों के शान्त होने का संकल्प एवं विश्वास जमाना पड़ता है। ब्रह्मवर्चस् साधना में इसी की स्थिति में उत्पन्न करने के लिए निर्देश दिये जाते हैं। साधक अनुभव करता है कि वह वस्तुत: शरीर शिथिल और मन से समाहित होकर गम्भीर शान्ति अनुभव कर रहा है। यह योगनिद्रा प्रकरण हुआ। इसे भाव समाधि कह सकते हैं।

ध्यान की पृष्ठभूमि बनाने में बहिरंग की सुषुप्ति ही नहीं अन्तरंग की जागृति भी आवश्यक होती है। इस अभ्यास का नाम 'आत्म-जागृति' दिया गया है। अन्तरात्मा में 'आत्म-ज्ञान' जगने एवं आत्म-बल बढ़ने की भावना की जाती है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप और जीवन का परम लक्ष्य उभारना पड़ता है। आत्मा ईश्वर का जेष्ठ पुत्र, उसी का अभिनाशी वंश है। अपने पिता की सभी दिव्य सम्भावनाऐं बीज रूप में उसमें विद्यमान हैं। सत्य, शिव और सुन्दर का आधार उसकी सत्ता में पूर्णतया समावेश है। अपूर्णता के भव-बन्धनों से छुटकारा पाना, जो पूर्णता की मुक्ति सम्पदा को उपलब्ध करना जीवन का लक्ष्य है। सृष्टि के प्राणियों की तुलना में अद्‌भुत अनुदान उसे इसलिए है कि ईश्वरीय इच्छाओं की पूर्ति के लिए वह कारगर प्रयत्न कर सके। इस सृष्टि को सुन्दर, समुन्नत एवं सुसंस्कृत बनाना ही उसे सौंपा गया कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व है। वह उसे निवाहने में पूर्णतया समर्थ हैं। इन भावनाओं को अन्त:क्षेत्र में जागृत करने को आत्म-जागृति कहते हैं। आत्म-ज्ञान एवं आत्म-बल का अभिवर्धन इसी भाव श्रृंखला को अन्त:क्षेत्र में उभारने से सम्भव होता है।

यह सब प्रात:कालीन ध्यान प्रक्रिया से पहले की पूर्व भूमिका है। इसे साधना की पृष्ठभूमि कहा जा सकता है। साधना के लिए निर्धारित ४५ मिनट से पहले १५ मिनट इसके लिए सुरक्षित हैं। शेष आधा घन्टा ध्यान करना होता है। तीन साधनाओं के लिए तीन-तीन दिन की आधा-आधा घण्टे की ध्यान धारणा निर्धारित है। उस अवधि में तीन दिन तीनों शरीरों सम्बन्धी, तीन दिन पांच कोशों सम्बन्धी तथा तीन दिन कुण्डलिनी जागरण सम्बन्धी ध्यान विशेष निर्देशों के साथ कराया जाता है।

ब्रह्म वर्चस् साधना की प्रक्रिया में यह प्रात:कालीन ध्यान धारणा मुख्य है। परन्तु इन तीनों ही साधनाओं में से हर एक के साथ ध्यान सहित कुल पाँच-पाँच क्रियाऐं रखी गयी हैं- (१) आंसन, (२) मुद्रा, (३) प्राणायाम, (४) जप, (५) ध्यान।

औषधियों को प्रभावशाली बनाने के लिए जड़ी बूटियों को पंचांग सहित लिया जाता है। पूजन में पंचोपचार, पंचामृत, पंचगव्य आदि का महत्व सर्वविदित है। ज्योतिष में भी पंचांग का ही सहारा लेना पड़ता है। उपर्युक्त क्रियाओं को भी साधना पंचांग साधना पंचक, अथवा साधना पंचोपचार कह सकते हैं।

हर साधना के साथ, उसके विज्ञान के अनुरूप इन क्रियाओं के भिन्न-भिन्न रूप रखे गये हैं। तीनों ही साधनाओं में प्रमुख भूमिका ध्यान की ही है, अन्य क्रियाऐं उसी की सहयोगी क्रियाऐं हैं। ध्यान को प्रधान मानने का अर्थ अन्य को निरर्थक मान लेना नहीं है। सभी क्रियाऐं अपना-अपना महत्व रखती हैं, और प्रकारान्तर से ध्यान को प्रखर तथा सुनियोजित बनाती हैं। इनके सहारे साधक का ध्यान भटकता नहीं है तथा साधना प्रवाह अबाध चलता रह सकता है।

यह पाँचों क्रियाऐं उभय-पक्षीय हैं। एक तो उनकी क्रिया विधि है- दूसरा उनका दर्शन एवं प्रेरणा पक्ष है। दोनों के संयोग से ही हर क्रिया पूर्ण बनती है। प्रस्तुत साधना क्रम में उन दोनों का ही उल्लेख है, ताकि उनका सही प्रयोग- उपयोग किया जा सके।

आसन-सर्वमान्य यौगिक व्यायाम तो है ही। उसका शरीर के अन्तरंग स्थानों पर योग साधना के अनुकूल प्रभाव पड़ता है। साथ ही आसन का अर्थ आधार स्थिति नींव भी होता है। आधार गलत हो तो अगली रचना ही बिगड़ जाती है। साधनाओं के साथ जोड़ा गया आसनों का दर्शन-पक्ष साधक को उपयुक्त आधार की दिशा और प्रेरणा देता है। उसे तो अनिवार्य रूप से तुरन्त हृदयंगम करना ही चाहिए। क्रिया पक्ष का भी अभ्यास चालू रखना चाहिए। प्रारम्भ में आसन थोड़े समय ही करें। साधन में केवल मुद्रा अथवा मुद्रा एवं प्राणायाम उसके लिए नियुक्त विशेष आसन में की जाय। अभ्यास से जब वह सहज हो जाय तभी से जप एवं ध्यान के समय उसका उपयोग किया जाय, अन्यथा सामान्य सुखासन में ही जप, ध्यान करना उचित है।

मुद्राओं के भी दोनों पक्ष हैं। क्रिया पक्ष का अपना प्रभाव है, और प्रेरणा पक्ष का अपना। मुद्रा का अर्थ होता है, रुख, स्थिति। योग साधना के लिए सही आधार आसन के साथ-साथ साधक की दिशा, रुख भी ठीक हो तभी लाभ होता है। मुद्रा के अभ्यास से वृत्तियाँ एक दिशा विशेष की ओर

मोड़ी जाती हैं। हर मुद्रा के साथ उसके दर्शन को इसीलिए हृदयंगम करना होता है।

प्राणायाम द्वारा योग साधना के लिए आवश्यक हलचल एवं ऊष्मा शरीर एवं अन्तःकरण में पैदा की जाती है। योग साधना का प्राणायाम केवल श्वास-प्रश्वास नहीं होता, उसके साथ संकल्प युक्त प्राण प्रयोग होता है। संकल्प एवं चिन्तन की प्रखरता के अनुरूप ही प्राण संचरण में सबलता आती है।

जप में मात्र शब्दोचार नहीं उसमें मनोयोग युक्त मन्त्र-शक्ति की तरंगें पैदा करनी होती हैं। उपांशु जप, जिसमें कण्ठ, औंठ, जीभ आदि चले तो पर स्वर बाहर न सुनाई पड़े। अन्दर उसकी तरंगें संचरित होती रहें, यह क्रम जप में चलाया जाता है।

यह सभी क्रियाएँ ध्यान की सहायक क्रियाएँ हैं। प्रमुख भूमिका ध्यान की ही होती है। चारों क्रियाओं से ध्यान पक्ष को सहयोग मिलता है। क्रिया माध्यम से मुख्य धारा की विस्मृति नहीं होने पाती।

आसन के साथ क्रमशः मुद्रा एवं प्राणायाम करना चाहिए। जप एवं ध्यान के समय श्वास स्वाभाविक ही रहती है। सारी शक्ति ध्यान प्रक्रिया पर ही केन्द्रित कर देनी होती है। अन्य क्रियाऐं स्वचालित ढंग से चलती रहें तो चले ध्यान के समय उनको लक्ष्य न बनाया जाय।

(१) तीन शरीरों की साधनाएँ

इस साधना क्रम में (१) स्वस्तिकासन (२) खेचरी मुद्रा, (३) सोऽहं प्राणायाम (४) तीन प्रणवयुक्त गायत्री मन्त्र का जप एवं (५) सविता देवता के प्रकाश का ध्यान, यह पाँच क्रियाऐं सम्मिलित हैं।

(१) विधिः- यह आसन सामान्य पालथी लगाकर बैठने (सुखासन) से मिलती-जुलती है। सामान्य रूप से बैठें। बायें पैर का पंजा, दाँयें पैर की जाँघ और पिड़ली के बीच दवायें, फिर दाँयें पैर का पंजा बायें पैर की पिड़ली तथा जाँघ के बीच में जमा दें। दोनों पंजे पूरे अन्दर दबे रहें, केवल अँगूठे ऊपर झाँकते रहें। कमर सीधी रखें हाथ गोद में अथवा घुटनों पर सामान्य स्थिति में रखें।

(२) खेचरी मुद्राः- स्वाभाविक आसन में बैठें। शरीर सीधा, नेत्र हलके से बन्द, जीभ को पलट कर तालू से लगायें। 'ण' शब्द के उच्चारण के लिए जीभ तालू से जिस रूप में लगानी पड़ती है उसी स्थिति में उसे स्थिर रखें। जीभ की स्थिति पर ध्यान केन्द्रित करें, जम्हाई आने अथवा थूक निगलने में अथवा अन्य कारण से जीभ अपने स्थान से हट जाय तो उसे पुनः वहीं लगा लें।

जीभ हमारी रसानुभूति प्रवृत्तियों, इन्द्रियों की प्रतिनिधि, उसे पलटना, अर्थात् उपर्युक्त प्रवृत्तियों को अधोगामी, बहिर्मुखी से पलटकर ऊर्ध्वगामी, अन्तर्मुखी बनाना। तालु से लगाना अर्थात् मस्तिष्क स्थित अमृत-कलश, अमृत-निर्झर से जोड़ना। दिव्य सरस की अनुभूति जो हमारे सारे संस्थान को दिव्य तुष्टि प्रदान करता है। इसे प्राप्त करके सांसारिक विकृत रसों का आकर्षण तथा उनके पीछे भटकना स्वतः रुक जाता है।

(३) सोऽहं प्राणायाम विधि- शान्त स्थिति में सीधे बैठें। धीरे-धीरे गहरी श्वास खींचे। श्वास नली में वायु की रगड़ से स्वर पैदा होता है 'सो', पूरी श्वास खींच लेने पर बिना झटके के धीरे से श्वास को पलटें, अन्दर रोकने की आवश्यकता नहीं, जिस गति से श्वास खींची गयी थी, उसी गति से उतने ही समय में उसे निकाल दें। श्वास निकलते समय वायु-घर्षण से स्वर पैदा होता है- 'ह'। बाहर पूरी श्वास निकल जाने पर धीरे से श्वास पलटें तथा पुनः खींचना प्रारम्भ करें। यही क्रिया बार-बार दोहराऐं।

श्वास के साथ 'सो' एवं प्रश्वास के साथ 'हं' के स्वर पर ध्यान केन्द्रित। सोऽहं स्वर की झन्कार सारे शरीर संस्थान में अनुभव होने लगे। 'सो' का अर्थ वह- परमात्मा, 'ह' का अर्थ अहम्- आन्तरिक विकार। प्राण रूप परमात्मा का प्रवेश, अहंकार जनित विकारों का निष्कासन। अपने अन्दर क्रमशः प्राण रूपी प्रकाश, परमात्मा की सत्ता बढ़ना। 'सोऽहं' अर्थात् हम भी वही हैं- परमात्मा और हम एक हैं- की अनुभूति।

(४) जपः-तीन शरीरों को प्रभावित करने के लिए तीन प्रणव युक्त गायत्री मन्त्र का जप। क्रमः- ॐ ॐ ॐ, भूर्भुवः स्वः, तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्।

मनोयोगपूर्वक मन्त्र जप, उसकी तरंगों का सारे शरीर में प्रसारण, क्रमशः तीनों शरीरों के केन्द्रों पर ध्यान के साथ मन्त्र शक्ति की तरंगों का आघात, उनमें प्रवेश, शरीरों में हलचल स्पन्दन पैदा करके उन्हें सविता देवता के स्वर्णिम प्रकाश में ओत-प्रोत होने में मन्त्र शक्ति का सहयोग।

(५) तीनों शरीरों की ध्यान साधना- पूर्ण दिशा, प्रातः काल उदय होता हुआ स्वर्णिम सूर्य-सविता, देवता- गायत्री शक्ति के अधिष्ठाता, अपने इष्ट देव, लक्ष्य, आराध्य, उपास्य इस ध्यान धारणा को इष्ट दर्शन कहा

गया है। नेत्र बन्द करके इसी का चिन्तन किया जाता है। आँखें बन्द रहती हैं, पर अनुभव यही होने लगता है कि किसी निर्जन प्रदेश में हम उपस्थित हैं और उदीयमान सविता देवता की इष्टदेव के रूप में भाव भरी झांकी कर रहे हैं।

सविता देव-ज्ञान के, तेज के, ऊष्मा के, ऊर्जा के, जीवन के, मर्यादा के, सामर्थ्य के, परमार्थ के प्रतीक हैं। उनकी स्वर्णिम आभा में भौतिक स्वर्ण की सभी विशेषताऐं विद्यमान हैं। सोना अन्य धातुओं की तुलना में बहुमूल्य, भारी, सुन्दर, निर्मल एवं नरम होता है। अपने इष्टदेव में भी यह विशेषताऐं, अध्यात्म स्तर की मौजूद हैं। इन दिव्य विशेषताओं से सुसम्पन्न अपने इष्टदेव हैं। उनके सान्निध्य में स्वभावत: यही अनुदान वरदान अपने को भी मिलने वाले हैं। इस भावना के साथ सविता देव का भावनात्मक दिव्य दर्शन किया जाता है।

इष्ट दर्शन का दूसरा चरण है उनमें मिलन, घुलन, लय समर्पण। समीपता एवं शरणागति में द्वैत भाव रहता है। यह ध्यान में उससे आगे की 'अद्वैत' स्थिति उत्पन्न करनी होती है। साधक को साध्य से मिलकर एक बन जाने की अनुभूति उभारनी होती है। जिस प्रकार दीपक के साथ पतंगा एकता का प्रयास करता है। नाला अपना अस्तित्व गँवाकर नदी में विलीन होता है। अग्नि के साथ ईंधन तद्रूप बनता है। दूध, चीनी, नमक पानी मिलकर जिस तरह एक हो जाते हैं। वैसी ही एकता अपने और इष्टदेव के बीच उत्पन्न हो रही है। इसी अनुभूति को इष्ट दर्शन का अगला कदम इष्ट-मिलन या दिव्य आत्म-समर्पण कहते हैं। एकत्व भावना साथ ही आत्म साक्षात्कार एवं ईश्वर मिलन की संवेदनाऐं उभरती हैं और परमानन्द का, सच्चिदानन्द का रसास्वादन होता है।

इष्ट दर्शन एवं इष्ट मिलन के उपरान्त तीनों शरीरों में सविता देवता के प्रवेश का आत्म सत्ता को ब्रह्म तेज से ओत-प्रोत होने का दिव्य अनुभव होता है। पहले स्थूल शरीर में, पीछे सूक्ष्म शरीर में और अन्त में कारण शरीर में सविता तेज के प्रवेश एवं विस्तार आधिपत्य की भाव संवेदना उभारनी होती है।

(क) स्थूल शरीर- प्रवेश द्वार नाभि केन्द्र, अग्नि चक्र, शक्ति भ्रमर, चक्रवात, रुद्रग्रन्थि। इस अनुभूति के उपरान्त इस केन्द्र में सविता देव के प्रवेश का, समस्त स्थूल शरीर में उनका प्रकाश सुविस्तृत हो जाने का ध्यान करना होता है। अनुभव होता है कि समस्त स्थूल शरीर अग्नि पिंड बन गया-अग्नि पुञ्ज हो गया। यह अनुभव जितना ही प्रखर होता है उतना ही अपने में असीम आत्मबल के उभरने और सामर्थ्य से ओत-प्रोत होने का भान होता है।

स्थूल शरीर में सविता देव की ऊर्जा 'ओजस्' शक्ति बनकर प्रवेश करती है। इसे बलिष्ठता, कर्मनिष्ठा एवम् साहसिकता के रूप में अनुभव किया जा सकता है। लगता है यह विशेषताऐं सविता देव के स्थूल शरीर में प्रवेश करने की भावना के साथ ही उठती, उमड़ती चली आ रही हैं। शरीर की स्थिति कर्मयोग साधना में ढलने के उपयुक्त बन गई। उससे सत्कर्म ही बन पड़ेंगें। क्रिया क्षेत्र में घुसी हुई दुष्प्रवृत्तियाँ उस दिव्य ऊर्जा के अवतरण से सहज ही जल-भुनकर नष्ट होंगी। पुरुषार्थ और वर्चस्व निखरेगा।

(ख) सूक्ष्म शरीर- दोनों भवों के मध्य आज्ञाचक्र, तृतीय नेत्र-सूर्य चक्र, विष्णु ग्रन्थि- सूक्ष्म शरीर का प्रवेश द्वार शक्ति भ्रमर-चक्रवात, इस द्वार से सविता देव का सूक्ष्म शरीर में प्रवेश मस्तिष्क क्षेत्र के कण-कण में दिव्य- ज्योति का समावेश, पूरा मन:क्षेत्र आलोकमय, मन की कल्पना शक्ति, बुद्धि की निर्णय शक्ति, चित्त की आदतें, अहं के संस्कार सभी अग्निमय, ज्योतिर्मय, आलोकमय सूक्ष्म शरीर को सविता देव का अनुग्रह, अनुदान 'तेजस्' शक्ति के रूप में उपलब्ध, तेजस् की प्रतिक्रिया, विवेक शीलता, दूरदर्शिता, ऋतम्भरा प्रज्ञा के रूप में विकसित। इस ध्यान धारणा को सूक्ष्म शरीर के शक्ति सम्बर्धन में प्रयुक्त किया जाता है।

(ग) कारण शरीर- हृदय स्थान, ब्रह्म चक्र, ब्रह्म ग्रन्थि, कारण शरीर का प्रवेश द्वार, शक्ति भ्रमर, चक्रवात, सविता देव की ऊर्जा का प्रवेश, कारण शरीर में उस अग्नि ऊष्मा का विस्तार, आत्मसत्ता के अग्नि पुंज होने की अनुभूति, कारण शरीर को सविता देव का वरदान-'ब्रह्म तेजस्' आत्मबल-ब्रह्मबल, इस उपलब्धि की प्रतिक्रिया-श्रद्धा, श्रेष्ठता के प्रति असीम प्यार- भक्ति, करुणा, उदारता, आत्मीयता, सेवा भावना, शान्ति, प्रसन्नता, प्रफुल्लता, उल्लास, सन्तोष। इन अनुभूतियों का कारण शरीर पर सविता देव का आधिपत्य होने-फलस्वरूप इन दिव्य वरदानों के मिलने का अनुभव किया जाता है। लगता है कारण शरीर ब्रह्म तेज से ओत-प्रोत होता चला जाता है उसमें ऋषि स्तर की विभूतियाँ उठती उभरती चली जाती हैं।

(२) पाँच कोशों की साधनाऐं

इस साधना क्रम में (१) वज्रासन (२) उन्मनी मुद्रा (३) प्राणकर्षण प्राणायाम (४) पाँच प्रणव युक्त गायत्री मन्त्र (५) देवात्म-शक्ति का ध्यान सम्मिलित है।

(१) वज्रासन- दृढ़ संकल्प तथा सशक्त लक्ष्य बेध का प्रतीक। कोशों का अनावरण ढिलपुल मनोभूमि से सम्भव नहीं। कठोर से कठोर बाधाओं को बेधकर निकलने के उपयुक्त मनोभूमि का निर्माण ही उसका सही आधार है। यह आधार बन जाने पर प्रगति तथा उपलब्धियाँ सुनिश्चित हैं।

विधि- घुटनों के बल बैठें, घुटने मिले हुए रहें, पंजे पीछे की तरफ सीधे करदें, तलवे ऊपर की ओर हो जावें, पंजे परस्पर मिले रहें और एड़ियाँ फैला दें। ऐड़ियों के बीच नितम्ब जमाकर सीधे बैठ जावें, रीढ़ एवं गर्दन सीधी, हाथ सुविधानुसार जाँघों पर अथवा घुटनों पर रहें।

(२) उन्मनी मुद्रा- सहज स्थिति में बैठें, नेत्र लगभग बन्द रहें, आँख की पुतली समाने देखने जैसी स्थिति में रहे, नीचे देखने, ऊपर जैसी स्थिति में रखने से आँख पर दबाव पड़ता है। पलक इतने हलके खुले हों कि नीचे से हलके प्रकाश की अनुभूति भर हों, उसी प्रकाश पर ध्यान रखें, हलका प्रकाश अन्दर एवं बाहर अनुभव होने लगता है। वृत्तियाँ शान्त तथा अन्तर्मुखी हो जाती हैं।

चिन्तन- इन्द्रियों, प्रवृत्तियों को संसार की ओर से खींचकर अन्तर्मुखी कर रहे हैं। बहिरंग से उदासीन, अन्तरंग के प्रति जागरूक। अन्तरंग शक्तियों का एकीकरण करना।

(३) प्राणाकर्षक प्राणायाम- चारों ओर प्राण का समुद्र। उसमें अपनी स्थिति, गहरी श्वास के साथ प्राण प्रवेश का ध्यान।

प्रथम चरण- प्राण की धारा नाभि तक जाती है। नाभि चक्र से टकराकर सारे शरीर में प्राण बिखर जाता है। शरीर के अवयव उसे सोखते हैं, प्राणवान बनते हैं, वायु अन्दर के विकारों को लेकर बाहर निकलता है, विकार प्राणशक्ति द्वारा दूर ठेल दिये जाते हैं, चारों ओर पुनः प्राण की सघनता हो जाती है, यही क्रिया दोहराना।

दूसरा चरण- श्वांस के सहारे के शरीर के विभिन्न अंगों मस्तिष्क, पृष्ठभाग, अधोभाग में प्राण को संचरित करना। वायु अपने मार्ग से जाता है तथा फेंफड़ों, नाभि तक ही सीमित रह जाता है। प्राण अपने लक्ष्य पर सीधा जाने की क्षमता रखता है।

तीसरा चरण- सारे शरीर के रोम-रोम से श्वांस ली जा रही है तथा प्राण का संचरण सारे शरीर में एक साथ हो रहा है। हर संस्थान सीधे प्राण का संसर्ग पा रहा है। शरीर में विकृत-प्राण हटकर उसके स्थान पर दिव्य-प्राण की स्थापना हो रही है।

(४) जप- पाँचों कोषों को प्रभावित करने के लिए पाँच प्रणव युक्त गायत्री मन्त्र-

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ, भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि, धियो योनः प्रचोदयात्।

मन्त्र शक्ति की तरंगें सारे शरीर में फैलती हैं। पाँचों कोशों के द्वार, पाँचों चक्रों पर आघात करके उन्हें खोलती हैं। देवात्म-शक्ति को उनमें प्रविष्ट होने, उन्हें संस्कारित बनाने में मन्त्र शक्ति की तरंगों का सहयोग।

पंच कोशों का ध्यान-

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोशों को जागृत करने से ब्रह्म वर्चस् साधकों को हिमालय के आध्यात्मिक ध्रुव केन्द्र से उद्भुत विशेष शक्ति संचार का लाभ मिलता है। पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव प्रवेश पर अन्तर्गही भौतिक शक्तियाँ बरसती हैं। पृथ्वी उसमें से उपयोगी एवं आवश्यक अंश हजम करती है और शेष को दक्षिणी ध्रुव प्रदेश में होकर अन्तरिक्ष में फेंक देती हैं। उसी प्रकार ब्रह्माण्डीय चेतना की अपने भूलोक पर वर्षा होती है। उसे हिमालय के आध्यात्मिक ध्रुव प्रदेश द्वारा ग्रहण किया जाता है। जितना अंश पृथ्वी वालों के लिए आवश्यक होता है उतना ग्रहण किया जाता है, शेष अनन्त अन्तरिक्ष में फिर लौट जाता है। हिमालय में अवस्थित इस दिव्य केन्द्र को साधना प्रयोजन में निरत अन्य साधक अपनी सुविधा और अपनी प्रक्रिया के अनुरूप उपलब्ध करते हैं। 'ब्रह्म वर्चस्' के साधको को पंच कोशों की अनावरण साधना के लिए यह अनुदान अतिरिक्त रूप से जुटाया गया है।

पंचकोश साधना की ध्यान धारणा का आरम्भ इस प्रकार होता है कि हिमालय के हिमाच्छादित उच्च शिखर के दर्शन का भाव चित्र उभारा जाय। दिव्य चक्षुओं से उसकी झाँकी की जाय। साथ ही यह अनुभव किया जाय कि उस केन्द्र से चारों ओर जो शक्ति धाराऐं प्रवाहित होती हैं उसका प्रभाव अपने चारों ओर भरा पड़ा है। हम उस शक्ति समुद्र के मध्य समुद्र में रहने वाली मछली की तरह अवस्थित हैं। यह देवात्म-शक्ति अपने को आनन्दादित किये हुए है। हम इस आच्छादन का आनन्द ले रहे हैं। इतनी पृष्ठभूमि बन

जाने के उपरान्त पाँच कोशों के अनावरण का पृथक्-पृथक् ध्यान किया जाता है। वह इस प्रकार है-

अन्नमय कोश- मेरुदण्ड के समीप, पेडू की सीध, शक्ति भँवर, चक्रवात, स्वाधिष्ठान चक्र, अन्नमय कोश का प्रवेश द्वार।

इसी द्वार में देवात्मा- शक्ति का प्रवेश। समग्र अन्नमय कोश देवात्मा-शक्ति से ओत-प्रोत। प्रकाशमय, अग्निमय, आलोकमय, ऊर्जामय। उपलब्धि, पवित्रता, संयम निष्ठा, सक्रियता, सिद्धि, अजर स्थिति, चिर-यौवन।

अन्नमय कोश की ध्यान साधना में जितना समय लगाना हो उतनी देर इन्हीं भावनाओं में ओत-प्रोत रहा जाता है।

प्राणमय कोश- मेरुदण्ड, नाभि की सीध, शक्ति भ्रमर, चक्रवात समतुल्य, मणिपुर चक्र, प्राणमय कोश का प्रवेश द्वार, देवात्म-शक्ति का प्रवेश, समस्त प्राणमय कोश ऊर्जा से ओत-प्रोत, अग्निमय, आलोकमय, उपलब्धि पराक्रम, साहस-उत्साह, सिद्धि-प्रतिभा।

मनोमय कोश- मेरुदण्ड हृदय की सीध, शक्ति भ्रमर, चक्रवात समतुल्य अनाहत चक्र, मनोमय कोश ऊर्जामय, आलोकमय, उपलब्धि एकाग्रता, दृढ़ता, स्थिरता-संतुलन, सिद्धि-कामनाओं की पूर्ति, कामनाओं की समाप्ति आप्त काम।

विज्ञानमय कोश- मेरुदण्ड-कण्ठ की सीध शक्ति भ्रमर, चक्रवात समतुल्य, विशुद्धि चक्र, विज्ञानमय कोश का प्रवेश द्वार। देवात्म-शक्ति का प्रवेश समस्त विज्ञानमय कोश, अग्निमय- ज्योर्तिमय, उपलब्धि-आत्मभाव विस्तार, सूक्ष्म-जगत में प्रवेश, परोक्ष ज्ञान, सिद्धि-दिव्य दृष्टि।

आनन्दमय कोश- ब्रह्मरंध्र मस्तिष्क का मध्य भाग, सहस्रार चक्र, आनन्दमय कोश का केन्द्रबिन्दु, सहस्र दल कमल की भावना, देवात्म-शक्ति का प्रवेश, कमल पंखुरियों का खिलना, ज्योति आभा की पंखुरियों में झिलमिल प्रकाश बिन्दु का दर्शन, उपलब्धि, स्वर्ग अनुभूति, बन्धन मुक्ति, ईश्वर प्राप्ति, सन्तुष्टि, तृप्ति, शान्ति, सत्चित आनन्द का अनुभव।

(३) कुण्डलिनी साधना

इस साधना क्रम में (१) सिद्धासन (२) शक्तिचालिनी मुद्रा (३) अनुलोम विलोम प्राणायाम (४) तीन बीजों सहित गायत्री मन्त्र का जप (५) कुण्डलिनी ऊर्जा मंथन एवं उन्नयन का ध्यान जुड़ा हुआ।

(१) सिद्धासन- सिद्धि के लिए उपयुक्त आधार सिद्धि की आकंक्ष भर पर्याप्त नहीं, उसके मूल्यांकन तथा मूल्य चुकाने के लिए उपयुक्त मनोभूमि, साहस का विकास करना आवश्यक है।

विधि- सामान्य रूप से बैठें, बायें पैर की एड़ी अण्डकोशों के नीचे इस प्रकार रखें कि मल नलिका पर हलका-सा दबाव रहे, अब दाहिने पैर की एड़ी नाभि की सीध में-नाभि से लगभग चार अँगुल नीचे रखें, दोनों एड़ियों के बीच में पेडू-मूत्रेन्द्रिय संस्थान आ जाता है। दोनों एड़ियाँ शरीर की मध्य रेखा पर एक सीध में ही रहती हैं, कमर एवं ग्रीवा सीधी रहे, हाथ सुविधानुसार गोद में अथवा घुटनों पर रखे जा सकते हैं।

(२) शक्तिचालिनी मुद्रा- सीधे तनकर बैठें, मूलबध ा को पूरी शक्ति से लगाना तथा फिर खोल देना, इस क्रिया को दोहराना ही शक्तिचालिनी मुद्रा है। मल त्याग के आवेग को रोकने के लिए जैसा खिंचाव ऊपर की तरफ किया जाता है उसे पूरी शक्ति से लगाना मूलबंध कहलाता है। इसके साथ ही मूत्र त्याग के आवेग को रोकने जैसा खिंचाव सामने की पेशियों में भी पैदा करते हैं। प्रारम्भ में आगे तथा पीछे के संस्थानों में एक-एक करके खिंचाव पैदा करते हैं ताकि वह बंध ठीक प्रकार लगने लगे। फिर उन्हें एक साथ ही लगाने और खोलने का क्रम चलाते हैं। दोनों ओर की मांस-पेशियों में एक साथ खिंचाव पैदा करना, पूरा खिंचाव होने पर धीरे से उसे शिथिल कर देना तथा इसी क्रिया को बार-बार दोहराना शक्तिचालिनी मुद्रा का सही क्रम है। क्रिया के साथ यह ध्यान करें कि कुण्डलिनी प्रदेश में इससे हलचल हो रही है तथा सुप्त शक्ति सक्रिय ऊर्जा में बदल रही है।

(३) अनुलोम विलोम प्राणायाम- मेरुदण्ड सीधा, मूलाधार में शक्ति सिन्धु, प्राणायाम मुद्रा में पहले बाँयी नासिका से श्वांस खींचना, गहरी श्वांस खींच कर धीरे-से पलटकर उसे दाहिनी नासिका से उसी गति से निकाल देना। फिर दाहिनी से खींचना और पलट कर बाँयी से निकाल देना।

श्वांस-प्रश्वांस के साथ प्राण प्रयोग, प्राण की धारा बाँयी नासिका से ऊपर चढ़कर नासिका मूल से पीछे की ओर जाकर मेरुदण्ड के सहारे बाँयी ओर से नीचे उतरती है। जड़ पर जाकर मूलाधार कुण्डलिनी क्षेत्र में घूमती है, फिर मेरुदण्ड के बाँयी ओर से ऊपर उठकर दायीं नासिका

से बाहर निकलती है। फिर दायीं नासिका से जाकर शक्तिक्षेत्र का मंथन करके बाँयी नासिका से बाहर निकलती है। यही क्रिया बार-बार दोहराना।

मंथन के साथ कुण्डलिनी क्षेत्र, शक्ति सिन्धु में ऊर्जा उफान की अनुभूति, क्रमशः ज्वालाएँ सी उठने लगती हैं।

(४) **जप**- तीन बीज मंत्रसहित गायत्री मन्त्र का जप। ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं भूर्भुवः स्वः, तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्।

मन्त्र शक्ति की तरंगें, कुण्डलिनी शक्ति क्षेत्र से ऊर्जा को सुषुम्ना के रास्ते शिव क्षेत्र सहस्रार की ओर बढ़ाती हैं। तरंग पर तरंग चलती रहती हैं। ऊर्जा थर्मामीटर के पारे की तरह क्रमशः ऊपर की ओर बढ़ती रहती है। मेरुदण्ड ट्यूबलाइट की तरह चमक उठता है। ध्यान द्वारा कुण्डलिनी शक्ति उन्नयन में मन्त्र शक्ति का सहयोग।

कुण्डलिनी जागरण सम्बन्धी ध्यान-

(१) मूलाधार चक्र, मल-मूत्र छिद्रों का मध्य स्थान, कुण्डलिनी कुण्ड, अग्नि समुद्र, शक्ति समुद्र, कूर्म धरातल, मदिराचल जीवनसत्ता-कुण्डलिनी शक्ति, सुप्त सर्पिणी रूप, मदिराचल से साढ़े तीन फेरों में लिपटी होना।

इस सुप्त स्थिति को जागृति में बदलने का प्रयास, देव दैत्य शक्तियों का आत्मिक भौतिक सामर्थ्यों का सहयोग, मंथन प्रयास आरम्भ, समुद्र मंथन, अग्नि मंथन, शक्ति मंथन, जीवन मंथन, मंथन-मंथन-अनवरत मंथन।

(२) **मंथन के फलस्वरूप**- ऊर्जा का उद्‌भव, अग्नि ज्योति की तरह, चक्रवात की तरह, ऊर्जा का उन्नयन, ऊर्ध्वगमन, उत्कर्ष, उत्थान, मेरुदण्ड मार्ग से ब्रह्मरंध्र तक सहस्रार चक्र तक।

(३) **अभिवर्धन विस्तार**- कुण्डलिनी ऊर्जा का विस्तार, समस्त आत्मसत्ता में कुण्डलिनी शक्ति का प्रचण्ड प्रभाव, चेतना-अग्नि पुंज, ज्योति पुंज, कण-कण में जागृति, रोम-रोम में स्फूति, गति-प्रगति, शक्ति-दीप्ति, क्रान्ति-शान्ति, आभा-प्रभा, आलोक-आभास।

(४) **परिवर्तन**- मूलाधार का सहस्रार में परिवर्तन, अधःपतन का दिव्य उत्थान में परिवर्तन, साधक का साध्य में परिवर्तन, जीव का ब्रह्म में परिवर्तन, विष सर्प का शेषनाग में परिवर्तन, अग्नि कुण्ड का मानसरोवर में परिवर्तन, मदिराचल का कैलाश में परिवर्तन, कूर्म का महाशिव में परिवर्तन, नरक का स्वर्ग में परिवर्तन, स्वार्थ का परमार्थ में परिवर्तन, जीवन की दिशा धारा का परिवर्तन, कुण्डलिनी जागरण, परिवर्तन मनःस्थिति का परिवर्तन, परिस्थिति का परिवर्तन, कुण्डलिनी जागरण।

विशेष ज्ञातव्य- तीनों ही साधनाओं के पश्चात् थोड़ा समय स्वाभाविक स्थिति में आने के लिए देना चाहिए। अपने शरीर का ध्यान, गहरी श्वांस क्रिया ओंकार का उच्चारण आदि क्रमों से ध्यान की गम्भीरता से पुनः चेतना की स्थिति में आना उपयुक्त है।

परिजन यह साधना अपने-अपने स्थानों पर तुरन्त प्रारम्भ कर सकते हैं। शान्ति-कुन्ज के सत्रों में तो क्रमशः ही स्थान मिल सकेगा, तब तक साधक इस साधना क्रम को प्रस्तुत निर्देशों के आधार पर चालू कर सकते हैं।

इस साधना क्रम में नित्य ४५ मिनट से एक घण्टे का समय दिया जाना पर्याप्त है। उसमें १५-२० मिनट तक आसन मुद्रा एवं प्राणायाम के लिए तथा शेष समय जप सहित ध्यान के लिए रखना चाहिए। ध्यान की गम्भीरता में जप रुक जाय तो चिन्ता की बात नहीं। कम अधिक समय लगने पर उसी अनुपात में समय को विभाजन इन क्रियाओं के लिए कर दिया जाना चाहिए।

तीनों साधनाओं को एक साथ नहीं मिलाना चाहिए। एक माह में दस-दस दिन एक-एक साधना करते हुए प्रति माह तीनों साधनाऐं की जा सकती हैं। अपनी रुचि के अनुरूप किसी एक साधना क्रम को प्राथमिकता भी दी जा सकती है। प्रातः नित्य उसे ही किया जाय तथा मध्याह्न या सायंकाल दूसरी कोई साधना की जाय, यह क्रम भी उपयोगी है।

पञ्चकोशी साधना का ज्ञातव्य

पिछले पृष्ठों पर पञ्चकोशी साधना के अन्तर्गत योग विद्या की वे साधनायें बताई गई हैं जो सर्व साधारण के लिए सरल एवं उपयोगी हैं। यह प्रकट है कि आध्यात्मिक महातत्व गायत्री ही है। जितना भी ज्ञान, विज्ञान और योग है यह सब गायत्री से आविर्भूत होता है इसलिए ऐसी कोई साधना हो नहीं सकती जो गायत्री की महापरिधि से बाहर हो। सम्पूर्ण योग शास्त्र निश्चित रूप से गायत्री के अन्तर्गत है।

योग साधनायें अनेक हैं। यह सब एक ही महातत्व की प्राप्ति के लिये हैं। गायत्री का नाम ही 'मुक्ति' है और उसी को सिद्धि कहते हैं। जैसे किसी नगर में पहुँचने के लिए अनेक दिशाओं के अनेक रास्ते होते हैं उसी प्रकार प्रभु प्राप्ति के लिए अनेक योग हैं। प्रत्येक मार्ग में अलग-अलग प्रकार के दृश्य, पदार्थ और मनुष्य मिलते हैं। इनको ध्यान में रखते हुए लोग निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने का मार्ग निर्धारित करते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक योग साधना की यह विशेषता है कि उसके मार्ग में अपने-अपने ढंग के अनौखे-अनौखे अनुभव होते हैं, भिन्न-भिन्न सिद्धियाँ एवं अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं। अन्त में पहुँचते सब एक ही स्थान पर हैं।

योग साधनायें अनेक प्रकार की इसलिए हैं कि मनोभूमि स्थिति, शक्ति सुविधा रुचि, देश काल, पात्र के भेद से भिन्न-भिन्न परिस्थिति के लोग उन्हें अपना सकें। युग परिवर्तन के अनुसार तत्वों की स्थिति में अन्तर आता रहता है। पूर्व काल में जलवायु में जो गुण था जो अब नहीं है और जो अब है वो आगे नहीं रहेगा। सृष्टि धीरे-धीरे बूढ़ी होती जाती है। बालक में जितनी स्फूर्ति, कोमलता, चंचलता, उमंग और सुन्दरता होती है वह बूढ़े में नहीं रहती। जवान आदमी जितना बोझ उठा सकता है उतना वृद्ध पुरुष के लिए सम्भव नहीं।

सतयुग सृष्टि का बालकपन है, त्रेता जवानी, द्वापर अधेड़ा अवस्था है, तो कलयुग बुढ़ापा। पंच तत्वों की यही स्थिति होती है। जब बुढ़ापा अधिक आ जाता है तो सृष्टि मर जाती है, प्रलय हो जाती है फिर उसका नया जन्म होता है। सतयुग के बालक पंच तत्वों में प्राणियों के शरीर भी वैसे ही थे, खाद्य पदार्थ तथा जलवायु में भी वैसी ही विशेषता थी। मानसिक चेतना, इन्द्रिय लालसा, आहार-विहार, आयु एवं शरीर के ढाँचे की गर्मी तथा वायु के प्रभाव से बहुत कुछ सम्बन्ध रहता है।

भूगर्भ विज्ञान के अन्वेषकों ने कुछ हजार वर्ष पुराने ऐसे जीव-जन्तुओं के प्रमाण पाये हैं जो वर्तमान जीवों की अपेक्षा कहीं भिन्न आकृति के और कहीं अधिक बड़े थे। ऐसे मनुष्यों के अस्थि-पिंजर मिले हैं जो दस फीट लम्बे थे। महागज, महामकर और महाशूकर अपने वर्तमान वंशजों की अपेक्षा पाँच गुने से लेकर सैंतीस गुने तक बड़े थे, ऐसे प्रमाण मिल चुके हैं। जिस प्रकार सूर्यकाल में अग्नि-तत्व प्रधान शरीर वाले प्राणी रहते हैं, उसी प्रकार सतयुग में आकाश तत्व की प्रधानता इस पृथ्वी पर होने से उस समय उसी तत्व की प्रधानता वाले प्राणी इस पृथ्वी पर थे। उनके लिए आकाश में बिना पंखों के भी उड़ना सरल था। हनुमान ने बिना पंखों के छलांग मारकर समुद्र को पार किया था। त्रेता में ऐसा करना कुछ लोगों के लिए ही सम्भव रह गया था, इसलिए हनुमानजी को विशेष महत्व मिला, सतयुग में यह बिलकुल साधारण बात थी।

पूर्व युगों की स्थिति का कुछ परिचय यहाँ हमें इसलिए देना पड़ा है कि पाठक यह जान जाँय कि योग साधनायें सतयुग के मनुष्यों के लिए अत्यन्त सरल और स्वाभाविक थीं वे अब नहीं हो सकतीं। जो सिद्धियाँ पूर्वकाल में थोड़ी सी साधना से मिल जाती थीं वे अब असम्भव हैं। पार्वती ने शिव को प्राप्त करने के लिए कितने लम्बे समय तक कितना कष्टसाध्य तप किया था वैसा आज की स्थिति में किसी के लिए सम्भव नहीं है। सम्भव इसलिए नहीं है कि मनुष्य की आयु सौ वर्ष रह गयी है और पृथ्वी तत्व प्रधान हो जाने से शरीर में जड़ता का अंश अधिक आ गया है। किसी समय में शरीर में पाप के होने न होने की परीक्षा अग्नि में तपाकर वैसे ही कर ली जाती थी जैसे कि आजकल सोने को तपाकर कर ली जाती है। सीताजी ने हँसते-हँसते उस प्रकार की अग्नि परीक्षा दी थी और उनके शरीर को

जरा भी कष्ट न हुआ था, पर आज तो परम साध्वी का शरीर भी अग्नि से जले बिना नहीं रह सकता। कलयुग में सती प्रथा का इसलिए निषेध है कि पति की चिता पर जलने से आज कोई स्त्री कष्ट पीड़ित हुए बिना नहीं रह सकती। इसलिए पूर्व काल की सतियों की भाँति वह पति को शान्ति देना तो दूर उलटे अपने आर्तनाद से पति की आत्मा को अत्यन्त दुख और नारकीय व्यथा में डुबो देती हैं।

कहने तात्पर्य केवल इतना ही है कि युग की स्थिति के अनुसार योग साधना का मार्ग और परिणाम बदल जाता है। इसलिए साधना क्रमों की व्यवस्था और विधि-विधान में अन्तर पड़ता जाता है। इस युग के तत्ववेत्ता अपनी सूक्ष्म दृष्टि से अन्वेषण करके यह निश्चय करते हैं कि आज की स्थिति में कौन-सा साधन आवश्यक है और किस प्रकृति का किस मनोभूमि का साधक किस साधना को ठीक प्रकार कर सकेगा ? यह निर्णय ठीक न हो तो योग साधना से कई बार लाभ के बदले उलटी हानि होती देखी जाती है।

ऐसी अनेक दुर्घटनायें हमने अपनी आँखों से देखी हैं। प्राण को ब्रह्माण्ड में चढ़ाकर वापिस लौटाने की क्रिया से अपरिचित होने के कारण एक साधक की आधे घण्टे में मृत्यु हो गई थी। एक सज्जन कुण्डलिनी-जागरण के सिलसिले में पक्षापात में फँस गये, कुण्डलिनी का कूर्म मेरु जरा-सा विचलित हुआ था कि वे 'पिंगला' में 'कृकल' प्राण में प्रवेश करने लगे फलस्वरूप वायु कुपित हो गई और लकवा से उनके हाथ पाँव जकड़े गये। गायत्री मन्त्र की साधना करते हुए प्राण कोश की 'हिंसा' को एक सज्जन जगा रहे थे। किसी दूसरे पर घात चलाने का उनका इरादा था पर 'हिंसा' जाग्रत न हो सकी और भूल से उनके वाम पार्श्व में रहने वाला तिर्यक अणु बम फट गया, वे मुँह और नाक से खून डालने लगे। तीन सेर खून निकल जाने से उनकी मृत्यु ४० मिनट के भीतर हो गई।

हठयोग में हम अधिक चर्चा सुनते हैं क्योंकि वह निकट भूत में कलयुग के प्रारम्भ में काफी क्रियाशील था। नागार्जुन हठयोग को पूर्ण सिद्ध कर चुके थे। नाथ सम्प्रदाय के आचार्य गोरखनाथ और मछीन्द्रनाथ पूर्ण हठयोगी थे। बौद्धकाल में महायान, बज्रयान आदि का प्रचलन था पर अब हठयोग का समय भी बीत चुका है। वस्थ हठयोग जहाँ-तहाँ भी एकाध दीख पड़ता है षट्-कर्म, नीति, धोति, वस्ति, न्योलि, बजोली, कपालभाति करते हुए कितने ही साधक हमने उदर रोगों से ग्रस्त देखे हैं। नासिका में होकर सूत की डोरी चढ़ाते हुए एक सज्जन अपने नेत्र खो बैठे। मुँह में कपड़े की पट्टी पेट में पहुँचाने की क्रिया आरम्भ करते हुए सज्जन संग्रहणी में ग्रस्त हुए और फिर इस रोग का छुटकारा न मिला। बजोली क्रिया करने वाले अक्सर बहुमूत्र और गुर्दे की सूजन से ग्रसित हो जाते हैं।

कारण यह है कि साधक की स्थिति का भली प्रकार निरीक्षण किये बिना यदि उसकी प्रकृति से विपरीत साधना बता दिया जाय तो इससे उसका अहित ही हो सकता है। कई साधक ऐसे दुस्साहसी, अहंकारी और जल्दबाज होते हैं कि बिना उपयुक्त पथ-प्रदर्शक की सलाह लिये अपनी मर्जी से, कहीं पढ़-सुनकर मनमानी साधना करने लगते हैं, मनमाने लाभों की कल्पना कर लेते हैं, मनमानी विधि व्यवस्था रख लेते हैं। इससे उन्हें लाभ के स्थान पर हानि ही अधिक होती है। इन्हीं कारणों से योग-मार्ग में गुरु का होना आवश्यक माना गया है।

इस पुस्तक में पंच-कोशों की साधना की चर्चा करते हुए गायत्री योग का उल्लेख किया है। उनमें किन्हीं योग क्रियाओं की बिलकुल चर्चा नहीं की गई है। यद्यपि वे भी इन्हीं पाँचों के अन्तर्गत हैं, कारण यह है कि साधनायें द्वापर, त्रेता, सतयुग आदि पूर्व युगों के उपयुक्त थीं, जिन्हें आकाश, अग्नि, वायु एवं जल प्रधान शरीरों वाले साधक ही आसानी से कर सकते थे, उनकी चर्चा इस सर्वसाधारण के लिए लिखी गई पुस्तक में अनावश्यक ही नहीं अनुचित भी होती, क्योंकि सम्भव है कोई व्यक्ति उस आधार पर साधना करने लगते तो उससे उन्हें लाभ तो कुछ नहीं होता उलटे समय का अपव्यय, निराशा, अश्रद्धा, अरुचि एवं कोई हानि हो जाने का भय और बना रहता। इसलिए इन्हीं साधनाओं की चर्चा की गई है जो आज की स्थिति में भी उपयुक्त हो सकती है।

जिन साधनाओं का वर्णन किया गया है उनके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि ये संक्षिप्त रूप से लिखी गई हैं और उनका पूरा विधि-विधान, समस्त नियमोपनियम नहीं बताये गये हैं। इसका कारण यह है कि एक प्रकार के योग की ही सबके लिए एक विधि-व्यवस्था नहीं हो सकती। नाद योग को सब लोग एक विधि से नहीं साध सकते । उष्ण प्रकृति वालों को अस्थिर चंचल अनेक ध्वनियों का मिला हुआ नाद सुनाई देता है, ऐसे साधक को वे उपाय बताये जाते हैं जिससे उसकी उष्णता शान्त हो और दिव्य ध्वनियाँ ठीक सुनाई देने लगें। इसके विपरीत जिनकी प्रकृति शीत प्रधान है उनको अनाहत नाद बड़े

मन्द रुक-रुककर देर में सुनाई पड़ते हैं, उसकी दिव्य कर्मेन्द्रियों को उष्णता प्रधान साधनों से उत्तेजित करके इस योग्य बनाना पड़ता है जिससे नाद भली प्रकार खुल जाय। जैसे शीत और उष्ण प्रकृति के दो भेद ऊपर बताये हैं, वैसे और भी अनेक भेद उपभेद हैं जिनके कारण एक ही साधना के लिए अनेक प्रकार के नियम-उपनियम बनाने पड़ते हैं। ऐसी दशा में यह सम्भव नहीं कि समस्त प्रकार की प्रकृति वाले मनुष्यों की परिस्थिति भेद के कारण किये जाने वाले समस्त विधानों का एक पुस्तक में उल्लेख हो सके।

चिकित्सा-शास्त्र में निदान निघण्टु तथा औषधि निर्माण का विस्तृत उल्लेख मिलता है। परन्तु ऐसा कई ग्रन्थ अब तक नहीं छपा जिसमें समस्त रोगों के रोगियों का समस्त परिस्थितियों के अनुसार समस्त चिकित्सा विधियों का वर्णन मिलता हो। यही बात योग साधना के सम्बन्ध में भी लागू होती है। यदि किसी एक छोटी साधना के सम्बन्ध में भी साधक भेद से उसके अन्तरों को लिखा जाय तो एक भारी ग्रन्थ बन सकता है फिर भी वह ग्रन्थ अपूर्ण रहेगा। ऐसी स्थिति में गायत्री की पंचमुखी साधना के अन्तर्गत जो साधनायें इस पुस्तक में लिखी गई हैं वे मोटे तौर पर भली प्रकार समझाकर ही लिखी गई हैं फिर भी उनमें अपूर्णता का दोष तो रहेगा ही।

यह आवश्यक नहीं कि पंच कोशों के अन्तर्गत आने वाली सभी साधनायें करने पर जीवनोद्देश्य प्राप्त हो। जिस साधक की जिस कोश में वर्तमान स्थिति है वह उसी कोश की सीमा में बताई गई साधना करके अपने बन्धन खोल सकता है। इस पुस्तक में चौबीस से अधिक साधनायें बताई गई हैं। इनके अतिरिक्त अनेक और साधनायें हैं, छोटे से जीवन में उन सबकी साधना मनुष्य नहीं कर सकता, करना आवश्यक भी नहीं है।

आयुर्वेद में हजारों औषधियों का वर्णन है। वे सभी रोगों को दूर करके स्वस्थ होने के एक ही उद्देश्य के लिए बताई जाती हैं, फिर भी कोई ऐसा नहीं करता कि जितनी भी औषधियों का वर्णन है उन सबका सेवन करे। बुद्धिमान लोग देखते हैं कि रोगी को क्या बीमारी है, उसकी आयु स्थिति एवं प्रकृति क्या है ? तब यह निर्णय किया जाता है कि कौन औषधि किस अनुपात से दी जाय ? कई बार थोड़ी-थोड़ी करके कई औषधियों का मिश्रण करके देना होता है। साधना के सम्बन्ध में भी यह बात है। अपनी मनोभूमि के अनुसार साधना का चुनाव आवश्यक है। जो लोग सबको एक ही लकड़ी से हाँकते हैं, सब धान बाइस पसेरी तोलते हैं वे भारी भूल करते हैं।

रोगी अपने आप अपने लिए औषधि का निर्णय नहीं कर सकता कोई वैद्य या डाक्टर बीमार पड़ता है तो वह भी किसी कुशल चिकित्सक से ही अपना इलाज कराता है। कारण यह है कि अपने आप को समझना सबके लिए बड़ा कठिन है। अक्सर लोग दूसरों की बुराई किया करते हैं पर अपनी गलतियाँ उनको नहीं सूझतीं। दूसरों की आँख हमें दिखाई पड़ती है पर अपनी आँख तो आप ही नहीं देख सकते। अपनी आँखों की बात जाननी हो तो किसी दूसरे से पूछना पड़ेगा या दर्पण की मदद लेनी पड़ेगी। यही बात अपनी मनोभूमि को परखने और उसके उपयुक्त उपचार ढूँढ़ने के बारे में है। इसमें किसी दूसरे अनुभवी मनुष्य की सहायता आवश्यक है। इस आवश्यक सहायता या सुव्यवस्था का नाम गुरु का 'वरण' है। अच्छा पथ-प्रदर्शक मिल जाना आधी सफलता मिल जाने के बराबर है।

इन साधनाओं का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को है। स्त्री, पुरुष, बाल, बृद्ध की स्थिति भेद से साधना विधियों में अन्तर होता है परन्तु ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि गायत्री साधना से अमुक वर्ग को वञ्चित रखा जाय। माता के सभी पुत्र हैं। उसे अपने सभी बालकों पर समान ममता है, सभी को वह भरपूर दुलार करती है और सभी को अपना पय-पान कराना चाहती है। कोई माता ऐसा नहीं करती कि अपने पुत्र को तो पय-पान कराये और कन्या जन्में तो उसे दुत्कार दे। ऐसा दुर्व्यवहार न मनुष्यों में होता है और न पक्षियों में, फिर परम दिव्य सत्ता ऐसा पक्षपात भेदभाव करेगी इसकी कल्पना भी नहीं की जानी चाहिए। पूर्वकाल में अनेक ब्रह्मवादिनी, परमयोगिनी महिलायें हुई हैं। वेदान्त कार्य में सदैव पुरुषों की वामाँग बनकर समान रूप से भाग लेती रही हैं। माता के सभी पुत्र बिना किसी भेदभाव के उसकी उपासना कर सकते हैं और प्रसन्नतापूर्वक उसका स्नेह एवं आशीर्वाद प्राप्त कर सकते हैं।

आधुनिक परिस्थितियों में से जो साधनायें सध सकें उन्हें ही साधना उचित है। अब पूर्वकाल के सतयुग आदि युगों की सी स्थिति नहीं, इसलिए वैसे योग साधन भी नहीं हो सकते और उन साधनाओं के फलस्वरूप वैसी सिद्धियाँ भी नहीं मिल सकतीं जैसी कि उन युगों में प्राप्त थीं। अणिमा, लघिमा, महिमा आदि जिन सिद्धियों का योग ग्रन्थों में वर्णन है वे पूर्व युगों की ही हैं। शरीरों का अत्यन्त छोटा

कर लेना, अत्यन्त बड़ा बना लेना, अदृश्य हो जाना, शरीर बदल लेना, आकाश में उड़ना, पानी पर चलना जैसी शरीर सम्बन्धी सिद्धियाँ आकाश तत्व प्रधान शरीर और युग में ही होती थीं।

त्रेता में बिना यन्त्रों के आत्मिक शक्ति से वे सब काम होते थे जो आज वैज्ञानिक यन्त्रों द्वारा होते हैं। विमान, रेडियो, विद्युत, दूरदर्शन, दूर-श्रवण, अत्यन्त भारी चीजों का उठाना जैसे कामों के लिए आज तो वैज्ञानिक यन्त्रों की आवश्यकता होती है पर त्रेता में यह सब कार्य मन्त्रबल से, प्राणशक्ति से हो जाते थे। रावण, कुम्भकरण, मेघनाद, हनुमान, नल नील, आदि के चरित्र पढ़ने से पता चलता है कि वे प्रकृति की उन विज्ञानभूत सूक्ष्म शक्तियों से मनमाना काम लेते थे जितना आज बहुमूल्य यन्त्रों द्वारा बहुत थोड़ा उपयोग सम्भव हो सकता है।

महाभारत में दिव्य अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन मिलता है। शब्द भेदी वाण, अग्नि-अस्त्र, वरुण-अस्त्र, वायु-अस्त्र, सम्मोहन-अस्त्र, चक्र-सुदर्शन आदि का प्रयोग इस युद्ध में हुआ था। उस काल में मनुष्यों और पशु-पक्षियों में विचारों का आदान-प्रदान सम्भव रहा। पशु-पक्षी और मनुष्यों की वाणी में उच्चारण का अन्तर था पर दोनों के शरीर में अग्नि तत्व तथा जल तत्व की सूक्ष्मता पर्याप्त मात्रा रहने से एक-दूसरे से अपने विचारों का भली-भाँति आदान-प्रदान कर लेते थे। त्रेता तथा द्वापर की ऐसी अनेक कथायें उपलब्ध हैं जिनमें मनुष्यों तथा पशु-पक्षी के सम्भाषण के विस्तृत उल्लेख हैं।

इस युग में प्रकृति का अन्तराल पहले की भाँति सूक्ष्म नहीं रहा है, सृष्टि का बालकपन समाप्त हो गया और वृद्धावस्था आ रही है और पृथ्वी तत्व बढ़ता जा रहा है जल तत्व का गुण मन है। इन दिनों जल तत्व और पृथ्वी तत्व की मिश्रित सन्धि चल रही है। जल-तत्व घटता जा रहा है। ऊँचे उठे हुए आध्यात्मिक महापुरुषों में आज मनोबल विकसित पाया जाता है। उनमें विचार-शक्ति, इच्छा-शक्ति और प्रेरणा-शक्ति अब भी पर्याप्त है। इस मनोबल द्वारा वे अपना तथा दूसरों का बहुत कुछ हित साधन कर सकते हैं। इस युग में बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, गाँधी, कार्लमार्क्स आदि महापुरुषों ने अपनी प्रचण्ड प्रेरणा-शक्ति से संसार को बहुत हद तक प्रभावित किया है।

मेस्मरेजम मनोबल का ही एक खेल है। दूसरों को अपने विचार देना, उनके विचार जानना या किसी के विचार परिवर्तन करना यह मनोबल की सिद्धियाँ हैं और भी कितनी ही छोटी-मोटी सिद्धियाँ इन दिनों हो सकती हैं जिनका इस पुस्तक में यत्र-तत्र वर्णन किया गया है। कई सिद्ध पुरुष कभी-कभी ऐसे भी मिल जाते हैं जिन्हें पूर्व युगों की भाँति सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, पर अब उनकी संख्या नहीं के बराबर है। जल-तत्व घट रहा है इसलिए आध्यात्मिक पुरुष प्रयत्न करके मनोबल ही सम्पादित कर पाते हैं। धीरे-धीरे यह भी कम होता जायेगा और जब पृथ्वी-तत्व की जड़ता व्यापक हो जायेगी तो केवल शरीर बल ही लोगों की विशेषता रह जायेगी आगे चलकर जो शारीरिक दृष्टि से शक्तिशाली होगा उसे ही तत्कालीन सिद्ध पुरुष माना जायेगा।

कई व्यक्ति योग साधना द्वारा ऐसे चमत्कार प्राप्त करने की फिराक में रहते हैं कि लोगों को आश्चर्य में डालकर उन पर अपनी महत्ता की छाप जमा सकें। इसी उधेड़ बुन में वे इधर-उधर फिरते हैं और धूर्तों के चुंगल में पड़कर अपना बहुता-सा समय और धन बर्बाद करते हैं। हमने स्वयं चमत्कारी सिद्धि की खोज में अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग लगाया है। एक दो अज्ञात रहने वाले महापुरुषों के अतिरिक्त हमें सभी चमत्कारी लोगों में धूर्तता ही मिली।

अपने पाठकों को हमारी सलाह है कि वे चमत्कारी बनने की बालक्रीड़ा में न उलझें, क्योंकि पहले तो वर्तमान युग ही ऐसी सिद्धियों के अनुकूल नहीं है, फिर कदाचित बहुत परिश्रम से कुछ मिले भी तो बहुमूल्य परिश्रम की तुलना में वह अत्यन्त तुच्छ होगा। बाजीगर कैसे-कैसे खेल दिखाते हैं, सरकस वाले लोगों को हैरत में डाल देते हैं, पर इससे वे क्षणिक कौतुहल और मनोरंजन के अतिरिक्त क्या नहीं कर पाते हैं ? यह सब बच्चों की सी बातें हैं। इस ओर किसी बुद्धिमान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

गायत्री की पंचमुखी योग साधना का वर्णन इस पुस्तक में किया गया है। इन साधनाओं से साधक की अन्त: चेतनाओं का आविष्कार होता है। मन और शरीर के विकार दूर होते हैं इच्छा, रुचि, भावना, आकांक्षा, बुद्धि, विवेक, गुण, स्वभाव, विचारधारा, कार्यप्रणाली आदि में ऐसा ही अद्भुत सतोगुणी परिवर्तन होता है जिसके कारण जीवन की सभी दिशायें आनन्द से परिपूर्ण हो जाती हैं। उसे स्वास्थ्य, धन, विद्या, चतुराई एवं सहयोग की कमी नहीं रहती। इन वस्तुओं को पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध करके वे सम्मान, कीर्ति, प्रेम एवं शान्ति के साथ जीवनयापन करते हैं। इसके अतिरिक्त आन्तरिक जीवन की, आत्मकल्याण

की अमूल्य, सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इनकी तुलना में सारे चमत्कार, कौतुहल आश्चर्यजनक कृत्य मिलकर तराजू के पासंग के बराबर भी महत्ता नहीं रखते। गायत्री के उपासक पंचमुखी माँ की उपासना श्रद्धापूर्वक करें तो उन्हें आशाजनक लाभ होते हैं। चमत्कारी बाबा वे भले ही न कहलावें पर गृहस्थ में रहकर भी वे अपने आप में ऐसा परिवर्तन पा सकते हैं जो अनेक चमत्कारों की तुलना में उनके लिए अधिक मंगलमय होगा।

"सद्बुद्धि" मानव जीवन की सबसे बड़ी सम्पदा है। जिसके पास यह सम्पदा होगी उसे कभी किसी वस्तु की कमी न रहेगी। वस्तुओं का अभाव और परिस्थितियों की कठिनाई उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकेंगी जिनके पास यह सद्बुद्धि है। गायत्री सद्बुद्धि का महामन्त्र है इस मन्त्रद्वारा साधक को उस दिव्य शक्ति की प्राप्ति होती है जो संसार के समस्त सौभाग्यों की जननी है।